स्फटिक प्रकाशन : पहला

उदयसिंह • प्रतापसिंह • अमरसिंह

# मेवाड़ के महाराणा और शाहंशाह अकबर

प्राचीन घटनाओं का अर्वाचीन अध्ययन

स्फटिक प्रकाशन : दूसरा

'कश्मीर चित्रण'

राजेन्द्र शंकर भट्ट

स्फटिक प्रकाशन : तीसरा

'असम चित्रण'

राजेन्द्र शंकर भट्ट

[ दोनों मुद्रणाधीन ]

इस पुस्तक का विमोचन प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने स्वाधीनता सप्ताह में, 13 अगस्त 1976 को, प्रातः काल अपने निवास-स्थान पर किया। प्रधान मंत्री के परम्परागत स्वागत के उपरान्त, पुस्तक के लेखक श्री राजेन्द्र शंकर भट्ट ने पीतल की चित्रांकित ढाल-मंजूषा में, राष्ट्र-ध्वज से ढकी, 'मेवाड़ के महाराणा और शाहंशाह अकबर' प्रस्तुत की। प्रधान मंत्री ने मंजूषा खोलकर, राष्ट्र-ध्वज का आवरण हटा कर, पुस्तक का विमोचन किया, और प्रथम प्रति अपने हस्ताक्षर से अलंकृत की। इस अवसर पर लेखक के कुछ मित्र और परिवार के सदस्य उपस्थित थे। प्रधान मंत्री के हस्ताक्षर की अनुकृति और समारोह के दो चित्र प्रस्तुत है।

उदय सिंह ✵ प्रताप सिंह ✵ अमर सिंह

# मेवाड़ के महाराणा और शाहंशाह अकबर
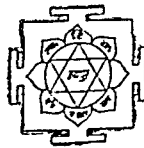
स्फटिक संस्थान

जयपुर राजस्थान

स्फटिक-प्रकाशन : पहला

मेवाड़ के महाराणा और शाहंशाह अकबर



प्रथम संस्करण : 1976

पचहत्तर रुपये

स्फटिक संस्थान
प्रकाशक एवं वितरक
'स्फटिक'
3 म्यूजियम मार्ग
जयपुर–302004
राजस्थान भारत

MEWAR KE MAHARANA AUR
SHAHANSHA AKBAR

RAJENDRA SHANKER BHATT

RUPEES SEVENTY FIVE

जयपुर प्रिन्टर्स [ ऊपरी आवरण ]
मिर्जा इस्माइल रोड जयपुर

क्राफटोन [ मूल आवरण ]
खुर्रा लुहारान जयपुर

जुबली आर्ट प्रेस [ चित्र, मानचित्र ]
जौहरी बाजार जयपुर

डायमण्ड प्रिंटिंग प्रेस
गोपाल जी का रास्ता जयपुर

जयपुर बुक बाइंडर्स
जयपुर

# अनुक्रम

# स्वाधीनता की ज्योति

मेवाड़ के महाराणा

श्रीमान भगवत सिंह मेवाड़

पंडित श्री राजेन्द्र शंकर भट्ट ने अपने नये ऐतिहासिक ग्रन्थ 'मेवाड़ एवं अकबर' की पांडुलिपि मेरे पास भेजी। मैंने श्री भट्ट जी की इस कृति तथा उस पर व्यक्त कतिपय इतिहासविदों के अभिमतों को बड़े चाव से देखा।

श्री राजेन्द्र शंकर जी का आग्रह था कि मैं भी उनके इस ग्रंथ पर अपनी टिप्पणी प्रस्तुत करूं। वस्तुतः मैं इतिहासविज्ञ नहीं हूं, केवल इस पुनीत संस्था 'मेवाड़ घराने' का एक विनम्र सेवक अवश्य हूं, और उस दृष्टि से मेरी सदा यह मान्यता रही है कि मेवाड़ का इतिहास एक 'घराने विशेष' के नेतृत्व में भले ही निर्मित हुआ हो, परन्तु यह मात्र किसी 'घराने विशेष', 'जाति विशेष' अथवा 'धर्म विशेष' का इतिहास नही कहा जा सकता।

मेवाड़ का इतिहास तो उन सभी परिवारों के सम्मिलित योगदान का सुफल है जो स्वधर्म, स्वाभिमान और स्वाधीनता की ज्योति को निरन्तर जगमगाये रखने हेतु अपना आत्मोत्सर्ग करते रहे हैं। इसी तरह यह भी सत्य है कि मेवाड़ का इतिहास भगवान एकलिंगनाथ की कृपास्थली मेदपाट की पवित्र धरती पर ही निर्मित हुआ है तथापि इसकी सीमा मेवाड़ ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारतवर्ष है, और यही कारण है कि भारत के किसी भी भाग में निवास करने वाले व्यक्ति, चाहे वे किसी भी जाति के हों अथवा धर्म के, मेवाड़ एवं वहां के वीर-वीरांगनाओं को अपना ही मान कर गौरव अनुभव करते हैं तथा उनके सम्मुख इन शब्दों के साथ नतमस्तक होते हैं :

आघाटे मेदपाटे क्षितितलमुकुटे चित्रकूटे च कूटे

गुहिल (7 वीं शताब्दि) से मेवाड़ के इतिहास पर हिन्दी और अंग्रेजी में अनेक पुस्तकें लिखी जाती रही है तथा यह सब जानते हैं कि यहां के इतिहास का मूल मंत्र शौर्य, त्याग, स्वातंत्र्य-भावना तथा स्वदेशाभिमान रहा है, और यों जब जब एवं जहां जहां दैवीय गुणो की चर्चा चलेगी तथा मनुष्यों के हृदयों में स्वाभिमान भावना जागेगी वहां वहां मेवाड़ का इतिहास निश्चय ही उनका मार्गदर्शन करेगा।

इस सारे संदर्भ में श्री राजेन्द्र शंकर जी भट्ट ने अपनी इस पुस्तक 'मेवाड़ एवं अकबर' के द्वारा मेवाड़ इतिहास की एक झलक प्रस्तुत कर स्वाभिमानी व्यक्तियों की सेवा की है।

मैं श्री भट्ट को उनके इस नये प्रकाशन पर बधाई देता हूं और साथ ही धन्यवाद कि उन्होने यह पुस्तक प्रकाशन के पूर्व मुझे दिखलायी।

# आरम्भिकी

डा० गोविन्द चन्द्र पाण्डे
कुलपति
राजस्थान विश्वविद्यालय

मध्यकालीन भारतवर्ष के इतिहास में सोलहवीं शताब्दी एक संक्रान्तिकाल है जिनके सबसे महत्वपूर्ण एवं रोचक विषयों में अकबर और मेवाड़ के सम्बन्ध हैं। यदि अकबर एक युग-निर्माता के रूप में है तो मेवाड़ युगयुगान्तर के बलिदान का मूर्तरूप है। यदि एक महान साम्राज्य का स्रष्टा है तो दूसरा वीरता और त्याग के आदर्श का प्रतिरूप है। भाग्यवश इन दोनो को लेकर कई गणमान्य लेखकों ने पुस्तकाकार कृतियां, लेख आदि प्रकाशित किये हैं जिनमें हाल के लेखकों मे डाक्टर आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव तथा डाक्टर गोपीनाथ शर्मा के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस विषयवस्तु को लेकर कई मतमतान्तर दिखाई देते हैं जिनमें दो प्रमुख हैं। एक के अनुसार अकबर राष्ट्रीय सम्राट है तो दूसरे के अनुसार वह सत्तावादी निरंकुश शासक है। इसी प्रकार एक मत मेवाड़ के स्वतंत्रता के संग्राम में अपूर्व त्याग की भावना को स्थापित करता है तो दूसरा उसे निरा स्थानीय भावना से संबद्ध संघर्ष प्रमाणित करता है। वैसे तो महत्व की दृष्टि से प्रत्येक मत की विचार-धारा अपने-अपने स्थान में युक्तियुक्त है, तथापि इसमें कोई संदेह नहीं कि मेवाड़ के वीरों मे एक लगन थी, उत्साह था और देश-प्रेम की भावना थी। इन्हीं से प्रेरित होकर वे सदियों तक शत्रुओं से जूझते रहे और यह प्रयत्न करते रहे कि उनके देश का मान और गौरव अक्षुण्ण बना रहे। यही कारण है कि आज भी मेवाड़ का इतिहास हमारे देश के लिए प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है। इसके इतिहास की सबसे बड़ी विशेषता यह भी है कि वह देश-प्रेम और आत्मोत्सर्ग के उदाहरणों से भरा पड़ा है, जो अकबर की प्रतिभाशाली विजयों की दास्तानो की शृंखला में भी मोतियों से चमकते है। पर जहां हम मेवाड़ के गौरव की चर्चा करते हैं वहां साथ ही साथ अकबर की महिमा की उपेक्षा नहीं कर सकते। वह मध्यकालीन सम्राटों की शृंखला मे एक ऐसा व्यक्ति था जिसमे अपूर्व सूझ-बूझ थी। उससे अनुप्राणित होकर उसने शासन में एकरूपता स्थापित की और राज्य को स्वाभाविक विकास के मार्ग पर अग्रसर किया। विजय के साथ-साथ उसने ऐसी स्वस्थ परम्पराओं को जन्म दिया कि वह अपनी प्रजा का प्रिय बन गया। उदार नीति के अवलम्बन से उसने निरंकुश शासन के स्वरूप में नई जान फूंक दी और 'आरोपित शासन' को 'सम्मति-शासन' मे परिवर्तित कर दिया। इस अर्थ मे यदि अकबर का इतिहास देश के विकास की

प्रक्रिया है तो मेवाड़ राज्य का गौरव एक आकस्मिक अथवा क्षणिक प्रतिभा का परिणाम न होकर भारतीय स्वतत्रता और संस्कृति की रक्षा के निमित्त पवित्र अभियान है।

इस युग के घटनाचक्र का आरम्भ मेवाड़ और मुगलो में व्याप्त अनिश्चय, अरक्षा और अधकार की स्थिति से होता है। मेवाड़ के सदर्भ में विक्रम और वनवीर है जिनकी स्वार्थपरता ने मेवाड़ को विकासशून्य और गतिविहीन बना दिया था। मुगल राज्य में भी इस समय शासक और शासितों के बीच एकता एव सामंजस्य का अभाव था। इस स्थिति मे सुधार तभी आया जब अकबर ने मुगल साम्राज्य की वागडोर संभाली। मेवाड़ का भी नया शासक—उदयसिंह—उत्साह-सम्पन्न था जो सगठन तथा व्यवस्था के माध्यम से मेवाड़ की खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः सस्थापित करना चाहता था। इन दोनो व्यक्तियो में मतभेद आवश्यक हो गया, क्योंकि उनके उद्देश्यो मे कोई सामजस्य नही था। इसका फल यह हुआ कि विजय और संगठन की चेष्टा में उनमे मुठभेड़ हो गई। मुगल आक्रमणकारियो ने चित्तौड़ का दुर्ग ध्वस्तप्राय कर दिया, फिर भी विजय स्वतत्र विचारो की रही। मेवाड़ ने चित्तौड़ से हटाकर अपनी नई राजधानी उदयपुर मे स्थापित कर दी और सघर्ष का दीप प्रज्वलित रखा।

जिस स्वतंत्रता सग्राम का श्रीगणेश महाराणा उदयसिह ने किया था उसका निर्वाह उसके सुयोग्य पुत्र ने भलीभांति किया। उसने अपनी पहाड़ी लड़ाई की नई गतिविधि से युद्ध नीति में एक नवीनता और विलक्षणता उत्पन्न कर दी। हल्दीघाटी, कुम्भलगढ़ आदि विकट स्थानो में उसने प्रवलतर मुगल वाहिनी को छकाया। पद-पद पर मुगलो से लोहा लेने के कारण यद्यपि प्रताप को वड़ी क्षति उठानी पड़ी तो भी वह इस योग्य बना रहा कि वह अपने को तथा अपने राज्य को दासता और अधीनता की बेड़ियों से मुक्त रख सका। उसके सुपुत्र अमरसिंह ने भी अपने पूर्वजों की नीति के पदचिह्नों पर चलकर मेवाड़ के आदर्शो को कुछ समय तक भली भांति निभाया। परन्तु जब मेवाड़ मे धन और जन की कमी हो गई और प्रायः सभी सामन्तो का मत संधि के पक्ष में हो गया तो महाराणा ने मुगलो से संधि कर ली। यह एक अपरिहार्य वस्तुस्थिति का स्वीकार था।

लेखक ने ऊपर उल्लिखित विन्दु और उनसे सम्बन्धित घटनाओं को नौ अध्यायो में संजोया है। उन्होने विवेकपूर्ण दृष्टि से अकबर और मेवाड़ के सम्बन्धो पर आधुनिक इतिहासकारो के विचारो का समन्वय प्रस्तुत किया है। अपने अध्ययन-क्रम की सीमा निर्धारित करने के लिए मेवाड़ के तीन ऐसे शासकों—उदयसिंह, प्रताप और अमरसिंह—को चुना है जिनका सीधा सम्बन्ध अकबर की विजयनीति से था। मौलिक आधारों के साथ तथ्यो का तालमेल विठाने से ग्रन्थ की उपयोगिता बढ़ गई है। ग्रन्थ की भाषा सरल तथा ओजपूर्ण है। दृष्टि विवेकी और स्वाधीन है। अनेक पुस्तको के होते हुए भी इस कृति की उपादेयता इसकी दृष्टि, शैली और समग्र प्रभावशीलता के कारण स्पष्ट है।

आशा है, विद्वान लेखक के इस प्रयास का सुधी पाठक निश्चय से स्वागत करेंगे।

# आमुख

इतिहास विभागाध्यक्ष (अवकाशप्राप्त)
राजस्थान विश्वविद्यालय

डा॰ मथुरा लाल शर्मा

मेवाड़ के इतिहास पर हिन्दी में कई पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। इनमे महा-महोपाध्याय श्यामल दास जी और महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझा के ग्रन्थ प्रसिद्ध और प्रमाणिक है। मेवाड़ के शासकों में प्रायः सभी वीर और प्रतापी नरेश थे। परन्तु महाराणा उदयसिंह, महाराणा प्रताप और महाराणा अमरसिंह अकबर के समकालीन थे और उससे वे वीरतापूर्वक लड़े थे। इसलिए उनका स्थान मेवाड़ के इतिहास मे ही नही भारत के इतिहास में भी ऊंचा है। पण्डित राजेन्द्र शंकर जी भट्ट ने अभी कुछ वर्ष पहले महाराणा प्रताप पर एक अच्छी और उपादेय पुस्तक लिखी थी। अब उन्होने उपरोक्त तीनों महाराणाओ पर यह एक अच्छा ग्रंथ तैयार किया है। इसमे अकबर के चरित्र, राजनीति और रणकौशल पर भी विद्वान लेखक ने अच्छा प्रकाश डाला है। उदयसिंह के विषय में लोगो में मतभेद है। भट्ट जी ने उदयसिंह को वीर नरेशो की श्रेणी मे रखा है। महाराणा प्रताप पर उनके विचार प्राय सर्वसम्मत है। अमरसिह की वीरता, राजनीतिज्ञता और विवशता का भी विद्वान लेखक ने अच्छा वर्णन किया है। अबुल् फज्ल, बदायूंनी और टाड के अतिरिक्त अन्य लेखको के विचारो का भी भट्ट जी ने यथोचित आदर किया है।

यह ग्रन्थ खोज के साथ तैयार किया गया है और तीनो नरेशों से सबधित प्राय सब ग्रथो को आधार मानकर लिखा गया है। परन्तु लेखक ने अपनी सम्मति निष्पक्षता और सन्तुलन के साथ प्रकट की है। राजस्थान के इतिहास के लिए यह ग्रन्थ अभिनन्दनीय है। लेखक अनेक राजकार्यो में व्यस्त रहते है। तथापि उन्होने ज्यो त्यों समय निकालकर ऐसा खोजपूर्ण ग्रन्थ लिखा है जो सब भाँति श्लाघ्य है। अतः भट्ट जी बधाई के योग्य है।

# उपोद्घात

डा॰ किशोरी सरन लाल

इतिहास विभागाध्यक्ष
जोधपुर विश्वविद्यालय

मध्यकालीन इतिहास की अनेक विशेषताओं में से 'शौर्योदार्य' (शिवैलरी) सर्वोपरि है। इस दृष्टिकोण से मेवाड़ का गुहिल और सीसोदिया वंशीय इतिहास अत्यन्त गौरवशाली माना जायेगा। इस वंश मे शौर्यपूर्ण 'रजपूती' अपनी चरमोत्कृष्टता को प्राप्त हुई और देश विदेश में लोक गाथाओ और कथाओ में अभिव्यक्त हुई। महाराणा कुम्भकर्ण (कुम्भा), महाराणा संग्रामसिंह (सांगा) तथा महाराणा प्रताप 'रजपूती' की श्रेष्ठतम कड़ी है। इनमे भी महाराणा प्रताप के वीर कार्यो की गाथाएं अत्यन्त लोकप्रिय हे, जो शौर्य, साहस, धैर्य, दृढ़ता, निष्ठा, त्याग, उदारता, वीरता, स्वतंत्रता, स्वदेशाभिमान, कर्तव्य-परायणता इत्यादि का उदाहरण बन गयी है। महाराणा प्रताप केवल मेवाड़ और राजस्थान में ही नहीं वल्कि सारे देश में स्वतंत्रता व देशाभिमान के लिए जनमानस को जाग्रत करते रहे है। प्रताप लगभग 25 वर्ष तक भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर एकाकी नक्षत्र की भांति चमकते रहे और अपने उक्त गुणो के लिए जनमानस का अशेष प्रेम तथा श्रद्धा अर्जित करने में सफल हुए। जहां कहीं भी इन गुणों का सम्मान होगा प्रताप का नाम श्रद्धा के साथ लिया जायेगा। हमारे स्वतंत्रता आन्दोलन के काल में भी महाराणा प्रताप (और छत्रपति शिवाजी) अनेकानेक लोगो के प्रेरणा के स्रोत थे।

यद्यपि महाराणा प्रताप के जीवन तथा सफलताओ के विषय मे अनेक शोध प्रवन्ध तथा सामान्य ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, किन्तु एक लोकप्रिय विवरण की कमी अब तक प्रतीत होती रही है। श्रीयुत राजेन्द्र शंकर भट्ट ने महाराणा प्रताप के व्यक्तित्व तथा कृतित्व का विवेचन प्रस्तुत करके स्तुत्य कार्य किया है। मैं इसके लिए उनका साधुवाद करता हूं। मुझे आशा है कि भारतीय इतिहास के सभी विद्वान एवं विद्यार्थी इस सत्प्रयास की सराहना करेंगे।

# आभार

निदेशक
स्फटिक संस्थान

शरद शंकर भट्ट

इस पुस्तक का प्रकाशन हमारे लिए विशेष संतोष और प्रसन्नता का विषय है।

यद्यपि महाराणा प्रताप को राष्ट्रीय सम्मान और अखिल भारतीय महत्त्व प्राप्त है, राष्ट्रभाषा में अथवा किसी अन्य भाषा में कोई ऐसा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जिसमें विस्तार से उनके जीवन तथा चरित्र का वर्णन एवं विवेचन हो। इस कमी को ध्यान मे रखकर ही इस पुस्तक के लेखक ने दस वर्ष हुए महाराणा प्रताप की संक्षिप्त जीवनी लिखी थी, जो नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा 1967 में 'राष्ट्रीय जीवन-चरित माला' के अन्तर्गत प्रकाशित की गयी थी। इसके दो संस्करण निकल चुके हैं, और इस समय यह अप्राप्य है। इस प्रकाशन की दो सीमाएं थीं, एक तो इसका आकार पूर्व-निर्धारित था, इसलिए इसमे कई आवश्यक बातो का समावेश नहीं किया जा सका; दूसरे, महाराणा प्रताप के पिता और पुत्र के कार्यो का विवेचन इसमे समाविष्ट नहीं हो सका, और बिना इसके उस राष्ट्रीय संग्राम का पूरा स्वरूप समझा ही नहीं जा सकता जो मेवाड़ के इन तीन महाराणाओ ने तथा उनकी समर्थक बहुसंख्यक सर्वजातीय जनता ने उठती मुगल सत्ता के विरुद्ध आधी शताब्दी तक लड़ा था। यह संग्राम उस भारतीय परम्परा का अविभाज्य अंग है जिसके कारण इस देश ने सदा आक्रमणकारी तथा आततायी का सामना बड़े से बड़ा बलिदान करके भी किया है, और ऐसा क्रम बना लिया है कि इस प्रयत्न में पराजय भी भावी प्रयत्न के लिए प्रेरणा का काम देती रही है। जिस स्वाधीनता संग्राम के फलस्वरूप हमारा देश स्वतन्त्र हुआ है उसके लिए महाराणा प्रताप एक प्रेरणा-पुंज रहे हैं, उनके विषय में अधिकृत जानकारी एक राष्ट्रीय आवश्यकता है, उनके प्रति सम्मान प्रकट करने का सहज स्वाभाविक तरीका भी। आश्चर्य है कि ऐसे व्यक्तित्व का जीवन-चरित्र किसी अधिकारी विद्वान को इसके प्रणयन के लिए प्रेरित नहीं कर सका। इतिहास-क्षेत्र मे लेखक का प्रवेश नहीं है, फिर भी यह रचना भारत के मध्य-कालीन इतिहास का अनिवार्य अंग स्वीकार की जायेगी इसमें हमे संदेह नहीं है। ऐसे प्रकाशन से हम अपने संस्थान की गतिविधि आरम्भ कर रहे है, इस कारण हमें बहुत प्रसन्नता है।

इस पुस्तक के लेखन मे प्रायः एक वर्ष का समय लगा, और लगभग इतना ही समय इसे अधिकारी विद्वानो को दिखाने और इसमें संशोधन करने में लगा है। राजस्थान विश्वविद्यालय के कुलपति एवं भारतीय इतिहास एव संस्कृति के प्रतिष्ठित विद्वान डा० गोविन्दचंद्र पाण्डे, इसी विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति और इतिहास के प्रकांड पडित डा० मथुरालाल शर्मा, इसी विश्वविद्यालय मे इतिहास के आचार्य एवं मेवाड़-इतिहास के मूर्धन्य विशेषज्ञ डा० गोपीनाथ शर्मा तथा जोधपुर विश्वविद्यालय में इतिहास विभाग के अध्यक्ष तथा अपनी समग्र दृष्टि के लिए सुप्रसिद्ध डा० किशोरी सरन लाल ने कृपापूर्वक इस ग्रन्थ की पांडुलिपि को पढ़ा और अनेक सुझावो से लेखक को उपकृत किया। इस पुस्तक के साथ प्रकाशनार्थ उन्होने अपनी सम्मति भी लिखने का कष्ट किया। हम उनके हृदय से कृतज्ञ है।

हम मेवाड़ के महाराणा और भारतीय परिप्रेक्ष में मेवाड़ के महत्व की प्रतिष्ठा के लिए पूरी चेष्टा से प्रयत्नशील श्रीमान् भगवतसिंह जी के भी उतने ही कृतज्ञ है। पुस्तक पर एक दृष्टि डालते ही वे इसके प्रकाशन के प्रति हमसे भी अधिक उत्साहित और सक्रिय हो गये, और उन्होने प्रकाशन से पूर्व इसकी दो सौ प्रतियां खरीदने का आदेश देकर वास्तव में हमे हमारे प्रयत्न की सार्थकता से आश्वस्त किया। इस पुस्तक पर उनका अभिमत स्वर्णाक्षरों मे लिखे जाने योग्य है।

पांडुलिपि को और जिन लोगो ने पढा उनमें से निम्न का उल्लेख हम करना चाहेगे: इतिहास-विद्वान एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष डा० सतीश चन्द्र; राजस्थान लोक सेवा आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष पंडित देवीशकर तिवाड़ी, भूतपूर्व संसद सदस्य तथा प्रताप-भक्त श्री बलवन्तसिंह मेहता; उदयपुर विश्वविद्यालय में इतिहास के विद्वान डा०किशन स्वरूप गुप्ता; 'महाराणा प्रताप स्मृति ग्रन्थ' के सम्पादक डा० देवीलाल पालीवाल; 'मेवाड़ का इतिहास' के लेखक श्री रामवल्लभ सोमानी, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान की टोंक स्थित अरबी-फारसी शाखा के अधिकारी साहबजादा शौकतअली खान, 'इन्फा' के विशेष प्रतिनिधि श्री भाल चन्द्र वर्मा, राजस्थान सरकार के भाषा विभाग के उप-निदेशक एवं भाषा-विशेषज्ञ श्री कलानाथ शास्त्री, भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी और प्रताप मित्रमडल, जयपुर, के अध्यक्ष श्री जसवन्तसिंह सिंघवी तथा बीकानेर स्थित राजकीय महाविद्यालय के भूतपूर्व आचार्य श्री रमाशंकर त्रिपाठी। इनसे लेखक को मूल्यवान सुझाव प्राप्त हुए हैं। अभारतीय नामो को शुद्ध करने मे आचार्य धर्मेन्द्र नाथ से बहुत सहायता मिली है। लेखक की ओर से हम इन सबके प्रति आदर-भाव प्रकट करना चाहेंगे।

राजस्थान सरकार के भाषा विभाग के मुख्य अनुवादक श्री कल्याण सहाय गुप्ता ने पांडुलिपि को पढ़ा, पाद-टिप्पणियो को प्रमाणित किया और मुद्रण के समय निजी देखरेख रखी। उनका सहयोग बड़ा सार्थक रहा है।

'संकेत और संदर्भ' मे जिन पुस्तकों और पत्रिकाओं का उल्लेख है उनके लेखकों तथा संपादको का भी लेखक कृतज्ञ है, क्योंकि उसने इनमें से सूचनाएं ली है और

उद्धरण दिये हैं, परन्तु लगभग इतनी ही पुस्तकें-पत्रिकाएं ऐसी हैं जिनको देखा गया है, लेकिन उनमें से लेकर कुछ भी इस पुस्तक में शामिल नहीं किया जा सका है। उनके प्रति भी लेखक आभार मानना चाहेगा।

लेखक की ओर से निवेदन है कि यद्यपि प्राप्त सूचनाओं तथा सुझावों से पुस्तक का कलेवर परिष्कृत हुआ है, परन्तु इसके मन्तव्यों के लिए एकमात्र वही उत्तरदायी हैं। पांडुलिपि में कुछ परिवर्तन उन दिनों किये गये जब वह अपने पूर्व रूप में उपरोक्त विद्वानों के हाथ में थी, उन संशोधनों का निरीक्षण वे कर भी नहीं पाये हैं।

सूचना केन्द्र, जयपुर; जनसंपर्क निदेशालय, जयपुर: राजस्थान विश्वविद्यालय पुस्तकालय, जयपुर; सार्वजनिक पुस्तककालय, जयपुर; राजकीय पुस्तकालय, बीकानेर; राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर तथा उसकी उदयपुर शाखा; सूचना केन्द्र, अजमेर; साहित्य संस्थान शोध पुस्तकालय, उदयपुर, और वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली, के पुस्तकालयों ने अपने मूल्यवान संकलन देखने का अवसर दिया, और काफी समय तक लेखक के पास रखने के लिए अपने यहां की पुस्तकें दीं। यह लाभ लेखक को कुछ व्यक्तिगत संग्रहों से भी मिला है।

यह प्रकाशन इसी रूप में निकले, इसके लिए नयी प्रकाशन संस्था स्थापित की जाये, यह सुझाव, आग्रह के रूप में, श्री विश्वनाथ वामन काले से प्राप्त हुआ था। उनकी प्रेरणा स्मरणीय रहेगी।

पुस्तक की शेष सामग्री की तरह, चित्रों और मानचित्रों के विषय में भी प्रमाणिकता का निर्वहन करने का पूरा प्रयत्न किया गया है। ऊपरी आवरण पर क्रमशः शाहजहां (खुर्रम के रूप में, 25 वर्ष की आयु में, चित्रकार अबुलहसन और नादिर-उज-जमन, 1617ई०, विक्टोरिया एन्ड एलबर्ट म्यूजियम, लंदन, संकलन), अकबर (वृद्धावस्था में, 1800 ई०, इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता, संकलन), जहांगीर (विछित्तर द्वारा मूल से प्रतिकृति, 1775 ई०, बंबई के श्री शांतिकुमार मुरारजी का संकलन), महाराणा प्रताप (घोड़े पर, जन सम्पर्क निदेशालय, राजस्थान राज्य), महाराणा उदयसिंह, महाराणा प्रतापसिंह तथा महाराणा अमरसिंह (तीनों पुरातत्व एवं संग्रहालय विभाग, राजस्थान राज्य) के चित्र हैं। इनमें से शाहजहां, अकबर और जहांगीर के चित्र और पुस्तक में दिये गये सलीम तथा अकबर (चित्रकार अज्ञात, 1598 ई०, महाराजा सवाईमानसिंह द्वितीय म्यूजियम, जयपुर, संकलन) और नूरजहां, जहांगीर तथा खुर्रम (चित्रकार अज्ञात, 1618 ई०, फ्रीअर गेलरी आफ आर्ट, वाशिंगटन) के चित्र हमें महाराजा सवाईमानसिंह द्वितीय म्यूजियम के निदेशक डा० अशोक कुमार दास के सौजन्य से प्राप्त हुए हैं। सलीम तथा अकबर और नूरजहां, जहांगीर तथा खुर्रम के दोनों चित्र क्रमशः अकबर और जहांगीर के समकालीन है, और अब तक प्रकाशित नहीं हुए हैं। इनमें जिस तरह के विषयों का चित्रण है उससे प्रकट होता है कि चित्रकारो को शाहंशाहों के अंतरंग में प्रवेश प्राप्त था। इनमें से भी जिस चित्र में नूरजहां है उसे

अत्यन्त दुर्लभ माना जाता है क्यों कि उस युग में बाहरी व्यक्तियों का मुगल हरम में प्रवेश बहुत ही कठिनाई से होता था। श्री एकलिंग जी, प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी, चित्तौड़ और हल्दीघाटी के चित्र राजस्थान सरकार के जन सम्पर्क निदेशालय से प्राप्त हुए है। महाराणा आफ मेवाड़ चेरिटेबिल फाउन्डेशन, उदयपुर, से भी हमें कुछ चित्र प्राप्त हुए थे, लेकिन ब्लाक बनाने वालो के यहां अग्निकांड में वे नष्ट हो गये, अतएव उनका उपयोग नहीं हो सका। मूल आवरण के भीतर दिये दोनों तथा चित्तौड़ के युद्ध का मानचित्र 'भूदर्शन' के संपादक तथा उदयपुर विश्वविद्यालय के भूगोल विभाग के व्याख्याता श्री दिनेशचन्द्र भारद्वाज ने और हल्दीघाटी-युद्ध का मानचित्र राजस्थान विश्वविद्यालय के भूगोल विभाग के मानचित्रकार श्री परसाराम विन्दा ने तैयार किये है। पुस्तक के आवरण तथा अन्दर की सज्जा कलाकार श्री विजयनारायण शुक्ल ने की है। इन सब के हम कृतज्ञ है।

अर्ध-मुद्रित अवस्था में यह पुस्तक मुख्य मुद्रकों के अपने मामले में कानूनी गिरफ्त में आ गयी थी, उससे मुक्त कराने में श्री हीराचन्द धांधिया, एडवोकेट, और श्री राजेन्द्र तिवाड़ी, एडवोकेट, ने समुचित और सामयिक सहायता की। हम उनके अनुग्रहीत है।

पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व इसमें रुचि लेकर और इसकी प्रतियां सुरक्षित कराकर वहुसख्यक सज्जनों ने हमारा उत्साह बढ़ाया है, उनकी कृपा का ही परिणाम है कि एक तिहाई से अधिक प्रतियां प्रकाशन के पूर्व ही बिक गयी हैं। राजस्थान पुस्तक व्यवसायी संघ के अध्यक्ष श्री चंपालाल राका और चिन्मय प्रकाशन, जयपुर, के श्री तारा चन्द वर्मा का परामर्श और प्रोत्साहन मूल्यवान रहा है।

हमारे संस्थान का यह पहला प्रकाशन है, अनुभव की कमी के कारण इसमें त्रुटियां रहना स्वाभाविक है, उनके लिए हम पाठक से क्षमाप्रार्थी हैं।

18 जून 1976

●

## निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक को प्रकाशन से पूर्व जिस प्रकार का स्वागत प्राप्त हुआ है उसे देखते हुए इसका द्वितीय संस्करण निकट भविष्य में निकाले जाने की आशा है।

पाठकों से, अतएव, प्रार्थना है कि पुस्तक में आयी अशुद्धियों, तथ्यों तथा तर्कों के संबंध में अपने विचारों और नयी सामग्री के विषय में सूचनाओं से लेखक को (प्रकाशक के पते पर) सूचित करने की कृपा करें।
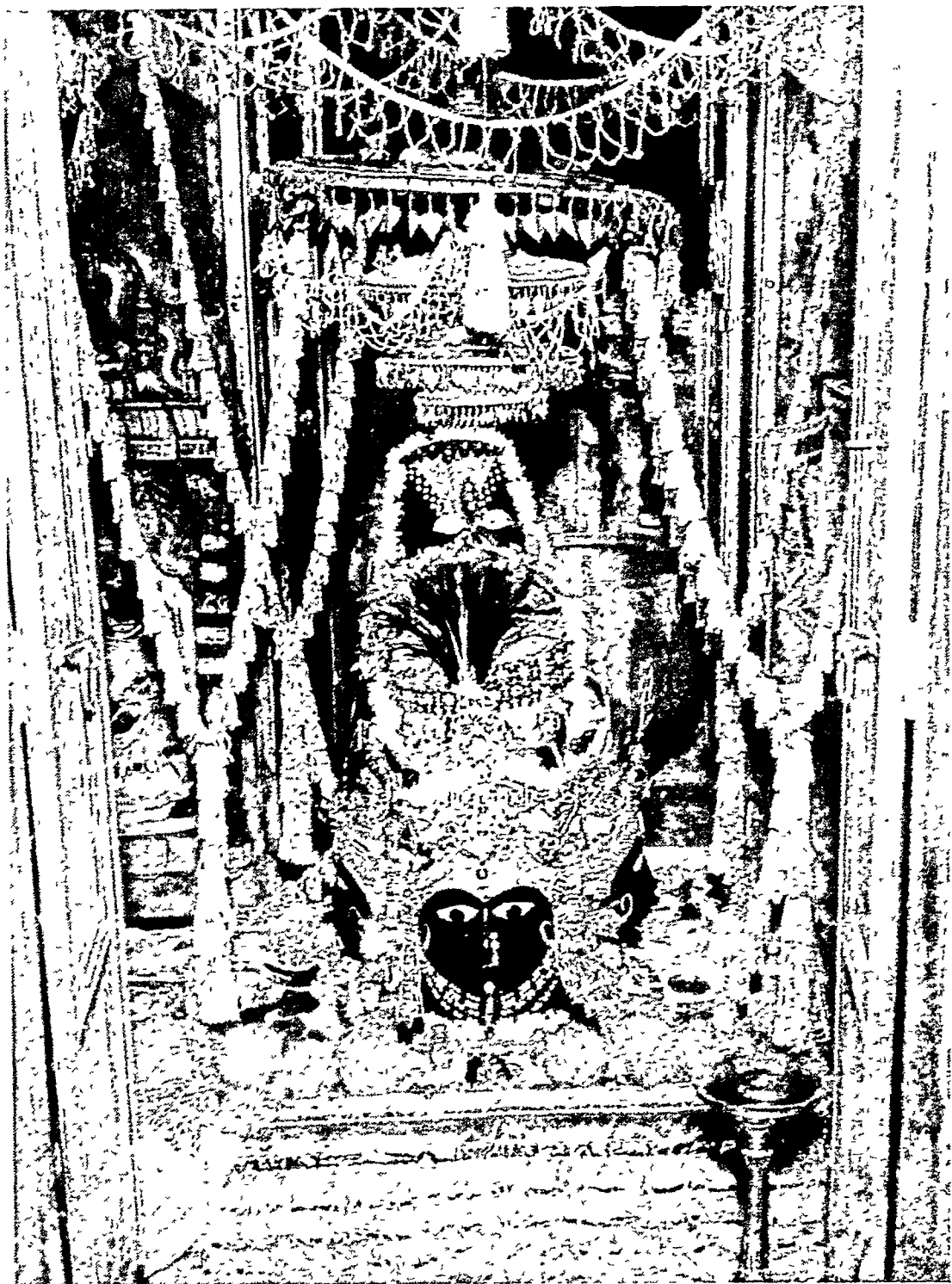
मेवाड़ के स्वामी—श्री एकलिंग जी
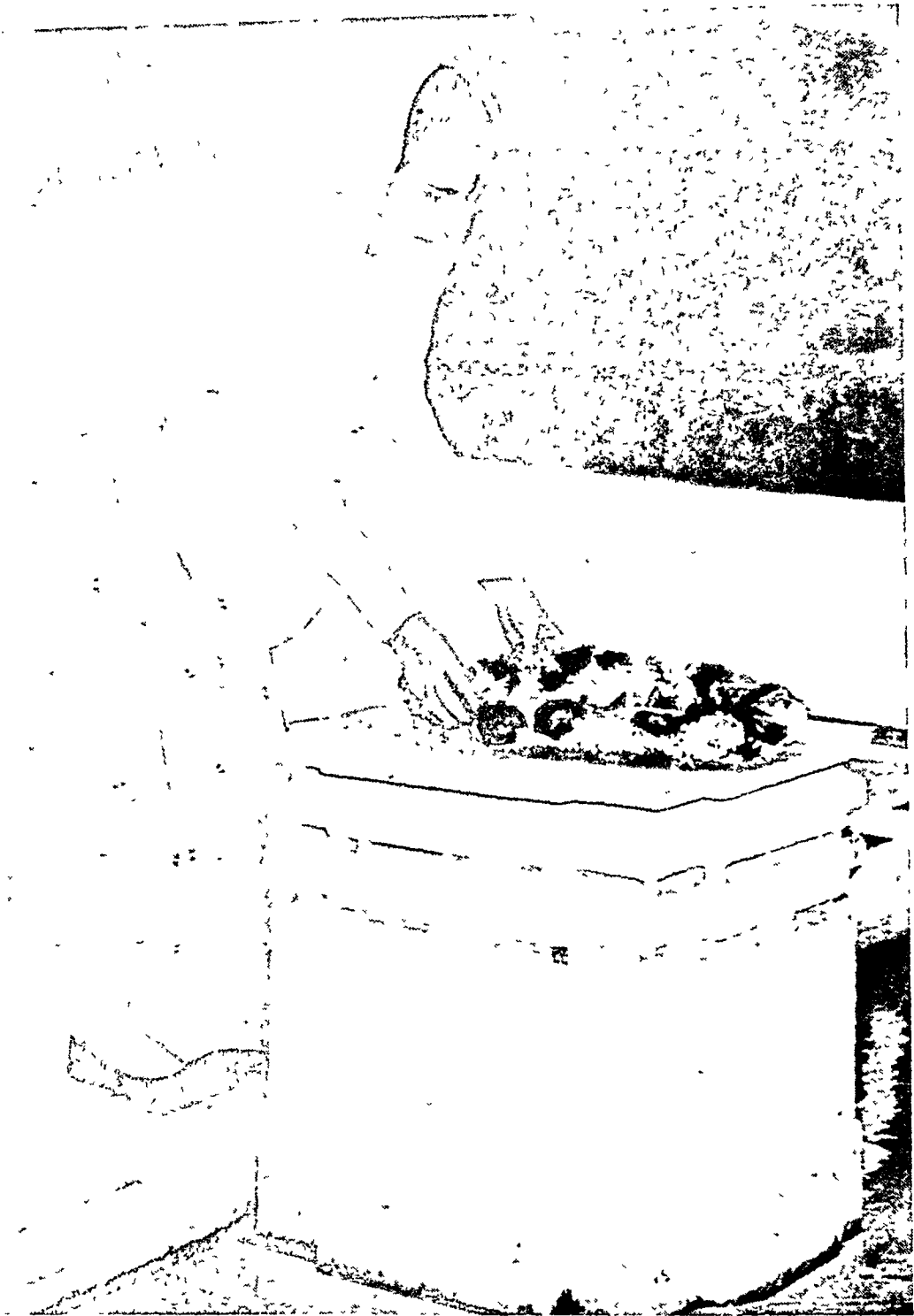
राष्ट्र की ओर से

हल्दीघाटी-युद्ध के चौथे शताब्दी-समारोह पर प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी महाराणा प्रताप की प्रतिमा के समक्ष पुष्पमाला समर्पण कर रही हैं

महाराणा प्रतापसिंह

अपनी स्वाधीनता के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देने के
शाश्वत तथा सर्वव्यापी स्वभाव और सिद्धान्त को

18 जून 1576 के दिन
हल्दी - घाटी के संग्राम में

संसार के सबसे सबल तथा सम्पन्न साम्राज्य ने चुनौती दी थी
उसका उस दिन भारतीयता के सबसे सजग और सजीले
'स्वदेश' ने ऐसा प्रति-उत्तर दिया कि उसे जब भी जहां भी
स्वाधीनता पर सकट आयेगा श्रद्धा से स्मरण किया जायेगा
और वह सदा स्वाधीनता - 'प्रेमियों को इस परम्परा को
प्रज्वलित रखने की प्रेरणा देता रहेगा

उस संग्राम की
चौथी शताब्दी
पर प्रकाशित
यह पुस्तक
उस संग्राम के
प्रति विनम्र
श्र द्धां ज ली

1576 ❀ ❀ ❀ ❀ 1976

# प्रार्थना

## हरसिद्ध देवी के प्रति

हे जगदम्बे तुम्हारी जय हो। तुम्हारे मस्तक पर लम्बे लम्बे केश हैं। कम्बु समान तुम्हारी ग्रीवा है। अमगल का नाश करने वाली तुम हो। उमा, महामाया और गिरजा तुम्ही हो। सुर-नर-नाग सब तुम्हारी छाया में हैं। तुम स्वच्छन्द एवं वंदीजनों को आनन्द देने वाली हो—स्वयं प्रसन्न रहने वाली हो। हे चन्द्रवदनी! जय हो! हे गज-गामिनि दुर्गे! तुम अन्तर्यामी स्वरूपा हो—तुम्हारे नव नाम हैं, नव दुर्गा पुकारी जाती हो—तुम सुख एवं जय भागी हो। असुरो का संहार करने वाली तुम हो। भक्तजनों का पक्ष लेकर उनके रक्षार्थ शत्रुओं का नाश करने वाली तुम हो—तुम्हारा शरीर और धैर्य नाशरहित है—हे काली! कंकाली!! तू जब भयानक किलकार करती है तब प्रलय-दृश्य छा जाता है। रुद्राणी भवानी!! ब्रह्मा विष्णु महेश भी तुम्हारा नाम रटते हैं—अत. तुम मुझे वरदान दो। हे स्वामिनी! मै तुम पर बलि जाता हूँ।

— 'राणा रासौ', पद 379, 380

## अजमेर वाले ख्वाजा के प्रति

हे स्वामी शिरोमणि मोनदी ख्वाजा पीर! इस कार्य में मेरी लज्जा रख लो तथा इस आपत्ति को दूर करने के लिए वरदान दो। हिन्दू और यवन आपकी समान भाव से सेवा करते हैं। आपके समक्ष खूब खैरात बांटकर तथा इच्छा कर आपसे झोली मे जो कुछ मांगता है वही आप उसे देते रहते हैं। अतः मेरी इस प्रार्थना पर प्रसन्न होइये। हे ख्वाजा! अन्य पीरो के दिल खाक सदृश्य हैं। साथ ही क्षीण (नाशवान) संसार की खाक हैं। एक मात्र आप ही मरदोव ओलिया (फकीर) हो! पीर पैगम्बर भी आप ही हो। कष्ट रूपी धूल (दलदल) में फंसे हुए हिन्दू और यवनों के लिए आप वरदाता सुख देने वाले हो। आप ही सर्वव्यापी हैं। जो आपसे दूर रहता है—उससे आप बहुत दूर हैं। पृथ्वी पर एक मात्र आप ही बुद्धिमान हैं। आप ही के समक्ष उचित न्याय होता है। जो लोग गाफिल (अबुद्ध) हैं वे आपकी गति (बात) को नहीं जानते। हे संसार के स्वामी! इस चिंतित सेवक की पुकार कान लगा कर सुनें।

— 'राणा रासौ', पद 580, 581, 582

# कामना

राजाओं के विकास एवं ह्रास के समय मेरी कथा देशकाल के अनुसार उनके लिए उत्साह किंवा शांतिवर्धक तुल्य उपयोगी सिद्ध होगी।

— 'राजतरंगिणी', प्रथम तरंग,21

उनके कार्यों में से स्मरण योग्य कार्यों को लेखनीबद्ध किया जाता है ताकि समय व्यतीत हो जाने से वह लोगों की स्मृति से मिट न जायें।

— 'तारीखे खाने जहांनी'

मेरी आशा है कि यह विवरण मूल्यवान सिद्ध होगा, इसका संसार पर प्रभाव पड़ेगा, इससे प्रसन्नता प्राप्त होगी"।

— 'अकबरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 5

सुहृदवर! शांत, सुंदर, रसधारयुक्त इस ग्रन्थ का अपने कर्ण युक्ति पुटों द्वारा आनंदपूर्ण रसास्वादन कीजिये।

— 'राजतरंगिणी', प्रथम तरंग, 24

# आत्म-निवेदन

राजेन्द्र शंकर भट्ट

भारतवर्ष के इतिहास में सम्राट अकबर का स्थान अद्वितीय है। 'अशोक के बाद हमारे देश में दूसरा महान ध्रुवतारा अकबर ही दिखायी पड़ता है।' 'निसर्ग से ही नरों में सम्राट के रूप में उत्पन्न वह इतिहास के ज्ञात महान सम्राटों में स्थान ग्रहण करने का अधिकारी था।' 'अकबर मध्ययुगीन भारत का सबसे महान सम्राट था, और वास्तव में इस देश के सम्पूर्ण इतिहास के सर्वश्रेष्ठ शासको मे था।' सारे संसार के सदर्भ में भी वह एक प्रबल, प्रबुद्ध, और प्रतिभावान शासक माना जाता है: अपने समय में अकबर संसार का सबसे सफल, सम्पन्न और शक्तिशाली सम्राट था। अकबर ने भारत की भूमि को ही नहीं, भारत की भावना को भी जीतने का प्रयत्न किया, और इसमें इस तरह सफल हुआ कि वह विदेशी होते हुए भी महत्तम भारतीयों में गिना जाता है, और भारत के उच्चतम आदर्शो एव मूल्यों का प्रवर्तक कहकर आज भी उसका सम्मान किया जाता है। नये साम्राज्य की ही नहीं, नये धर्म की स्थापना का भी अकबर ने अविस्मरणीय प्रयत्न किया था। उसकी सराहना में विशेषणों की कमी पड़ जाती है, उसे उसके समय में लक्ष्मण, अर्जुन, कर्ण, विक्रम, भोज और कुमारपाल के समान ही नहीं, ऋषितुल्य और राम, कृष्ण तथा विष्णु का अवतार तक कहा गया था। अबुल फैजी ने नारा उठाया था, 'अकबर को देखो और तुम्हें भगवान दीखेगा।'[1]

अतएव इसमे आश्चर्य नहीं कि अकबर ने उत्तराधिकार में प्राप्त नाममात्र के राज्याधिकार को सुविशाल, सुगठित और सम्पन्न साम्राज्य बना लिया, विरोध और विद्रोह उसे बहुत सहने पड़े, परन्तु अन्ततः स्थिति यह रही कि उसकी जिस पर दृष्टि पड़ी वही अस्त अथवा नतमस्तक हो गया, भारत का वह महानतम विजेता, साम्राज्य-निर्माता और स्वेच्छाचारी शासक हुआ है।

ऐसे सम्राट का विरोध—जब तक वह और विरोध करने वाला जीवित रहा—एक, अकेला, छोटा-सा राज्य करता रहा, वह उसके साम्राज्य का अंग न स्वेच्छा से बना, न अकबर की कूटनीति और सैनिक शक्ति से। उन दिनों की स्थिति और अकबर की

1 'विद्वान लोग' अकबर शब्द का अर्थ करते थे : 'अ' विष्णु, 'क' काम और आत्मा, इन तीनो मे जो 'वर' श्रेष्ठ, अर्थात् विष्णु के जैसा समर्थ, काम के जैसा सौंदर्यवान और आत्मा के जैसा निर्मल, वह अकबर।

शक्ति की पूरी कल्पना करने पर ही मेवाड़-राज्य के इस असाधारण प्रतिरोध की गरिमा और सफलता समझ में आती है। अकबर कहीं असफल हुआ तो मेवाड़ में, उसकी महत्वाकांक्षा को अपूर्ण रहना पड़ा तो राजस्थान के इस पर्वतीय प्रदेश में। 'मेवाड़ ने अकबर की साम, दाम, दंड और भेद सभी नीतियों को पैरों तले रौंद कर अपनी स्वाधीनता की रक्षा की।'

मेवाड़ के तीन महाराणा अकबर के समकालीन थे: उदयसिंह, प्रतापसिंह और अमरसिंह, तीनों को अकबर की 'दयाहीन शत्रुता' का सामना करना पड़ा, तीनो ने अपने गौरव और अपने राज्य की स्वाधीनता के लिए अकबर से संघर्ष किया, और तीनो मे से एक से भी अकबर अपनी अधीनता नहीं स्वीकार करा सका। अकबर जैसे सम्राट से टक्कर यह छोटे-से राज्य के राजा निरन्तर लेते रहे इसी से उनके प्रयत्न को असाधारणता प्राप्त हुई है, और वे स्वाधीनता-प्रेमियो के आदर्श माने जाते है।

प्रतापसिंह की तो पूजा-सी होती है, परन्तु उसके पिता उदयसिंह और पुत्र अमरसिंह को साधारणतः उपेक्षा ही मिली है। इसका कारण यह है कि उदयसिंह, प्रतापसिंह, अमरसिंह के प्रयत्नो में आपसी सम्बन्ध को समझा नहीं जाता; यह एक अटूट पंक्ति है जिसने अकबर के उठते मुगल साम्राज्य का उसकी हर अवस्था, और अपनी हर स्थिति में, विरोध किया। विरोध का आरम्भ उदयसिंह ने किया: जिस तरह प्रतापसिंह ने उस परम्परा में अपनी ओर से कुछ उठा नहीं रखा, उसी तरह अमरसिंह ने इसके लिए किसी भी बलिदान को ज्यादा नही माना। असल मे तीनों के प्रयत्न को एक साथ, एक सिलसिले से, देखे बिना वह चित्र पूरा स्पष्ट ही नहीं हो सकता जिसमें अकबर आक्रमणकारी और यह तीन पीढ़ियां स्वाधीनता-संरक्षक थीं।

स्वाधीनता शाश्वत सिद्धान्त और सर्वोच्च स्वभाव है: इस तथ्य ने सभ्यता के आरम्भ से उन सबके आदर्श तथा जीवन-मूल्य निर्धारित किये हैं जो अपने को मनुष्य मानने मे अभिमान करते है; स्वार्थ और विस्तारवाद ने बराबर स्वाधीनता और उसका सम्मान करने वालो पर आक्रमण किया है, और विजय चाहे किसी की हो, सदा स्वाधीनता के रक्षक का आदर किया गया है।

इस परम्परा का प्रताप पुत्र और पिता था। इसी अर्थ में उसे भारत की शाश्वत आत्मा का प्रतीक और भारतीयता के चिरस्थायी मूल्यों का संरक्षक माना गया है। वह राजा कहां का था, और उस पर हमला किसने किया, उसके साधन क्या थे, उसका युग क्या था, उसके विरोध की स्थिति और शक्ति क्या थी: ऐसी सब बातें गौण हो जाती है। बात इतनी-सी रहती है: प्रताप पर आक्रमण हुआ, उसने उसका प्रतिकार किया। यह उसी तरह सामान्य और स्वाभाविक माना जाना चाहिये जैसे वायु की सर्वव्यापकता और आकाश की असीमता। प्रताप ने वही किया जो उसकी स्थिति में स्वाभाविक और समुचित था, और उसके बाद जिसके सामने ऐसी स्थिति आयी—और आयेगी—उसने भी ऐसा ही किया, और आगे भी करेगा।

यह प्रताप का गौरव बढ़ाने वाली बात है कि उसे उत्तराधिकार में यह पुनीत परम्परा प्राप्त हुई, उसने इसे और भी प्रज्वलित किया, और अपने बाद ऐसे हाथों में सौंपा जिसने इसमें चार चांद लगा दिये। एक सम्राट का तीन पीढ़ियां ऐसा सामना करें कि उनके यत्न को सदियों बाद भी स्मरणीय और अनुकरणीय माना जाये—ऐसा उदाहरण दुनिया में दूसरा नहीं है।

उदयसिंह–प्रतापसिंह–अमरसिंह के जीवन और आदर्शों को सही रूप में समझने और उनका निष्पक्ष मूल्यांकन करने का प्रयत्न इस पुस्तक में किया गया है।

इस तरह का प्रयत्न ऐसा नया नहीं हो सकता जिसे आविष्कार कहा जा सके। इस विषय पर कम नहीं लिखा गया है। परन्तु जो पूजनीय है उसका स्मरण जब किया जाये तभी पुण्य होता है, पुनर्वाचन से उसके मूल्यों और मानदंडों का अभिवर्धन ही होता है, स्मरणकर्ता और श्रोता दोनों को शक्ति, प्रेरणा और आत्मविश्वास मिलता है। महाभारत में आया है, 'पूर्व पुरुषों के महान चरित्र को सुनते–सुनते मैं कभी तृप्त नहीं होता।' ऐसे चरित्रों का गौरवगान करना प्रत्येक भारतीय को अपना राष्ट्रीय धर्म मानना चाहिये।

पूर्वज एक बार मरता है, उसका श्राद्ध हर वर्ष मनाया जाता है। श्राद्ध श्रद्धा प्रकट करने का परम्परागत अवसर होता है। कौन भारतीय होगा, स्वाधीनता प्रेमी होगा, जो इस बात का गौरव नहीं करेगा कि प्रतापसिंह, उसके पिता और पुत्र कुल और कुटुम्ब की दृष्टि से चाहे जितने दूर हों, भावना और परम्परा की दृष्टि से हमारे सन्निकट हैं, हमारी श्रद्धा के अधिकारी हैं।

इसी भावना से यह पुण्य गाथा गूंथी गयी है। 1973 के श्राद्ध पक्ष में इस पुस्तक का लेखन आरम्भ हुआ, और 1974 के श्राद्ध पक्ष में समाप्त हुआ। निरन्तर 13 महीने यह कार्य नहीं चला, जो दायित्व और प्रमाद बीच में आये उन्होंने भी अपने हिस्से का समय और ध्यान बटाया, परन्तु यह अवधि ऐसी रही जब इन वीरात्माओं से संसर्ग बराबर बना रहा। प्रताप जैसी पुण्यात्माओं के प्रति श्रद्धा प्रकट करने का सबसे सार्थक तरीका यही है कि उनके कार्यकलापों को जाना जाये, उनका विश्लेषण किया जाये, और जो प्रेरणा उनसे मिल सकती है उससे अंधेरे कोनों को आलोकित किया जाये। इस दिशा मे यह प्रयत्न यदि एक किरण जितना भी सफल हुआ तो मैं यही मानूंगा कि मुझे पूरा पुण्य प्राप्त हो गया है।

संबंधित विषयों पर पूर्ववर्ती लेखन का उपयोग मैंने बिना संकोच किया है। अध्ययन भी एक परम्परा हो जाती है: जो पहले उद्घाटित और उद्भासित हो गया है, उसका उपयोग नव-पाठन एवं नव-लेखन के लिए अनिवार्य बन जाता है। लेखक को इससे सन्तोष मानना चाहिये परन्तु चूंकि मेरा यह सर्व-स्वीकृत क्षेत्र नहीं है, मुझे तो हर तथ्य को प्रमाणित करने के लिए किसी न किसी अधिकारी का आश्रय लेना पड़ा है। तर्क में जहां समर्थन मिला मैंने स्वीकार किया है, परन्तु जो मुझे जचा उसे बिना पूर्वा-

ग्रह के मैंने निवेदित किया है—यह एक ऐसा अधिकार है जो नम्रतापूर्वक मैं अपने लिए मांगता हूं, और आगे आने वालों के लिए भी।

भारत के प्राचीन और प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ 'राजतरंगिणी' के रचनाकार कल्हण ने कहा है :

'वही गुणवान श्लाघनीय है जिसकी वाणी राग-द्वेषों का बहिष्कार कर एक न्यायमूर्ति के समान भूतकालीन घटनावलियों को यथार्थ रूप से प्रस्तुत करती है।'

इतिहास-लेखन के संबंध में यह हमारी परम्परा और हमारा आदर्श रहा है। फिर भी हमने जो धारणाएं और मान्यताएं मान रखी हैं उनको जहां झटका लगा, हम अपने आधारभूत अधिकार का हनन होता अनुभव करने लगते हैं। बार-बार तथ्यपूर्ण लेखन को दबाया गया है। स्वयं अकबर के समय में अल् बदायूंनी अपनी पुस्तक का लेखन प्रकट नहीं कर सका। महाराष्ट्र और पंजाब में हाल में अपना मन्तव्य अपनी तरह प्रस्तुत करने वाले विद्वानों को उनका अपना वातावरण सहन नहीं कर सका है। ऐसी असहनशीलता स्वाधीनता की भावना के प्रतिकूल है, जो स्वाधीनता मांगता है, उसे स्वाधीनता देनी होगी। चिन्तन और कथन में परम स्वाधीनता भारतीय परम्परा का अनमोल रत्न है—आज जैसा चाहे करने की ऐतिहासिक स्वाधीनता हमें मिली है, हम इस रत्न के टुकड़े-टुकड़े करने में अपनी शक्ति नहीं लगाएं। सत्य हर व्यक्ति अपनी तरह देखता है, उसे उसी तरह प्रकट करने का यदि अवसर नहीं दिया जायेगा तो पूर्ण सत्य के प्रकट होने की संभावना समाप्त हो जायेगी।

जिन लेखकों की कृतियों का मैंने उपयोग किया है उनके प्रति मैं नतमस्क हूं। मेरे दिये तथ्य और तर्क को परीक्षा, समीक्षा और स्वतन्त्र आलोचना का सामना करना पड़ेगा, यह मुझे मालूम है, उस समय केवल मात्र इतना ध्यान रखा जाये कि यह प्रयत्न एक जिज्ञासु का है, जिसने मन में सतुलन और सद्भावना बनाये रखने का पूरा प्रयत्न किया था। प्रताप और अकबर जैसे व्यक्तित्व मुझे वह सब कुछ प्रस्तुत करने में नहीं रोक सके हैं जो उनके संबंध में प्रचलित मान्यताओं के सर्वथा विपरीत है, इसका अर्थ यह नहीं कि उनके प्रति मेरे मन में श्रद्धा का अभाव है, यह सारा प्रयत्न उन्हीं के प्रति तो मेरी श्रद्धांजली है।

आश्विन, शुक्ल सप्तमी,*
विक्रम संवत् 2031
22 अक्टूबर 1974

*यह मेरे पितामह स्वर्गीय पंडित देवी शंकर भट्ट, की पुण्य तिथि, और मेरे पुत्र चिरजीव शरद शंकर की जन्म तिथि है। यह पुस्तक पितामह की स्मृति और पुत्र का मार्ग आलोकित करेगी, इस आशा के साथ पाठक को समर्पित है।

# संकेत और संदर्भ

## चिह्न

अ–अनुवादक
प्र–प्रकाशक
पु–पुस्तक
ले–लेखक
सं–संपादक
संस्क–संस्करण

| संकेत | संदर्भ |
|---|---|
| 1. 'अकबरनामा', तीसरा भाग | ले-शेख अबुल् फज्ल अल्लामी, अ-एच. बैवरिज, प्र-रेयर बुक्स, दिल्ली, संस्क–1973 |
| 2. 'अकबरनामा', दूसरा भाग | ले-शेख अबुल् फज्ल अल्लामी, अ-एच. बैवरिज, प्र-रेयर बुक्स. दिल्ली, संस्क–1972 |
| 3. 'अकबरी दरबार' | ले-मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आजाद', अ-रामचंद्र वर्मा, प्र-नागरी प्रचारणी सभा, काशी, संस्क–2024 वि. |
| 4. अग्रवाल | पु-स्मृति ग्रन्थ, पहला खंड, ले-श्रीरत्नचन्द्र अग्रवाल |
| 5. अल् बदायूनी | पु-'मुन्तखबुत-तवारीख', दूसरा भाग, ले-अब्दुल कादिर इब्न ए मुल्क शाह, अल् बदायूनी, अ–डब्लू. एच. लो, प्र–इदाराह-ए-अदबियत-ए-दिल्ली, दिल्ली संस्क-1973 |
| 6. अशरफ | पु-'लाइफ एण्ड कंडीशन्स आफ दि पीपुल आफ हिन्दुस्तान', ले-डा. के. एम. अशरफ, प्र-जीवन प्रकाशन, दिल्ली, संस्क-1959 |
| 7. अहमद | पु-'तारीख-ए-अलफी', ले-मौलाना अहमद, 'दि हिस्ट्री आफ इंडिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स', पाँचवां भाग, स-सर एच. एम. इलियट और प्रो. जोन डाऊसन, प्र-किताब महल लि., इलाहाबाद, संस्क-1964 |
| 8. 'आईन-इ-अकबरी' | ले-अबुल् फज्ल, अ-एच. ब्लोयमन, प्र-न्यू इम्पीरियल बुक डिपो, नयी दिल्ली, संस्क-1965 |
| 9. इन्द्र | पु-'मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण', ले-प्रो. इन्द्र विद्यावाचस्पति, प्र-हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, संस्क-1949 |
| 10. इर्सकिन | पु-'दि मेवाड़ रेजीडेन्सी', राजपूताना गजेटियर्स, भाग-2-ए, ले-मेजर के. डी. इर्सकिन, प्र-स्कोटिश मिशन इन्डस्ट्रीज कं.लि., अजमेर, संस्क-1908 |
| 11. ओझा, डूंगरपुर | पु- डूंगरपुर राज्य का इतिहास, ले. रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा |

| संकेत | संदर्भ |
|---|---|
| 12. ओझा, राजपूताना | पु-'राजपूताने का इतिहास', ले-रायबहादुर गौरीशकर हीराचंद ओझा, मु-वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, संस्क-1927 |
| 13. कानूनगो | पु-'शेरशाह एण्ड हिज टाइम्स', ले-डा. कालिका रंजन कानूनगो, प्र-ओरिएन्ट लोगमेन्स लि., कलकत्ता, संस्क-1965 |
| 14. 'केम्ब्रिज हिस्ट्री' | पु-'दि केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया', चौथा भाग, सं-ले कर्नल सर वुलजले हेग और सर रिचार्ड वर्न, प्र-एस॰ चांद एण्ड कं., नई दिल्ली, संस्क-1957 |
| 15. गहलोत | पु-'राजपूताने का इतिहास', ले-श्री जगदीश सिंह गहलोत, प्र-हिन्दी साहित्य मन्दिर, जोधपुर, सस्क-1937 |
| 16. गुप्ता | पु-'सर यदुनाथ सरकार कमेमोरेशन वाल्यूम', दूसरा भाग,स-डा. हरीराम गुप्ता, लेख-'ए स्टडी आफ दि मिन्ट टाउन्स आफ अकवर', ले-श्री परमेश्वरीलाल गुप्ता, प्र-डिपार्टमेन्ट आफ हिस्ट्री, पजाव यूनिवर्सिटी, होशियारपुर, संस्क-1958 |
| 17. गोपीनाथ शर्मा, ऐतिहासिक | पु-'ऐतिहासिक निवन्ध सग्रह', ले-डा. गोपीनाथ शर्मा, प्र-हिन्दी साहित्य मदिर, जोधपुर, सस्क-1970 |
| 18. गोपीनाथ शर्मा, ग्लोरी | पु-'ग्लोरी आफ मेवाड़', ले-डा. गोपीनाथ शर्मा प्र-शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं., आगरा, संस्क-प्रथम |
| 19. गोपीनाथ शर्मा, मेवाड़ | पु-'मेवाड़ एण्ड दि मुगल एम्परर्स', ले-डा. गोपीनाथ शर्मा, प्र-शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं., लि., आगरा, संस्क-1962 |
| 20. गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान | पु-'राजस्थान का इतिहास', ले-डा. गोपीनाथ शर्मा, प्र-शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा, सस्क-1971 |

| सकेत | संदर्भ |
|---|---|
| 21. गोपीनाथ शर्मा, रिसर्च स्मारिका | पु-रिसर्च स्मारिका |
| 22. गोपीनाथ शर्मा, शोध पत्रिका | पु-शोध पत्रिका |
| 23. गोपीनाथ शर्मा, सोशल लाइफ | पु-'सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान', ले-डा. गोपीनाथ शर्मा, प्र-लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, संस्क-1968 |
| 24. गोपीनाथ शर्मा, स्मृति ग्रन्थ | पु-स्मृति ग्रन्थ |
| 25. चतुरसेन | पु-'भारत में इस्लाम', ले-आचार्य चतुरसेन, प्र-प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, संस्क-1971 |
| 26. चोपड़ा | पु-'स्टडीज इन दि कल्चरल हिस्ट्री ग्राफ इंडिया' ले-डा. पी. एन. चोपड़ा, सं-डा. गुई एस. मेट्रॉक्स ग्रौर डा. फ्रांसिस क्रूजे, प्र-यूनेस्को-द्वारा शिवलाल अग्रवाल एण्ड को. लि., ग्रागरा, संस्क-1965 |
| 27. जयन्ती स्मारिका | पु-महाराणा प्रताप स्मारिका, सं.-श्री लक्ष्मण बोलिया, प्र-प्रताप मित्र मंडल, जयपुर, संस्क-1974 |
| 28. 'जहांगीरनामा' | पु-'जहांगीर का ग्रात्मचरित' (जहांगीरनामा), ले-शाहंशाह जहांगीर, अ-श्री व्रजरत्नदास, प्र-नागरी प्रचारणी सभा, काशी, संस्क-2014वि. |
| 29. जेम्स टाड | पु-'एनाल्स एण्ड एन्टीक्विटीज ग्राफ राजस्थान', पहला भाग, ले-कर्नल जेम्स टाड, प्र-राऊप्लेड एण्ड केगन लि., लदन, संस्क-1960 |
| 30. ताराचन्द | पु-'इनफ्लुएन्स ग्राफ इस्लाम ग्रान इंडियन कल्चर', ले-डा. ताराचन्द, प्र-इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, संस्क-1954 |
| 31. तिवारी | पु-शोध पत्रिका, ले-प्रो. ग्रार्य रामचन्द्र तिवारी |
| 32. त्रिपाठी | पु 'राइज एण्ड फाल ग्राफ दि मुगल एम्पायर', ले-डा. ग्रार. पी. त्रिपाठी, प्र-सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, संस्क-1963 |
| 33. 'दलपत विलास' | सं-श्री रावत सारस्वत, प्र-सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर, सस्क- 1960 |

| संकेत | संदर्भ |
|---|---|
| 34. दशरथ शर्मा | पु-'लेक्चर्स इन राजपूत हिस्ट्री एण्ड कलचर', ले-डा. दशरथ शर्मा, प्र-मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, सस्क-1969 |
| 35. निगम | पु-'सूरवश का इतिहास', पहला भाग, ले-डा. शिव विन्देश्वरी प्रसाद निगम, प्र-मुंशीराम मनोहर लाल, नयी दिल्ली, संस्क-1972 |
| 36. निजामुद्दीन | पु-'तबकात-ए-अकबरी', ले-ख्वाजा निजामुद्दीन अहमद बक्शी, 'दि हिस्ट्री आफ इंडिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स', पाचवां भाग, स-सर एच. एम. इलियट और प्रो जोन डाउसन, प्र-किताब महल लि., इलाहाबाद, संस्क-1964 |
| 37. नैणसी | पु-'मुहणोत नैणसी की ख्यात', पहला भाग, सं-श्री रामनारायण दूगण, प्र-नागरी प्रचारणी सभा, काशी, संस्क-1982 वि. |
| 38. पनिकर | पु-'दि डिटरमिनिंग पीरियड्स इन इंडियन हिस्ट्री', ले-सरदार के.एम. पनिकर, प्र-भारतीय विद्या भवन, बम्बई, संस्क-1962 |
| 39. पांडेय | पु-'मध्ययुगीन भारत', ले-डा. अवधविहारी पांडेय, प्र-सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, संस्क-1972 |
| 40. पॉवेल प्राइस | पु-'ए हिस्ट्री आफ इडिया', ले-श्री जी. सी. पॉवेल-प्राइस प्र-टॉमस नेलसन एण्ड सन्स लि., लन्दन, संस्क- 1958 |
| 41. प्रसाद | पु-'राजा मानसिह आफ आंबेर', ले-डा.राजीव नयन प्रसाद, प्र-दि वर्ल्ड प्रेस लि., कलकत्ता, सस्क-1966 |
| 42. फरिश्ता | पु-'तारीख-इ-फरिश्ता', 'हिस्ट्री आफ दि राइज आफ दि महोमेडन पावर इन इंडिया', ले-मोहम्मद कासिम हिन्दू शाह फरिश्ता, प्र-लोगमेन, रीस, ओरमे, ब्राउन एण्ड ग्रीन, लन्दन, सस्क- 1829 |

| संकेत | संदर्भ |
| --- | --- |
| 43. फ्रांसिस पेलसार्ट | पु-'जहांगीर्स इंडिया', ले-श्री फ्रांसिस पेलसार्ट, अ-श्री डब्लू. एच. मोरलैंड और डा. पी. गेल, प्र-इदारा-ए-अदाबियत-ए-दिल्ली, दिल्ली, संस्क-1972 |
| 44. फ्रेडरिक | पु-'दि एम्परर अकबर', पहला भाग, ले-श्री फ्रेडरिक आगस्टस, काउन्ट आफ नोर, अ-श्रीमती एनेट एस. बेवरिज, प्र-अकेडेमिका एशियाटिका, पटना, संस्क-1973 |
| 45. बनर्जी | पु-'लेक्चर्स ओन राजपूत हिस्ट्री', ले-डा. अनिल चन्द्र बनर्जी, प्र- फिरमा, के. एल. मुखोपाध्याय, कलकत्ता, संस्क—1962 |
| 46 बिनयोन | पु-'अकबर', ले-श्री लारेन्स बिनयोन, प्र-टॉमस नेलसन एण्ड सन्स लि., लन्दन, संस्क—1939 |
| 47. बेनीप्रसाद | पु-'हिस्ट्री आफ जहांगीर', ले-डा. बेनीप्रसाद, प्र-दि इंडियन प्रेस लि., इलाहाबाद, संस्क-1962 |
| 48. बोरा | पु-शोध पत्रिका, ले-डा. राजमल बोरा |
| 49. भंडारी | पु-'भारत के देशी राज्य', (आठवां अध्याय, उदयपुर राज्य का इतिहास), ले-सुखसम्पत्तिराय भंडारी, प्र. राज्य मंडल बुक-पब्लिशिंग हाउस, इंदौर सिटी, संस्क-1927 |
| 50. भार्गव, मारवाड़ | पु-'मारवाड़ एण्ड दि मुगल एम्परर्स', ले-डा. विश्वेश्वरस्वरूप भार्गव, प्र- मुंशीराम मनोहर लाल, संस्क-1966 |
| 51. भार्गव, राजस्थान | पु-'राजस्थान का इतिहास', ले-डा. विश्वेश्वर स्वरूप भार्गव, प्र- कालेज बुक डिपो, जयपुर, संस्क-1970 |
| 52. मथुरालाल शर्मा | पु-'मुगल साम्राज्य का उदय और वैभव,' ले-डा. मथुरालाल शर्मा, प्र. कैलाश पुस्तक सदन, ग्वालियर, संस्क–1968 |
| 53. मनोहर शर्मा | पु-स्मृति ग्रन्थ |
| 54. महेचा | पु-'राजस्थान के राजपूत', ले-श्री मांगीलाल महेचा, प्र-लेखक, जोधपुर, संस्क-1965 |

| संकेत | संदर्भ |
|---|---|
| 55. मानूची | पु-'मुगल इंडिया', ले-श्री निकोलाओ मानूची, अ-श्री विलियम इर्विन, प्र- (भारत सरकार के लिए) जोन मरी, लंदन, संस्क-1907 |
| 56. मालेसन | पु-'दि नेटिव स्टेट्स आफ इंडिया', ले-कर्नल जी. बी. मालेसन, संस्क-1875 |
| 57. मुनि जिन विजय | पु-फुटकर प्रकाशन, ले-मुनि श्री जिन विजय |
| 58. मेकलेगन | पु-'दि जेसुइट्स एण्ड दि ग्रेट मुगल', ले-सर एडवर्ड मेकलेगन, प्र-बर्न्स ओट्स एण्ड वाशबोर्न लि., लंदन, संस्क-1932 |
| 59. मेहता | पु-'हमारा राजस्थान', ले-श्री पृथ्वीसिंह मेहता, प्र-हिन्दी भवन, इलाहाबाद, सं-1950 |
| 60. मोतीचन्द | पु-'मेवाड़ पेन्टिंग', ले-श्रीमोतीचन्द, प्र-ललित कला अकादमी, नयी दिल्ली, संस्क-1957 |
| 61. मोरलैंड, अकबर | पु-'इंडिया एट दि डेथ आफ अकबर', ले-श्री डब्लू एच. मोरलैंड, प्र-मेकमिलन एण्ड कं.लि., लदन, सस्क-1920 |
| 62. मोरलैंड, औरंगजेब | पु-'फ्रोम अकबर टू औरंगजेब', ले-श्री डब्लू. एच. मोरलैंड, प्र-मेकमिलन एण्ड क.लि., लंदन, सस्क-1923 |
| 63. रघुवीरसिंह, प्रताप | पु-'महाराणा प्रताप', ले.- डा. रघुवीरसिंह, प्र-प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नयी दिल्ली, संस्क-1972 |
| 64. रघुवीरसिंह, राजस्थान | पु-'पूर्व आधुनिक राजस्थान', ले-डा. रघुवीर सिंह, प्र-राजस्थान विश्व विद्यापीठ, उदयपुर, संस्क-1951 |
| 65. राणा रासो | पु-'राणा रासो', ले-कवि दयाल दास ब्रह्मभट्ट, प्र-अप्रकाशित, सत्रहवीं शताब्दी |
| 66. राय | पु-'दि सक्सेसर्स आफ शेरशाह', ले-प्रो. निरोद भूषण राय, प्र श्रीमती वीणा राय, ढाका, संस्क-1934 |

| संकेत | संदर्भ |
|---|---|
| 67. रिसर्च स्मारिका | पु-'महाराणा प्रताप-स्मारिका' सं-डा. मथुरा, लाल शर्मा, प्र-राजस्थान इन्स्टीट्यूट श्राफ हिस्टोरिकल रिसर्च, जयपुर, संस्क-1966 |
| 68 रीनकोर्ट | पु-'दि सोल श्राफ इडिया',ले-श्री श्रमुरा डे रीन-कोर्ट, प्र-जानयन केप, लंदन, संस्क-1961 |
| 69. रेऊ | पु-'मारवाड़ का इतिहास', पहला भाग, ले-पं. विश्वेश्वर नाथ रेऊ, प्र-श्राकियालॉजिकल डिपार्टमेंट, जोधपुर, संस्क-1938 |
| 70. लाल | पु-'स्टडीज इन मेडीवल इडियन हिस्ट्री', ले-डा किशोरी सरन लाल, प्र-रणजीत प्रिन्टंस एण्ड पब्लिशर्स, दिल्ली, संस्क-1966 |
| 71 लालस | पु-'राजस्थानी सवद कोस' |
| 72 लूनिया | पु-'श्रकबर महान', ले-श्री बी. एन. लूनिया, प्र-लक्ष्मी नारायण श्रग्रवाल, श्रागरा, संस्क-1972 |
| 73. वीर विनोद, दूसरा भाग | ले-श्री श्यामलदास, प्र-मेवाड़ राज्य, उदयपुर, संस्क-1943 वि. |
| 74. वीर विनोद, पहला भाग | ले-श्री श्यामलदास, प्र-मेवाड़ राज्य. उदयपुर. सस्क-1943 वि. |
| 75 शास्त्री | पु-'स्मृति ग्रन्थ'. ले-डा प्रभाकर शास्त्री |
| 76. श्रीराम शर्मा, क्रेसेन्ट | पु-'दि क्रेसेन्ट इन इंडिया', ले-प्रो. श्रीराम शर्मा, प्र-हिन्द किताब लि., बम्बई, संस्क-1954 |
| 77. श्रीराम शर्मा, प्रताप | पु-'महाराणा प्रताप', ले-प्रो. श्रीराम शर्मा, प्र-वी. वी. श्रार. इन्सटीट्यूट, होशियारपुर. सस्क-1954 |
| 78. श्रीराम शर्मा, मुगल | पु-'मुगल एम्पायर इन इंडिया', पहला भाग, ले- प्रो श्रीराम शर्मा, प्र-कर्नाटक प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, संस्क-1934 |
| 79. श्रीराम शर्मा, रिलीजन | पु-'दि रिलीजस पोलिसी श्राफ दि मुगल एम्परर्स', ले-प्रो श्रीराम शर्मा, प्र-एशिया पब्लिकेशन हाउस, बम्बई, 1962 |

| संकेत | संदर्भ |
| --- | --- |
| 80. श्रीवास्तव, दूसरा भाग | पु-'अकबर महान', ले-डा. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, अ-डा. भगवान दास गुप्त, प्र-शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं., आगरा, संस्क-1972 |
| 81. श्रीवास्तव, पहला भाग | पु-'अकबर महान', ले-डा. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, अ-डा. भगवानदास गुप्त, प्र-शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं., आगरा, संस्क-1967 |
| 82. शेलट | पु-'अकबर', पहला भाग, ले-श्री जे. एम. शेलट, प्र-भारतीय विद्या भवन, बम्बई, संस्क-1959 |
| 83. 'शोध पत्रिका' | पु-त्रैमासिक, प्र-साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर |
| 84. 'शोध पत्रिका', एक | भाग 6, अंक 4, आश्विन वि. स. 2011 |
| 85. 'शोध पत्रिका', दो | वर्ष 24, अंक 3-4 |
| 86. 'शोध पत्रिका', तीन | भाग 6, अक 3, चैत्र, वि. स. 2010 |
| 87. 'शोध पत्रिका' चार | वर्ष 22, अक 4, अक्टूबर-दिसम्बर, 1971 |
| 88. 'शोध पत्रिका', पांच | भाग 5, अंक 2, पौष, वि. स. 2010 |
| 89. 'शोध पत्रिका', छः | वर्ष 19, अंक 4, अक्टूबर-दिसम्बर, 1968 |
| 90. 'शोध पत्रिका', सात | वर्ष 21, अंक 2, अप्रेल-जून, 1970 |
| 91. 'शोध पत्रिका', आठ | वर्ष 11, अक 3-4, मार्च-जून, 1960 |
| 92. सरकार | पु-'मिलिट्री हिस्ट्री आफ इंडिया', ले-सर यदुनाथ सरकार, प्र-एम. सी. सरकार एण्ड सस लि., कलकत्ता, सस्क-1960 |
| 93. सांकृत्यायन | पु-'अकबर', ले-श्री राहुल सांकृत्यायन, प्र-किताब महल, इलाहाबाद, सस्क-1967 |
| 94. सोमानी | पु-'स्मृति ग्रन्थ', ले-श्री रामवल्लभ सोमानी |
| 95. स्मरणीय स्मारिका | पु-'प्रातः स्मरणीय प्रताप', स्मारिका, सं-श्री शम्भूसिंह 'मधु', प्र-महाराणा प्रताप स्मारक समिति, उदयपुर, संस्क-434वी प्रताप जयन्ती |
| 96. स्मिथ | पु-'महान मुगल अकबर' ले-श्री विंसेंट ए. स्मिथ, अ-डा. राजेन्द्र नाथ नागर, प्र-हिन्दी समिति, |

| संकेत | संदर्भ |
|---|---|
| | सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, संस्क-1967 |
| 97. स्मृति ग्रन्थ | पु-'महाराणा प्रताप स्मृति ग्रन्थ', सं-डा. देवीलाल पालीवाल, प्र-साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर, संस्क-1969 |
| 98. हरीशकर शर्मा | पु-'मध्यकालीन भारत', ले-श्री हरीशकर शर्मा |

# 1

# पीठिका

मेवाड़ के ही नहीं, सारे भारतवर्ष के इतिहास में महाराणा संग्रामसिंह (सांगा) का विशिष्ट स्थान है। उसके राजकाल मे मेवाड़ अपने गौरव और वैभव के सर्वोच्च शिखर पर पहुंच गया था। परन्तु उसी के राजकाल में मेवाड़ का पतन प्रारम्भ हुआ; संग्रामसिंह अपने को ऐसे निर्णायक स्थान पर ले गया था कि उसके हारने, और मरने, से सारे देश को बुरी तरह का धक्का लगा, एक राष्ट्रीय संकट समुपस्थित हो गया। 'राणा संग्रामसिंह के साथ ही साथ भारत के राजनीतिक रंगमंच पर हिन्दू साम्राज्य का अन्तिम दृश्य भी पूर्ण हो गया।' इतिहास उसे 'भारतीय अन्तिम हिन्दू सम्राट' के रूप में स्मरण करता है; इतिहासकार जेम्स टाड कहते है, "यद्यपि कान्ति की अनेक किरणों ने उसके जीवन के अन्तिम दिनों को देदीप्यमान बना रखा था, परन्तु उनके कारण तो खंडहर ही आलोकित हो रहे थे।"[1]

संग्रामसिंह मेवाड़ के परम यशस्वी शासक महाराणा कुम्भकरण (कुम्भा) का पौत्र था। कुम्भकरण का 'राज्य लोभी और दुष्ट' पुत्र उदयसिंह अपने हाथों अपने पिता की हत्या करके[2] चित्तौड़ की गद्दी पर बैठा था, इस कारण गद्दी पर बैठते ही उसके लिए मुश्किलें और मुसीबतें शुरू हो गयीं। सामन्तो और प्रतिष्ठित नागरिको ने उसे किसी तरह का सहयोग नहीं दिया। उन्होंने मौका मिलते ही उदयसिंह के छोटे भाई रायमल्ल

1 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 240
2 'वीर विनोद', पहला भाग पृष्ठ 334

को उसकी ससुराल ईडर से बुलाया, और उदयसिंह को हटाकर उसे मेवाड़ की गद्दी पर बैठा दिया।

उदयसिंह इतना गयागुजरा निकला कि वह चित्तौड़ से खदेड़े जाने पर अपने दो पुत्रों सहित मालवा के सुलतान गियासुद्दीन की शरण में चला गया। जब गियासुद्दीन उसकी मदद करने को तैयार हो गया, उदयसिंह ने अपनी पुत्री का उससे विवाह करना कबूल कर लिया।[1] परन्तु जैसे ही सारी बातें पक्की करके वह अपने शिविर की ओर रवाना हुआ, रास्ते में उस पर बिजली गिरी और वह मर गया। परन्तु गियासुद्दीन के मंसूबे इतने बढ़ा दिये गये थे कि उसने चित्तौड़ पर फिर भी हमला किया। उदयसिंह के दोनों पुत्रों ने इसके लिए उससे अनुनय भी बहुत किया था। रायमल्ल ने गियासुद्दीन को हरा दिया।

रायमल्ल में शौर्य और साहस की कमी नहीं थी, लेकिन उसने अपने कुल के इतिहास से कुछ नहीं सीखा था। अपने उत्तराधिकार के संबंध में उसने अपना मन्तव्य अपने पास ही रखा, और उसके तीन बड़े पुत्र पृथ्वीराज, जयमल्ल और संग्रामसिंह उसके जीते जी ही आपस में लड़ते रहे, एक दूसरे की जान के दुश्मन हो गये। संग्रामसिंह को अंगभंग होने के बाद अपनी जान बचाने के लिए भागना पड़ा। कुछ दिन वह मारवाड़ में एक गड़रिये के पास रहा, और बाद में साधारण सैनिक की तरह अजमेर के निकट श्रीनगर के ठाकुर कर्मचन्द परमार के पास। परन्तु पिता के जीवनकाल ही में पहले जयमल्ल और बाद मे पृथ्वीराज मारे गये, और जो तीसरा पुत्र संग्रामसिंह देशनिकाले और दूसरे वेश में दिन काट रहा था उसे मेवाड़ का राज मिला।

## यशस्वी संग्रामसिंह

संग्रामसिंह ने मेवाड़ के यश से सारे उत्तर भारत मे चकाचौंध फैला दी।

संग्रामसिंह ने जब मेवाड़ का राजभार सम्हाला, राज्य की आन्तरिक स्थिति ही शोचनीय नहीं थी, मेवाड़ चारों ओर से भी चुस्त और चालाक शत्रुओं से घिरा था। दिल्ली में सुलतान इब्राहीम लोदी, गुजरात में सुलतान मुजफ्फर और मालवा में सुलतान महमूद का शासन था। इन तीनो से संग्रामसिंह का अलग अलग मुकाबला हुआ, और तीनो को मेवाड़ के महाराणा के आगे झुकना पड़ा। इतिहासकार इन तीनो से संग्रामसिंह की कई बार मुठभड़ होना बताते है, और किस प्रकार शत्रु को हराकर और गिरफ्तार करके महाराणा छोड़ देता था, इसकी दिल दूना कर देने वाली अनेक गाथाएं प्रचलित है। इनमे दिल्ली के सुलतान की पराजय ने मेवाड़ की धाक सारे देश में जमा दी। "इन विजयों से उत्तरी भारत का नेतृत्व भी उसे प्राप्त हो गया। इब्राहीम की यह पराजय महाराणा की प्रतिष्ठा बढ़ाने में बड़ी सहायक बनी। वैसे तो दिल्ली सलतनत के शासक निर्बल हो गये थे, फिर भी उनकी एक प्रतिष्ठा थी, वे देश के शासक माने जाते थे। दिल्ली के शासक को परास्त करने से राजनीतिक धुरी मेवाड़ की ओर घूम गयी और सभी

1. 'वीर विनोद', पहला भाग, पृष्ठ 338

शक्तियां, देशी और विदेशी, सांगा की शक्ति को मान्यता देने लगीं। मेवाड़ की शक्ति की यह चरम सीमा थी। राणा इन विजयों से राजपूत संगठन का नेता स्वीकार कर लिया गया और उसके व्यक्तित्व में हिन्दू शौर्य की आभा देदीप्यमान हो चली।"[1]

इतिहास ने यहां से पलटा खाया। बाबर का भारत पर आक्रमण हुआ, दिल्ली के सुलतान उसके सामने टिक नहीं सके और संग्रामसिंह को बाबर से सीधी टक्कर लेने के लिए मैदान मे उतरना पड़ा। "राजनीतिक, बौद्धिक और भावुक मान्यता से सांगा उस समय का एक ही व्यक्ति था जो बाबर का विरोध करने की योग्यता रखता था।"[2]

'उस समय के सबसे बड़े प्रतापी हिन्दूपति महाराणा' संग्रामसिंह ने अपेक्षाओं के अनुरूप कार्य किया। अपनी स्थिति हर तरह से सुदृढ़ करके वह भारत की सीमाओं के बाहर से आकर उस पर छा जाने की महत्वाकांक्षा रखने वाली उठती सत्ता का सामना करने के लिए अपने राज्य की सीमाओ से आगे निकला। आगरा तक बाबर का कब्जा हो चुका था। रास्ते के स्थान जीतता हुआ, 'सब मुखाफिलिकों का सरगिरोह' संग्रामसिंह आगरे के निकट पहुंच गया, और बयाना के किले को घेर लिया। इस पर बाबर का अधिकार था। बाबर की सेना सामना नहीं कर सकी, हारकर भाग निकली, और बयाना पर संग्रामसिंह का झंडा फहराने लगा।

इससे बाबर के सैन्य शिविर में जो निराशा छायी उसका बड़ा डरावना वर्णन पुस्तको में मिलता है, लेकिन यही मौका था जबकि संग्रामसिंह और बाबर के व्यक्तित्वों में टक्कर हो गयी। एक तरफ विजय ने अपार आत्मविश्वास भर दिया, दूसरी तरफ आशंका में से दृढ़ निश्चय उत्पन्न हुआ। जो परिणाम प्राप्त हुआ उसके और भी अनेक कारण थे, और संग्रामसिंह की पराजय को ठीक ही 'तोपों-बंदूकों के आगे तीरों-तलवारो की हार' कहा गया है, परन्तु संग्रामसिंह ने भारत के सामने समुपस्थित इस निर्णायक घड़ी मे एक-एक करके अनेक गलत फैसले किये, इसमें कोई संदेह नहीं है।

बाबर की ओर से संग्रामसिंह को भेजे गये सुलह के संदेश के सफल नहीं होने पर, 17मार्च 1527 को खानुवा में बाबर और संग्रामसिंह के बीच ऐतिहासिक युद्ध हुआ। दोनो ओर से बहुत ही भीषण आक्रमण हुए। जब यह कहा नहीं जा सकता था कि क्या होगा, संग्रामसिंह बुरी तरह घायल होकर मूर्छित हो गया—उसके आसपास के लोग उसे पालकी मे बैठाकर मैदान से बाहर ले गये—बाबर को जीतने का, और सारे उत्तर भारत में अपना दबदबा जमाने का मौका मिल गया।

मूर्छित अवस्था में महाराणा को लेकर जो लोग आये थे उनमें सिरोही, आंबेर और जोधपुर के राजा तथा मेवाड़ के कुछ प्रमुख सामन्त थे। इन लोगों ने बसवा गांव पहुंचकर विश्राम किया। वहां महाराणा को, मूर्छा से जागने पर, परिस्थिति समझायी गयी। संग्रामसिंह ने कहा, 'मुझे लड़ाई के मैदान से लाकर तुम लोगों ने बड़ा बुरा किया। मैं बाबर

---

1 गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान, पृष्ठ 267
2 गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान, पृष्ठ 268

को जीते विना वापस चित्तौड़ नहीं जाऊंगा।' संग्रामसिंह रणथम्भोर चला गया और उसने नयी सेना संगठित करने के प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये। फिर से बाबर पर आक्रमण करने के निश्चय से संग्रामसिंह के साथी और सामन्त सहमत नहीं हुए, लेकिन महाराणा ने अपनी जिद नहीं छोड़ी, 'तब नमकहरामों ने उनको जहर दे दिया'।[1] 'अपने समय के सबसे बड़े प्रतापी राजपूत राजा एवं मध्यकालीन भारत के अंतिम एवं वास्तविक हिन्दूपति की जीवन-लीला का यों खेदजनक दुःखपूर्ण अन्त हुआ।'

"इस पराजय से राजपूतों का वह प्रताप, जो महाराणा कुम्भा के समय में बहुत बढ़ा और इस समय तक अपने शिखर पर पहुंच चुका था, एकदम कम हो गया, जिससे भारतवर्ष की राजनीतिक स्थिति में राजपूतों का वह उच्च स्थान न रहा। राजपूतों की शायद ही कोई ऐसी शाखा हो, जिसके राजकीय परिवार में से कोई-न-कोई प्रसिद्ध व्यक्ति इस युद्ध में काम न आया हो। इस युद्ध का दूसरा परिणाम यह हुआ कि मेवाड़ की प्रतिष्ठा और शक्ति के कारण राजपूतों का जो संगठन हुआ था वह टूट गया। इसका तीसरा और अंतिम परिणाम यह हुआ कि भारतवर्ष में मुगलों का राज्य स्थापित हो गया और बाबर स्थिर रूप से भारतवर्ष का बादशाह बना।"[2]

"इस युद्ध मे पराजय के कारण कुछ भी रहे हों ; खानुवा युद्ध के परिणाम बड़े महत्वपूर्ण थे। इससे राजसत्ता राजपूतों के हाथ से निकलकर मुगलों के हाथ में आ गयी जो लगभग 200 वर्ष से अधिक समय तक उनके पास बनी रही। यहां से उत्तरी भारत का राजनीतिक सम्बन्ध मध्य एशियाई देशों से पुनः स्थापित हो गया और भारतीय उत्तरी पश्चिमी सीमा की सुरक्षा का नया अध्याय यहां से आरम्भ हुआ। युद्ध शैली में भी एक नये सामंजस्य का मार्ग खुल गया, जब परास्त राजपूतों ने देखा कि उनके प्राचीन शस्त्र गोला-बारूद के समक्ष नगण्य सिद्ध हुए। सदियों से अर्जित प्रतिष्ठा को इस युद्ध से बड़ा धक्का पहुंचा, जिसको समय की गति भी नहीं भुला सकी।"[3]

"बाबर ने राणा सांगा को खानुवा के युद्ध मे हराकर भारत में भावी मुगल साम्राज्य की नींव सुदृढ़ बना दी। राणा सांगा की यह हार तथा तदनन्तर उसकी मृत्यु केवल मेवाड़ के लिए ही नहीं परन्तु राजस्थान के लिए भी बहुत ही घातक प्रमाणित हुई। राजस्थान की सदियों पुरानी स्वतंत्रता तथा उसकी प्राचीन हिन्दू संस्कृति को सफलतापूर्वक अक्षुण्ण बनाये रख सकने वाला अब वहां कोई भी नहीं रह गया। मुगल साम्राज्य ने राजस्थान की स्वतंत्रता का अन्त कर दिया, और राजनीतिक पतन के बाद राजस्थान की संस्कृति, वहां की विद्या और कला का भी ह्रास होने लगा। नये-नये प्रभाव उन पर पड़ने लगे तथा विदेशी भावनाओं से वे अछूते नहीं रह सके, जिससे आगे चलकर उनका मध्यकालीन स्वरूप ही बदल गया। सुदूरस्थ विदेशों से आने वाले इन विधर्मी आक्रमणकारी मुगलों ने राजनीतिक

1 'वीर विनोद', पहला भाग, पृष्ठ 367
2 ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 692
3 गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान, पृष्ठ 273

एकता के साथ ही धीरे-धीरे समूचे राजस्थान की संस्कृति तथा साहित्य में एक अनोखी समानता भी उत्पन्न कर दी थी। मुगल साम्राज्य की स्थापना के बाद उत्तरी भारत में उत्पन्न होने वाली नयी सम्मिलित हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव कुछ समय बाद राजस्थान निवासियो के आचार-विचार, रहन-सहन, वेष-भूषा तथा खान-पान तक में देख पड़ने लगा। .....इन सारी नयी-नयी प्रवृत्तियों तथा महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी प्रभावो का प्रारम्भ खानुवा के युद्ध के बाद तथा उसी के परिणामों के फलस्वरूप ही हो सका था।"[1]

युद्ध में महाराणा संग्रामसिंह से जो भूलें हुईं वे, उसके अपने घर में किये गये कुछ निर्णयों के कारण, भविष्य की दृष्टि से, दूनी महंगी बैठीं।

संग्रामसिंह के सात पुत्र थे। भोजराज[2], कर्णसिंह, पर्वतसिंह और कृष्णसिंह का देहान्त संग्रामसिंह के समय मे ही हो गया था।

इसके बाद राजकुमार रत्नसिंह का स्थान था। परन्तु संग्रामसिंह का अपनी रानी कर्मवती बाई से 'विशेष प्रेम' था। उससे दो पुत्र थे–विक्रमादित्य (विक्रमाजीत) और उदयसिंह। अपना अनुराग दिखाकर कर्मवती बाई ने संग्रामसिंह को अपने विस्तृत और वीरो के रक्त से सिंचित साम्राज्य को दो टुकड़ो मे बांटने को तैयार कर लिया और इस त्यागभूमि में भेदभाव, गृहयुद्ध और देशद्रोह के बीज बो दिये। दोनों छोटे भाइयो के नाम रणथम्भोर का किला, उसके आसपास के कई परगनो सहित, कर दिया गया, और उनकी माता के भाई, बूंदी के राजा, सूर्यमल्ल (सूरजमल) को उनकी और उनकी जागीर की देखरेख का भार सौंप दिया गया। संग्रामसिंह के बाद जो दुःखद घटनाएं हुईं उनके बीज, इस तरह, स्वयं उसी के हाथों बोये गये थे। "अपने जीवन की सबसे बड़ी भूल उसने यह भी की कि वह राजपूतो के बहु-विवाह के दोष से बच नहीं सका। अपने छोटे लड़कों को रणथम्भोर जैसी बड़ी जागीर देकर उसने भविष्य के लिए एक कांटा बो दिया। यह उसकी एक राजनीतिक भूल थी। उसके बृहत् राज्य के टुकड़े होने से मेवाड़ की शक्ति क्षीण हो गयी।..... सांगा की मृत्यु के बाद मेवाड़ की राजनीतिक स्थिति बड़ी शोचनीय हो चली।"[3]

इस बात की निन्दा 'वीर विनोद' में भी की गयी है—"हमारी राय मे महाराणा सांगा ने यह काम अपनी नामवरी और बुद्धिमानी के विरुद्ध किया; क्योंकि रणथम्भोर को

---

1 रघुवीरसिंह, राजस्थान, पृष्ठ 16

2 सबसे बड़े पुत्र भोजराज से ही मेडते के राव दूदा के पांचवे बेटे रत्नसिंह की पुत्री भक्त-शिरोमणि मीराबाई का विवाह हुआ था। पुत्र की मृत्यु के बाद महाराणा संग्रामसिंह ने मीराबाई की इच्छाओं का बहुत आदर किया, और मीरा के गिरधर गोपाल के लिए महल के बाहर सुन्दर मन्दिर बनवा दिया, जो अब भी मीरा के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है।

अपने भगवान के सामने, इस बात की चिन्ता छोड़कर कि और कौन देखता है, मीरा इस मन्दिर मे नाचा करती थी। इस पर भी महाराणा संग्रामसिंह ने, और उसके बाद रत्नसिंह ने भी, आपत्ति नहीं की।

3. गोपीनाथ शर्मा राजस्थान, पृष्ठ 276

जुदा अपने छोटे बेटों के स्वाधीन करने से राज्य के दो भाग प्रत्यक्ष हो चुके। महाराणा रत्नसिंह के देहान्त होने पर यदि विक्रमादित्य गद्दी पर नहीं बैठते तो राज्य के विगाड़ में कुछ भी बाकी नही था, क्योंकि विक्रमादित्य के रहते भी राज्य में कई रीति के नुकसान हुए।"[1]

एक-एक करके संग्रामसिंह के तीनों उपरोक्त पुत्र मेवाड़ की गद्दी पर बैठे। रत्नसिंह ने लगभग तीन और विक्रमादित्य ने लगभग पांच वर्ष राज्य किया। चूंकि इनके बाद उदयसिंह को राज मिलने के बीच में एक बनवीर और आया, इसलिए उदयसिंह का हाल अलग से लेना होगा।

## महाराणा रत्नसिंह

बाबर जीत गया था, परन्तु उसने संग्रामसिंह के साम्राज्य पर सीधा आक्रमण नहीं किया था। बाबर अन्यथा व्यस्त हो गया, और फिर इस संसार से उठ भी गया। इसलिए रत्नसिंह को बिना बाहरी बाधा के मेवाड़ के विस्तृत राज्य का उपभोग करने का अवसर मिल गया। इस लाभ को अपने राज्य के हित में लगाने की जगह उसने इसे गृह-कलह के बलबलते कड़ाह में डालकर भून डाला, और इस अदूरदर्शिता और नैतिक अपराध के कारण स्वयं भी इसमें जल मरा। संग्रामसिंह ने रणथम्भोर की पचास-साठ लाख रुपये की जागीर विक्रमादित्य और उदयसिंह को रत्नसिंह से पूछकर दी थी और सबके सामने उसने इसके लिए सहमति दी थी। परन्तु 'इतने बड़े देश और मजबूत व नामी किले' रणथम्भोर का अपने भाइयों के पास रहना रत्नसिंह को अखरने लगा और उस क्षेत्र को मुख्य मेवाड़ राज्य में फिर से शामिल करन का प्रयत्न उसने प्रारम्भ कर दिया। रत्नसिंह की ओर से विक्रमादित्य और उदयसिंह को चित्तौड़ वापस भेज देने का संदेश लेकर दो प्रतिष्ठित सामन्तों को रणथम्भोर भेजा गया। परन्तु न कर्मवती ने, न उसके भाई सूर्यमल्ल ने, रत्नसिंह की बात मानी। रत्नसिंह हमला करेगा इस डर से, सूर्यमल्ल ने अपनी बहन कर्मवती के नाम से एक ऐसा कृत्य किया जो मेवाड़ के यश पर एक धब्बा हो सकता था। 'हाड़ी कर्मवती विक्रमादित्य को मेवाड़ का राजा बनाना चाहती थी, जिसके लिए उसने सूरजमल से बातचीत कर बाबर को अपना सहायक बनाने का प्रपंच रचा।' बाबर से लड़ते हुए यद्यपि संग्रामसिंह ने अपना जीवन होम दिया था, फिर भी उसी के दो बेटों के हित के लिए, उनकी माता, और संग्रामसिंह की लाडली रानी की ओर से, हुंमायूं के लिए राखी भेजी गयी, और यह शर्त स्वीकार की गयी कि यदि बाबर विक्रमादित्य को चित्तौड़ दिला देगा तो उसे रणथम्भोर का किला और इलाका दे दिया जायेगा। साथ ही यह भी वादा किया गया कि महाराणा संग्रामसिंह ने मालवा के सुलतान महमूद को हराकर और बंदी बनाकर जो रत्नजटित मुकुट और सोने की कमरपेटी, 'जो तारीफ के लायक थी',[2] प्राप्त की थी

1. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 4
2. ये दोनो सुलतान हुशग के समय से राज्य-चिन्ह के रूप मे वहा के सुलतानो के काम मे आया करते थे।

उसे भी बाबर को समर्पित कर दिया जायेगा। माँ बेटों की तरफ से 'खैरख्वाही और खिदमतगारी' कबूल की गयी। इस तरह 'मेवाड़ में मुगल हस्तक्षेप की संकटशील संभावना' का सूत्रपात हुआ।

अपनी आत्मकथा में इस विषय में स्वयं बाबर ने लिखा है, "राणा सांगा के दूसरे बेटे विक्रमादित्य की तरफ से, जो अपनी माँ पद्मावती (कर्मवती) के साथ रणथम्भोर के किले मे रहता है, आदमी आये। ग्वालियर की सैर को रवाना होने से पहले अशोक (राव, परमार वंश का) नाम के एक हिन्दू ने, जो विक्रमादित्य का प्रतिष्ठित आदमी है, आकर तावेदारी और खिदमतगारी जाहिर की, और अपने गुजर के लिए सत्तर लाख की जागीर मांगकर, ऐसा इकरार किया कि जब वह रणथम्भोर का किला सौंप दे, तो उसकी इच्छानुसार परगने दिये जायें। इस बात का वादा करके हमने रुखसत दी। हम ग्वालियर की सैर को जाते थे, इसलिए उन आदमियो को ग्वालियर की मियाद दी। मियाद से कुछ ज्यादा दिन लग गये। यह अशोक हिन्दू विक्रमादित्य की माँ का नजदीकी रिश्तेदार होता है। उसने यह हाल माँ बेटो से जाहिर कर दिया है। उन्होने भी अशोक से इत्तिफाक करके खैरख्वाही और खिदमतगारी कबूल करली है। एक ताज और जरी का पटका (कमरपेटा) था। जब सांगा ने सुलतान महमूद को जेर किया और वह काफिर की कैद में आया, तब यह ताज और जरी का पटका, जो तारीफ के लायक था, लेकर महमूद को छोड़ दिया। वही ताज और जरी का पटका विक्रमादित्य के पास था। उसके बड़े भाई रत्नसिह ने, जो बाप की जगह राजा होकर अब चित्तौड़ पर कब्जा रखता है, ताज और जरी का पटका अपने छोटे भाई से मांगा था। इसने नहीं दिया। इन आदमियों के साथ जो आये है, ताज और जरी का पटका मुझे देना कहलाया है। रणथम्भोर के बदले मे बयाना मांगा था। बयाने की बात से उनको टालकर रणथम्भोर के एवज में शम्साबाद देने का वादा किया गया। उसी रोज इनके आये हुए आदमियो को खिलअत पहनाकर नौ दिन की मियाद से बयाने आने की रुखसत दी।"[1]

बाबर ने अपनी तसल्ली के लिए अपना एक प्रतिनिधि विक्रमादित्य के पास रणथम्भोर भेजा, "विक्रमादित्य के अव्वल एलची और पिछले एलची के साथ पुराने हिन्दुओं में से देवा का बेटा बोहरा दोशी भेजा गया कि यह रणथम्भोर सौंपने, खिदमतगारी कबूल करने और उसके बर्ताव के लिए शर्त करे। यह हमारा आदमी जो गया है, देखकर, समझकर, यकीन करके आवे और वह अपनी बातों पर जमा रहे, तो मैंने भी वादा किया—खुदा पूरा करे—उसके बाप की जगह राणा करके चित्तौड़ मे बैठा दूंगा।"[2] "यह कितनी घृणित चाल थी! भाग्यवश बाबर की मृत्यु हो जाने से ऐसी सहायता उपलब्ध नहीं हो सकी।"[3] लगता ऐसा है कि बाबर को ग्वालियर से विद्रोह दबाने जल्दी में बिहार जाना पड़ा था, यदि वह रणथम्भोर की ओर जा सकता तो मेवाड़ का गौरव अवश्य मिट जाता।

---

1 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 5
2 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 6
3. गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान, पृष्ठ 277

जिस दुराव का दोष संग्रामसिंह ने बोया था उसका फल उसके पुत्र रत्नसिंह के हिस्से पड़ा। संग्रामसिंह के पुत्र विक्रमादित्य तथा उदयसिंह का संरक्षक और संग्रामसिंह की पत्नी का भाई, बूंदी का राजा, सूर्यमल्ल और महाराणा रत्नसिंह शिकार के बहाने चित्तौड़–बूंदी की सीमा के पास गोकर्ण तीर्थ वाले गांव मे आपस में मिले, और एक दूसरे से ऐसे भिड़े कि दोनो की जीवन-लीला समाप्त हो गयी।

## भाग्यहीन विक्रमादित्य

मेवाड़ की गद्दी फिर खाली हो गयी। रत्नसिंह के केवल एक ही पुत्र था, जिसे स्वयं रत्नसिंह के आदेश से (युद्ध की भेरी बजने पर समय पर न पहुंचने के कारण) फासी पर लटका दिया गया था।[1] ऐसी स्थिति मे चित्तौड़ के सरदारो और सामन्तो ने रणथम्भोर से कर्मवती बाई को अपने दोनो पुत्र विक्रमादित्य और उदयसिंह के साथ चित्तौड़ बुलाया, और उनमें से बड़े विक्रमादित्य को गद्दी पर बैठाया। विक्रमादित्य रत्नसिंह से भी गया बीता निकला। 'शासन करने के लिए वह तो बिलकुल अयोग्य था।' वह वीर की जगह विदूषक था, सैनिको से अधिक वह पहलवानो पर विश्वास करता था। शासन प्रबन्ध से अधिक रस वह शारीरिक आनन्द में लेता था, मन उसका महिलाओ में जितना लगता था उतना युद्ध की समस्याओ में नही, परामर्श वह अनुभवी मंत्रियो से अधिक आनन्दप्रिय मित्रो का मानता था। न उसे आन्तरिक प्रबन्ध की चिन्ता थी न बाह्य आक्रमण की। छिछोरेपन के कारण वह चाहे जिसकी हँसी उड़ा देता था। सामन्तों का सम्मान संकट मे रहता था, बात-बात पर राणा विक्रमादित्य उनका अपमान करता रहता था, यहां तक कि उसके पिता संग्रामसिंह को कुंवरपद मे भ्रात-विरोध के समय आश्रय देने वाले कर्मचन्द परमार का भी उसने अपमान किया। यह देख राज्य के सभी प्रमुख लोगो को विक्रमादित्य से घृणा हो गयी। अराजकता की स्थिति सारे मेवाड़ में फैलने लगी। सरदार और अहलकार कहने लगे कि "अब जिसको इज्जत बचाना हो वह सरकार मे जाना छोड़े। इससे सरदारो वगैरह पर और भी तरह-तरह की तंगी होने लगी। रियासत मे बड़ा द्वन्द मचा। परन्तु महाराणा को कुछ भी परवाह न थी, न किसी के कहने सुनने पर अमल होता था। खराब आदत वाले स्वार्थी लोग पास रहकर अपना मतलब बनाते थे। माजी हाड़ी (महाराणा की माँ) ने भी, जो समझदार थीं, बहुत समझाया, परन्तु चिकने घड़े पर बूंद के समान कुछ असर न हुआ। ऐसी हालत में रियासत की बरबादी हो तो क्या आश्चर्य है?"[2] विक्रमादित्य ने अपने स्वर्गीय बड़े भाई की पत्नी मीराबाई के प्रति भी अच्छा व्यवहार नही किया, उसकी पूजा-अर्चना मे बाधा डाली और उसे अपने भगवान के सामने नाचने से रोकना चाहा। कहते है विक्रमादित्य के आदेश से मीरा को विष देने का यत्न भी किया गया। इन कठिनाइयो से परेशान होकर मीरा अपने भाई वीरमदेव के पास मेड़ता चली

---

1 भडारी, पृष्ठ 51

2 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 26

गयी, वहां से वृन्दावन और द्वारका। वहां रणछोड़राय जी के मन्दिर मे मीरा देवलीन हो गयी।[1]

मेवाड़ में व्याप्त दुरवस्था का लाभ उठाकर गुजरात के सुलतान बहादुरशाह की ओर से उस पर हमला कर दिया गया। इतिहासकार मानते हैं कि जो सामन्त महाराणा से असन्तुष्ट थे उन्होंने ही उससे मेवाड़ को मुक्त कराने के लिए बहादुरशाह को चित्तौड़ पर आक्रमण करने का आमन्त्रण दिया था[2] और वे उसे मेवाड़ के सैनिक भेद बताया करते थे। जो लोग मेवाड़ के लिए खून बहाते थे वे उसके खून के प्यासे हो गये। चित्तौड़-विजय का आकर्षण इतना था कि बहादुरशाह ने भी भुला दिया कि जब उसका भाई सिकन्दर उसके पीछे पड़ गया था तब मेवाड़ के महाराणा ने ही उसे संरक्षण दिया था। स्वार्थ सुमति समाप्त कर देता है। विक्रमादित्य ने पहले तो 'कुछ नजर भेंट देकर गुजराती फौज को पीछे फेरने का विचार किया', और विधिवत् यह प्रस्ताव भेजा भी गया। आक्रमणकारी सेना के सरदार मुहम्मदखान आसीरी ने ऐसा कोई प्रस्ताव मानने से इन्कार कर दिया। वह नीमच तक आ धमका, 'जहाँ महाराणा अपनी सेना व सरदारो के साथ मुक़ाबला करने को तैयार थे। परन्तु पहली ही चढ़ाई मे मेवाड़ की फौज भागकर चित्तौड़ के किले में आ घुसी, और सरदार लोग अपनी अपनी जागीरों को चले गये। मुसलमानो ने चित्तौड़ को आ घेरा। महाराणा के वही (मतलबी) सलाहकार उसको किले से निकालकर दिल्ली के बादशाह हुमायूं[3] के पास ले गये, और उससे मदद मांगी।[4] हुमायूंशाह इनकी मदद के लिए फौज लेकर रवाना हुआ। लेकिन ग्वालियर पहुचने पर बहादुरशाह की तरफ से उसको एक खत इस मजमून का मिला कि 'मै जिहाद (धर्मयुद्ध) पर हूँ। तुम विक्रमादित्य की मदद करोगे तो खुदा के सामने क्या जवाब दोगे?' इससे हुमायूं ग्वालियर मे ठहर गया और दो महीने तक वहीं रहा। उसकी टालाटूली देख महाराणा पीछे चले आये।'

इन घड़ियो में चित्तौड़ का सारा सम्मान धूल में मिल गया। "महाराणा संग्रामसिंह ने मालवे के कई किले और जिले सुलतान महमूद से छीन लिये थे। उनमें से चंदेरी को बाबर

---

1. अपने गिरधर गोपाल की मूर्ति मीरा अपने साथ द्वारका ले गयी थी। यह बाद मे उदयपुर लायी गयी, और महाराणा उदयसिंह ने आदरपूर्वक इसे उदयपुर के जनाना महलो मे पीताम्बर राय जी के मन्दिर मे स्थापित कराया। यहा अब तक इसकी पूजा होती है।
2. गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, पृष्ठ 43
3. महाराणा की मा ने रत्नसिंह के समय मे हुमायू को राखी भेजी थी, उसी का सम्बन्ध बताकर इस समय सहायता मागी गयी थी।
4. आधुनिक इतिहासकार नही मानते कि महाराणा विक्रमादित्य स्वय मुगल सम्राट के पास ले जाया गया था, मेवाड की तरफ से पदमशाह राजदूत के रूप मे गया था। हो सकता है कि विक्रमादित्य को उसकी सुरक्षा के लिए कही और भेजा गया हो। जो हो, मेवाड ने मुगल सम्राट के प्रति मित्रता का हाथ बढाया था, जिसे हुमायू ने नासमझी अथवा साम्प्रदायिकता के कारण नही थामा, सहायता का वचन देकर मौका आने पर धोखा दे दिया। आगे चलकर उसके पुत्र अकबर ने चार बार अपने दूत भेजकर मित्रता का प्रयत्न किया मेवाड ने तब हुमायू के पुत्र अकबर का विश्वास नही किया और उस प्रस्ताव को नही माना तो आश्चर्य की बात नही है। हुमायू के समय से मुगलो का मेवाड़ से मित्रता हो जाती तो अकबर के समय मे इतिहास दूसरा होता।

वादशाह ने मेदिनीराय से ले लिया था, और रायसेन, भेलसा, मंदसोर और गागरोन को सुलतान वहादुर गुजराती से फतह किया। महाराणा विक्रमाजीत उसका कुछ तदारुक न कर सके। गागरोन के किलेदार ने तो गुजरात की फौज मार भगायी, और जब खुद वहादुरशाह चढ़कर गया तो उससे भी जंग की। मगर मदद न पहुंचने से लाचार हथियार रख देने पड़े। वादशाह गागरोन फतह करके मंदसोर के ऊपर गया। यहां का किलेदार लड़े बिना ही किला छोड़कर भाग गया। यह आखिरी फतह सुलतान को मालवे में मेवाड़ वालों के ऊपर हासिल हुई, और अब उसका खास मेवाड़ के ऊपर चढ़ाई करने का हौसला हुआ। उसने चित्तौड़ के किले की मजबूती का मुकाबला करने के वास्ते एक बड़ा तोपखाना रूमीखान नाम के एक फिरंगी की अध्यक्षता में तैयार करना शुरू किया। जब वह दो वर्ष में तैयार हुआ तो बड़ी धूमधाम से चित्तौड़ के ऊपर चढ़ाई की जिसके बचाने के वास्ते बूंदी, जोधपुर और मेड़ते के बहादुर हाड़े और राठौड़ आकर सिसोदिया सूरमाओं के साथ शामिल हुए और ये लोग ऐसी बहादुरी से लड़े कि फिरंगी तोपखाने की आग भी उनकी तलवार के पानी से बुझ गयी।"[1] फिर भी, 'गुजराती फौज ने चित्तौड़ को चारों ओर से घेर लिया, उसकी पहली रक्षा-पंक्ति तोड़ डाली, और भैरव पोल[2] तक अपना अधिकार जमा लिया। इसी समय स्वयं बहादुरशाह बड़ी फौज के साथ आ धमका। उस समय उसकी सेना इतनी थी कि वह चित्तौड़ जैसे चार किले घेर सकती थी। चित्तौड़ के संरक्षकों की रही-सही हिम्मत भी पस्त हो गयी। यह स्थिति देखकर (संग्रामसिंह की रानी और विक्रमादित्य की माता) कर्मवती ने वहादुर को जिद्दी जोरावर और अपने बेटे को नादान और गाफिल देखकर बहादुर से सुलह कर लेनी मुनासिब समझी।' विशेष दूत भेजकर सुलह का प्रस्ताव भेजा गया। प्रस्ताव यह था कि यदि आक्रमण जहां का तहां समाप्त कर दिया जाये तो मालवे का जितना भाग महमूद खिलजी के समय में मेवाड़ के कब्जे में आ गया था उसे छोड़ दिया जायेगा। मालवा के राज्य चिन्ह, सुप्रसिद्ध रत्नजटित मुकुट और सोने की कमर-पेटी, कई कीमती जवाहरात तथा बहुत सा नकद धन, सौ घोड़े और दस हाथी भी साथ में देने की बात थी।[3]

बहादुरशाह को जीतकर भी चित्तौड़ अपने कब्जे में बनाये रखने की आशा नही थी। इसलिए उसने उपरोक्त शर्तों पर संधि कर ली, और वह हाथ में आयी बाजी जहां की तहां छोड़कर, अपना दबदबा बुलन्द करके, वापस लौट गया। 'बहादुरशाह की उक्त लड़ाई

---

1. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 27, और मुंशी देवीप्रसाद कृत 'मेवाड़ देश के महाराणा श्री रतनसिंह, विक्रमाजीत और बनवीर', पृष्ठ 66, 69
2. पोल का अर्थ द्वार होता है। समतल मैदान से चित्तौड दुर्ग पर पहुंचने के चट्टानी और टेढ़े-मेढे मार्ग मे सात द्वार है, जिनमे से यह नीचे से दूसरा है। उन दिनो यही पहला द्वार था।
3. 'वीर विनोद', पृष्ठ 28 मुंशी देवीप्रसाद का अन्दाज है कि सुलतान 'महाराणा के भाई उदयसिंह को भी साथ ले गया था कि औलाद न होने के सबब से उसको मुसलमान करके अपना वारस बनावे। इस भेद की महाराणा के आदमियों को खबर हो गयी और वे उदयसिंह जी को लेकर भाग आये। इससे बहादुरशाह बहुत नाराज हुआ।' अन्य इतिहासकार इस उक्ति का उल्लेख नही करते।

से भी महाराणा का चाल-चलन कुछ न सुधरा और सरदारों के साथ उसका बरताव पहले का-सा ही बना रहा, जिससे कुछ और सरदार भी बहादुरशाह से जा मिले और उसे चित्तौड़ लेने की सलाह देने लगे।"[1] एक साल होते न होते, महाराणा से असन्तुष्ट सामन्तों से फिर आमन्त्रण पाकर, बहादुरशाह दुबारा चित्तौड़ पर चढ़ आया। चित्तौड़ में तहलका मच गया। वहां सब डरे हुए थे। इन क्षणों में महाराणा की माँ ने सरदारों से बड़ी मार्मिक अपील की। 'सरदारों में, जो राणा के बरताव से उदासीन हो रहे थे, देशप्रेम की लहर उमड़ उठी।' वे विक्रमादित्य की कमियों-कमजोरियों को भूलकर चित्तौड़ की रक्षा के लिए जुट गये। सबने मिलकर सलाह की, और महाराणा विक्रमादित्य ओर उदयसिंह को उनकी ननिहाल बूंदी भेज दिया गया। देवलिया (प्रतापगढ़) के रावत बाघसिंह को महाराणा के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार किया गया। मेवाड़ के सब सरदार और सैनिक उस चित्तौड़ की रक्षा के लिए आ एकत्रित हुए जिसकी रक्षा मे उनके पूर्वजो की कई पीढ़ियो ने बड़े-से-बड़े बलिदान के लिए कभी मुंह नहीं मोड़ा था। परन्तु इस बार चित्तौड़ ने बड़ी कीमत ली, और फिर भी वह राजपूतो के हाथ से निकल गया। "बत्तीस हजार राजपूत इस लड़ाई में मारे गये, और तेरह हजार स्त्रियां महाराणी हाड़ी कर्मवती के साथ आग में जल मरीं।"[2] नैणसी के अनुसार, "राणी करमेती ने जौहर किया, 4000 राजपूत रणांगण मे खेत पड़े, सरोवर, कुए, बाव, तलावों मे से 3000 बालक जाल डाल कर निकाले गये; सात सहस्र स्त्रियां अपने बच्चो सहित अफीम खाकर मरीं, और असंख्य स्त्री-पुरुष बन्दी बनाये गये।"[3] 8 मार्च 1535 का यह युद्ध 'चित्तौड़ का दूसरा साका' नाम से प्रसिद्ध है।

अपनी 'जंगी लियाकतो के लिहाज से' संकट के समय बनाये गये सेनाध्यक्ष बाघसिंह ने मेवाड़ के गौरव चित्तौड़ दुर्ग की रक्षा करते हुए अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। बाघसिंह ने कहा था, 'आपने मुझे महाराणा का प्रतिनिधि बनाया है, इसलिए मैं किले के बाहरी दरवाजे पर रहूंगा।' कृतज्ञ चित्तौड़-निवासियो ने दुर्ग पर पहुंचने के पहले द्वार पाडलपोल[4] के बाहर—जहां वह लड़ते-लड़ते गिरा था—उसका स्मारक बनवाया। चित्तौड़ पर बहादुरशाह का कब्जा ज्यादा दिन नहीं रह सका। हुमायूं ने गुजरात पर हमला बोल दिया। अपने राज्य को बचाने के लिए उसे चित्तौड़ छोड़कर भागना पड़ा। हुमायूं के आगे वह टिक नहीं सका, और एक के बाद एक अपने किले छोड़ता हुआ, दीव टापू में पुर्तगालियो के पास चला गया और वहां जाकर सांस ली। वहां से लौटते हुए वह मारा गया। राजपूतो ने सहज ही इस स्थिति से लाभ लेने की कोशिश की। थोड़े से प्रयत्न के बाद

---

1. ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 709
2. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 31
3. नैणसी, पृष्ठ 55
4. बाघसिंह वास्तव मे भैरवपोल के बाहर जाकर लड़ा था। पाडलपोल द्वार बाद मे बना, इसके बाहर बाघसिंह का चबूतरा है।

चित्तौड़ पर उनका फिर कब्जा हो गया। विक्रमादित्य और उदयसिंह को बूंदी से चित्तौड़ लाया गया।

इस सारे उतार-चढ़ाव से विक्रमादित्य ने कोई सबक नहीं सीखा। उसने पुराने तौर-तरीके फिर से शुरू कर दिये—'तब तो रियासत के लोग अत्यन्त घबराकर जिन्दगी और इज्जत बचाना कठिन जान बड़े सोच-विचार में पड़े।' मेवाड़ को ऐसी बुरी स्थिति का सामना पहले नहीं करना पड़ा था।

## बनवीर की 'वीरता'

इन्हीं दिनो स्वर्गीय संग्रामसिंह के बड़े भाई पृथ्वीराज (जो अपने पिता के समय में ही मर गया था) का पासवान पूतलदे से प्राप्त पुत्र बनवीर मौके से फायदा उठाने के उद्देश्य से चित्तौड़ आ गया। उसे बदचलनी के कारण महाराणा संग्रामसिंह ने मेवाड़ से निकाल दिया था, और वह गुजरात के सुलतान की सेवा में चला गया था। वहां से उसे बागड़ का प्रदेश जागीर मे मिला था। जल्दी ही महाराणा विक्रमादित्य के दरबार मे उसकी खूब चलने लगी। अपनी स्थिति बनाकर और असन्तुष्ट सामन्तो का समर्थन संगठित करके बनवीर ने पहला वार उन्नीस वर्षीय विक्रमादित्य पर ही किया—अपनी तलवार से उसका सिर उतार दिया।[1] महलों मे कुहराम मच गया।

बनवीर जानता था कि विक्रमादित्य के छोटे भाई उदयसिंह के जीवित रहते वह चैन से मेवाड़ की गद्दी पर नहीं रह सकेगा। इसलिए वह नंगी तलवार लेकर वहां पहुंचा जहां चौदह वर्षीय उदयसिंह सो रहा था।[2] बिना देखे-सुने उसने उदयसिंह के दो टुकड़े कर दिये। दो-दो भाइयों का, जिनमे एक मेवाड़ का महाराणा था और दूसरा महाराणा हो सकता था, एक अनधिकारी और अयोग्य व्यक्ति ने कत्ल कर दिया, और चित्तौड़ में उसका किसी ने सामना नहीं किया! जहां महाराणा की मर्जी पर एक बार में सैकड़ों अपने प्राण होम दिया करते थे, वहां महाराणा की निर्मम हत्या होने पर भी न होठ खुले न हाथ उठे! जो पुत्र संग्राम सिंह को इतने प्यारे थे कि उनके लिए उसने मेवाड़ के राज्य के दो टुकड़े कर दिये थे, वे टुकड़े-टुकड़े होकर जमीन पर पड़े थे। इनके हत्यारे बनवीर ने अपने को दूसरे ही दिन (1536

---

1. कुछ (गोपीनाथ शर्मा, मेवाड़, पृष्ठ 53) का मानना है कि विक्रमादित्य की हत्या उससे असन्तुष्ट सामन्तों ने की थी। इससे स्थिति में परिवर्तन बहुत नहीं होता, यही मालूम होता है कि विक्रमादित्य ने स्थिति को कितना बिगड़ जाने दिया था। बनवीर भी बिना वरिष्ठ सामन्तो के समर्थन के ऐसा क्रूर कर्म नहीं कर सकता था। महाराणा की हत्या के बाद बनवीर के प्रति असन्तोष नहीं फैला, उलटा उसे आदर मिला, वह महाराणा बना दिया गया।

2. चित्तौड़ के किले मे इस स्थान को अब पन्ना के महल के नाम से दिखाया जाता है। परम्परा के अनुसार यह कुंवर पद के महल थे। युवराज के रूप मे राणा सांगा का पुत्र कुंवर भोजराज अपनी पत्नी मीराबाई के साथ इसी महल में रहता था। इसी के पास मीरा के गिरधर गोपाल का मूल मन्दिर था। हो सकता है कि रानी कर्मवती अपने छोटे पुत्र उदयसिंह के साथ इसी महल में रहती हो, और यहीं पन्ना को उदयसिंह का दायित्व सौंपकर स्वयं जौहर में समर्पित होने चली गयी हो। परन्तु महल अब प्रसिद्ध पन्ना के नाम पर है, जिसने अपने कुलकमल को अपने हाथों मसलकर मेवाड़ के राजकुल को जीवन-दान दिया था।

में) मेवाड़ का महाराणा घोषित कर दिया—और जो भी चित्तौड़ में थे वे उसके आगे नतमस्तक हो गये । संग्रामसिंह के साम्राज्य का उसके देहावसान के कुछ ही वर्षों के भीतर क्या हाल हुआ ! जिसकी हत्या बनवीर ने की थी उसका नाम उसने अपने लिए ले लिया । बनवीर के समय का एक ताम्रपत्र मिला है जिस पर लिखा है, 'महाराजाधिराज महाराणा श्री वक्रमीदोत (बनवीर) आदेस्यात्त', अर्थात् वह बनवीर से अधिक विक्रमादित्य कहलाना पसन्द करता था ।

राज्य प्राप्त करने के बाद बनवीर ने समुचित सम्मान अर्जित करने का प्रयत्न किया । जिन लोगो ने उसके अकुलीन होने के कारण उससे थोड़ा भी परहेज दिखाया, उन पर उसने बड़ी सख्ती शुरू की । नतीजा यह हुआ कि वह महाराणा बनकर भी मेवाड़ पर अपनी धाक नहीं जमा सका । बहुत लोग उसके विरोधी हो गये । मेवाड़ भर मे अनिश्चय, अरक्षा, आशंका और अंधकार व्याप्त हो गया ।

2

# उदयसिंह का उदय

उदयसिंह, जिसने मेवाड़ पर लगभग पैंतीस वर्ष राज्य किया, और इस अवधि में अकबर जैसे शक्तिशाली सम्राट का सालो सामना किया, साथ ही उदयपुर जैसा नगर और उदयसागर जैसा तालाब बनवाकर अपनी निर्माणकारी वृत्ति का भी अच्छा परिचय दिया, सिहासन पर बैठने के पहले ही मर जाता यदि उसकी रक्षा के लिए एक धाय अपने पुत्र का अपने हाथों बलिदान नही कर देती।

उदयसिंह को उसकी माता ने पन्ना धाय को सौंपकर अपने को जौहर में होम दिया था। इस दायित्व का निर्वहन पन्ना ने जिस वीरता से किया उसका आदर जौहर से कम नहीं किया जा सकता।

## पन्ना का बलिदान

महाराणा विक्रमादित्य को मारकर बनवीर जब उदयसिंह को मारने दौड़ा, उसके आने की खबर उसके पहुंचने के पहले ही वहाँ पहुंच गयी जहां वह खीची जाती की राजपूतानी धाय पन्ना की देखरेख में आराम कर रहा था। पन्ना ने इन थोड़े से क्षणों मे अपनी और मेवाड़ की दृष्टि से बड़े-बड़े निर्णय कर लिये और उच्चतम स्वामिभक्ति का परिचय दिया।

बनवीर ने पहुंचते ही पन्ना से पूछा—उदयसिंह कहाँ है ? सहज भाव से उसने सोते हुए उदयसिंह की ओर इशारा कर दिया। बनवीर ने आननफानन में उसका काम तमाम कर दिया, और मन ही मन यह उमंग लेकर लौट गया कि उसने अपने अबाध शासन के रास्ते मे आने वाली सबसे बड़ी बाधा को हटा दिया है। आवेश में आने पर आदमी को सामने की

चीज भी सही नहीं दीखती। जिसे वनवीर ने मारा वह उदयसिंह नहीं, पन्ना का पुत्र था। पन्ना ने उदयसिंह की रक्षा के लिए उसे वहां सुला दिया था जहां उदयसिंह सोया करता था।

"उस कमरे में यदि कोई चित्रकार होता, तो वह भलाई और बुराई के चित्रों के लिए नमूने ले सकता था। एक ओर बुराई, हाथ में नंगी तलवार लिये अपने भाई का लहू मांग रही थी, दूसरी ओर भलाई दूध के प्यार और स्वामी की भक्ति से प्रेरित होकर अपने दिल के टुकड़े को तलवार की धार पर रख रही थी। बनवीर ने आगे बढ़कर एक ही हाथ में पन्ना के लाल का काम तमाम कर दिया। पन्ना ने उस राक्षसी कृत्य को अपनी आँखों से देखा, पर इस डर से कि कही भेद न खुल जाये उस चीख को भी रोक लिया, जो दुःखी हृदय का आखिरी सन्तोष है। पन्ना राजपूत इतिहास में अपना नाम अमर कर गयी। जब तक संसार में राणा प्रताप का यशोगान होता है, तब तक उसके पिता उदयसिंह पर अपने पुत्र को न्यौछावर कर देने वाली पन्ना की कीर्ति भी गायी जायेगी। जब तक भूमंडल पर स्वामि-भक्ति, कर्त्तव्यपरायणता और स्वार्थत्याग की महिमा का आदर होगा, तब तक पन्ना का आसन भी आदरणीय आत्माओं की श्रेणी मे बना रहेगा। ऐसे दृष्टान्त उपन्यासों मे बहुत है, पर इतिहास मे कम।"[1]

अपने सामयिक और साहसिक निर्णय के कारण पन्ना को पौराणिक-सी प्रसिद्धि प्राप्त हो गयी है, उसके बलिदान का इतना महत्व था कि वह कई ऐतिहासिक व्यक्तियों से भी अधिक स्मरण की जाती है।

इधर बनवीर रवाना हुआ, उधर पन्ना ने उदयसिंह को एक टोकरे मे बैठाया, ऊपर से पत्ते-पत्तल डाल दिये। फिर उसने दोने-पत्तल बनाने वाली बारी जाति के एक दम्पत्ति को तैयार किया। बारिन के सिर पर वह टोकरी रखी गयी जिसमें उदयसिंह को बैठाया गया था, उसका पति, पन्ना और पन्ना का पति उसके साथ रवाना हुए। जिन क्षणों में स्वयं उनका पुत्र टुकड़े-टुकड़े हुए पड़ा था, पन्ना और उसके पति ने कितना धीरज और कितनी सूझबूझ दिखायी! उदयसिह की आयु उस समय लगभग पंद्रह वर्ष की थी।[2]

उदयसिह को लेकर वे स्वामिभक्त और विश्वस्त सेवक कुम्भलगढ़ की ओर रवाना हुए। रास्ते में बहुत कष्टो और संकटो का सामना करना पड़ा। बड़े टेढ़े-मेढ़े रास्तों से होकर, मुख्यतः भीलों की सहायता से, वे लोग मेवाड़ के प्रमुख एवं परम सुरक्षित दुर्ग कुम्भलगढ़ पहुंचे।[3] वहां के किलेदार आशा देपुरा ने सचमुच उदयसिह को नयी आशा दी।

---

1 इन्द्र, पृष्ठ 11

2 गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, पृष्ठ 54 उदयसिंह का जन्म 1521 मे बूंदी मे हुआ था। तिथि थी 12, शुक्लपक्ष, भाद्रपद, विक्रम सवत् 1578

3 'वीर विनोद' तथा अनेक अन्य ग्रंथो मे कहा गया है कि उदयसिंह को लेकर ये लोग देवलिया (प्रतापगढ), डूंगरपुर और ईडर गये। सब जगहो से निराश होकर ये लोग कुम्भलगढ पहुचे। इतिहासकारों में इस पर मतभेद है। महाराणा उदयसिंह के नाम से कुम्भलगढ से निकले ताम्रपत्रो की तिथियां बताती है कि चित्तौड से रवाना होने और कुम्भलगढ पहुचने मे समय बहुत नही लगा था।

आशा महाराणा संग्रामसिंह के समय से इस पद पर काम कर रहा था। वह माहेश्वरी जाति का महाजन था। उसी को इस बात का श्रेय है कि सबसे प्रमुख राजपूत राज्य के उत्तराधिकारी को उसके सबसे कठिन एवं अंधकारपूर्ण समय में संरक्षण प्राप्त हुआ।

उदयसिंह को अपने सामने देखकर, पहले तो आशा सहमा। परन्तु सारी परिस्थिति की गंभीरता और अपना दायित्व समझते उसे देरी नहीं लगी। फिर, उसकी माता उस समय उसके पास ही खड़ी थी। उसने कहा, 'संकट और कष्ट के सामने स्वामिभक्ति का दायित्व लेने से इन्कार नही किया जाता। सांगा के पुत्र होने के कारण ये तुम्हारे स्वामी है। इनकी जो सेवा आवश्यक हो अवश्य करो। भगवान करेगा तो सब अच्छा ही होगा।' एक माँ ने अपने बेटे का बलिदान करके, और अब दूसरी माँ ने अपने बेटे को संकट में डालकर, उदयसिंह की रक्षा की। 'यह बात थोड़े ही दिनो में सब जगह फैल गयी, जिस पर बनवीर ने यह प्रसिद्ध किया कि उदयसिह तो मेरे हाथ से मारा गया है और लोग जिसको उदयसिंह कहते है, वह तो बनावटी है, परन्तु उसका कहना किसी ने न माना, क्योंकि उस समय वह बालक नही था और उसके पन्द्रह वर्ष के होने के कारण कई सरदार तथा उसकी ननिहाल (बूंदी) वाले उसे भलीभांति पहचानते थे।'

कुम्भलगढ़ आगमन के बाद ही उदयसिंह के नाम से पट्टे-परवाने निकलने लगे। ऐसा लगता है कि आते ही उदयसिह का राजतिलक कर दिया गया था, यद्यपि इसे सार्वजनिक रूप से तत्काल प्रकट नहीं किया गया। चित्तौड़ की गद्दी पर बैठने के बाद बनवीर ने सामन्तों और प्रतिष्ठित नागरिकों के प्रति जो तिरस्कारपूर्ण व्यवहार किया, उससे जानकार क्षेत्रों की आशाओं का केन्द्र स्वतः कुम्भलगढ बनने लगा, जहां मेवाड़ की राजसत्ता का वास्तविक उत्तराधिकारी रह रहा था। 'जबकि उदयसिंह की मौजूदगी की पक्की खबर मिल गयी थी, तो ऐसी हालत में वे लोग उस गैर-हकदार व अकुलीन की हुकूमत कब पसन्द करते ?'

## बनवीर के विरुद्ध विद्रोह

मेवाड़ के राजपूतों में यह सम्मान समझा जाता था कि राज्य का स्वामी जिस थाल में खुद खा रहा है उसमे से कुछ उठाकर अपने हाथों खाने को दे। इस प्रकार दी हुई चीज को जहां का तहां न खाना शासक के प्रति अपमान माना जाता था। अपने को कुलीन कहलाने की कोशिश में बनवीर इसी युक्ति का प्रयोग करने लगा।

एक दिन जब कई लोग साथ बैठे भोजन कर रहे थे, बनवीर ने अपने थाल से उठाकर एक कटोरी पूर्विया चाह्वाण रावत खान[1] को दी, और कहा कि 'इसका स्वाद बहुत अच्छा है, सो थोड़ा-सा तुम भी चखो'। अपनी थाली में उस कटोरी के रखे जाते ही रावत

---

1 वह राजपूत था। ऐसा समझा जाता है कि किसी फकीर की दुआ से पैदा होने के कारण उसे यह नाम दिया गया था। 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 62 वैसे इस तरह के कई और नाम उन दिनो के मेवाड मे मिलते हे। उदयसिह के एक लडके का नाम साहिबखान और प्रतापसिंह के एक लडके का नाम शेखा था। साई दास, मोहकमसिंह, मोहबतसिंह आदि नाम भी मिलते है।

खान ने खाने से हाथ खींच लिया। वनवीर के ग्राग्रह पर उसने कहा कि उसका पेट भर गया है। वनवीर ने कहा—'यह तुम्हारा वहाना है। क्या तुम मुझे कम ग्रसल जानकर मुझसे घृणा करते हो ?' इस पर रावत खान भी चुप नहीं रह सका। उसने कहा—'हाँ, ग्रव तक तो हमने नहीं कहा था, परन्तु ग्राप स्वयं जो कहते हैं वह सच है।' इतना कहकर रावत खान उठ खड़ा हुग्रा। वह ग्रपने निवास-स्थान पहुंचा, और वहां से तत्काल कुम्भलगढ़ के लिए रवाना हो गया।[1]

कदाचित् यह रावत खान ही मेवाड़ का पहला सम्मानित सामन्त था जिसने उदयसिंह को मेवाड़ के महाराणा के रूप में सार्वजनिक रूप से स्वीकार एवं घोषित किया। कुम्भलगढ़ पहुंचते ही उसने उदयसिंह के सामने नजर पेश की। इसके वाद उसने ग्रासपास के मेवाड़ी सामन्तो-सरदारो को पत्र लिखे। एक-एक करके लोग ग्राने लगे, उदयसिंह की मान्यता का क्षेत्र बढ़ने लगा। इन सवने मिलकर (1536 में) उदयसिंह को मेवाड़ का महाराणा घोषित किया, नजरे पेश कीं, और रीति-नीति के ग्रनुसार ग्रभिषेक ग्रायोजित किया।

इसके वाद उदयसिंह को विधिवत् मेवाड़ का महाराणा माना जाने लगा और कम से कम पश्चिमी मेवाड़ पूरी तरह उसके ग्रधिकार में हो गया।

इन दिनो में उसने जो पट्टे-परवाने दिये वे ताम्रपत्रों के रूप में मिलने लगे हैं। इनमें से दो का उल्लेख डा. गोपीनाथ शर्मा ने[2] और दो ग्रन्य का उल्लेख प्रो. रामचन्द्र तिवारी ने ग्रपने लेखो में किया है।

वैवाहिक संवंधों को राजनीतिक-कूटनीतिक प्रयोग में लाने की परम्परा पुरानी है। स्वामिभक्त सरदारो ने सोचा कि उदयसिंह का विवाह किसी ग्रच्छी जगह कराने से उसकी मान्यता और भी सुदृढ़ हो जायेगी। इस उद्देश्य से मारवाड़ से पाली के सोनगरा ग्रखैराज को ग्रामंत्रित किया गया, और उसकी कन्या से उदयसिंह के विवाह का प्रस्ताव उसके सामने रखा। वह तैयार तो प्रसन्नतापूर्वक हो गया, और उसने यही कहा कि इस संवंध से उसका ही सम्मान वढ़ेगा, परन्तु यह भय दिखाया कि वनवीर ने ग्रपने हाथो उदयसिंह को मार डालने की वात फैला रखी है, और जिसे ग्रव उदयसिंह कहा जा रहा है, उसे 'करतवी' प्रसिद्ध कर रखा है। ग्रतएव वह उदयसिंह को वास्तविक महाराणा तभी स्वीकार करेगा जव सव उपस्थित सरदार उसके थाल में से थोड़ा-थोड़ा भोजन ग्रहण करेंगे। सव सरदार तुरन्त तैयार हो गये, और पूरी पंगत लगी। सवने खुश हो-हो कर उदयसिंह के हाथो उसके थाल में से दीं कटोरियां लीं। उदयसिंह के मेवाड़ के महाराणा होने में कोई शंका नहीं रही। ग्रखैराज ने ग्रपनी पुत्री का उदयसिंह से संवंध पक्का किया। धूमधाम से विवाह हुग्रा।

---

1 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 62

2 गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, पृष्ठ 54

उदयसिंह के लिए यह विवाह आनन्द और आराम का परवाना नहीं हो सकता था। चित्तौड़ पर आक्रमण के आरम्भ के रूप में ही इसका आयोजन किया गया था—उदयसिंह की मान्यता को सर्वमान्य स्वरूप देने के लिए। विवाह के तत्काल बाद चित्तौड़ प्रयाण के लिए राजाओं और सामन्तों को सदेश भेजे गये, और सैनिको को संकलित और संगठित किया गया। मेवाड़ का एक किला (कुम्भलगढ़) दूसरे किले (चित्तौड़गढ़) के विरुद्ध तैयारी मे लग गया।

स्वयं पूर्विया चाह्वाण रावत खान के अतिरिक्त कोठारिया, केलवा, सादड़ी, बागोर, आदि के सरदार भी उदयसिंह के साथ थे। विवाह के समय और भी अनेक आ मिले थे। अब ईडर, बूंदी, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़, सिरोही, आदि के राजा तथा अनेक सामन्त अपनी अपनी सेना के साथ आ गये। जोधपुर के राव मालदेव ने भी अपनी ओर से सहायतार्थ[1] बड़ी संख्या मे सैनिक भेजे। पाली के अखैराज के सैनिक भी साथ थे। चित्तौड़ की ओर कूच कर दिया गया। यह लगभग 1540 की बात है।[2]

बनवीर के पास भी यह सब खबरे पहुंच रही थीं। मेवाड़ के कुछ सामन्त उसके साथ थे। उनकी सहायता से उसने सैनिक तैयारी की। उदयसिंह की सेना का सामना करने के लिए उसने कुंवरसी तंवर के नेतृत्व में सैन्य दल भेजा। नाडोल और माहोली (मावली) के पास दोनो सेनाओ का सामना हुआ। उदयसिंह ने बनवीर-समर्थक सेना के पांव उखाड़ दिये। कुंवरसी अपने अनेक आदमियो के साथ मारा गया। उदयसिंह अपनी सेना को लेकर आगे बढ़ा।

चित्तौड़ पहुंचने के पहले दोनों पक्षों का मुकाबला ताणा में भी हुआ। इसे जीतने में समय और श्रम लगा, बलिदान भी देना पड़ा। जब उदयसिंह की सेना चित्तौड़ पहुंची उसमे 40,000 लोग थे। परन्तु घेरेबन्दी से चित्तौड़ का सुदृढ एवं सम्पन्न दुर्ग हाथ नहीं आ सकता था। उदयसिंह के साथ तो तोपखाना था नहीं। अतएव युक्ति से काम लेना आवश्यक हो गया।

---

1. 'परन्तु मालदेव ने केवल मात्र परोपकारी शूरवीरतावश यह सैनिक सहायता नही की थी। वह इस अवसर का उपयोग सारे राजपूताने को राठौडो के झडे के नीचे लाने मे करना चाहता था। चित्तौड को महाराणा के अधीन छोडकर, उसने चित्तौड के परगने मे, (बनास नदी के पूर्व) टोक और जहाजपुर तक और रणथम्भोर तथा बू दी जाने वाली घाटी के पास, अपने सैनिक थाने बैठा दिये। बिलग्राम के युद्ध के साल (1540) मे, जबकि हुमायू के लिए बाबर का उत्तराधिकार समाप्त हो गया, मालदेव ने तेजी से आक्रमण कर अपना अधिकार-क्षेत्र बढा लिया। उसने चाटसू (जयपुर से 24 मील दक्षिण), लालसोट, टोडा-भीम और मलारना (जो रणथम्भोर से सिर्फ 17 मील उत्तर मे है) भी जीत लिये। कहते हैं, 1539 मे जबकि हुमायू बगाल मे था, पूर्व मे उसकी सेना हिंडौन और बयाना तक पहुच गयी थी। —कानूनगो, पृष्ठ 352 जो सहायता मालदेव ने आडे वक्त मे मेवाड की की थी उसे उसने स्वय इस तरह कलुषित कर दिया, और आगे चलकर मालदेव-उदयसिंह मे जो सैनिक सामना हुआ, उसका यह भी एक कारण हो सकता है।
2 गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, पृष्ठ 54

आशा देपुरा, जिसने कुम्भलगढ़ में उदयसिंह को शरण दी थी, एक बार फिर काम आया। उसने चित्तौड़ के किलेदार चील मेहता[1] को मिला लिया। आशा ने चील के पास जब गुप्त संदेश भेजा—'तुम भी महाराणा संग्रामसिंह के सेवक रहे हो। यह समय उनके पुत्र के प्रति कर्त्तव्य निभाने का है,' उसके भी जच गयी। वह वनवीर के पास गया, और रात के वक्त किले के दरवाजे खोलकर अनाज आदि मंगाने की अनुमति प्राप्त कर ली और आशा देपुरा के पास खबर भेज दी।

रात जब किले के किवाड़ खुले, उनमें होकर उदयसिंह के सैनिक, भैंसों-बैलों पर सामान लादे चले आने का वहाना बनाकर, चित्तौड़गढ़ में घुस गये। हर दरवाजे पर उन्होंने अधिकार करके उदयसिंह की जयजयकार से सारा दुर्ग गुंजा दिया। वनवीर इस हालत में कर क्या सकता था? वह अपने बाल-बच्चों सहित चुपचाप लाखोटा बारी नाम के छोटे-से दरवाजे में से होकर भाग गया। चील मेहता के आग्रह पर वनवीर को अपने बाल-बच्चों और धन-संपदा के साथ जाने दिया गया था। वह सारा उत्तर भारत छोड़कर दक्षिण चला गया। कहा जाता है कि नागपुर का भोसला परिवार चित्तौड़ से भागे हुए इस राजपरिवार में से ही निकला था।

## उदयसिंह मेवाड़ के सिंहासन पर

अपनी लोकप्रियता, योग्यता, साहस और सामर्थ्य के बल पर उदयसिंह ने अपना पैतृक उत्तराधिकार प्राप्त किया, जिसे चित्तौड़ से चोरी से ले जाया गया था उसने गाजे-बाजे के साथ इस प्राचीन एवं प्रसिद्ध दुर्ग में प्रवेश किया। मेवाड़ के राजसिंहासन पर फिर से महाराणा संग्रामसिंह का एक पुत्र आसीन हुआ।

उदयसिंह के गद्दी पर बैठने पर बहुत खुशियां मनायी गयीं। महाराणा उदयसिंह की कुम्भलगढ़ से विदा और चित्तौड़गढ़ में स्वागत को लेकर नये गीत बनाये गये, पीढ़ियों वे चलते रहे। इनमें से कुछ को स्वयं जेम्स टाड ने उदयपुर में सुना था। उनके समय में वे उदयपुर के लोकप्रिय गीत थे।

चित्तौड़ पहुंचने पर उदयसिंह ने कदाचित् पहले राणा कुम्भा के महलों में रहना शुरू किया। बाद में उदयसिंह ने किले के उत्तरी छोर पर बने उन महलों को अपना निवास-स्थान बनाया जो अब रत्नसिंह के महल के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसा लगता है कि चित्तौड़ के दूसरे साके के बाद किले में बस्ती इसी ओर बढ़ गयी थी, अब भी चित्तौड़ का यही आबाद हिस्सा है। शेष सारा क्षेत्र खंडहर पड़ा है। इस महल की, राणाओं के हाथ मे चित्तौड़ के वापस आने पर, मरम्मत हुई होगी। तबसे इसी को चित्तौड़ दुर्ग मे राजकीय निवास माना जाता रहा है। महाराणाओं से संबंधित रस्में यहीं होती रही हैं, और महाराणाओं की अनुपस्थिति

1 जालमी मेहना का वशज मेहता चीलजी महाराणा सागा के ममय से ही चित्तौडगट का किलेदार था। उम काल में स्वामिभक्त एव वीर प्रकृति के दूरदर्शी योद्धा को ही किलेदार बनाया जाता था। वनवीर के ममय में भी यही किलेदार था, किन्तु इसे वनवीर का चित्तौट पर आधिपत्य खटक रहा था। चीलजी मेहता की सूझबूझ के परिणामस्वरूप ही चित्तौड पर उदयसिंह का अधिकार हो सका।

में भी यहीं दरबार लगते थे, उनके चित्र के सामने मेवाड़ के इस भाग के सामन्त और सेवक एकत्रित होते थे, और महाराणा के चित्र के सामने नजर पेश किया करते थे। दुर्ग की संरक्षक सेना भी यहीं रहा करती थी। इन महलों के पास ही रत्नेश्वर महादेव का दर्शनीय मन्दिर और रत्नेश्वर तालाब है।

उदयसिंह का चित्तौड़ में राजतिलक (1540 मे) हुआ।[1] इसी वर्ष उदयसिंह के सबसे पहले पुत्र प्रताप का जन्म भी हुआ।[2] इस प्रकार यह वर्ष उदयसिंह के लिए अतिशय शुभ सिद्ध हुआ—मेवाड़ के भाग्य के लिए परम प्रभावी भी।

सारे देश की दृष्टि से भी यह वर्ष बड़ा निर्णायक रहा। कन्नौज के पास, गंगा के किनारे पर, बिलग्राम का ऐतिहासिक युद्ध 17 मई 1540 को हुआ, जिसमे मुगल सम्राट हुमायूं के 40,000 सशस्त्र सैनिक शेरशाह सूरी के 10,000 सैनिकों के सामने नहीं टिक सके, और एक बार तो मुगल शासन भारत मे उठ गया, हुमायूं भाग कर ही अपनी जान बचा सका। इसी समय के आसपास मालवा का शासन सुदृढ़ हुआ, गुजरात का शासन निर्बल पड़ा, और मारवाड मालदेव के अधीन बलशाली बना।

स्वयं मेवाड़ की परिस्थिति इस समय अच्छी नहीं थी। खानुवा की पराजय के समय से ही सैनिक और आर्थिक शक्ति गिरती जा रही थी, बहादुरशाह के आक्रमण और चित्तौड़ के दूसरे साके ने नितान्त अस्तव्यस्तता व्याप्त कर दी थी। चित्तौड़ का मूर्धन्य दुर्ग क्षतविक्षत हो गया था। मेवाड़ के सामन्तों में भी असंतोष फैला हुआ था। इस प्रकार बाह्य एवं आन्तरिक दोनो दृष्टियो से मेवाड़ शोचनीय स्थिति में था, उसकी सीमाएं संकुचित हो गयी थीं, और सीमावर्ती जो राज्य मेवाड़ के प्रभाव मे थे उन्होंने अपने आप को मुक्त-सा कर लिया था। उदयसिंह को जो मेवाड़ मिला वह एकदम जर्जर था।

जेम्स टाड ने जो कुछ प्रताप के बारे में कहा है, वह वास्तव में उदयसिंह के लिए कहा जा सकता है। उसने "एक गौरवशाली वंश का आधिपत्य एव ख्याति उत्तराधिकार में प्राप्त की, परन्तु बिना राजधानी के, बिना साधनों के, ऐसी अवस्था मे जबकि उसके परिजन एवं वंश-संबंधी पराजयों के कारण निराशा में डूबे हुए थे: फिर भी, अपनी जाति का अदम्य साहस उसमें भरे होने के कारण, उसने अपना सारा ध्यान चित्तौड़ फिर से जीतने पर, अपने कुल के सम्मान की पुनः प्रतिष्ठा पर, और उसकी शक्ति फिर से स्थापित करने पर लगा दिया।"[3]

इस तरह, महाराणा संग्रामसिंह का पुत्र होने पर भी उदयसिंह को उसकी यशस्वी पैतृकता का कोई लाभ नहीं मिला। संग्रामसिंह की मृत्यु और उदयसिंह के राज्यारोहण के बीच मे दस साल की अवधि थी, और संग्रामसिंह के बाद एक-एक करके रत्नसिंह,

---

1. गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, पृष्ठ 54 इसे 'अमरकाव्य', जेम्स टाड, ओझा और मुंशी देवीप्रसाद ने भी माना है।
2. रविवार, ज्येष्ठ सुदी 3, वि स 1597, 9 मई 1540 गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, पृष्ठ 73, ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 735 साधारणत. माना जाता है कि प्रताप का जन्म कुम्भलगढ मे हुआ था।
3. जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 264

विक्रमादित्य तथा बनवीर ऐसे शासक मेवाड़ की गद्दी पर आये जो उस पतनावस्था से मेवाड़ को उबार नही सके जिसका आरम्भ संग्रामसिंह के राज्यकाल के अंतिम वर्षों में हो गया था। उलटे, अपने व्यवहार से इन लोगों ने, और विक्रमादित्य की माता कर्मवती ने, "मेवाड़ के और उसके शासकों के गौरव को निम्नतम स्तर पर पहुंचा दिया"; [1] "इन तीनों के राजत्व-काल में महाराणा कुम्भा ओर सांगा की परम्पराओं को आपसी विद्वेष, स्वजनों की हत्याएं या हत्या के प्रयत्न और पराजय की घटनाओं से काफी धक्का पहुंचा। इन अपमानजनक घटनाओं को जितना कम दोहराया जाये उतना ही श्रेयस्कर होगा।"[2] "अंतःकलह, नाबालगी आदि के कारण मेवाड़ की शक्ति अब बहुत कमजोर पड़ चुकी थी।"[3]

जेम्स टाड को इस दुरवस्था का आभास देने के लिए उन दिनो भी बहुप्रचलित उक्ति का प्रयोग करना पड़ा—'पोपा बाई का राज'[4]। उसका कहना है, "उन दिनों पुलिस के प्रति घृणा फैली हुई थी, पहाड़ो मे रहने वाले चित्तौड़गढ़ की दीवालों के नीचे से पशुधन को लूट ले जाते थे, और जब राज्य के घुड़सवारों को उनका पीछा करने के निर्देश दिये जाते थे, तब वे चिढ़ाकर कहते थे कि राणाजी अपने पायकों को ही क्यों नहीं भेज देते?"[5] "कुछ ही वर्षो में मेवाड़ का राजसिंहासन धूलिधूसरित हो गया।"[6]

अंधकार जब अधिकतम होता हे तभी प्रकाश का उदय होता है। चित्तौड़ में उदयसिंह के आगमन के साथ मेवाड़ के राजनीतिक पराभव का युग समाप्त हो गया, उसका राज्यारोहण मेवाड़ में नये सवरे के उदय के समान सिद्ध हुआ।

स्वभावतः उदयसिंह का सबसे पहले ध्यान सुव्यवस्था तथा सुरक्षा की ओर गया। परन्तु वह समय नही था जबकि कोई एक राजा अपनी योजना बनाकर उस पर पूरी तरह अमल कर सके। घटनाओ की हड़बड़ाहट और शेरशाह सूरी तथा अकबर जैसी नवोदित शक्तियों की आक्रमणकारी वृत्ति ने सारे देश में उथलपुथल मचा दी थी, और सभी पर अनिश्चय एवं आशंका के घने बादल मंडरा रहे थे। ऐसे में उदयसिंह ने मेवाड़ की बागडोर सम्हाली, और इस प्राचीन राज्य की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित करने का पुनीत और प्रेरक प्रयत्न किया।

चित्तोड़ हस्तगत होते ही उदयसिंह देश मे एक हस्ती माना जाने लगा। 'चित्तौड़ के तो नाम ही मे पूजनीयता है, वह प्राचीन काल से अपने संरक्षकों को असाधारण सुरक्षा

1. गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, पृष्ठ 52, 55
2. गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान, पृष्ठ 276
3. मेहता, पृष्ठ 89
4. कल्पना कर ली गयी है कि पुराने समय मे पोपा बाई नाम की एक रानी हुई थी, जिसके राज मे कुप्रबन्ध चरम सीमा पर था। राजस्थान मे जब कही का शासन बुरी तरह से चलता है तो कहा जाता हे कि वहा तो पोपा बाई का राज है। जेम्स टाड का कहना है कि उन दिनो मेवाड़ मे चारो तरफ पोपा बाई का ही राज फैला था।
5. जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 248
6. जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 252

देता रहा है।' चित्तौड़ हाथ में आने के बाद उदयसिंह उसे छोड़ गया, इस एक दोष के कारण उसे अनेक इतिहासकारो की इतनी निन्दा सहनी पड़ी है कि उसके बारे मे निर्णय करते वक्त न इसका ध्यान रखा जाता है कि किस पृष्ठभूमि एवं परिस्थिति में उसे मेवाड़ का राज्य मिला था, न यह सामने रखा जाता है कि किन विकट समस्याओं का सामना उसे अपने राजत्वकाल में करना पड़ा था, और न इस पर विचार किया जाता है कि चित्तौड़ उसने किन कारणो से और किस तरह छोड़ा था। इस दृष्टि से उदयसिंह बहुत अभागा रहा है।

परन्तु सच यह है कि उसके हाथों मेवाड़ को नया स्वरूप और नया सम्मान प्राप्त हुआ। प्राचीन परम्पराओं से अपने आप को मुक्त करके उसने अपनी विचारशीलता और प्रगतिशीलता का परिचय दिया, और बता दिया कि जिस पर 'मेवाड़ के बुरे दिन' लाने का आरोप है उसने बड़े प्रयत्न से इस प्राचीन राज्य को नयी चेतना, नया जीवन, नयी रणनीति, नये मूल्य और नया विश्वास दिया।

राज्यारोहण के उपरान्त चित्तौड़ दुर्ग की सुरक्षा और सारे राज्य की सुव्यवस्था के संबंध में उदयसिंह ने उपलब्ध लोगो के साथ परामर्श किया, और आवश्यक निर्देश दिये। इसके बाद वह कुम्भलगढ़ गया।

जीवन के कठिन समय में कुम्भलगढ़ में उदयसिंह को शरण मिली थी, इसलिए उसके प्रति ममता तो उसके मन मे थी ही, परन्तु मेवाड़ की सुरक्षा की दृष्टि से इस दुर्ग का महत्व समझते भी उसे देरी नहीं लगी। चित्तौड़गढ और कुम्भलगढ दोनो ही का उदयसिंह उपयोग करता रहा।

## शेरशाह चित्तौड़ की ओर

जर्जर मेवाड़ को सम्हालने के लिए उदयसिंह को चार वर्ष भी नही मिले थे कि यह समाचार पहुंचा कि शेरशाह सूरी चित्तौड़ पर चढ़ा आ रहा है। चित्तौड़ मे सनसनी फैल गयी।

दिल्ली मे जब सुलतान बहलोल लोदी का राज था, अफगानिस्तान के पूर्वी हिस्से से आया इब्राहीम सूर सुलतान के किसी सरदार के पास नौकर हुआ। उसके बेटे हसन ने हिसार की हुकूमत हासिल की। उसके बेटे फरीद ने धीरे-धीरे अपनी हैसियत ऐसी बना ली कि बादशाह हुमायू को उसके हाथों दो बार हारना पड़ा, और वह भाग कर ही अपनी जान बचा सका। फरीद ही पहले शेरखान हुआ और बाद मे शेरशाह। 1540 में[1] वह भारत का बादशाह बन गया। इसके बाद उसने ग्वालियर और रणथम्भोर के किले जीते, और उनसे संबद्ध क्षेत्र पर अपना दबदबा कायम किया। मालवा और मुलतान के सूबे भी उसने रौंद डाले। इसके बाद उसने मारवाड़ पर चढाई की। उन दिनों वहां राव मालदेव का राज था। तत्कालीन राजस्थान का वह सबसे बड़ा राजा था, और उसकी सहानुभूति हुमायूं से यहां तक थी कि भारत के फिर से जीतने के लिए उसने 20,000

---

1. इसी वर्ष चित्तौड़ मे उदयसिंह का राज्यारोहण हुआ था।

सैनिकों से सहायता करने का संदेश निर्वासित शाहंशाह के पास भेजा था। शेरशाह को उसे जीतना आवश्यक लगा। मालदेव शेरशाह के हाथों हार गया, और जोधपुर आक्रमणकारी के अधिकार में आ गया। अजमेर को भी, जहां मालदेव का शासन था, अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। शेरशाह की सेना के साथ ब्रह्मजीत गौड़ के भी सैनिक थे। चौहानों के पहले अजमेर पर गौड़ों का राज था। समान जाति के लोगों को सामना करने पर लगाने की नीति का शेरशाह ने आरम्भ किया, और जीत के बाद ब्रह्मजीत को अजमेर का फौजदार बनाया। अजमेर का सामरिक महत्व भी शेरशाह ने समझा, उसे सीधे अपने अधीन रखने का निश्चय किया। इसके बाद उसने मेवाड़ की तरफ नजर उठायी। 1544 की बरसात में उसका चित्तौड़ की तरफ कूच हुआ।

शेरशाह के जीवनी-लेखक डा. कालिका रंजन कानूनगो का मानना है कि शेरशाह चित्तौड़ को जीतकर 'चार किलों की मोर्चाबन्दी' पूरी करना चाहता था—अजमेर, जोधपुर, आबू और चित्तौड़, जिससे प्रमुख राजपूत राज्यों को एक दूसरे से मिलने से रोका जा सके, विशेषतः सिवाना के किले में जा छुपे राठौड़ों को फिर से सक्रिय होने से रोका जा सके। वह आवागमन के मुख्य मार्गों को भी सुरक्षित रखना चाहता था, अतएव चित्तौड़ पर काबू पाना उसके लिए आवश्यक हो गया। बिना इसके मालवा और गुजरात पर प्रभावकारी नियन्त्रण नहीं रखा जा सकता था। हम आगे चलकर देखेंगे कि अकबर और जहांगीर के सामने भी मेवाड़ पर बार-बार आक्रमण करने का यह एक प्रमुख कारण था।

"मेवाड़ इस समय एकदम जमीन पर दंडवत पड़ा था, ऐसा लगता था कि उसमें इतना रक्त ही नहीं बचा है कि वह अपनी राजधानी के लिए उसे गिरा सके। राजस्थान के इतिहास में यह एक अत्यन्त अन्धकारपूर्ण समय था।"[1]

जीत पर जीत के जोश से भरी शेरशाह की संख्या और शक्ति में असीम सेना का सामना करना चित्तौड़ के लिए संभव नहीं था। जन-धन की हानि ही नहीं, एक और मर्मान्तक चोट का पूरा भय था। उधर, शेरशाह जीत तो गया था लेकिन मारवाड़ में उसे बहुत कटु अनुभव हुए थे, उसकी क्षति भी बहुत हुई थी। जहां तक हो सके वह चित्तौड़ में सीधी लड़ाई से बचना चाहता था। इस तरह उदयसिंह और शेरशाह दोनों आपसी संग्राम के लिए बहुत उत्सुक नहीं थे। अपनी परिस्थिति और शेरशाह की मनःस्थिति का उदयसिंह ने सही अंदाज लगाया, और जब मारवाड़ से चली शाही सेना जहाजपुर पहुंची, उदयसिंह ने वहां अपना एक दूत चित्तौड़ के किले की कुंजियां लेकर भेज दिया। "यह समय उदयसिंह के राज्य के प्रारम्भ काल का ही था, जिससे संभव है कि उदयसिंह ने शेरशाह से लड़ना अनुचित समझ उससे सुलह कर उसे लौटा दिया हो।"[2]

प्रो. रामचन्द्र तिवारी ने उदयसिंह द्वारा चित्तौड़ के सांकेतिक समर्पण का विश्लेषण भली प्रकार किया है। कुछ प्राचीन उद्धरण देकर उन्होंने कहा है, "उस समय चित्तौड़

1 श्रीराम शर्मा, मुगल, पृष्ठ 143
2. ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 718

में उदयसिंह का स्थायी निवास नहीं था, और किला किसी अफसर के मातहत था जिसने महाराणा के निर्देश पर उसका समर्पण किया। जब महाराणा का निवास किसी अन्य स्थान पर निश्चित हो गया था तब चित्तौड़ की सामरिक व मनोवैज्ञानिक उपयोगिता ही रह गयी। उसका राजनीतिक महत्व अब शून्य था, जिसका इस समय और बाद में अकबर के समय में परित्याग करना कोई विशेष महत्व की बात नहीं थी, जिसके लिए उदयसिंह को 'कायर' ठहराया जाये। जो इतिहासकार ऐसा मानते हैं उनका मत भ्रांतिरहित नहीं है। क्योंकि अब चित्तौड़ से निष्कासन के बारे में दो मत हो गये। एक तो इस समय भी चित्तौड़ को मेवाड़ का सामरिक और राजनीतिक बिन्दु मानकर छोड़ देने के कार्य को 'पलायन' मान कर इसकी भर्त्सना करते हैं, और दूसरे वे जो सैनिक व्यवस्था और राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या को मान देकर इस कार्य की स्तुति करते हैं या कम से कम इसको निंद्य नहीं समझते हैं।"[1]

इतना तो सभी स्वीकार करेंगे कि जब युद्ध आरम्भ हो जाता है, भावनावश निर्णय नहीं किये जाते, एक स्थान को लेकर सारे परिणाम को बाजी पर नहीं लगाया जाता। (सैन्य संचालन का यह तरीका अब तक चल रहा है। पिछले महायुद्ध में फ्रांस को अपनी राजधानी पेरिस बढ़ते जर्मन दबाव के कारण 'खुली' घोषित करनी पड़ी थी।) उदयसिंह के बाद महाराणा प्रताप ने भी अकबर की सेना का दबाव बढ़ जाने पर मेवाड़ का दूसरा सबसे महत्वपूर्ण दुर्ग कुम्भलगढ़ छोड़ा ही था। अतएव ऐसे निर्णयों को केवल मात्र सामरिक दृष्टि से देखा जाना चाहिये, संग्राम शुरू होने पर रणनीति ही सारे निर्णय किया करती है। मेवाड़ी परम्परा के विरुद्ध होते हुए भी आवश्यक निर्णय समझ और साहस के साथ करने की नयी नीति उदयसिंह ने निर्धारित की।

"रक्तपात के बगैर महाराणा उदयसिंह के दुर्गरक्षक ने किला शेरशाह को राजाज्ञानुसार समर्पण कर दिया। ऐसा करने के बहुत से कारण थे। प्रथम, चित्तौड़ के दूसरे साके की क्षतिपूर्ति करना अत्यावश्यक था। दूसरा, उदयसिंह को सही नीति का पालन थोथे सम्मान एवं परम्परा-रक्षण से अधिक महत्वपूर्ण लगता था। तीसरा, यहां हम महाराणा उदयसिंह की दीर्घकालीन नीति (जो अन्त में मेवाड़ को शक्तिशाली बनाकर इसकी स्वतन्त्रता को सनातन भारत की स्वतन्त्रता का केन्द्र बनाना चाहती थी) और वर्तमान की कठोर आवश्यकता (जो युद्ध में उतरने को मना करती थी) के बीच समन्वय और सन्तुलन था।

"यह तो सर्वविदित है कि अच्छे अच्छे योद्धा तो सब काम आ गये थे। इसलिए शेरशाह का प्रतिरोध करने के लिए नव सैनिकों के झुंड ही सेना नाम से सम्बोधित किये जा सकते थे। इन नव सैनिकों में न तो प्रशिक्षण था और न व्यवस्था। इसके अफसरों को भी कोई प्रशिक्षण या अनुभव नहीं था। उदयसिंह के सामने एक ऐसी परिस्थिति और प्रेरणा

---

1. आर्य रामचन्द्र जी. तिवारी, 'शोध पत्रिका', एक, पृष्ठ 18

थी कि दिल्ली के मुसलमान राष्ट्र के साथ मेवाड़ का सह-अस्तित्व असंभव था। इसलिए उसको ऐसी नीति को अंगीकार करना था जिसके अनुसार जब शान्ति भंग हो उस समय मेवाड़ अपने सैनिक बल का पूरा दबाव शत्रु पर डाल सके। इसी नीति के अनुसार अकबर के आक्रमण के समय उदयसिंह ने चित्तौड़ छोड़ पहाड़ों में अपना शिविर स्थापित किया। क्योंकि इस कार्य द्वारा मेवाड़ का सारा सैनिक बल संगठित किया जा सकता था। सारी सेना तो किले में रखी ही नहीं जा सकती थी। वहां तो जितने सैनिको की आवश्यकता थी उतनी ही बड़ी सेना रखी गयी। बाकी सेना को दुर्ग के बाहर निकाल छापामार युद्ध करना था। इस युद्ध में मेवाड़ की साधारण प्रजा, जो शस्त्र चलाना जानती थी लेकिन सेना में भर्ती नहीं हुई थी, वह भी सहयोग दे सकती थी। वे सहायक सेना में काम कर सकते थे, जो मुख्य सेना की नाना प्रकार की सेवा कर सकती थी। सिर्फ इन लोगों मे अनुशासन की कमी थी। इसलिए प्रशिक्षित सेना के साथ-साथ युद्ध करने मे इनको कोई उज्र नहीं हो सकता था। इस प्रकार स्वेच्छित और प्रशिक्षित सैनिको में साम्य स्थापित हो गया। इससे सारी मेवाड़ की प्रजा एक महान सेना का अंग बन गयी। इस सत्य को हृदयंगम नहीं करने के कारण मेवाड़ के राजवंश को पहले बहुत क्षति उठानी पड़ी और घिरे हुए चित्तौड़ की वे रक्षा के लिए कोई प्रयत्न न कर सके। उदयसिंह ने इस कमी को पूरा किया।"[1]

आधुनिक शोधकर्ताओ की खोज के परिणामस्वरूप कुछ ऐसे तथ्य भी प्राप्त हुए है कि जैसे ही शेरशाह मेवाड़ की सीमा में घुसा, उदयसिंह के सैनिको ने आक्रमणकारी सेना पर छुट-पुट हमले किये, और अनेक मेवाड़ी सैनिक शेरशाह के सैनिको से लड़ते-लड़ते काम आये। स्वयं उदयसिंह ने चित्तौड़ के किले को मरम्मत कराकर सामना करने के लिए तैयार कराया। परन्तु सीधे युद्ध की नौबत नहीं आयी। शेरशाह की सेना के साथ मेड़ता का वीरमदेव और बीकानेर का कल्याणराव थे। कदाचित् उन्होने बीच में पड़कर उदयसिंह को सीधी लड़ाई से बचा दिया।[2]

"क्या उदयसिंह ने चित्तौड़ बिना युद्ध किये ही शेरशाह को सौंप दिया था? यदि हां, तो फिर चित्तौड़ में तीसरा साका कराने का क्या औचित्य था? उस समय भी इसी प्रकार किला स्वयं खाली करके दिया जा सकता था।

"हमें चित्तौड़ के तीन साकाओ के समय घेरे के वृत्तान्तो पर भी विचार करना चाहिये। इनसे पता चलता है कि आक्रमणकारी सेनाओ के दो-तीन माह मे प्रारम्भ में घेरा डालने पर किलेवालो को मुकाबला करने में कोई कठिनता ही नहीं आती थी। दूसरे साके के समय सबसे अधिक असुरक्षितता की स्थिति थी, फिर भी उस समय भी किले में स्थित लोगो ने मुकाबला किया था। स्वयं उदयसिंह को दुर्ग जीतने में बड़ी ही कठिनाई आयी थी और वह भी उसे धोखे से ही अधिकृत कर सका था। इस प्रकार जब वह स्वय बड़ी कठि-

---

1 आर्य रामचन्द्र जी तिवारी, 'शोध पत्रिका', एक, पृष्ठ 18

2 रामवल्लभ सोमानी, मेवाड का इतिहास, अप्रकाशित।

नाई से दुर्ग जीत सका था तो उसकी चाबियां बिना युद्ध किये ही सुलतान के सन्मुख प्रस्तुत कर देना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है। विशेषरूप से उन परिस्थितियों में कि वह इसे कई महीनों तक घेरे की स्थिति में रखने और रक्षा करने की स्थिति में था।.... दूसरे, महत्वपूर्ण बात यह है कि क्या 3,000 सैनिकों से ही चित्तौड़ दुर्ग को अपने अधिकार में रखा जा सकता था? यह बहुत ही असंभव है। महाराणा सांगा की छाप उस समय भी अफगानों के मस्तिष्क में स्पष्टरूप से विद्यमान थी। अतएव मेवाड़ में इस प्रकार की थोड़ी-सी सेना लेकर चित्तौड़ जैसे महत्वपूर्ण दुर्ग पर आधिपत्य जमाये रखने की बात ही हास्यास्पद है। ऐसा प्रतीत होता है कि शेरशाह (मारवाड़ से) लौटते हुए चित्तौड़ के मार्ग से जब गया, तब मेवाड़ की सेना के साथ उसकी छुट-पुट लड़ाइयां हुई हों। स्वयं वह न तो मेवाड़ में राजपूतों के साथ भयंकर युद्ध करके पुनः किसी नये युद्ध में फंसने को ही तैयार था और न उसके सैनिक ही। वर्षा ऋतु के समीप आ जाने के कारण वे लोग किसी सुरक्षित स्थान पर लौटने के ही पक्ष में थे।"[1]

जो हो, शेरशाह का सामना उदयसिंह ने नहीं किया और इस प्रकार की 'सुलह' की कि उसके कुछ अधिकारी और सैनिक चित्तौड़ में रहने लगे।

'अमरकाव्य वंशावली' में तो शेरशाह द्वारा उदयसिंह को न हरा सकने की बात कही गयी है, परन्तु चित्तौड़ का सांकेतिक समर्पण अवश्य हुआ था। इतिहासकारों ने इसे उदयसिंह और शेरशाह के बीच 'सुलह' ही कहा है। 'तारीख-इ-शेरशाही' में अब्बासखान सरवानी ने और 'तारीख-इ-फिरिश्ता' में फिरिश्ता ने सुलह की बात स्पष्टरूप से लिखी है। डा. कानूनगो ने अच्छी तरह समझाया है, "राजपूताने में शेरशाह ने स्थानीय राजाओं को जड़ से उखाड़ने का अथवा उन्हें पूर्णरूपेण परास्त करने का प्रयत्न नहीं किया। यह प्रयत्न उसे संकटों से भरा और परिणाम में निरर्थक लगता था। अतएव उनकी स्वाधीनता एकदम समाप्त करने की कोई चेष्टा उसने नहीं की।"

शेरशाह द्वारा चित्तौड़ को सरकार (साम्राज्य का भाग) बनाया गया। उसके लिए अपने प्रतिनिधि के रूप में खवासखान के भाई शम्सखान और मियां अहमद सरवानी और हुसैनखान खिलजी को नियुक्त करके शेरशाह चला गया। शम्सखान के जिम्मे चित्तौड़ का किला और कस्बा किया गया, और इसके अन्तर्गत आने वाले परगनों पर शेष दोनों को लगाया गया।

शेरशाह के प्रतिनिधि लगभग दो वर्ष चित्तौड़ में रहे। 'तारीख-इ-शेरशाही' में अब्बासखान ने लिखा है कि चित्तौड़ में 3,000 बंदूकची शेरशाह ने तैनात किये थे। शेरशाह के प्रतिनिधियों ने चित्तौड़ की तलहटी में एक मसजिद बनवायी, जो अभी तक है। मेवाड़ में कई कुएं और बावड़ियां भी इन लोगों ने बनवायीं। उत्तर-पूर्वी मेवाड़ की पहाड़ियों की कुछ चोटियों की किलाबन्दी भी की गयी, जिनमें प्रमुख था जहाजपुर। शेरशाह के उच्चाधिकारी जब चित्तौड़ होकर आते-जाते थे तब वहाँ ठहरा भी करते थे। हुसैनखान तरतदार

---

1. रामवल्लभ सोमानी, 'शोध पत्रिका', दो, पृष्ठ 106

सिन्ध से बंगाल जाते हुए चित्तौड़ में ठहरा था। आगरा, जोधपुर और चित्तौड़ के बीच एक सड़क भी बनवायी गयी। परन्तु मेवाड़ के आन्तरिक प्रबन्ध में शेरशाह के प्रतिनिधियों ने कोई हस्तक्षेप नहीं किया, और उदयसिंह का अपना शासन-प्रबन्ध प्रायः अबाध रूप से चलता रहा। "यह सत्य है कि महाराणा उदयसिंह ने कभी अफगान प्रभुता स्वीकार नहीं की, न शेर ने अकबर और जहांगीर की तरह इसे साम्राज्यवादी सम्मान का प्रश्न बनाया कि गौरवशाली सीसोदिया दिल्ली की सामन्ती स्वीकार करें। लगता यह है कि महाराणा उदयसिंह ने भील प्रदेश जूड़ा में शरण ले ली थी, जो संकट के समय मेवाड़ के महाराणाओं का अंतिम रक्षा-स्थल हो गया था। यह मानना सत्य के अधिक निकट होगा कि शेरशाह ने मेवाड़ का बड़ा भाग जीत लिया था, परन्तु उसने अरावली पर्वतमाला की अभेद्य घाटियो में महाराणा की संकटापन्न स्वाधीनता को उसी के पास रहने दिया। शेर ऐसा आदमी नहीं था कि अपनी विजय की वास्तविकता को मेवाड़ अथवा मारवाड़ मे आग्रह करके प्रभुसत्ता की प्रतिच्छाया के लिए संकट मे डाल देता।"[1]

प्रोफेसर डी. सी. सरकार के, और उनके आधार पर डा. कानूनगो के, इस कथन का श्री रामवल्लभ सोमानी ने समुचित खंडन किया है कि कुम्भलगढ़ पर भी सूर बादशाहों का कब्जा हो गया था। वास्तविक बात यह है कि शेरशाह अथवा उसके बाद कोई सूर सैनिक मेवाड़ के भीतरी भाग में नहीं गया। कुम्भलगढ़ पहुंचने का उनकी ओर से कभी प्रयत्न ही नहीं किया गया था।

रणथम्भोर और गागरोन पर अवश्य शेरशाह का कब्जा हो गया था, और ये किले कोई दस साल सूर बादशाहो के अधीन रहे। इसके बाद इन पर पुनः मेवाड़ का प्रभुत्व हो गया।

चित्तौड़ से लौटने के बाद शेरशाह और लड़ाइयो में उलझा रहा, और कुछ महीनो में तो (22 मई 1545 को) उसकी मृत्यु ही हो गयी। शासक की मृत्यु होते ही शासन ढीला पड़ जाता है। मेवाड़ वालो ने, और मारवाड़ वालो ने भी, इसका फायदा उठाया। जोधपुर से अफगान दबदबा पूरी तरह उठ गया, और चित्तौड़ से शेरशाह के प्रतिनिधियों को खदेड़ दिया गया।

शेरशाह के बाद उसके पुत्र इसलाम शाह ने शासन सम्हाला, परन्तु वह मेवाड़-मारवाड़ की ओर ध्यान नहीं दे सका। अक्टूबर 1553 मे उसकी भी मृत्यु हो गयी, और उसके उत्तराधिकारियो मे गृह-युद्ध होने लगा। हुमायूं ने इसका लाभ उठाया। वह सेना लेकर जनवरी 1554 मे भारत पर चढ़ आया, और जुलाई आते-आते उसका दिल्ली पर फिर से अधिकार हो गया। परन्तु छः महीनो के भीतर-भीतर उसकी भी मृत्यु हो गयी, और उसका पुत्र अकबर तेरह वर्ष की आयु मे राजसिंहासन पर बैठा। मेवाड़ के तीन-तीन महाराणाओं को इसी अकबर से टक्कर लेनी पड़ी।

---

1. कानूनगो, पृष्ठ 416

## चिन्तन को नयी दिशा

शेरशाह के हाथों सांकेतिक पराजय का भी बहुत प्रभाव उदयसिंह पर पड़ा—इसने उसके मन को झकझोर दिया, और उसके चिन्तन को नयी दिशा मिली। पुरानी परम्पराओं का नयी आवश्यकताओं के संदर्भ में परीक्षण वह मन ही मन करने लगा। ध्यान देने की बात यह है कि उसमें इतना साहस भी था कि उसे जो कुछ अनावश्यक अथवा अनुचित लगा उससे मुक्ति लेने में वह नहीं झिझका। अपने राज्य के भीतर उसने व्यवस्था और सुरक्षा का व्यापक एवं सर्वथा नवीन प्रबन्ध किया, और राज्य के बाहर जहां तक उसका बस चला उसने अपना प्रभाव बढ़ाया। इन्हीं दिनों उदयसिंह ने अपनी एक पुत्री का विवाह दूरस्थ बीकानेर के कुंवर रायसिंह से किया।

यदि राजधानी जीत ली जाये तो राज्य परास्त माना जाता है, यह परम्परा चली आ रही थी। इसी कारण चित्तौड़ पर बार-बार हमले हुए थे। जिन्होंने चित्तौड़ देखा है वे आसानी से समझ सकेंगे कि घेरेबन्दी के खतरे से इसे कभी नहीं बचाया जा सकता, चारों ओर खुला मैदान है, और जिस पहाड़ी पर चित्तौड़ का दुर्ग बना है वह प्रायः अलग-थलग है। दुर्ग तक पहुंचना मुश्किल है, परन्तु यह मुश्किल नहीं है कि वहां का आवागमन बंद कर दिया जाये। घिर जाने पर कितने दिन या महीने कोई वहां बैठा रह सकता है? इसी कमजोरी के कारण चित्तौड़ की बार-बार हार हुई। उदयसिंह ने इसे बखूबी समझा, और चित्तौड़ से दूर नयी राजधानी बनाने की आवश्यकता अनुभव की। यह विचार मेवाड़ की नयी सैन्य नीति का आधारभूत अंग हो गया। आगे चलकर उदयसिंह, प्रतापसिंह और अमरसिंह ने बार-बार अपनी राजधानी अथवा अपना निवास छोड़ा, लेकिन इस कारण संग्राम समाप्त नहीं हुआ, मेवाड़ को परास्त नहीं माना जा सका। यह राजपूत रण-नीति में नयी स्थिति थी, जिसको स्वरूप देने का श्रेय उदयसिंह को है।

## उदयसिंह की सैन्य नीति

सुरक्षा की दृष्टि से सेना का सबसे अधिक महत्व था। 'उदयसिंह के सिंहासनारोहण के समय मेवाड़ की सेना की दशा बहुत ही शोचनीय थी। सही अर्थ में तो सेना नाम की कोई वस्तु ही नहीं रही थी। राजनीतिक अराजकता सब ओर फैली हुई थी।' इस स्थिति को एकदम बदल कर ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेना सरल नहीं था कि उसके संबंध में यह कहा जाने लगे, "मेवाड़ की सेना सच्ची लगन, बहादुरी एवं उत्साह की सुमन चयन थी। इस सेना के वीर स्वाधीनता को समर्पित थे। इसलिए वर्षों तक इन्होंने युद्ध और अनुशासन का भार अपनी व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय स्वतंत्रता रक्षार्थ वहन किया। ये मुगल सेना की तुलना में 'सक्रिय नागरिक' थे। ये स्वतन्त्रता की रक्षा के मन्त्र से अभिमन्त्रित रणबांकुरे, विपत्ति, हानि एवं पराजय के मारे हताश होना समझते ही नहीं थे। वर्षों की प्रखर अनुशासन की पंचाग्नि शत्रु को पराजित और समय पड़ने पर प्राण विसर्जनार्थ सेवन की थी। सैनिकों के रूप में मुगल सेना में इनका कोई सानी नहीं था। इनका स्वतन्त्रता-प्रेम समय के साथ-साथ बढ़ता ही गया। ज्यों-ज्यों अकबर से युद्ध तीव्र होता गया त्यों-त्यों उनका चरित्र

स्वर्ण अग्नि की तीव्रता के साथ-साथ गहरा पड़ता गया। दीर्घ गुरिल्ला युद्ध करने से उसका राजनीतिक महत्व वन गया । गुरिल्ला दल राजनीतिक केन्द्र वन गये । इन दलों से प्रजा राष्ट्रीय चेतना की शिक्षा ग्रहण करती थी । इनका मूल मन्त्र देश के लिए सर्वस्व न्यौछावर कर देना था। इस प्रकार प्रजा एवं सेना में एकता पैदा हुई। सव स्वरूपो और अवसरों में यह सन्धि वहुत ही क्रान्तिकारी वस्तु थी। करीव-करीव सारी प्रजा अपने क्षुद्र स्वार्थो की परिधि से मुक्त हो स्वदेश-प्रेम के प्रशान्त महासागर में गोते लगाने लगी। इस प्रकार के क्रान्तिकारी राष्ट्रीय परिवर्तन का मूल वौद्धिक न होकर, नैतिक था। मेवाड़ की यह सेना कोई साधारण सेना नहीं थी। यह तो समस्त प्रजा द्वारा शस्त्र ग्रहण कर स्वतन्त्रता रक्षार्थ वलिदान हो जाने की घोषणा थी।...... महाराणा उदयसिंह की अनेक सेवाओं में मेवाड़ का सैन्य संगठन भी एक महान सेवा है। इस सेना ने महाराणा प्रताप के नेतृत्व में हल्दीघाटी के युद्ध स्थल में वीरतापूर्वक लड़कर मुगल सेना को पराजित किया। मेवाड़ की सेना के प्रवल पराक्रम से वाध्य हो अकवर की मेवाड़-विजय की लालसा प्रताप के राज्य में पुनः पराजित हुई। प्रताप अविजित रहा। इसके वाद की भी अकवर की सव कोशिशें वेकार गयीं और अन्त मे अकवर ने खिन्न चित्त से मेवाड़ की तरफ देखना छोड़ दिया और प्रताप का अन्तिम काल शान्तिपूर्वक वीता। इस भीषण प्रतिरोध के यन्त्र और इसकी नीति का जन्मदाता कौन था ? किसने वीर मेवाड़ियो की तलवार को तीक्ष्णता व उसकी गति को न अनविरोध्य वनाया ? यह कार्य उसके पुनीत चरण पिता महाराणा उदयसिंह के हाथों सम्पन्न हुआ था। प्रताप तो सिर्फ उदयसिंह द्वारा निर्मित तथा तीक्ष्ण की हुई इस 'चन्द्रहास' का प्रयोग कर रहा था।"[1]

'महाराणा उदयसिंह की सैन्य शक्ति के वारे में कोई एक मत नहीं मिलता', वताया जाता है, "वंशावली (नं. 878, सरस्वती भवन, उदयपुर) में इस महाराणा की सेना में 15,000 सवार, 1,001 हाथी और 3,000 पायक लिखा है। वंशावली (नं. 872, सरस्वती भंडार, उदयपुर) में अश्वारोही, हाथी, पायक, इत्यादिक सवकी एक संख्या 30,000 दी है। इस प्रकार पहली वंशावली के अनुसार इस राणा की सेना में 19,000 आदमी और दूसरी के अनुसार 30,000 आदमी थे। चित्तौड़ के दुर्ग के घेरे के समय सिर्फ 5,000 से 8,000 आदमी थे। इस तरह सेना का मुख्य भाग दुर्ग के वाहर था। फिर यह प्राकृतिक था कि उदयसिंह अपनी सेना के मुख्य भाग के साथ रहे न कि इसके पृष्ठ अंग के साथ।"[2] अकवर के आक्रमण के समय उदयसिंह द्वारा चित्तौड़ छोड़ने का सैन्य-संचलन की दृष्टि से दिया गया यह तर्क वड़ा वलशाली है।

"पहले तो उदयसिंह ने अव्यवस्थित जन समुदाय को सुधारा और सामरिक शिक्षा दी। इसका संगठन ठोस सामरिक सिद्धान्तो पर किया गया। शस्त्रदक्षता के साथ-साथ साहस और अनुशासन का पाठ भी इनको पढ़ाया गया। मेवाड़ का सम्मान और

1 आर्य रामचन्द्र जी तिवारी, 'शोध पत्रिका', एक, पृष्ठ 23, 17
2 वही, पृष्ठ 19

अपना आत्माभिमान इनको पैतृकता में प्राप्त था, इसे निश्चित लक्ष्य के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित करना और उससे सामरिक सफलता प्राप्त करना उदयसिंह की नीति का लक्ष्य बन गया। उसने हिन्दू और मुसलमान दोनों को मेवाड़ की सेना में भरती किया। सैनिकों मे परस्पर सम्मान और सहिष्णुता जागृत की। पुराने किलों की मरम्मत की गयी, नये किले बनवाये गये, सभी किलों को अपनी रक्षा योग्य शक्ति और सामग्री से सम्पन्न किया गया। युद्ध में काम आने वाले पशुओ को भी प्रशिक्षित किया गया, जिनमें हाथी प्रमुख थे। सारे प्रशिक्षण मे राजपूत परम्परा के साथ-साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का समावेश करने का भी प्रयत्न किया गया। भूतकाल के पूर्वाग्रहों को जीतकर उनमें वर्तमान समस्याओं को सुलझाने के लिए आवश्यक परिवर्तन किये गये। साथ-साथ सामान्य नागरिकों को निर्दयता, धोखेबाजी और दुर्व्यवहार से दूर रहने की शिक्षा दी गयी।

"उदयसिंह ने अपनी सेना का संगठन एक बहुत ही मितव्ययी, क्रान्तिकारी और नवीन सिद्धान्त पर किया। इससे राष्ट्र और धर्म के प्रति जनता के सजीव कर्त्तव्य को इसने स्वामिभक्ति के सूत्र मे बांधकर जनता को निस्वार्थ भाव से सेना में भरती होने को प्रेरित किया। इससे सैनिक सेवा आर्थिक लाभ के दृष्टिकोण पर आश्रित न रहकर देश सेवा का जागृत स्वरूप बन गयी। इसका फल हम प्रताप और अमरसिंह के राज्यकाल में देखते हैं। अमरसिंह के समय में मेवाड़ की सेना मे 16,000 सवार और 40,000 पैदल थे। उदयसिंह की सेना 19 से 30 हजार के लगभग थी। मेवाड़ के बहुत से भूभाग के मुगल हस्तांतरित हो जाने के बाद अमरसिंह के पास तो बहुत कम सेना होनी चाहिये थी। इस पहलू को उलट यानी आर्थिक योग्यता पर सेना की संख्या को आश्रित न रखने के सिद्धान्त का जन्म और प्रयोग उदयसिंह की एक सेवा है जिसकी ओर अभी तक इतिहास-कारो का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ है।.....उदयसिंह को ऐसी सेना का संगठन करने के नाते ही महान सैन्य व्यवस्थापक और रणविद्यापटु मान लेना चाहिये।.....उदयसिंह ने एक सही और नयी सेना का संगठन किया जो सुआयुध, सुअनुशासित और सुसंगठित थी। इस प्रकार की सेना ही विजय लाभ करती है।"[1]

उदयसिंह की 'नयी सैनिक नीति' का डा. गोपीनाथ शर्मा ने भी विवेचन किया है, "वैसे तो उदयसिंह ने शेरशाह की बढ़ती हुई शक्ति से मेवाड़ को बचा लिया और धीरे-धीरे नाममात्र के अफगानी प्रभाव को भी चित्तौड़ से समाप्त कर दिया, परन्तु इस स्थिति ने उसे अपनी नयी सैनिक नीति को अवलम्बित करने के लिए सजग कर दिया। वह समझ गया कि अब बारूद का प्रयोग मुगलों की युद्ध प्रणाली का मुख्य अंग बन गया है तो प्राचीन सुरक्षा के साधन, जिनमे किले मुख्य थे, उसकी तुलना मे नगण्य हैं। इसीलिए उसने शीघ्र ही 1559 से दक्षिण-पश्चिमी मेवाड़ के भाग को, जो पहाड़ियों की कतारों से आच्छादित था और जिसमे उपजाऊ उपत्यकाएं और घाटिया थीं, आबाद करना आरम्भ कर दिया।

---

1 आर्य रामचन्द्र जी. तिवारी, 'शोध पत्रिका', एक, पृष्ठ 25, 20

उसने उसी भाग में उदयपुर नगर की नींव डाली और उसके आसपास गिरवा[1] मे जनता को लाकर बसाना शुरू किया। उदयसागर के तालाब के निर्माण द्वारा लम्बे-चौड़े मैदानी भाग में खेती की सुविधा पैदा कर दी। हर कौम के लोगों को, जिनमें दस्तकार, काश्तकार, व्यापारी आदि सम्मिलित थे, चित्तौड़ के आसपास से बुलवाकर गिरवा के इलाके में बसाया गया। इस प्रयोग से उसने सम्भावित चित्तौड़ के आक्रमण से प्रजा की रक्षा कर ली। यह नयी बसायी गयी भूमि प्राकृतिक रूप से ही पहाड़ी अवलियों से सुरक्षित थी, जहां भारी बारूद की तोपें और घुड़सवारों के जत्थे आसानी से विध्वंस कार्य के लिए उपयोगी नहीं हो सकते थे। इस प्रकार की जनोपयोगी नीति उदयसिंह की सैनिक नीति का एक अंग था जिसका परीक्षण उसने प्रथम बार कर एक नयी पद्धति को जन्म दिया। यह नीति परम्परा से चली आने वाली नीति से भिन्न थी। इस नवीन नीति से उदयसिंह अपने राज्य की व्यवस्था में तथा जनजीवन में स्थिरता लाया। इसी प्रयोग से दक्षिण-पश्चिमी मेवाड़ के भू-भाग को वह अपने सीधे अधिकार में ला सका।"[2]

सैन्य संगठन के साथ-साथ उदयसिंह ने मेवाड़ की सीमाओ की ओर ध्यान दिया। संग्रामसिंह के समय में मेवाड़ की सीमाओं को बड़ा विस्तार प्राप्त हो गया था, और उन सीमाओं के आगे भी मेवाड़ का दबदबा था। परन्तु संग्रामसिंह की पराजय के परिणाम-स्वरूप परिस्थिति में परिवर्तन आया, और संग्रामसिंह तथा उदयसिंह के राज्यकाल के बीच ऐसी अनिश्चित और अशक्त अवस्था मेवाड़ राज्य की रही कि उसका अस्तित्व ही संकट में पड़ गया। ऐसे में जिधर जिससे बना अपने को स्वाधीन अनुभव करने लगा, मेवाड़ की सीमाएं संकुचित होती गयीं।

उदयसिंह ने इस क्रम को उलटने का प्रयत्न किया। शासन-भार सम्हालने के बाद उसने 'मेवाड़ के सरदारों से मेल-जोल बढ़ाया जिससे आन्तरिक स्थिति में एक नया मोड़ आया'। बाहरी दृष्टि से उसने अनेक अर्ध-स्वतन्त्र ठिकानों के अतिरिक्त सिरोही, बूंदी और अजमेर के राज्य-प्रबन्ध में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया—ये सब एक समय मेवाड़ के प्रभाव-क्षेत्र मे थे। उसने जोधपुर से टक्कर ली, जो मेवाड़ की सीमाओं से मिला हुआ था। मेड़ता के, और मालवा के भी, शासकों ने मेवाड़ में शरण ली, जिससे प्रकट है कि इस प्राचीन राज्य का वर्चस्व एक बार फिर उसकी सीमाओं के बाहर भी माना जाने लगा। इन प्रयत्नो में सफलता प्राप्त करके उसने अपनी स्थिति मजबूत कर ली। 'राजपूत सरदारों और छोटे राज्यों से मेल बढ़ाकर तथा शक्तिशाली राज्यों को दबाकर वह एक शक्ति-संतुलन बनाये रखना चाहता था।'

उदयसिंह के समय मे मेवाड़ की सीमाएं मूल रूप से इस प्रकार थीं। मेवाड़ का प्राण-केन्द्र था कुम्भलगढ़ से लेकर नागदा-अहाड़ क्षेत्र का पहाड़ी प्रदेश। कुम्भलगढ़ से 12

1. मेवाड का एक पहाडी भाग।
2 गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान, पृष्ठ 278

मील दक्षिण-पूर्व में है ग्राम सीसोदा,जहां पहले गुहिलवंशी राणाओं की जागीर थी। इसी के नाम के आधार पर ये लोग सीसोदिया कहलाये। पश्चिमी सीमा अतः अरावली पर्वत श्रेणियों के पश्चिमी ढाल की तलहटी तक थी। अरावली पर्वत की ये श्रेणियां मेवाड़ की वायव्यी और दक्षिणी सीमाओं तक फैली हुई हैं, इन क्षेत्रों में मुख्यतः भीलों की आबादी रही है। मेवाड़ की इन सीमाओं से लगे हुए ईडर, डूंगरपुर और बांसवाड़ा के छोटे-छोटे अर्ध-स्वतन्त्र राज्य थे। बांसवाड़ा से पूर्व में देवलिया (प्रतापगढ़) राज्य था। इन सब राज्यों का मेवाड़ के राजवंश से कई पीढ़ियों का संबंध था।

मेवाड़ की उत्तर-पश्चिमी और उससे ही लगी हुई उत्तरी सीमा पर भी अरावली पर्वत श्रेणी ही चलती गयी है। यह मेरवाड़ा कहलाता था। यह भी पहले मेवाड़ के अधीन था। इससे लगा हुआ ही मारवाड़ का स्वतंत्र राठौड़ राज्य था।

मेवाड की पूर्वी सीमा से बूंदी का अर्ध स्वतन्त्र हाड़ौती राज्य लगा हुआ था। मेवाड़ के जहाजपुर, मांडलगढ, चित्तौड़ और जावद् से पूर्व सारा क्षेत्र पहाड़ी ही है, परन्तु मेवाड़ के प्राण क्षेत्र से अलग पड़ने के कारण बाहरी आक्रमणों के समय वह उनसे बिलकुल कट जाता था।

पूर्व और पश्चिम के इन दोनों पहाड़ी क्षेत्रों के बीच मेवाड़ का उपजाऊ समतल मैदान है, जिसमें से होकर उन दिनों अजमेर से दक्षिण जाने वाला प्रमुख मार्ग निकलता था। मैदानी इलाके मे मांडलगढ और चित्तौड़गढ़ के दो ऐतिहासिक और सुदृढ़ किलो के अतिरिक्त बदनोर, फूलिया, मांडल और बड़ी सादड़ी आदि की कई और किलेबन्दियां थीं। किन्तु समतल भूमि मे होने के कारण किसी शक्तिशाली आक्रमणकारी के सामने इनका विशेष सामरिक महत्व नहीं रह जाता था। उदयसिंह के समय में तो बड़ी-बड़ी तोपें काम मे लायी जाने लगी थीं, इस कारण इन किलों की रक्षा और भी कठिन हो गयी थी। जब भी मेवाड़ पर कोई बड़ा हमला होता था, आक्रमणकारी इसी समतल क्षेत्र में डेरा डाल लेता था, अथवा अराजकता फैल जाती थी। ऐसी परिस्थिति में मेवाड़ के इस मध्य भाग में फैले हुए मैदानी क्षेत्रों में सर्वनाश मच जाता था। नगर और गांव वीरान हो जाते थे। खेती-बाड़ी नष्ट हो जाती थी, या शत्रु से बचाने के लिए नष्ट कर दी जाती थी। इसका कुप्रभाव मेवाड़ की आर्थिक स्थिति पर पड़ता था।[1]

संक्षेप में मेवाड़ के उत्तर में था अजमेर-मेरवाड़ा, और उससे ऊपर आंबेर। दक्षिण में थे ईडर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा और उनसे नीचे गुजरात। पूर्व में थे बूंदी, कोटा, प्रतापगढ़ और उसके आगे मालवा। पश्चिम में थे, जोधपुर-मारवाड़, मेड़ता, पाली, जालोर, सिरोही आदि। आधुनिक राजस्थान का अधिकांश भाग मेवाड़ राज्य के अन्तर्गत था।

राजनीतिक परिस्थिति मेवाड़ के प्रतिकूल बनती जा रही थी। यद्यपि जेम्स टाड ने उदयसिंह के प्रति तिरस्कार भावना में बहुत लिखा है, परन्तु यह वे ठीक कहते है कि यदि

1. रघुवीरसिंह, प्रताप, पृष्ठ 6

उदयसिंह का सामना हुमायूं से होता, या उसे अफगान अधिकारवाद मात्र को चुनौती देनी पड़ती, तो वह किसी न किसी तरह काम चला लेता, "परन्तु, यह राजस्थान का दुर्भाग्य था, उस समय एक ऐसा शाहजादा बड़ा हो रहा था जिसके हाथों इतनी मजबूत वेड़ियों का निर्माण हुआ कि युगों-युगों तक हिन्दू जाति उनसे मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकी, और यद्यपि समय की गति से जंग लगकर वे जगह-जगह से टूट गयीं, परन्तु अभी भी, स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के उपरान्त भी, उन पर उन वेड़ियों के कभी न मिट सकने वाले निशान मौजूद हैं, ऐसे निशान नहीं जो खरीदे हुए दासों पर हो जाते हैं, शारीरिक और सामने से दीखने वाले, परन्तु गहरे मानसिक घाव, जो कभी नहीं मिटते।"

जेम्स टाड इतना ही कहकर चुप नहीं हुए। उन्होंने इसके बाद भी प्रश्न उठाये—"गौरव की सुदीर्घ अवधि के समाप्त होने पर क्या एक राष्ट्र को पुनर्जीवन दिया जा सकता है? क्या यूनानी अथवा राजपूत की आत्मा में वह दैवी चमत्कार फिर से प्रज्वलित किया जा सकता है जिसने चित्तौड़ के कंगूरों की या थर्मोपिली की घाटी की रक्षा की? इस प्रश्न का उत्तर इतिहास को देने दें।"[1]

इतिहास लम्बा-चौड़ा है, और ये प्रश्न वार-वार उठाये जा सकते हैं, परन्तु इन्हें उदयसिंह के मत्थे मढ़कर जेम्स टाड ने मेवाड़ के प्रति अपनी ममता का चाहे जितना परिचय दिया हो, लेकिन इससे उनकी निष्पक्षता को गहरी चोट लगी है, या यह अंदाज लगाने को विवश होना पड़ता है कि वे अपनी पूर्व-मान्यताओं से बुरी तरह जकड़े थे। उदयसिंह ने उस उठते शाहजादे—अकबर महान—का कैसे सामना किया यह हम आगे चलकर देखेंगे। इसके पहले उसने क्या किया इसका विश्लेषण तो ऊपर हो चुका है, कुछ घटनाओं का विवरण और प्रस्तुत है।

## पड़ोसी राज्यों से सम्पर्क

बूंदी मेवाड़ का प्रभुत्व मानता था, पर उसका स्वतन्त्र अस्तित्व सर्वमान्य था। वहाँ के राजा हाड़ा सूर्यमल्ल और मेवाड़ के महाराणा रत्नसिंह आपस में लड़कर मर गये थे। सूर्यमल्ल के बाद उसका पुत्र सुरताण वहां की गद्दी पर बैठा। उसने अपने सामन्तों और सर्वसाधारण पर बड़े जुल्म किये। बूंदी के ज्यादातर सामन्त अपनी अपनी जागीरों में जाकर रहने लगे। परन्तु इसमें से एक हाड़ा सामन्त दिल्ली के दरवार में शेरशाह के पास चला गया। इससे महाराणा उदयसिंह बहुत नाराज हुआ। बूंदी का प्रबंध बदलने का उसने निश्चय किया।

उदयसिंह का मामा अर्जुन हाड़ा चित्तौड़ में आ बसा था। महाराणा की ओर से बहादुरशाह से लड़ते हुए उसने अपनी जान दी थी। उसका पुत्र सुर्जण भी मेवाड़ की ओर से कई वार लड़ा था, और उसने बहुत बहादुरी दिखायी थी। उसकी जागीर में 12 गांव थे। उदयसिंह ने उसकी वीरता से प्रसन्न होकर उसे फूलिये का परगना जागीर में दे दिया।

---

1. जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 255

फूलिया खालसा होने पर सुर्जण को वदनौर की जागीर दी गयी। इसी सुर्जण को बूंदी का नया राजा वनाने का निश्चय हुआ। महाराणा ने सुर्जण को हुक्म दिया, 'हम सुरताण को गादी से खारिज करते हैं, तुम उससे वूंदी का मुल्क छीन लो।' यह कहकर उदयसिंह ने अपने हाथ से सुर्जण का राजतिलक किया, और अपनी सेना साथ करके उसे वूंदी के लिए रवाना कर दिया। सुर्जण ने वूंदी पहुंच कर सुरताण को हराकर भगा दिया। वह फिर रणथम्भोर पहुंचा। वहां की किलेदारी भी वूंदी के राजतिलक के साथ उदयसिंह ने सुर्जण को दी थी।

रणथम्भोर के मालिक हमेशा से मेवाड़ के महाराणा माने गये थे। वहां का प्रवन्ध महाराणा की तरफ से वूंदी के हाड़ो के पास रहता चला आया था। मेवाड़ के कमजोर होने पर दिल्ली के वादशाह ने सामन्तसिंह को वहां का किलेदार वना दिया था। उदयसिंह रणथम्भोर पर फिर से मेवाड़ का महत्व स्थापित करना चाहता था। सुर्जण जव रणथम्भोर पहुंचा सामन्तसिंह हाड़ा ने किले से वाहर निकलकर वहां की कुंजियां उसके सुपुर्द कर दीं। तव सुर्जण ने अपनी तरफ से सामन्तसिंह के प्रवन्ध में रणथम्भोर छोड़ दिया। वूंदी के साथ-साथ रणथम्भोर पर भी सुर्जण का स्वामित्व हो गया। इस सफलता का सविस्तार समाचार सुर्जण ने मेवाड़ के महाराणा की सेवा मे प्रेपित किया। यह 1554 की वात है। वूंदी और रणथम्भोर पर फिर से मेवाड़ का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

महाराणा उदयसिंह को जोधपुर के राव मालदेव से भी भिड़ना पड़ा। जोधपुर के अधीन खैरवा की जागीर उन दिनों राव जैतसिंह झाला के पास थी। उसका पिता गुजरात से मेवाड़ में आ वसा था, परन्तु जैतसिंह मेवाड़ छोड़कर किसी कारण से जोधपुर चला गया था, और मालदेव ने उसे जागीर देकर अपने यहां वसा लिया था। जैतसिंह की वड़ी वेटी स्वरूप देवी का विवाह मालदेव से हुआ था। उसकी छोटी वहन और भी सुन्दर थी। मालदेव उससे भी विवाह करना चाहता था। जैतसिंह अपनी वेटी पर दूसरी वेटी को सौत नहीं वनाना चाहता था। इसलिए मालदेव से छिपाकर उसने अपनी छोटी वेटी का विवाह महाराणा उदयसिंह से करने का प्रस्ताव कुम्भलगढ़ भेज दिया। उदयसिंह ने अपनी स्वीकृति दे दी। जैतसिंह अपनी वड़ी वेटी को खैरवा ही में छोड़कर, छोटी वेटी और घरवालो सहित कुम्भलगढ़ की ओर पहाड़ों में वसे गुढ़ा गाँव में चला आया। वहां पहुंचकर उदयसिंह ने विधिवत् विवाह किया, और अपनी नयी रानी के साथ-साथ उसके पिता को भी सपरिवार कुम्भलगढ़ ले गया।

विदा देते समय स्वरूप देवी ने अपनी छोटी वहन को भेंट में कुछ जेवर देने चाहे थे। परन्तु जेवर के डिव्वे की जगह जोधपुर के राठौड़ो की कुलदेवी 'नागणेचाजी' का डिव्वा आ गया। कुम्भलगढ़ पहुँचने पर जव यह डिव्वा खोला गया तो भेद मालूम हुआ। महाराणा वहुत प्रसन्न हुआ, और उसने मूर्ति को अपनी पूजा मे स्थापित किया। तव से 'नागणेचा' देवी का पूजन मेवाड़ के राजकुल मे होता आया है। यही नहीं, 'नागणेचा' के सम्मान में साल मे दो वार मेवाड़ के महाराणा वड़े उत्सव के साथ विशेष दरवार भी करने

लगे। यह परम्परा हाल तक चलती रही। अपनी कुलदेवी के मेवाड़ पहुंचने से मालदेव प्रसन्न नहीं हो सकता था।

उदयसिंह ने उसे और चिढ़ाने के लिए कुम्भलगढ़ की चोटी पर एक महल बनवाया, और उसका नाम नयी रानी के नाम पर 'झाली का मालिया' अर्थात् झाली राणी का महल रखा। उसके ऊपर रखने के लिए एक ऐसा चिराग तैयार कराया जो दो मन बिनौले और तेल से जला करता था। कुम्भलगढ़ से एक ओर मेवाड़ और दूसरी ओर मारवाड़ दिखता है। मारवाड़ाधिपति का, जिसकी मन बैठी कन्या से उदयसिंह ने विवाह कर लिया था, इससे उत्तेजित होना स्वाभाविक था। "इन बातों से राव मालदेव बड़े शरमिन्दा और नाराज होकर बहुत-सी फौज के साथ कुम्भलमेर (कुम्भलगढ़) पर चढ़ आये। महाराणा ने भी अपनी फौज मुकाबले के लिए भेजी। लड़ाई में दोनों तरफ के बहुत से राजपूतो के मारे जाने के बाद राव मालदेव भाग निकले।"[1]

मालदेव से उदयसिंह की फिर मुठभेड़ की नौबत सरदार हाजीखान पठान को लेकर आयी। हाजीखान शेरशाह की ओर से मेवात (अलवर) का शासन करता था। अकबर का राज होने पर वह मेवात छोड़कर अजमेर आकर रहने लगा। वहां उसने अपना राज जमा लिया। और नागौर पर भी उसने अधिकार कर लिया। ये दोनों प्रदेश उस समय जोधपुर के राव मालदेव के अधीन थे। धीरे-धीरे यह प्रसिद्ध हो गया कि उसके पास बहुत धन-सम्पदा तथा रंगराय नाम की परम सुन्दरी है। उसका खजाना लेने के उद्देश्य से 1556 में मालदेव ने अपनी सेना उस पर हमला करने के लिए भेज दी। हाजीखान ने पत्र लिखकर महाराणा उदयसिंह से सहायता का अनुरोध किया—'मैं आपकी पनाह में आया हूँ। राव मालदेव मुझे मारना चाहता है, सो आप मेरी मदद करें।' इस पत्र के पहुंचने पर उदयसिंह अपने सरदारों और सैनिकों सहित अजमेर के लिए रवाना हुआ। इस सेना के साथ डूंगरपुर, बांसवाड़ा, बूंदी, रामपुरा, देवलिया और मेड़ता के शासक और सेना भी थी। हाजीखान की सहायता के लिए बीकानेर की सेना भी आयी थी। इस सम्मिलित सेना की संख्या और शक्ति से मालदेव की सेना डर गयी। मालदेव की सेना का नेतृत्व पृथ्वीराज जैतावत के पास था। महाराणा के आने की खबर सुनकर प्रमुख राठौड़ सेनानी पृथ्वीराज के पास गये, और उसे समझाया, 'अब लड़ाई हाजीखान से नहीं, महाराणा से है। यदि हम सब राजपूत मारे जाएंगे तो राव मालदेव को बहुत ही नुकसान होगा, क्योंकि अच्छे-अच्छे राजपूत तो पिछली लड़ाइयो ही में मर चुके हैं, और रहे-सहे हम लोग भी मारे जाएंगे तो जोधपुर की ताकत बहुत कम हो जाएगी। इसलिए अपने देश में जाकर पहले पूरी तैयारी कर लें तभी

---

1. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 68 कानूनगो, पृष्ठ 353, स्पष्ट यह नही कहते कि मालदेव को कुम्भलगढ से भागना पडा था, परन्तु वे इतना तो स्वीकार करते है कि 'दुर्गम दुर्ग कुम्भलगढ की पाषाण प्राचीरो से राठोड़ अपनी तलवारें बिना सफलता बजाते रहे'। मालदेव को महाराणा के विरुद्ध कोई सफलता नही मिली, हा, कुम्भलगढ आते-जाते उसने मेवाड की भूमि मे विनाश खूब किया।

महाराणा से लड़ना उचित है।' पृथ्वीराज को इस तरह समझाकर वे लोग लौट गये। पृथ्वीराज को बहुत शरमिन्दगी उठानी पड़ी। उस समय मालदेव भी लौटकर उदयसिंह का सामना करने का साहस नहीं दिखा सका। उदयसिंह हाजीखान को तसल्ली देकर चित्तौड़ वापस चला गया।

यहां तक सब कुछ ठीक चलता रहा, परन्तु इसके बाद उदयसिंह के मन में कुविचार आने लगे, और इसका दुष्परिणाम भी उसे भुगतना पड़ा।

उदयसिंह ने चित्तौड़ पहुंचने के बाद हाजीखान पठान के पास अपने प्रतिनिधि भेजकर कहलाया, 'तुमको हमने मालदेव से बचाया है। इसलिए चालीस मन सोना, कुछ हाथी और सुन्दरी रंगराय हमारे पास भेजो।' उदयसिंह के कुछ समझदार सामन्तों ने निवेदन किया, 'हाजीखान को हुजूर ने उसकी तकलीफ के वक्त अपनी पनाह में रखा है। इसलिए अब उसके साथ ऐसा बरताव नहीं करना चाहिये।' उदयसिंह ने इस सत्-परामर्श को स्वीकार नहीं किया। रंगराय की सुन्दरता की परिकल्पनाओं से वह विमोहित हो गया था।

जब महाराणा के प्रतिनिधि हाजीखान के पास पहुंचे, और उससे सारी बात कही तो 'हाजीखान के हृदय में आत्मसम्मान की ज्वाला भड़क उठी मानों उसका हृदय बाहर निकल आया हो'। उसने कहा, "यह काफिर मुझ से सोना, हाथी तथा सांसारिक वस्तुओं की मांग करता तो मैं अवश्य उसको दे देता किन्तु वह मरदक (आदमी का बच्चा, एक फारसी गाली) हमारे सम्मानित रनिवास को मांगता है। हमारा आत्मसम्मान यह सहन नहीं करता कि उसकी यह बात हम स्वीकार करें और प्रलयकाल तक यह बात अफगानों में प्रसिद्ध रहे कि हाजीखान ने ऐसा काम किया और अफगानों के सम्मान और प्रतिष्ठा को, विशेषरूप से शेरशाह के सम्मान को, नष्ट कर दिया। इस प्रकार की लज्जा मैं सहन नहीं कर सकता। मैं उससे युद्ध करूंगा ताकि जो भाग्य में लिखा है वह पूर्ण हो।"[1] उच्च विचार और पवित्र निश्चय को परमात्मा का आशीर्वाद प्राप्त होता है।

इधर हाजीखान का उत्तर लेकर महाराणा के प्रतिनिधि चित्तौड़ के लिए रवाना हुए, उधर हाजीखान ने सारी बात जोधपुर मालदेव के पास लिख भेजी, और उससे महाराणा के विरुद्ध सहायता की अनुनय की। मालदेव को सहायता की याचना स्वीकार करना हर तरह रुचिकर लगा। वह, कदाचित्, उदयसिंह से कई पुराने हिसाब बराबर करना चाहता था। उसने अपने कई सामन्तों और सेनानियों सहित 1500 सैनिक देवीदास राठौड़ के नेतृत्व में अजमेर रवाना कर दिये। उधर महाराणा भी अपनी सेना लेकर रवाना हुआ। अजमेर के पास पहुंचने पर मेवाड़ के सामन्तों ने उदयसिंह से निवेदन किया कि लड़ाई नहीं की जाये, क्योंकि पांच हजार पठान और पंद्रह सौ राठौड़ों को मार लेना कठिन काम है। परन्तु उदयसिंह ने उनकी बात नहीं मानी। 25 जनवरी 1557 को अजमेर के पास

1. 'तारीख-इ-खान-इ-जहानी', निगम, पृष्ठ 375, 376

हरमाड़ा गाँव में दोनों सेनाओं का सामना हुआ। "दोनों ओर से बड़ी वीरता प्रदर्शित हुई।

सेना के दायें ओर वायें धूल का वादल उठा।
कि न वायु में प्रकाश रहा न चन्द्रमा में॥
समस्त भूमि मानों रक्तरंजित और नष्ट हो गयी।
जैसे रक्त से डूबा हुआ काला पत्थर उसके सीने पर रख दिया हो॥
वायु लाल, काली और नीली हो गयी।
मानों भांति-भांति के रंग छिड़के हों॥

तीन घंटे तक इतना भीषण युद्ध होता रहा कि उससे अधिक विचार में भी नहीं आ सकता। युद्ध उस स्थिति में पहुंच गया कि तीर, भाले और बरछे के बाद जमधट, खपुआ और कटार से युद्ध होने लगा। नौजवान एक-दूसरे से गले मिलकर घोड़ों की काठी से उतरकर भूमि पर आ गये, और जो विजयी होता था अपने शत्रु को नीचा दिखाता था। काफिर सैनिक इतनी अधिक संख्या में थे कि एक मुसलमान सैनिक पर दस या उससे भी अधिक प्रहार करते थे। जैसा कहते हैं कि एक खोद (युद्ध के समय सिर पर पहनी जाने वाली टोपी) पर तलवार के बारह घाव लगे थे और अफगानों में से एक व्यक्ति भी ऐसा न था जिसके पांच या छह घाव न लगे हो। उस स्थान पर जहां हाजीखान स्वयं खड़ा हुआ युद्ध में प्रयत्नशील था, पांच सौ अफगान वीरगति को प्राप्त हो चुके थे। उनमें से तीन सौ पन्नी जाति के थे जो हाजीखान की सहायता के लिए ईश्वर के मार्ग में प्राण अर्पित करने के लिए आये थे। राजपूतों ने एक-दूसरे का पटका बांधकर युद्ध में लड़ना आरम्भ किया और इस प्रकार दोनों ओर से युद्ध होने लगा। अचानक दैवी अनुकम्पा से कुरान की इस आयत के अनुसार कि 'हम थोड़ों को वहुतों पर विजय प्रदान करते हैं', विजय और यश की वायु हाजीखान की पताका को लहराने लगी तथा राणा उदयसिंह भाग खड़ा हुआ और उसकी सेना पराजित हुई। कहते हैं कि हाजीखान के नौ सौ व्यक्ति मारे गये और चार हजार राजपूत उस युद्ध में मारे गये जिनमें अधिकतर राणा के विश्वासपात्र व्यक्ति थे।"[1]

"मेवाड़ी फौज की शिकस्त हुई। महाराणा के ललाट में तीर लगा और मारवाड़ी राजपूत फतह के नक्कारे वजाते हुए हाजीखान को जोधपुर में राव मालदेव के पास ले गये।"[2]

"लिखा है कि राणा उदयसिंह हाजीखान से युद्ध में पराजित होने के पश्चात् ईश्वर से यह प्रार्थना किया करता था कि हाजीखान को सदैव विजय प्राप्त होती रहे। लोगों ने

---

1. 'तारीख-इ-खान-इ-जहानी', निगम, पृष्ठ 377
2. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 71 मेवाड़ के महाराणा की इस हार का उल्लेख मेवाड़ के इतिहासकार कविराजा श्यामलदास ने 'वीर विनोद' मे करते हुए वडी सावधानी से काम लिया है। उपरोक्त उल्लेख के बाद कहा गया है,'विक्रमी 1714 वैशाख (हि. 1067 रजब–ई 1657 एप्रिल) मे उदयपुर के मशहूर दधिवाडिया चारण खेमराज ने इस मारके का हाल जो नैणसी महता के पास लिख भेजा था, उसी के मुवाफिक हमने लिखा है। हमको विश्वास है कि सौ वर्ष के पहले का हाल जो यहां के प्रसिद्ध कवि ने लिख भेजा उसमें ज्यादा गलती न होगी, क्योंकि जोधपुर व बीकानेर की तवारीख मे भी उसी के मुवाफिक मिलता है।'

उससे इसका कारण पूछा। उसने कहा, 'इसलिए कि मैं सेना सहित उससे पराजित हो चुका हूं। ईश्वर महान सदैव उसे विजय प्रदान करता रहे ताकि संसार के लोग मेरे दुःसाहस पर विश्वास न करें और यह कहें कि ईश्वर के निकट उसकी कृपा का पात्र हाजीखान था कि प्रत्येक युद्ध में वह विजयी हुआ। यदि वह पराजित हो जायेगा तो कहेंगे कि हाजीखान, जिससे राणा पराजित होकर भाग गया था, पराजित हुआ। यह बात मेरे अपयश का कारण होगी। इसी कारण मैं (ईश्वर से) प्रार्थना करता हूं।' कहने का तात्पर्य यह है कि हाजीखान का यह महान कार्य प्रलय काल तक संसार में स्मरण किया जायेगा।"[1]

इस युद्ध में मेड़ता का शासक जयमल्ल मेवाड़ की ओर से लड़ा था। अतएव हरमाड़ा की विजय के बाद मारवाड़ की सेना मेड़ता पर चढ़ गयी। जयमल्ल उसका सामना नही कर सका, और उसके स्वतन्त्र शासन की समाप्ति हो गयी। मेड़ता पर मारवाड़ का अधिकार हो गया। जयमल्ल अपना राज्य फिर से प्राप्त करने में अकबर की सहायता प्राप्त करने के लिए रवाना हुआ। अकबर उन दिनो अजमेर आ रहा था। सांभर मे जयमल्ल उसकी सेवा में उपस्थित हुआ।

अपनी विजय के बाद हाजीखान ने अजमेर के आसपास के क्षेत्र पर अपना प्रभाव बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। उदयसिंह की पराजय और हाजीखान के बढ़ते हुए प्रभाव के समाचार जब अकबर के पास पहुंचे, उसने इधर ध्यान देना आवश्यक समझा। यह क्षेत्र अकबर के भावी सैनिक-अभियान की परिधि में आता था, और इस तरफ एक नयी शक्ति का जड़ जमाना उसे अपने हित के विरुद्ध लगा। जो अकबर के प्रयासों मे साम्प्रदायिकता सूंघते है, उन्हें समझना चाहिये कि उसने राजस्थान मे पहला आक्रमण एक मुस्लिम शक्ति के विरुद्ध किया था।

अप्रेल, 1557, के आसपास अकबर ने अपनी सेना अजमेर रवाना की। कई महीनो तक यह शाही सेना हाजीखान से परेशान रही, उसे नही हरा सकी। अकबर को जब यह मालूम हुआ, वह सेना सहित स्वयं अजमेर पहुंच गया। अब अकबर का सामना करना हाजीखान के लिए भी कठिन था, वह बिना लड़े गुजरात की तरफ चला गया। अजमेर पर अकबर का अधिकार हो गया।[2]

इस अभियान मे एक वर्ष का समय लगा। इसके बाद 12 मार्च 1558 से जैतारण पर मुगल सेना का कब्जा हुआ। "अजमेर और जैतारण पर मुगल आधिपत्य की स्थापना होने के बाद धीरे-धीरे मुगलों ने सारे राजस्थान को अपने अधीन कर लिया, जिसके फल-स्वरूप वहां के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक संगठन में क्रान्तिकारी

---

1. 'तारीख-इ-खान-इ-जहानी', निगम, पृष्ठ, 378
2 राजस्थान मे जीता पहला बडा स्थान होने के कारण, वहा चिश्ती की दरगाह होने के कारण, और सारे प्रदेश मे अजमेर की केन्द्रीय स्थिति के कारण अकबर ने अजमेर को जो महत्व दिया वह सारे मुगलकाल ही मे नही, अंग्रेजो के समय मे भी चलता रहा, और तत्कालीन केन्द्र शासित प्रदेश अजमेर-मेरवाडा के 1956 मे राजस्थान राज्य मे मिलने पर ही इसका स्वरूप सूबे की राजधानी की जगह जिले के प्रधान नगर का हुआ।

परिवर्तन हुए। यो मार्च, 1558, से ही राजस्थान के इतिहास में एक सर्वथा नये युग 'मुगल विजय काल' का प्रारम्भ होता है।"[1]

जैतारण जोधपुर के अधीन था, परन्तु मालदेव जैसे 'हिन्दुस्तान के सबसे सम्पन्न और शक्तिशाली राजा' का भी साहस उसकी रक्षा के लिए अपनी सेना भेजने का नहीं हुआ। मुगल सेना की अजमेर और जैतारण में विजय से राजस्थान के सभी राजा सहम गये। ऐसे में उदयसिंह अपनी राजकीय सीमाओं के बाहर झांकने की सोच नहीं सकता था। मालदेव से भी बदला लेने का उसने यत्न नहीं किया। उदयसिंह ने इसके बाद अपने ही राज्य की सुरक्षा एवं समृद्धि की ओर ध्यान देना आवश्यक समझा। अपनी सीमाओं में समाये रहने, और सीमाओं को सुदृढ करने की व्यावहारिक नीति अब से मेवाड़ ने अपनायी, संग्रामसिंह की विस्तारवादी नीति समाप्त कर दी गयी।

## उदयपुर और उदयसागर

यह समय था जबकि उदयसिंह चित्तौड़ की सुरक्षा के प्रति बहुत ही चिन्तित हो गया। अजमेर के बाद अकबर चित्तौड़ पर चढ़ आया तो उसे बचाना नामुमकिन हो जायेगा, उसे स्पष्ट लगने लगा। चित्तौड़ का पिछला इतिहास गौरवमय अवश्य था, लेकिन उसकी भौगोलिक परिस्थिति के कारण दृढ़प्रतिज्ञ आक्रमणकारी उसे पराजित भी करते रहे थे। उसकी रक्षा के लिए स्वयं उदयसिंह को शेरशाह के पास किले की कुंजियां भेजनी पड़ी थीं। मेवाड़ का भाग्य ऐसे स्थान से नहीं बांधे रखा जा सकता था। राज्य की राजधानी किसी अधिक सुरक्षित जगह ले जाना अनिवार्य हो गया। मनुष्य का बनाया पर्वत-सा दुर्ग सुरक्षा और संरक्षण देने में सफल नहीं रहा था, प्रकृति के बनाये पर्वतो की शरण में, अतएव, जाना आवश्यक हो गया। उदयसिंह के जीवन का यह बहुत महत्वपूर्ण निर्णय था। 'प्राकृतिक प्राचीरो से संरक्षित पर्वतीय प्रदेश' में राजधानी ले जाने के निश्चय को विद्वानों ने 'वास्तविक सुरक्षा नीति के अनुरूप' बताया है।

यह निर्णय किन परिस्थितियो में हुआ, इसका वर्णन 'वीर विनोद' में मिलता है।- 16 मार्च 1559 को उदयसिंह के ज्येष्ठ पुत्र प्रतापसिंह को पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ, जिसका बाद में नाम अमरसिंह रखा गया। पौत्र-प्राप्ति से उदयसिंह बहुत प्रसन्न हुआ। मेवाड़ के स्वामी एकलिंगजी के दर्शन-पूजन के लिए वह चित्तौड़ से सदलबल समारोहपूर्वक गया। इसके बाद शिकार का विशेष आयोजन हुआ। आहाड़ गाँव की तरफ सब लोग निकल गये। शिकार खेलते समय एक ऐसी जगह पर नजर पड़ी जहां बेड़च नदी विस्तृत पर्वत-माला के बीच मे से होकर एक चौड़े मैदान में निकली है। उदयसिंह ने उस पहाड़ी नाके को बांधकर वहां एक बांध बनाने की आज्ञा दी। "और सब सरदार और अहलकारों से सलाह की कि चित्तौड़ का किला एक अलग पहाड़ पर है, इसलिए जब बादशाहो ने घेरा उसी वक्त कब्जे से निकल गया, और सामान की तंगी से किले वालों को मरना पड़ा।

1. रघुवीरसिंह, राजस्थान, पृष्ठ 35

अगर इन पहाड़ों के घेरे में राजधानी बनायी जाये तो रसद की भी कमी न होगी और मजबूती के साथ पहाड़ी लड़ाई करने का मौका मिलेगा। महाराणा के हुक्म को तारीफ के लायक समझकर, सबने अर्ज की कि 'पृथ्वीनाथ! यह सलाह श्री जी की बहुत अच्छी और कामयाबी हासिल कराने वाली है'। तब महाराणा ने इसी साल में, जहां उदयपुर आबाद है उससे उत्तर की तरफ एक छोटी पहाड़ी पर, अपने महल और उनसे उत्तर की तरफ शहर बसाने का हुक्म दिया। वहां महलों के कुछ मकान बन भी गये थे, जिनके खंडहर अब तक मौजूद और 'मोती महल' के नाम से प्रसिद्ध हैं—लेकिन वहां आबादी कुछ नहीं; उस जगह अब महाराणा की शिकारगाह है।"[1]

उदयपुर जहां वास्तव मे बना और बसा है, इस स्थान का निर्धारण कैसे हुआ? यह जिज्ञासा भी 'वीर विनोद' के इस प्रकरण मे शान्त होती है। उदयसिंह आदि शिकार खेलते हुए पिछोला के पास पहुंच गये। इस तालाब को विक्रमी पंद्रहवीं शताब्दी मे, महाराणा लाखा के समय में, एक बनजारे ने बनवाया था। पिछोला के निकट एक छोटी पहाड़ी पर झाड़ी के अन्दर एक योगी बैठा था। घोड़े से उतरकर उदयसिंह उसके सामने उपस्थित हुआ। योगी ने कहा, 'बाबा तुम यहां नगर बसाकर अपनी राजधानी बनाओ तो बहुत अच्छा है—तुम्हारे वंश से यह शहर नहीं जायेगा।' उस योगी के बारे में प्रसिद्ध था कि उसकी कही बातें सत्य होती हैं। अतएव महाराणा ने उसका कहना स्वीकार किया। जिस जगह वह बैठा था वहीं अपने हाथ से नींव का पत्थर रखा, और वहां महल बनाने की आज्ञा दी। इसके बाद सब लोग शिकार-शिविर में लौट आये। अगले दिन वहां जाकर देखा तो वह योगी दिखायी नहीं दिया। उसकी धूनी की जगह एक मकान बनवाया गया, जिसके चारों तरफ तीन-तीन दालान हैं। इस कारण इसका नाम 'नौचौक्या' रखा गया। उदयसिंह ने आदेश दिया कि आगे से मेवाड़ के महाराणाओं का राजतिलक यहीं होना चाहिये। इसके सामने एक दूसरा मकान बना जिसे 'नेका की चौपाड़' कहा जाने लगा। इन दोनों के बीच मे पत्थर का बना हुआ चौक है जो 'राय आंगन' (राज्यांगण) कहलाता है। इसी 'राय आंगन' और ऊपर लिखे हुए दोनों मकानों को महाराणियों के रहने लायक बनाया गया, और 'नेका की चौपाड़' के नीचे की मंजिल को मर्दाना महल बनाया गया।

'राणा रासो' ने 'पहाड़ों के बीच बसे नये नगर' की प्रशंसा में कई कवित्त दिये हैं—"महाराणा ने नया नगर बसाया। उसका नाम उदयपुर रखा। उसमें चारों ओर सुन्दर चौक बनवाये तथा दुकानों तथा सेना के रहने का सुन्दर स्थान भी वहां दिखायी देने लगा। सप्त खंड धवल राजप्रसाद एवं अंतःपुर रचे गये। राजमहल स्वर्ण-कलशों से ऐसे सुशोभित होते थे मानों कमल-कान्त सूर्य उदयमान हो। वहां एक विशाल सभा-भवन भी रचा गया, इसकी शोभा अपार थी। वहां की चमक-दमक का वर्णन कौन कर सकता है? वे राजप्रसाद देवाधिदेव (विष्णु) के मंदिर के समान थे। विशेष भीड़ होने से ऐसा ज्ञात

---

1. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 72।

होता था मानों सारा संसार एक जगह एकत्रित हो गया है। नदी को चारों ओर से बांधकर एक सुन्दर सरोवर बनवाया। उसकी शोभा क्षीर-सिन्धु के समान थी, जिसने मानसरोवर का मान भी घटा दिया। उठी हुई विशेष तरंगें मछली एवं कछुओं को इस प्रकार उछाल रही थीं मानों वह सरोवर आकाश को अपना पिता समझकर उस पर अक्षत चढ़ा रहा है। चकवा, चकवी, बक, सारस, बतक एवं बहुत से हंसों का वह विश्रामगृह बन गया था। वहां कुमुदनी एवं कंज समूह की छोटी-मोटी मंजरियों पर रसपान करता हुआ अलिपुंज भ्रमण करता रहता था। कहीं गज मेघ समान शोभा पाते थे। कहीं पर सुसज्जित अश्व पदाघात करते हुए खुरताल बजाते थे। कहीं पदाति वीर लक्ष्य को साधकर तीर आदि का वार करते थे। कहीं मल्लवीर अपने भुजबल पर गर्व करते हुए गर्जन करते थे। कहीं कविजन कविता पाठ करते थे। कहीं पर सामन्त समूह शोभा पाता था। इसी प्रकार कहीं वाक-विलास द्वारा विद्वान विद्या-विनोद करते थे। कहीं शान्त दृष्टि वाली गंगाजली जैसी पवित्र ब्राह्मणियां विचरण करती थीं। कहीं सूर्य किरण सदृश्य निर्मल देह वाली क्षत्राणियां दिखायी देती थीं। कहीं पर चन्द्रमा के समान शीतलता देने वाली चन्द्रमुखी वैश्य बालाएं गृह कार्य में कुशलता से लगी थीं। शूद्र जाति की स्त्रियां भी सुन्दर एवं सयानी थीं और पतिव्रत धर्म का पालन करती थीं। मालिनियां मस्त थीं। गूजरनियां गर्व भरी दिखायी देती थीं। वहां तम्बोलिन स्त्रियां भी उत्तम थीं। इसी प्रकार स्वर्णकारों की बालाएं मृगनयनी एवं चित्त में मस्ती पैदा करने वाली अच्छी कही जाती थीं। कहीं पर जुआरी नशे में चूर होकर द्यूत क्रीड़ा कर रहे थे। कहीं भेड़, हिरण और भैसें लड़-लड़ कर चूर हो रहे थे। कहीं जुर्रा एवं बाज पक्षी के करतब मनोरंजन करते थे। कहीं चीता पालने वाले, जिनका चित्त आखेट मे रत रहता था, विचरण करते थे। कहीं कुलटाएं दूर-दूर, कहीं पास-पास, बैठी हुई थीं। कहीं दासियां, जिनके कटाक्ष दुःसह थे और जो गुणवती थीं, रसपूर्ण उपहास करती थीं। कहीं व्यापारी एकत्रित जन समूह में वस्त्र बेच रहे थे। कोई इत्र आदि सुगन्धित द्रव्य पर मुग्ध हो-हो कर लौटते थे और गंधियों की दुकानों को देखते थे। कहीं जौहरी एवं सर्राफ सोने और मणियों तथा माणक की परख करते थे। कहीं चूड़ियां पहनती हुई स्त्रियां कटाक्षों द्वारा मणिहारों को पीड़ित करती थीं। कहीं पर दलाल भाव-ताव समझाकर धान्यादि से लदे हुए घोड़ों को लौटा रहे थे। कहीं हम्माल (मजदूर) अन्न-धन की बोरियां भर रहे थे। कहीं पर पानी भरती हुई महिलाएं रसिकों द्वारा परवश होकर भी माथे पर धरे हुए घट की रक्षा में दत्तचित्त थीं। राजद्वार पर बड़ी संख्या में अश्वारोही आ-जा रहे थे। मदपूर्ण गज गर्जना करते हुए इधर-उधर दौड़कर सुन्दरता को नष्ट कर रहे थे। वेद पुराण के पंडित आशीर्वाद दे रहे थे। बंदी जन विरुद पाठ करते हुए उपदेशात्मक कविता सुना रहे थे। महाराणा से भिक्षा प्राप्त कर दरिद्र दारिद्र-रहित हो राज्य-सुख प्राप्त करते थे। महाराणा स्वर्णदान के साथ अभयदान, जो दोनो के बीच विशेष महत्व रखता है, देता रहता था।"[1]

1. 'राणा रासो', पद 221-228

प्रायः उदयपुर के साथ-साथ उदयसागर[1] वनवाया गया। 'राजप्रशस्ति' में आया है कि उदयसिह ने पहले वहां वांध वनवाने का 'महान प्रयत्न' किया था जहां वाद में महाराणा राजसिंह ने राजसमुद्र (कांकरोली के पास) वनवाया। 'पर वह सफल नहीं हुआ। तत्पश्चात् उसने उदयसागर का निर्माण करवाया। वहां उसने सेतु वंधवाया, जो धर्म-पथ को जोड़ने वाला है। रघुवंश केतु रामचन्द्र, महाराणा उदयसिह और नृपति राजसिह सेतु के निर्माता हुए हैं। इसी प्रकार का कोई दूसरा व्यक्ति न तो हुआ, न है और न होगा।' कितनी प्रतिष्ठा उदयसिह ने 1672 तक, जवकि 'राजप्रशस्ति' की रचना हुई, अर्जित कर ली थी!

1559 में इस वांध का वनाना शुरू हुआ, पांच साल इसके वनने में लगे। 4 अप्रेल 1565 को उदयसिह ने अपने हाथो से उदयसागर की प्रतिष्ठा की। प्रतिष्ठा महोत्सव मे उदयसिह अपनी रानियो सहित सम्मलित हुआ। प्रतिष्ठा के वाद तुला आदि दान किये गये। प्रतिष्ठा लक्ष्मी नाथ के छोटे भाई छीतू भट्ट ने करायी जिसे महाराणा ने भूरवाड़ा गॉव उसी समय प्रदान किया। प्रतिष्ठा के समय उदयसिह ने पालकी में वैठकर उसकी परिक्रमा की। साथ में उसकी रानियां भी थीं। उदयपुर और उदयसागर वनवाकर उदयसिह ने अपनी कीर्ति अमर कर ली। आज भी उदयपुर भारत के सुन्दरतम नगरो में माना जाता है, और उदयसागर उदयपुर के निकट आमोद-प्रमोद स्थल के रूप में प्रसिद्ध है।

उदयसिह ने व्यापक रूप से जमीनें देकर वाहरी और भीतरी गिरवा वसाने की एक नयी योजना आरम्भ की जिससे वड़े भूभाग में खेती हो सके। उदयसिह की नीति यह थी कि वह अपने राज्य के उत्तरी प्रदेश से, जिस पर विदेशी आक्रमण का सदा भय वना रहता था, लोगों को अपनी नव स्थापित राजधानी के आसपास की जमीन पर वसाये। जमीन देने मे प्राथमिकता उन परिवारो को दी गयी जिन्होने उसके प्रति मित्रता दिखायी थी। "जमीन विना सोच-विचार के नहीं दी गयी थी। इसका आधार एक आधारभूत नीति थी, जिसका औचित्य इसी से प्रकट हो गया कि इस क्षेत्र के निवासी मुगलो के विरोध मे, उदय-सिह और उसके प्रसिद्ध पुत्र प्रताप दोनो के समय मे, सुरक्षा का सवसे प्रवल साधन सिद्ध हुए।"[2]

जिन दिनों उदयपुर वन रहा था, राज परिवार के रहने की पूरी व्यवस्था चित्तौड़ के साथ-साथ कुम्भलगढ़ मे भी थी। कुम्भलगढ़ मेवाड़ का परम्परागत प्राण-केन्द्र रहा है। उदयसिह के समय मे इसने विशेष महत्व प्राप्त कर लिया था। "किन्तु कोई साढ़े तीन हजार फुट से भी ऊंची विकट चोटी पर स्थित और अनेक वुर्जो वाले सुदृढ़ परकोटों से घिरा यह दुर्गम दुर्ग भी अरावली पर्वत श्रेणी के ऐसे छोर पर स्थित है, जहां दोनो ही ओर तलहटी

1 यह झील वर्तमान उदयपुर नगर मे आठ मील पूर्व मे है। यह $2\frac{1}{2}$ मील लम्वी और $1\frac{1}{2}$ मील चौड़ी है।

2. गोपीनाथ शर्मा, मेवाड़, पृष्ठ 57

से दूर तक समतल मैदान चले गये है। इस कारण दुर्भेद्य होते हुए भी उसको घेर लेना सर्वथा असंभव नहीं था। अतः आवश्यकता पड़ने पर राजकुटुम्ब के निवास के लिए तब गोगूंदा को चुना गया, जो सब ही ओर मीलों तक अरावली की ऊंची पर्वतश्रेणियो से घिरा हुआ था और सामरिक दृष्टि से बहुत ही सुरक्षित था। उदयसिह ने अपने जीवन के अन्तिम मास यहीं विताये।"[1] इस प्रकार उदयसिह को दो-दो नयी राजधानियां-उदयपुर और गोगूंदा—बसाने का श्रेय है।

जिन दिनो उदयसिह मेवाड़ की सुरक्षा-व्यवस्था दृढ़ करने में लगा था, अकवर अपने साम्राज्य पर अपना वास्तविक शासन प्राप्त करने की चेष्टा मे था। 1559 में उसका 'अपने पिता के समान', अब तक के संरक्षक, वैरामखान से मनमुटाव हो गया, और शाहंशाह ने उसे पदच्युत कर दिया। इन क्षणो मे बेरामखान ने एक बार विद्रोह का झंडा उठाने की सोची, और यह मेवाड़ का सम्मान वढ़ाने की बात है कि इसमें सहायता प्राप्त करने के लिए उसने महाराणा उदयसिह की ओर भी नजर दौड़ायी, "बादशाह के उमराव खानखाना ने राणा उदयसिह और राव मालदेव को बड़े राजा जानकर कहलाया कि मुझे शरण दो तो तुम्हारे पास आऊं। तब इन दोनो राजाओ ने खानखाना के प्रधानो के साथ कहलवाया कि तुम बादशाह के बड़े उमराव हो, हमसे शरण में नहीं रखे जा सकते।"[2] राव मालदेव उन दिनों राजस्थान में सबसे प्रतिष्ठित राजा माना जाता था। जब उसका ही साहस बैरामखान को शरण देने का नहीं हुआ, उदयसिह ऐसी हिम्मत नही कर सकता था। वह शेरशाह से ही नही, हाजीखान से भी मात खा चुका था, उसकी मुख्य चिन्ता उस समय अपना राज्य और आसपास की सीमाएं सुदृढ़ करने की थी। इसमे सफलता प्राप्त करने पर ही उसमें इतना आत्मविश्वास आया कि आगे चलकर (1562 में) वह अकवर के विद्रोही मालवे के बाज बहादुर को अपने राज्य में शरण दे सका। बैरामखान उस समय सम्राट का संरक्षक था, एक प्रकार से साम्राज्य का संचालक। इतने बड़े व्यक्ति के झगड़े में न पड़ना उदयसिह की बुद्धिमानी थी।

## प्रभाव का विस्तार

व्यापक निर्माण-कार्य के साथ साथ उस समय उदयसिह अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने और रक्षा-व्यवस्था सुदृढ़ करने में भी लगा था। अजमेर में अकवर की जीत के बाद उसे इसके लिए लगभग दस वर्ष का समय मिला। अजमेर के तत्काल बाद अकवर मेवाड़ पर नहीं चढ़ आया, इसका अर्थ ही यह है कि वह अपना साम्राज्य सुदृढ़ करके ही मेवाड़ में हाथ डालना चाहता था। उदयसिह ने भी मेवाड़ के आसपास पड़ने वाले राज्यों में अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयत्न किया। सवसे पहले उसका ध्यान सिरोही की ओर गया।

सिरोही के राव रायसिह (1533-43) के जालोर के पठानों से लड़ते हुए मारे जाने पर, स्वभावतः उसके पुत्र उदयसिह को गद्दी पर वैठना चाहिये था। परन्तु आयु में

---

1 रघुवीरसिह, प्रताप, पृष्ठ 13
2 'दलपत विलास', पृष्ठ 11

कम होने के कारण रायसिंह के भाई दूदा को राज्याधिकार दिया गया (1543-53)। अपनी मृत्यु के समय उसने वास्तविक उत्तराधिकारी उदयसिंह को गद्दी पर बैठाने का निर्देश दिया (1553-62)। दूदा की इच्छा के अनुसार उसके पुत्र मानसिंह को लाहिआना की जागीर दे दी गयी। परन्तु उदयसिंह शीघ्र दूदा के उपकार को भूल गया, और मानसिंह पर ताने कसने लगा, और उसकी जागीर जब्त कर ली। इस पर मानसिंह मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह के पास चला गया। वहां उसे अठारह गाँवों की जागीर देकर वसा लिया गया। उदयसिंह की चेचक से सिरोही में मृत्यु हो गयी। उस समय उसके कोई पुत्र नहीं था। अतएव सिरोही के सरदारो ने मेवाड़ से मानसिंह को बुलाने का निश्चय किया। इसके लिए गुप्त रूप से दूत भेजा गया, डर यह था कि सिरोही की गद्दी खाली देखकर महाराणा उदयसिंह उसे अपने राज्य मे न मिला ले। महाराणा का मन सिरोही के चार परगने मेवाड़ में मिलाने का था। मानसिंह बिना महाराणा को वताये सिरोही के लिए रवाना हो गया, और महाराणा को मालूम पड़े इसके पहले सिरोही में उसका राजतिलक हो गया।

स्वभावतः महाराणा सारी बात जानकर बहुत अप्रसन्न हुआ। सिरोही पर एक सीमा तक प्रभुत्व मेवाड़ का माना जाता था, फिर मानसिंह मेवाड़ की शरण में था। पहले तो महाराणा ने सिरोही पर सैनिक आक्रमण की योजना बनायी, फिर समझाने पर पहले पुरोहित भेजकर देख लेने पर सहमत हो गया। मानसिंह ने, जो सिरोही का स्वामी बन चुका था, कहलाया, 'हुजूर केवल परगनो के लिए ही फरमाते हैं, मै तो सिरोही के राज व कुल राजपूतों समेत हाजिर हूँ।' महाराणा उदयसिंह 'मानसिंह की विनय लाचारी' से बहुत प्रसन्न हुआ। कविराजा श्यामलदास ने यह विवरण देने के बाद अपनी ओर से कहा है—"वह प्रसन्नता ऊपरी दिल से थी, क्योंकि दिल से तो देवड़ों को बरबाद कर सिरोही का राज्य अपने कब्जे में लेना चाहते थे।"[1] जो हो, सिरोही पूरी तरह मेवाड़ के प्रभाव-क्षेत्र में आ गया।

सादड़ी पर महारावत बींका शासन कर रहा था। उदयसिंह ने अपनी सेना भेजकर उसे पुनः सीधा मेवाड़ में शामिल कर लिया।

महाराणा ने मेवाड़ में आ वसे सांखला मेवा को चौरासी गाँव सहित ताणे का पट्टा दिया। यह क्षेत्र पहले मल्ला सोलंकी की जागीर में था।

महाराणा उदयसिंह ने बाद मे बहुत प्रसिद्ध हुए भामाशाह के पिता भारमल कावड़िया को अलवर से चित्तौड़ आमन्त्रित किया, और उसे एक लाख रुपये की जागीर का पट्टा दिया। इस प्रकार एक अत्यन्त यशस्वी परिवार को फिर से लाकर मेवाड़ में बसाने का श्रेय उदयसिंह ने प्राप्त किया।

मारवाड़ के मालदेव के हाथों हारकर मेड़ता का जयमल्ल फिर से अपना राज्य पाने की आशा में अकबर के दरबार मे चला गया था। उसके अनुरोध और मार्ग-दर्शन पर, 7 मार्च 1562 को अकबर की सेना ने मेड़ता जीत लिया—"मेड़ता-विजय द्वारा राजस्थान पर

---

1. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 65

अपना एकाधिपत्य स्थापित करने के लिए अकबर निश्चितरूपेण प्रयत्नशील हुआ था।"[1] "मेड़ता की विजय के बाद अकबर राजस्थान के मामलों में गहरी दिलचस्पी लेने लगा, जिसका अंततः परिणाम यह हुआ कि साधारणतः सारे राजस्थान पर मुगल प्रभुता स्थापित हो गयी।"[2] यह नया जीता हुआ प्रदेश अजमेर और मेवात पर अकबर की ओर से शासन-संचालक शरीफुद्दीन को सौंप दिया गया। तब उसके सहायक से रूप में वहां का पुराना शासक जयमल्ल पुनः वहां का अधिकारी बना। परन्तु यह स्थिति साल भर भी नहीं रही। अक्टूबर 1562 में शरीफुद्दीन के बिना शाही आज्ञा आगरा से लौट आने पर अकबर ने, जो बड़ी कड़ाई से राजकीय अनुशासन पालन कराता था, और इस बारे में किसी के साथ रियायत नहीं करता था, उसकी सारी जागीर छीनकर हुसैन कुली को दे दी। उसने शरीफुद्दीन का पीछा करके उसे नागौर, अजमेर और जालोर से भी निकाल दिया। शरीफुद्दीन द्वारा नियुक्त होने के कारण जयमल्ल को भी मेड़ता से निकाल दिया गया। इस स्थिति में जयमल्ल को अकबर से कोई आशा नहीं रह गयी। वह अकबर के प्रति कटुता और प्रतिशोध की भावना लेकर मेवाड़ के महाराणा की शरण में चला गया। मेवाड़ में उसे कोठारिया, बदनोर और करेडा की जागीर दी गयी, और बाद में उसने चित्तौड़ के युद्ध में असाधारण ख्याति प्राप्त की।

मालवा के अंतिम स्वाधीन सुलतान 'मालवी बादशाह' बाज बहादुर ने भी, 1562 में अकबर से हारने के उपरान्त, मेवाड़ ही में शरण प्राप्त की। हारने पर पहले वह दक्षिण में निजामुलमुल्क के पास गया था, और 'वह उसको न रख सका था, जब महाराणा उदयसिंह के पास शरण आया तो महाराणा ने उसको बहुत खातिर से अपने पास रखा'। वह बाद में डूंगरपुर जाकर रहने लगा।

मेवाड़ के दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश में कुछ अर्ध-स्वतंत्र-से सामन्त थे। 1563 तक उदयसिंह का प्रभाव इतना बढ़ गया था कि उसने इनको भी दबाकर पूरी तरह अपने अधीन कर लिया। इनमें प्रमुख थे जूड़ा, ओगना और पानरवा के सरदार। भोमट के राठोड़ों ने भी उसकी अधीनता स्वीकार की।

अपनी नवीन पुस्तक 'महाराणा प्रताप' में डा. रघुवीर सिंह ने प्रायः उन्हीं घटनाओं का उल्लेख किया है जिनका विवरण ऊपर आया है, फिर भी वे उपसंहार करते हुए कहते हैं, "यों चित्तौड़ पर उदयसिंह का अधिकार हो जाने के बाद के बीस-बाईस वर्षों में मेवाड़ राज्य की शक्ति क्षीण होती जा रही थी, और राणा उदयसिंह की प्रतिष्ठा भी बहुत घट गयी थी।"[3] इस उक्ति का न कोई कारण है, न आधार। इसमें केवल मात्र उस परम्परा का निर्वहन है जो जेम्स टाड के समय से आरम्भ हुई—'मेवाड़ के महाराणा में राज्योचित गुणों के अभाव के कारण उसके दुर्भाग्य का कड़वा प्याला पूरा का पूरा भर गया'—और अब तक चली आ रही है। जैसा कि हम [illegible] थ्य इसके एकदम विपरीत है।

1. भार्गव, मारवाड, पृष्ठ 40
2. रघुवीरसिंह, राजस्थान,
3 रघुवीर सिंह,प्रताप,पृष्ठ

आश्चर्य यह है कि अपने से पूर्व प्रकाशित तथ्यों को भी इस प्रकार का लेखन स्वीकार नहीं करता। प्रोफेसर रामचन्द्र तिवारी ने उदयसिंह के उपरोक्त प्रयत्नों का उल्लेख करके लन्दन से 1677 में प्रकाशित एक पुस्तक का हवाला देकर यह भी बताया है कि उदयसिंह ने 'अपने सैनिकों को मुगल राज्य पर छुटपुट हमले करने को उत्साहित किया'। "इस तरह उदयसिंह ने मुगल कोर्ट से भागे हुए लोगों को सिर्फ शरण ही नही दी, बल्कि उनकी शत्रुता को स्वस्थ साधनों द्वारा मेवाड़ की सामरिक स्थिति को दृढ़ करने में लगा दिया। बिहार के कुछ मुसलमान भी इस समय मेवाड़ में आ गये। वे बहुत अच्छे बन्दूकची एवं गोलबाज थे। ये सब मेवाड़ की सेना में भरती कर लिये गये। इस प्रकार मेवाड़ मुगल लोगों के विरुद्ध कार्रवाई का एक महत्वपूर्ण केन्द्र हो गया।"[1]

मेवाड़ में मुगल सम्राट से विद्रोह करके आये लोगों के आ जाने से उनको परम्परागत संरक्षण देने का दायित्व भी उदयसिंह पर आ गया। "इस परिस्थिति में मेवाड़ मुगलों के समक्ष समर्पण नही कर सकता था। वह तो वचनबद्ध था। अब अपने मित्रो से विश्वासघात कैसे किया जा सकता था ?"[2]

यह वह समय था जबकि अकबर हिन्दुओं से मैत्री के द्वार पूरी तरह खोल चुका था। चाहे इसके प्रत्युत्तर में पूरी तरह सोच समझकर उदयसिंह ने नीति न अपनायी हो, परन्तु उसने हिन्दू होते हुए मुसलमानो से मित्रता बढ़ाने में कुछ कम उदारता से काम नहीं लिया ——सिवा वैवाहिक संबंध के। 'कोई भी देश धर्मान्धता की नीव पर न तो आश्रित किया जा सकता है और न धर्मान्धता के शस्त्र से बचाया जा सकता है।'——लगता यह है कि यह उक्ति अकबर की नीतियों का स्पष्टीकरण करने के लिए लिखी गयी है, परन्तु इसे प्रोफेसर तिवारी ने उदयसिंह को समर्पित किया है। इसी के आगे वे लिखते है, "उदयसिंह जानता था कि उसके समय में राजनीति का गुरुत्वाकर्षण-बिन्दु सामाजिक एवं धार्मिक केन्द्र से हटकर राजनीतिक एवं आर्थिक केन्द्र पर आ टिका था। इसलिए प्राचीन-कालीन नीति राजनीतिक एवं आर्थिक कारण जन्य मुगल-सीसोदिया विरोध का सफल मुकाबला नहीं कर सकती थी। एक बात यह भी ध्यान मे रखने योग्य है कि उदयसिंह अपनी प्रकृति से धार्मिक नेता नही बन सकता था। अकबर की सेना में बहुत से हिन्दू, हिन्दू जाति के स्वार्थो के विरुद्ध अकबर की सहायता कर रहे थे। ऐसी परिस्थिति में उसने राष्ट्रीय मुसलमानों का साथ देकर बुद्धिमानी का ही परिचय दिया। उदयसिंह की सारी आत्मशक्ति मेवाड़ को शक्तिशाली बनाने में जागृत हो गयी थी। उसमें तो एक नवीन चैतन्यता काम कर रही थी जो आसपास के वर्षो के जमे कूड़े कर्कट को बगैर बहा ले जाये प्रकट नहीं हो सकती थी। उदयसिंह का मस्तिष्क तो एक उच्च स्तर पर काम कर रहा था। इसलिए

---

1. 'शोध पत्रिका', तीन, पृष्ठ 18
2 'शोध पत्रिका', तीन, पृष्ठ 20

छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देने के लिए न तो अवकाश था न यह उचित ही था। विधि विधान उसे कहां ले जा रहा था, यह शायद वह स्वयं भी न जानता हो, लेकिन मेवाड़ के कल्याण का सही मार्ग हिन्दू-मुसलमान राष्ट्रीयवादी मैत्री में ही है, यह सत्य वह अच्छी तरह समझता था। उदयसिंह ने मेवाड़ को शक्तिशाली बनाने के लिए पूर्वात्य बुद्धि और पाश्चात्य (खास करके रोमन) लोगों की निश्चयात्मकता का उपयोग किया। हिन्दू-मुसलमान मैत्री इसी का परिणाम थी।"[1]

उदयसिंह की सूझबूझ और कोशिशों से मेवाड़ में वास्तव में नये युग का उदय हुआ। संग्रामसिंह और उसके बीच की अवधि के कड़वे अनुभव लोग भूलने लगे, नयी आशा और नया विश्वास फैलने लगा। मेवाड़ में सारे राजस्थान की आस्था फिर से जागी, सारा देश उसकी ओर देखने लगा। यह यूं ही नहीं हो गया था कि अकबर के डर से भागे लोग मेवाड़ में शरण लेने लगे, और अकबर पूरी कोशिश के बाद भी मेवाड़ को परास्त नहीं कर सका और उसे अपने साम्राज्य का अंग नहीं बना सका। मेवाड़ को बलिदान बहुत करना पड़ा, परन्तु यदि संग्रामसिंह के अंतिम दिनों से शुरू हुआ गिरावट का सिलसिला रोकने मे उदयसिंह सफल नहीं होता तो अकबर की महत्वाकांक्षा मेवाड़ के पर्वतो और जंगलों में लुप्त नहीं की जा सकती थी।

1. 'शोध पत्रिका', तीन, पृष्ठ 20

# 3

# चित्तौड़ का पतन

चित्तौड़-विजय-अभियान अकबर ने अनायास अथवा अकारण नहीं आयोजित किया था, इसमें एक अनिवार्यता थी, असंभव था कि वह भारत में साम्राज्य-स्थापना का समायोजन करता और चित्तौड़ की प्राचीन प्राचीरों से नहीं टकराता।

"कोई भी जाति जो इस भू पर अवतरित हुई है मध्ययुगीन भारत के राजपूतों से अधिक रोमांचकारी इतिहास, वीरतापूर्ण उपलब्धि तथा जातिगत अभिमान एवं आत्म-सम्मान की भावना के लिए गर्व नहीं कर सकती। राजपूत परम्परा के पृष्ठों को जैसे-जैसे पलटा जाता है मस्तिष्क निष्ठा, पराक्रम और परोपकार की उन ऊंचाइयों को देखकर चकरा जाता है जिन तक राजपूतों ने मानवता को पहुंचा दिया था।

"राजपूत आत्मा और भावना के मूल तत्व के दर्शन मेवाड़ के उतार-चढ़ाव भरे इतिहास में होते हैं। एक बात यह है कि इस भूभाग की प्राकृतिक रूपरेखा ही परिश्रमशील एवं पराक्रमी चरित्र के विकास के लिए अनुकूल है। राजपूताने के दक्षिण-पश्चिम में स्थित इस मेवाड़ के उत्तर-पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी भाग में उपजाऊ, सहज सिंचित समतल भूमि है, जिसमें अच्छी बरसात और साल में दो उपज होती हैं। परन्तु समतल मैदान भी लंबी, अनउपजाऊ पंक्तियों तथा पर्वतीय श्रेणियों से विभक्त हैं, जिनमें कई जगह पहाड़ों की चोटियां सिर उठाये सबसे ऊंची साफ दीखती हैं, जबकि इस प्रदेश का दक्षिण-पश्चिमी तथा विशेषतः पूरा का पूरा उत्तर-पश्चिमी भाग पहाड़ों, पहाड़ियों, घाटियों और अच्छे घने जंगलों का समूह है, यहां ये सब एक-दूसरे से खूब घुल-मिल गये हैं।

"इस प्रदेश पर शताब्दियों से राजपूतों के सीसोदिया कुल का राज रहा है जिन्होंने अति विकसित प्रकार की वंशानुगत भावना का तथा उस स्वाधीनता एवं युद्ध प्रेम का परिचय दिया जिसे इतिहास और आधुनिक अनुभव दोनों ही पहाड़ो तथा पहाड़ियो के पुत्रो से संबद्ध मानते है। राज्य-कर्ता कुल, अन्य राजपूत और सामान्य सभ्य निवासियों के अतिरिक्त अरावली श्रेणियों की पहाड़ियों तथा घाटियों में आदिवासी भील भी बड़ी संख्या मे रहते थे। वे मेहनती और साहसी अर्ध-सभ्य नर-नारी कम उपज, शिकार और लूट पर जीवन-यापन कर लेते थे।

"यह कोई कम बात नहीं थी कि सीसोदियों ने अपने इन पड़ोसियों को विश्वसनीय मित्र तथा स्वामिभक्त प्रजाजन बना लिया था और उनका उत्साहपूर्ण प्रेम एवं समर्पण प्राप्त कर लिया था। पहाड़ियों के ढलावों और दर्रों, संकरी अनजानी घाटियो, और छिपे गोपनीय मार्गो की इनकी पूरी जानकारी राजपूतों को आपत्ति आने पर अत्यंत लाभकारी सिद्ध हुई। इन भीलों के बिना, हो सकता है, मेवाड़ का इतिहास और ही दिशा लेता।"[1]

"राजपूताने के हृदय में अवस्थित, मेवाड़ राज्य समस्त राजपूत राजाओं को स्वाधीनता की शाश्वत प्रेरणा प्रदान कर सकता था। अपनी गौरवशाली परम्परा, अतीतकालीन इतिहास, उच्च सामाजिक सम्मान तथा महान उपलब्धियों के कारण मेवाड़, वास्तव में, राजपूताने का सर्वप्रमुख राज्य था। ऐसे लोग अभी भी जीवित थे जिन्होने राणा संग्रामसिंह के झंडे के स्वयं दर्शन किये थे और उसके नीचे संग्राम किया था। संग्रामसिंह उस महान राजपूत संगठन का सर्व स्वीकृत नेता था जिसके आगे आगरा का राजसिंहासन अपनी जड़ो तक से झकझोर दिया गया था। और यद्यपि मेवाड़ को बुरे दिनों का सामना करना पड़ रहा था, कौन कह सकता था कि वे उन अस्थायी बादलों के समान सिद्ध नहीं होगे जो पहले से भी अधिक प्रखर सूर्य-रश्मियो को ही प्रकट करने के लिए एकत्रित हुए थे? अलाउद्दीन, बहादुरशाह और शेरशाह ने मेवाड़ को जो झटके लगाये थे उनके प्रभाव से क्या उसने अपने को स्वस्थ नहीं कर लिया था?"[2]

"अकबर के शासन-काल में, रायसेन, मेड़ता, हटकंठ और खानुवा की लड़ाइयां राजपूतो की स्मृति में इतनी ताजी थीं कि वे इस तथ्य से अपनी आंखें नहीं मूंद सकते थे कि हाल तक उनके अधिकार में रहने वाली भूमि पर दिन प्रतिदिन विदेशी अपना अधिकार करते जा रहे हैं; फिर भी, कुछ ही अपवादो को छोड़कर, जिन राज्यों पर भी अपने स्वतन्त्र राजाओ का शासन था वे मुगलों के आगे आत्म-समर्पण की कल्पना भी नहीं करते थे: कष्टदायी अनुभव की आशंका होते हुए भी उनमें इतनी दिलेरी थी कि दिल्ली दरबार के प्रति शत्रुता दिखाने में उन्हें कोई हिचक नहीं थी। वे उन मुस्लिम विद्रोहियों की

1. वेनीप्रसाद, पृष्ठ 202
2 त्रिपाठी, पृष्ठ 201

सहायता करते थे जो मैदानी इलाके पर हमले करने की तैयारी के लिए उन राजाओं के पर्वतीय प्रदेश में उपयुक्त स्थान प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे, अथवा वे उन जरूरतमन्द राजपूतों को सुरक्षा प्रदान करते थे जो मुसलमानों द्वारा जीते गये प्रदेशों को छोड़ने को विवश हुए थे--इससे कुछ तो साम्राज्य के भीतर, कुछ बाहर, षड्यन्त्र के नये केन्द्र उभरते जा रहे थे। वे अपने सुदृढ़ पर्वतीय दुर्गों से मुगल प्रदेश को लूटते रहते थे और आवागमन छिन्न-भिन्न कर देते थे; यदि उनका पीछा किया जाता था तो उन्हें अपने पर्वतों की दुर्गम घाटियों में पर्याप्त संरक्षण मिल जाता था। इन खुराफातों को खत्म करना जरूरी था; जब तक मालवा की चट्टानी चोटियों पर दुस्साहसी राजपूत जमे हुए थे, जिन्होने शाही सेना के आवागमन को संकटग्रस्त कर दिया था, और जो यात्रियों को लूटते रहते थे अथवा उनको एवं उनके माल को सुरक्षित निकलने देने के लिए रकमें वसूल करते रहते थे, तब तक देश पर निश्चिन्त शासन संभव ही नही था। इस प्रश्न ने तात्कालिक महत्व इसलिए प्राप्त कर लिया कि नर्बदा घाटी तथा दक्षिण को जाने वाला सीधा मार्ग उस प्रदेश में होकर जाता था जहां की सीमाओं पर स्वतंत्र राजपूतो के राज्य अपना अधिकार किये हुए थे। उनकी भूमि इस प्रदेश का सिंहद्वार बन गयी थी; इसकी कुंजी उनके हाथों से छीनना अनिवार्य हो गया था, और वह कुंजी थी--मेवाड़।

"समस्त राजपूत राजाओं में मेवाड़ का राणा सबसे शक्तिशाली और सबसे अधिक ख्याति प्राप्त था। उसका कुल यह अभिमान करता था कि उसने कभी मुसलमानों से संबंध स्थापित करके अपने रक्त को अपवित्र नहीं किया है, उलटे उनके प्रति सदा उत्तेजक विरोध बनाये रखा है, और उनसे कई बार रक्तरंजित युद्ध किया है।

"मेवाड़ का पांच में से तीन भाग समतल है, शेष पर्वतीय, कई जगह बड़ा विकट। कृषि और पशुपालन सफलतापूर्वक किया जाता है, कहीं-कहीं धातु-खनन भी; राज्य में होकर कई नदियां निकलती है, जिनकी जल-धारा को चेष्टापूर्वक उपयोग में लाया जाता है, सिंचाई-कर राणा की आय का प्रमुख अंग है। सोलहवीं शताब्दी में उसके साधन आज (1880) से कहीं अधिक थे; उसकी सेना युद्ध में अभ्यस्त और अनुशासनशील थी, उसे शक्तिशाली सामन्तो की सहायता प्राप्त थी, और उसके राज्य के मुख्य स्थलो पर सुदृढ़ दुर्ग खड़े हुए थे, जिनमें सबसे प्रमुख और प्रसिद्ध था चित्तौड़--'राजपूत स्वतंत्रता का संरक्षक'।

"आधा-अधूरा काम करने की अकबर को आदत नहीं थी, और जब उसके लिए राजपूतों को सदा-सर्वदा के लिए जीतना आवश्यक ही हो गया, तो यही ठीक लगा कि सबसे पहले मेवाड़ के गर्वीले राणा को, उसके पैतृक दुर्ग में विजेता के रूप में प्रवेश करके, नीचा दिखाया जाये।"[1]

इन पंक्तियों के लेखक ने मेवाड़ के विरुद्ध आक्रमण के इन सामान्य कारणों के अतिरिक्त उस 'विशेष अवसर' की भी चर्चा की है 'जो अपने मे अकेला अकबर को अकारण

1. फ्रेडरिक, पृष्ठ 152

विजय-युद्ध आरम्भ करने के आरोप से मुक्त करने को पर्याप्त है।' अकबर के पितामह और पिता का प्रश्रय प्राप्त मिर्जा परिवार रह-रह कर अपने आश्रयदाता के विरुद्ध विद्रोह करता रहता था। इन दिनों भी मिर्जाओं ने साम्राज्य के कई भागों में लूट-पाट मचा रखी थी, दिल्ली तक संकट में आ गयी थी। शाही सेना ने उन्हें वहां से खदेड़ा तो अपनी सेना लेकर मिर्जा मालवा की तरफ आ गये जहां उनके प्रयत्नों का प्रतिरोध करने की जगह अधिकतर स्वतन्त्र राजपूत राजाओं ने उनका समर्थन किया, और 'उनमें से सर्व-प्रमुख' मेवाड़ के राणा उदयसिंह ने खुल्लमखुल्ला उनकी सहायता की—'ऐसा दुस्साहस जिसके लिए उसे शीघ्र ही पश्चाताप करना पड़ा।' 'अपने सिंहासन के सम्मान और अपने साम्राज्य की शांति' के लिए अकबर को यह आवश्यक लगा कि मिर्जाओं को वश में किया जाये। 'पहले उसने यह ठीक समझा कि मेवाड़ के राणा से निपटा जाये, जिसने इन शत्रुओं की सहायता करके उसकी अवहेलना करने का साहस किया था।' 'हिन्दुस्तान के स्वतन्त्र राज्यों को अपने अधीन करने की पहले अकबर ने चाहे जो योजनाएं बनायी हों, उन्हें राणा की सत्ता को समाप्त करने की योजना को राजनीतिक औचित्य देने वाले इस घटना-क्रम ने समर्थन और शीघ्रता प्रदान कर दी। यह योजना तभी सफल हो सकती थी जबकि मुगल उत्तोलन दंड (शक्ति) मेवाड़ के अधिकार केन्द्र चित्तौड़ पर लगायी जाये। प्राचीन काल से चित्तौड़ मेवाड़ का संरक्षक बना हुआ था, और किंवदंतियों तथा इतिहास-पुस्तकों में इसके गौरव और शक्ति का वर्णन प्रचुरता से किया गया है।'

"यह चित्तौड़ दुर्ग और इसके आसपास की पवित्र भूमि भारत का एक श्रेष्ठ तीर्थ स्थान है। यह एक अद्वितीय वीर भूमि तो है ही, पर साथ में उतनी ही महत्ववाली यह सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भूमि भी है। (चित्तौड़ के ही निकट) इस प्रदेश की सबसे प्राचीन जनतन्त्रात्मक नगरी है, जिसका नाम प्राचीन ग्रन्थों में माध्यमिका दिया हुआ है। शिवि नामक जनपद की यह प्राचीन राजधानी थी। वैदिक, शैव, जैन, बौद्ध आदि अनेक संप्रदायों के तपस्वी और ज्ञानीजनों के पादस्पर्श से यह भूमि पवित्रतम है।"[1]

"इतिहास युग के अनेक वीरपुरुष, धार्मिकजन, भक्तगण और विद्वान वर्ग ने इस दुर्ग को अलंकृत किया है। जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि अनेक मतों के यहां प्राचीन देव-स्थान बने हुए हैं। कन्नौज के चक्रवर्ती सम्राट हर्ष ने इसको पृथ्वीतल का एक मुकुट समान तीर्थस्थान कहा है। धारा के राजाधिराज भोज नृपति ने यहां पर अपने इष्टदेव शिव भगवान समिधेश्वर का विशाल मन्दिर बनवाया। अणहिलपुर का चौलुक्य चक्रवर्ती राजा कुमारपाल, अजमेर के चाहमाणों पर विजय प्राप्त कर, सर्वप्रथम इस समिधेश्वर की पूजा-अर्चना करने आया। उसने इस मन्दिर की अधिष्ठात्री शैव तपस्विनी भगवती शीलार्या के चरणों में अष्टांग प्रणिपात करके उसका वरद आशीर्वाद प्राप्त किया। जैन धर्म के दिगंबर और श्वेतांबर दोनों संप्रदायों के अनेक महान आचार्यों का तो यह महत्व

---

1. मुनि जिन विजय, 8 फरवरी 1960 को दिये भाषण से

का साधना पीठ रहा। हमारे देश की अनेकानेक महान विभूतियों की यह चित्तौड़ पितृ-भूमि है—जिसके लिए किसी कवि ने कहा है कि

वीरभूर्वीरमाता च वीरसूर्वीरनन्दिनी।
जयश्रीर्जयदीक्षा च जयदा जयवर्धिनी॥

यह चित्तौड़गढ़ हमारे सारे राष्ट्र का अति प्राचीन युग से एक तीर्थभूत स्थान बना हुआ है।"[1]

"चित्तौड़ भारतवर्ष का महान राष्ट्रीय तीर्थ है। विधर्मी विदेशियों के प्रवल आक्रमण जब भारतवर्ष के ऊपर होने लगे, और जव भारत के प्रायः सव स्वतन्त्र राज्य नष्ट होने लगे, और भारत का स्वधर्म तथा स्वमान का सर्वनाश होने लगा, तव चित्तौड़ के वीरपुरुषो तथा वीरांगनाओं ने अपने अपूर्व वलिदानो द्वारा देश तथा धर्म की रक्षा के लिए सारे भारतवर्ष को प्रेरणा प्रदान करने का पुनीत कर्त्तव्य निभाया। एक वार नहीं, दो वार नहीं, परन्तु अनेक शताब्दियों तक, चित्तौड़ की यह अपूर्व वलिदानी परम्परा चालू रही। संसार के इतिहास में इस प्रकार के वलिदान के उदाहरण विरले ही मिलेंगे।"[2]

"अकवर के समय में चित्तौड़ का राजनीतिक महत्व था। यह महत्व परम्परा से चला आ रहा था। चित्तौड़ को झुकाने में अलाउद्दीन को वहुत परिश्रम करना पड़ा। ऐसी स्थिति मे चित्तौड़ का महत्व अकवर के समय में वहुत अधिक था। इस संघर्ष में चित्तौड़ को अपने अधीन रखने में मुगलो का (अकवर का) राजनीतिक गौरव का भाव निहित था, और इसका विरोध करना और महाराणा के नेतृत्व का समर्थन करना चित्तौड़ के गौरव की फिर से स्थापना का प्रयास था। अकवर के काल में ही नये चित्तौड़ (उदयपुर) का जन्म हुआ और यह नया चित्तौड़ पुराने चित्तौड़ की गौरव गाथा के वल पर समृद्ध होता गया।"[3]

प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से चित्तौड़ आज भी अत्यंत आकर्षक है। ऋतु के अनुसार प्रकृति फल-फूलो से इसका मनोहारी श्रृंगार करती रहती है। वनो और वन-जीवो की यहां वहुलता है। जहां चट्टाने है, चरण उनको चुनौती देते है, जहां मैदान है, हाथ अन्न-जल उलीचते रहते है। आँख जव टकराती है, वह आज के सौन्दर्य और अतीत के शौर्य मे उलझे बिना नही रहती। यहां पहुंचने पर मन उनमें भटक जाता है। गम्भीरी नदी के किनारे आयी पहाड़ी पर यह दुर्ग ऐसा वना है कि दूर से ही अपनी ओर आकृष्ट करने लगता है। उठता और ढलता सूर्य उसी तरह इसकी चट्टानो पर अठखेलियां करता है जिस प्रकार इसके अच्छे समय मे, इन चट्टानों के सुदृढ़ संरक्षण मे, शताव्दियो तक, आवालवृद्ध अपने अपने प्रयत्नो से इसकी कीर्ति को चमचमाते रहे थे। अंधेरी रात में, जव और कुछ नही दीखता, इसके ऊपर की वत्तियां इसे सजे-सजाये राजमुकुट का रूप

1 श्री हरिभद्र सूरि स्मृतिपीठ सम्वन्धी वक्तव्य से, 11 फरवरी 1960
2 श्री हरिभद्र सूरि स्मृतिपीठ सम्वन्धी विज्ञप्ति से, 11 फरवरी 1960
3 राजमल वोरा, 'शोध पत्रिका', चार, पृष्ठ 27

दे देती हैं। चांदनी से भरी रात में यह इतना सुन्दर लगने लगता है कि इस तक जाने से मन को रोकना मुश्किल हो जाता है।

समतल मैदान में अचानक उठी पहाड़ी पर, जैसे कि समुद्र में टापू उठा हो, इस दुर्ग को देखकर लगता है कि इसे सामान्य मनुष्य बना ही नहीं सकते थे। समुद्र की सतह से 1850 फीट और आसपास की भूमि से 500 फीट ऊंची उठी यह पहाड़ी उनको इतिहास में बार-बार उठाती रही है जिन्होने उस पर इस असाधारण दुर्ग का निर्माण किया, इस दुर्ग की रक्षा में अपना उत्सर्ग किया, और अपने पराक्रम से इसकी पताका को गौरवान्वित किया। इसकी रक्षा मे हुई कई पराजयें विजय से भी अधिक देदीप्यमान और कीर्तिदायी रही हैं।

यह पहाड़ी उत्तर से दक्षिण लगभग सवा तीन मील लम्बी है; चौड़ाई ज्यादा से ज्यादा आधा मील है। 690 एकड़ में यह फैली है। पहाड़ी का घेरा नीचे से आठ मील है। कभी इसके चारों ओर घने जंगल थे—अब भी पूर्व की ओर ऐसे जंगल है जो आसानी से पार नहीं किये जा सकते। ऊपर से देखें तो उत्तर, दक्षिण और पश्चिम की ओर क्षितिज तक खुला मैदान चला गया है; पूर्व की ओर भी कोई तीन मील तो यही स्थिति है, वहां, पहुंचकर दृष्टि ऊंची पहाड़ियों से टकरा जाती है। इस प्रकार यह पहाड़ी अपने आसपास के प्रदेश पर एकछत्र स्वामित्व जमाये न जाने कितने समय से महत्वाकांक्षियों को चुनौती देती जहां की तहां खड़ी है।

सिर्फ इसके दक्षिण में एक छोटी सी टेकरी है, इसकी सेविका-सी इसके निकट ही खड़ी। इसे चित्तौड़ी (अर्थात छोटी चित्तौड़ पहाड़ी) कहा जाता है। यह मुख्य पहाड़ी से 150 फीट नीची है। दोनों के बीच कोई 150 फीट चौड़ी जंगल से भरी जमीन है, जो मुख्य पहाड़ी को इससे मिलाती भी है, और अलग भी रखती है। छोटी होते हुए भी इसने बार-बार अपनी ऊंची साथिन पहाड़ी को, उस पर बने, सिर ऊंचा किये खड़े दुर्ग को, संकट में डाला है।

मुख्य पहाड़ी का ऊपरी भाग सपाट मैदान नहीं है। चारों ओर पहाड़ियों से घिरा बीच का भूभाग एक प्याला-सा बन गया है, जो सुरक्षा के लिए बहुत ही सुविधाजनक है। पूर्व और पश्चिम में उठान थोड़ी ज्यादा है। भूमि के समतल नहीं होने का बड़ा लाभ यह मिला है कि दुर्ग के ऊपर जल एकत्रित होने के लिए अनेक स्थान बन गये है, कई बड़े तालाब किले के भीतर है। इन तालाबों में पानी सारे साल बना रहता है, जिससे दुर्ग के संरक्षको को सदा बड़ा संबल मिला है।

निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि चित्तौड़ दुर्ग को कब किसने बनवाया। परम्परा यह है कि महाभारत काल में पांडु पुत्र भीम ने इसका निर्माण करवाया था। उसके नाम से अभी भी यहां के एक तालाब को भीमलत और एक को भीमगोड़ी कहते हैं।

सातवी शताब्दी में राजा चित्रगुप्त ने दुर्ग पर मुख्य निर्माण कार्य करवाया, और अपने नाम पर इसे चित्रकूट नाम दिया। इसी को बाद में सामान्य जन चित्तौड़ कहने लगे।

ऐतिहासिक दृष्टि से यहां पहले परमारों की मोरी शाखा के राजाओं का, और उनके बाद गुहिलोतों का शासन रहा। बापा रावल पहला गुहिलोत शासक था, जिसने आठवीं शताब्दी में यहां अपना राज्य स्थापित किया। चूंकि उसने सिन्ध की ओर से आने वाले मुस्लिम आक्रमणकारियों को परास्त किया था इसलिए उसे 'हिन्दुआ सूर्य', 'राजगुरू' और 'चक्रवर्ती' कहा जाने लगा। उसके वंशजो ने वीरता और बलिदान की यशस्वी परम्पराएं स्थापित करके इन सम्मानसूचक पदवियों का गौरव और बढ़ाया। जब-जब चित्तौड़ को चोट खानी पड़ी सारा उत्तर भारत हिल गया। इसी चित्तौड़ को अकबर की सर्व विजयिनी महत्वाकांक्षा से टक्कर लेनी पड़ी।

"अकबर के समय में नगर, अपने महलों, मकानों, और बाजारों के साथ, पहाड़ी के शिखर पर दुर्ग की दीवारों के अंदर था, और नीचे बने भवन बाहरी हाट मात्र थे। आगे चलकर राणा प्रतापसिंह ने अकबर के विरुद्ध दीर्घकालीन युद्ध किया, और क्रमशः मेवाड़ का बहुत-सा भाग पुनः प्राप्त कर लिया। किन्तु चित्तौड़ उजाड़ ही रहा। जहांगीर ने किले की मरम्मत करना वर्जित कर दिया, और जब 1653 में इसका उल्लंघन हुआ तो शाहजहां ने नवनिर्मित भाग को ध्वस्त करा दिया। 4 मार्च 1680 को औरंगजेब यहां आया और उसने दुर्ग सेना स्थापित कर दी। उसने नगर के तिरसठ मंदिरो को नष्ट कर दिया, और विभिन्न प्रकार से उसने राणा को जो हानि पहुंचा सकता था, पहुंचायी। उसने राणाओ की मूर्तियो के, जो एक महल मे एकत्रित थी, टुकड़े-टुकड़े कर दिये। जब पादरी तिफेनथालर ने 1744 या 1745 में भग्नावशेषो का निरीक्षण किया था, शिखर का क्षेत्र घने जंगलों से ढका हुआ था जिनमे शेर तथा अन्य हिंसक पशुओ का वास था, जिनका साथ कुछ निर्भीक साधु दे रहे थे। उनसे कम साहसिक साधुओ की टोली नीचे निवास करती थी। अठारहवीं शताब्दी के दूसरे भाग में, मुगल साम्राज्य की विच्छृंखलता पर, स्वभावतः पहाड़ी और नगर उनके वैध शासको, राणाओं, के अधिकार में पुनः आ गये। वर्तमान समय में नीचे बसे हुए नगर में प्रायः सात या आठ हजार की आबादी[1] है और प्राचीन नगर प्रायः नितान्त उच्छिन्न है।

"जेम्स टाड ने, जो फरवरी 1821 में वहां गया था, एक शताब्दी पूर्व की उस की और अधिक विजनता का मार्मिक भाषा में चित्रण किया है:

'युगों के ध्वंसावशेषों के बीच में मैने अपने आपको विचारो में खो दिया। निर्निमेष मै देखता रहा जब तक कि सूर्य की अंतिम किरण 'चित्तौड़ की अंगूठी' (जय स्तम्भ) पर पड़ती रही, उसके धूमवर्णीय विषादयुक्त रूप को प्रकाशित करती हुई, जैसे कि कम्पमान कान्ति शोकाकुल मुख को ज्योतित कर दे। यह एकाकी गौरवशाली स्तम्भ, जो अंदर लेख पिट्टका पर उत्कीर्ण भाषा

'शौर्य कार्य, जो छीजे नहीं,
और नाम जो कभी मरें नहीं।'

---

1. 1971 की जनगणना के अनुसार चित्तौड़ नगर की आबादी 25,917 थी।

की अपेक्षा स्वयं अधिक सुगमतापूर्वक भाव व्यक्त करता है, कौन है वह जो इसे देखकर इसके विगत गौरव पर दीर्घ निःश्वास न छोड़े ? अपने विचारों को भाषा देने के लिए मैं व्यर्थ ही लेखनी साधे रहा, कारण कि जहां भी मेरी दृष्टि पड़ी उसने मेरे मस्तिष्क को अतीत के चित्रों से भर दिया और विचारों के प्रचंड आवेग ने लेखनी को अवरुद्ध कर दिया। इस भावावेश में मैं निरुद्योग टकटकी लगाये कुछ देर तक बैठा रहा, जब तक की संध्या की छायाओं ने मंदिरों, स्तम्भों और महलों को क्रमशः अपने आवरण में समेट नहीं लिया; और जैसे मैं अपने कागजो को कल तक के लिए सम्हाल कर रखने लगा, इस्राईल के ईशदूतीय चारण के शब्द मेरी स्मृति पर बरबस छा गये—'यह नगरी, जो लोगों से भरी हुई थी, कैसी एकाकी बैठी है ! कैसी विधवा समान हो गयी है ! वह जो राष्ट्रों में महान थी, और प्रदेशों में राजकुमारी के समान थी, वह कैसी पराधीन रह गयी है !' मेवाड़ के राणा, जिनका राज्यावास हिन्दुस्तान के राज्यों में सर्वाधिक प्रतिष्ठित चित्तौड़ का पवित्र दुर्ग था, सर्वमान्य रहे हैं और युगो से राजपूत जातियो के सिरमौर स्वीकृत हुए हैं।"[1]

## पुराना हिसाब

अकबर के पितामह बाबर को अपने जीवन का सबसे भयंकर और निर्णायक संग्राम, उदयसिंह के पिता, मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंह से करना पड़ा था। संग्रामसिंह की हार अवश्य हुई थी, परन्तु अपने ही आदमियों द्वारा उसकी हत्या नही कर दी जाती तो संग्रामसिंह कभी खानुवा के युद्ध को बाबर से किया जाने वाला अपना अंतिम युद्ध नहीं बनने देता। घायल हो जाने पर युद्धस्थल से संग्रामसिंह को मूर्छित अवस्था में बसवा ले जाया गया था। मूर्छा टूटने पर पहले शब्द जो उसके मुंह से निकले उनसे साफ लगता था कि संग्रामसिंह ने मन से कभी हार नहीं मानी थी। उसने अपने शस्त्र और अश्व लाने के आदेश दिये ताकि वह वापस लड़ाई के लिए जा सके। जब उसे उसकी सेना की पराजय का समाचार दिया गया, उसका हौसला तब भी नहीं टूटा। उसने कहा, शत्रु से बदला लिये बिना कभी चित्तौड़ में कदम नहीं रखूंगा ! परन्तु पराजय के पश्चाताप स्वरूप उसने सिर पर साफा बांधना छोड़ दिया, सिर्फ कपड़े का टुकड़ा सिर से लपेट कर वह रहने लगा। उसकी सेना को, और देश को, दुर्दशा का सामना करना पड़ा था, परन्तु संग्रामसिंह में आशा और आस्था इस पर भी इतनी भरी थी कि कोई मानता ही नहीं था कि उसे फिर से शत्रु के सामने जाने से रोका जा सकेगा। जब उसने सुना कि बाबर ने चंदेरी का किला घेर रखा है, संग्रामसिंह वहां जाने के लिए आतुर हो गया ताकि शाही सेना से घिरे लोगों की सहायता कर सके। अपनी सेना के साथ उसने कूच कर भी दिया। उत्तर प्रदेश के जालौन जिले में ईरिच नामक किले तक, जो कालपी के निकट है, वह पहुंच गया। किले की उसने घेरेबन्दी कर ली। इस

2. स्मिथ, पृष्ठ 80, 90

स्थिति में अचानक उसकी तबियत खराब हो गयी, जिसका कारण यह माना जाता है कि उसी के साथियों ने उसे जहर दे दिया था जिससे उन्हें फिर बाबर का सामना नहीं करना पड़े। इस तरह बाबर को परास्त करने की कामना ही नहीं, उसके विरुद्ध सक्रिय सैनिक अभियान के बीच में से संग्रामसिंह को इस संसार से जाना पड़ा था। अपने पिता की इस अभिलाषा को पूरा करने की इच्छा तो कही उदयसिंह के मन में नहीं थी ?

अकबर के लिए भी वह हिसाब बंद नही हुआ था। खानुवा में संग्रामसिंह की सेना को परास्त करके भी बाबर न उसे गिरफतार कर सका था न उसकी भूमि पर कब्जा। खानुवा के बाद उसने, सिवा एक चंदेरी के, इस तरफ कोई स्थान जीतने का प्रयत्न नही किया; राजस्थान की तरफ कदम क्या उसकी आंख भी नहीं उठी। हुमायूं भी ऐसा दुस्साहस नहीं कर सका, जबकि इब्राहीम लोदी के पुत्र महमूद लोदी को मेवाड़ में शरण प्राप्त हुई थी। हुमायूं तो शरण लेने भी मारवाड़ के रेगिस्तान गया, मेवाड़ की पर्वतमालाओं में आने का उसे साहस नहीं हुआ। अकबर इस कहानी को कैसे आगे नही ले जाता ?

इस संदर्भ में जो कुछ अकबर और उदयसिंह के पहले हुआ वह भूलने की बात है। इस बीच रंगमंच पर आये न तो व्यक्ति न उनके प्रयत्न कोई बड़ा प्रभाव डाल सके। खानुवा में राजपूत सेना हारी थी परन्तु न राजस्थान मानचित्र से उठा था न राजस्थान वालों के चित्त से स्वाभिमान, स्वदेश प्रेम, शौर्य, साहस और मरने-मारने की भावना। अकबर को बाबर द्वारा आरम्भ किया गया अभियान वहीं से उठाना पड़ां जहां बाबर ने उसे छोड़ा था।

सिर्फ एक बात है। उदयसिंह और अकबर के बीच आये हुमायूं के घटनापूर्ण परन्तु प्रभावहीन और भाग्यहीन शासन-काल में अकबर के पिता पर मेवाड़ को गुजरात के विरुद्ध सहायता देने के वचन को तोड़कर चित्तौड़ को परास्त और ध्वस्त करने का परोक्ष दायित्व हो गया था। इस तरह की स्मृतियां सहज ही समाप्त नहीं हुआ करती। उधर, हुमायूं जब दर-दर की ठोकरें खा रहा था, और राजस्थान के राज्यों की ड्योढ़ी-ड्योढ़ी जाकर शरण के लिए याचना कर रहा था, किसी राजपूत राज्य ने, सिवा सिन्ध-राजस्थान की सीमा पर रेगिस्तानी क्षेत्र में बसे अमरकोट के राजा के, उस कठिन समय में हुमायूं की सहायता नही की थी। अमरकोट[1] में अकबर का जन्म हुआ। हो सकता है बाबर के शुरू किये गये अभियान को आगे ले जाने की कामना को उन दिनो की यादो और बातों से कटुता और कट्टरता मिल गयी हो।

परन्तु, अकबर और उदयसिंह दोनो आरम्भ में इस स्थिति में नही थे कि केवल मात्र पैतृक परम्परा के पोषण में कोई दुस्साहस कर सकें। दोनों ने एक दूसरे का सामना करने के पहले अपनी-अपनी स्थिति सुदृढ़ की, और तात्कालिक समस्याओं को सुलझाने

1. यह अब पाकिस्तान मे है।

के उपरान्त ही आपस में उलझने का साहस किया। अकबर के गद्दी पर बैठने के ग्यारह वर्षों बाद और उदयसिंह के गद्दी पर बैठने के सत्ताईस वर्षों बाद मुगल-मेवाड़ सेनाओं के बीच 'अकबर के सैनिक अभियानों में सर्वप्रसिद्ध और दारुण दुःखकारक यद्यपि रोचक अभियान' हुआ था। हर कदम तोल-तोल कर, आगे की जमीन टटोलकर, रखा गया था।

## उदयसिंह बनाम अकबर

स्वतन्त्र राजपूत राजाओं में सबसे पहले ध्यान उदयसिंह की ओर दिया गया। 'यद्यपि मेवाड़ की राजधानी चित्तौड़ अकबर के पहले तीन बार अलाउद्दीन खिलजी, गुजरात के बहादुरशाह और शेरशाह द्वारा विजित की जा चुकी थी, किन्तु इसके राणा ने सलतनत-काल से लेकर अकबर के काल तक (1200-1556) कभी भी वास्तव मे किसी भी मुसलमान सुलतान की अधीनता स्वीकार नहीं की थी।' 'भारत के सार्वभौमिक सम्राट माने जाने के लिए मेवाड़ को विजित करना आवश्यक था।'

अबुल् फज्ल ने कहा है, "वास्तव में यह उचित था, क्योंकि (अकबर के) सिंहासनरूढ़ होने के समय से, भारत के जो प्रमुख लोग सदा गर्व से सिर उठाये रहते थे और जिन्होंने किसी सुलतान के सामने अधीनता मानकर अपना सिर नही झुकाया था, उन्होंने भी अपने को झुकाकर जमीन चूम ली थी, लेकिन राजा उदयसिंह ने ऐसा नहीं किया था। इस देश में उससे अधिक अज्ञानी और अभिमानी दूसरा नहीं था। ढ़ीठता और असीम साहस से भरा, जिसमें उसके पूर्वजों की उपद्रव वृत्ति के साथ-साथ स्वयं उसकी उग्रता आ मिली थी, यह (राजा) अपने सीधे-ऊंचे पहाड़ों और सुदृढ़ किलों के घमंड में भरा रहता था, और उसने सर्वोच्च सिंहासन की सेवा से अपना मुंह मोड़ रखा था। उसका मस्तिष्क इससे उन्मत्त रहता था कि उसके पास भूमि तथा संपत्ति अत्यधिक है, उसके साथ स्वामिभक्त राजपूत विशाल संख्या में हैं; इसलिए उसने सौभाग्यदायी पथ त्याग रखा था। शाहंशाह की विश्व-विजयिनी प्रतिभा ने उसे सुधारने का निश्चय किया।.... वह हिन्दवाड़ा की भूमि जीतने के लिए निकल पड़ा।"[1]

ध्वनि भिन्न है, यद्यपि भाव इसी प्रकार का है, "बहुत से लेखक अकबर की न्यायपरायणता और दयालुता पर इतना विश्वास करने लगे हैं कि वह उसके उग्र रूप को भूल गये हैं। अकबर समझदार था और दयालु था, पर समझ और दया उसके स्वभाव का केवल एक भाग था। उसके शरीर में चंगेज खां और तैमूर के वंशो का रुधिर बहता था। अन्दर की तह में वही क्रूर मुगल बैठा हुआ था, जो लड़ाई और हत्या को लड़ाई और हत्या की खातिर पसन्द करता था।[2] वह हाथियों की लड़ाई में खास मजा लेता

---

1 'अकबरनामा', दूसरा भाग, पृष्ठ 443

2 चित्तौड-आक्रमण के ठीक पहले अकबर 'विद्रोहियो के प्रति दया प्रदर्शित करने की भावावस्था मे नही था'। इसके पहले 'एक शाही मनोरजन' का वर्णन मिलता है। अप्रेल 1567 मे, जब शाही शिविर प्रसिद्ध तीर्थस्थान थानेसर मे था, 'एक ऐसी अप्रिय घटना घटी जो अकबर के चरित्र पर

था। केवल खूनी तमाशा देखने के लिए हिन्दू फकीरों की पार्टियों को आँखों के सामने लड़ाता था, जहां क्रोध से उन्मत्त होता तव आपे से वाहर हो जाता था। लड़ाई (अर्थात् जीत) के पीछे एक वार कत्ले आम वुलवा देना, या मरे हुए शत्रुओं के मस्तकों का पहाड़ चुनवाकर उससे आँखों को तृप्त करना केवल दया के भाव से प्रेरित नहीं हो सकता।

"अकवर की महत्वाकांक्षा भी वहुत जवरदस्त थी। 'जीवो जीवस्य भोजनम्' के सिद्धान्त का वह मानने वाला था। कावुल से लेकर समुद्र तक फैले हुए भारत को अपनी छत्रछाया के नीचे लाना उसका दिन का विचार और रात का स्वप्न था। उस विचार की पूर्ति में जो कांटा दिखायी देता था, उसे उखाड़ फेंक देने में अकवर को कोई भी संकोच न होता था। उसके शासन सम्वन्धी और मजहवी सुधारो का वृत्तान्त पढ़कर वहुत से लेखक भूल जाते हे कि अकवर एक वहुत जवरदस्त लड़ाकू था। उसके शान्त साम्राज्य का आधार वे भयानक युद्ध थे, जिनमें उसे विजय प्राप्त होती रही।..... यह समझना कि अकवर लड़ाई के लिए लड़ाई नहीं लड़ता था या उसके हृदय में महत्वाकांक्षा की कमी थी, मुगल सम्राट के जीवन से अनभिज्ञता के कारण ही हो सकता है। वावर, अकवर और औरंगजेव में केवल इतना ही भेद है कि वावर कवि योद्धा था, अकवर राजनीतिज्ञ योद्धा था, और औरंगजेव धर्मान्ध योद्धा था। शेष वातो में वह तीनो मिलते है। तीनों में अत्यन्त महत्वाकांक्षा थी, वहादुरी थी, युद्ध मे प्रवीणता

---

अप्रिय प्रकाश डालती है' —यहा एकत्रित सन्यासियो के दो दलो का झगड़ा जव शाहशाह के सामने लाया गया, उसने तलवारो और तीरो से मामला निपटाने की अनुमति दे दी, और जव एक पक्ष निर्वल मालूम दिया 'उसने अपने अधिक क्रूर अनुयायियो को सकेत किया'। 'पराजितो का पीछा किया गया, और अनेक दुरात्माओ का सहार कर दिया गया।' अकवर 'इस क्रीडा से वहुत आनन्दित हुआ'। 'यह जानकर निराशा होती है कि अकवर जैसा व्यक्ति ऐसी हिंस्र क्रीडा को प्रोत्साहन दे सकता था', 'निश्चत ही अपनी युवावस्था मे उसकी आत्मा को रक्तपात से कोई क्लेश नही होता था। प्रमाणरूप मे यह कहानी अकेली नही है। उसके तुर्की और मगोल पूर्वजो की हिंस्र वृत्ति उसके चरित्र का अनिवार्य तत्व वन गयी थी, जो सामान्यत. नियत्रण मे रहती थी, किन्तु कभी-कभी खुलकर फूट पडती थी।' अगले महीने अकवर ने खानजमा के 'नवीकृत विद्रोह का अत कर दिया,' खानजमा मारा गया, उसके अनेक अधीनस्थ नेता हाथी से कुचलवा दिये गये। एक आदेश प्रसारित किया गया कि जो भी किसी मुगल विद्रोही का सिर लायेगा उसे सोने की मुहर दी जायेगी, और जो भी किसी हिन्दुस्तानी का सिर लायेगा उसे एक रुपया दिया जायेगा। सिरो के पीछे लोग भागे। "मरशाद का मीरक मुहम्मद नामक व्यक्ति, जो खानजमा का विशेष कृपापात्र था, वध स्थल पर निरतर पाच दिनों तक पीडित किया गया था। प्रत्येक दिन वह लकडी के खाचे मे वधवाकर हाथी के सम्मुख डाल दिया जाता था। 'हाथी ने उसे अपनी सूड मे जकड़ लिया और उसे और कुदो और कधे के खाचो को भीचा, और एक ओर से दूसरी ओर पटकता रहा। चू कि (महावत द्वारा) उसका वध करने का स्पष्ट सकेत नही दिया. गया था, हाथी उसके साथ खेल करता रहा, और नरम व्यवहार करता रहा। अतत: उसके सैयद (पैगम्वर के वशज) होने के कारण, तथा दरवारियो के मध्यस्थता करने पर, उसे जीवनदान दे दिया गया।' 'इन्ही दिनो हिन्दुओ का पवित्र तीर्थस्थान वनारस शाही सेना ने लूटा।' 1567 ही मे, 'अकवर ने अपने सैनिक अभियानो मे सर्वप्रसिद्ध और दुखकारक यद्यपि रोचक अभियान का निश्चय किया।' चित्तौड मे जो कुछ हुआ, विशेषत दुर्ग-विजय के वाद, उसकी यह पृष्ठभूमि है।

—स्मिथ, पृष्ठ 76

थी, रुधिर मे गर्मी थी, और व्यक्त या छुपी हुई क्रूरता थी। बाबर में कवियों की-सी उपेक्षावृत्ति थी, अकबर मे राजनीतिज्ञों की-सी मनुष्यता और उग्र भावो को दबाकर सोच-समझ से कार्य करने की शक्ति थी, औरंगजेब के वीरता, सादगी, दृढ़ता आदि सब गुणों को एक धर्मान्धता दबा देती थी।

"कई लेखको ने चित्तौड़ पर अकबर के आक्रमणों के कारणों की तलाश में बहुत सा दिमाग खर्च किया है।.....बहुत सी समूल या निर्मूल कल्पनाएं की गयी है, जिनका एक मात्र कारण यह प्रतीत होता है कि लेखक लोग अकबर को केवल विजय-कामना से आक्रमण करने के अयोग्य समझते हैं। यदि अकबर के चरित्र को पढ़ा जाये, तो उसमें 50 फीसदी आक्रमण केवल इस आधार पर किये गये हैं कि मुगल बादशाह हिन्दुस्तान का जन्मसिद्ध मालिक है, जो भी कोई व्यक्ति हिन्दुस्तान की सीमा में रहता हुआ स्वतन्त्र रहने का दुःसाहस करता हैं वह मृत्यु के योग्य है। राणा का यही दोष था कि उसने अकबर की सेवा मे हाजिर होकर अधीनता स्वीकार नहीं की थी।"[1]

दूसरी ओर, सारे राजस्थान में परम प्रतिष्ठित तथा शक्ति सम्पन्न था मेवाड़ का महाराणा उदयसिंह। पूरे मेवाड़ के अतिरिक्त सिरोही से लेकर रणथम्भोर तक उसी का दबदबा था।[2] मालवा का शासक उसी की शरण में था। उदयसिंह इस स्थिति मे था कि मालवा और गुजरात को जाने वाले शाही मार्ग को जब चाहे ध्वस्त और संकटग्रस्त कर दे। इन सूबों पर मुगल आधिपत्य तभी निष्कंटक रह सकता था जब कि रास्ते मे कोई आवागमन अवरुद्ध करने की स्थिति में नहीं रहे।

---

1. इन्द्र, पृष्ठ 12

2. महाराणा उदयसिंह की अमलदारी का फैलाव नीचे लिखी हुई जागीरो से तथा जो जो राजा उनकी नौकरी करते थे उनसे अच्छी तरह मालूम हो सकता है। 'राव सुलतान को अजमेर पठानो से लेकर दिया। आबेर के राजा भारमल्ल ने अपने बेटे भगवानदास को महाराणा की नौकरी में भेजा। राव सुलतान को बूंदी से निकालकर सुर्जण को बूंदी की गद्दी और रणथम्भोर की किलेदारी दी, और 100 गाव फूलिया के और 100 गाव कुम्भलमेर के दिये। रावत साईदास को गगराड, भैसरोड, बडोद और बेगू दिये। ग्वालियर के राजा रामसाह तंवर को बारादमोग दिया। मेडता के जयमल्ल राठौड को एक हजार गाँवों समेत बदनोर दिया। खीचीवाडा के गोपालसिंह खीची और आबू के राजा नौकरी करते थे। राव मालदेव के बडे बेटे रामसिंह को 100 गाव समेत कैलवे का ठिकाना दिया। ईडर का राव नारायणदास गुजराती बादशाहो की मदद से नौकरी मे नही आता था।

—वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 87

राजस्थान का अधिकाश इस प्रकार अब भी मेवाड का वशवर्ती था, और मालवा-मेवात के पठान भी मुगलो के विरुद्ध उसी को अपना मुखिया मानते थे। ऐसी दशा मे यदि राजपूत चाहते तो सांगा की तरह एक बार फिर तुर्कों (मुगलों) की जड इस देश से हिला देते, उनके संघटन को तोड़े और मेवाड की प्रमुखता का अन्त किये बिना मुगल साम्राज्य का भारत मे जमना तब प्राय असभव था।

—मेहता, पृष्ठ 98

इस समय भी, "श्रद्धा और शक्ति के विचार से अधिकांश राजस्थानी नरेश मेवाड़ का नेतृत्व स्वीकार करते थे। मुगल सम्राट ने देखा कि यदि चित्तौड़ के दुर्ग को जीत लिया जाये तो बचे हुए राजस्थानी राज्यो पर प्रभाव स्थापित करना सरल होगा।"[1]

"कुछ आधुनिक लेखकों ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि सब राजपूत राजाओं ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली थी, और मेवाड़ ही अकेला था जो अलग अकेला डटा था और मुगल बादशाह से संधि करने से इन्कार किये जा रहा था। चूंकि अकबर को अच्छा नहीं लग रहा था कि उसकी जैसी प्रभुसत्ता से संबंध स्थापित करने से यह अकेला राज्य इन्कार करता रहे, इसलिए वह राणा के विरुद्ध शस्त्र उठाने को विवश हुआ। इतिहास के सुपुष्ट तथ्य इस स्थापना को अस्वीकार करते हैं। जब अकबर ने अक्टूबर, 1567, मे चित्तौड़ पर चढ़ाई की, उसके पहले अकबर से संधि करने वाला प्रतिष्ठित राजपूत परिवार तो अकेला आंबेर के कछवाहों का ही था (1562)।[2] चित्तौड़ पर कब्जा करने के पहले राजस्थान के मूल प्रदेश मे अकबर के अधिकार में सिर्फ एक ही किला आया था, वह था मेड़ता (1562)। जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर के बड़े राज्यो ने तब तक ऐसा कोई इरादा नहीं दिखाया था कि वे अकबर के साथ मित्रता की संधि करने जा रहे हैं। अतएव सच यह है कि अकबर ने यह सोचा होगा कि यदि वह चित्तौड़ को जीत ले और राणा को अपना सामन्त बना ले तो राजस्थान के अन्य राजपूत राज्य, जैसे जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर, बिना लड़ाई लड़े अधीनता स्वीकार कर लेंगे। और अकबर का अंदाज सही निकला। अपनी नीति का निर्धारण उसने राजस्थान की राजनीति और उस समय के राजस्थान की मनोदशा को सही-सही समझकर किया था। चित्तौड़ के पतन के बाद दो-तीन वर्षों ही में रणथम्भोर (1569),

---

1. गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान, पृष्ठ 279
2. आंबेर पहले मेवाड के अधीन एक छोटी-सी जागीर थी और वहा के कछवाहा राणा उदयसिंह के समय तक मेवाड के सामन्त थे। आंबेर के समकालीन राजा भारमल ने अपना पुत्र भगवानदास उदयसिंह की सेवा मे भेजा था। परन्तु आंबेर और मेवाड के बीच अजमेर मे प्रबल प्रशासक हाजीखान का वर्चस्व आ गया था, और उससे 1557 में उदयसिंह हार भी गया था। उधर, अजमेर के मुगल प्रशासक शरीफुद्दीन ने 1561 मे आंबेर पर चढाई कर दी। वह इस प्राचीन नगर को भारमल्ल से छीन लेना चाहता था, उसे राजधानी विहीन करके जगलों मे शरण लेने को विवश करना चाहता था। राजा भारमल्ल के 'टाका' दे देने पर वह वापस अवश्य चला गया, परन्तु अगले वर्ष फिर उसने आक्रमण का प्रबन्ध किया। उससे भारमल्ल त्रस्त हो गया। उसे अपना सरक्षक कही किसी ओर नही दिखायी दिया। अकबर का दबदबा बढ़ा जा रहा था। जनवरी 1562 में अकबर अजमेर की तीर्थ यात्रा के लिए रवाना होकर आंबेर के पास से निकला। "तब मुगल राज्य का सरक्षण प्राप्त करने के लिए भारमल्ल प्रयत्नशील हुआ। उसकी प्रार्थना स्वीकृत होते ही शाही दरबार में उपस्थित होने के लिए उसे निमन्त्रित किया गया। तब तो सागानेर के पड़ाव पर पहुचकर 20 जनवरी 1562 के लगभग उसने अकबर की अधीनता स्वीकार की। उसी दिन से आंबेर के कछवाहा राजघराने का भाग्य सितारा चमक उठा।" —रघुबीरसिंह, राजस्थान, पृष्ठ 40

भारमल्ल की पुत्री से अकबर का विवाह इस यात्रा से लौटते हुए साभर में फरवरी 1562 मे हुआ था। इतिहासकार मानते है कि कोई राजपूत इससे अधिक पूरा आत्मसमर्पण नही कर सकता था। —'कैम्ब्रिज हिस्ट्री', पृष्ठ 97

जोधपुर (1570), बीकानेर (1570) और जैसलमेर (1570) ने दिल्ली की अधीनता स्वीकार कर ली और अकबर से वैवाहिक संबंध स्थापित कर लिये।"[1] "अब तक आंबेर के कछवाहो ने (1562) मुगलो से मैत्री संबंध स्थापित किया था, परन्तु इसका प्रभाव अधिकांश राजपूत राजाओं पर नहीं पड़ा, क्योंकि चित्तौड़ अभी तक अपने प्राचीन गौरव की दुहाई दे रहा था। यहां का महाराणा न केवल अपनी ही स्वतन्त्रता को थामे हुआ था, बल्कि अन्य शासको को भी उसे बचाये रखने के लिए प्रेरित करता रहता था। बूंदी, सिरोही, डूंगरपुर आदि उसके निकटतम सहयोगी थे। मालवा के बाजबहादुर ने 1562 में राणा की शरण ली थी। मेड़ता के जयमल्ल को, जिसे शर्फ-उद्दीन हुसैन ने परास्त किया था, राणा ने चित्तौड़ में आश्रय दे रखा था। उदयसिंह के ये ढंग सीधे मुगल सत्ता को चुनौती दे रहे थे। इस परिस्थिति मे अकबर का चित्तौड़ पर आक्रमण करना आवश्यक हो गया।"[2] "चित्तौड़गढ़ की फतह के बिना अकबर के भारतव्यापी राज्य की स्थापना असंभव थी। यदि वह हिन्दूपति को परास्त न कर देता, तो राजपूतों के प्रेम को भी न जीत सकता। अकबर के साम्राज्य विस्तार की पहली मंजिल चित्तौड़ की लड़ाई है। उसने असली अकबर को प्रकाशित किया। उसके शत्रु दहल गये, मित्रो के हृदयो मे ढारस बंध गया, और वीर राजपूतों ने उसे अपने प्रेम के लायक समझा।"[3]

अधिक व्यापक दृष्टि से देखें तो, "राणा कुम्भा और सांगा की विजयों के फलस्वरूप मेवाड़ उस समय उत्तर भारत में हिन्दुओं और शायद भारतीय मुस्लिमो की भी भक्ति का लक्ष्य बन चुका था।[4] यहां के महाराणाओं का विरुद 'हिन्दुआ सुलतान' या 'हिन्दुआ सूरज' तब समकालिक मुस्लिम रियासतो ने भी स्वीकार किया था और वे भी मेवाड़ को आदर की दृष्टि से देखते थे। खासकर पानीपत[5] के बाद तो राणा तुर्क आक्रमण का मुकाबला करने वाले उस युग के सभी भारतीयों का नेता माना जा सकता था।"[6] आगे चलकर हम देखेंगे कि मेवाड़ की सेना के साथ लड़ने वालों में मुसलमान भी थे, और यह परम्परा उदयसिंह के उत्तराधिकारियों के साथ भी चलती रही। उदयसिंह के पास शरण लेने वालों मे सुलतान बाजबहादुर भी था। बिहार के मुसलमान भी

1. गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, पृष्ठ 59
2 गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान, पृष्ठ 279
3 इन्द्र, पृष्ठ 8
4 'शेरशाह सूर के समय प्रसिद्ध सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने मुसलमान होते हुए भी, अपने काव्य 'पद्मावत' में मेवाड के अन्तिम रावल रतनसिंह को अपना नायक और दिल्ली के सबसे बडे तुर्क सुलतान अलाउद्दीन खिलजी को अपना खलनायक बनाकर इस बात की सूचना दी थी कि मेवाड़ के, तुर्कों के विरुद्ध, किये हुए सफल सघर्षो ने यहा के राजवश के प्रति भारतीय मात्र के हृदय में, बिना हिन्दू और मुसलमान के भेद के, कितने आदर और प्रतिष्ठा का स्थान प्राप्त कर लिया था।'
5 पानीपत में बाबर ने इब्राहीम लोदी को हराकर अपनी स्थिति सुदृढ बनायी थी। साथ ही यह भी स्पष्ट हो गया था कि इसके बाद जिस सबसे बडी सत्ता से उसे निपटना होगा वह मेवाड के महाराणा (सग्रामसिंह) की ही थी।
6 मेहता, पृष्ठ 99

बड़ी संख्या में उसकी शरण में आये थे। नितान्त साम्प्रदायिकता की दृष्टि से इन दिनों की घटनाओं को देखने वालों को समझ लेना चाहिये कि 'हिन्दुआ सुलतान' अथवा 'हिन्दुआ सूरज' कहकर हिन्दुओं का नहीं, हिन्दुस्तान का बोध कराया जाता था, यह प्रतिष्ठा उन दिनों मेवाड़ के महाराणाओं की थी। माना यह जाता था कि देश में दूसरा कोई नही है जो आक्रमणकारी मुगलो का सामना कर सके।

यह बात अकबर को खल रही थी। 'राणा रासो' के कवित्वमय वर्णन के अनुसार, अकबर ने अपने मंत्री से कहा, "मेरे हृदय में महाराणा विशेष खटकता है। मुझे ऐसी सारगर्भित मंत्रणा दो कि जिससे काल रूप शत्रु (राणा) द्वारा उत्पन्न मेरे हृदय की चुभन मिट जाये। हिन्दुस्तान के स्वामी राणा के साथ मेरी शत्रुता है, उसके स्थान को अधीन करना मेरे लिए बड़ा भारी जंजाल हो गया है।....समस्त संसार को मैने वश में कर लिया है। उसकी ओर से अब मुझे चिंता नहीं है। केवल महाराणा का स्थान (मेवाड़) मेरे अधिकार में नही आ सका है। इसका मुझे दुःख है। ठीक घर के दरवाजे के समीप सामने वाले कूप में सांप, आंगन में मुंह फाड़े हुए सिंह और पहनने के कपड़ो में लगी फांस की तरह मुझे महाराणा खटकता रहता है।"[1]

इन सब बातो का सारांश यह है कि अकबर के लिए चित्तौड़ का युद्ध अब तक किये उसके सब युद्धो से अधिक महत्वपूर्ण तथा परिणामकारी हो गया था। अकबर को इसका पूरा ज्ञान था। इसलिए उसने सारा सैन्य संचालन अपने हाथ में रखा, और चार-पांच महीनों का लम्बा समय लग जाने पर भी इसका दायित्व किसी और को नहीं सौंपा। वह सारे समय सब सैनिक कार्रवाई अपनी निजी देख-रेख में ही करता रहा।

उदयसिंह और अकबर की आयु और अवस्था को समझ कर हम उनके बीच हुए 'भीषणतम संग्राम' में उतरेंगे।

उदयसिंह का जन्म 1522 के लगभग और अकबर का 1542 में हुआ था। दोनो को अपना आरम्भिक जीवन अत्यन्त कष्ट और संशय में बिताना पड़ा था। उदयसिंह को 1535 में और अकबर को 1556 में अपने-अपने राज्य का अधिकार प्राप्त हुआ। इस तरह जब राज्याधिकार प्राप्त हुआ दोनों की ही आयु 13-14 वर्ष की थी। अपने-अपने पैतृक राज्य पर वास्तविक अधिकार प्राप्त करने के लिए दोनों को कड़ा संघर्ष करना पड़ा। जब इन्होने शासनभार सम्हाला, इन दोनों के राज्यों की परिस्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। सार-सम्हाल और संगठन में बहुत यत्न और समय लगाना पड़ा। चित्तौड़-युद्ध के पहले दोनो एक तरह के काल की डचोढ़ी पर थे—अकबर जीत कर भारत का सम्राट हो सकता था, उदयसिंह जीतकर संग्रामसिंह का बदला ले सकता था, हिन्दुस्तान में मुगल आक्रमण एवं अधिकार की गति रोक सकता था। वह ऐसा नहीं कर सका, इसकी मेवाड़-भक्त इतिहासकार जेम्स टाड को, जिसके तथ्यो से तर्क और तर्ज अधिक आकर्षक है, बड़ी ही पीड़ा थी। अकबर और उदयसिंह की उसने

1. 'राणा रासो', पद 155, 156, 157

खूब तुलना की है, अकबर को जहां बहुत बढ़ाया-चढ़ाया है वहीं उदयसिंह को ऐसा गिराया है—'मेवाड़ के महाराणा में राजकीय गुणों के अभाव के कारण उसके (मेवाड़ के) दुर्भाग्य का प्याला अपने किनारों तक भर गया' —कि हाल तक इतिहासकारों ने उदयसिंह के समर्थन में कहना छोड़, उसके समय के तथ्यों को भी जैसा का तैसा प्रस्तुत नहीं किया है। अपनी भावना और भाषा के कारण जेम्स टाड सब पर बुरी तरह छाया रहा है, और उदयसिंह पर छाया रहा है यह विकट तथ्य कि वह अत्यन्त सुप्रसिद्ध दो महाराणाओं के बीच मे—संग्रामसिंह और प्रतापसिंह के बीच में—आ पड़ा था। यह उक्ति प्रसिद्ध हो गयी कि 'क्या ही अच्छा होता यदि संग्रामसिंह और प्रतापसिंह के बीच में उदयसिंह नही होता,' परन्तु यह समझने से इन्कार किया जाता है कि मुगलों के विरुद्ध जो संग्राम संग्रामसिंह ने किया था, जिसमें खानुवा में उसकी हार हुई थी, और वह जहां इसके बाद कुछ भी नहीं कर पाया था, वहीं से उदयसिंह ने उस सिलसिले को उठाया, और ऐसी सुदृढ़ स्थिति और पृष्ठभूमि तैयार की कि वह स्वयं और उसका पुत्र प्रतापसिंह ही नहीं, उसका पौत्र अमरसिंह भी, दसों वर्षों तक, अकबर का, जो तब और भी अधिक शक्तिशाली हो गया था, सामना कर सके।

एक चित्तौड छोड़ने के अतिरिक्त उदयसिंह ने अकबर के आगे कोई कमजोरी नहीं दिखायी। जैसा कि हम अभी देखेंगे, यह कमजोरी नहीं थी; यह परिस्थिति को समझने की चतुरता और युद्ध की परिवर्तित पद्धति को जानकर 'सामरिक चाल' थी। इसके लिए उदयसिंह की निन्दा नहीं, सराहना की जानी चाहिये।

अकबर को उदयसिंह की स्थिति और शक्ति का पूरा आभास था। अकबर ने बड़े पैमाने पर तैयारी करने के बाद मेवाड़ पर हमला किया था।[1] वह अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा में सबसे बड़ी बाधा उदयसिंह को ही मानता था। वह जानता था कि बिना हराये उदयसिंह को झुकाया नहीं जा सकेगा।

उधर, उदयसिंह ने अपनी परम्परा और अपने देश के सम्मान की रक्षा में न कुछ प्रयत्न बाकी रखा, न कोई बलिदान।

## अभियान का आरम्भ

साम्राज्य की तात्कालिक समस्याएं जब अकबर ने सुलझा ली थीं, 'मस्तिष्क में जब विरोधियो की ओर से आने वाली समस्त आशंकाएं शान्त हो गयी थीं' तभी उसने मेवाड़ की ओर ध्यान दिया। "अब जबकि सम्राट, अलीकुली खान तथा अन्य विद्रोहियों से मन में निश्चिन्त होकर, राजधानी लौट आया, उसने चित्तौड़ जीतने का 'सदा स्मरणीय' विचार किया और निश्चय किया कि यह महत्वपूर्ण कार्य वह स्वयं करेगा।

1 परिशिष्ट-पहला में दिये फतहनामा में वर्णित चित्तौड़ पर आकस्मिक आक्रमण की बात सही नहीं लगती। इस अवसर पर उपस्थित इतिहासकार निजामुद्दीन अहम[illegible] शाही इतिहासकार अबुल् फज्ल अपने प्रतिष्ठिति ग्रन्थो में अकबर [illegible] गयी तैयारी [illegible] र वर्णन करते हैं।

इसके अनुसार इस सैनिक अभियान के लिए तैयारी शुरू कर दी गयी।[1] बयाना का परगना हाजी मुहम्मद खान सिस्तानी से ले लिया गया और (अधिक अनुभवी एवं संग्राम विजेता) आसफखान को जागीर में दिया गया, जिसे वहां पहले से जाने और सेना के लिए खाद्य पदार्थ तथा सामग्री संग्रहीत करने के आदेश दिये गये। स्वयं सम्राट वाड़ी कस्बे पहुंचा, ऊपर से यह दर्शाया गया कि वह शिकार के लिए निकला है, उसने वहां एक हजार जानवर भी मारे। तव उसने अपनी सेना को आने के विधिवत् आदेश दिये।"[2]

चित्तौड़ पर आक्रमण के लिए जब अकबर आगरा से रवाना हुआ, वह पहुंचा धौलपुर। हमला मेवाड़ पर किया गया, बात बनायी गयी मालवा पर कूच करने की। बहाना था शिकार के लिए जाने का, वह निकला था अपने जीवन के अत्यन्त कठिन संग्राम पर।

"संसार के शाहंशाह और युग के संत ने इस काम को अपने परिपक्व ज्ञान के अनुसार निपटाने का निश्चय किया, और तरीका यह अपनाया कि दिखाने को उस ओर ध्यान नहीं हो, परन्तु ध्यान पूरा दिया जाये, चेष्टा पूरी की जाये, परन्तु लगे कि कोई चेष्टा ही नहीं की जा रही है। देखने को तो शाहंशाह ने विद्रोह की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, परन्तु वास्तव में उसने अपनी सारी कुशाग्रता उसे दबाने में लगा दी।

"वह शिकार पर निकल गया ताकि स्वामिभक्त एवं सम्मानित नेता, बिना लोगों को यह मालूम हुए कि उन्हें बुला भेजा गया है, स्वयं वहां पहुंच जायें, तथा अन्य भी, वे चाहे उनकी सेवा में हो या न हो, यह देखकर कि किसी के आने पर कोई रोक नहीं है, शाहंशाह के प्रति सम्मान प्रकट करने अवश्य एकत्रित होंगे। जब इस तरह काफी लोग एकत्रित हो जायेंगे तब उनमे से चुनकर इस काम पर लगा दिया जायेगा। इस विवेकपूर्ण विचार को लेकर वह राजधानी से शिकार के लिए रवाना हुआ। उच्चाधिकारी तथा सामान्य सेवको ने अपनी आशाओ के मुह शाही शिविर की ओर मोड़ दिये, और बड़ी संख्या मे वे वहां आ एकत्रित हुए।"[3]

सीधे से तथ्यों को साफ-साफ कहने की न अबुल् फज्ल की आदत थी, न अकबर का ऐसा तरीका था। 'अकबरनामा' में कहा यह गया है कि मालवा में मिर्जा-बंधुओं

---

1 परिशिष्ट-पहला में दिये गये 'फतहनामा-ड-चित्तौड' मे यह दर्शाने का प्रयत्न किया गया है कि चित्तौड़ पर आक्रमण अनायास किया गया था। अकबर शिवपुर और गागरौन के बीच के क्षेत्र में, जो चित्तौड के पडोस में पडता है, शिकार करने गया था। यहा उसके ध्यान मे यह लाया गया कि यह अपेक्षा की जाती थी कि उदयसिंह शाहंशाह के सामने उपस्थित होकर स्वागत करेगा और शाही द्वार का चुंबन करेगा, अथवा अपने पुत्र को पेशकश के साथ भेजेगा। उलटे, उसने घमड और उद्दडता दिखायी। इससे अकबर अप्रसन्न हो गया, और उसने, साथ मे सेना कम होते हुए भी, चित्तौड के विरुद्ध कूच कर दिया। समकालीन शाही इतिहासकारो ने चित्तौड़ अभियान की विस्तृत तैयारी का असंदिग्ध विवरण दिया है, जो अधिक विश्वसनीय है।

2 निजामुद्दीन, पृष्ठ 324

3. 'अकबरनामा', दूसरा भाग, पृष्ठ 442

के विद्रोह के समाचार जव आये शाही सेना की पिछली लड़ाई की थकान दूर भी नहीं हुई थी। फिर भी उनको काबू में करना जरूरी था। अकवर यह भी नहीं दिखाना चाहता था कि इस जरा-से उपद्रव ने उसे परेशान कर दिया हैं, स्वयं सेना लेकर चढ़ निकला है। 'उसने इस तरह इस विद्रोह की ओर ध्यान दिया कि लगे यह कि उसे इसकी चिन्ता ही नहीं है।' उसने सवको जताया यह कि वह शिकार के लिए जा रहा है। उन दिनों तरीका ही यह था कि जहां वादशाह जाता था वहीं सव प्रमुख लोग--और उनके साथ उनके अनुयायी--पहुंच जाते थे। विना विधिवत् घोषणा के सेना की सेना आ जमा होती थी। 'शिकार से संवंधित समस्त राजभक्त सेवक जव एकत्रित होते थे तव वे इतने हो जाते थे कि वे एक संसार जीत सकते थे।'

चित्तौड़ के आक्रमण के संवंध में कितनी उलटी वात कही गयी है, "विश्व के स्वामी द्वारा संचालित इस अभियान का उद्देश्य सभी पर दया दर्शाना था।" "उच्चतम अधिकारी, जो सेवा को ही अपने धर्म का सार मानते हैं, विना शाही शिविरों के आयोजन की विधिवत् घोषणा हुए स्वयं ही आ-आ कर अपने कर्तव्य वहन के लिए एकत्रित होने लगे। विजेता सेनानियों के आ जाने से शिविर का स्वरूप ही वदल गया।"[1]

"यद्यपि शाही सेना की संख्या देखने में कम ही थी, फिर भी भगवान की सहायता का विश्वास करके, और इस सन्तोष के साथ कि सहायक सेना आवश्यक होते ही छिपे-छिपे आ जायेगी, शाहंशाह ने कूच का हुक्म दे दिया--उसके मन मे यह था कि जव राणा तक यह वात पहुंचेगी कि शाही सेना संख्या में कम है, वह पर्वतमाला के वाहर आ जायेगा, और उसे सरलतापूर्वक समाप्त किया जा सकेगा।"[2]

जैसा कि कहा गया, शिकार अकवर ने किया। परन्तु वास्तव में उसके शिकार दूसरे थे। धौलपुर से उसने मिर्जा वंधुओं को 'दुरुस्त' करने शाही सेना भेजी, और राणा उदयसिंह को 'सुधारने' वह स्वयं रवाना हुआ। परन्तु इसका भी वहाना खोजा गया।

31 अगस्त 1567 को अकवर आगरे से वाड़ी की तरफ निकला था। शाही शिविर जव धौलपुर मे लगा हुआ था, एक दिन अकवर की मेवाड़-महाराणा के पुत्र शक्तिसिंह से वातचीत होने लगी। राजदरवार मे अपने छोटे पुत्र शक्तिसिंह के अभद्र व्यवहार के कारण महाराणा उदयसिंह उससे अप्रसन्न हो गया था।[3] अतएव अपने

1. 'अकवरनामा', दूसरा भाग, पृष्ठ 462
2 'अकवरनामा', दूसरा भाग, पृष्ठ 464
3 शक्तिसिंह के मेवाड छोडने का कारण उसकी अपने वडे भाई प्रतापसिंह से हुई कहासुनी भी वताया जाता है। प्राचीन पुस्तकों मे प्राप्त विवरण के अनुसार प्रतापसिंह और शक्तिसिंह के वीच आखेट के समय वाराह (सूअर) के शिकार पर विवाद हो गया, जो इतना वढा कि दोनो तरफ से शस्त्र उठ गये। दोनो का जीवन सकट मे पड गया। उस समय राजपुरोहित नारायणदास ने दोनो को लडने से रोकना चाहा, परन्तु दोनो भाई नही माने। इस पर नारायणदास अपने यजमानो की प्राण-रक्षा के लिए दोनो के वीच मे आकर खडा हो गया। उन्हें अन्तिम वार समझाया कि आपस में लडकर कुल का नाश नही करना चाहिये। इसमे सफलता नही मिलने पर नारायणदास के सामने कोई

पिता से रुष्ट होकर वह अकबर की सेवा में चला गया था, और अकबर उसे बहुधा अपने साथ रखता था। इस मौके पर जब कई तरह की चर्चा चल रही थी, अकबर ने शक्तिसिंह से 'दिल्लगी में' कहा, 'देखो, हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े राजा हमारे दरबार में आकर हाजिर हुए है, परन्तु राणा उदयसिंह नहीं आया। इसलिए हम उस पर चढ़ाई करना चाहते है, सो तुमको भी इस हमले मे अच्छा काम देने का हमारा इरादा है।' 'आत्माभिमानी राजपूत राजकुमार असंख्य सेनाओ के स्वामी के मुख से ऐसे परिहास सुनकर मनोरंजित नहीं हुआ', ऊपर-ऊपर से तो शक्तिसिंह अकबर की हां में हां मिलाता रहा, परन्तु यह बात उसके मन को कचोट गयी। उसे भी अपनी मातृभूमि से असीम स्नेह था। अपने निवास-स्थान पहुंचने पर उसने सोचा, 'शाही इरादा तो मेवाड़ पर सेना लेकर चढ़ाई करने का पक्का लगता है। मझे भी साथ मे जाना पड़ेगा। यदि मैं बादशाह के साथ मेवाड़ पहुंचा तो वहां लोगों को मन ही मन संदेह होगा कि मै ही अपने पिता के राज्य पर मुगल बादशाह अकबर को चढ़ा लाया हूं। इससे तो बड़ी बदनामी होगी।' जब यह तर्क उसके मन मे पूरी तरह जम गया, उसने तत्काल शाही सेवा छोड़ने का और वापस अपने पिता के सम्मुख उपस्थित होने का निश्चय किया। चुने हुए राजपूतो के साथ शाही शिविर छोड़कर वह रातों रात मेवाड़ की ओर दौड़ निकला।

सुबह जब अकबर को यह बात मालूम हुई, चित्तौड़ पर चढ़ाई का निर्णय किया गया। 'उसने राजस्थान के सर्वाधिक आत्माभिमानी सरदार, राजपूती शौर्योदार्य के सर्व स्वीकृत मुकुट के आत्माभिमान को विजित करने का निश्चय किया।'

हम ऊपर देख चुके है कि अजमेर के शाही शासन-संचालक शरीफुद्दीन के बिना आज्ञा आगरा से लौट आने पर अकबर कितना नाराज हुआ था। उसने शरीफुद्दीन की सारी जागीर छीन ली, सेना से उसका पीछा कराया और वह जालौर के भी आगे भागकर ही अपनी जान बचा सका। अनुशासन पालन में अकबर किसी के साथ रियायत नहीं करता था। इसलिए शक्तिसिंह के बिना अनुमति शिविर छोड़ने पर अकबर के मन मे इसी प्रकार की प्रतिक्रिया होना अस्वाभाविक नहीं लगता। ऐसी स्थिति में शक्तिसिंह ने शाहंशाह के मजाक को मजाक नहीं माना तो उसने क्या अनुचित किया? 'अकबरनामा' में इस बारे मे जो लिखा है, उस पर विश्वास

---

दूसरा उपाय नही रहा—उसने अपने हाथ से अपनी कटार अपने पेट मे मार ली, और प्राणहीन होकर दोनो भाइयो के बीच मे गिर गया। प्रतापसिंह और शक्तिसिंह चौंक गये, उनका गुस्सा उड़ गया, मेवाड के राजकुल के दो बड़े पुत्रों को एक पुरोहित के अपूर्व एवं पूजनीय आत्म-बलिदान के फलस्वरूप नवजीवन प्राप्त हुआ।

तेरहवी शताब्दी से मेवाड के महाराणाओ के राजपुरोहित 'बडे-पल्लीवाल' ब्राह्मण होते आये है। उनमे अनेक विद्वान और मन्त्रणा-कुशल व्यक्ति हुए है। उनके त्याग और बलिदान की कथाए भी प्रसिद्ध हैं। देवीदास का पुत्र नारायणदास इस कुल का गौरव था। वह महाराणा उदयसिंह का राजपुरोहित था। 'अमरकाव्य' मे मिलता है कि उदयसिंह ने उसे बडगॉव प्रदान किया था। कुल-पुरोहित का अपने यजमानो के प्राण-रक्षार्थ जीवन-विसर्जन का यह अपूर्व उदाहरण है।

—नाथूलाल भागीरथ व्यास, 'शोध पत्रिका', आठ, पृष्ठ 79

नहीं होता, "शाहंशाह ने शक्तिसिंह से मेवाड़ पर आक्रमण की चर्चा या तो मजाक-मजाक में की थी या इसलिए की कि मालवा के विद्रोही शाहंशाह के मेवाड़ की तरफ जाने की बात मालूम होने पर स्वयं सुस्ताने लगें, और अपने बचाव की कोई चेष्टा नहीं करें। परन्तु वह नहीं समझ सका कि यह सब मजाक था, न यह उसके ध्यान में आया कि इतने छोटे भू-स्वामी के विरुद्ध इतना शक्तिशाली एवं प्रभु-कृपा-प्राप्त सम्राट स्वयं क्यों जायेगा ?"[1]

बात ऐसी नहीं थी। अकबर न उदयसिंह को छोटा समझता था न उसकी राजधानी चित्तौड़ को। 'अकबरनामा' में ही कहा गया है :

"इस तरह के मामलों में जल्दबाजी से काम नहीं चलता। धीरज और समुचित समायोजन की आवश्यकता होती है। पहले तो स्थान ने ही दृढ़ता प्रदान कर रखी थी, फिर किलाबन्दी की मजबूती थी, तीसरे, साधन-सामग्री तथा सैनिकों की प्रचुरता ने चित्तौड़ के किले को विशिष्टता दे रखी थी।"[2]

"अपनी ऊंचाई और दृढ़ता के लिए सुप्रसिद्ध इस किले को लेने को सम्राट बहुत ही उत्सुक था।"[3]

"ईश्वरीय प्रेरणा से शाहंशाह ने चित्तौड़ का दुर्ग जीतने का निश्चय किया, यही दुर्ग राणा की शक्ति का आधार और उसके राज्य का केन्द्र है।"[4]

"उस पहाड़ पर चढ़ा यह किला
चौथे स्वर्ग तक अपना सिर उठाये खड़ा है।
उस तक कल्पना-पक्षी भी नहीं पहुंच सकता,
किसी को उसकी विशिष्टता, उसकी स्थिति का ज्ञान नहीं है।"[5]

जैसा कि कहा गया, अबुल् फज्ल का ऊपर उठाया प्रश्न भी धोखा मात्र था कि 'इतने छोटे भूस्वामी के विरुद्ध इतना शक्तिशाली एवं प्रभु-कृपा-प्राप्त सम्राट स्वयं क्यों जायेगा ?[6] क्योंकि 20 पृष्ठो बाद वह स्वयं कहता है, "शाहंशाह के अन्तरभूत गौरव की मांग थी कि राणा को रास्ते पर लाने के लिए वह स्वयं जाये।"[7]

---

1. 'अकबरनामा', दूसरा भाग, पृष्ठ 442
2 'अकबरनामा', दूसरा भाग, पृष्ठ 470
3 'अकबरनामा', दूसरा भाग, पृष्ठ 466
4 'अकबरनामा', दूसरा भाग, पृष्ठ 464
5 'अकबरनामा', दूसरा भाग, पृष्ठ 465
6 इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अबुल् फज्ल ने उसके पहले भी ('अकबरनामा', दूसरा भाग, पृष्ठ 441) किया है, "प्रभुसत्ता के नियमो के अनुसार जो कुछ शब्दो से किया जा सके उसके लिए शस्त्र नही उठाना चाहिये, और जो मध्य श्रेणी के अथवा निम्न श्रेणी के अधिकारी कर सके उस काम को उच्च पदस्थ मंत्रियो के जिम्मे नही सौपना चाहिये। इसी सिद्धान्त के अनुसार काम का बटवारा समुचित माना जायेगा।" चित्तौड, रणथम्भोर और हल्दीघाटी के युद्धो के उदाहरण ऐसे हैं जहा शस्त्रो के पहले शब्दो का प्रयोग किया गया था।
7. 'अकबरनामा', दूसरा भाग, 462

अकबर यह भी नहीं चाहता था कि राणा को सैनिक तैयारी के लिए अधिक समय मिल जाये। परन्तु शक्तिसिंह का पलायन तात्कालिक कारण हो सकता है, मूल कारण तो यही था कि "उदयसिंह, जिनको अपने राजपूत व पहाड़ों का बड़ा ही जोर और सहारा था, जब तक ताबे न किये जाते तब तक शाही हुकूमत पूरी-पूरी बेखटके नहीं हो सकती थी। यह विचारकर बादशाह ने मेवाड़ की तरफ कूच किया।"[1] विंसेंट स्मिथ भी कहते हैं, "यद्यपि इस उपाख्यान को सच मान लिया जाये, फिर भी चित्तौड़ पर आक्रमण के लिए विशेष तर्क अथवा उत्तेजना का कारण ढूंढ निकालना अनावश्यक होगा। समस्त उत्तरी भारत के एकछत्र स्वामी बनने का संकल्प कर लेने के कारण अकबर ऐसे शासक की स्वतन्त्रता सहन नहीं कर सकता था जो 'अपने दुर्गम पहाड़ों और सुदृढ़ दुर्गों' का अभिमानी था और जिसने अलौकिक दरबार में आज्ञाकारिता का मुख मोड़ लिया था।......अकबर की 'विश्वविजयिनी प्रतिभा' का आग्रह था कि वह चित्तौड़ और रणथम्भोर दोनों सुदृढ़ दुर्गों पर भी अधिकार स्थापित करे।"[2]

शक्तिसिंह धौलपुर से रातों रात रवाना होकर, बिना बीच में समय गंवाये, चित्तौड़ आया। उसने अपने पिता महाराणा उदयसिंह के प्रति पूरी भक्ति प्रकट की, और उसे अकबर के 'पक्के इरादे और बड़ी भारी तैयारियों से' अवगत कराया। इस तरह अकबर के आक्रमण की पूर्व सूचना देने का श्रेय (यद्यपि उसको इस आक्रमण का कारण बताया गया है) उसने प्राप्त किया। उसने अवश्य शाही सेना की अपरिमित संख्या, शाही पक्ष के अपार साधन और अकबर की महती महत्वाकांक्षा से अपने पिता तथा उसके परामर्शदाताओं को परिचित किया होगा।

जो संकट सामने था उसका सामना करने की तैयारी महाराणा ने तत्काल आरम्भ की।

## मेवाड़ में मंत्रणा

'राणा रासौ' में आया है, "खुमान पद महाराणा की भू-सीमा में अकबर के आगमन का शोरगुल छाते ही हिन्दुओं के सिरताज (राणा) ने हँसकर युद्ध के लिए आदेश दिया। राणा ने कहा कि मैं सूर्योदय होते ही शत्रु-सेना को नष्ट कर दूंगा। परन्तु उसके पांचों प्रधानों ने 'यह समय आपके योग्य नहीं है' कहकर मना कर दिया। उन्होंने कहा, 'हे एकलिंग के दीवान! आप तो देव रूप हैं। जल की रक्षा जलाशय ही करते हैं। अतः हम दुर्ग में रहते हुए अन्त में बाहर आकर असंख्य यवनों को मसल देंगे। पांडवों ने कौरवों के साथ जो व्यवहार किया था वही आपको करना चाहिये, पांडवों ने पृथ्वी छोड़कर (अज्ञातवासी होकर) समय आने पर ही दुष्टों का संहार किया था। अभी आप यहां से अन्यत्र चले जाइये और मौका आने पर शत्रु का सामना कीजियेगा। देव-दानव

---

1. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 74
2. स्मिथ, पृष्ठ 79

की ख्याति से स्पष्ट है कि सामर्थ्यवान मौका आने पर आघात करना नहीं भूलते (और आपके लिए भी अभी अवसर नहीं है)।' यह सुनकर संसार के बाहुरूप वीर-शिरोमणि महाराणा कहने लगे, 'मै छंटे हुए (श्रेष्ठ) वीरों की चित्तौड़ दुर्ग में भीड़ लगा दूंगा, तथा यवनों के साथ मै स्वयं जूझकर पृथ्वी को शत्रु-शव से पाट दूंगा।' इस प्रकार मंत्रणा कर महाराणा ने असंख्य राजपूतों को एकत्रित किया।"

चित्तौड़ मे एकत्रित वीरो के नाम और कुल इस ग्रन्थ में विस्तार से दिये गये है। इसी प्रकार शाही सेना के वीरो के नाम भी कवि ने दिये है। फिर युद्ध का वर्णन है। 'राणा रासौ' की परम्परा यह है कि उदयसिंह ने बहुत समय तक स्वयं युद्ध का संचालन किया, "योद्धागण सशस्त्र ही तो सोते थे और सशस्त्र ही भोजन करते थे। हिन्दू और तुर्क दोनो ने हठ पकड़ लिया था, तुर्क तो घेरा नही छोड़ते थे और हिन्दू दुर्ग को सौंपना नहीं चाहते थे। महाराणा अपनी दृढ़ता को छोड़कर दुर्ग दुश्मन को सौंपना नहीं चाहते थे। अपार दल-बल से अकबर ने घेरा डाल रखा था।" चित्तौड़-युद्ध का, उसकी भयंकरता का वर्णन करते हुए कवि कहता है, "सूर्य अस्त होने पर दोनों ओर से छिड़ा हुआ युद्ध बंद हो गया। दोनो दल अपने-अपने डेरो मे चले गये। अनेक योद्धाओ के पैर टूट गये थे। अंग भंग हो गये थे। कई के घावों पर पट्टियां बांधी गयीं। योद्धा-गण अपने-अपने पुत्रों और पत्नियो से मिलकर हंसते हुए कहने लगे—'जितनी हमारी सांसें थीं, वह तो हमने देख ली है, कल युद्ध करके जमीन पर पड़ जाएंगे। आज का मिलन हो गया सो हो गया, अब पुनः ईश्वर के हाथ है। वसंत के आरम्भ (पतझड़) में जिस प्रकार वृक्ष से पत्ते झड़ते हैं, ठीक वैसी ही दशा हमारी होने वाली है—कहीं तो धड़, कहीं शरीर और कहीं पर आत्मा जा बसेगी।'

"प्रधान (मंत्री) तथा अन्य सामन्त आदि सब मन में उपरोक्त बाते सोचकर जहां अनम्र महाराणा उदयसिंह थे वहां गये। उस समय महाराणा का तेज ग्रीष्म के सूर्य के समान था। उनके उस तेज के सामने कौन टिक सकता था? वे सब (सामन्त आदि) राणा के समीप डरते हुए पहुंचे। उन्हें शंका थी कि महाराणा कही दक्षिण से वाम (प्रसन्न से अप्रसन्न) नही हो जाये। उन्होने राज्य के अष्ट-अंग रूप, राणा के समक्ष मस्तक झुकाया, और प्रणाम करके यह वरदान मांगा, 'हे स्वामी! आप संप्रति दुर्ग छोड़ दे। बाद मे शक्ति को सुदृढ़ कर सकोप बादशाह के विरुद्ध बढ़ना चाहिये।' यह सुनकर खुमान पद राणा क्रुद्ध हुए। वे तलवार उठाकर कहने लगे, 'मेरा नाम उदयसिंह है, जिसे सुनकर रुद्र भी प्रसन्न हो जाते हैं। मै शाही सैन्य को नष्ट करता हुआ एवं अकबर को कुचलता हुआ आमिषाहारियो को आमिष से तृप्त कर दूंगा। मत्त गज-समूह को दांत उखाड़कर धरा पर पछाड़ दूंगा, पृथ्वी को रुण्ड-मुण्ड-मय कर दूंगा और शत्रु-पक्ष के योद्धाओ को धराशायी करके युद्ध-स्थल को यज्ञ-कुंड बना दूंगा। वहां चामुंडा नृत्य करने लगेंगी। मैं प्रातःकाल होते ही सक्रोध युद्ध-क्रीड़ा में रत हो जाऊंगा और महाभारत युद्ध मे जिस प्रकार अर्जुन ने ख्याति प्राप्त की वैसे ख्याति प्राप्त करूंगा।' मंत्री

ने कहा, 'हे स्वामी ! सतयुग में हिरण्यकश्यप, त्रेता में देवों पर दाव देने वाला रावण, द्वापर में राजा शिशुपाल, जरासंध, काल यवन, केसी, कंस, अघासुर एवं वकासुर आदि दमन-कर्ता हुए। उन्होंने देवताओं को बहुत दुःख दिया। जब दुखी होकर देवता अपने-अपने लोक छोड़कर पृथ्वी पर अवतरित हुए तब देवाधिदेव विष्णु ने अवतार लेकर छद्म युद्ध किया और छल से उन्हें छिन्न-भिन्न कर दिया। भगवान रामचन्द्र ने सीता-हरण को सहनकर वर्ष विताया, और फिर साम-दाम-दंड-भेद नीति से शत्रु (रावण) को सवंश नष्ट किया। जरासंध के भय से भगवान कृष्ण भी जलधि में रहने लगे थे, और मौका आने पर अर्जुन सहित भिक्षु-रूप लेकर विविध उपायो से भीम द्वारा उस (जरासंध) का नाश करवाया। इसी प्रकार अखिल लोक के स्वामी होकर भी काल-यवन को देखकर कृष्ण भाग गये, और मुचकंद को अपना पीतांबर ओढ़ाकर उस (काल-यवन) के पंचतत्वमय शरीर को नष्ट करने के लिए प्रपंच रचा। हे भगवान एकलिंग के दीवान ! आप भी इसी प्रकार (परिस्थिति के अनुरूप) कुछ समय के लिए दुर्ग छोड़ दें, और अपने (शेष) भू-भाग मे घोड़े पर चढ़ कर विचरण करें : इधर सब धीर वीर सामन्त भिड़कर दुर्ग की रक्षा करेंगे, चाहे उन्हे अपने मस्तक भी देने पड़े। संप्रति यही मंत्रणा यहां उचित है। दिल्लीपति की सेना से सब सामन्तों के भिड़ने मे ही उन्हें एकमात्र अतुल्य एवं उच्च यश पृथ्वी पर प्राप्त हो सकेगा।' यह निवेदन करके सबने राणा को प्रणाम किया। राणा ने भी उन सबकी ओर सुदृष्टि से देखा और कहा, 'शाही सेना पर छापामार आक्रमण किया जाये तथा सब सामन्त एक शक्ति से मिलकर जुटकर शत्रुओ को रोक दें। इसके वाद युद्ध की जैसी स्थिति होगी वैसा किया जायेगा।'[1]

यह वर्णन महाराणा उदयसिंह के लगभग सौ वर्ष वाद लिखा गया था। यह वड़े विस्तार से है। इसका यह तथ्य विवादास्पद हो सकता है कि उदयसिंह ने चित्तौड़ कब छोड़ा, परन्तु किन परिस्थितियो में उसे ऐसा करना पड़ा इसका अच्छा आभास मिलता है, मालूम पड़ता है कि मेवाड़ में चित्तौड़-त्याग के कारण उदयसिह की अपकीर्ति की परम्परा कम से कम 'राणा रासौ' के समय तक प्रचलित नही थी।

उदयसिंह द्वारा चित्तौड़-त्याग को लेकर 'अमरकाव्य' में दो कल्पनाएं की गयी है। यह ग्रन्थ उदयसिह की सात पीढ़ियो वाद लिखा गया था, अतएव इसकी बातों पर कवि की कल्पना ही नहीं समय की पड़ते भी चढ़ी हुई थीं। फिर भी, जो तर्क इस ग्रन्थ में दिये गये हैं वे विचारणीय हैं।

एक तो यह कि उदयसिह ने अपने सामन्तो से मन्त्रणा की कि 'जव म्लेच्छपति चित्तौड़ के किले को घेर लेगा तब उसके निकट आ जाने पर उसकी सेना को धोखा देकर और तड़पाकर मै उस सेना का नाश करवा दूंगा। ऐसी स्थिति में वह किंकतर्व्य-विमूढ़, अति चंचल और अस्थिर वुद्धि होकर किले के वाहर ही पड़ा रहेगा, वांछित कार्य की सिद्धि मे उसे संदेह हो जायेगा'। इसका अर्थ यह हुआ कि यह मानते

1. 'राणा रासौ', पद 172, 173, 188, 204-210

हुए कि अकबर का मुख्य लक्ष्य महाराणा को पकड़ना या मारना ही है, उदयसिंह ने अपने को चित्तौड़ से इस उद्देश्य से हटा लिया था कि अकबर का लक्ष्य दुर्ग न रहकर वह पहाड़ी तथा जंगली प्रदेश हो जाये जहां उदयसिंह चला गया था, और वहां उदयसिंह उसे उलझाये रहे और उसकी सेना को क्षति पहुंचाता रहे। यहां तीनो विशेषणों का बड़ा सार्थक उपयोग किया गया है। आशा यह की गयी थी कि ऐसा होने पर अकबर चित्तौड़ पर चढ़ाई नहीं करेगा, चित्तौड़ भी बच जायेगा और उदयसिंह भी। सैनिक चातुर्य की दृष्टि से उदयसिंह चित्तौड़ से हटा था। कवि कहता है, "इस प्रकार महाराणा उदयसिंह ने 'दैव-बल के कारण और कलियुग के प्रभाव से म्लेच्छ सेनाओं के बारे में इस प्रकार सोचा और (चित्तौड़ मे स्वयं लड़ने की) तैय्यारी नहीं की।"

'अमरकाव्य' की दसरी कल्पना यह है, "एक यह भी विचार हुआ कि दिल्लीश्वर की सेना बहुत कम है और चित्तौड़ का किला बहुत टेढ़ा है, अतएव चित्तौड़ की ओर म्लेच्छ सम्राट नहीं जायेगा। इसलिए यह किया गया कि अनेक वर्षों के लायक गोला-बारूद, बन्दूक, अस्त्र-शस्त्र, वस्त्र आदि का संग्रह चित्तौड़ के किले पर सुरक्षित रख दिया गया, और मेड़तिया राठौड़ जयमल्ल, सीसोदिया वंश में उत्पन्न रण प्रचंड चूड़ावत पत्ता तथा चाह्वाण ईश्वरदास वीर, इन तीन वीरों के अतिरिक्त अन्य एक हजार राजपूतों को किले में स्थापित किया गया। अपने पहाड़ी देश में तथा कुम्भलगढ़ किले में निवास करते हुए महाराणा अनेक प्रकार के पूजा-कार्यों, दान कार्यों तथा देवताओं की सेवा में व्यस्त रहते हुए वहीं से अपने राज्य का शासन करते रहे। किन्तु संवत् 1624 में 'दैववश' अकबर चित्तौड़ की तलहटी में आ गया।" इसका अर्थ यह हुआ कि आरम्भ में अकबर द्वारा अपनी सेना की संख्या स्वल्प रखने के कारण उदयसिंह भ्रम में पड़ गया था। शाही सेना की संख्या जितनी दिखी उतनी का सामना करने का चित्तौड़ में समुचित प्रबन्ध करके ही उदयसिंह ने चित्तौड़ छोड़ा था।

इतिहास-पुस्तकों में प्राप्त विवरण भिन्न प्रकार का है।

मेवाड़ में यह परम्परा पुरानी थी कि महत्वपूर्ण राजकीय निर्णय शासक अकेला नहीं करता था, सामन्तों, अधिकारियों, नागरिको और राजकुमारों की एक परिषद होती थी जो अपना अभिमत महाराणा के सामने प्रस्तुत करती थी, और महाराणा से उसी के अनुसार कार्य करने की अपेक्षा की जाती थी। इसी परम्परा के कारण मेवाड़ में शासक और शासित के बीच इतनी मजबूत कड़ियां बन सकीं कि मेवाड़ कई बार भटकने और गिरने से बच गया। मेवाड़ को बचाने के लिए जन साधारण ने कष्ट कम नहीं उठाये, बलिदान कम नहीं किये, परन्तु मूल निर्णय मे उनके नेताओ का अभिमत सम्मलित होने के कारण सामन्त, सैनिक और जनता में से किसी ने प्रयत्न और साहस में कभी कुताही नहीं दिखायी। सदा एकमत और एकजुट होकर सबने आगत आपत्ति का सामना किया।

अकबर का आक्रमण सन्निकट जानकर उदयसिंह ने इस परिषद को आमन्त्रित किया। 'वीरविनोद' के अनुसार जो लोग इस ऐतिहासिक अवसर पर उपस्थित थे उनके नाम इस प्रकार हैं—मेड़ता के राव वीरमदेव का बेटा जयमल्ल राठौड़ (जो अब

मेवाड़ में बदनोर का जागीरदार था), सलूंबर के रावत साईदास चूंडावत, रावत साहिब-खान चहुवान, राजराणा सुलतान, ईसरदास चहुवान, चूंडावत पत्ता, राव बल्लू सोलंखी और डोडिया सांडा आदि सरदार और महाराजकुमार प्रतापसिंह, शक्तिसिंह आदि। "जब महाराणा ने पूछा कि अब किस तरह लड़ना चाहिये ? तब सब सरदारों ने अर्ज किया कि 'पृथ्वीनाथ ! राज्य का बल खजाना व राजपूत है, और पहले गुजराती बादशाहो की लड़ाइयों में उसके घट जाने से रियासत कमजोर हो गयी है; इसलिए बादशाह अकबर से मुकाबला करने में बरबादी के सिवाय फायदे की कोई सूरत नहीं दिखायी देती। अब यही उचित है कि हम लोग किले मे रहकर बादशाह से लड़े और आप अपने महाराजकुमार व रणवास समेत पहाड़ों मे चले जाये।' तब महाराणा ने फरमाया कि हम किले में ही रहे और रणवास व कुंवर पहाड़ों में चले जाये। इस पर महाराजकुमार प्रतापसिंह ने अर्ज की कि हुजूर तो पहाड़ो में पधारकर फिर भी लड़ाइयां कर सकते है, और हम जवान है इस वास्ते पहली लड़ाइयों में हमको ही तैनात कीजिये, जैसे कि अगले महाराणाओं ने भी किया था। इस पर सब सरदारो ने अर्ज की कि 'हजूर रणवास व कुमारो समेत पहाड़ो में सिधारे, क्योकि पीछे भी तो आराम से राज्य करने का समय नही है, मर-मार कर हम लोगों का बदला व अपना राज्य लेना होगा', निदान यही सलाह ठहरी।"[1] महाराणा के साथ 'सेवार्थ' जाने के लिए रावत नेतसी तथा कुछ अन्य सरदार नियत किये गये।

जेम्स टाड ने उदयसिंह को इस निर्णय के कारण 'कायर' कहा है, "मेवाड़ के बुरे दिन, जिनका आरम्भ सांगा की मृत्यु होते ही हो गया था, और जिनकी गति रत्न (सिंह) के तीव्र पराक्रम और विक्रमादित्य के अस्थिर व्यवहार के कारण तेज हो गयी थी, उसके (मेवाड़ के) इतिहास की एक विडंबना के कारण खुलकर दिखने लगे—सीसोदियो के भाग्य का संचालन करने के लिए जारज का उत्तराधिकार एक कायर को प्राप्त हुआ। रत्न (सिंह) और उसके भाई के अवगुण इस शारीरिक अभाव की तुलना में गुण ही थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि एक महान राष्ट्रीय भावना चूर-चूर हो गयी, मेवाड़ की अविजेयता की भावना।"[2]

---

1. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 75
ठीक इसी तरह की मन्त्रणा और निर्णय विक्रमादित्य के समय मे, जब चित्तौड का दूसरा साका हुआ था, करना पडा था। "देवलिये का रावत बाघसिंह, साईदास रत्नसिंहोत (चूंडावत), हाडा अर्जुन, रावत सत्ता, सोनगरा माला, डोडिया भाण, सोलंकी भैरवदास, झाला सिंहा, झाला सज्जा, रावत नरबद आदि सरदारो ने मिलकर सोचा कि बहादुरशाह के पास सेना बहुत अधिक है और हमारे पास किले मे लडाई का या खाने-पीने का सामान इतना भी नही है कि दो-तीन महीने तक चल सके। इसलिए महाराणा विक्रमादित्य को तो उदयसिंह सहित बूंदी भेज दिया जाये और युद्ध समय तक देवलिये के रावत बाघसिंह को महाराणा का प्रतिनिधि बनाया जाये। ऐसा ही किया गया।" ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 710
रावत बाघसिंह दीवाण (महाराणा) का प्रतिनिधि बना, जिससे उसके वंशज दीवाण (देवलिये दीवाण) कहलाते रहे।
2. जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 255 स्मिथ तथा विनियोन ने भी अकबर पर लिखे अपने ग्रन्थो में इसी प्रकार के विचार प्रकट किये है।

अपने राज्य के विशिष्ट लोगों की सम्मति किन परिस्थितियों में उदयसिंह मानने को विवश हुआ, यह हम देख चुके हैं। परन्तु जेम्स टाड रह-रह कर इसके लिए उदयसिंह की निन्दा करता है—"राणा की आयु इतनी हो गयी थी कि वह दुर्भाग्य की उपादेयता का दार्शनिक विवेचन बखानने लगा, और यद्यपि चित्तौड़ की रक्षा करते-करते 'महान पूर्वजों में से सबसे अच्छे' अपना बलिदान कर चुके थे फिर भी ऐसे व्यक्तियो की कमी नहीं थी जो उसकी बुद्धि मे उचित और महान विचार प्रतिष्ठापित कर सकते थे, परन्तु उसकी बुद्धि तो उस सामान्य चरित्र से निर्मित थी जो दूसरों के द्वारा नियंत्रित होने के लिए आतुर रहता है।"[1] "चित्तौड़ का पतन हो गया। वह जादू खत्म हो गया; गहलोत राजवंश का निरन्तर शासन का जो रहस्य-सा संबंध चित्तौड़ के साथ चला आ रहा था वह सदा के लिए टूट गया। उदयसिंह के साथ वह 'मुग्धकारी मुख' भी छोड़ भागा जिसने रात के अंधेरे में समरसी की आंखें खोल दी थीं, और उससे कहा था 'हिन्दुओं का गौरव बिदा ले रहा है': उसके साथ वह मन का विश्वास चला गया, जिसने युगो-युगो से उसकी (चित्तौड़ की) दीवारो को जाति की रक्षा की सामर्थ्य से सम्पन्न कर रखा था, जिसने उसे (चित्तौड़ को) धर्म तथा राजपूतों की स्वतन्त्रता के संरक्षक के गौरव से अभिमंडित कर रखा था।"[2]

जेम्स टाड के अभिमत को 'वीर विनोद' में खंडित करने का प्रयत्न किया गया है, "कर्नल टाड साहब के लिखने के अनुसार बहुत कायर भी नहीं थे क्योंकि उन्होंने लड़ाइयो में अक्सर बहादुरी का काम किया।" विश्लेषण के रूप में 'वीर विनोद' ने कहा है, "इन महाराणा के मिजाज (स्वभाव) में स्थिरता बहुत कम थी और ये अक्ल व बहादुरी में अपने बाप महाराणा सांगा से चौथे हिस्से भी नहीं थे परन्तु विक्रमादित्य से अच्छे थे इसलिए इनकी निन्दा नहीं हुई।"[3] उदयसिंह की 'अस्थिरता' का एक भी उदाहरण 'वीर विनोद' ने नहीं दिया है, और सांगा के चौथे हिस्से भी नहीं होने की बात सम्मति मात्र मानकर छोड़ी जा सकती है, दोनो के समय की परिस्थितियो के आधारभूत अन्तर को ध्यान में रखकर विचार करना होगा। परन्तु उदयसिंह की चित्तौड़ छोड़ने के कारण 'निन्दा नहीं हुई', इसे अन्य इतिहासकारों के अभिमत के उत्तर में प्रस्तुत करना आवश्यक है। यदि ऐसी मेवाड़ में प्राचीन परम्परा होती या पुरानी पुस्तकों में इसका उल्लेख मिलता तो 'वीर विनोद' मे इसे अवश्य सम्मिलित किया जाता।

डा. ओझा ने लिखा है, "चित्तौड़ से दूर पहाड़ों से सुरक्षित प्रदेश में उदयपुर बसाकर उसने दूरदर्शिता का परिचय दिया।" परन्तु इस 'दूरदर्शिता' के उपयोग को उन्होंने निन्दनीय (!) माना है। उन जैसे इतिहासकारों ने तत्कालीन परिस्थिति का ध्यान रखे बिना, उदयसिंह के कार्यो के पूरे फलितार्थ की विवेचना किये बिना, मेवाड़

---

1 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 258
2 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 259
3. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 86

में कोई विपरीत परम्परा नहीं होते हुए भी, कहना शुरू कर दिया, "उदयसिंह एक साधारण राजा हुआ—न वह बड़ा वीर था और न राजनीतिज्ञ। प्रारम्भिक जीवन विपत्तियो मे बीतने पर भी उसने उमसे कोई विशेष शिक्षा न ली। अकबर ने राजपूतो के गर्व और गौरव रूप चित्तौड़ के किले पर आक्रमण किया, उस समय 46 वर्ष का होने पर भी वह अपने राज्य के रक्षार्थ, क्षत्रियोचित वीरता के साथ रण में प्राण देने का साहस न कर, पहाड़ों मे जा रहा।"[1]

जेम्स टाड के भावनापूर्ण और शब्द-समर्थ वर्णन ने सभी के चिन्तन और लेखन को आच्छादित कर दिया है, 'वीर विनोद' जितना विवेक भी आधुनिक लेखको ने नहीं दिखाया है।

इतिहासकारो के लिए यह कहना आम बात हो गयी कि "महाराणा उदयसिंह साधारण नरेश थे। उनमे अपने पिता सांगा की जैसी बहादुरी और नीतिज्ञता नहीं थी। समय पड़ने पर वह शत्रु का मुकाबला नहीं कर सकते थे"।[2] "राणा उदयसिंह मे अपने सुप्रसिद्ध वीर पिता राणा सांगा का सा न तो साहस था और न वैसी युद्ध कुशलता ही। अतएव चित्तौड़ पर अकबर की चढ़ाई की सूचना मिलने पर उसके सरदारों तथा सेनानायको की सलाह मानकर इस बार भी वह सकुटुम्ब चित्तौड़ का किला छोड़कर चल दिया। ......राणा उदयसिंह के साथ ही साथ राजपूत स्वाधीनता के एकमात्र प्रतीक, त्याग और बलिदान के पुण्य-पवित्र तीर्थ, चित्तौड़ के उस ऐतिहासिक दुर्ग की वह चिरकालीन राज्यश्री भी वहां से सर्वदा के लिए विदा हो गयी।"[3] "मेवाड़ के राजपूत अपने शौर्य और सामरिक प्रतिभा के लिए प्रसिद्ध थे। भाग्य वास्तव मे (उनके प्रति) अनुदार था जबकि उनकी स्वतन्त्रता पर आये सबसे कठिन संकट के समय राज्यारोही राणा, उदयसिंह, ऐसा आदमी निकला जो मुगल सेना तथा अकबर के सेनापतित्व का सामना करने मे सर्वथा क्षमताहीन ही नहीं था, अपितु ऐसा कायर भी था कि उसे राजपूत कहना ही उचित नहीं लगता।"[4] "श्रेष्ठ पिता के अयोग्य पुत्र, राणा उदयसिंह की अराजोचित दुर्बलता ने मुगल (सम्राट) की महत्वाकांक्षी योजना को सुगम कर दिया।"[5] "अभागा है वह देश, जिसकी आपत्ति के समय मे मुखिया भाग जाते हैं। बारूद से शून्य किला बच सकता है, पर किलेदार से शून्य किला नहीं बच सकता। राणा संग्रामसिंह तो अपनी राजधानी से बहुत आगे जाकर सीकरी के मैदान मे शत्रु से भिड़ते हे; परन्तु उनका पुत्र अभेद्य दुर्ग को छोड़कर भाग जाता है—जब भाग्य फूटते हैं, तब ऐसे ही संयोग मिला करते हैं।....उदयसिंह का भागना केवल एक ही दशा में क्षन्तव्य हो सकता था। यदि वह चित्तौड़गढ़ से बाहर जाकर अकबर की सेनाओं के रास्ते बन्द कर देता,

---

1. ओझा, राजस्थान, पृष्ठ 734
2. गहलोत, पृष्ठ 228
3. रघुबीरसिंह, राजस्थान, पृष्ठ 46
4. बिनियोन, पृष्ठ 68
5. स्मिथ, पृष्ठ 83

या उन्हें इतना तंग करता कि भागना पड़ता, तो राणा का चित्तौड़ को छोड़ जाना समझ में आ सकता था, परन्तु उदयसिंह ने बाहर जाकर जो कुछ किया, उसे देखते हुए यही कहना पड़ता है कि राणा सांगा के पुत्र ने रण से भागकर अपने पिता के नाम को कलंकित किया। जिस चित्तौड़गढ़ से मेवाड़ का ही नहीं राजपूताने का मान था, देश के अनमोल मोतियों का लहू जिसकी रक्षा में पानी की तरह बहा था, और वह रहा था, उदयसिंह ने उसके ध्वंस को देखा, और केवल अपनी चमड़ी बचाने पर सन्तोष किया। इससे अच्छा होता कि स्वनामधन्य जयमल्ल और पत्ता की तरह वह भी चित्तौड़ की मान रक्षा के लिए बलिदान हो जाता। यह भी असम्भव नही कि वह गढ़ मे रहकर उसकी रक्षा कर सकता। राणा की उपस्थिति राजपूतों के बल को सौगुना कर देती। यह ठीक है कि वह यदि चाहता तो बाहर से चित्तौड़ की बहुत सहायता कर सकता था, परन्तु उसने जो कुछ किया, उसे देखते हुए यही कहना पड़ता है कि उदयसिंह बाप्पा रावल के वंश के उज्ज्वल मस्तक पर कलंक के समान था।"[1]

है कुछ अन्तर इसमें और जेम्स टाड के कथन मे? यह उद्धरण उदाहरण मात्र हैं उस 'कभी न मिटने वाली शर्म' और दुर्भाग्य के जो जेम्स टाड से लेकर हाल तक के इतिहासकारो की कलम के कारण उदयसिंह को भुगतना पड़ रहा है। यह कथन न तत्कालिक राजनीति के वास्तविक विश्लेषण पर आधारित है, न सामरिक आवश्यकताओ के अध्ययन पर।

यह सही है कि उदयसिंह ने चित्तौड़ छोड़ा था, परन्तु यह स्थिति उसके सामने पहली बार नहीं आयी थी। उसके भाई विक्रमादित्य के समय में जब चित्तौड़ पर हमले हुए थे, इसी प्रकार महाराणा को सुरक्षित स्थान पर पहुंचाया गया था। फिर, यह केवल मात्र उसका निर्णय नही था। उसके समस्त सामन्त और सेनानायक, सम्मानित नागरिक और वरिष्ठतम राजकुमार जो कह रहे थे उसे न मानकर क्या, उस संकट के समय, उदयसिंह मतभेद फैलाने और एकता तोड़ने का दोषी नहीं होता? परन्तु इस निर्णय का दायित्व मेवाड़ का महाराणा होने के कारण उदयसिंह पर था, और उसी के नाम के साथ यह उत्तरदायित्व सदा जुड़ा रहेगा।

अकबर के चित्तौड़ पहुंचने पर चित्तौड़ की क्या दशा होगी इसका पूर्वाभास करना कठिन नहीं था। तब फिर अवश्यम्भावी पराजय के आगे उस पराजय को पूर्णता नहीं देने का प्रयत्न क्या 'नीतिज्ञता' नहीं थी? इस निर्णय के अनुसार व्यवहार करके उदयसिंह ने आत्मबलिदान की यशस्वी राजपूती परम्परा के विरुद्ध अवश्य व्यवहार किया, इस तरह अपनी कीर्ति को संकट में डाला, परन्तु क्या यह मेवाड़ के हित मे नहीं था, क्या इसी के कारण मेवाड़ को दसो वर्ष की अवधि अपने को उसी अकबर के मुकाबलो में बचाने की नहीं मिल गयी, खुद उदयसिंह के ही समय मे नहीं, उसके पुत्र और पौत्र के समय

---

1. इन्द्र, पृष्ठ 15

में भी ? इस तरह के निर्णय के लिए वहुत वुद्धिमानी और वहुत साहस की आवश्यकता होती है, और उदयसिंह ने उसी का परिचय दिया।

प्रसन्नता की वात है कि कुछ प्रतिष्ठित इतिहासकारों ने इस सवको समझा है, और उन परिस्थितियों का वास्तविक विश्लेषण किया है जिनमें उदयसिंह को यह निर्णय लेना पड़ा था।

'सुप्रख्यात इतिहासवेत्ता' मुंशी देवीप्रसाद को कदाचित् परिस्थिति का विश्लेषण वास्तविकता के आधार पर सवसे पहले प्रस्तुत करने का श्रेय है। उन्होंने कहा है, "केवल चित्तौड़गढ़ में वैठकर लड़ने से उन्होने यह अच्छा समझा कि वाहर रहकर मेवाड़ के दूसरे गढ़ो को सुदृढ़ किया जावे। जव एक वड़ी सेना से किला घिर जाता है तो लड़कर मारे जाने या अधीनता स्वीकार करने के सिवा दूसरा चारा ही नहीं रह जाता है।"[1] स्वयं चित्तौड़ का इतिहास इस तथ्य का सवसे सवल साक्षी था, उदयसिंह ने इस इतिहास के पाठ का वास्तव मे उपयोग किया।

प्रोफेसर रामचन्द्र तिवारी ने उदयपुर से प्रकाशित 'शोध पत्रिका' में 1953-54 मे लगातार तीन-चार लेख लिखकर महाराणा उदयसिंह के पुनर्मूल्यांकन का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। उनका कहना है, "चित्तौड़ का समर्पण उदयसिंह के साहस और दूरदर्शिता का उज्जवल प्रमाण है। यह एक नितान्त एवं हृदयहीन आवश्यकता थी। खानुवा और चित्तौड़ के दूसरे साके को क्षतिपूर्ति के लिए यह जरूरी था।" इसको प्रोफेसर तिवारी ने विस्तार से समझाया है, "महाराणा उदयसिंह को कायर कहने के समान इतिहास में कहीं पर भी अन्याय नहीं हुआ। वहुत-से भारतीय विद्वान इस मत से सहमत हैं। किन्तु इसके लिए कोई ठोस प्रमाण नहीं है। यहां तक कि मुसलमान समकालीन इतिहासकारो से भी इस मत की पुष्टि नहीं होती है।" मौलाना अहमद, निजामुद्दीन अहमद, अवुल् फज्ल, फिरिश्ता, मौलाना हादी आदि से उद्धरण उन्होंने अपने समर्थन में दिये है। "छिप जाने के वजाय राणा उदयसिंह सेना को शिक्षा देकर, उसका नेतृत्व करते हुए, मुगलों को कष्ट दे रहा था। मुगल सेना किसी स्थान पर कब्जा करती तो उस समय मेवाड़ी सैनिक भाग जाते। फिर थोड़े समय के वाद लौट कर आ पहुंचते और आक्रमणकारियो को भगा देते थे। तथा वहां पर पुनः अपना अधिकार स्थापित करने में कभी न चूकते थे। राजस्थान में यह नयी युद्ध नीति राणा उदयसिंह के नेतृत्व का ही फल था, जो उसके पूर्वज राणा हमीरसिंह की आजमायी हुई थी। उदयसिंह ने उस ही नीति का अवलंवन कर शक्तिशाली मुगल वादशाह अकवर का मेवाड़ के पश्चिमी प्रदेश मे कुछ भी प्रभाव न वढ़ने दिया, और वह उसे थाती रूप में अपने पुत्र सुप्रसिद्ध राणा प्रताप को सौंप गया, जिसका पदानुसरण कर उस प्रताप ने महान कीर्ति स्थापित की। उस समय मारो और भागो, यही वीर सैनिको का कर्म था। शत्रु-

---

1. भडारी, पृष्ठ 55

दल पर राणा की धाक जम गयी। अकवर को इस अन्तर प्रदेशीय युद्ध में बड़ी हानि उठानी पड़ी। चित्तौड़ के घेरे के समय होने वाली हानि और इधर यह हानि, इन दोनों ने मिलकर अकवर के उत्साह को घटा दिया।

"उदयसिंह की सामरिक नीति की एक विशेषता यह भी है कि उसने मेवाड़ की वीर प्रजा को एक नया पाठ पढ़ाया, जिसके द्वारा अब मेवाड़ की युद्ध नीति में लड़ाई हारने और युद्ध में विजित होने में अन्तर किया जाने लगा। साथ ही साथ उसने यह भी सिखाया कि राजा का ध्येय युद्ध जीतना होना चाहिये। किसी लड़ाई में हार या जीत के विषय में उसको भावुक नहीं वनना चाहिये।

"इस ही भांति उसने सेनाधिकारियों और सैनिकों को समझाया कि युद्ध अन्त नहीं, साधन है। युद्ध में विजय प्राप्त करना ही प्रत्येक स्वस्थ राज की नीति होनी चाहिये। इस प्रकार राष्ट्रभक्तों का कर्तव्य युद्ध भूमि में प्राणोत्सर्ग नहीं, बल्कि युद्ध में विजयी वनना चाहिये। इस विजय को हस्तगत करने के लिए ही सैनिकों को तथा राजा को विशेष चिन्तित रहना चाहिये और इस चिन्ता को मिटाने के लिए युद्ध के नियमों का पालन करना चाहिये। युद्ध का पहला नियम है, युद्ध स्थल का औचित्य। अगर कोई स्थान सामरिक दृष्टि से योग्य नहीं है तो उस स्थान को छोड़कर किसी अन्य स्थान को युद्ध केन्द्र बनाना, भागना नहीं कहा जाता, यह तो युद्ध-कौशल है। इस प्रकार परिस्थितिवश आगे वढ़ना या पीछे हटना तो विजय लाभ के लिए आवश्यक है। किसी नीति के अन्तर्गत स्थानान्तरण करना और हारकर भाग जाने में वहुत अन्तर है। उदयसिंह के वतलाये हुए युद्ध के अन्तर को मेवाड़ की जनता और सैनिकों ने भली प्रकार से समझ लिया। राणा ने युद्ध में प्राणोत्सर्ग करने के अभिलाषी वीरों को समझाया कि आत्म-वलिदान नहीं, वल्कि शत्रु पर विजय प्राप्त करने की अभिलाषा ही वीरों को शोभा देती है। इस प्रणाली को ही प्रताप अपने जीवनकाल में तथा अपने राजकाल में पालता रहा। यदि इस नीति में थोड़ी भी कायरता की गन्ध होती तो वीरशिरोमणि प्रताप प्राण छोड़ देता पर क्लीव पुरुषों का मार्ग ग्रहण नहीं करता।

"ऐसे युद्ध मे वहुत से तत्व सम्मिलित रूप से काम करते हैं। इसलिए समय इसमें वहुत ही आवश्यक वस्तु है। जितना दीर्घकालीन युद्ध उतना ही अधिक प्रजा में चैतन्यता का प्रसार और उससे भी अधिक राजा को सामरिक उद्योग में प्रजा का सहयोग-दान। यह परिस्थिति वस्तुतः मेवाड़ में उदयसिंह ने ही उपस्थित की।

"मुगल सेना मैदान के युद्ध में एक युद्ध सिद्धान्तानुसार शिक्षित थी। अकवर ने अपनी सेना की इस श्रेष्ठता को ध्यान मे रखकर उदयसिंह को मेवाड़ की सेना सहित एक मैदान की लड़ाई में हराने की चेष्टा की। पर राणा उदयसिंह ने अकवर की चेष्टा का सफल प्रतिकार किया। साथ ही साथ उसको पर्वतीय प्रदेश में युद्ध करने को वाध्य किया, जहां मेवाड़ी सेना शक्तिशाली थी और मुगल सेना कमजोर। इस नयी परिस्थिति से मुगल सेना घवरा गयी।

"चित्तौड़ हस्तगत हो जाने के पीछे ऐसा भी पाया नहीं जाता कि राणा उदयसिंह का पीछा करने के लिए कोई शाही सेना भेजी गयी हो। क्योंकि उदयसिंह ने पहाड़ों मे पहुंच दीर्घकालीन युद्ध की तैयारी कर ली थी, जिसको पार पाना बड़ी कठिन बात थी। उदयसिंह ने चित्तौड़ छूटने के पीछे पर्वतीय प्रदेश के नाकों-घाटों को रोक सुदृढ़ मोर्चाबन्दी कर अपने को अजेय बना लिया था। यही नीति प्रताप ने भी अपनायी, और इतिहास प्रमाण है कि प्रताप के अन्तिम ग्यारह वर्ष शान्तिपूर्वक निकले। अकबर को दूसरी बार मेवाड़ विजय की आकांक्षा छोड़नी पड़ी।

"ऐसा दीर्घकालीन बहुतत्वमयी शीत युद्ध भी होता है, जिसमे सफलता सामरिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्य तत्वों पर निर्भर रहती है। इनमें से कोई भी एक तत्व युद्ध को जीत नहीं सकता। इसलिए इनके समन्वय की आवश्यकता होती है, जिसके लिए नेतृत्व एक महत्वपूर्ण वस्तु है, जो इन भिन्न-भिन्न तत्वों मे सहयोग पैदा करता है, और किसी एक तत्व की कमी को बुद्धिबल से और दूसरे तत्वों से पूरी करता है। इसलिए बुद्धिबल तथा समय कौशल इस प्रकार के युद्ध के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। उदयसिंह मे यह गुण प्रचुर मात्रा मे विद्यमान थे।

"दीर्घकालीन युद्ध को उचित रूप से चलाने के लिए आवश्यकीय धन समस्या को उदयसिंह ने मुगल प्रदेशों पर हमले कर तथा गुजरात और दिल्ली के बीच व्यापार को, जो मेवाड़ की सीमा में से गुजरता था, उसको लूट कर हल की। मेवाड़ की प्राकृतिक रूप रेखा भी इस प्रकार के लिए उपयुक्त थी।

"महाराणा की कूटनीति का परिचय उनके चित्तौड़ परित्याग कर जंगल में सामरिक केन्द्र बनाने की नीति से मिल जाता है। यह नया सामरिक बिन्दु मुगल सेना की जानकारी मे नहीं आया और वे इस गुप्त स्थान का पता भी नहीं लगा सके। महाराणा इस पर्वतीय केन्द्र से युद्ध संचालन सफलतापूर्वक करता रहा, जहां वह सर्व प्रकार से सुरक्षित था। महाराणा प्रतापसिंह और अमरसिंह ने भी ऐसे ही पर्वतीय प्रदेश को युद्ध केन्द्र बनाकर मुगलो से युद्ध किया। इसके पीछे भी अमरसिंह के प्रपौत्र महाराणा राजसिंह (प्रथम) ने इस ही नीति का अवलम्बन किया, जिसके कारण बलवान औरंगजेब को शीघ्र ही मेवाड़ छोड़कर अजमेर चला जाना पड़ा।

"इन बातों का श्रेय यथार्थ में उदयसिंह को ही है, जिसने मुगलों से भावी युद्ध की नीति स्थिर कर, चित्तौड़ पर ही मुगलो के सामने डटकर लड़ मरना रणकुशलता का सूचक न समझा एवं बहुसूत्रता, दीर्घदृष्टिता, नीतिकुशलता और रणचातुर्यता का परिचय देते हुए अकबर को चित्तौड़ दुर्ग पर, आन पर मर मिटने वाले वीर राजपूत जयमल्ल, पत्ता, आदि से उलझा दिया, और यह उदयसिंह के रणकौशल का ही फल है कि वहां प्रत्येक मोर्चा पर ऐसे व्यक्ति नियत किये जिनमें राष्ट्रीय भावना थी। तदनुसार उन्होंने मुगल दल को बड़ी क्षति पहुंचायी और अकबर द्वारा दुर्ग विजय कर लेने पर भी दुर्गस्थित जनता कई भागों में छोटी-छोटी टुकड़ियो में बटकर मुगलों से लोहा

लेने लगी, और जब वह न दबी तो बादशाह कत्लेआम के लिए तत्पर हो गया, जो एक प्रकार से राजपूतों की विजय और मुगल दल की हार इसकी द्योतक ही है। दुर्भाग्य है कि इस प्रकार के वीर महाराणा को उन्नीसवीं शताब्दी से लगाकर अब तक के इतिहासकारों ने 'कायर' शब्द से लांछित किया है। किन्तु सत्य तो यह है कि ऐसा क्रान्तिकारी कदम मनोबलविहीन व्यक्ति कदापि नहीं उठा सकता था। इस कारण से भी महाराणा उदयसिंह कायर नहीं, प्रत्युत् महान सिद्ध होते हैं, क्योंकि क्रांतिकारी कार्य महान नेता समरशास्त्री ही कर सकते हैं।"[1]

डा. गोपीनाथ शर्मा ने भी लिखा है, "राणा द्वारा चित्तौड़ छोड़ने की घटना को लगभग सभी हमारे समय के लेखकों ने राणा की कायरता बतायी है। कर्नल टाड ने तो यहां तक लिखा है कि यदि सांगा और प्रताप के बीच में उदयसिंह न होता तो मेवाड़ के इतिहास के पन्ने अधिक उज्ज्वल होते। परन्तु इस प्रकार की धारणा का कोई आधार नहीं है, जबकि हम मानते है कि किसी समसामयिक मुस्लिम इतिहासकार ने भी राणा के इस कर्त्तव्य की आलोचना नहीं की है। उदयसिंह को कायर या देशद्रोही कभी नहीं कहा जा सकता जिसने बनवीर, मालदेव, हाजीखान पठान आदि के विरुद्ध युद्ध लड़कर अपने अदम्य साहस और शौर्य का परिचय दिया था। उस मध्ययुगीन काल में सामन्तों के विचारानुकूल आचरण न करना अवैध माना जाता था। राणा ने अपनी व्यक्तिगत निन्दा की कोई परवाह न कर मध्ययुगीय परम्परा की ओर [illegible] कर, अपने व्यक्तितत्व को ऊंचा उठा दिया। साथ ही सारी योजना में एक नयी सूझ थी। एक मोर्चा चित्तौड़ में जयमल्ल के नेतृत्व में खोलकर और दूसरा मोर्चा उदयसिंह के तत्वावधान में आरम्भ कर मुगल आक्रमण को विफल बनाने की नयी नीति अपनायी गयी थी, जिसका अधिकांश श्रेय उदयसिंह को दिया जा सकता है। चित्तौड़ छोड़ने के पीछे एक नीति थी और उसमें एक नयी चाल थी। इधर जयमल्ल को अपनी पूर्व पराजय का बदला लेना आवश्यक था, जो उसके चित्तौड़ में रहने से आसानी से लिया जा सकता था। उधर नयी बस्तियों (और नयी राजधानी उदयपुर) की रक्षा करना और पहाड़ों में रहकर मुगलों का मुकाबला करना केवल उदयसिंह के बस की बात थी। यह क्षण ऐसा था जिसमें विचार से कदम रखना आवश्यक था। इस समय दृढ़ता से तथा सामूहिक रूप से सोचने की जरूरत थी। दुर्भाग्यवश हमारे युग के लोग सांगा और प्रताप की उपलब्धियों से इतने प्रभावित हो गये हैं कि उन्होंने उदयसिंह की परिस्थिति पर निरपेक्ष भाव से नहीं सोचा। राणा का इन दोनों महान विभूतियों के बीच पैदा होना ही उसके व्यक्तितत्व के उचित मूल्यांकन में बाधाजनक रहा। [illegible] हमें इस अवसर पर अपनायी [illegible] ध्यान करना चाहिये।"[2]

---

1. आर्य रामचन्द्र जी, निवाणी, पृष्ठ 30, 36, 38, 40
2. गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान,

श्री जे. एम. शेलट ने कहा है, "सीसोदिया कुल के प्रमुख के लिए अवश्य ही यह अप्रिय एवं सम्मान को संकट मे डालने वाला निर्णय था, जिसका गलत अर्थ लगाकर उसकी व्यक्तिगत धीरता तथा नेतृत्व-शक्ति पर आरोप लगाये जा सकते थे। परन्तु राज्य के हितों को अधिक महत्व का मानकर, उदयसिंह ने अपनी निजी प्रतिष्ठा की परवाह किये बिना इसे स्वीकार किया। वह क्षण ऐसा नही था कि निजी सम्मान के प्रश्नों को देश-भक्ति के कर्तव्यों के सामने उठाया जाता। मेवाड़ के सम्मुख संकट था, और उसके सामने के लिए सर्वपक्षीय संयुक्त मोर्चा, और अपने लोगो के निर्णय के आगे नत-मस्तक होकर, प्रतिरोध को सतत चलाये रखने तथा मेवाड़ के राजसिंहासन की अखंडता की रक्षा के लिए, उदयसिंह चित्तौड़ से गिरवा के लिए चल दिया। बाद की घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि यह निर्णय बुद्धिमत्तापूर्ण एवं आवश्यक था।"[1]

सबसे बड़ी बात यह है कि क्या इतने यत्न से उदयपुर ऐसे ही वक्त के लिए नहीं बसाया गया था? उदयपुर का निर्माण-कार्य 1559 में आरम्भ हुआ था, और चित्तौड़ पर अकबर का आक्रमण 1567 मे। आठ वर्ष पहले उदयसिंह ने चित्तौड़ पर आने वाले संकट की कल्पना कर ली थी, सारा चित्तौड़ का तब तक का इतिहास इस निर्णय में उसके साथ था, और उसने सोच लिया था कि चित्तौड़ के साथ वह मेवाड़ को संकट मे नही पड़ने देगा। अपने इस तर्क का क्या वह स्वयं सम्मान नहीं करता, 'सामरिक दृष्टि से चित्तौड़ के किले की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ एवं सुरक्षित' एक नया नगर बसाने के अपने प्रयत्न का उपयोग नहीं करता? हमारे देश मे, और विदेशों में, पुराने समय में और आजकल भी, राजधानियां छोड़कर राज्य-रक्षा के प्रयत्न अनेक बार हुए हैं, राजधानियां क्या, बड़ा-बड़ा भूभाग छोड़ दिया जाता है ताकि राज्य का नाम बचा लिया जाये, सारा राज्य फिर से लिया जाये। चित्तौड छोड़कर उदयसिंह ने कोई गलती नहीं की। इसके लिए न उसे कायर कहा जा सकता है, न शौर्यहीन, न देशभक्ति-शून्य।

कुछ इतिहासकारो ने आलोचना की है कि "कदाचित् उसे नहीं सूझा कि वह बाहर से मुगलों को परेशान करके किले के भीतर बन्द लोगों की सहायता कर सकता था।"[2] लगता ऐसा अवश्य है कि बाहर से उदयसिंह को दूसरा मोर्चा खोलना चाहिये था। परन्तु युद्ध की परिस्थिति समझने पर स्पष्ट हो जाता है कि ऐसा उस समय संभव नहीं था। उदयसिंह शाही सेना के आसपास क्या आता, जैसा कि हम आगे देखेंगे, उसे पकड़ने के लिए तो सेना सब तरफ लगा दी गयी थी। यदि उदयसिंह आस-पास होता और पकड़ में आ जाता तो उसके चित्तौड़ से हटने का उद्देश्य ही असफल हो जाता। चित्तौड़ के चारों ओर भूमि समतल मैदान होने के कारण गुरिल्ला युद्ध के अनुकूल नहीं है। मेवाड़ के पर्वतीय प्रदेश की सुरक्षा का अवश्य उदयसिंह ने समुचित प्रबन्ध किया था। पहली निष्फल भागदौड़ के बाद बादशाही सेना इधर कोई कार्रवाई नहीं कर सकी।

---

1 शेलट, पृष्ठ 101, 102
2. त्रिपाठी, पृष्ठ 203

चित्तौड़ छोड़ने के पहले उदयसिंह ने उसकी सुरक्षा की सब संभव व्यवस्था की। लगभग 8,000 'अच्छे वहादुर राजपूत'[1] इस काम पर तैनात किये गये। इसमें अनेक सैनिक दृष्टि से वहुत अनुभवी थे। इनमें से वहुत से 'राणा के अपने आदमी थे, जो अपनी पत्नियों और परिवारों के साथ रह गये थे'। 1,000 वन्दूकची उनकी सहायता के लिए रखे गये। ये लोग कालपी की तरफ रहने वाली वक्सरिया मुसलमान जाति के बंगाली पठान थे,जो मुगलों से शत्रुता रखने के कारण चित्तौड़ चले आये थे। इस वात का अंदाज था कि अकवर की सेना वारूद का पूरा प्रयोग करेगी, इसलिए इन बंदूकचियों को चित्तौड़ की घाटियो और प्राचीरों पर इस प्रकार नियुक्त किया गया कि भयानक से भयानक आक्रमण का प्रतिरोध किया जा सके।

चित्तौड़ दुर्ग की कैसे रक्षा की जाये, इस संवंध में भी उदयसिंह ने विस्तृत निर्देश दिये। कौन सेना-नायक कहां का मोर्चा संभालेगा यह विचार-विनिमय के उपरान्त उदयसिंह की उपस्थिति में निर्धारित हो गया। यह आवश्यक नहीं रहा कि संरक्षक सेना का सेनापतित्व किसी एक व्यक्ति को सौंपा जाये। आक्रमण होने पर जिसके लिए जो स्थान पहले से निर्धारित था वह वहीं जा पहुंचा। शाम होने पर सव मिल-वैठकर नयी आवश्यकताओं के अनुसार कर्तव्य निर्धारित कर लेते थे। सारा सैन्य संगठन अंत तक इसी आधार पर चलता रहा।

वहुप्रसिद्ध यह है कि मेवाड़-सेना का नेतृत्व मेड़ता के राजा राव जयमल्ल राठौड़ को दिया गया था।

राजस्थान के गौरव और वीरता से भरे इतिहास में वीरता के उत्कृष्ट उदाहरण के रूप मे जयमल्ल का उल्लेख मिलता है।

मेड़ता के किले के लिए उसने शाही सेना से घमासान युद्ध किया था। जीत की संभावना समाप्त होने पर जयमल्ल ने किला खाली कर दिया[2] और मेवाड़ चला आया, जहां वह स्थायी रूप से वदनोर का जागीरदार होकर रहने लगा। जव उदयपुर निर्माण के दिनो मे महाराणा को वार-वार चित्तौड़ से वाहर रहना पड़ा, जयमल्ल को उसने चित्तौड़ मे रहने के लिए वुला लिया; वहां उसके लिए महल वनवाये गये। इस प्रकार चित्तौड़ के प्रवन्ध में जयमल्ल का पहले से हाथ था। उदयसिंह ने उसे निकट से देखा था, उसकी वीरता तथा क्षमता से वह परिचित था। अतएव कठिन समय में

---

1 परिशिष्ट पहला में 'फतहनामा-इ-चित्तौड' मे वताया गया है कि उदयसिंह ने चित्तौड में अपने चाचा माईदास, जयमल्ल और उदयभान पत्ता को- जो एक-एक हजार घुडसवारो जितने शक्तिशाली थे-पाच हजार 'चुने हुए' राजपूतो, स्वय राणा के एक हजार सैनिको तथा दस हजार अन्य आदमियो के साथ छोडा था। चित्तौड की सरक्षक सेना की सख्या भिन्न-भिन्न स्थानो मे अलग-अलग मिलती है। अवुल् फज्ल ने पाच हजार वताये हैं और निजामुद्दीन अहमद ने सात-आठ हजार। 'वीर विनोद' निजामुद्दीन से सहमत है।

2 - हो सकता है जव उदयसिंह द्वारा चित्तौड़ छोड़ने का प्रश्न विचाराधीन हो जयमल्ल ने अपना यह अनुभव एक तर्क वनाकर प्रस्तुत किया हो।

मेवाड़ की राजधानी की सुरक्षा का भार उसके हाथों में दिया जाता तो ऐसा अनायास या अकारण हुआ नहीं माना जाता। जयमल्ल से उदयसिंह का निकट संबंध भी था। भक्त-शिरोमणि मीराबाई का वह भाई लगता था, स्वयं पहुंचा हुआ कृष्ण-भक्त था। मेड़ता में चारभुजाजी के प्रमुख मंदिर में वह स्थान अभी भी दिखाया जाता है जहां बैठकर वह पूजा किया करता था।

जेम्स टाड ने उदयसिंह और उसके पुत्रों के चित्तौड़ छोड़ने को चित्तौड़ के पतन का कारण बताया है। "सीसोदिया राजवंश की संरक्षिका देवी ने वचन दिया था कि वह अपने गौरव-शिखर को तब तक नहीं छोड़ेगी जब तक बप्पा रावल का वंशधर उसकी सेवा में नियत रहेगा।"[1]

जेम्स टाड का यह कहना सही है कि चित्तौड़ के लिए किये जा रहे 'इस तीसरे और सबसे महान संग्राम' के लिए कोई राजकुल का व्यक्ति वहां नहीं रह गया था, जो अपने बलिदान से चित्तौड़ की रणचंडी को शान्त करता और 'दुर्ग के कंगूरो की रक्षा करके उसके लिए राजमुकुट प्रस्तुत करता'--महाराणा और उसके पुत्र शत्रु के आने के पहले वहां से जा चुके थे। प्रश्न यह है कि इसके बाद चित्तौड़ की संरक्षक-सेना का सेनापतित्व किसने किया ?

डा. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा (1927) से लेकर डा. रघुवीरसिंह (1972) तक प्रायः समस्त विद्वानों ने, और मेवाड़ के इतिहास का विशेष अध्ययन करने वाले डा. गोपीनाथ शर्मा जैसे लेखकों ने, कहा है: 'महाराणा राठौड़ जयमल्ल और सीसोदिया पत्ता को सेनाध्यक्ष नियत कर रावत नेतसी आदि कुछ सरदारो सहित मेवाड़ के पहाड़ो में चला गया',[2] 'चित्तौड़ की रक्षा का भार जयमल्ल मेड़तिया और पत्ता सीसोदिया को सौंपा गया'[3], 'इस प्रकार राजनीतिक एवं परम्परागत बन्धनो से विवश होने पर राणा ने दुर्ग को, उसकी गहरी घाटियों तथा सीधी चढ़ाइयो की सुरक्षा में, जिसे जयमल्ल और पत्ता के नेतृत्व में 7,000 या 8,000 वीर राजपूतों ने और भी दृढ़ कर दिया था, छोड़ दिया।'[4]

जयमल्ल को चित्तौड़ की संरक्षक-सेना का सेनापतित्व सौपा गया था, यह मेवाड़ की प्राचीन परम्परा के अनुरूप नही है। स्वयं जेम्स टाड इसके समर्थन में सबसे बड़े प्रमाण है, "अकबर चित्तौड़ के सामने जम भी नहीं पाया था कि (प्रचलित गाथाओं के अनुसार) राणा को उसे छोड़ने को विवश होना पड़ा, अवश्य ही आवश्यकता और उसकी इच्छा एकाकार हो गयी थी। परन्तु वीर संरक्षकों की चित्तौड़ के लिए कमी नही थी। चूंडा के कुल के अनेक वीरों के दल का नेतृत्व करते हुए साईदास अपने लिए निर्धारित स्थान पर डटा था, सूरजपौल, वही उसने शत्रु का आगमन अवरुद्ध करते हुए वीरगति

1. जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 259
2 ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 724-725
3 रघुवीर सिंह, प्रताप, पृष्ठ 15
4 गोपीनाथ शर्मा, मेवाड़, पृष्ठ 61

प्राप्त की, और वहीं उसकी छतरी उस चट्टान के किनारे खड़ी है जो उसके रक्त से अभिषिक्त हुई थी। 'सांगा के पुत्रों' का नेतृत्व मदारिया का रावत दूदा कर रहा था। बेदला और कोटारिया के सामन्त, दिल्ली के पृथ्वीराज के वंशज, विजोलिया के परमार, सादड़ी के झाला, अपने वीरतापूर्ण उदाहरण से अपने सैनिकों को प्रेरित कर रहे थे : यह सब मेवाड़ के अपने यहां के सरदार थे। देवला का एक पुत्र फिर चित्तौड़ के लिए लड़ने के लिए उपस्थित था, उसके साथ थे जालोर का सोनिगरा राव ईसरदास राठौड़, करमचन्द्र कछवाहा, साथ-साथ थे दूदा साडानी, और ग्वालियर के तंवर राजा : इस अवसर पर यह बाहरी सहायको मे प्रमुख थे।

"परन्तु मेवाड़ के इतिहास के इस तिमिराच्छन्न पृष्ठ पर जो नाम सबसे अधिक आलोकित है, जो अभी भी चारणों और सच्चे राजपूतो द्वारा अत्यन्त पवित्र माने जाते है, और जिन्हें स्वयं अकबर ने अपने शब्दों से अमर कर दिया है, वे हैं बदनोर के जयमल्ल और केलवा के पत्ता के, दोनों मेवाड़ के उच्च सोलह सामन्तों में से थे। पहला मारवाड़ के वीर कुलों में भी परमवीर मेड़ता राजवंश का राठौड़ था, दूसरा चूंडा की एक अन्य उल्लेखनीय शाखा जगावतों का प्रमुख था। जयमल्ल और पत्ता के नाम मेवाड़ में घर-घर में प्रचलित हैं, और एक-दूसरे से कभी अलग नहीं किये जाते, इनका तब तक सम्मान होता रहेगा जब तक राजपूतो में उनकी पैतृकता का थोड़ा भी भाग अथवा उनकी प्राचीन स्मृतियो का एक अंश भी बाकी रहेगा। यद्यपि वे उस प्रोत्साहन से वंचित कर दिये गये थे जो उनके राजा द्वारा उनके कार्यों को देखे जाने से प्राप्त होता, फिर भी इस अवसर पर वीरतापूर्ण कार्य स्वयं आलोकित हो उठे थे।"[1]

जयमल्ल और पत्ता को चित्तौड़ के युद्ध में कैसे प्रमुखता प्राप्त हुई, इसका जम्स टाड ने स्पष्ट उल्लेख किया है। पहले तो उन्होने ऐसे वीरतापूर्ण कार्य किये जो स्वयं आलोकित थे, और सदा सम्मान-योग्य रहेंगे। दूसरे, 'जब सूरजपौल पर सलूंबर धराशायी हो गया, सेना की कमान केलवा के पत्ता के हाथ में आयी', और, आगे चलकर, 'एक गोली जयमल्ल के लगी, जो मेवाड़ के अपने कुलों के सभी लोगों के हताहत होने पर नेतृत्व करने लगा था'।

इस प्रकार स्थिति अत्यन्त स्पष्ट है—जो लोग चित्तौड़ के लिए लड़ने वालो में प्रमुख थे उनमें एक भाग उनका था जिन्हें 'स्थानीय' माना गया था, और दूसरा उनका था जो 'बाहरी' थे : इन दोनों का जेम्स टाड ने अलग-अलग उल्लेख किया है। इनमें प्रमुख थे जयमल्ल और पत्ता, एक 'बाहरी' और एक 'स्थानीय'। असल में इनके नाम पत्ता-जयमल्ल के रूप में लिये जाने चाहिये, लेकिन ध्वनि-सुविधा के लिए यह जयमल्ल-पत्ता के रूप में प्रसिद्ध हो गये हैं, क्योकि जयमल्ल के पहले सेनापतित्व पत्ता ने सम्हाला था—जयमल्ल को तो तब यह भार उठाने को आगे आना पड़ा जब और कोई प्रमुख मेवाड़ी नहीं बचा था।

---

1. जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 260

जयमल्ल को एक बोझ से भी जेम्स टाड ने दवाया है—चित्तौड में युद्ध समाप्त करने का निश्चय उसी ने किया था। पत्ता का उसकी माता और पत्नी के साथ वलिदान हो चुका था। "जव उनकी पत्नियां और पुत्रियां ऐसी वीरता दिखाने लगीं, राजपूत जीवन का मोह छोड़कर टूट पड़े। वे दुर्ग की सुरक्षा काफी समय से किये हुए थे, फिर भी आत्मसमर्पण की कल्पना उनके मन में नहीं उठी थी, जवकि एक गोली जयमल्ल के लगी, जो मेवाड़ के अपने कुलो के सभी लोगों के हताहत होने पर नेतृत्व करने लगा था। दूर से लगे वार से गौरवहीन समाप्ति के विचार से ही उसकी आत्मा विद्रोह कर उठी। उसे स्पष्ट हो गया कि उद्धार की अन्ततः कोई आशा नहीं रह गयी है, उत्तर दिशा की सुरक्षा-व्यवस्था एक दम समाप्त हो गयी थी, और उसने अपने जीवन-कार्य की समाप्ति को महत्ता देने का निश्चय किया। सव कुछ समाप्त करने वाले जौहर के निर्देश हुए, जवकि आठ हजार राजपूतों ने एक साथ आखिरी वार 'बीड़ा' उठाया, और केसरिया कपड़े पहन लिये, दरवाजे खोल दिये गये, विनाश-लीला आरम्भ हो गयी, और गौरवहीन आत्मसमर्पण करके कुल को कलंकित करने के लिए कदाचित् ही कोई बचा।"[1] इसका अर्थ यह होता है कि स्वयं अपने अंतिम समय को महत्ता देने के लिए जयमल्ल ने चित्तौड के सुरक्षा-संग्राम की समाप्ति घोषित कर दी। सदियों वाद और संसार-विश्रुत प्रसिद्धि के वाद यह अवश्य ही अत्यन्त अनुदार आक्षेप है, परन्तु जव सामने आ ही गया है, इसे दवाया नहीं जा सकता। वलिदान के लिए ही सही, ऐसे क्षणो मे इतनी स्वार्थपरता भी आलोचनीय मानी जायेगी। अंततः निर्णय चाहे युद्ध का यही होता, फिर भी आशा और कल्पना की लौ अभी कुछ देर और जलती रह सकती थी।

इस प्रकार चित्तौड़ के यज्ञ की पूर्णाहुति जयमल्ल ने की—कदाचित् इस कारण उसका इतना नाम हो गया है, मुगल सेनानी और लेखक इस प्रकार के निर्णय लेने वाले व्यक्ति को प्रधान सेनापति समझें, इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिये। आश्चर्य इस पर है कि मेवाड़ की परम्परा से और चित्तौड़ के युद्ध के संबंध में प्राचीन विवरणो से अवगत लोगों से भी इस तरह की भूल हो जाती है, और प्रायः सभी इस लकीर को पकड़े रहते हैं।

जयमल्ल की प्रसिद्धि का एक और कारण लगता है। उसे किले के भीतर उस स्थान का मोर्चा सम्हलवाया गया था जिसके सामने वाहर स्वयं सम्राट अकवर तोपें ताने जमा था। इस प्रकार प्रमुख पुरुषो मे जयमल्ल ही वार-वार उसके सामने आया होगा: और स्वयं अकवर की गोलियां जिन लोगों को सीधी लगीं उनमें से सवसे प्रमुख जयमल्ल ही था। जयमल्ल को सेनापति होने की प्रसिद्धि मिल गयी, वास्तव मे वह केवल मात्र लाखोटा दरवाजे के मोर्चा का प्रमुख था, और सारी संरक्षक-सेना के नेतृत्व का भार उसके ऊपर तभी पड़ा जव कोई मेवाड़ी सेनानी यह गुरुतर भार उठाने को शेष नहीं रहा था।

---

1. जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 261

'राणा रासौ' में घटनाक्रम थोड़ा भिन्न है, परन्तु उसके विवरण से यह सिद्ध नहीं होता कि उदयसिंह के चित्तौड़ छोड़ने के बाद दुर्ग-रक्षक सेना का सेनापतित्व जयमल्ल को सौंपा गया था।

इस काव्यकृति मे बताया गया है कि महाराणा उदयसिंह ने चित्तौड़ की रक्षा के लिए 'असंख्य राजपूतों को एकत्रित किया'। इन वीरों में सबसे पहले उल्लेख है 'तलवार के पूर्ण यशस्वी प्रसिद्ध सीसोदिया' वीरों का, और उसके बाद अन्य कुलों के राजपूतों का, 'दुर्ग की दृढ़ता और लज्जा को अडिग रखने वाले वीरों को वहां चुनकर बुलाया गया था।' उनकी लम्बी सूची में ये नाम प्रायः अन्त में आये है—'कमधज्ज जयमल्ल और ग्यारह रुद्र रूप शिव का साक्षात् अवतार सीसोदिया पत्ता'।

कवि ने सजग वीरो के सुसज्जित होने का बड़ा सजीव वर्णन किया है, और युद्ध का वर्णन तो बहुत ही उत्तेजक किया गया है, 'चित्तौड़ में वीरों ने ऐसा युद्ध किया कि नृसिंह अवतार का भयानक दृश्य उपस्थित हो गया।' 'राणा रासौ' के अनुसार उदय-सिंह स्वयं अपनी सेना का पहले नेतृत्व करता रहा। अपने सामन्तो द्वारा विवश किये जाने पर जब वह जाने लगा, 'महाराणा का आदेश पाते ही सर्व प्रथम अनम्र चौहान वीर ईश्वरदास क्रुद्ध होकर शाही दल से भिड़ा और उसे रोक दिया।' आगे और स्पष्ट किया गया है, 'सर्व प्रथम उसने हाथों मे धनुषबाण उठाया और सामना करके हाथियों को नष्ट कर दिया।' जब 'वह शत्रुओ का दमन एवं नाश करता हुआ स्वर्ग चला गया', 'महाराणा का सामंत भोजराज चौहान हाथ मे तलवार उठाकर भिड़ गया'। चौहान भोजराज जब लड़ते-लड़ते धराशायी हो गया तब वीर पत्ता ने क्रुद्ध होकर तलवार उठायी और यवनो 'पर दावाग्नि रूप होकर टूट पड़ा'। वीर पत्ता का युद्ध देखकर 'बादशाह भी धन्य कहने लगा'। 'शुद्ध युद्ध करता हुआ सीसोदिया पत्ता शस्त्राघातों से जब धराशायी हो गया तब राठौर जयमल्ल सोत्साह शत्रुओं को काटने लगा।' जयमल्ल को 'महा-राणा का भयंकर अनम्र वीर' कहा गया है। उसके युद्ध कौशल का वर्णन भी विस्तार से किया गया है, 'स्वयं का स्कंध (कंधा, शरीर) कट गया फिर भी वह वीर धैर्य रखता हुआ आगे बढ़ता रहा। उस वीर जयमल्ल को धन्य है कि उसने अन्त मे मोक्ष प्राप्त किया।' जयमल्ल-पत्ता की प्रशंसा मे एक दोहा अलग से भी है—'जयमल्ल एवं वीर पत्ता ने शत्रु पर विशेष शस्त्राघात किये और उन्हें नष्टकर मुक्ति प्राप्त की', परन्तु दोनों मे से किसी को कहीं दुर्ग-रक्षक सेना का सेनापति नहीं बताया गया है। इस युद्ध में बहुत-से योद्धा लड़कर मारे गये थे; उनमें ये दो भी थे, अवश्य इनकी वीरता विशेष उल्लेखनीय थी। उल्लेख भी कई के साथ, और नाम से जिनका उल्लेख है उनमें सबके बाद किया गया है। जयमल्ल का नाम अंत मे आने से ऊपर बताया अंदाज भी ठीक बैठता है, अन्त में होने के कारण उसी को जौहर और द्वार खोलने के आदेश देने पड़े।[1] परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जयमल्ल युद्ध के प्रारम्भ से सारी सेना का सेनापति था।

---

1. 'राणा रासौ' पद 173, 182, 211–219

'वीर विनोद' में भी कहीं नहीं लिखा कि जयमल्ल चित्तौड़ की संरक्षक-सेना का सेनापति था। 'बादशाह अकबर का चित्तौड़ लेना' शीर्षक के अन्तर्गत[1] उसे 'मेड़ता के राव वीरमदेव का बेटा जयमल्ल राठोड़', 'मेड़तिया राठौड़ जयमल्ल वीरमदेवोत', 'एक सरदार हजारमेखी सिलह पहने', 'मेड़ता के राठौड़ मेड़तिया वीरमदेव के बेटे जयमल्ल, जो राजपूतों में बड़ा नामी सरदार था' अथवा केवल 'जयमल्ल' कहा गया है: कही सेनापति और सेनापतित्व उसके नाम अथवा विवरण के साथ सम्मिलित नहीं है।

चित्तौड़ के संग्राम के दिनो में, दुर्ग के आत्मबलिदान के अतिरिक्त जो सबसे बड़ी बात हुई वह थी 'सुलह की सलाह', न इसके आरम्भ में, न इसके परिणाम पर विचार जब हो रहा था तब, जयमल्ल का जरा भी उल्लेख मिलता है।[2] वह सेनापति होता तो अकबर से सुलह की वार्ता में उसका प्रमुख स्थान होता। 'वीर विनोद' भी, जेम्स टाड की तरह, संग्राम की समाप्ति का दायित्व जयमल्ल पर रखता है, "किले में मेड़ता के राठौड़ मेड़तिया वीरमदेव के बेटे जयमल्ल के घुटने मे, जो राजपूतों में बड़ा नामी सरदार था, बादशाह की गोली लगने से उसका पैर टूट गया, तब जयमल्ल ने सब सरदारो को इकट्ठा करके सलाह की कि अब किले मे खाने-पीने का सामान नहीं रहा इसलिए उचित है कि औरत बच्चों को आग मे जलाकर किले के दरवाजे खोल दिये जाएं और बहादुर राजपूत हाथों मे तलवार ले-ले कर अपनी-अपनी बहादुरी की मुराद को पहुचे।"[3]

'राजप्रशस्ति' में इतना ही उल्लेख हे कि उदयसिंह के योद्धा 'राठौड़ जयमल्ल, महान यशस्वी सीसोदिया पत्ता और सैनिकों सहित वीर ईश्वरदास ने दिल्ली-पति अकबर से युद्ध किया'। जयमल्ल को सेनापति नहीं बताया गया है, तीन योद्धाओं का समान रूप से वर्णन है। 'अमरकाव्य' से भी इसी स्थिति का समर्थन होता है।

सबसे बड़े प्रमाण के रूप में यहां एक ऐसे दस्तावेज का उल्लेख किया जा रहा है जो इसके पहले कभी किसी इतिहास-ग्रन्थ में समाविष्ट नही किया गया। इसे अकबर ने स्वयं लिखवाया था, चित्तौड़-विजय के बाद के पहले पखवाड़े मे। 'फतहनामा-इ-चित्तौड़' के नाम से यह हाल में प्रकाश में आया है। घटनाओं के वर्णन की दृष्टि से ही नही, समस्त चित्तौड़- अभियान की पृष्ठ भूमि को समझने की दृष्टि से भी इसका महत्व है, इसीलिए इसे परिशिष्ट-पहला के रूप में यहां प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमे जहां सैनिक सामने मे जयमल्ल द्वारा वीरता दिखाने का उल्लेख है, उसे स्पष्टतः ('राजप्रशस्ति' और 'अमरकाव्य' के ही समान) 'तीन मे से एक प्रमुख' बताया गया है। इसके बाद इस विषय की समस्त शंकाएं समाप्त हो जानी चाहिये।

---

1. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 73
2 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 77
3. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 80

जैसा कि कहा गया, लगता ऐसा है कि महाराणा उदयसिंह अपनी उपस्थिति में यह निश्चय कर गया था कि चित्तौड़ की रक्षा-व्यवस्था क्या होगी और कौन किस मोर्चा की कमान सम्हालेगा। इस प्रकार सारी सेना का एक लक्ष्य था, चित्तौड़ की सुरक्षा, परन्तु सारी सेना का एक सेनापति नहीं था।

अकबर के आक्रमण का हर तरह सामना करने की दृष्टि से चित्तौड़ में युद्ध सामग्री प्रचुर मात्रा में संकलित की गयी थी। इसमें बड़ी विविधता थी, और चित्तौड़ की सुरक्षा की विशेष विधि का बहुत ध्यान रखा गया था। और वस्तुओ के अतिरिक्त मन-मन भर के पत्थर के टुकड़े गोलो की तरह गोल कराकर रखे गये थे, जिनका उपयोग अग्रगामी आक्रमणकारियो को ध्वस्त और मार्ग-भ्रष्ट करने के लिए किया जाता था। ये गोले बहुत काम आये।

सैनिकों और नागरिकों के लिए दैनिक उपयोग की वस्तुएं तथा खाने-पीने का सामान भी पर्याप्त मात्रा में एकत्रित किया गया था। इनमे नमक का विशाल भंडार भी था।

पत्थर के गोलो के नमूने और नमक का भंडार अब भी चित्तौड़ में देखे जा सकते है।[1]

किले पर निरन्तर बहने वाले झरने भी है, परन्तु इसे पर्याप्त नही मानकर किले के निर्माताओ ने पत्थर-चूने के कई तालाब बनवा रखे है जो बरसात में पूरे भर जाते है। इस कारण किले पर पानी की कभी कमी नही रहती। फिर, उन दिनों बरसात थी। अकबर की चित्तौड़ पर जब पहली नजर पड़ी, पानी बरस रहा था।

उदयसिंह ने इस सबके अतिरिक्त, चित्तौड़ के आसपास से ऐसी सब चीजे हटवादीं या तुड़वादी जिनका उपयोग शत्रु कर सकता था—"उसने आसपास की भूमि को विनष्ट करवा दिया जिससे आक्रमणकारी सेना घास तक नहीं प्राप्त कर सके।"[2] उदयसिंह के बाद उसके पुत्र और पौत्र ने भी इस नीति का अच्छा उपयोग किया। यह नीति इतनी प्रभावकारी रही कि इसका उल्लेख 'अकबरनामा' और 'इकबालनामा' के मुस्लिम लेखकों ने भी किया है।[3]

उदयसिंह ने चित्तौड़ से जाने के पहले इस दुर्ग की रक्षा के लिए जो प्रचुर प्रबन्ध किया था उससे उसकी सैनिक क्षमता और चतुरता प्रकट होती है। इसे उदयसिंह

---

1 गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, पृष्ठ 61

2 (क) दूसरे विश्व युद्ध मे 'स्कार्चंट अर्थ पालिसी' (शत्रु द्वारा पराजित होने की आशका पर सकट-ग्रस्त स्थान छोडने के पहले वहा के प्रतिरक्षा तथा जीवनरक्षा के सब साधनो को अपने हाथो विध्वस करके पीछे हट जाने की नीति) का बडा नाम हुआ।

(ख) गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, पृष्ठ 62

3 इस नीति का उपयोग भारत मे इसके पहले के युद्धो मे भी किया जाता रहा है। 'कान्हडदे प्रबन्ध' मे भी इसका उल्लेख है।

की बुद्धिमत्ता की विजय कहा जायेगा कि चित्तौड़ पहुंचने पर अकबर को उदयसिंह की पूर्व निर्धारित रणनीति का ही अनुसरण करना पड़ा—एक की जगह दो मोर्चों पर लड़ना पड़ा।

## अकबर चित्तौड़ के चरणों में

जैसा कि बताया जा चुका है, अकबर ने धौलपुर से अचानक अपना रुख मेवाड़ की ओर मोड़ लिया। "बादशाह लगातार सेना को बढ़ाता हुआ चल पड़ा। उनके प्रयाण से पृथ्वी समतल हो गयी। सेना की पुकार से सब लोग भागने लगे। बादशाह के भय से स्वयं भय भी नष्ट हो गया। देवालय ढ़हा दिये गये, और उनकी जगह मस्जिदें बनायी जाने लगी।"[1]

अकबर अपनी सेना लेकर धौलपुर से रणथम्भोर जिले के किले शिवपुर के पास पहुंचा। यह किला बूंदी के राव सुर्जण के अधीन था। वहां के लोग शाही सेना का सामना नहीं कर सके और राव सुर्जण का संरक्षण प्राप्त करने रणथम्भोर चले गये। शिवपुर की जीत को अकबर ने 'शुभ शकुन' माना, परन्तु रणथम्भोर से भिड़ना उसने उस समय आवश्यक नहीं समझा—वह अपने लक्ष्य चित्तौड़ से हटना नहीं चाहता था। शिवपुर में 'वफादार सेवक' नजर बहादुर के अधीन अपने आदमी तैनात करके अकबर कोटा पहुंचा। वहां शाह मुहम्मद कंधारी के अधीन शाही सेना तैनात की गयी। अकबर वहां से गागरौन के किले पर पहुंचा। इस तरह हाड़ौती प्रदेश उसने रौंद डाला। परन्तु वह बूंदी से नहीं भिड़ा, जो भी मेवाड़ के अधीन पड़ता था।

गागरौन से चित्तौड़ रवाना होने के पहले अकबर ने अपनी सेना के कई भाग किये। एक सेना मिर्जा-बंधुओ के विद्रोह को कुचलने मालवा भेजी गयी। वह इसकी हिफाजत करना चाहता था कि जब वह चित्तौड़ पर घेरा डाले तब आसपास कोई बड़ा उपद्रव नहीं हो जाये।

जब अकबर गागरौन से चित्तौड़ के लिए रवाना हुआ, उसके साथ सिर्फ तीन-चार हजार घुड़सवार थे। किले को घेरने के लिए जरूरी सामान भी उसके साथ उस समय नहीं था, ऐसा नहीं लगता था कि वह किले पर कब्जा करने की कोशिश करेगा। उसे आशा थी कि उसकी छोटी सेना देखकर महाराणा अपनी सेना के साथ नीचे उतर आयेगा, और उससे मैदान में मुकाबला हो सकेगा।[2] परन्तु उदयसिंह इस तरह की चाल में नहीं आया, जब गागरौन से शाही सेना रवाना हुई वह चित्तौड़ से निकल गया। चित्तौड़ की संरक्षक-सेना के संचालक भी इस चाल में नहीं आये।

अपने आगे-आगे अकबर ने अपने दो ऐसे सेनानियों के नेतृत्व में शाही सेनाएं भेजीं जो इस क्षेत्र से परिचित थे। अकबर फूंक-फूंक कर कदम उठा रहा था। आसफ

---

1 'राणा रासौ', पद 171 अकबर की सेना, सेनानी एव सैनिक प्रयाण का बडा सजीव चित्रण इस ग्रन्थ मे किया गया है।

2. अहमद, पृष्ठ 169

खान के अधीन अग्रिम सेना ने अकबर के पहुंचने के पहले मांडलगढ़ का किला घेर लिया। वहां महाराणा की ओर से तैनात राव बल्लू सोलंकी मुगल सेना पहुंचने के पहले ही किले से हट गया था, और चित्तौड़ जा पहुंचा था। शाही सेना का मांडलगढ़ पर कब्जा हो गया। मेवाड़ की भूमि पर यह अकबर की पहली सीधी जीत थी।

मांडलगढ़ से रवाना होकर अकबर 24 अक्टूबर 1567 को चित्तौड़ के निकट पहुंचा, और उसने चित्तौड़ के उत्तर-पूर्व की ओर, किले से कोई तीन मील दूर, अपना शिविर स्थापित किया। शिविर का स्थान सैनिक दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण था। पांडोली, कावरा और नगरी गांवो मे फैली यह कई मील की मैदानी भूमि तीन ओर से घने जंगलों से और एक ओर गम्भीरी नदी से घिरी थी।

'तारीख-इ-अलफी' के अनुसार 'अकबर ने पहले चित्तौड़ को घेरने के वजाय राणा का पीछा करने का विचार किया, किन्तु दुर्गम पहाड़ियो एवं वनों को पार करने का उसे साहस नही हुआ। जब वह चित्तौड़ के समीप पहुंचा तो भीषण वर्षा के कारण उसे बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा।'

अकबर ने पहली बार चित्तौड़[1] पर जब नजर डाली, 'वर्षा और बिजली की चाकचौंध के मारे कुछ न सूझा'। थोड़ी देर बाद बादल बिखर जाने पर किला दीखने लगा। तब अकबर को अपने लक्ष्य के पूरे दर्शन हुए। 'प्रकृति, कला और ऐतिहासिकता ने मिलकर चित्तौड़ को असाधारण स्वरूप दे रखा था, उससे अकबर बहुत प्रभावित हुआ।'

पैमाइश करने वालो ने चित्तौड़ के किले का चारो ओर से अन्दाज लगाया। अकबर स्वयं किले के चारों ओर 'सावधानीपूर्वक' घूमा। अकबर ने समझ लिया कि बिना दीर्घकालीन घेराबन्दी के किले पर कब्जा नहीं किया जा सकेगा। अतएव किले की घेराबन्दी करने के लिए चारो ओर मोर्चा बनाने का निश्चय किया गया। 'जब मोर्चा बनाने लगे तो किले की मजबूती से बहुत सी आफतें उठानी पड़ीं, परन्तु अपने पक्के इरादे से एक महीने में मोर्चाबन्दी पूरी की।' जब किले के संरक्षको ने देखा कि अकबर के साथ सैनिक थोड़ी संख्या में है, और उनका किला चारो ओर से छः कोस है, उन्होने उपहास में तरह-तरह की फबतियां कसीं। घेराबंदी के अलग-अलग हिस्सो पर शाहंशाह द्वारा अलग-अलग अमीर और बख्शी नियुक्त किये गये और प्रतिदिन नये सैनिक दस्ते पहुंचने लगे। इस तरह थोड़े दिन में किला चारो ओर से घिर गया।

---

1 'तारीख-इ-अलफी' में 'अत्यन्त शक्तिशाली पर्वतीय दुर्ग चित्तौड की सैनिक दृष्टि से सुदृढता का वर्णन किया गया है, और कहा गया है, 'यात्री कहते हैं कि आबाद दुनिया में ऐसा किला दूसरा नही है। इस समय, पर्वत के ऊपर की तीन कोस की सारी जमीन पूरी तरह भरी थी, और लोगो के मकान कई-कई मंजिल एक दूसरे पर चढे हुए थे। दीवालो के ऊपरी कंगूरो पर चढे बड़ी संख्या मे लोग किले की हिफाजत कर रहे थे, और बड़ी तादाद मे फौजी सामान किले मे भरा था। चित्तौड जीतने मे पहली बार मे सफलता नही मिलने पर इसका कारण भी यही बताया गया कि वह बहुत ही सुदृढ था और उसकी सुरक्षा अतिशय कुशलता से की गयी थी।' —अहमद, पृष्ठ 170

किले के चारो ओर सैनिक तैनात हो गये,
जैसे आबाद दुनिया के चारो ओर समुद्र है ।

इधर मोर्चाबन्दी हो रही थी उधर अकबर ने दो तरफ और अपनी सेना रवाना की। उसे आदेश दिये गये कि 'हर तरफ लूटमार की जाये, और प्रदेश की पूरी बरबादी की जाये'।[1]

एक सेना आसफखान ने नेतृत्व में रामपुर भेजी गयी। वहां के 'अच्छे-अच्छे राजपूत' तो चित्तौड़ में आ गये थे, और वहां का राव दुर्गभाण महाराणा उदयसिह के पास पहाड़ों में चला गया था। जो लोग बचे थे उनमे लड़ाई हुई—बहुत-से राजपूत काम आये। सारा प्रदेश बुरी तरह लूटा गया, और तहस-नहस कर दिया गया। रामपुर पर मुगल कब्जा होने के बाद वहां शाही प्रबन्धक रखे गये, और आसफखान चित्तौड़ लौट आया।

हुसैन कुली खान इतना भाग्यशाली नहीं निकला। कांगड़ा की कारगुजारियों के कारण उसे पर्वतीय प्रदेश में सैन्य-संचालन का अनुभव था, अतएव बादशाह ने उसे उदय-सिंह को पकड़ने का भार सौंपा था। उसे 'बड़े भारी लश्कर के साथ' उदयपुर और 'उस प्रदेश के प्रमुख दुर्ग एवं महाराणा के निवास-स्थान' कुम्भलगढ़ की तरफ रवाना किया गया। पहाड़ियां और घाटियां उसने छान मारीं। उदयसिह का कहीं कोई पता नहीं चला। उसका परिवार तो एकलिंगजी के आसपास की पहाड़ियों मे सुरक्षित था, और वह स्वयं मेवाड़ की अधीनता में आनेवाले राजपीपला से बाहरी गिरवा तक संगठन करता घूम रहा था। वह कभी कुम्भलगढ़ में रहता, कभी केलवाड़ा में, कभी गोगूंदा में, तो कभी उभयेश्वर मे। अकबर की बहुत इच्छा थी कि उदयसिह कब्जे में आ जाये, इस तरह वह चित्तौड़ के घेराबन्दी की सामने दीखने वाली दिक्कतों से बचना चाहता था। उसकी इच्छा पूरी नहीं हुई। हुसैन कुली खान जिधर गया उसने लूटमार तो बहुत मचायी, 'उस तरफ के अधिकांश गांव और कस्बे उसने बुरी तरह लूटे और नष्ट किये', वह अपने साथ लूटी सामग्री और कैदी भी बहुत लाया, परन्तु उदयसिंह को पकड़ने में सफलता उसे नहीं मिली। अकबर को तब मजबूर होकर चित्तौड़ से टक्कर लेनी पड़ी।

### आँखों देखा हाल

चित्तौड़ पर हुए मुख्य आक्रमण का आँखो देखा हाल निजामुद्दीन अहमद ने 'तबाकत-इ-अकबरी' मे लिखा है—लेखक स्वयं इस युद्ध में उपस्थित था। मौलाना अहमद ने 'तारीख-इ-अलफी' मे प्रायः इसी प्रकार का वर्णन दिया है। ये दोनो अकबर के अपने इतिहासकार थे, अतएव इनसे अधिक विश्वसनीय कोई नहीं हो सकता, यद्यपि अबुल् फज्ल ने जो कुछ 'अकबरनामा' में कहा है, तथा अन्य समसामयिक इतिहासकारों ने कहा है, वह भी ध्यान देने योग्य है। यह एक ऐसा युद्ध था जिसका आँखों देखा हाल, और अधिकृत विवरण उपलब्ध है।[2]

---

1. निजामुद्दीन, पृष्ठ 326
2. सबसे अधिक महत्व 'फतहनामा-इ-चित्तौड़' का है जो परिशिष्ट-पहला मे दिया जा रहा है।

मोर्चाबन्दी दोनों ओर से चलने लगी।

खुद बादशाह अकबर ने अपना मोर्चा किले की उत्तर की ओर लाखोटा बारी (छोटा दरवाजा) के सामने सम्हाला। किले के भीतर इस स्थान पर जयमल्ल डटा था। दूसरा मोर्चा पूर्व की ओर, सूरजपौल दरवाजे के सामने, टोडरमल्ल और कासिमखान (इसी ने आगरा का किला बनवाया था, इसे अकबर का 'मुख्य यांत्रिक' कहा गया है) को सौंपा गया। किले के भीतर यहां चूंडावत सरदार रावत साईदास तैनात था। तीसरा मोर्चा दक्षिण की ओर चित्तौड़ी बुर्ज के सामने था। इस पर बाहर आसफखान और वजीर खान थे, और भीतर बल्लू सोलंकी के 'अच्छे-अच्छे नामी राजपूत' थे। पश्चिम की ओर भी इसी प्रकार दोनों ओर से पक्का प्रबन्ध किया गया था। किले के भीतर रामपौल, जो-ड़लापौल, गणेशपौल, हनुमानपौल और भैरवपौल पर सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध था। यहां जो वीर नियुक्त थे उनमें से कुछ के नाम हैं—डोडिया ठाकुर सांडा, चहुवान ईसरदास, रावत साहिब खान, राजराणा सुलतान।

शाही सेना के सरदार आलमखान, आदिलखान आदि चित्तोड़ के चारों ओर पहाड़ के नीचे 'दौड़ा-दौड़' करते रहते थे।

सीधे हमलो से किसी तरफ से कोई सफलता नहीं मिली। 'साहसी आक्रमणकारी प्रतिदिन हर ओर से किले के अधिक निकट पहुंचते जाते थे, और शहीद भी बड़ी संख्या में हो रहे थे,' परन्तु 'सुदृढ़ और सफलतापूर्वक संरक्षित' चित्तौड़ के रक्षकों ने मुगल सेना को कहीं से नहीं घुसने दिया। उलटे, मुगल सेना के बहुत-से लोग रोज मारे जाते थे और जख्मी होते थे।

"जलालुद्दीन शाह अकबर की सेना के सैनिकों के शरीर, वचन और नयन थक गये। युद्ध में लगन नहीं रही। निर्भीकता की जगह चिन्ताएं सरस हो (जाग) उठीं। तब बादशाह पश्चिम की ओर मुख करके दस बार तसबी (माला) फेरता हुआ कहने लगा—हे साहिब (ईश्वर), सिरजनहार (सृष्टा), आप सबका गर्व खर्व करने वाले है। शाह ने अधिक चिंतित होकर और पुकार की—हे सबल साई! मेरी पुकार कान लगाकर सुनिये। वाराह के वंधु-सदृश ये हरामी हिन्दू है। युद्ध मे इनसे भिड़ते समय आप मेरी लाज रखना। इस प्रकार लज्जित होकर बादशाह ने दुर्ग की ओर देखा, और सुरंग खुदवाने लगा। ज्यो-ज्यों सुरंग दूर तक खोदी जाती थी और धूल निकाली जाती थी त्यों-त्यो शाह का शरीर प्रसन्नता से फुदकने लगा।"[1]

निजामुद्दीन अहमद ने भी कहा है, "जब घेराबन्दी बहुत लम्बी खिंच गयी (और उससे कोई परिणाम निकलता नहीं दिखा), सारे संसार को मान्य आदेश निकाला गया कि साबात बनाये जाये और सुरंगें खोदी जाये।"

इन परिस्थितियो में तत्कालीन विज्ञान और विकसित रणनीति के अनुसार साबात और सुरंग का सहारा लेने का निश्चय किया गया। साबात जमीन के ऊपर बनाये

1. 'राणा रासो', पद 195, 196

जाते थे, और सुरंग जमीन के नीचे। सावात के लिए थोड़ी जमीन खोदकर दो ओर दिवालें उठायी जाती थीं, और ऊपर से भी वह पाषाण-पंक्तियों से ढकी रहती थीं—एक प्रकार का सुरक्षित मार्ग बन जाता था, जिसमे होकर कारीगर, सैनिक और सामान किले की दीवाल तक सुरक्षित रूप से पहुंचाया जाता था। सुरंग किले की दीवाल के नीचे बनानी होती थी। इसमें बारूद भरी जाती थी। सावात बहुत लंबे बनाने पड़ते थे ताकि किले के भीतर से की जाने वाली मार से कारीगर और मजदूर (जिन्हें सावात और सुरंग बनाने के लिए आगे जाना पड़ता था) बच सकें। कारीगरो और मजदूरों की रक्षा के लिए सैनिक तैनात किये जाते थे।

'तारीख-इ-अल्फी' में बताया गया है कि साबात बनाने के लिए 5,000 कारीगर, खाती, संगतराश, लोहार और जमीन खोदने वाले, जहां मिले वहां से लाकर, एकत्रित किये गये। सावात हिन्दुस्तान के किलों पर कब्जों के लिए खासतौर पर बनाने पड़े थे, चूंकि इस देश के दुर्गो पर तोपें, बंदूकें और अन्य आक्रमणकारी सामान चारो ओर छाया रहता था, और इन्हें सिवा सावात के जीता नही जा सकता था।

चित्तौड़ पर कब्जे के लिए दो सावात बनवाये गये थे। शाही मोर्चा के सामने बनाया गया सावात इतना चौड़ा था कि उसमें होकर दो हाथी और दो घोड़े अगल-बगल चलकर भी आसानी से निकल सकते थे और इतना ऊंचा था कि हाथी पर चढ़ा सैनिक अपना भाला घुमाता निकल सकता था।

चित्तौड़ के लोगो ने साबात कभी नही देखा था, और इसे देखकर वे चकरा गये; फिर भी उन्होने इन पर होने वाले काम को रोकने की पूरी कोशिश की। बहुसंख्यक बंदूकची और तोपंदाज उन पर हमलों मे जुट गये। यद्यपि कारीगरो को बचाने के लिए सावात के ऊपर गाय-भैंसो की खाल की मोटी छत थी, फिर भी कोई दिन ऐसा नहीं जाता था जब कि सौ सवा-सौ लोग जान नहीं गंवाते थे। इन मरने वालो की लाशों को ईंटो-पत्थरो की जगह काम में ले लिया जाता था।

इसलिए या तो लोग मजदूरी पर आते नही थे, या मजदूरी बहुत ज्यादा मांगते थे—"लालच ऐसी बुरी बला है कि एक टोकरे मिट्टी के साथ उन लोगो के बदन की मिट्टी भी उसी पहाड़ी व जमीन में मिल जाती थी। बादशाह ने मिट्टी डालने का भाव चांदी के मोल कर दिया था।"[1] चित्तौड़ जीतने के लिए अकबर की प्रबल इच्छा इससे सुस्पष्ट थी।

अकबर की ओर से सफाई दी गयी है—शाहंशाह अपनी उदारता और न्यायप्रियता के कारण किसी से जबरन काम नहीं लेने देता था, रुपयो और दामो की ढेरियां चारों ओर लगा दी गयी थी, ओर अपनी मेहनत के बदले में जो चाहे जितना धन उठा सकता था।

---

1. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 76

थोड़े ही दिन में एक सावात वनकर दीवाल तक पहुंच गया। यह इतना ऊंचा था कि किले की दीवाल इससे नीची मालूम देने लगी। इसके ऊपर वादशाह के वैठने के लिए एक स्थान वनवाया गया। यहां से वह अपने सैनिको–सेनानियों की वीरता के कारनामे आसानी से देख सकता था, और जव चाहे स्वयं भी युद्ध में भाग ले सकता था।

वादशाह ने दो सुरंगें चित्तौड़ी वुर्ज की तरफ वनवाने का निश्चय किया। इसी वुर्ज के नीचे एक छोटी पहाड़ी है। इस पर सुरंग और मोर्चा वालों की आड़ के लिए मिट्टी डलवायी गयी,[1] और ऊपर तक पेचदार छत्ता वनवाया गया। दो दीवालें पाटकर उनमें तीरकश और खिड़कियां रखी गयीं। इनके अंदर-अंदर ऊपर तक पहुंचकर धावा किया जाता था। यह छत्ता सांप के समान पेचदार होता था। इनमें वनी खिड़कियों से हथियार चलाकर किले तक निशाना लगाने का प्रयत्न किया जाता था।

## नरमी पर भी गरमी

वाहर की खवरे किले के भीतर भी पहुंचती रहती थीं। वहां उपस्थित सामन्तो और सेनानियों ने रणनीति के पहले कूटनीति का उपयोग करने का निश्चय किया। "एक दिन किले के सव सरदारों ने सलाह की कि अगर वादशाह के पास सुलह का पैगाम भेजा जाये, और वह मन्जूर करके लड़ाई से हाथ उठा ले तो वेहतर है, क्योंकि महाराणा तो यहां से पहाड़ों की तरफ चले ही गये हैं और हम लोग नरमी के साथ पेश आकर इस आफत को टाल देवें तो अच्छा हो। यदि वादशाह हमारी नरमी पर भी गरमी का वरताव रखें तो लड़ाई करने में कमी न करेंगे।"[2]

इस सामूहिक परामर्श के अनुसरण में रावत साहिव खान चौहान और डोडिया ठाकुर सांडा को 'सुलह' के वास्ते वादशाह अकवर के पास भजा गया। उनके आने की वात जानने पर अकवर तत्काल उनसे मिला। दोनो सरदारों ने वड़ी ही नम्रतापूर्वक वादशाह को समझाया कि महाराणा तो पहाड़ो मे चले गये हैं, और जो किले मे वचे है उन लोगो ने कोई कसूर नहीं किया है। फिर उन्होने वादशाह को पेशकश (नजराना) देने की भी अपनी तैयारी वतायी, 'जिसको लेकर किले का घेरा उठा लेवें, क्योंकि पहले से वादशाहों का यही दस्तूर रहा है कि पेशकश पाने पर मेहरवानी करते है।'

सुलह का यह संदेश सुनने पर अकवर के अमीरों और सलाहकारों ने भी मेवाड़ी सामन्तों के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेने का वादशाह से निवेदन किया, "जव किले

---

1. मिट्टी लाकर इस पहाडी पर डालना, सामने मे पड़ने वाली वंदूको की मार के सामने, आसान नही था। सोने की मोहरें उनको दीजाती थी जो मिट्टी इस पहाड़ी पर लाते थे। प्रयत्न पहाडी को ऊंचा करने का था ताकि किले पर तोपो से सीधी मार की जा सके। कुछ दिन हुए इस पहाडी पर, जो चित्तौडी कहलाती है, अकवर के समय की कुछ मोहरे मिली थी, जिनको वे दी गयी थी वे वही गोलियो से भुने गये होंगे, उनकी मोहरें यहा शताव्दियो पडी रही, और अव निकली।
2. (क) 'वीर विनोद', पृष्ठ 77
   (ख) ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 726

के भीतर से शांति का प्रस्ताव आया, सम्राट के उच्चाधिकारियों ने इसे स्वीकार करके इस 'अति कठिन कार्य' से हाथ खींच लेने की सलाह दी, परन्तु सम्राट का सम्मान यह सुझाव स्वीकार नहीं कर सका, और उसने किले से हटने के लिए राणा के अपने सामने आने की शर्त को नहीं छोड़ा। यद्यपि उच्चाधिकारी सुदीर्घ संग्राम से परेशान हो चुके थे, और संकटों से भरे इस स्थान से निकलने की कोशिश भी उन्होंने खूब की, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। किले के संरक्षक शाही सेवा के आनन्द से अनभिज्ञ थे, इसलिए वे दीवालों और बुर्जों पर एकत्रित हो गये और उन्होंने बहुत ही सरगर्म संग्राम जारी रखा।"[1] कदाचित् अकबर सोचता होगा कि जो किला बहादुरशाह और शेरशाह के आगे समर्पित हो चुका है, उसके सामने उसे कुछ और ऊंचा पुरस्कार प्राप्त होना चाहिये। वैसे भी, जहां वह आक्रमण करता था वहां के शासक के सामने आकर सिर झुकाये बिना वह चैन नहीं लेता था। मेवाड़ी सरदारों से कह दिया गया, 'राणा के हाजिर हुए बिना यह अर्ज मंजूर नहीं हो सकती।'[2]

महाराणा को उपस्थित करने का वादा न किया जा सकता था, न ऐसा कोई इरादा था। सरदारों ने यही कहा, 'हम लोगों को, जो पेशकश देकर लाचारी करते हैं, जबरदस्ती मारना बादशाही कायदे के खिलाफ है।' अकबर पर न अनुनय का प्रभाव पड़ा, न तर्क का। सुलह की बात समाप्त हो गयी।[3]

परन्तु अकबर पर मेवाड़ी सरदारों के बातचीत करने के ढंग का बहुत ही अच्छा असर पड़ा था। उसने डोडिया सांडा से कहा, 'राणा के आये बगैर लड़ाई तो मौकूफ नहीं हो सकती, लेकिन इसके सिवा जो तुम मांगो दिया जायेगा।' उत्तर मे सांडा ने कहा, 'अब हमको और क्या जरूरत है सो मांगें। जो आप हुक्म देते है तो केवल इतना ही चाहता हूं कि अगर मैं इस लड़ाई में मारा जाऊं तो मेरी लाश हिन्दुओं की रीति से जलवादी जाये।' बादशाह ने इस बात को मंजूर किया, और दोनों सरदार किले को वापस लौट गये।

यहां सबसे ज्यादा ध्यान देने की बात यह है कि अकबर चित्तौड़-विजय से भी अधिक महत्व उदयसिंह की अपने सामने उपस्थिति को देता था। यही एक मुद्दा है जिसने उसका समझौता उदयसिंह के समय में ही नहीं, प्रतापसिंह और अमरसिंह के समय में भी नहीं होने दिया।

---

1. 'अकबरनामा', दूसरा भाग, पृष्ठ 467
2. जोधपुर के महाराजा मालदेव ने अपने पुत्र चन्द्रसेन को अकबर के पास अजमेर भेजा था, परन्तु उसने सुलह नहीं की, इस पर अड़ा रहा कि स्वयं मालदेव को सामने आकर आत्मसमर्पण करना पड़ेगा।
3. फ्रेडरिक आगस्तस (भाग पहला, पृष्ठ 162, पादटिप्पणी) ने अबुल् फज्ल के 'अकबरनामा' के ले. चामर्स के अनुवाद का हवाला देकर लिखा है, आधा-आधा मन के गोले फेंकने वाली अकबर की तोप से तथा दूसरी तैयारी से राजपूत इतने डर गये कि वे संधि करके वार्षिक कर के रूप में एक बड़ी रकम देने को तैयार हो गये, लेकिन 'अकबर की गर्वीली आत्मा ने राणा के बिना शर्त आत्मसमर्पण के अतिरिक्त सब शर्तों को मानने से इन्कार कर दिया। यह विवरण और अधिकृत ग्रन्थों में नहीं मिलता।

दूसरे, जब चित्तौड़ समर्पित हो रहा था तब उसका विनाश करना एकदम अनुचित था। इसी तरह का अनावश्यक एवं अनुचित व्यवहार अकबर ने चित्तौड़ जीतने के बाद वहां के हजारों निरीह नागरिकों को मौत के घाट उतारकर किया। अकबर उन दिनों अपनी मानसिक अवस्था के किस स्तर पर था, यह ध्यान में रखने की बात है।

ऐसे बादशाह से चित्तौड़ वाले और आशा क्या कर सकते थे? अतएव जब दोनों सरदार लौटकर पहुंचे, और उनसे अकबर से हुई बातचीत का हाल मालूम हुआ, लोगों को बहुत आश्चर्य नहीं हुआ—अकबर की तैयारी देखकर वे समझ तो चुके ही थे कि वह बिना चित्तौड़ लिये लौटेगा नहीं। सुलह की कोशिश नाकामयाब करके उसने इस अंदाज को पक्का ही किया। 'तब कुल राजपूतों ने जिन्दगी से नाउम्मेद होकर मरने पर कमर बांधी।'

सुलह की कोशिश का यह प्रकरण आधुनिक इतिहास-पुस्तको में नहीं मिलता। इसका कारण यह भी हो सकता है कि स्वयं महाराणा की इससे सहमति न होने के कारण, बिना उसकी अनुमति के इसको आगे बढ़ाने के कारण, इसे महत्त्व नहीं दिया गया। परन्तु यह प्रकरण 'वीर विनोद' में दिया हुआ है। यह प्रतिष्ठित और विशद इतिहास-ग्रन्थ मेवाड़ राज्य के तत्वावधान में तैयार किया गया था, इसलिए इस प्रकरण के असत्य होने का कोई कारण नहीं लगता।[1] इससे अकबर के मानस पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इससे उसकी अव्यावहारिकता, राजपूतो की व्यवहारवादिता के समक्ष, सुस्पष्ट होकर सामने आ जाती है।

## चित्तौड़ का तीसरा साका

मेवाड़ी सरदारों के लौटते ही अकबर ने आक्रमण का प्रबन्ध और तेज करने का हुक्म दिया। तीनों तोपखाने, उत्तर में लाखोटा दरवाजे के सामने, पूर्व में सूरजपोल के सामने और तीसरा दक्षिण मे चित्तौड़ी बुर्ज के पास तेज किये गये। इन सबकी कमान अकबर ने अपने वीर और विश्वस्त सेनानियो को सौंप रखी थी।

चित्तौड़ के संरक्षक साबातों का बनना बराबर हमले करके मुश्किल किये हुए थे, फिर भी शाही सेवक सुरंगें बनवाने में जुट गये। किले के नीचे कई ओर सुरंगें खोदी गयीं।

इनमें से दो सुरंगें किले के उत्तर की तरफ थीं एक में 120 मन और एक में 80 मन बारूद भरी गयी। उद्देश्य लाखोटा दरवाजे के दोनों ओर की दो बुर्जे उड़ाने का था ताकि वहां से किले में प्रवेश प्राप्त किया जा सके। इस मोर्चा पर बादशाह अकबर स्वयं उपस्थित था, और सारा काम उसकी अपनी देख-रेख में हो रहा था।

सुरंगो के पास शाही सेना के तीन-चार सौ 'साज सामान से सजे सैनिक', 'जो अपना जीवन बलिदान करने को उद्यत थे, और अपने पौरुष तथा वीरता के लिए सुप्र-

1 'फतहनामा-इ-चित्तौड़' में इसका उल्लेख है, परिशिष्ट—पहला।

सिद्ध थे', तैनात किये गये ताकि जैसे ही किले की दीवाल कटे उसमें होकर इतनी जल्दी में अंदर जाया जा सके कि किले की रक्षा करने वाले उन्हें न रोक सकें। परन्तु किले के भीतर सुरंगों में बारूद भरे जाने की बात जब पहुंची, रक्षक सेना ने भी सामने की तरफ अपने सैनिक नियत कर दिये।

दोनो सुरंगें एक साथ दागने का आदेश दिया गया। परन्तु यहां कुछ गलती हो गयी, दोनो सुरंगें एक साथ नहीं उड़ीं। पहली सुरंग के फटते ही किले का एक बुर्ज उस पर चढ़े पचास आदमियों सहित अपनी नींव से उड़ गया। इसकी आवाज 50 कोस तक सुनायी दी, इससे उड़े बड़े-बड़े पत्थर बहुत दूर-दूर तक जाकर गिरे। बुर्ज के उड़ते ही रास्ता हो गया, और तत्काल शाही सेना के 'चुस्त और बहादुर' लोग टूट पड़े। किले के संरक्षकों ने बड़ी संख्या में सामने आकर उन्हें रोकने की कोशिश की। जबकि यह युद्ध अपनी तीव्रतम स्थिति में था, और दूसरी बुर्ज के दोनों तरफ भी दोनो ओर के सैनिक उलझे हुए थे, दूसरी सुरंग अचानक उड़ गयी। 'इससे मित्र और शत्रु एक साथ हवा मे उड़ गये, चारों ओर उनके अंगों की बौछार होने लगी।' एक बार तो ऐसा लगा कि मानवीय अंगों का फव्वारा छूट गया है। बहुत से लोग दीवाल के पत्थरो के नीचे कुचल गये। दोनों ओर हाहाकार मच गया। शाही सेना के कम से कम 500 'विशेषतः चुने गये सैनिक' काम आ गये, जिनमें '20 नामी आदमी बादशाह के पास रहने वाले थे'। इनमें सैयद जमालुद्दीन, मुहम्मदशाह, याजदान कुली, शाह अली एशाक आका, हैयत सुलतान, मुहम्मद अमीन, मिर्जा बलूचबेग, खानबेग और यारबेग के 'शहीद' होने का उल्लेख नाम से निजामुद्दीन अहमद ने किया है। राजपूत पक्ष के भी बड़ी संख्या में लोग काम आये।

एक बार तो चारो ओर धूल और धुआं इतना ज्यादा हो गया कि शाही सेना का चलना-फिरना एकदम नामुमकिन हो गया, धूल, पत्थर, शव तथा मानव अंगों की वर्षा के आगे कई सैनिको की आँखें खराब हो गयीं। 'शत्रु', अर्थात् चित्तौड़ के रक्षक, 'अपनी क्षति छिपाकर अत्यन्त वीरता दिखाता रहा।' इस दुःसह स्थिति ने अकबर के आत्माभिमान को झकझोर दिया, उसकी व्यग्रता चरम सीमा पर पहुंच गयी। फिर भी उसने अपने को संयत किया, वह स्वय आगे आया, और उसने किला जीतने को अपने सैनिकों में नया उत्साह भर दिया। 'इस घटना के उपरान्त किले को जीतने के लिए शाहंशाह की उत्कंठा और उत्साह और भी अधिक हो गया।'

इसके बाद एक सुरंग किले के दक्षिण की ओर के मोर्चा पर उड़ायी गयी, परन्तु इससे किले के 30 आदमी मारे जाने के सिवा कोई बड़ा मतलब नहीं निकला। चित्तौड़ी बुर्ज को, जो पहली सुरंग से उड़ गया था, किले के रक्षको ने एक ही रात में 'पहले माफिक दुरस्त' बना लिया और उसकी रक्षा पर लोग पहले की तरह तैनात हो गये। इसी तरह जहां किला टूटता था, रातो-रात उसकी मरम्मत कर ली जाती थी, और ऊपर

चित्तौड़ दुर्ग—बाहर से

टोडरमल और कासिम खां का मोर्चा

बादशाही सैन्य शिविर

मार्ग

रावत साईदास का सामना

मार्ग

जयमल का सामना

अकबर का पडाव

प्राचीर
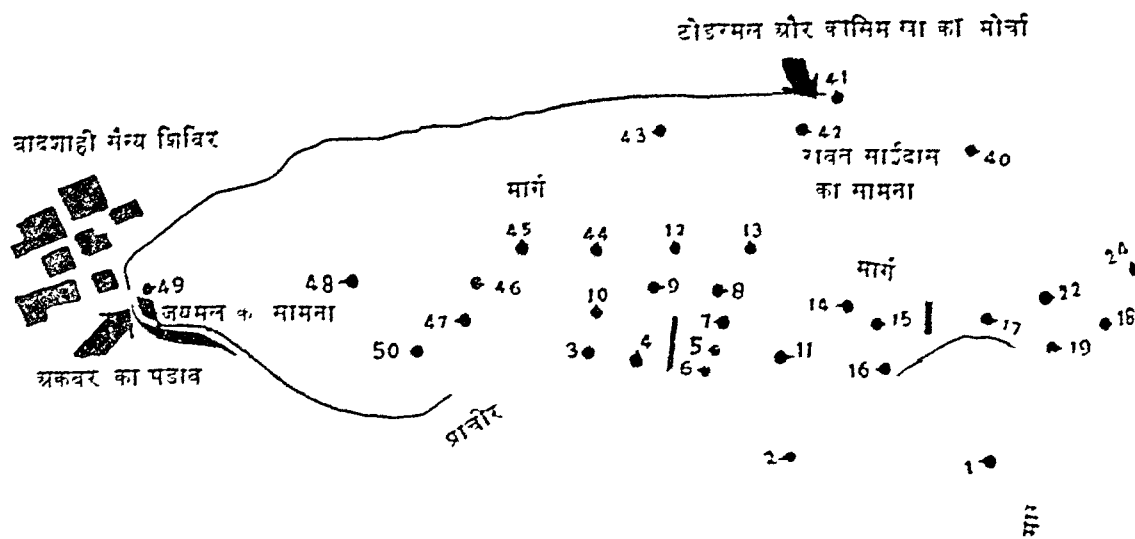
1. रावत बाघसिंह का स्मारक व पाडल-पोल 2. जयमल व कल्ला की छतरियां 3. सिसोदिया

8. पुरातत्व कार्यालय व संग्रहालय 9. पातालेश्वर-मन्दिर 10 भामाशाह व आल्हा कावरा की

15. घी-तेल की बावडी 16. जटाशंकर-मन्दिर 17. विजय स्तम्भ 18. महासती-स्थल

24. जयमल-फत्ता का तालाब 25. कालिका माता का मन्दिर 26. सूर्यकुण्ड 27.

32. चौगान 33 चतरंग तालाब 34. बीकाखोह 35. राजटीला 36

40. अद्बुदजी का मन्दिर 41. चूण्डावत सांईदास का स्मारक व सूर्यपोल 42. नीलक

46. बाणमाता व अन्नपूर्णा का मन्दिर व राघवदेव की छतरी 47. अन्नपूर्णा व बाणमाता के कुण्ड

# चित्तौड़ दुर्ग

त·—
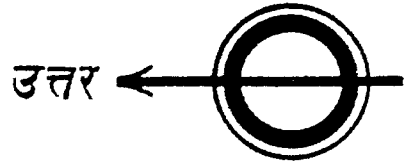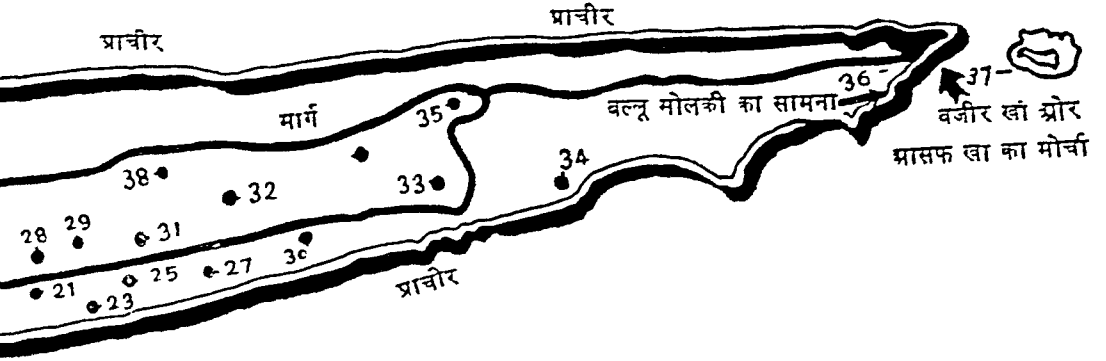
मारक 4 तुलजाभवानी का मन्दिर 5. वनवीर की दीवार 6 नौलखा भंडार 7. शृंगार चौरी
11. कुम्भा के महल 12 फतह प्रकाश महल 13. सातवीस देवरी 14. कुम्भाश्यामजी व मीरा मन्दिर
समीधेश्वर-मन्दिर 20. गौमुख-कुण्ड 21. हाथी-कुण्ड 22. फातणवाव 23. जयमल-फत्ता के महल
की कब्र 28. पद्मिनी-महल 29 खातणरानी के महल 30. रामपुरा की हवेलियां 31. भाक्सी
बुर्ज 37. चित्तौडी मगरी (मोहर मगरी) 38. गोरावादल के गुम्वज 39. भीमतम कुण्ड
का मन्दिर 43. कीर्तिम्तम्भ व जैन मन्दिर 44. विड़ला सराय 45. चारभुजाजी का मन्दिर
ू-श्रहाडा के महल व रतनेश्वर तालाव 49. लाखोटा वारी 50. कूकडेश्वर कुण्ड व कूकड़ेश्वर-महादेव का मन्दिर।

चित्तौड़ दुर्ग—भीतर से

से शाही सेना पर मार जारी रहती थी। कई बार आक्रमणकारियों की मार स्वयं अकबर के इतने निकट तीर और गोली ले आयी कि उसका जीवन समाप्त होते-होते बचा। किले के रक्षकों की वीरता, फुर्ती और सूझबूझ के आगे मुगल सैनिक और सेनानी ही क्या, स्वयं बादशाह भी चकरा गया। फौज के लोग व खुद बादशाह अच्छी तरह जान चुके थे कि 'किला बहुत मजबूत है, और इसमें लड़ने वाले बहादुर है, किले में लड़ाई व खाने-पीने के सामान की कमी नहीं है'।

अकबर को लगने लगा कि चित्तौड़ का किला नहीं जीता जा सकेगा। हो सकता है कि इन घड़ियों में उसने किले पर जीत के लिए अजमेर के ख्वाजा से दुआ मांगी हो, और मन ही मन निश्चय किया हो कि वह जीत जाने पर चित्तौड़ से अजमेर तक की पैदल यात्रा करेगा।

'जयमल्ल वंश प्रकाश' में वर्णन मिलता है कि इस अवसर पर अकबर ने 'लड़ाई के साथ-साथ कूटनीति का भी प्रयोग प्रारम्भ किया'। राजा टोडरमल्ल द्वारा बादशाह ने राव जयमल्ल के पास गुप्त संदेश भेजा कि 'मै कुरान और ईमान की शपथ खाकर कहता हूं कि चित्तौड़ के किले पर मेरा कब्जा करा दोगे तो आपका पैतृक राज्य मेड़ता तथा उसके अतिरिक्त और भी बहुत-सा प्रदेश प्रदान कर दूंगा'। इस संदेश को सुनकर 'वीर जयमल्ल का मुख क्रोध से प्रज्वलित हो उठा'। उसने राजा टोडरमल्ल से कहा कि बादशाह को कह दिया जाये, 'भारत में राजपूत जाति अभी जीवित है। अपनी स्वाधीनता के निमित्त राजपूत वीर अभी मरने को तैयार है। चित्तौड़ राजपूत जाति का गौरव-स्तम्भ तथा स्वाधीनता का केन्द्र है। ऐसे अवसर पर राज्य-प्राप्ति के क्षुद्र लोभ से विश्वासघात करके मैं अपने पूर्वजो के निर्मल यश को कलंकित नही कर सकता।' शाहंशाह की कूटनीति सफल नहीं हुई।

यह विवरण अन्य इतिहास-ग्रन्थों में नहीं मिलता। इस कारण इसकी विश्वसनीयता में चाहे संदेह रहे, परन्तु अकबर की तत्कालीन मनोदशा की ओर इससे इंगित मिलता है।

जो हो, अकबर ने दृढ़ निश्चय किया कि वह 'इस हिन्दुस्तान के सबसे मजबूत किले को जरूर जीतेगा ताकि इसके बाद कोई किला शाही सेना का सामना करने की जुर्रत नही कर सके'। यही कल्पना फ्रेडरिक आगस्टस ने भी की है, "इतनी भयानक विपत्ति भी अकबर को अपने प्रण से नहीं डिगा सकी। अपने अमीरो को निरर्थक खतरो से दूर रहने का कड़ा निर्देश देकर, वह स्वयं अपने अडिग निश्चय के अनुसार घेराबन्दी के प्रबन्ध की निगरानी में लग गया। कठिनाइयो की अधिकता और सफलता में देरी जैसे-जैसे बढ़ी उसकी सावधानी और लगन दूनी होने लगी। 'सबके प्रति शांति' का अपना बाल्यकाल का मूलमंत्र, विजेता होकर विजित के प्रति मित्रतापूर्ण व्यवहार का अपना लक्ष्य, प्राप्त करने के मार्ग का द्वार पार करने के लिए, अपने गौरवशाली मार्ग पर एक नया कीर्तिमान स्थापित करने के लिए, जो योजना उसने हाथ में ले रखी थी उसके हर अंग का उसने

धैर्यपूर्वक निरीक्षण किया। या तो लड़कर या भूखे मरकर चित्तौड़ को उसका होना होगा, इस विश्वास से वह इतना ओतप्रोत था कि उसने निष्ठापूर्वक शपथ ली कि यह दुर्ग जब जीत लिया जायेगा तब वह पैदल चित्तौड़ से अजमेर तक मुइनुद्दीन चिश्ती की मजार की जियारत करेगा।"[1]

'जहां थके को जोश दिलाने की, हतोत्साहित को उत्साह दिलाने की तथा कठिनाई मे पड़े को सहायता देने की जरूरत होती थी वहां वह स्वयं पहुंच जाता था। उसकी उपस्थिति से उसके अधिकारियो में फिर से प्रयत्न करने का जोश आया और हर सैनिक के मन मे मृत्यु के प्रति उपेक्षा का भाव जागृत हो गया।' वह स्वयं ऊंची साबात के ऊपर अपनी 'मौत की मार मारने वाली' बंदूक लेकर जम गया। चलता-फिरता जो भी उसकी आंख के आगे आया उसने भून डाला। शाही पक्ष में नया जीवन आया। 'जंग-इ-सुलतानी' का ऐलान कर दिया गया—ऐसा युद्ध जिसमें मुगल पक्ष की सारी शक्ति एक साथ लगा दी गयी, किले पर सब ओर से असहनीय मार पड़ने लगी।

दोनो तरफ से खूब लड़ाई होती रही। मोर्चाबन्दी के लिए कोरे पत्थरों की दीवालें खड़ी करके उनकी आड़ में से शाही फौज के लोग गोलियों की बौछार करते थे। कई बार अकबर खुद इनमें आ शामिल होता था, और खुद भी गोलियां चलाने लगता था। एक बार सैनिको ने अकबर से कहा कि किले के एक बन्दूकची ने शाही सेना के बहुत से आदमी मारे है। अकबर ने निशाना साधकर उस बन्दूकची को मार गिराया। बाद में मालूम पड़ा कि वह किले के बन्दूकचियो का नामी सरदार इसमाईलखान था।

इन दिनों लड़ाई इतनी तेजी से चल रही थी कि एक साथ दो रात और एक दिन दोनो तरफ के बहादुर ऐसे जुटे रहे कि खाना-पीना तक भूल गये। शाही फौज के गोलंदाजों ने अपनी तोपों से किले की दीवार को बहुत जगह से तोड़ दिया। आधी-आधी रात को मौका मिलने पर बादशाही फौज वाले हल्ला करके गिरी हुई दीवारो की तरफ से किले में घुसना चाहते थे, और किले के बहादुर सैनिक उनको रोकते थे। चढ़ी रात के घोर अंधकार में भी माराकाटी होती रहती थी। शाही हमले रोकने के लिए कई बार उबलता तेल आक्रमणकारियों पर फेंका जाता था, कभी रूई, कपड़ा आदि जलाकर, और कभी भारी-भारी पत्थर लुढ़काकर। दोनों तरफ के हजारों आदमी मारे जाते थे। चार महीने हो गये थे, फिर भी लड़ाई की स्थिति अनिश्चित बनी हुई थी।

अचानक दागी गयी अकबर की एक गोली ने सारी स्थिति बदल दी।[2] शाम का वक्त था, किले पर मरम्मत का काम चल रहा था। अकबर को किले की दीवार

---

1 फ्रेटरिक, पृष्ठ 165

2 जे एम शेलट ने इस सयोग की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया है, (शेलट, पृष्ठ 109) वे कहते है, "यह सही है कि अकबर के पास साधन इतने अधिक थे और वह सैन्य संचालन में भी इतना अधिक चतुर था कि यह युद्ध मूल रूप से ही असमानता के आधार पर आरम्भ हुआ था। परिणाम अवश्यम्भावी था, व ग से कम विवेकशील लोग तो पहले से ही यह समझते होगे। फिर भी, यह कम

की तीरकश में से जब-जब रोशनी दीखती थी वह बन्दूक से गोली दाग देता था। एक रोबीला राजपूत सरदार हजारमेखी सिलह (एक प्रकार का जिरहवख्तर) पहने हुए जब सामने आया तभी रोशनी हुई और तभी गोली चली। बादशाह ने 'भाग्य ही समाप्त करने वाली' 'संग्राम' नाम की अपनी बंदूक में से गोली दागी थी। उसने अपने पास खड़े राजा भगवानदास और शुजाअतखान से कहा कि एक गोली उस सरदार के अवश्य लगी है, 'क्योंकि जब मेरे हाथ की गोली किसी शिकार पर लगती है तो मुझे मालूम हो जाता है'। बादशाह को बताया गया कि वह सरदार उस रात प्रबन्ध करने के लिए कई बार उस स्थान पर आया था, यदि वह मारा गया तो मालूम पड़ने में मुश्किल नहीं होगी। थोड़ी देर बाद अकबर के पास खबर आयी कि किले की दीवार में से उस तरफ कोई दिखायी नहीं देता।

वह सरदार लाखोटा बारी के मोर्चे का सैन्य संचालक जयमल्ल राठौड़ था, 'जो राजपूतों में बड़ा नामी सरदार था।' 'वीर विनोद' के अनुसार बादशाह की गोली लगने से उसका पैर टूट गया[1] परन्तु आधुनिक इतिहासकार[2] यह मानते हैं कि वह वहीं का वहीं मर गया। 'फतहनामा-इ-चित्तौड़' तथा मुस्लिम इतिहासकार अबुल् फज्ल, निजामुद्दीन और बदायूनी दूसरे मत को प्रस्तुत करते हैं, जबकि पहला मत राजपूत पक्ष की परम्परा से प्रतिपादित है। जयमल्ल वहां का वहां मरा, यह बात मुगल पक्ष को तत्काल नहीं मालम हो सकती थी, और विजेता के रूप में अकबर के पहुंचने पर उसका मन और मान रखने को, हो सकता है, उसे यही बताया गया हो कि जयमल्ल उसी की

---

ध्यान देने योग्य बात नहीं है कि अकबर ने जो दो निर्णयकारी लडाइयां लडी, एक हेमू के विरुद्ध और दूसरी चित्तौड के विरुद्ध, पहली ने दिल्ली और आगरा पर उसका आधिपत्य और दूसरी ने राजपूताने पर उसका वर्चस्व निर्धारित कर दिया, दोनो में उसका सामना करने वाली सेनाओं के प्रमुख अनायास हुई घटनाओ के कारण मारे गये, हेमू अचानक आये तीर से, और जयमल्ल उतनी ही अचानक आयी गोली से, तथा, दोनो बार लडाइयो मे निर्णय अचानक उसके पक्ष में हो गया। अतएव इसमें आश्चर्य नहीं है कि यह भावना ही फैल गयी कि अकबर अविजेय है, और सारे भारत को जीतना उसके भाग्य ही में लिखा है।"

1. (क) 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 80
(ख) 'शोध पत्रिका', चार, पृष्ठ 80 में मुंशी देवीप्रसाद कृत 'मीराबाई' पर विमर्श करते हुए डा कल्याणसिह शेखावत ने लिखा है, "मुंशीजी से एक ऐतिहासिक भूल हो जाती है जब वे लिखते हैं कि अकबर बादशाह की बंदूक की गोली मे उसी वक्त जयमल्ल की मृत्यु हो जाती है। ऐतिहासिक सत्य यह है कि बादशाह जलालुद्दीन अकबर की संग्राम बंदूक की गोली उनके पैर में लगी थी किन्तु उनकी उसी वक्त मृत्यु नहीं हुई थी, बल्कि गोली लगने के काफी समय बाद तक वे जीवित रहे थे। और अंत में चल न सकने पर, वीरवर कल्लाजी राठौड़ के कन्धे पर चढकर शत्रु से घमामान युद्ध किया था और हनुमानपोल के पास वीरगति को प्राप्त हुए थे।" इस कथन के समर्थन मे डा शेखावत ने (क) पंडित रामकर्ण आसोपा, ('मारवाड़ का मूल इतिहास', पृष्ठ 140), (ख) श्री गोपल सिंह मेड़तिया, ('जयमल वंश प्रकाश') तथा (ग) डा गौरी शंकर हीराचन्द ओझा ('उदयपुर राज्य का इतिहास', चतुर्थ खंड, पृष्ठ 1225) के प्रमाण दिये हैं और बताया है कि इस प्रसंग में मारवाड़ में निम्न दोहा 'सर्व प्रचलित है':

जेमल बड़ंता जीवणो अर पत्तो डावे पास।
हिन्दू चढ्या हाथिया अड़ियो जस आकास॥

2 गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, पृष्ठ 67

गोली से तत्काल जहां का तहां मारा गया था। जयमल्ल मरा यह सब मानते हैं; राजपूत पक्ष सिर्फ उसे कुछ समय और जीवित रखता है। इस मत को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है, जयमल्ल जैसे वीर के लिए जो मृत्यु यह मत बताता है वही स्वाभाविक और शोभनीय लगती है। फिर, जयमल्ल की छतरी चित्तौड़ में ऐसी जगह बनी है जहां डटकर लड़ाई हुई थी। वहीं छतरी क्यो बनी? पास ही में कल्ला की छतरी है जिसके कन्धे पर चढ़कर जयमल्ल ने अपनी आखिरी लड़ाई लड़ी थी। उस स्थल को देखते हुए यही पक्ष बलवान लगता है।

अपना पैर टूटने पर जयमल्ल को लगा कि अब चित्तौड़ को बचाना मुश्किल है। मुगल सेना का निरन्तर दबाव, और चित्तौड़ में रसद की रोज बढ़ती किल्लत भी उसके ध्यान में थी। उसने सब प्रमुख राजपूत सरदारो और विशिष्ट सेनानियों को एक जगह एकत्रित किया, और भावी रणनीति के संबंध में परामर्श किया। विस्तृत चर्चा तथा परिस्थिति के विश्लेषण के बाद यही तय हुआ कि अब चित्तौड़ को बचाया जाना संभव नहीं रहा है। इसके बाद जो होना था उसकी परम्परा पुरानी थी।

'जौहर' की तैयारी हुई। पीछे से स्त्री-बच्चों की दुर्गति न हो, इसलिए विजय की आशा एकदम समाप्त होने पर राजपूत अपने सामने अपने प्यारे से प्यारे बच्चों और महिलाओ को अग्नि की भेंट कर देते थे। यह कहना गलत हुआ, महिलाएं और बच्चे स्वयं स्वेच्छा से जलती चिताओं पर चढ़ जाते थे। जो अत्यन्त प्रिय और मूल्यवान वस्तुएं होती थी वे भी साथ ही अग्नि पर चढ़ा दी जाती थी, जिससे जिनको वीर प्यार करते थे वे सब व्यक्ति और वस्तुएं समाप्त हो जायें, उनका मोह टूट जाये, शत्रु के हाथ कुछ न लगे। अगले प्रातःकाल किले के दरवाजे खोल दिये जाते थे, और सब समर्थ राजपूत तथा अन्य वीर अपनी जान हथेली पर रखकर शत्रु सेना पर टूट पड़ते थे। वे मर मिटते थे, परन्तु उनकी कीर्ति अमर हो जाती थी।

चित्तौड़ मे यही हुआ। जौहर का प्रबन्ध किया गया। इस विषय में दो विवाद चले आ रहे है। एक जौहर के स्थान के बारे में, दूसरा पत्ता के परिवार के जौहर करने न-करने के बारे में।

जौहर के स्थान के संबंध में अनेक किंवदंतियां है जिनमें से कुछ के अनुसार जौहर किले की सुरंगों में हुआ था। सब सुरंगों को देखने पर भी ऐसी कोई जगह नहीं लगती जहां इतनी विशाल चिताएं लगायी जा सके। दूसरे, बन्द जगह मे अग्नि शीघ्र प्रज्वलित नहीं होती। छिपाकर कुछ करने की बात ही नहीं थी। जौहर की ज्वालाएं किले के बाहर मुगल सेना ने, स्वयं अकबर ने, देखी थी; वे सुरंगो से निकलकर इतनी ऊंची उठ नहीं सकती थीं। अबुल् फज्ल ने बताया है कि जौहर की अग्नि पत्ता, साहिबख़ान चौहान और ईसरदास के मकानों में देखी गयी थी। यह ठीक लगता है, इनके मकानों के पास ही तीन खुले स्थानो पर चिताएं तैयार की गयी होगी। यह स्थान समिद्धेश्वर मन्दिर और भीमलत के बीच में पड़ते थे, यहां अब भी काफी खुली और खाली जगह

है। हाल ही में भारत सरकार के पुरातत्व विभाग ने समिद्धश्वर मन्दिर के पास सफाई करायी तो वहां राख और हड्डियां बड़ी मात्रा में मिलीं, यह अवश्य जौहर के अवशेष हैं। शिव मन्दिर शव संस्कार स्थल के सन्निकट बहुधा होते हैं, संभव है सुप्रसिद्ध शिव मन्दिर के निकट यह संस्कार किया गया हो। इसी स्थान पर सतियो की स्मृति में स्थापित कई सती स्तम्भ, वीर स्तम्भ और चबूतरे भी मिले हैं।[1]

पत्ता जैसे महत्वपूर्ण व्यक्ति को लेकर किवदंतियों का प्रचलन आश्चर्यजनक नहीं। कहा यह जाता है कि उसकी माता, बहन और पत्नी ने जौहर नहीं किया, उन्होंने पत्ता के साथ लड़ते-लड़ते वीरगति प्राप्त की थी। 'केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया'[2] जैसे मान्य ग्रन्थ तथा अनेक इतिहास पुस्तकों में मिलता है कि केसरिया पहनकर पत्ता अपनी पत्नी और माता के साथ युद्ध मे कूद आया, और तीनों लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुए। कुछ पुस्तको में पत्ता की पत्नी और माता के युद्ध कौशल का वर्णन बड़े रोमांचक रूप में दिया हुआ है, "इन वीर महिलाओं की अपूर्व वीरता देखकर अकबर स्वयं स्तम्भित हो गया। वीरवर पत्ता और उक्त क्षत्रिय रमणियों ने वीरत्व की पराकाष्ठा का परिचय दिया।"[3] परन्तु यह संभावना नहीं लगती कि जब सभी समान स्तर के परिवारो की महिलाएं चिताओं पर चढ़ रही थीं, पत्ता का परिवार उस प्रक्रिया से अपने को रोक सका हो। फिर, पत्ता के एक नहीं नौ पत्नियां थीं—उनमें से सिर्फ एक ने रणक्षेत्र में अपने पति का साथ दिया! प्रत्यक्षदर्शी मुस्लिम इतिहासकार राजपूत महिलाओं के पत्ता के साथ लड़ने और मारे जाने का विवरण नहीं देते, जो उनकी पुस्तकों में, इतना विशिष्ट होने के कारण, अंकित होने से रह नहीं सकता था। पत्ता की मृत्यु कैसे हुई इसका पूरा विवरण मिलता है।

'वीर विनोद' और मेवाड़ की परम्परागत पुस्तकों में प्राप्त विवरण से कोई संदेह नहीं रहता कि पत्ता का परिवार जौहर की अग्नि में समर्पित हुआ था। माता और पत्नियो के पूरे नाम इन पुस्तकों मे दिये हुये हैं। वह उनको और 'दो बेटे व पांच बेटियों आदि सबको आग में जलाकर तैयार हो आया'। 'सब सरदारो ने जिन जिनकी ठकुरानियां तथा बाल बच्चे वहां मौजूद थे, ऐसा ही किया।'[4]

जो युद्धप्रिय वीरो को परम प्रिय थे, वे उनके देखते-देखते जौहर की ज्वालाओं को भेंट हो गये। राजपूती परम्परा और अपने सम्मान की रक्षा के लिए अनेक छोटे बड़े बच्चो के साथ 300 महिलाएं इस अवसर पर अग्नि में प्रविष्ट हुई। पुरुष युद्धाग्नि में कूदने को मुक्त हो गये। एसे विवरण मिले हैं कि अनेक महिलाओं ने अपने को अग्नि की जगह जल को समर्पित किया, जौहर की जगह उन्होंने जल-समाधि ली।

---

1 गोपीनाथ शर्मा, मेवाड़, पृष्ठ 68
2 'केम्ब्रिज हिस्ट्री', पृष्ठ 98
3 भडारी, पृष्ठ 57
4. (क) 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 80
(ख) गोपीनाथ शर्मा, मेवाड़, पृष्ठ 68

जौहर की ज्वालाएं दीखने पर मुगल सैनिक पहले तो इस तरह किले में आग लगने का सवब नहीं समझ सके; अकवर के पूछने पर आंवेर के भगवानदास ने निवेदन किया कि यह आग जौहर की है, अब किले के भीतर से सब के सब सैनिक और सेनानी एक साथ निकलेंगे और शाही सेना को हराने का अन्तिम प्रयत्न करेंगे। सारी शाही सेना को चैतन्य किया गया और आदेश दिये गये कि जैसे ही किले के दरवाजे खुलें मुगल सैनिक एक साथ अन्दर घुसने की पूरी कोशिश करे।

25 फरवरी 1568 को प्रभात पूरी तरह हुआ भी नहीं था कि चित्तौड़ दुर्ग का द्वार खोल दिया गया। इसके पहले 'वड़े हर्ष और उमंग के साथ चित्तौड़ के साहसी योद्धाओ ने केसरिया पहनकर अमलपान किया और अन्तिम युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गये।' वीर जयमल्ल ने आगे रहने के इरादे से घोड़े पर चढ़ने का प्रयत्न किया, परन्तु टांग टूटी होने के कारण वह उसके ऊपर नही चढ़ सका। यह देखकर उसका संवंधी कल्ला राठौड़ आगे आया, और उसने जयमल्ल को अपने कंधे पर वैठा लिया। दोनो तलवार चलाते, सामने पड़ने वाले शत्रुओ को चार-चार हाथो से चीरते, आगे वढ़े। गोली के घाव से अत्यन्त अशक्त हो जाने पर भी जयमल्ल ने रोमांचकारी आत्मोत्सर्ग और पराक्रम प्रदर्शित किया। जव जयमल्ल गिर गया, कल्ला दूने उत्साह से शत्रु पर टूट पड़ा। अपना सिर कट जाने पर भी वह लड़ता ही रहा।[1] हनुमानपोल और भैरवपोल के वीच दोनो लड़ते हुए मारे गये।[2] इस समय राजपूत सेना इतनी वहादुरी से लड़ी कि शाही सेना के छक्के छूट गये, सैनिक के सामने सैनिक आगे नहीं वढ़ सका। 'हर हर महादेव' के नारों, शंखों की गूंज, और नगाड़ों की आवाज से वातावरण भयानक हो उठा। चित्तौड़ के संरक्षक उसकी रक्षा के लिए इतनी तेजी से आगे वढ़ रहे थे कि सामने से आती मुगल सेना के पैर जम नहीं पा रहे थे। मौत से भी न डरने को जो निकला हो उसकी मार कितने सह सकते है! इनके पराक्रम और निर्भीकता की सराहना सम्राट अकवर तथा इतिहासकार निजामुद्दीन अहमद ने भी की है।

---

1 राजस्थान सरकार के उदयपुर स्थित जन सपर्क अधिकारी श्री रतनलाल वावेल ने सूचना दी है कि कल्ला की अभी भी वडी मान्यता है। आम लोगो का विश्वास है कि कल्ला को देवी काली का इष्ट था, इसलिए सिर कट जाने के वाद भी कल्ला का धड ही लडता रहा और वह चित्तौड़ मे लडते लडते सलूम्बर से आठ मील रडेडे नाम के स्थान पर जाकर गिरा।

रडेडे मे कल्ला का मुख्य मन्दिर है। इसके अतिरिक्त मेवाड़ के दूसरे स्थानो मे तथा, मारवाड, वासवाडा, डूगरपुर, गुजरात एव मध्य प्रदेश मे कल्ला के लगभग 475 मन्दिर है। अकेले वासवाडा जिले में 175 मन्दिर है।

इन मन्दिरो मे श्रद्धालु हर शनिवार-रविवार को वडी सख्या मे एकत्रित होते है। वताया जाता है कि कल्ला एक व्यक्ति (भोपा) के शरीर मे प्रवेश करते है, और उनके निर्देश पर भक्तजन अपने दु खो तथा वीमारियो से छुटकारा पाते है।

जयमल्ल का भोपा के शरीर मे प्रवेश साल मे सिर्फ एक वार (आश्विन, शुक्ल पक्ष, पचमी को) होता है। जो काम कल्ला के पास नही हो पाता, उसे जयमल्ल इस दिन करते ह। वडे विश्वास से लोग इस दिन की प्रतीक्षा करते है, और वडी सख्या मे जयमल्ल के स्थान पर एकत्रित होते है।

2 जयमल्ल और कल्ला जहा लडते-लडते गिरे थे वहा उनकी स्मृति मे वनी छतरिया, अब भी खड़ी है। छोटी चार खम्भो वाली, कल्ला की, और वड़ी छ. खम्वो वाली, जयमल्ल की है।

अकबर ने, जो स्वयं सैन्य संचालन कर रहा था, तब सब खूनी हाथियों को उनकी सूंडों में दुधारे खांडे देकर आगे बढ़ाया। इनमें मधुकर, जगना, सबदलिया, अजय और कादरा हाथी बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे।

'इन हाथियों ने राजपूतों का घोर संहार करना प्रारम्भ किया। परन्तु वीर क्षत्रियों के शौर्य की कहां तक प्रशंसा की जाये, इतने पर भी उनका धैर्य तनिक भी विच-लित नहीं हुआ। वे पूर्ववत् गम्भीर भाव से जैसे मुगल सैनिकों का मुकाबला कर रहे थे अब इन मदोन्मत्त हाथियों का सामना करने लगे। राठौड़ वीर ईसरदास ने मधुकर नाम के विशाल हाथी का एक हाथ से दांत पकड़ा तथा दूसरे से उस पर तलवार का वार किया। जंगिया हाथी की सूंड एक बहादुर राजपूत ने काट डाली, और अनेक हाथियों के दांत राजपूतों ने तोड़ डाले।' .....'खूनी हाथी राजपूतों पर बड़ा भयंकर आक्रमण करने लगे, परन्तु अतुल साहसी क्षत्रिय योद्धाओं ने ऐसी वीरता से उनका सामना किया कि बहुत से तो मारे गये और बहुत से क्षत-विक्षत होकर युद्ध से भाग निकले। बादशाह स्वयं राजपूतों के इस अलौकिक पराक्रम का अवलोकन कर रहा था। युद्ध समाप्त होने के पश्चात् बादशाह ने वर्णन किया कि जंगिया हाथी की सूंड तलवार के वार से एक राजपूत ने काट डाली, जिससे वह तुरन्त मर गया। कादरा नाम का हाथी जख्मों के लगने से घबराकर किले की तरफ बहुत से सैनिकों को कुचलता हुआ भाग गया। अजमतखान, जो उस पर बैठा हुआ था, बुरी तरह जख्मी हो गया, जिससे थोड़े दिनों बाद वह मर गया। सब-दलिया हाथी दुर्ग में जब राजपूतों पर आक्रमण कर रहा था, एक राजपूत ने दौड़कर उस पर खंड से प्रहार किया, जिसके जखम से क्रुद्ध होकर उसने उसी राजपूत को अपनी सूंड में लपेट लिया, इतने में एक और राजपूत सैनिक सामने आया। हाथी ने इस सैनिक पर हमला किया तो पहले राजपूत ने सूंड में से छूटकर पीछे से तलवार मारी।'

बहादुर राजपूतो ने इन हाथियों का मुकाबला बड़े साहस और चतुरता से किया, परन्तु वे हाथियों का आगे बढ़ना देर तक नहीं रोक सके, और शाही सेना के लिए रास्ता साफ होता गया।

जब शाही सेना किले के भीतर घुस रही थी, मुख्य द्वार रामपोल के भीतर चूंडावत पत्ता ने अपने रणकौशल से शत्रु और मित्र दोनों पक्षों को चकित कर दिया। उस दिन पत्ता जितनी वीरता किसी और ने नहीं दिखायी। पत्ता और उसके साथियों ने सैकड़ों को मारकर तहलका मचा दिया। स्वयं अकबर का उसकी ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था। इस बारे में लिखा है, "किले के बहादुरों में से किसी शख्स ने, जिसको मैं नहीं पहचानता, ऐन लड़ाई के वक्त शाही फौज के एक आदमी को लड़ने के वास्ते आवाज दी। वह खुशी से उसकी तरफ चला, जिस पर किसी दूसरे शाही मुलाजिम ने उसकी मदद करनी चाही [illegible] से रोक दिया, और कहा कि यह बहादुरी और जवांमर्दी की बात नहीं है [illegible] भी अकेला मुझको लड़ाई के लिए बुलाये [illegible] मैं तुमको मदद के लिए [illegible] मुकाबला हुआ, जिसमें किले [illegible]"

मारा गया। उस आदमी को मैंने बहुत तलाश किया लेकिन वह न मिला। फिर, जब मै गोविन्दश्याम के मन्दिर[1] पर पहुंचा उस समय एक महावत एक आदमी को, जो हाथी की सूंड में लिपटा हुआ था, मेरे सामने लाया। उस वक्त उसमें कुछ जान बाकी थी, लेकिन थोड़ी देर में मर गया। महावत ने अर्ज की कि यह शख्स कोई किले के सरदारों में से है, क्योकि इसके संग बहुत-से आदमियों ने जान दी है। दर्यापत करने से मालूम हुआ कि वह पत्ता जगावत था।"[2]

चित्तौड़ का पतन जब अवश्यम्भावी हो गया, उस समय की अस्त-व्यस्तता का लाभ उठाकर, कालपी के बन्दूकची, मुगलों का वेश धारण करके, अपने स्त्रियों और बच्चो को बन्दियो का रूप देकर, उनको ले जाने के बहाने से किले से निकल गये। उन्होने अपनी कुशल निशानेबाजी से शाही सेनाओ को बड़ी क्षति पहुंचायी थी। अकबर उनको दंडित करने को बहुत उत्सुक था। वे अकबर के चित्तौड़ पहुंचने के पहले ही सुरक्षित रूप से निकल गये। 'फौजवालों ने अपने ही आदमी समझकर कुछ रोक-टोक न की।'

पहले 50, और बाद में 300, हाथी किले के भीतर पहुंच गये, उन्होने जो सैनिक सामने आया उसी को पैरों के नीचें रौंद दिया, मुगल सैनिको का रास्ता रोकना असंभव हो गया। 'साहस और वीरता के असंभव-से उदाहरण प्रस्तुत करके यह अविजेय माना जाने वाला दुर्ग मुगल विज्ञान और कौशल, शक्ति और एकाग्रता के आगे, ध्वस्त हो गया, जिसका धमाका सारे भारत मे गूंज गया।' चित्तौड़ पर शाही झंडा चढ़ा दिया गया।

चित्तौड़ में जो युद्ध हुआ उसके बारे में अबुल् फज्ल को गद्य की जगह पद्य का प्रयोग करना पड़ा है :

"किसी ने ऐसा युद्ध कभी नही देखा,
न अनुभवी ऐसे किसी दूसरे युद्ध का हाल बताते है,
मैं क्या इस मुकाबले और संग्राम का हाल कहूं,
मै तो लाख मे एक का भी बयान नही कर सकता।"[3]

और चित्तौड़ की जीत के बारे में उसने कहा है, "यह बहुत ही शानदार जीत, जिसने बढ़ते साम्राज्य पर कसीदाकारी कर दी, सौभाग्य से जैसे लुकाछिपी के आक्र-

---

1. ऐसा लगता है कि यह मदिर इस लडाई मे एकदम तोड दिया गया था। इसकी जगह अब नया साधारण-सा सीतारामजी का मन्दिर बना है। यह भी रामपोल के निकट ही है। इसी के पास पत्ता की छतरी हे, जिसमे उस वीर की नित्य देवताओ जैसी पूजा होती है। पहले छतरी की जगह चबूतरा ही था। चित्तौड के सभी दरवाजो मे रामपोल नीचे से अ तिम, ऊपर से प्रथम, होने के कारण सामरिक दृष्टि से सदा महत्वपूर्ण रहा है, और सबसे सुन्दर भी बना हे। यह भारतीय स्थापत्य कला एव हिन्दू सस्कृति का उत्कृष्ट उदाहरण है। इस पर अनेक ऐतिहासिक शिलालेख है। यहा से दो मार्ग जाते है, उत्तर की ओर वर्तमान बस्ती है, दक्षिण की ओर सब प्रमुख प्राचीन स्मारक।
2. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 81
3. 'अकबरनामा', दूसरा भाग, पृष्ठ 475

मणों में से ही निकलकर आयी, इससे भारत में जो भी शाही शासन का तिरस्कार करते रहते थे उनके मन में भरा घमंड का गुब्बार तितर-वितर हो गया, और वे बहुत ही खास तरीके के (शायद वैवाहिक संबंधो की ओर इशारा है) आत्मसमर्पण के लिए उद्यत हो गये।"[1]

"चित्तौड़-विजय का विवरण तो सौभाग्य का समाचार पत्र है।"[2]

चित्तौड़ पर अकबर का आसानी से कब्जा नहीं हो सका। जो लोग किले में बचे थे उन्होने बिना लड़े आत्मसमर्पण नहीं किया। असल में तो जो लड़ सकते थे वे सब मन्दिरों और मकानो की रक्षा करते हुए काम आये। हर गली और बाजार में शत्रु का सामना किया गया।

चित्तौड़ में अंततः अकबर ने प्रवेश किया। अकबर हाथी पर सवार था। 'राजभक्त' सामन्त और सेनानी साथ-साथ पैदल चल रहे थे। अकबर यद्यपि यह प्रतिष्ठा अर्जित कर चुका था कि विजय-प्राप्ति के बाद उसकी प्रकृति की उज्ज्वल साधुता लौट आती है, फिर भी उसने चित्तौड़ पहुंचने पर "चित्तौड़ के लोगो को सजा देने के लिए कत्लेआम का हुक्म दिया",[3] आदेश दिया कि "मंदिरों पर हमला बोल दिया जाये, जिसमें 10,000 राजपूत काम आ गये"।[4] "जो बचे थे उनमें से ज्यादातर घड़ियाल जैसी खून की प्यासी तलवार के खाने के काम आ गये। जो अग्नि और तलवार से भी बच गये वे उपद्रव के भंवर मे फंसकर समाप्त हो गये। आक्रमणकारियों की तलवारो ने नीच लोगो को कत्ल करने से अपने को नहीं रोका, वे तब तक म्यान में वापस नहीं आयीं जब तक दोपहर में आराम करने का समय नहीं आ गया। आठ हजार निर्भीक राजपूत कत्ल कर दिये गये। दोपहर बाद बादशाह ने नर-संहार समाप्त करने के आदेश दिये।"[5] 'शत्रु के बचे हुए बच्चो और स्त्रियो को बन्दी बना लिया गया। उनकी सारी सम्पत्ति मुसलमानो ने लूट ली।' यह चित्तौड़ का वास्तविक पतन था, उसकी स्वाधीनता सदा के लिए (जब तक सारे देश की स्वाधीनता के कारण वह मुक्त नहीं हुआ) समाप्त हो गयी। चित्तौड़ का पहला साका 1302 में, दूसरा 232 वर्ष बाद 1534 मे, और यह अंतिम सिर्फ 34 साल बाद 1568 में हुआ था।

इस 'अनावश्यक नृशंसतापूर्ण कुकृत्य' की सभी ने एक स्वर से निन्दा की है।' "इस युद्ध में अकबर ने जो निर्दयता दिखायी थी उसके स्मरण से हृदय आज भी

---

1 'अकबरनामा', दूसरा भाग, पृष्ठ 476
2. 'अकबरनामा', दूसरा भाग, पृष्ठ 471
3. (क) अहमद, पृष्ठ 174
(ख) निजामुद्दीन अहमद ने भी यही लिखा है।
4 फिरिश्ता, पृष्ठ 231
5. अल् बदायूनी, दूसरा भाग, पृष्ठ 107

कांप उठता है।' अकबर की कीर्ति सदा के लिए कलंकित हो गयी।' "अकबर का मूल्यांकन करते समय यह सदा याद रखने की बात है।"[2]

विंसेंट स्मिथ ने उस दिन की घटनाओं का निम्न विवरण दिया है: "आगामी दिवस जब अकबर ने प्रवेश किया, आठ हजार राजपूतों ने मृत्यु का व्रत धारणकर, जीवन का अधिकतम मोल चुकाकर, अंतिम व्यक्ति तक, अपने प्राणों का होम किया। अपनी सेना के विरुद्ध ऐसे हठपूर्ण गत्वावरोध से खीजकर अकबर ने दुर्ग सेना तथा नगरवासियों के साथ निर्मम कठोरता का व्यवहार किया। घेरे के समय दुर्ग के आठ हजार नियमित राजपूत सैनिको को 40,000 किसानों द्वारा सोत्साह सहायता देने के कारण अकबर ने सर्वसाधारण के जनसंहार की आज्ञा दी, परिणामस्वरूप 30,000 की मृत्यु हुई। किन्तु अनेकों को जीवनदान देकर वन्दी बना लिया गया।.....अकबर का क्रोध, जैसा टाड कहता है, 'राजकीयता के प्रतीको' और साथ ही पराजितो पर उतरा।.....चित्तौड़ के पतन से, जो आठ शताब्दियों की शौर्यगाथाओ तथा हृदयविदारक घटनाओ की स्मृतियों से पावन बन चुका है, राजपूत आत्मा को मर्मांतक आघात पहुंचा। वह स्थान अभिशप्त हो गया, और आज भी उदयसिंह का कोई भी उत्तराधिकारी अपने पूर्वजों के कभी के सुदृढ़ दुर्ग की सीमाओ में पदार्पण करने का साहस नही करेगा। 'चित्तौड़ के जनसंहार का पाप' आयरलैंड में 'क्रामवेल के शाप' के समान लोकोक्ति वन गया है।"[3]

इस समय की घटनाओ का विवरण 'वीर विनोद' में इस प्रकार मिलता है, "उस वक्त हजारहा नौकर और रैयत के लोग मन्दिर व अपने घरों में लड़ाई करने के लिए मुस्तैद खड़े थे, जो नंगी तलवारे व भाले ले-ले कर शाही सिपाहियो पर हमला करते-करते बड़ी बहादुरी के साथ मारे जाते थे। ऐसी लड़ाई न किसी ने देखी और न सुनी होगी कि जिसका बयान अच्छी तरह नही हो सकता। लड़ाई के समय किले में लड़ाकू राजपूतो के सिवाय 40,000 रैयत के लोग थे, जिनमें से केवल 1,000 आदमी बचे, बाकी सब लड़कर मारे गये। बादशाह ने रैयत को लड़ाकू देखकर सबके मारने का हुक्म दे दिया।"[4]

'रैयत को लड़ाकू देखकर', बस इतना ही कारण और स्पष्टीकरण है जो अकबर के पक्ष मे दिया जा सकता है। वास्तव मे तो विजय के उपरांत किये गये इस असाधारण क्रूर नर-संहार की सभी ने निन्दा की है।

डा. गोपीनाथ शर्मा ने कहा है, "चित्तौड़ की पराजय की अंतिम घड़ियो मे, किले को एक और भयंकर दुर्भाग्य का सामना करना पड़ा। किले के भीतर 30,000

1. 'केम्ब्रिज हिस्ट्री', पृष्ठ 99
2 पावल-प्राइस, पृष्ठ 254
3. स्मिथ, पृष्ठ 87
4 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 82

लोगों को, जिनमें अधिकांश नागरिक थे जिन्होने वास्तविक युद्ध में कोई भाग नहीं लिया था, विजेता की क्रूरता की मदान्धता का प्रदर्शन करते हुए बादशाह के आदेशों से मौत के घाट उतार दिया गया। युद्ध में से उठी लहरें इधर-उधर सब तरफ, हर सड़क, हर गली और हर मन्दिर में फैल गयीं। अपने अपर्याप्त शस्त्रों से नागरिको ने शत्रु का सामना किया, परन्तु शत्रु की अधिक शक्ति के आगे उनकी नहीं चली। तीसरे पहर के बाद तक यह विनाशलीला चलती रही, दयनीय दुर्ग में शायद ही कोई जीवित बचा। एक समय था जबकि यह किला सम्पदा तथा वैभव से दमदमाता रहता था, अब उसे लपटों और धुएं से भरे जले मकान का रूप प्राप्त हो गया था। मुगल क्रूरता की अग्नि ने ही उन सबको भस्म कर दिया था। तोड़े गये मन्दिरों, स्तम्भो, भवनों और झोपड़ियो के खंडहर, जो अब भी पड़े है, इस अवसर पर की गयी क्रूरता की स्मृति को सुरक्षित रखे हुए हैं, यद्यपि अनगिनत स्मारकों का निशान भी अब बाकी नहीं बचा है। परन्तु मेवाड़ के इतिहास में ऐसा राक्षसी नर-संहार पहले कभी नही हुआ था। इसका निर्णय आने वाली पीढ़ियां करेगी कि इस अविवेकपूर्ण रक्तप्रवाह के लिए अकबर के पक्ष मे कितना औचित्य था। अमानवीय अत्याचार की वेदी पर जिस प्रकार निरपराध तथा गौरवशाली राजपूतो का बलिदान किया गया, उससे हमारे मन अत्याचार और दया के अत्यन्त वेगवान कंपन से ओत-प्रोत हो गये हैं। इस बहुसंख्यक नरहत्या ने बादशाह की स्मृति एवं चरित्र पर बड़ा धब्बा लगा दिया है और वह क्षमायाचना के किसी प्रयत्न के योग्य भी नहीं है। अपमानकारी अत्याचार के इस कृत्य के कारण उस महान मुगल की विजय वास्तव में गंदली हो गयी, उसका यह आचरण मानवता और न्यायप्रियता के नियमो का अत्यन्त गंभीर हनन था।"[1] इस मन्तव्य के समर्थन में डा. शर्मा ने अबुल् फज्ल, निजामुद्दीन, बदायूनी आदि समसामयिक मुस्लिम इतिहासकारो को भी प्रस्तुत किया है।[2]

यह अस्वाभाविक नहीं था कि विजय में मदमस्त सैनिक और सेनानी अकारण अत्याचार और हत्याएं करे। लगता यह है कि महीनों चित्तौड़ के चरणों में पड़ा रहने वाला अकबर अपना आपा भूल गया था और उसी ने नरसंहार का आदेश दिया था। ऐसा न होता तो समकालीन मुस्लिम इतिहासकार इस बात को अंगीकार नहीं करते। लारेन्स बिनियोन ने सही ही कहा है, "जिद भरी सुरक्षात्मक कार्रवाई से अकबर क्रोधित

---

1. गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, पृष्ठ 70

2. ऐसा लगता है कि अकबर के इस अत्याचार की याद उसके पुत्र जहागीर को भी अच्छी तरह थी। सम्राट बनने के बाद जब उसने अपने पुत्र पर्वेज को मेवाड पर आक्रमण के लिए भेजा तब उसे स्पष्ट उपदेश दिया कि 'यदि राणा स्वय आये या अपने बडे पुत्र को तुम्हारी सेवा मे भेजे तो उससे युद्ध न करना', और समझाया कि किसी 'देश के लेने का तात्पर्य वहा के निवासियो तथा शासकों की अधीनता मात्र है', ऐसा हो जाने पर सेना को युद्ध करने की आज्ञा नहीं दी जाती, और 'खुदा के बन्दो का रक्त मूर्खता तथा अज्ञानता से' नहीं गिराया जाता। 'जहागीरनामा', पृष्ठ 50। इस उक्ति का सदर्भ दूसरा होते हुए भी इससे कड़ी निन्दा अकबर के कृत्य की क्या हो सकती है!

हो गया था और विजित के प्रति जो उदारता साधारणतः वह वरतता था वह उसने थोड़ी भी वहां नहीं दिखायी। उसकी आज्ञा से शहर में हजारों कत्ल कर दिये गये।"[1]

उदयसिंह की कारण-अकारण भर्त्सना करने वाला, अकवर का परम प्रशंसक, सुप्रसिद्ध इतिहासकार, जेम्स टाड भी अकवर के कृत्य का समर्थन नहीं कर पाया है। उसने कहा है, "अकवर ने चित्तौड़ में प्रवेश किया, और उसके तीस हजार नागरिक इस 'मानव जाति के संरक्षक' की विजय की महत्वाकांक्षिणी प्यास के शिकार हो गये। मेवाड़ी और वाहरी समस्त राजकुलो के प्रमुख पुरुष काम आ गये और राणा के सत्रह सौ निकट सम्वन्धियों ने अपनी जान देकर अपने देश के प्रति अपने कर्तव्य का पालन कर दिखाया। ऐसा लगता है कि नामी लोगों मे एक ग्वालियर का तंवर राजा ही बचा, जो एक अन्य आने वाले गौरवदायी दिन के लिए सुरक्षित रह गया था।"[2]

श्री अगरचन्द नाहटा ने जैन कवियो की अनेक रचनाओं के अध्ययन के बाद लिखा है, "चित्तौड़गढ़ राजस्थान का गौरव है। यहां 15वीं-16वीं शताब्दी मे 32 जैन मन्दिर थे। इससे यहां जैनो की कितनी बड़ी वस्ती थी इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। चित्तौड़ पर सम्राट अलाउद्दीन ने आक्रमण किया पर उसकी अपेक्षा सम्राट अकवर का आक्रमण बहुत ही विध्वंसतापूर्ण और घातक हुआ। इस आक्रमण के समय ही हजारो व्यक्तियों का कत्लेआम हुआ, अनेकों भव्य मन्दिर और मूर्तियो का नाश हुआ।"[3] इनमें से कुछ मंदिरो का समकालीन विवरण उसी समय लिखे गये जैन ग्रन्थों मे मिलता है, इससे चित्तौड़ की उस समय की समृद्धि स्पष्टतः प्रकट है, और इसका आभास मिलता है कि अकवर के हाथो उन एक-दो दिनो में हमारी संस्कृति की कितनी क्षति हुई थी।

चित्तौड़-आक्रमण के पचास वर्ष वाद खम्भात के पोरवाड़ जातीय जैन श्रावक कवि ऋषभदास ने 'हीर विजय सूरि रास' की रचना की थी। रास में उसने सम्राट अकवर का अच्छा वर्णन किया है। उसकी ऋद्धि-सिद्धि एवं विजयो का वर्णन करते हुए उसने कहा है, 'आकाश में अकवर का प्रताप रूप सूर्य उगा। यश रूपी चन्द्रमा प्रकट हुआ। अकवर गाजी हाथी की तरह था। सव देश के राजा उसके अधीन हो गये थे। संग्राम में सदा उसकी जय होती रही।'

फिर भी कवि ने चित्तौड़ में जो कुछ अकवर ने किया, उसकी कड़ी आलोचना की है। वह कहता है, 'पाप करने मे उसने कोई कमी नहीं रखी। पाप का भय उसे था ही नहीं। चित्तौड़ लेते समय उसे जो पातक लगा उसे एक जीभ से वर्णन नहीं किया जा सकता।' कवि ने चित्तौड़-आक्रमण की घटनाएं वर्णित की हैं, और कहा है, 'चित्तौड़ को कब्जे मे करके अकवर ने वहां कत्लेआम मचायी थी। जो महाजन जीवितव्य

1. विनियोन, पृष्ठ 69,
2 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 261
3. 'शोध पत्रिका', चार, पृष्ठ 73

की बड़ी आशा लेकर उससे मिलने गये उन्हें भी यम घर पहुंचा दिया गया। जिन स्त्रियों ने उसे मोती से वधाया उनको भी मार डाला। कोट को गिराया। मन्दिर को ढाया। इस तरह अकबर यमदूत या काल की तरह क्रोधी होकर क्रूर बन गया।'

अंत में कवि ने कहा है कि जब अकबर गढ़ जीतकर वापस आ रहा था तब एक गर्भवती को जमीन पर पड़ी हुई और मरी हुई देखकर उसके मन में दया का संचार हुआ और सहसा उसके मुख से यह निकल पड़ा—'या खुदा ! मै बड़ा दोजखी हूं। मैंने बड़ी बुजगारी की। ऐसे कार्यो से बहिस्त न पाऊंगा, और मेरी बड़ी ख्वारी होगी। मुझे चित्तौड़ आक्रमण का जिस महात्मा ने मुहूर्त दिया उसने भी ठीक नहीं किया। मैंने कितने खून किये और दोजख का भागी बना।"[1]

इसमें कवि की उड़ान का जो प्रतिशत निकालना हो निकाल दिया जाये, फिर भी स्पष्ट है कि चित्तौड़ आक्रमण की भयंकरता उस समय किसी ने भूली नहीं थी। लोक-मुख से, गुजरात में रहते हुए, कवि ने जो कुछ जैसा सुना, अपने काव्य में उसे स्थान दे दिया।

श्री जे. एम. शैलट ने इस कत्लेआम का कारण ढूंढ़ने का यत्न किया है, "8,000 युद्धरत राजपूतो के अतिरिक्त किले में 40,000 किसान भी थे 'जिन्होने देखभाल करने और भोजन व सामान पहुंचाने का कार्य किया था'। युद्ध समाप्त हो गया था, फिर भी अकबर ने जो सामने आये उसी का कत्ल करने का हुक्म दे दिया। जब तक उनमे से लगभग 30,000 मौत के घाट नहीं उतार दिये गये, अकबर ने अपना हुक्म वापस नहीं लिया। कत्लेआम और अग्निकांड का हृदयविदारक तांडव तीसरे पहर तक चलता रहा, जब तक कि एक समय का गौरव-मंडित दुर्ग प्रायः जीवन-विहीन नहीं हो गया। आक्रमणकारियो के अत्याचारों से न मन्दिर बचे न वे स्तम्भ जिन्होने उस किलेबन्द नगर की शोभा बढ़ा रखी थी। मृत्यु और विनाश की जो लीला स्वयं उसने संचालित की थी उसे अपनी आंखों देखता हुआ अकबर तीन दिन किले में रहा।.....कारण कोई भी बताये जायें, अकबर, जिसके बारे में कहा जाता है कि प्रतिपक्षी की वीरता का वह सम्मान करता था, पाशविक अलाउद्दीन से भी (अत्याचार में) आगे बढ़ गया। इस अवसर पर जो नृशंसता उसने दिखायी वह केवल मात्र ऐसे विजयी आक्रमणकारी का उन्माद नहीं हो सकता था जिसने अपने पैतृक शत्रु का दमन करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। प्रतिशोध भी, यद्यपि वह दृढ़-निश्चयी और दीर्घकालीन था, उसी प्रकार कत्लेआम का कारण नहीं हो सकता था। उसकी नीति और उसके चरित्र[2] के अनुरूप तो एक ही कारण चित्तौड़ में बरती

---

1. 'स्मृति ग्रन्थ', पहला खंड, पृष्ठ 139
2. इसमें भी संदेह है कि अकबर का स्वभाव इस प्रकार की कार्रवाई के प्रतिकूल था। मानवा के युद्ध के उपरान्त लगभग एक हजार बंदी बनाये गये थे और उनकी निर्ममतापूर्वक हत्या की गयी थी, और अल् बदायूनी ने उनमें से 'बुद्धिमानो की आंखो का तारा' मिर्जा खुशान बेग का नाम स्पष्ट रूप से

गयी असीम तीक्ष्णता का हो सकता है कि अकबर अन्य राजपूत राजाओं के मन को भय से भर देना चाहता था, जो उसके और मेवाड़ के बीच होने वाले महत्वपूर्ण निर्णय की प्रतीक्षा अवश्य ही अत्यन्त चिन्ता के साथ कर रहे थे। चित्तौड़-पतन के एक-दो वर्ष के भीतर जो राजपूत राजा अपने को अकबर से अलग रखे हुए थे उससे मित्रता करने को आतुर हो गये, और उन्होंने उसकी सार्वभौमिकता के सामने समर्पण कर दिया।"[1]

इस कारण इतना अत्याचार ! अकबर को इसके लिए कोई क्षमा नहीं कर पाया है।

इस विनाश लीला में, "जो अपनी-अपनी जागीर में नहीं रह गये थे ऐसे सब सामन्तों के परिवार, या तो ज्वालाओं मे विनष्ट हो गये या इस चिरस्मरणीय दिवस को हुए आक्रमण में काम आये। वास्तव मे उनकी दैवी अलौकिकता उनसे रूठकर चली गयी थी; चूंकि यह तो एक रविवार था, सूर्य का दिन, जब उसने (सूर्य ने) चित्तौड़ पर कीर्ति की किरणें अंतिम बार डाली। उनकी शक्ति की चट्टान बुरी तरह चूर-चूर हो गयी; मंदिर और महल खंड-खंड कर दिये गये: और चित्तौड़ का पराभव तथा अपनी विजय को पूरा करने के लिए अकबर ने किले के सब राजकीय चिह्न उतरवा दिये : नक्कारा, जिसकी गूंज मीलो तक महाराणा के आवागमन से लोगों को अवगत करती थी, जिस तलवार से चित्तौड़ को जीता गया था उससे बप्पा रावल को सुशोभित करने वाली 'महान माँ' के मंदिर के भव्य दीपक, और उसकी दयनीयता का उपहास करने के लिए दुर्ग के द्वार[2], जिनसे

---

अंकित किया है। इस युद्ध मे हारे खान जनान, बहादुरखान और अब्दुल्ला के सिर काट कर आगरा लाये गये। और वहा से दिल्ली, लाहोर और काबुल ले जाये गये। अनेक मारे गये-'क्या खून-खराबी हुई है।' खान जमान के बंदी बनाये गये लोगो को जब बुरी तरह मारा जाने लगा, सैनिक शिविर के काजी काजी तवासी ने, 'जो ईमानदारी, सत्यवादिता और विश्वसनीयता के लिए प्रसिद्ध था', 'बादशाह से निवेदन किया कि युद्ध समाप्त हो जाने के बाद इन लोगो को मारना, और उनका माल-असबाब जब्त कर लेना, मुस्लिम कानून के अनुकूल नही होगा।' इस पर अकबर तवासी से बहुत अप्रसन्न हुआ, और उसे उसी समय उसके पद से हटाकर काजी याकूब को सैनिक शिविर का काजी बना दिया। यह घटना चित्तौड-विजय के ठीक पहले की है, ऐसा नही लगता कि जहा तक युद्ध क्षेत्र का सम्बन्ध है, अकबर का स्वभाव बहुत बदला था। 1600 मे अर्थात् मृत्यु से सिर्फ पाच साल पहले, उसने, असीरगढ मे जो अत्याचार और विश्वासघात किया था उसकी भी निष्पक्ष इतिहासकारो ने खुलकर आलोचना की है। इसे अकबर की कीर्ति का सबसे काला कलंक कहा है। —अल् बदायूनी, दूसरा भाग, पृष्ठ 101, 104

1. शेलट, पृष्ठ 107
2. चित्तौड़ से ले जाये गये ये द्वार अभी भी आगरा के किले के उस दरवाजे पर लगे हैं जो मीना बाजार और मच्छी भवन के बीच मे बना है। इस ऐतिहासिक द्वार की इस समय (1974) बडी दुर्दशा हे, इसे इन दिनो खोला नही जाता क्योकि दीमक लग जाने के कारण इसके गिर जाने का डर हो गया है। मीना बाजार की तरफ पडने वाले हिस्से के पास लोग लघुशंका करने लगे है, जिससे कभी सम्राट अकबर द्वारा इतने चाव से लाये गये द्वार के निकट जाने की भी इच्छा नही होती। दूसरी ओर मच्छी भवन की तरफ से देखने पर, द्वार अवश्य आकर्षक और कलापूर्ण लगता है।

इतिहास किस प्रकार बदला लेता है, यह यहा सुस्पष्ट हो जाता है। अकबर लूटकर चित्तौड से एक द्वार लाया, जहा वह लगाया गया, उसी के पास मच्छी भवन मे संगमरमर के बनाये

अकबर अपनी प्रस्तावित राजधानी अकबराबाद का अलंकरण करना चाहता था।"[1]

जेम्स टाड इतने से ही संतुष्ट नहीं हुआ। यहीं एक पादटिप्पणी लगाकर उसने कहा, "तीजो साका चित्तौड़ रा, अर्थात् चित्तौड़ का तीसरा पराभव तो अत्यन्त असभ्य अत्याचार से रंजित था क्योंकि जिन स्मारको को अलाउद्दीन और बहादुरशाह ने क्रमशः 1303 और 1535 में दो पिछली पराजयों के समय छोड़ दिया था उनको भी खंडित कर दिया गया, जिससे कला, साथ ही साथ मानवता, के प्रेमी के रूप में अकबर की प्रसिद्धि पर अमिट कालिमा लग गयी।"

इसके बाद जेम्स टाड ने परम्परा से चली आ रही एक मान्यता का उल्लेख किया है, जिसका समावेश आधुनिक इतिहासों में नहीं किया जाता। इस कारण इसकी सत्यता संदिग्ध मानी जा सकती है, लेकिन अकबर के प्रति जो कटुता प्रकट करने को जेम्स टाड विवश हुआ था उसकी यह अच्छी अभिव्यक्ति है।

जो लोग चित्तौड़ की लड़ाई में काम आये उनके गलों से यज्ञोपवीत उतरवा कर अकबर ने तुलवाये—वे $74\frac{1}{2}$ मन[2] बैठे। जो अत्याचार चित्तौड़ में किया गया उसकी स्मृति चिरस्थायी रखने के लिए $74\frac{1}{2}$ की संख्या को ही अपशकुन माना जानें लगा। यदि पत्र पर किसी बात को पक्का कहकर लिखना हो तो उस पर $74\frac{1}{2}$ का निशान लगा दिया जाता था, माना जाता था कि जो उस वचन को तोड़ेगा उसे 'चित्तौड़ मारया का पाप', चित्तौड़ की हत्या का पाप, लगेगा। जेम्स टाड स्वयं कहते है कि इस तोल को नितान्त अंकों की तोल से स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। "इस प्रकार की दन्तकथाओं को इतिहास में उनके नैतिक प्रभाव के कारण समाविष्ट किया जाता है, जब तक $74\frac{1}{2}$ को लोग नहीं भूलेंगे, तब तक उस दुर्भाग्य में से भी कुछ लाभ प्राप्त किया जा सकेगा, और इस रूप में यह संख्या शायद तब भी बनी रहे जब जिस घटना के कारण इसे महत्व मिला वह विस्मृति मे डूब जाये।"[3]

जेम्स टाड का यह तीखापन जयमल्ल और पत्ता की, तथा चित्तौड़ में बलिदान हुए अन्य अनेक लोगों की, सराहना में जो उसने कहा है उससे बहुत सीमा तक घुल गया है, उसकी बतायी इस बात से भी कि कितना सम्मान स्वयं बादशाह अकबर ने

---

हौजो मे सुनहरी रूपहरी मछलियां तैरा करती थी। यह स्थान दिवान-इ-आम और दिवान-इ-खास, तथा खास महल के पास पडता है। आगरा के विशाल किले का यह सबसे महत्वपूर्ण और वैभवशाली स्थान हुआ, यही, कहा जाता है, शाही खजाना भी रहा करता था। इस स्थान को भरतपुर के राजा सूरजमल और जवाहर सिंह के समय मे (1756-68) जाटो ने अकबर की मृत्यु के केवल 160 वर्षो के भीतर-बुरी तरह लूटा, और सगमरमर के हौज उठाकर भरतपुर या डीग ले गये, और इनसे अपने भवनो का शृगार किया। चित्तौड का बदला भरतपुर ने ले लिया।

आगरा के किले मे गजनी से गलती से आये द्वार की बडी सुरक्षा की गयी है, चित्तौड के ऐतिहासिक द्वार की बडी उपेक्षा है।

1 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 261

2. जेम्स टाड के अनुसार, मन चार सेर के बराबर होता था।

3. जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 262

इन दो वीरों का किया था। "इस प्रकार की परम्पराओं के लिए इतिहास अपने पृष्ठों पर अंकित परम गौरवमय कृत्यों के प्रति कृतज्ञ है; और मेवाड़ में उन्हीं से राष्ट्रीय सम्मान एवं स्वतन्त्रता के लिए प्रेरणा प्राप्त हुई। इसके लिए दार्शनिक (घटना और प्रेरणा के) आपसी संबंध का महत्व बतायेगा, और उदारचेता इनमें वे मूल तत्व देखेगा जिनसे अत्याचारी परतन्त्रता के प्रति विरोध की भावना जागृत होती है।"[1]

"प्रायः लिखा जाता है कि उस समय की सेनाएं राजा के मरने पर दम भर भी नहीं खड़ी होती थी। चित्तौड़ का तीसरा साका इस नियम का अपवाद है। राजा गीदड़ की तरह भाग गया, इससे राजपूत सरदार घबड़ाये नही। वह शेरो की तरह लड़े और राजपूतों की तरह काम आये। वे वीरतापूर्ण रक्षा द्वारा केवल राजपूताने का ही नहीं, सारे देश का मुख उज्ज्वल कर गये। जब तक संसार में वीरता का आदर होगा, तब तक उन बहादुरो का यश गाया जायेगा, जिन्होने राजा के भाग जाने पर भी हिम्मत न हारी और अकबर की अगणित सेनाओ और अपरिमित साधनों की परवाह न करके जान की बाजी लगा दी। वे हार गये तो क्या हुआ, लड़ाई मे हार और जीत तो होती ही है। असल चीज है मर्दानगी। इतिहास की गवाही है कि हरेक राजपूत दस गुना हो कर लड़ा, और सौ दुश्मनों को यमलोक पहुंचाकर शान्त हुआ। अमरता के खाते में नाम लिखाने के लिए यह पर्याप्त है।"[2]

"संसार के इतिहास मे वीरता के दृष्टान्त तो बहुत है, परन्तु चित्तौड़गढ़ के रक्षक राजपूतों की वीरता की समानता उनमे से शायद ही कोई कर सके। वह हार गये तो क्या हुआ, पर इतिहास मे वही विजयी समझे जाएगे। जिन्हें प्रत्यक्ष में विजय प्राप्त हुई, इतिहास उन्हें हारे हुए मानेगा, क्योकि उन्होने हाथियो की दीवार के पीछे खड़े

---

1 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 259 इस दृष्टि से जेम्स टाड अवश्य भविष्य दृष्टा सिद्ध होता है। जो कुछ मेवाड मे विजय ही नही, पराजय के रूप मे भी हुआ, उसने, जब भारत अंग्रेजो के विरुद्ध उठ खडा हुआ, सुदूर बगाल तक मे—वहा के सबसे प्रभावकारी गद्य और सबसे सुललित पद्य के रूप मे—प्रेरणापुंज का काम किया। आज भी मेवाड की महान आत्माओ को पूजनीय माना जाता है, और विश्वास किया जाता है कि उनके उदाहरण सदा अंधकार मे प्रकाश का काम देंगे।

परन्तु यज्ञोपवीत वाली किवदती "कल्पित है, न तो चित्तौड पर मरे हुए राजपूतो के यज्ञोपवीतो का तोल इतना हो सकता है और न उक्त अंक से चित्तौड के संहार के पाप का अभिप्राय है। उस अंक के लिए भिन्न-भिन्न विद्वानो ने जो भिन्न-भिन्न कल्पनाए की हैं, वे मानने योग्य नही है। प्राचीन काल मे किसी लेख के प्रारम्भ करने से पूर्व बहुधा 'ऊँ' लिखा जाता था, जैसा आजकल श्री गणेशाय नमः, श्रीरामजी, आदि। प्राचीनकाल मे 'ऊँ' का साकेतिक चिन्ह हिन्दी के वर्तमान ७ के अंक के समान था। पीछे से उसके भिन्न-भिन्न परिवर्तित रूपो के पास शून्य भी लिखा जाने लगा, जो जल्दी लिखे जाने से कालान्तर मे ४ की शकल में पलट गया। उसके आगे विराम की दो खडी लकीर लगाने से ७४॥ का अंक बन गया है, जो प्राचीन 'ऊँ' का सूचक है। प्राचीन शिलालेखो, दानपत्रो तथा जैनो, बौद्धो की हस्तलिखित पुस्तको आदि के प्रारम्भ मे बहुधा 'ओं' अक्षर लिखा हुआ मिलता है।"

—ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 729

2 इन्द्र, पृष्ठ 16

होकर दूसरों के अधिकार को कुचला और निरपराध वीरों और वीरांगनाओं की हत्या का पाप सिर लिया। अनन्त इतिहास में इस दिन के शहीद राजपूत ही जीवित रहेंगे।"[1]

जयमल्ल और पत्ता का सम्मान अकबर ने भी किया, यद्यपि कर्नल सर वुल्सले हेग जैसे तटस्थ इतिहासकारों को तो इसमें संदेह है, "चित्तौड़ का नरसंहार, जिसने वहां के प्राचीन राजकुल के लिए इस स्थान को अपवित्र तथा अपशकुनी कर दिया, अकबर के नाम पर भी अमिट धब्बा लग गया है। ऐसे अत्याचार तो अत्यन्त क्रूर माने जाने वाले अलाउद्दीन ने भी नहीं किये थे, अबुल् फज्ल भी दोनो के बीच के इस अन्तर को मुश्किल से यह समझा कर माफ कर सका है कि चित्तौड़ के असैनिक नागरिक अकबर की घेराबन्दी के समय बहुत ही सक्रिय रहे, जबकि अलाउद्दीन की घेराबन्दी के समय सुरक्षा-प्रयत्नों में उनका सहयोग नहीं था, परन्तु 'चित्तौड़ के नरसंहार का पाप' सदा अकबर की स्मृति को कलुषित बनाये रहेगा। आगरा के अपने शाही महल के द्वार पर, हाथी पर चढ़ी, उनकी मूर्तियाँ खड़ी करवाकर, अकबर ने जयमल्ल और पत्ता की वीरता के स्मारक द्वारा कदाचित् उनका सम्मान ही करना चाहा, परन्तु इसका अन्यथा अर्थ भी लगाया जा सकता था।"[2] अन्य इतिहासकार भी संदेह करते है, "संभव है मूर्तियों का यह कार्य अकबर ने इस अहंभाव से प्रेरित होकर किया कि वह इन वीर सैनिकों को जीवित बन्दी बनाकर तो नही लाया पर बन्दी और द्वारपाल रूप में वे विद्यमान है। अकबर ने ऐसा राजपूतों की वीरता का अभिनन्दन करने के लिए नही, वरन उनकी पराजय और हीनता के लिए किया।"[3]

ऐसा लगता है, चित्तौड़ से अजमेर, और वहां से आगरा पहुंचते-पहुंचते, अकबर का मन उन घटनाओं में ही डूबा था जो चित्तौड़ में विगत चार-पांच महीनो मे हुई थी। मनोविश्लेषण के बाद, जो विजय उसे मिली थी उसके भी ऊपर उसे उनकी वीरता लगी जिन्होंने उसका सामना करते-करते अपनी जान दे दी थी। अकबर स्वयं वीर था, इसलिए वह वीरो का आदर करना जानता था। 'अमरकाव्य' मे आया है: "दिल्लीश्वर ने कहा कि मेवाड़ के वीरों ने बहुत अच्छा युद्ध किया। यह दुर्गम दुर्ग जो मैंने प्राप्त किया है वह ईश्वर की कृपा से ही संभव हो सका है। निश्चित ही किले के योद्धाओ ने तुमुल युद्ध किया है।" उसने चित्तौड़ की रक्षा करते हुए अपना असाधारण रूप से बलिदान देने वाले जयमल्ल और पत्ता का सम्मान करने के लिए उनकी हाथी पर चढ़ी संगमरमर की मूर्तियां बनवायी और उन्हें आगरा मे अपने किले के मुख्य द्वार[4] पर स्थापित कराया। इन मूर्तियों के पास, द्वार पर ही, यह दोहा खुदवाया गया—

---

1. इन्द्र, पृष्ठ 20
2. 'केम्ब्रिज हिस्ट्री', पृष्ठ ९
3. लूनिया, पृष्ठ 170
4. इस द्वार का नाम ... और बाहर-भीतर से देखने पर इसकी भव्यता और अभी भी बहुत ... र नगर की मुख्य जामा मस्जिद के सामने यह जनता के लिए ... (1974) सर्व साधारण के लिए खोला द्वार के भीतर बने ... गयी थी। कहते है यह नया द्वार इस ही बनवाया गया ... मी के दोनो ओर स्थापित किये गये

जयमल्ल वड़ता जीमणे फतो वाहे पास ।
हिन्दू चढ़िया हाथियां अडियो जस आकास ।।

इसका अर्थ हुआ, 'वाहर से दरवाजे में घुसते हुए दाहिनी तरफ जयमल्ल की और वायीं तरफ पत्ता की मूर्ति है। ये दोनों हिन्दू वीर हाथियो पर चढ़े हुए हैं, और इनका सुयश और भी ऊपर उठकर—आकाश तक—जा पहुंचा है।'[1]

अकवर के ही समय के जैन श्रावक कवि ऋषभदास ने अकवर की मृत्यु के 24 वर्ष वाद 'हीरविजयसूरिरास' गुजराती मे लिखा था। उसमें आया है—

जयमल पताना गुण मन धरे, वे हाथी पत्थरना करे,
जयमल पता वेसाया त्यांहि, ऐसा शूर नहीं जग मांहि।

जेम्स टाड ने कहा है, "चित्तौड़ के विजेता ने, दिल्ली में अपने महल के सबसे ज्यादा ध्यान मे आने वाले द्वार पर जयमल्ल और पत्ता की मूर्तियां वनवाकर अपनी विजय के महत्व के प्रति ही नहीं, अपने शत्रुओं की विशेषताओ के प्रति भी, वहुत ही आदर दिखाया और उन्हें यह सम्मान तव भी प्राप्त था जव वर्नियर भारत की यात्रा पर आया।"[2]

एक सूत्र कहता है कि मूर्तियां आगरा में लगवायी गयी थीं, एक कहता है दिल्ली में। वास्तव में वात यह है कि मूर्तियां पहले आगरा के किले में लगायी गयी थीं, वाद में शाहजहां ने जव दिल्ली मे नयी राजधानी वनवायी, मूर्तियां आगरा से उठाकर दिल्ली ले जायी गयीं। आगरा में मूर्तियो का सवसे पुराना उल्लेख 1629 या 1630 में प्रेसीडेण्ट वान डोन ब्रुक द्वारा लिखित मिलता है। 1663 में लिखित वर्नियर के एक पत्र से मालूम देता है कि तव मूर्तियां दिल्ली में थीं।[3] उसने 1 जुलाई 1663 को दिल्ली से लिखे अपने पत्र में, जिसे जेम्स टाड ने अपनी पुस्तक में उद्धृत किया है, कहा है, "द्वार पर मुझे कोई विशेषता नहीं दिखी, सिवा पत्थर के वने दो विशालकाय हाथियों के, जो किले में जाने वाले एक दरवाजे के दोनों ओर खड़े हैं। इनमें से एक पर चित्तौड़ के सुप्रसिद्ध राजा जयमल्ल की, और दूसरे पर उसके भाई पत्ता की प्रतिमाएं है। ये वे दो वीर पुरुष हैं जिन्होने, अपनी माँ के साथ, जिसमें वीरता उनसे भी अधिक थी, अकवर के लिए काम इतना मुश्किल कर दिया था; और जिन्होने, उसके विरुद्ध नगर की घेरावन्दी में, अपनी उद्भावना का ऐसा असाधारण परिचय दिया कि आत्मसमर्पण की जगह उन्होने अन्ततः अपनी माता के साथ, आक्रमणों का सामना करते-करते अपनी जान देना श्रेयस्कर समझा; और इसी वीरता के कारण उनके शत्रुओ ने भी उन्हें इस योग्य समझा कि उनकी स्मृति में यह मूर्तियां निर्मित करवायीं। ये दो सुविशाल हाथी,

1. गहलोत, पृष्ठ 231
2 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 262
3. (क) गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, पृष्ठ 71
(ख) ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 729

उन पर चढ़े दोनों दृढ़-प्रतिज्ञ पुरुषों के साथ, इस किले के प्रथम द्वार पर ही महानता तथा भयाक्रान्तता का मेरी तो समझ में ही नहीं आता कि कितना प्रभाव उत्पन्न करते हैं !"

इस पर टिप्पणी करते हुए जेम्स टाड ने कहा है, "घटनाओं के एक शताब्दी बाद पेरिस से आये व्यक्ति पर इस तरह का प्रभाव पड़ा था : परन्तु लेखक को (टाड को) तो इन गाथाओं ने और भी अधिक मोहित तब किया जब वह उस स्थान पर विचारमग्न हो गया जहां जयमल्ल को 'संग्राम' (नामक अकबर की बन्दूक) से प्राणघाती गोली लगी थी या जब उसने उस छतरी पर पुष्प समर्पित किये जो चूंडा के पुत्र के मरकर गिरने के स्थान पर खड़ी की गयी है, और पत्ता के महल पर, जहां से सीसोदिया माता और उसकी पुत्री निकली थी। इस भूमि का तो फुट-फुट भर का भी हर एक टुकड़ा प्राचीन स्मृतियों से पवित्र बन गया है।"[1]

इन मूर्तियों को "शायद बाद में सम्राट औरंगजेब ने धर्म-द्वेष के कारण तुड़वा दिया हो। वि. सं. 1919 (ई. 1863) में ये मूर्तियां दिल्ली के किले में कूड़े-कर्कट में दबी हुई मिलीं और इस समय वे दिल्ली के अजायबघर में रखी हुई हैं। एक हाथी वहां के पब्लिक बाग मे रखा हुआ है और दूसरे का पता नहीं।"[2]

इसी संदर्भ में लेखक आगे बताता है, "नेपाल के भटगाँव नामक कस्बे में एक विशाल मन्दिर "न्यातपौल" नामक है। वहां उसके द्वार पर भी इन वीरों (जयमल्ल-पत्ता) की विशाल मूर्तियां पत्थर की खुदी हुई हैं। शायद नेपाल के राजाओं ने अपने पूर्वजों और उनके सहायकों की कीर्ति के स्मारक रूप इन मूर्तियों को रखा है। ऐसे ही बीकानेर के किले के सूरजपौल में हाथियों पर चढ़ी हुई जयमल्ल व पत्ता की पाषाण मूर्तियां बनी हुई है। यह किला वि. सं. 1645 से वि. सं. 1650 तक बना था।"[3]

जो भी अकबर ने चित्तौड़ में व्यवस्था और प्रबन्ध के नाम पर किया उसमें तीन दिन लग गये। चित्तौड़ मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत एक सरकार (शाही सूबे का एक भाग) बनाया गया। भावी शासन-भार ख्वाजा अब्दुल मजीद आसफखान को सौंपा गया।

सर्वसाधारण को भी इस विजय की स्मृति रहे, इसलिए अकबर ने चित्तौड़ से एक ताँबे का सिक्का निकलवाया। मेवाड़ के महाराणाओं की जगह मुगल बादशाह के सिक्के चित्तौड़ से निकलने लगे।

चित्तौड़ में चित्तौड़-विजय से भी अधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि (!) अकबर ने प्राप्त की। अबुल् फैज फैजी फैयाजी अकबर की सेवा में पहली बार चित्तौड़ की घेराबन्दी के दिनों ही में उपस्थित हुआ था।

---

1 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 262
2 गहलोत, पृष्ठ 232
3 वही

ऐसा लगता है कि उन दिनों बादशाह की हिफाजत का बड़ा कड़ा प्रबन्ध था। अकबर के सामने सदा लोहे की जालीदार चद्दर लगी रहती थी। जब फैजी "बादशाह के सामने हाजिर हुए, वह जालीदार कटघरे के पीछे था। कवि को बाहर खड़ा किया गया। पर्दे की आड़ से बात करने में अनकुस मालूम हुआ। उसी समय फैजी के मुंह से निकल पड़ा—

बादशाह पिंजड़े के भीतर हैं, इसमें मजा नहीं आता।

मैं मिस्री खाने वाला तूती हूं, जिसके लिए अच्छा स्थान पिंजड़े के भीतर है।"[1]

फैजी का पालन-पोषण 'पिता की दरिद्रता और नखूसत की छाया में हुआ था, वह दरिद्रता की दृष्टि देखता और शत्रुओं की शत्रुता के कांटे खाता हुआ यौवन की बसंत ऋतु तक पहुंचा था'। परन्तु उसकी 'योग्यताएं और गुण भी साथ ही साथ युवक हो गये'। ज्ञान-विज्ञान उसमें इतने विकसित हो गये कि चारों ओर उसकी चर्चा होने लगी, 'परन्तु काव्य कला में इसने जो पराकाष्ठा दिखलायी, उसी से यह बात प्रमाणित होती है कि इसका हृदय और मस्तिष्क ईश्वरीय अनुग्रह से परिपूर्ण था और यह कवि-सम्राट काव्य कला अपने साथ लेकर आया था।'

"फैजी महान विद्वान थे और मुसलमानों में जहां वह कविता में खुसरु के समकक्ष थे, वहां दूसरी विद्याओं में उनकी तुलना किसी से नहीं हो सकती। वह सूर के और तुलसी के समकालीन थे। फैजी भारत के एक दर्जन सर्वश्रेष्ठ महाकवियों में हैं। कविता, इतिहास, कोश, चिकित्साशास्त्र और निबन्ध-रचना में फैजी अपने समय में अद्वितीय थे। वे अश्वघोष, कालिदास, बाण की पंक्ति में आसानी से बैठ सकते हैं। उनकी कविताएं फारसी में होने से उनका परिचय बहुत सीमित लोगों तक ही है, यह दुःख की बात है। फैजी कवि ही नहीं बल्कि नये भारत का स्वप्न देखने वाले थे, जिसका प्रयत्न अकबर के नेतृत्व में हुआ था। फैजी महान कवि थे, महान पुरुष थे। भारत सदा उन पर गर्व करेगा।"[2]

फैजी के प्रति अकबर ने जो व्यवहार किया उसे 'उस सर्वशक्तिमान परमात्मा की प्राकृतिक लीलाओं का एक उत्तम आदर्श' बताया गया है। 'गुणों के जौहरी को इस जवाहिर के शौक ने ऐसा बेचैन किया कि तुरन्त उसे बुलवाया', और इस प्रकार चित्तौड़ के भरे युद्ध में अबुल् फैज फैजी अकबर के सम्मुख उपस्थित हुआ। उधर अकबर ने चित्तौड़ जीता, इधर फैजी ने अकबर का मन और मस्तिष्क जीत लिया। 'थोड़े ही दिनों में यह दशा

---

1. (क) सांकृत्यायन, पृष्ठ 79
(ख) सुरक्षा के लिए जालीदार चद्दर अथवा पिंजड़े का उल्लेख और किसी अकबर-कालीन युद्ध में नहीं मिलता; मुगलों के युद्ध-प्रबन्ध में ऐसी सुरक्षा-व्यवस्था नहीं की जाती थी। या तो चित्तौड़ में विशेष व्यवस्था की गयी थी, या कवि ने दरबार के सामान्य प्रबन्ध का यहां कवित्वमय शैली में वर्णन किया है। वह सबसे वरिष्ठ दरबारी जहां तक जा सकते थे, सम्राट के बहुत ही निकट, वहां पहुंचना चाहता था।

2 सांकृत्यायन, पृष्ठ 62, 75, 78, 84, 90

हो गयी कि पड़ाव हो या यात्रा, किसी दशा में भी बादशाह उसका वियोग सहन नहीं कर सकता था ।'

फैजी अकबर का प्रमुख परामर्शदाता ही नहीं, उसके पुत्रों का प्रशिक्षक भी हो गया । मुगल साम्राज्य पर किसी एक सामान्य नागरिक का इतना अधिक प्रभाव कदाचित् नहीं पड़ा होगा । सम्राट अकबर और उसके साम्राज्य को चित्तौड़-विजय के बाद स्वरूप देने में अबुल् फैजी ने निर्णायक योगदान दिया । फैजी के बाद उसका भाई अबुल् फज्ल भी दरबार में बुलाया गया । 'यह दशा हो गयी कि साम्राज्य संबंधी कोई कठिन काम इन लोगो के परामर्श के बिना नहीं होता था ।'

23 अक्टूबर 1567 को अकबर चित्तौड़ आया था, और 28 फरवरी 1568 को वहां से उसने विदा ली, इस तरह इस अभियान में स्वयं उसने चार महीने से अधिक लगाये । अपने जीवन का बड़ा उद्देश्य चित्तौड़-विजय को उसने किस तरह बना रखा था, यह इससे प्रकट है ।

यह इससे भी प्रकट है कि अकबर चित्तौड़ से अजमेर के लिए पैदल रवाना हुआ । अपने मान्य संत ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की अजमेर स्थित दरगाह मे वह चित्तौड़ जीतने की दुआ मांग कर आया था, अब कामयाबी मिलने पर अकबर वहां की जियारत पर चल पड़ा ।

अकबर के अजमेर की तीर्थ-यात्रा के लिए पैदल जाने का एकमात्र अन्य उदाहरण 1570 में मिलता है । भारत का बड़ा भू-भाग उसके अधीन हो गया था, चित्तौड़ जीता जा चुका था । 'अकबर अब 27 वर्ष से कुछ अधिक आयु का हो चुका था । उसे एक ऐसे पुत्र की बड़ी उत्कट अभिलाषा थी जो उसके द्वारा निर्मित विस्तृत साम्राज्य का उत्तराधिकारी बनने को जीवित रहे । उसके दो पुत्र हुए थे । पर वे शैशवावस्था मे ही मर गये थे । इसलिए अकबर सन्तो के पास उनके आशीर्वाद प्राप्त करने जाया करता था । उसने एक मन्नत मानी थी कि अगर ईश्वर ने उसे एक पुत्र प्रदान किया तो वह अजमेर के शेख मुईनुद्दीन चिश्ती की मजार तक पैदल यात्रा करेगा । उसने शेख सलीम चिश्ती के भी दर्शन किये जिनका आश्रम आगरा से 23 मील पश्चिम में सीकरी की पहाड़ियो की एक गुफा मे था । अपनी एक भेंट मे उसने शेख से 'व्याकुल अवस्था' मे पूछा कि उसके कितने पुत्र होंगे । सन्त ने उत्तर दिया कि उसके तीन पुत्र होंगे । तब अकबर ने कहा, 'मैंने मनौती की है कि अपने पहले पुत्र को आपकी कृपा की झोली में डालकर मैं आपकी मैत्री और कृपा को ही उसका रक्षक या संरक्षक समझूंगा ।' शेख ने यह विचार स्वीकार कर सम्राट को बधाइयां दीं । जब अकबर की राजपूत सम्राज्ञी आंबेर की राजकुमारी के गर्भ के दिन पूरे होने को आये तो उसे कुछ स्त्री-पुरुष सेवकों और दूसरे अनुचरों सहित शेख के आश्रम मे भेज दिया गया । यहीं शाहजादे सलीम और भविष्य के जहांगीर का जन्म 30 अगस्त 1569 को हुआ । सम्राट ने अत्यन्त भक्ति से अपनी मन्नत की पूर्ति के लिए अजमेर की पैदल यात्रा की । वह 20 जनवरी 1570 को आगरे से चला और 16

मंजिलों में ख्वाजा के मजार पर पहुंच गया। यहां उसने कई दिन इबादत करने और दान देने में व्यतीत किये।' चित्तौड़ की जीत को अकबर निजी रूप से कितना महत्व देता था, पुत्र-प्राप्ति से उसे कम नहीं मानता था!

चित्तौड़ से वह पैदल अजमेर के लिए रवाना हुआ। उसके अमीर और दरबारी लोग भी साथ-साथ पैदल चले। शाही परिवार की महिलाओं ने भी पद यात्रा की। चित्तौड़ से शाही शिविर तक, और वहां से मांडल तक सब लोग पैदल ही पहुंचे। वहां उसे ख्वाजा के खादिमो की दरख्वास्तें इस मजमून की मिलीं कि हजरत ख्वाजा साहब का हुक्म है कि वह सवारी पर ही अजमेर आये। तब मांडल से वह सवारी पर बैठा, तब तक शाही दल 80 मील पैदल चल चुका था। इस समय उपस्थित इतिहासकार निजामुद्दीन अहमद यह नहीं मानते। उनका कहना है कि अकबर अजमेर तक पैदल गया था।[1] जब अजमेर एक दिन की यात्रा जितनी दूर रह गया, अकबर फिर पैदल चलने लगा। ख्वाजा की मजार पर उसने प्रार्थना की, गरीबों को दान दिया और 'अन्य अच्छे तथा पवित्र कामो में अपने को व्यस्त रखा'। वह अजमेर में दस दिन रहा। तीर्थ यात्री के सब कर्तव्य उसने निभाये, और अपने उदार दान से गरीब लोगो को प्रसन्न कर दिया।

सेना को उसने अजमेर से अलवर की ओर बढ़ने के आदेश दिये, स्वयं नारनौल पहुंचा। वहां वह शेख निजाम की सेवा में उपस्थित हुआ। उसने परमात्मा के प्रति कृतज्ञता प्रकट की, और शेख निजाम नारनौली का आशीर्वाद लिया। वहां से रवाना होकर अकबर फिर अपनी सेना के साथ हो लिया।

चित्तौड़ जीतकर, शाहंशाह जब राजधानी पहुंचा, उसका स्वागत बहुत ही आदर और अनुराग से हुआ।

इन दिनों उदयसिंह क्या कर रहा था, और चित्तौड़-पतन के बाद उसकी गति-विधियां क्या रहीं, इस पर चर्चा करने के पहले इस पर विचार करना समीचीन होगा कि राजपूत पक्ष को चित्तौड़ में पराजय क्यो प्राप्त हुई?

'मुगल और राजपूत—दो महान जातियो के बीच स्मरणीय संघर्ष' के 'दुःखान्त अन्त' का, जिसके बाद 'चित्तौड़ के किले में जमीन हड्डियो से बिछ गयी थी', और 'राजपूत आत्मा को मर्मातक आघात लगा था', अध्ययन विश्लेषणात्मक रूप में प्रस्तुत करते हुए डा. गोपीनाथ शर्मा लिखते है, "इसमें संदेह नहीं कि दुर्ग की राजपूत संरक्षक सेना को कई बाधाओ के बीच युद्ध संचालित करना पड़ा, जिनमें मुख्य थीं, सैनिको की संख्या में अपर्याप्तता, साधनो की बढ़ती कमी, सैनिक टुकड़ियो में आपसी अनुशासन का अभाव और उनके शस्त्रों का शत्रु के शस्त्रों की तुलना में पुरानापन। किले की सफल घेराबन्दी का परिणाम यह होना ही था कि वहां रहने वालो की मुसीबतें बढ़ गयीं तथा खाद्य एवं अन्यान्य सामग्री मात्रा मे प्रति दिन कम होती गयीं। जयमल्ल की मृत्यु ने तो राजपूतो का साहस ही तोड़ दिया, और वे हताश होकर इतने उग्र हो गये कि

1. अहमद, पृष्ठ 328

उन्होंने सब कुछ आग में झोंक दिया, और द्वार खोलकर अपने पर विकट आक्रमण आमन्त्रित कर लिया। यह भी हुआ कि किले की घेरावन्दी ने उनकी शक्ति बढ़ाने की जगह, उनके लिए वाधा का ही काम किया। हम इससे भी आंख नहीं मूंद सकते कि मुगलों द्वारा किला जीते जाने में उनका ज्यादा अच्छा सैन्य-संचालन तथा तोपंदाजी, सुरंग-निर्माण तथा सावात-निर्माण, तीनों के समानान्तर प्रयोग ने बहुत बड़ा योग दिया। राजपूतों की भयानक विपदा का कारण कुछ भी रहा हो, और उन्होंने उस वक्त चाहे जिस तरह की क्षमताहीनता अनुभव की हो, चित्तौड़ के पतन से राजपूत रणनीति में एक चौंका देने वाले अध्याय का उदय हुआ। सुरक्षा के लिए दुर्गों के स्थान पर घाटियो और दर्रों का उपयोग किया जाने लगा, जहां स्वयं बहुत कम संख्या में होने पर भी सैनिक दीर्घकालीन एवं बार-बार किये गये आक्रमणो को भी असफल कर देते थे। इससे मुगल भी यह समझ गये कि राजपूतों की क्षमताहीनता इतने निम्न स्तर पर नहीं पहुंच गयी है कि वे राष्ट्र पर आने वाले किसी अन्य सामान्य संकट का सामना ही नहीं कर सकेंगे। आगामी शताब्दियों में मुगल राजनीति का केन्द्र चित्तौड़ नहीं गिरवा के दर्रे हो गये।"[1]

## उदयसिंह के अंतिम वर्ष

चित्तौड़ छोड़ते समय तर्क यह दिया गया था कि 'हजूर तो पहाड़ो मे पधारकर फिर भी लड़ाइयां कर सकते है, आपको मार-काट कर हम लोगों का बदला व अपना राज्य लेना होगा', अतएव जो लोग उदयसिंह के चित्तौड़ छोड़ने की सार्थकता स्वीकार करते हैं वे भी प्रश्न करते हैं कि आखिर 'हजूर' इसके बाद करते क्या रहे ? चित्तौड़ छोड़ने और इस संसार ही से उठ जाने के बीच उदयसिंह को चार साल का समय भी मिला था। इन दिनो किये गये कार्य का विवेचन, और उसका परिणाम, ऊपर आ चुका है। अकबर का सीधा सामना करने की स्थिति में उस समय उदयसिंह नहीं था। उसने निरन्तर अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न किया, परन्तु इसका उपयोग अपनी ओर से पहल करके अकबर से टक्कर लेने मे करने का उसे अवसर नहीं मिला, ऐसा करना न व्यावहारिक होता, न परिणामप्रद। कदाचित् सत्य यह था कि इसके लिए आवश्यक साधन संकलित किये ही नहीं जा सके। जो भूमि अपने पास थी उसके बचाव तक अपनी कार्रवाई उसे सीमित रखनी थी। इसमें वह असफल नहीं रहा। स्वयं उदयसिंह ने न चित्तौड़ की घेरावन्दी के पहले, और न चित्तौड़ के पतन के बाद, अकबर की अधीनता स्वीकार की। चित्तौड़ के पतन से जहां दूसरे राजपूत राज्यो के शासक भयभीत हो गये, और मुगल बादशाह की शरण में चले गये, उदयसिंह ने अपनी स्थिति नहीं बदली। यदि उसे निजी स्वार्थ का अधिक ध्यान होता अथवा निजी चरित्र मे गया-गुजरा होता तो वह अन्य राजपूत राजाओं की तरह सरलता से अकबर की अधीनता स्वीकार कर सकता था। परन्तु उदयसिंह ने न तो कभी हार मानी, न कभी शाहंशाह

1. गोपीनाथ शर्मा,

के सामने पहुंचने के प्रलोभनों को स्वीकार किया। चित्तौड़ से हटने के बाद उदयसिंह के किये काम अब धीरे-धीरे सामने आने लगे है, कम से कम यह तो स्पष्ट ही है कि चित्तौड़ युद्ध के पहले भेजी गयी शाही सेनाएं उसे पकड़ नही सकीं, मेवाड़ के जिस प्रदेश को उन्होने अपने पैरो के तले रौंदा उस पर वे अपना कब्जा नहीं रख सकीं, और बाद में शाहंशाह उधर आक्रमण करने की सोच भी नहीं सका। उदयसिंह स्वाधीन और सम्मानप्रद स्थिति में ही इस संसार से उठा।[1]

उदयसिंह चित्तौड़ से रवाना होकर 'दुर्गम पर्वतों' में होता हुआ गुजरात के रेवाकांठा क्षेत्र मे पहुंच गया था। रवाना होने के पहले मेवाड़ का खजाना और खास सामान तथा जरूरी कागज-पत्र वह अपने साथ ले गया था, जिन्हे सुरक्षित स्थानों पर रखा गया। राजपीपला के राजा भैरवसिंह ने उदयसिंह का बड़ा सत्कार किया। वह वहां चार महीने रहा, और उसने वहीं से फिर से अपनी सेना को संगठित करने का प्रयत्न किया। जब कामचलाऊ-सा प्रबन्ध हो गया, उदयसिंह अपने नवनिर्मित नगर उदयपुर आ गया। वहां जो समय और साधन मिले उनका उपयोग उसने उदयपुर की अध-बनी इमारतों को पूरा करने मे लगाया। अकबर चित्तौड़ से चला गया था, परन्तु उसकी ओर से हमला फिर कब कर दिया जायेगा यह निश्चित नहीं था। अतएव आन्तरिक व्यवस्था को सुदृढ़ करना आवश्यक था। नयी राजधानी को इसी दृष्टि से सुदृढ़ किया गया।

'मालवी बादशाह' बाज बहादुर के महाराणा के पास रहने के कारण शाही सेनाएं कभी-कभी उदयपुर की तरफ चढ़ आती थीं। उदयसिंह की स्थिति अभी भी शाही सेना का सीधा सामना करने की नहीं हुई थी। बचाव के लिए 1570 में उदयसिंह कुम्भलगढ़ जाकर रहने लगा। वहां और फौज एकत्रित की गयी। एक साल के भीतर उदयसिंह कुम्भलगढ़ से उतरकर गोगूंदा आ गया, और उसी को अपने बचे हुए राज्य का, जिससे सिर्फ चित्तौड़ और मांडलगढ़ तथा उनके आसपास तथा पूर्व का प्रदेश अलग हुआ था, नया केन्द्र बनाया। सामरिक दृष्टि से गोगूंदा बड़े सुरक्षित स्थान पर था। इसी कारण उसे अस्थायी राजधानी के रूप में चुना गया।

गोगूंदा से उदयसिंह नया सैनिक अभियान आरम्भ करना चाहता था, परन्तु उसे पूरा समय नहीं मिला। फरवरी 1572 में वह बीमार पड़ गया। इन्हीं दिनो मे उसने अपने उत्तराधिकार के संबंध मे निश्चय किया, लेकिन उसे गोपनीय रखा गया। 28 फरवरी 1572 को, चित्तौड़ के पतन के चार साल बाद, सिर्फ पचास वर्ष की आयु

---

1. श्री हरिशकर शर्मा, एम ए, ने अपने 'मध्यकालीन भारत' मे, जो 1970 मे प्रकाशित हुआ है, 1972 मे इसका दूसरा सस्करण भी निकल गया है, लिखा है, "मेवाड के महाराणा अपने त्याग व वीरता के लिए सदा मे विख्यात रहे है। परन्तु उदयसिह इतने वीर न थे जितने कि राणा सग्रामसिह। इस कारण उन्होंने मुगलो का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। परन्तु जब 1572 मे महाराणा उदयसिह इस लोक से विदा हो गये तो उनका स्थान महाराणा प्रताप ने ले लिया।" यह पुस्तक विश्व विद्यालयों के बी.ए (द्वितीय वर्ष—इतिहास) के लिए विशेष रूप से लिखी गयी है। हमारे शिक्षा जगत पर ऐसी निराधार उक्तियो से भरे ग्रन्थो का आधिपत्य है।

में, उदयसिंह का उसी बीमारी से, गोगूदा में देहान्त हो गया। गोगूंदा में जहां उसक
दाहसंस्कार हुआ था, स्मारक रूप में छतरी बनी हुई है। बस्ती से यह स्थान लगभ
एक मील दक्षिण की ओर है।

परन्तु उदयसिंह का वास्तविक स्मारक वह सम्मान है जिससे आज भी मेवा
को सारे वीर-जगत् में देखा जाता है। मेवाड़ की यशस्वी परम्परा के संरक्षण तथा निर्मा
में उसका आधारभूत योग था, यद्यपि अधिकांश इतिहासकार इसे स्वीकार नही करते
प्रोफेसर रामचन्द्र तिवारी इनमें अपवाद है, वे कहते हे, "मुगल आतंक से मेवाड़ क
रहित करना, राणा उदयसिंह की ऐसी बड़ी सेवा हे, जिससे वह अपने नाम के सा
'महान' की उपाधि से विभूषित होने के योग्य है। कहना पड़ेगा कि राणा उदयसिंह
युद्ध नीति का उपयोग अच्छे ढंग से किया, जिसके कारण उसको उक्त नीति (गुरिल्ल
युद्ध) का आविष्कारक भी कहा जाये तो अत्युक्ति नहीं है। वस्तुतः यह युद्ध शैली राजपू
जाति के परम्परागत भूमि अधिकार के विशेष सिद्धान्तों के आधार पर ही निश्चित हु
और उस सिद्धान्त को अच्छे सांचे में ढालकर अपनी सेना की रचना को उसने ए
सुन्दर रूप दिया, जिसके फलस्वरूप, अर्थात् इस नवीन रचना और क्रान्तिकारी व्यवस्थ
के ही कारण, महान बलशाली अकबर को उदयसिंह ने छोटी-सी सेना की सहायता से
रणविमुख कर दिया। यह युद्ध इस वजह से भारत के इतिहास मे बहुत महत्वपूर्
घटना है कि वह प्राचीन और अर्वाचीन युद्ध कला के बीच तुमुल युद्ध था। अर्वाचीन ने
प्राचीन पर विजय प्राप्त की, और मेवाड़ बच गया। उदयसिंह के जीवन काल मे
अकबर ने फिर मेवाड़ की तरफ झांकने की हिम्मत नहीं की। अकबर द्वारा यह
उदयसिंह का उच्चातिउच्च सम्मान था।

"उदयसिंह की युद्ध-नीति के अनुसार न सिर्फ सैनिक, बल्कि सारी प्रजा युद्
करने लगी। जनता के सहयोग के बिना गुरिल्ला युद्ध नहीं हो सकता। इस प्रका
सेना मे और प्रजा में सहयोग हो जाने के कारण पहली बार मेवाड़ के इतिहास मे वास्तव
में जनयुद्ध लड़ा गया। जनता को मुगल विरुद्ध मोर्चों पर लगाकर उदयसिंह ने एक नये
मनोवैज्ञानिक तत्व का श्रीगणेश किया, और ज्यों-ज्यो जनता लड़ाई मे उतरती गयी
उतनी ही उनकी देशभक्ति बढ़ती गयी। और उतने ही अंशो मे उनकी मुगलो के
प्रति घृणा तीव्र होती गयी। इस प्रकार सेना, प्रजा और राज्य मे अन्तर मिट गया।
पूर्ण नया सम्पर्क तीनो में कायम हो गया।

"इस घनिष्ट सम्पर्क के कारण प्रजा, सेना और राजा दोनो की कार्रवाई को
समझने लगी। इसका अर्थ यह हुआ कि सरकार और उसके सहयोगी (अफगान एवं
दूसरे शरणार्थी-गण) व ... सेना के बीच गहरा संबंध हो गया। इस प्रकार मेवाड़ी
प्रजा तथा राज्य एवं ... मिलकर मुगल साम्राज्यवादी सेना का वीरतापूर्वक
सामना किया। यह ... मान मंत्री राणा सांगा के ... नता
और स्वार्थजन्य दो... थी। उस समय दोनों ... र्ति

तथा विश्वास था। उदयसिंह के पीछे महाराणा प्रताप ने भी पिता की राष्ट्रीय नीति को अपनाया। इससे सीसोदियों द्वारा आरम्भ किया हुआ यह स्वतन्त्रता का युद्ध राष्ट्रीय युद्ध हो गया। जो विद्वान इस स्वाधीनता यज्ञ में संकीर्ण स्वार्थ-नीति देखते है, उनको पुनः अपने मत को दुहराकर देख लेना चाहिये। यह उदयसिंह की मुसलमानों के प्रति मैत्री तथा सौजन्यतापूर्ण व्यवहार का फल था, 'अफगानो की मेवाड़ भक्ति'। हल्दीघाटी के युद्ध में प्रताप की सेना का बायां हरावल अफगान वीरो द्वारा रक्षित था। इस प्रकार मुसलमानों का प्रताप की छत्रछाया में मेवाड़ की स्वतन्त्रता के रक्षणार्थ अकबर का मुकाबला करना एक बहुत महत्वपूर्ण घटना है, जिसके लिए मेवाड़ की प्रजा सदैव अपना वक्षस्थल फुलाकर चल सकती है। इस नीति को उसके वंशधरो ने भी निभाया। महाराणा राजसिंह (प्रथम) का एक सेनापति मलिक शेरखान नामक पठान था।

"सेना, प्रजा और राजा के बीच गहरे संबंध का दूसरा फल यह हुआ कि सेना अब निरंकुश सरकार की कारवाई का यन्त्र न रही। वह तो अब सामाजिक चेतना का महत्वपूर्ण अंग बन गयी। उसका काम केवल युद्ध मे आगे बढ़कर प्राण देना ही नहीं रह गया। जनता मे नयी चैतन्यता का प्रसार भी सेना के कर्तव्य का आवश्यक अंग बन गया था। गुरिल्ला दल में सभी जाति तथा स्तर के लोग भरती हो जाया करते थे। उनको जनता अन्न-वस्त्र तथा मार्ग-दर्शन, रसद पहुचाना, संवाद पहुंचाना, आदि सहायता निरन्तर दिया करती थी। यथा अवसर सेना-व्यय के लिए धन दिया जाता था, जिसका भार भी जनता पर ही था और वह 'सेना-बराड़' नाम से उगाहा जाता था। इस प्रकार लड़ने वालो और न-लड़ने वालो के बीच अन्तर बहुत कम हो गया। इससे मुगलों को बहुत हानि हुई।

"इस जन सेना का युद्ध-मन्त्र था—'मारो और भागो'। ऐसी सेना को मनुष्यों की कमी नही पड़ सकती। यही कारण है कि महाराणा प्रताप तथा अमरसिंह को लड़नेवालो की न्यूनता नही हुई। मुगल सेना और मेवाड़ी सेना मे कोई साम्य नही था। मुगल सेना वेतन पर लड़ने वाले सिपाहियो का दल था और मेवाड़ी सेना देश-प्रेमियो की इकाई थी। इसके सैनिको मे तीव्र चैतन्यता थी तो उधर शिथिलता। इस तरह संख्या में कम होते हुए भी परिणाम के नाप से यह सेना महान थी। प्रजा, सेना और शासक मुगलो से बदला लेने को आतुर रहा करते थे। यही शृंखला इनमें एक सजीव संबंध का रूप ग्रहणकर मेवाड़ के कोने-कोने मे देशभक्ति का पाठ पढ़ा रही थी। मुगलो के विरुद्ध निःसंदेह यह एक महान भयंकर नारायणास्त्र था। यह वह वीर सेना थी, जिसको प्रत्यक्ष रूप मे रण में विजय नहीं मिलने पर भी, स्वतन्त्रता का मूल्य अंकित करने मे पूर्ण विजय मिली। युद्ध के अवसर पर बार-बार भागने पर भी 'रणछोड़' की उपाधि पा कर वह अजेय रही और इस स्वतन्त्रता के युद्ध में अन्त में उसको ही विजय का सेहरा मिला।

"हम कह सकते है कि उदयसिंह के राज्यकाल में राजनीतिक और बौद्धिक स्तर जनता का बहुत ऊंचा उठ गया था। राजा, प्रजा तथा सेना मे समानीकरण हुआ।

राजा और प्रजा में संपर्क बढ़ा। तथा मुसलमानों तथा राजपूत देशभक्तो मे सच्चे और अच्छे संबंध स्थापित हुए। यह सब उदयसिंह के नेतृत्व तथा प्रेरणा का ही सुफल था। महाराणा उदयसिंह की नीति से मेवाड़ उसके काल मे ही नही, बल्कि उसके उत्तराधिकारियों के समय भी युद्धनीतिज्ञ तथा रणकुशल सिद्ध होता है। ऐसे महान व्यक्ति तथा उच्च भावनापूरित महाराणा को 'कायर' की उपाधि से विभूषित करना इतिहास के आचार्यों का अन्याय है।"[1]

नैणसी ने उदयसिंह को 'महाप्रतापशाली राजा' तथा 'बड़ा उग्र तेज वाला' कहा है।[2] वह प्रताप का पिता होने के कारण ही प्रसिद्ध नही था, स्वतंत्र रूप से उसने गौरव अर्जित किया था और अपने प्रयत्न और यश से अपने प्रतापी पुत्र प्रताप का मार्ग प्रशस्त किया था।

चित्तौड़ जैसे प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण दुर्ग की रक्षा वह नही कर सका, इसका खेद उदयसिंह को आजीवन अवश्य रहा होगा। इसी कारण उसकी जीवन-गाथा इतनी कालिमामयी कर दी गयी है, यद्यपि उस गाथा को पूरे रूप मे पढ़ने पर ऐसी मान्यताएं सच्ची नहीं उतरती, उलटे लगता है कि इससे भी बुरी स्थिति से अपने और अपने मेवाड़ को बचाने के लिए उन सर्वनाशी परिस्थितियो में उसने सर्वबलिदानी प्रयत्न करके, एक बार तो भारतीय इतिहास की गति ही रोक दी—जबकि उसे उस समय अकबर जैसा प्रचंड सम्राट संचालित कर रहा था। उदयसिंह की इस आधारभूत उपलब्धि के कारण ही उसके पुत्र और पौत्र अकबर का तब तक सामना करते रह सके जब तक वह सम्राट जीवित रहा, चाहे इस बीच वह कितना ही 'महान' क्यों न हो गया, और अपने समय का 'संसार का सबसे सबल और सम्पन्न सम्राट' भी माना जाने लगा।

उदयसिंह ने जो कुछ किया उसकी उसके समय में निन्दा या आलोचना नही हुई। मेवाड़ में महाराणा उदयसिंह का स्मरण सम्मान के साथ किया जाता रहा।

उदयसिंह के समय के सौ साल के भीतर लिखे गये ग्रन्थ 'राणा रासौ' में आया है, "सांगा के यहां उदयसिंह उत्पन्न हुआ। वह विशेष उदार था। हिन्दूपति राणा उदयसिंह परस्त्री से प्रतिकूल एवं स्वस्त्री से अनुकूल रहने वाला था।[3] कलंकित पुरुषों के लिए वह केदारेश्वर, पापियो के लिए प्रयाग तीर्थ, खूनियों की लज्जा रखने के लिए वाराणसी और मदिरापान करने वालो के लिए मंदाकिनी था। वह बादशाहो को नष्ट करने वाला,

---

1 रामचन्द्र जी. तिवारी, 'शोध पत्रिका', भाग, पृष्ठ 31, 33, 41

2 नैणसी, पृष्ठ 56

3. पृष्ठ 36 पर वर्णित रंगराय और बादशाह अपने दरम बढाने के लिए, अपने गढ़ 'हाजीखान के रनिवास रंगराय का प्राप्त ... उतना अनुचित नहीं ... मान्यता के विपरीत पडती है। मध्ययुगीन भारत मे राजा ने के लिए, अपना मनोरंजन करने के लिए, अपना सम्मान ... —इसे अनैतिक नही माना जाता था। उद... मे अद्वितीय तथा गानविद्या मे गगन के नक्षत्र ... रूप मे किया था, और तत्कालीन ...

एवं पृथ्वी का भार दूर करने वाला था। 'सिक्काधारी' बादशाहों को उखाड़ने वाला तथा निर्बलों की सहायता करने वाला राणा उदयसिंह था। खुमान-पद राणा, जो निर्भीक तथा बलशाली योद्धा था, युद्ध-क्रीड़ा करता हुआ शत्रुओं के मुख खंडन करने लगा। .....एक ओर समूचे जंबू द्वीप की सेना थी और दूसरी ओर केवल 'खुमान'-पदधारी राणा उदयसिंह, परन्तु उसने अपने खड्ग के गौरव को गिरने नहीं दिया, उसे धन्य है !"[1]

## रणथम्भोर पर चोट

चित्तौड़ के बाद अकबर ने रणथम्भोर पर चोट की।

अपनी प्राकृतिक एवं मानव-निर्मित दृढ़ता के कारण, और अपने संरक्षकों के गर्वीले स्वभाव के कारण रणथम्भोर को बारबार आक्रमणों का सामना करना पड़ा है। चित्तौड़ प्रसिद्ध अधिक हो गया है, परन्तु रणथम्भोर की गाथा कम गौरवशाली नहीं है। जो भारत पर अधिकार करना चाहता था पहले रणथम्भोर पर अधिकार करता था, बाद में चित्तौड़ पर। अलाउद्दीन खिलजी ने पहले रणथम्भोर जीता, बाद में चित्तौड़, शेरशाह ने भी पहले रणथम्भोर जीता, बाद मे चित्तौड़। अकबर भी यही करना चाहता था। परन्तु ये तीनो रणथम्भोर को शस्त्रों से नहीं, युक्तियो से जीत पाये।

तत्कालीन राजस्थान का कोई सुदृढ़ दुर्ग दिल्ली और आगरा की शाही राजधानियो के इतना निकट नही था जितना रणथम्भोर, जो भारत पर हकूमत जमाना चाहता था उसकी आंखो मे यह सबसे ज्यादा चुभता था, इसकी दृढ़ता सदा समुपस्थित संकट उसे मालूम देता था। ऐसा दुर्गम, दुर्भेद्य, प्रकृति से सुरक्षा प्राप्त तथा दृढ़ता से निर्मित दुर्ग दूसरा नहीं माना जाता था। चित्तौड़ तो अकेली पहाड़ी पर बना है, रणथम्भोर सात पर्वतश्रेणियो से घिरा है, जिनके बीच-बीच मे गहरी घाटियां हैं जिन्हें चम्बल और बनास नदियो ने कई जगह अगम्य बना दिया है। चारो तरफ घना जंगल है, जो अब तक हिंसक पशुओ से भरा है। किला सीधी खड़ी पहाड़ी पर बना है, जिसके ऊपर एक मील लम्बा और आधा मील चौड़ा मैदान आ गया है, इसी में प्रकृति और मनुष्य ने अपना सब करतब लगाकर इस किले को गढ़ा है। किले तक पहुंचे बिना किला पूरा दीखता ही नही है, शत्रु का उस तक पहुंचना तो दूर, दर्शन तक उसके लिए सरल नहीं होता था। उधर, किले के रक्षको की निगाहो से बचकर कोई इसकी ओर कदम नही बढ़ा सकता था।

इसी कारण यह उक्ति प्रसिद्ध हो गयी थी कि इस किले को किसी पुरुष ने अपनी शक्ति से नही बनाया था, वरदान प्राप्त करके ही इसका निर्माण किया गया था। इसके इतिहास-प्रसिद्ध प्रथम अधिकारी चौहान राजवंश के थे। अल्तमश और बलबन ने इस पर क्षणिक अधिकार प्राप्त किया था, परन्तु यह फिर से चौहानों के कब्जे में आ गया,

---

1 'राणा रासौ', पद 154, 198, 166

जिनके कुल में हम्मीर हुआ, और उसने रणथम्भोर के साथ अपना नाम सदा के लिए जोड़ दिया :

सिंह-सुवन, सुपुरुष वचन, कदली फलै इक वार,
तिरिया-तेल, हमीर-हठ चढ़ै न दूजी वार।

अलाउद्दीन खिलजी के हाथों हम्मीर की हार अवश्य हुई, लेकिन अपना सब कुछ अपने हाथों रणथम्भोर की रक्षा के लिए वलिदान करके उसने इतिहास के पन्नो पर वैसा ही सुदृढ़ स्थान वना लिया जैसा अभी भी इस दुर्ग का भारत-भूमि पर वना हुआ है।

खिलजियों के कमजोर पड़ने पर रणथम्भोर मेवाड़ के महाराणाओ के हाथों में आ गया। हम देख चुके हैं कि राणा सांगा ने इसे जागीर में अपने पुत्र विक्रमादित्य और उदयसिंह को दे दिया था। ऐसा माना जाता है कि खानुवा के युद्ध में घायल होकर सांगा इसी किले में आकर ठहरा था, और यहीं से उसने पुनः आक्रमण की तैयारी आरम्भ की थी। वावर की हार के वाद शेरशाह का इस किले पर कब्जा हुआ।

रणथम्भोर पर अलाउद्दीन खिलजी का आक्रमण सवसे भयानक था, और उसका प्रतिरोध भी सवसे अधिक दृढ़ता से किया गया। सफलता अंततः चतुरता से मिली, हम्मीर का भाई भोजराज और सेनाध्यक्ष रतिपाल तथा रणतपाल शत्रु से जा मिले। फिर भी युद्ध हुआ, हम्मीर ने अपनी साहसी सेना के साथ ऐसा भयानक आक्रमण किया कि उसका विवरण पढ़कर अव भी रोंगटे खड़े हो जाते है, इतिहास का यह स्मरणीय युद्ध वन गया है। इसकी याद शेरशाह को भी थी, उसने वंदूकों और तोपों की जगह चतुर दूतों की चालाक जीभों से काम निकाला और 'शांतिमय वार्तालाप' से रणथम्भोर पर अधिकार प्राप्त किया। आगे चलकर अकवर ने भी यही किया।

अकवर ने जव शासन सम्हाला, रणथम्भोर पर सूरियों द्वारा नियुक्त दुर्गाध्यक्ष जझरखान का कब्जा था। इसी को कहीं-कहीं हाजीखान कहा गया है। अल् वदायूनी ने इसका नाम संग्रामखान वताया है, और कहा है कि उसने 'रणथम्भोर के किले को राय सुर्जण हाड़ा के हाथों वेच दिया'। उसके अनुसार अकवर ने आगरा आने के पहले ही हिन्दूवेग मुगल आदि अमीरों को रणथम्भोर जीतने के लिए नियुक्त कर दिया था। उन्होने संग्रामखान को घेर लिया, आसपास के प्रदेश को तहस-नहस कर दिया, परन्तु 'मुख्य उद्देश्य प्राप्त करने में वे असफल रहे'।

इसके उपरान्त अकवर ने 'इस काम का सम्मान' 1559 में 'खासतौर से' हवीव अली खान को सौंपा। यह अकवर के राज्यारोहण के चौथे साल की वात है। परन्तु परिणाम फिर भी अनुकूल नहीं निकला। 'अपनी ऊंचाई और मजवूती के लिए मशहूर' किले पर एक साल तक घेरा पड़ा रहा। किला जीता नहीं जा सका, फिर भी उसके रक्षक मुश्किलें महसूस करने लगे। उन्होंने सुलह की कोशिश की, परन्तु जो शर्तें लगायीं उनमें यह भी थी कि एक वड़ी रकम संग्रामखान को नकद दी जाये। जव इन शर्तो को पूरा होते उसने नहीं देखा, और डर हो गया कि किला हाथ से वैसे ही निकल जायेगा,

संग्रामखान ने राय सुर्जण को रणथम्भोर सौंप दिया, और 'जो वह चाहता था सभी उससे प्राप्त कर लिया', और 'यह भाग्यहीन सेना इतने वर्षों के प्रयत्न के उपरान्त भी पुरस्कार से वंचित रह गयी'। संग्रामखान अपने साथ हाजीखान अलवरी को लेकर गुजरात चला गया। राय सुर्जण ने रसद तथा सैन्य सामग्री से किले की सुरक्षा व्यवस्था सुदृढ़ कर ली। 'धन और प्रयत्न से' उसने आसपास के कई परगनो पर भी अधिकार कर लिया। हबीब अलीखान और अन्य अमीर निराश होकर, 'आसपास लूटपाट करते', अपनी-अपनी जागीर लौट गये।

'अकबरनामा' में राय सुर्जण को 'राणा उदयसिंह का सेवक[1] और पास पड़ौस मे शक्तिशाली' बताया गया है, और कहा है कि उसने किले में कई इमारतें बनवाकर वहां अपने को मजबूत कर लिया। 'शाही सेना ने किले को जीतने का दृढ़ निश्चय करके उसे घेर लिया। युद्धाग्नि की लपटें ऊंची उठने लगीं, और शत्रु का साहस पानी जैसा ढीला हो गया, लेकिन चूंकि परमात्मा ने किले का जीतना शाहंशाह की देख-रेख मे होने के लिए रोक लिया था, ठीक इसी समय बैरमखान का उपद्रव हो गया, समझदार लोगों ने अन्य कामों को अधिक आवश्यक माना और उन्होंने घेराबन्दी को जारी नहीं रखा।' अल् बदायूनी और अबुल् फज्ल दोनों इस अभियान की असफलता स्वीकार करते है।

इसी साल शाही सेना ने एक बार फिर हुसैनखान के सेनापतित्व में रणथम्भोर पर चढ़ाई की। उसके साथ कई 'वीर सेनानी' थे। राव सुर्जण का इस सेना के साथ जब मैदान में मुकाबला हुआ, उसको पीछे हटकर किले मे जाना पड़ा। शाही सेना ने रणथम्भोर घेर लिया, परन्तु घेराबन्दी बीच ही में उठाकर हुसैनखान को ग्वालियर जाना पड़ा। इस बार भी रणथम्भोर जीता नहीं जा सका। 'हिन्दुस्तान के सबसे सुदृढ़ और सबसे ऊंचे किले की प्रतिष्ठा, जिसे अकबर अपने लिए चुनौती मानने लगा था, अखंड बनी रही।'

अकबर इस तरह असफलता स्वीकार नहीं किया करता था। 'जबकि दर्पपूर्ण दुर्ग चित्तौड़ जीता जा चुका, और विद्रोहियों को सौभाग्य-सेना के हाथियों ने अपने

---

1 "मालवे के अन्य प्रान्तो के साथ रणथम्भोर का किला भी विक्रमादित्य के समय बहादुरशाह की पहली चढ़ाई की शर्तों के अनुसार उक्त सुलतान को सौंप दिया गया था। उसका सेनापति तातारखान वहीं से हुमायू पर चढा था। बहादुरशाह के मारे जाने पर गुजरात की अव्यवस्था के समय यह किला शेरशाह सूर के अधिकार मे आ गया। शेरशाह के पीछे सूरवंश की अवनति के समय महाराणा उदयसिंह ने उधर के दूसरे इलाको के साथ यह किला भी अपने अधिकार मे कर लिया। फिर उसने सुर्जण को वहा का किलेदार नियत किया था। राव देवीसिंह के समय से लेकर सुर्जण तक बूंदी के स्वामी मेवाड के राणाओ के अधीन रहे और जब कभी किसी ने स्वतंत्र होने का उद्योग किया तो उसका दमन किया गया। पहले पहल राव सुर्जण ने मेवाड की अधीनता छोडकर बादशाही सेवा स्वीकार की थी।" (ऐसा करते समय भी उसने महाराणा से अपने संबंध का ध्यान रखा)। मुहणोत नैणसी ने लिखा है कि सुर्जण ने इस शर्त के साथ गढ बादशाह के हवाले किया कि 'मैंने राणा की दुहाई दी है, इसलिए उस पर चढकर कभी नहीं जाऊंगा'। —ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 730, 732

पैरों के नीचे रौंद दिया, उस (अकबर) ने रणथम्भोर की ओर ध्यान दिया, जो चित्तौड़ की बराबरी का था। चूंकि विजय के लिए संगठन करने वाले अधिकारी बारबार इसे लेने के लिए नियुक्त किये जा चुके थे, और कुछ न कुछ इसके लिये जाने के रास्ते में हर बार आ जाता था—वास्तव मे लगने यह लगा था कि भाग्य के नियामकों ने यह महान कार्य स्वयं शाहंशाह के हाथों होने के लिए ही रोक रखा है–उसने ईश्वरीय प्रेरणा प्राप्त करके इस काम को इस शुभ समय में पूरा कर लेने का निश्चय किया। तदनुसार सोमवार, 21 दिसम्बर 1568 को इस महान दुर्ग की विजय के लिए कूच किया गया। अधिकतर ऐसी सेना और सेनानायक साथ लिये गये जो चित्तौड़ की लड़ाई में नहीं शामिल हुए थे। पुण्यात्मा संतो के प्रभाव से अपने हृदय की शक्ति बढ़ाने के लिए वह दिल्ली होकर निकला, और वहां पवित्र स्थानों में प्रकाश की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की।'

मजारो की यात्राओ और दीन-दुःखियों को दिये दानो की तालिका देने के बाद अबुल् फज्ल ने शिकार और 'आनन्ददायी कार्यक्रमों' का पूरा उल्लेख किया है, 'अकबर पूरे मन से आत्मिक और सांसारिक शिकार में लग गया'। मेवात होकर वह अलवर और लालसोट होता हुआ 10 फरवरी 1569 को रणथम्भोर पहुंचा। 'यह किला पर्वती प्रदेश के मध्य मे है। यह बहुत ऊंचा और मजबूत है, जिससे कल्पना की उठानें इसके कंगूरों तक नहीं पहुंच पातीं, और कामनाओ की कूद भी इसकी ऊंची दीवालो तक नहीं जा पाती।' इस तरह के गद्य से संतुष्ट नहीं होकर अबुल् फज्ल पद्य पर उतर आया :

> यह तो न हाथों से बना था,
> न पानी और मिट्टी से,
> कल्पना की चिड़िया इसके ऊपर होकर नहीं निकली थी,
> संसार में ऐसा दुर्ग दूसरा नहीं था।

रणथम्भोर के शासक सुर्जण हाड़ा ने 'किले को कई तरह शक्तिशाली कर लिया था, इसे रसद से भर लिया था, लड़ाई की उसने पूरी तय्यारी कर ली थी, उसने अपनी आशाएं इस पत्थर के टुकड़े पर आधारित कर ली थीं'। वहां पहुंचने के अगले दिन ही शाहंशाह ने अपने शिविर से निकलकर अपने कुछ विशिष्ट दरबारियो के साथ जिस पहाड़ी पर दुर्ग बना था उसका निरीक्षण किया। पहाड़ियों पर चढ़कर उसने खुद किले की ऊंचाई का अंदाज लगाया। 'उसने अपनी कल्पना के दर्पण पर दुर्ग की विजय का चित्र खींचा, और उसको प्राप्त करने के संकल्प को सब ओर से कसकर दृढ़ किया',... 'विश्व-निर्माता की कृपा से मैं इस किले को धूल मे मिलाकर रहूंगा।'

'विश्व-विजयी निर्देशो के अनुसार' सुयोग्य बख्शियों ने किला जिस पहाड़ी पर बना है उसके चारों ओर तोपें खड़ी कर दीं। समुद्र जैसी सेना की तरंगें सब ओर से उमड़ आयीं, और उन्होने विनाशकारी बाढ़ का रूप ले लिया। किले के रक्षकों के आने-जाने

के मार्ग इसतरह बंद कर दिये गये कि 'उनमें होकर हवा भी नहीं निकल सके'। तोपें तेजी से चलने लगीं, और 'भाग्यहीन शत्रु की जीवन-खेती उनकी क्रोधाग्नि में भस्मीभूत हो गयी'।

इतने पर भी जब सफलता नहीं मिली, अकबर ने समझ लिया कि बिना (चित्तौड़ की तरह के) साबात बनवाये सफलता मिलना संभव नहीं है। कासिमखान और टोडरमल्ल (जिन्हें चित्तौड़ मे साबात बनाने का अनुभव था) इस काम पर लगाये गये। सुयोग्य निरीक्षक, शक्तिशाली पत्थर तराशने वाले, लोहे और लकड़ी का काम करने वाले, सात-आठ सौ कहार मिलकर काम पर लग गये। रण की घाटी के पास साबात बनकर तैयार हो गया। उसकी ऊंचाई पास की पहाड़ी जितनी थी। उस पर इतनी भारी तोपें चढ़ायी गयीं कि उनको बैलो की दो सौ जोड़ियां भी मुश्किल से वहां तक पहुंचा पायीं। इनके द्वारा साठ मन के पत्थर के गोले और तीस मन के धातु के गोले फेंके जाते थे।

पहाड़ियों और घाटियों के कारण जहां से आगे के टेढ़े-मेढ़े मार्ग पर बैल काम नहीं आये, 'जिन सीधी ऊंचाइयों पर चीटियो के पैर कांप जाएं' उन पर, 'लोहे जैसी भुजाओं और पत्थर जैसे कंधो वाले कहार और मजदूर' 'सांसारिक एवं स्वर्गिक गुत्थियों को सुलझाने में कुशल' शाहंशाह के निर्देशानुसार, तोपो और गोलों को ले गये।[1] उसकी आज्ञा होते ही तोपें गोले बरसाने लगीं। हर गोले के साथ सारी पहाड़ी कांप उठती थी, सबसे दृढ़ चट्टानो के भी कान फट गये, किले की दीवालें टूट गयीं और मकान चूर-चूर हो गये।

इसके आगे के विवरण के संबंध मे बहुत मतभेद है। निजामुद्दीन अहमद, अबुल् फज्ल और अल् बदायूनी के अनुसार, यह परिस्थिति देखकर सुर्जण को चित्तौड़ के विनाशकारी पतन का ध्यान हो आया, 'उसका मस्तिष्क आश्चर्य के अंधकार से भर गया, और उसकी सांसों से धूल निकलने लगी।' 'उसका घमंड चकनाचूर हो गया, और उसके दम्भ की अग्नि शांत हो गयी।' 19 मार्च 1569 को, अर्थात् रणथम्भोर पहुंचने के कोई पांच सप्ताह बाद, शाहंशाह ने घोषणा की, 'यदि आज किले के संरक्षक हमारी शरण में नहीं आये तो अगले दिन, ईद के मौके पर, हम उसे अवश्य ले लेंगे', और 'राव सुर्जण का सारा साहस टूट गया'—उसने दरबारियो के माध्यम से अपने दो पुत्र दूदा और भोज सम्राट की सेवा मे भेज दिये। उच्चाधिकारियों की सहायता से वे शाहंशाह से भेंट का अवसर प्राप्त करने में सफल हुए, और उन्होंने समर्पण भाव से श्री-चरणों में अपने मस्तक झुका दिये। उन्होने अपने पिता के कुकृत्यों के लिए क्षमा-याचना की, और शाहंशाह के सामने सिजदा करने की अनुमति मांगी। 'चूंकि शाहंशाह का

1 यह वर्णन 'अकबरनामा' मे अंकित है, परन्तु आधुनिक इतिहासकार इसे अस्वीकार करते हैं। अकबर के समय मे ऐसी तोपें न थी जो साठ मन के पत्थर या तीस मन के गोले फेंक सकें और जिनको चार-चार सौ बैल भी समान भूमि पर कठिनता से खींच सकें। (ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 731) हो यह सकता है कि अकबर के समय मे सैनिक उपयोग मे आने वाले मन का वजन भिन्न हो।

क्षमासागर सदा तरंगित रहता है, उनकी आशाओं के कर्ण उदारता के रत्नों से भारी कर दिये गये। क्षमा की पोषाक उनको पहनायी गयी, और वे अपने पिता के पास वापस भेज दिये गये।'

इस अवसर पर एक 'विचित्र घटना' हुई। सुर्जण के पुत्रों के साथ आये एक राजपूत ने उस समय जब उनको खिलअत बख्शी जा रही थी यह समझा कि उनको कैद किया जा रहा है। उसने तलवार निकाल ली, राजा भगवन्त दास के एक राजपूत सेवक द्वारा समझाये जाने पर भी उसकी उत्तेजना कम नहीं हुई, उसने उस पर वार कर दिया, परन्तु वह दृढ़तापूर्वक अपना परामर्श देता रहा। सुर्जण का सेवक नंगी तलवार लिये शाही दौलतखाने की ओर लपका, कई को उसने घायल कर दिया, और वह करीब-करीब शाहंशाह के निकट पहुंच गया। वहां उसे मुजफ्फरखान के एक सेवक ने मार डाला। सारी बात इतनी जल्दी मे हुई कि स्वयं शाहंशाह भी आश्चर्यचकित रह गया। सुर्जण के पुत्रों का दोष नहीं माना गया, उनका इस घटना से संबंध नहीं था, फिर भी उनके मस्तक शर्म से झुक गये। अंततः उन्हें खुशी-खुशी विदा किया गया।

सुर्जण ने 'अपने सम्मान की रक्षा के लिए' प्रार्थना की कि एक प्रमुख दरबारी उसे लेने आये और सम्राट के सम्मुख प्रस्तुत करे। अकबर ने खान जहान हुसैन कुलीखान को भेजा। उसके पहुंचने पर सुर्जण ने बाहर आकर उसका स्वागत किया, और सम्मान के साथ उसे अपने भवन मे ले गया। 22 मार्च को वह अपने किले में से निकलकर बाहर आया, और शाहंशाह के सामने पहुंचते ही साष्टांग दंडवत के रूप में जमीन पर लेट गया। उसने उपर्युक्त भेंट और चांदी-सोने की बनी किले की कुंजियां प्रस्तुत कीं। अत्यन्त उदारता के साथ उसके प्रति व्यवहार किया गया, सुरक्षा और शांति से उसे आश्वस्त किया गया। उसे बताया गया कि उसे शाही सेवा में ले लिया जायेगा। कुछ दरबारियों के माध्यम से उसने कहलाया कि तीन दिन बाद वह किले से सपरिवार निकल आयेगा, और किला शाही सेवकों को सौंप देगा। इस बीच उसके पुत्र शाहंशाह की सेवा में रहेंगे। यह बात स्वीकार कर ली गयी। सेनाओं को मोर्चे छोड़ने के आदेश हो गये। सुर्जण ने तीन दिन में अपने आश्रितों और अपने सामान को निकाल लिया, और किला उसके अन्न एवं सामग्री भण्डारों सहित उच्च शाही अधिकारी मिहतरखान को सौंप दिया। 'ऐसा उच्च दुर्ग, जिसे दीर्घकालीन घेराबन्दी के बाद भी कई महान राजा नहीं जीत सके थे, और जिसे सुलतान अलाउद्दीन ने बड़ी कठिनाई से एक वर्ष में लिया था, शाहंशाह ने एक महीने में जीत लिया।' अगले दिन अकबर स्वयं किले मे गया। वह आकाश-सदृश पर्वत 'अल्लाह-ओ-अकबर' के नारो से गूंज गया, पवित्र मंदिरो से प्रशंसा के स्वर वायु-मण्डल को भरने लगे:

जिधर नजर पड़ी, उधर जीत के चिह्न थे।
जिधर से आवाज पहुंची, वह विजय-ध्वनि थी।

रणथम्भोर से शाही सेना आगरा के लिए और अकबर पाक मजार की जियारत पर अजमेर रवाना हो गया। एक हफ्ते तक हर दिन वह शेख चिश्ती की दरगाह गया। महान विजय के लिए उसने हृदय से कृतज्ञता अर्पित की।

निजामुद्दीन अहमद, अबुल् फज्ल और अल् बदायूनी के बयान किये गये इस हाल को राजपूत पक्ष स्वीकार नहीं करता। इस पर किसी को मतभेद नहीं है कि उस समय के सैनिक विज्ञान और शक्ति का पूरा प्रयोग करके भी शस्त्रों के बल पर रणथम्भोर नही जीता जा सका था, 'उसकी दंभी दीवारें अकबर का उपहास करती रहीं'।

उन क्षणों मे अकबर को चित्तौड़ में उसे जो कष्ट और संकट उठाने पड़े थे उसकी याद आयी। उसने सोचा कि चित्तौड़ जीतने में कितना समय, शक्ति, साधन, सेनानी और सैनिक खपाने पड़े थे, रणथम्भोर कुछ कम सुदृढ़ और सुविशाल नहीं है। फिर, राव सुर्जण के नेतृत्व में दुर्ग के रक्षकों ने अपार वीरता दिखायी। चार-पांच सप्ताह की घेराबन्दी के बाद किले का कुछ बिगाड़ नहीं हुआ। इससे अकबर के मन में राव सुर्जण के प्रति सम्मान होना स्वाभाविक था। वह चित्तौड़ जैसा अनुभव दोहराना नहीं चाहता था। भरी लड़ाई में उसने सुलह करने का प्रयत्न किया।

शाही इतिहासकारो का अनुसरण करने वाली इतिहास-पुस्तकें, जैसे 'केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया',[1] इसे स्वीकार नहीं करतीं कि सुलह की पहल अकबर ने की थी, और नीचे दिये गये आख्यान को कपोल-कल्पित मानती हैं। उनके अनुसार अगर अकबर पहल करके स्वयं वेष बदलकर रणथम्भोर में गया होता तो अल् बदायूनी अथवा अबुल् फज्ल इसका उल्लेख करते। जो उल्लेख है उससे इतना तो स्पष्ट है कि दरबारियों के बीच-बचाव से और उच्च अधिकारियो की सहायता से दुर्ग का समर्पण हुआ। अकबर की पहल और अर्दली के रूप में रणथम्भोर जाना कोई बहुत शान की बातें नहीं थीं, शाही इतिहासकार इन्हें जानबूझकर भुला भी सकते थे। यह भी बात है कि राव सुर्जण यदि स्वयं इस प्रकार सरलता से आत्मसमर्पण के लिए प्रस्तुत हो जाता तो उसे संधि में ऐसी असधारण शर्तें दी जाना आवश्यक नहीं होता।

घटनाक्रम का राजपूत पक्ष भिन्न है।

जब युद्ध लंबा खिच गया, और जीत दूर दीखने लगी, अकबर की ओर से शांति प्रस्ताव आंबेर का राजा भगवन्त दास (कुछ कहते हैं कुंवर मानसिंह भी उसके साथ था) लेकर किले पर गया। राव सुर्जण ने आतिथ्य परम्परा का परिचय दिया। रणथम्भोर के द्वार खोलकर भगवन्त दास और उसके साथ गये लोगों का स्वागत किया गया। जेम्स टाड ने इस यात्रा और सुर्जण से भगवन्त दास की भेंट का जो विवरण दिया है उसमे यह भी कहा है कि इस दल के साथ स्वयं अकबर भी वेष बदलकर अर्दली के रूप में गया था। उसकी उपस्थिति की बात चर्चा के बीच खुल गयी, और संधि-प्रस्ताव जहां

1 'केम्ब्रिज हिस्ट्री', पृष्ठ 101

के तहां उसकी सहमति से स्वीकार हुए। यदि ऐसा नहीं भी हुआ तो भी जो प्रस्ताव वादशाही प्रतिनिधियों और वूंदी के रावराजा के बीच तय हुए, उन्हें वाद में शाही स्वीकृति मिल गयी। यहां महत्व इस वात का है कि प्रस्ताव क्या थे, और कितना वड़ा लालच दिया गया था जिसके आगे अपनी परम्परा छोड़कर राव सुर्जण अकवर के आगे झुका?

राव सुर्जण को समझाया गया, 'यदि आप कुछ दिन लड़ेंगे तव भी वादशाह तो किले को फतह करके ही जायेगा। जव चित्तौड़ जैसे किले को, जिसमें आप जैसे वहुत से सरदार मौजूद थे, वादशाह ने फतह कर लिया, तव आपके किले को जीतना कठिन नहीं होगा।'[1] सुर्जण से कहा गया कि वह मेवाड़ का साथ छोड़कर शाही सेवा में आ जाये। इससे उसकी सुरक्षा भी होगी, और उसे सम्मान भी मिलेगा। रणथम्भोर के वदले में उसे शाही सेवा में वड़े-वड़े औहदे देने का लालच दिया गया। उससे कहा गया कि रणथम्भोर वादशाह को सौंपने पर उसे 52 परगनो की जागीर दी जायेगी।

ऐसा लगता है कि सुर्जण के मन में सवसे ज्यादा यह वात वैठी कि रणथम्भोर की पराजय अवश्यम्भावी है, अतएव उसने अकवर से सुलह की वात मंजूर कर ली।

वूंदी के विवरणो के अनुसार संधि की ये शर्तें तय हुईं—(1) वूंदी वादशाह को अपनी वेटी नहीं देगा, (2) वूंदी की रानियां 'नौरोज' के त्यौहार में शामिल नहीं होंगी, (3) वूंदी के राजा को अटक नदी के पार नहीं भेजा जायेगा, (4) आम और खास शाही दरवार में वूंदी का राजा सशस्त्र जा सकेगा, (5) लालकोट तक वूंदी का राजा अपना नक्कारा वजवा सकेगा, (6) वूंदी के घोड़ो को शाही निशान से नहीं दागा जायेगा, (7) वूंदी का राजा किसी हिन्दू राजा के मातहत होकर लड़ाई पर नहीं भेजा जायेगा।[2]

'वीर विनोद' में, जिसमें से ये शर्तें ली गयी हैं, कहा गया है कि इनमें से कई शर्तें ऐसी हैं 'जिनका सवूत हिन्दुस्तान की तवारीखों से नहीं मिलता है'। इसीलिए लेखक ने मुहणोत नैणसी के इतिहास में दी गयी शर्तें अलग से दी हैं। इनमें दो शर्तें ये भी है—(1) वूंदी मेवाड़ के महाराणा की 'दुहाई' मानता रहेगा, (2) वूंदी का राजा और सेना मेवाड़ पर शाही फौज के साथ नहीं जायेगी। उपरोक्त शर्तों में से अंतिम दो इनमें नहीं हैं।

जेम्स टाड ने जो शत दी है उनमें यह भी शामिल है कि मुस्लिम साम्राज्य का विशेषकर जजिया वूंदी पर नहीं लागू होगा, वूंदी के मंदिरो का सम्मान किया जायेगा, वूंदी के राजा को वादशाह के सामने पहुंचने पर जमीन तक सिर झुकाने को विवश नहीं किया जायेगा, और वूंदी के राजा को कभी अपनी वूंदी से नहीं हटाया जायेगा, वही हाड़ाओं की राजधानी वनी रहेगी।

---

1 चित्तौड के किले को जीतने का प्रभाव काम मे लाया जाने लगा था, और उसका प्रभाव पड़ने भी लगा था।

2 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 84

सुलह की शर्तें इधर-उधर हो सकती हैं, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि इस संधि से हाड़ाओं को मुगल साम्राज्य में 'हर अन्य दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण आंबेर और जोधपुर से ही नहीं, कदाचित् मेवाड़ के अतिरिक्त सभी से, अधिक सम्मानप्रद तथा स्वाधीन स्थान' प्राप्त हो गया। यदि उस समय की दोनों पक्षों की मनःस्थिति देखी जाये तो अपने आप लगेगा कि उस समय बूंदी का राजा कुछ भी मांग सकता था, और अकबर कुछ भी इन्कार नहीं कर सकता था—सिवाय इसके कि वह अधीनता स्वीकार नहीं करे, स्वयं शाही दरावार में नहीं जाये, और रणथम्भोर समर्पित नहीं करे। यही बात नहीं थी कि रणथम्भोर कब्जे में आ रहा था, वहां हो सकने वाले सुदीर्घ एवं कष्टकारी संग्राम से भी बचा जा रहा था। फिर, मेवाड़ के संबंधी और बड़े सामन्त के शाही सेवा में आने की बात थी। इसका जो प्रभाव मेवाड़ में महाराणा और अन्य राजपूत राजाओं पर पड़ेगा, उसका भी आभास अवश्य अकबर को रहा होगा।

रणथम्भोर पर आक्रमण और राव सुर्जण से हुए समझौते की शर्तों का चित्तौड़ और महाराणा उदयसिंह से सीधा संबंध था। राजस्थान का यह दूसरा सबसे महत्वपूर्ण दुर्ग माना जाता था, और राव सुर्जण को शर्तें देते समय हो सकता है शाहंशाह को यह ध्यान हो कि जितनी वे लुभावनी होंगी उतना उदयसिंह उनके प्रति अधिक आकर्षित होगा। रणथम्भोर, और उसके बाद कालिंजर, लिये बिना अकबर अपनी प्रारम्भिक राजपूत-विजय को पूरा हुआ नहीं मान सकता था। रणथम्भोर के चार महीने बाद ही कालिंजर प्रायः इसी प्रकार अकबर के कब्जे में आ गया। चित्तौड़ के बाद इन दोनों दुर्गों के 'अधिकार में आ जाने से भारत के मध्यक्षेत्र में अकबर की सैनिक स्थिति सुरक्षित हो गयी और वह अपनी अन्य महत्वाकांक्षी योजनाओं को सक्रिय रूप देने के लिए स्वतन्त्र हो गया'।

राव सुर्जण को दी गयी शर्तें अत्यन्त उदार और बहुत ही विशिष्ट थीं—ऐसी शर्तें अकबर के जीवनकाल में और किसी राजा को नहीं दी गयीं। मेवाड़ को ही, अकबर के बाद, इससे अच्छी शर्तें मिलीं। अकबर के मन में जो आदर रणथम्भोर का था उसका प्रतिबिम्ब इन शर्तों में स्पष्ट था।[1]

यही नहीं, राव सुर्जण को प्रसन्न करने के लिए उसे वाराणसी (काशी) में अपना महल बनाकर रहने की अनुमति दी गयी, 2,000 का मनसब दिया गया, बनारस प्रान्त का सूबेदार बनाया गया और चुनार का किला भी उसके कब्जे में कर दिया गया।

शर्तें अच्छी थीं, अकबर का रुख आपत्ति-रहित ही नहीं, मित्रतापूर्ण था, विजय की आशा नहीं थी, रणथम्भोर का पतन अवश्यम्भावी था, सुर्जण ने समझौता श्रेयस्कर समझा।

---

1. एक अजब बात है। यदि शर्तें वास्तव मे वही हैं जो उस समय हुई थी तो क्या तब तक जजिया नही उठा था, बेटी की डोली देना अनिवार्य था, मीना बाजार मे राजकुल की महिलाओ का भेजा जाना आवश्यक था, मन्दिरो को क्षति पहुचने की आशका बनी रहती थी ? यदि ऐसा है तो मेवाड वाले नही ही अकबर से समझौता करने से डरते थे।

सैनिक साज-सामग्री के साथ किला शाही अधिकारियों को सौंप दिया गया। इसका प्रबन्ध अकबर ने अनीसुद्दीन मिहतरखान को सौंपा, जो हुमायूं का कोषाध्यक्ष रह चुका था। रणथम्भोर साम्राज्य में शामिल कर लिया गया। अजमेर सूबे में इसे एक स्वतन्त्र सरकार बनाया गया। रणथम्भोर में स्थायी शाही टकसाल स्थापित की गयी, जहां तांबे के सिक्के ढ़लते थे।

राव सुर्जण वाराणसी मे रहने लगा। वहां वह धर्म-कार्यो में लग गया और उसने सर्व साधारण के हित के भी अनेक काम किये। उसकी उदारता प्रसिद्ध हो गयी। वाराणसी नगर और अपने मोहल्ले में उसने अनेक सुधार कराये। उसने 84 इमारतें और 20 घाट बनवाये।

जब अकबर ने, आगे चलकर, दीन-इ-इलाही धर्म चलाया, राव सुर्जण को भी उसमें शामिल होने का निमन्त्रण दिया गया। उसने अपनी असमर्थता प्रकट की, फिर भी उसकी प्रतिष्ठा कम नही की गयी। बूंदी के महाराव के प्रति अकबर के मन में सदा विशेष स्थान रहा। वह कभी भूल नही सका कि जब बिना सैनिक संरक्षण के उसके सम्मान्य प्रतिनिधि, और कदाचित् वह स्वयं भी, रणथम्भोर के भीतर गये, तब अवसर मिलने पर भी न उनको क्षति पहुंचायी गयी थी, न उनका अपमान किया गया था।

वास्तव में चित्तौड़ और रणथम्भोर के प्रति अकबर हृदय से कृतज्ञ था, इनको जीतने मे उसे कष्ट हुआ था, परन्तु इन पर विजय होने के उपरान्त ही उसके भारत-विजय-अभियान ने गति पकड़ी थी, जिस भारतव्यापी साम्राज्य की स्थापना ने अकबर को 'मुगल-साम्राज्य का वास्तविक निर्माता' बनाया, ये गौरवशाली, इतिहास-प्रसिद्ध, सुदृढ़ दुर्ग उसकी आधार-शिला सिद्ध हुए।[1]

इन विजयों को स्मृति मे ही अकबर ने अपनी नयी राजधानी का नाम 'फतह-पुर' रखा।

प्रचलित यह है कि फतहपुर का नामकरण गुजरात-विजय के उपलक्ष मे किया गया था। परन्तु समकालीन वर्णन पढ़ने से लगता है कि यह कल्पना सही नही हो सकती। अबुल् फज्ल और अल् बदायूनी दोनो के इतिहास-ग्रंथो मे ऐसा कोई उल्लेख नही है जिससे इस मान्यता को समर्थन प्राप्त हो। इनके बाद लिखे गये ग्रन्थ इनसे अधिक प्रामाणिक नही हो सकते।

फतहपुर का पहले नाम सीकरी था, और फतहपुर नाम के कई कस्बे होने के कारण इसे अभी भी फतहपुर-सीकरी कहा जाता है। यहा प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित सन्त

---

1 "मेडता, चित्तौड, रणथम्भोर तथा कालिंजर, चारो दुर्गो के अनुबन्धन से हिन्दुस्तान के प्रदेशो पर साम्राज्यिक शासन का नियन्त्रण स्थापित कर लेने के पश्चात् अकबर इस स्थिति मे था कि दोनो ओर सामुद्रिक तटो तक अपने राज्य का विस्तार करले।"

—स्मिथ, पृष्ठ 110

शेख सलीम चिश्ती रहा करते थे, अकबर उनका बहुत सम्मान करता था। उनसे धार्मिक चर्चा में उसे बहुत शान्ति मिलती थी, उनके पास वह अक्सर आया करता था। जैसा कि बताया जा चुका है, उसका मानना था कि शेख सलीम के आशीर्वाद से ही उसे पहला पुत्र प्राप्त हुआ, 'एक दीपक आया और उसने परिवार को आलोकित कर दिया'—उसका नाम शेख के नाम पर सलीम रखा गया, जो आगे चलकर जहांगीर के नाम से भारत का सम्राट हुआ। सलीम तथा अकबर के दूसरे पुत्र मुराद का जन्म सीकरी में ही हुआ था। इस स्थान के प्रति इतना आकृष्ट और कृतज्ञ होने के उपरान्त भी इसका नाम सलीम के नाम पर नहीं रखा गया, न संत के नाम पर, न उत्तराधिकारी के नाम पर।

चित्तौड़ 1568 में, रणथम्भोर 1569 में और कालिंजर भी 1569 में जीते गये थे। इसके ठीक बाद ही सीकरी में पहले शाही मकान बनने शुरू हुए थे, जिनमें शाहजादों का जन्म हुआ। निर्माण-कार्य के आरम्भ की ठीक तिथि अल् बदायूनी ने दी है: 1569[1], अबुल् फज्ल के अनुसार भी मुख्य निर्माण कार्य 1571 मे आरम्भ हो गया था।[2] इसी वर्णन के साथ उसने लिखा है कि शाहंशाह ने नयी राजधानी का नाम फतहाबाद रखा, जो लोक-व्यवहार में फतहपुर हो गया।

अबुल् फज्ल ने नये शहर को यह नाम देने का कारण नहीं बताया है, लेकिन जिस अध्याय मे नामकरण का उल्लेख है उससे एक अध्याय आगे 'गुजरात देश को विजय के लिए शाहंशाह की विश्व-विजयी सेना का अभियान' आरम्भ होता है। जो अभियान नामकरण के बाद हुआ उसकी सफलता की स्मृति में नाम कैसे रखा जा सकता था? नागौर, कालिंजर, रणथम्भोर और चित्तौड़ विजयों का वर्णन नामकरण के पहले आया है। घटनाओं का जो क्रम अबुल् फज्ल ने दिया है वह नये नगर के नामकरण का कारण स्वयं स्पष्ट करता है।

1 अल् बदायूनी, पृष्ठ 112
2 अबुल् फज्ल, पृष्ठ 530

# 4

# प्रताप को चुनौती

मेवाड़ का राज जिस प्रकार स्वाभाविक रूप से उदयसिंह को नही मिला था, उसी प्रकार उसके पुत्र प्रतापसिंह को भी नहीं मिला। इस बात की कल्पना करके मन कांप जाता है, समझ मे नहीं आता कि आखिर होता क्या, यदि जिस स्थान पर बैठकर प्रताप ने अपने वंश को ही नही, सारे राष्ट्र को आलोकित कर दिया, वह स्थान––उसका होते हुए भी––उसे नही मिलता।

संग्रामसिंह की एक रानी ने अपने पति पर अतिशय और अनुचित प्रभाव डालकर उसे मेवाड़ के दो टुकड़े करने को विवश किया था। उदयसिंह की एक रानी ने अपने पति पर प्रभाव डालकर जो राजपूतो में नहीं होता था वह करवा लिया––उससे हुआ पुत्र, उत्तराधिकार में नवें स्थान पर होते हुए भी, मेवाड़ की गद्दी पर बैठा दिया गया।

उदयसिंह ने अठारह विवाह किये थे, जिनसे 24 पुत्र[1] और 20 पुत्रियां[2] हुईं। पुत्रियो के न नाम मिलते है, न वैवाहिक सम्बन्ध मालूम होते हैं। पुत्रों में सबसे बड़ा प्रताप था, जिसका जन्म उदयसिंह के प्रथम वैवाहिक सम्बन्ध से हुआ था। दूसरे अध्याय में हम देख चुके है, किस प्रकार मारवाड़ से पाली के सोनगरा अखैराज को आमन्त्रित करके उदयसिंह का विवाह करवाया गया था––मेवाड़ के महाराणा के रूप में उदयसिंह की सर्वमान्य स्वीकृति में इस सम्बन्ध का बड़ा योगदान था।

1 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 86
2. गहलोत, पृष्ठ 233

उदयसिंह ने इसका भी ध्यान नही रखा। अखैराज की जिस पुत्री से उदयसिंह का विवाह हुआ था उसका नाम था जैवंता बाई। (ऐसे नाम राजस्थान मे बहुत प्रचलित थे।) जैवंता का शुद्ध रूप जयवंता होना चाहिये, और कन्या के लिए प्रयुक्त होने पर 'जयवंती', जो जयंती का लोक प्रचलित रूप है : इसके अर्थ होते है विजयी तथा पताका। जैवंता बाई के पुत्र प्रताप को अन्ततः मेवाड़ का राज्य मिला, इसके पीछे माता के नाम का प्रभाव ही तो नहीं था, जिसने प्रताप को विजयी बनाया, और उसकी पताका को इतना ऊंचा उठा दिया कि उसका स्मरण करते ही, अब शताब्दियों बाद भी, मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है।

परन्तु जैवंता बाई धीर बाई से हार गयी। धीर बाई जैसलमेर के राजवंश की पुत्री थी। उसका पति महाराणा उदयसिह 'उसके वशीभूत था'। ऐसा लगता है कि वह बहुत ही रूपवती और लावण्यमयी थी। तभी तो वह उदयसिह को राजवंश की परम्परा के विरुद्ध छोटे पुत्र को राजगद्दी देने को प्रेरित, प्रेरित क्या मोहित कर सकी।[1]

जैवंता बाई के एक ही पुत्र, प्रतापसिंह, हुआ था। धीर बाई के पांच पुत्र हुए, जगमाल, सगर, अगर, साह और पंचायण–'जिनकी शक्ति उन्ही की कीर्ति का नाश करने वाली थी'। इनमें से जगमाल ने न्यायोचित उत्तराधिकार मे बाधा डाली, और उसमें सफलता नही मिलने पर वह बादशाह अकबर की शरण मे चला गया। सगर को भी शाही सेवा ने आकृष्ट किया, और वह बादाशाह जहांगीर का इतना हिमायती बना कि उसने सगर को मेवाड़ का महाराणा ही बना दिया। यह बड़ा विवादास्पद अधिकार था, परन्तु धीर बाई का एक और बेटा भी मेवाड़ के सिंहासन का स्वामी बना। अगर ने भी शाही सेवा स्वीकार की। शेष दो पुत्रो के सम्बन्ध मे ऐसी कोई बात नहीं मिलती।[2]

परन्तु पांच मे से तीन पुत्र जब बादशाही शरण मे चले जायें तो माथा अवश्य ठनकता है--इनमें से किसी को भी यदि मेवाड़ का राज्य स्थायी रूप से मिल जाता तो मेवाड़ के गौरव का क्या होता--जो उस समय भारत के गौरव का पर्याय हो गया था!

उदयसिंह के शेष पुत्रों मे से जिसने बहुत नाम कमाया वह था प्रताप के तत्काल बाद वरिष्ठता प्राप्त शक्तिसिंह, जो अपने पिता के समय मे ही शाही सेवा मे चला गया था, यद्यपि, जैसा कि हम देख चुके हैं, अकबर द्वारा चित्तौड़ पर किये गये आक्रमण के ठीक पहले वह अपने पिता के पास लौट आया था। दुबारा फिर वह शाही सेवा मे गया, इसका कोई अधिकृत वर्णन नही मिलता। जिन परिस्थितियो में वह अकबर के शिविर से बिना शाही आज्ञा के लौट आया था, उससे लगता भी नही कि वह कम से कम अकबर

---

1 राजेस्थान के राजपूत राजवशो मे जैसलमेर अपनी पुत्रियो के सौंदर्य के लिए सुप्रसिद्ध था, उन्हे प्राप्त करने के लिए राजवशो मे होड लग जाती थी। साथ ही, जहा वे व्याह कर जाती थी वहा अपने आकर्षण के कारण कई बार अनहोनी बाते करा लेती थी, जिससे कई कुनबो मे भयकर झगडे भी हो गये थे।

2 नैणसी, पृष्ठ 61

के सामने फिर से जा सका हो। 'सम्भवतः वह चित्तौड़ के आक्रमण के समय काम आ गया।'[1] इसकी संभावना बहुत ही मालूम देती है कि जो भावना उसे ऐन मौके पर अकबर के दरबार में से उदयसिंह के पास खींच लायी उसी ने उसे अपना बलिदान करके अपने नाम पर लगी कालिख को धो फैंकने के लिए प्रेरित भी किया। परन्तु एक बड़ी दिक्कत इस धारणा को आगे ले जाने में है। चित्तौड़ की लड़ाई मे जिन लोगो के नाम मिलते हैं उनमें शक्तिसिंह का उल्लेख नहीं है। चित्तौड़ में हुए ऐतिहासिक परामर्श के बाद शक्तिसिंह का क्या हुआ था, कोई नहीं कह सकता।[2]

उदयसिंह के किसी और पुत्र के शाही सेवा में जाने का हाल नहीं मिलता, असल में तो उनका कोई हाल ही ज्यादा नहीं मिलता। उनके नाम थे—वीरमदेव, जैतसिह, कान्ह, रायसिह, शार्दूलसिह, रुद्रसिह, नारायणदास, सुलतान, लूणकरण, महेशदास, चंदा, भावसिह, नेतसिह, नगराज, वैरीसाल, मानसिह और साहिबखान।

उदयसिह फरवरी 1572 मे गोगूंदा आया था। वहीं वह बीमार पड़ा। बीमारी के दिनो में, बिना बहुतो को बताये, उसने जगमाल को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया, 'क्योंकि महाराणी भटियाणी पर इन महाराजा की ज्यादा मेहरबानी थी'। उसी महीने के अन्त मे उदयसिह का देहान्त हो गया।

## राजमहलों में क्रान्ति

राजस्थान के राजवंशो में परम्परा है कि सबसे वरिष्ठ पुत्र या उत्तराधिकारी, जिसे राज मिलने को होता है, पूर्व शासक के दाह संस्कार में नहीं जाता। राजगद्दी खाली नहीं रहती, उधर शव निकलता है, इधर उसे राजगद्दी पर बैठा दिया जाता है, और उसके नाम की दुहाई फिरा दी जाती है।

जब उदयसिह के दाह संस्कार के समय जगमाल नहीं दिखायी दिया, लोगो मे कानाफूसी होने लगी। जगमाल के सगे भाई सगर से ग्वालियर के राजा रामसिह तंवर ने पूछा, 'जगमाल कहां है?' सगर ने यह कहकर जगमाल के महाराणा हो जाने की बात प्रकट कर दी—'आप क्या नहीं जानते? वैकुंठवासी महाराणा ने उनको राज्य का मालिक बनाया है।'

---

1 गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान, पृष्ठ 284

2 चारण कवि गिरधर आशिया द्वारा (1664 के आस-पास) लिखित 'सगत रासो' से गुत्थी कुछ सुलझती है, लेकिन इसका दिया घटनाक्रम अभी इतिहासकार स्वीकार नहीं कर पाये हैं। 'सगत रासो' के अनुसार शक्तिसिंह के चित्तौड पहुचने पर दुर्ग-रक्षको ने उसे ऊपर नही चढने दिया, और वह बिना उदयसिंह से मिले, 'अपने प्रयोजन मे असफल होकर', डूगरपुर चला गया, वहा से भींडर के निकट बेणगढ जाकर रहने लगा। यहा उसने मिर्जा बहादुर की फौज का परास्त किया। थोड़े समय बाद शक्तिसिंह यहा से दिल्ली गया, 'अकबर उसकी वीरता पर बहुत प्रसन्न हुआ', और उसे मानसिंह की सेना के साथ 'मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए भेजा'। हल्दीघाटी के युद्ध के पश्चात्, 'शक्तिसिंह ने प्रताप को समझाया किन्तु वह माना नहीं'। गोगूदा मे वह मानसिंह से किसी कारण अप्रसन्न हो गया, और भैंसरोड़गढ चला गया और वहीं पर अपनी राजधानी बनाकर रहने लगा। इन तथ्यों का ऐतिहासिक दृष्टि से विस्तृत परीक्षण होने पर ही शक्तिसिंह का जीवन-क्रम वास्तविक रूप से निर्धारित हो सकता है—यह पृथक् और स्वतन्त्र विषय है।

इस बात से सबसे ज्यादा सोनगरा अखैराज को ही आश्चर्य और सन्ताप होना था। प्रताप उसी की पुत्री का पुत्र था। अखैराज अब मेवाड़ का वरिष्ठ सामन्त था, इसलिए राज्य की परम्परा का सम्मान कराना भी उसने अपना दायित्व माना। उसने सलूम्बर के रावत कृष्णदास और देवगढ़ के रावत सांगा से कहा कि आप चूंडा के वंशधर हे, उत्तराधिकार का काम आपकी सम्मति से ही होना चाहिये।[1]

जो प्रमुख लोग वहा उपस्थित थे उनमें वही मन्त्रणा हुई। मुख्य मत यह था, 'बादशाह अकबर जेसा तो दुश्मन सिर पर लगा हुआ है, चित्तौड़ छूट गया, मेवाड़ उजड़ रहा हे, अब यह घर का बखेड़ा भी उठा तो इस राज्य की बरबादी में क्या संदेह रहा ?'

कृष्णदास ओर सांगा ने कहा—'पाटवी (सबसे बड़ा), हकदार और बहादुर प्रतापसिंह किस कसूर से खारिज समझा जाये ?' इसका किसी के पास कोई उत्तर नही था। अतएव स्वतः निश्चय हो गया कि मेवाड़ का राज प्रतापसिंह को ही दिया जायेगा।

दाह संस्कार से निवृत्त होकर सब महाराणा के निवास-स्थान पर गये। वहां जगमाल राजगद्दी पर आसीन था। स्पष्ट है कि कुछ सामन्तों ने उसका पक्ष भी ले रखा था। परन्तु अगले कुछ क्षणो मे जो कुछ हो गया उसका यथास्थान विरोध करने का साहस न जगमाल को हुआ, न उसके समर्थको को। परम्परा और औचित्य जो उनके पक्ष मे नहीं था।

रावत कृष्णदास और ग्वालियर के भूतपूर्व राजा रामसिंह तंवर ने जगमाल का एक-एक हाथ पकड़ा, और उसे राजगद्दी के सामने वैठा दिया। बिना कुछ कहे सब कुछ स्पष्ट हो गया, मेवाड़ की राजगद्दी खाली हो गयी, और उस पर अनुचित अधिकार करने वाला उस स्थान पर बैठा दिया गया जो मेवाड़ के राजदरबारी नियमो के अनुसार महाराणा के भाई का होता हे। जो गद्दी खाली हुई थी उस पर बुलाकर प्रतापसिंह को बैठाया गया। यह मानकर कि उसकी जन्मभूमि को उसकी आवश्यकता नहीं है, उस

---

1 मेवाड मे "पाट" (राज्य) के स्वामी महाराणा और "ठाट" (राज्य प्रबन्ध) के अधिकारी चूडा का मुख्य वशधर माना जाता था। "भाजगढ" (राज्य प्रबन्ध) आदि का काम उसी की सम्मति से होता चला आता था। इस कारण यह परम्परा हो गयी थी कि मेवाड का राजसिंहासन किसे दिया जाये इस सम्बन्ध मे उनका परामर्श प्राप्त किया जाता था और उसका सम्मान किया जाता था। वरिष्ठतम पुत्र को स्वाभाविक रूप से राज गद्दी नही मिलने पर ऐसी आवश्यकता होती थी। कुम्भा के पितृघाती पुत्र उदयसिंह को राजगद्दी से हटाकर उसके छोटे भाई रायमल्ल को राज्य देने का निश्चय मेवाड के सामन्तो ने रावत चूडा के पुत्र काधल के नेतृत्व मे ही किया था। इस वश के लोग 'मेवाड़ के राजपूतो मे प्रथम' माने जाते थे। वैसे, उन दिनो राजस्थान के कई राजकुलो मे यह परम्परा भी चल निकली थी कि राज्य वरिष्ठतम पुत्र को ही नही, योग्यतम अथवा सफलतम पुत्र को दिया जाता था। जोधपुर के राजा मालदेव ने अपना उत्तराधिकार दो वरिष्ठ पुत्र राम और उदयसिंह को न देकर तीसरे पुत्र चन्द्रसेन को दिया था, जो प्रताप का समकालीन था। मेवाड मे पुरानी परम्परा अभी तक चली आ रही थी।

समय प्रताप मेवाड़ छोड़ने की तैयारी में था। मेवाड़ का भाग्य विगड़ते-विगड़ते सम्हल गया। उचित अधिकारी को ही नहीं, अतीत का गौरव निभा सकने वाले, और हर तरह के भविष्य का सामना कर सकने वाले को मेवाड़ का ऐतिहासिक राजसिंहासन प्राप्त हुआ।[1] रावत कृष्णदास ने प्रतापसिंह की कमर में राजकीय तलवार बांधी, और झुककर तीन बार मुजरा (हाथ को जमीन से छुआकर माथे तक ले जाना, शासक के सम्मान का मान्य तरीका) किया। इसके बाद तो जो लोग उपस्थित थे सभी ने प्रताप का विधिवत् सम्मान किया। 'महाराणा प्रतापसिंह की जय' से आकाश गूंज गया।[2]

"सब राजाओं, सामन्तों आदि ने तख्त को सुशोभित करने हेतु राणा प्रताप के मस्तक की छत्र से शोभा बढ़ायी। समस्त मेवाड़ मे प्रताप की दुहाई फेरी गयी। उसे सुनकर संसार सुखी हो गया। दुःख हुआ तो केवल यवनों को ही। भारतवर्ष मे उत्सव के नक्कारे बजे।......महाराणा ने सभा (राजतिलक दरबार) की। उसे देखने पर अन्य हिन्दू एवं यवन वीरों की तुलना राणा से नही की जा सकती थी। सिंहासनारूढ़ राणा का मस्तक छत्र से सुशोभित था। अविराम चंवर-संचालन हो रहा था। राणा के शरीर में उस समय तीनो सत-रज-तम गुण विद्यमान थे। तमोगुण थोड़ा था, जिसका उपयोग केवल शत्रुओ के लिए किया जाता था। हृदय पर मुक्ता-माल गगा-धारा-सी शोभा दे रही थी। हाथ में गदा सुशोभित थी। कामदेव रूप राणा के शरीर पर शत्रु के स्थानों पर आक्रमण करने हेतु तलवार कसी हुई थी। यमराज की दाढ़ो के समान कटारी भी बंधी हुई थी। सभा के वीच, राणा के दायें-वायें, वहुत से राजा गण वैठे हुए थे।"[3]

---

1 प्रचलित धारणा यह है कि गोगूदा गाँव के पूरव-उत्तर की तरफ महादेव की वाडी नाम की जो वावडी है उसके पास वनी छतरी मे प्रताप का राजतिलक हुआ था। इसको स्वीकार करने का कोई कारण नही लगता। गोगूदा मे उस समय विधिवत् महाराणाओं का निवास-स्थान था, जहा दरबार की जगह भी अवश्य होगी। जगमाल वहीं वैठा होगा, इस आशा मे कि दाह सस्कार से लौटने पर शेष सरदार आदि भी उसका सम्मान करेंगे। जो लौटे उनके लिए, अपने निश्चय को पूरा करने के लिए, वही से जगमाल को उठाना, और वही प्रताप को वैठाना आवश्यक था।

गोगूदा मे स्थापित महाराणा प्रताप स्मारक समिति की ओर से आवाज उठायी गयी है कि गोगूदा मे प्रताप के राजतिलक के दिन वार्षिक मेला लगना चाहिये।

प्राकृतिक छटा की दृष्टि से गोगूदा आवू जैसा मनोरम है, वर्षा मे विशेष दर्शनीय हो जाता है, गर्मी मे भी सुहावना रहता है। प्रताप के प्रति सम्मान प्रकट करने और साथ-साथ प्राकृतिक सौंदर्य का अवलोकन करने यहा वहुधा लोग पहुचते है।

2. यह एक प्रकार से 'राजमहलो की क्रांति' थी, जवकि पूर्व महाराणा के निर्णय को वदलकर गद्दी पर वैठे महाराणा का हटा दिया गया था। 'प्रताप ने अपने अब तक के जीवन मे चरित्र और व्यवहार का जो प्रदर्शन किया था, उसी के कारण यह वडा परिवर्तन विना किसी विरोध और पेचीदगी के हो सका। मेवाड मे इस कारण किसी प्रकार का मतभेद नहीं सामने आया। लगभग इन्हीं दिनों मारवाड मे भी ऐसी स्थिति आयी थी। जोधपुर के महाराव मालदेव की मृत्यु पर उसके निर्देश से, छोटा पुत्र चन्द्रसेन राजगद्दी पर वैठा था। इस पर मारवाड के राठोडो मे फूट पड गयी, वडा लडका, जो पहले ही अकवर की शरण मे चला गया था, जोधपुर पर शाही सेना ले आया। मारवाड का वडा भाग मुगलो के हाथ मे चला गया, चन्द्रसेन सारे जीवन इधर-उधर घूमकर विद्रोह का झडा फहराता रहा।

3. 'राणा रासो', पद 236, 237

जगमाल को यह कुछ भी नही भाया। वह अपनी नाराजी प्रकट करने के लिए वहां से उठकर चला गया, अपने निवास-स्थान पहुंचा, और अपने वाल-वच्चों तथा माल-सामान को लेकर उसने मेवाड़ से कूच कर दिया। वह गोगूंदा से मेवाड़ के ही कस्बे जहाजपुर पहुंचा, जो उस समय अजमेर के शाही सूबेदार के क्षेत्र में पड़ता था। उसे संरक्षण दिया गया, और जहाजपुर का परगना ठेके मे लिख दिया गया। जगमाल जहाजपुर से दिल्ली पहुंचा, जहां वादशाह अकबर ने (मेवाड़ का महाराणा न सही, एक वार जो महाराणा वन गया था वह तो आया है, यह जानकर) उसका यथोचित सम्मान किया। परन्तु अकवर ने जगमाल के कारण मेवाड़ मे उत्तराधिकार के प्रश्न पर अपनी ओर से हस्तक्षेप करना ठीक नहीं समझा, उस समय वह मेवाड़ से लड़ाई नहीं करना चाहता था। जगमाल ने शाही सेवा स्वीकार की, उसे अकवर ने जहाजपुर की जागीर दे दी। यह जागीर उसके पास 1581 तक रही।

मुहणोत नैणसी ने लिखा है, 'जगमाल वड़ा कर्त्ता आदमी था।' 'कर्त्ता' से यहां कदाचित् चतुर का आभास दिया गया है। चतुर तो वह अवश्य था। उसने मेवाड़ का राज प्राप्त कर लिया था, और वहां से निकल आने पर मेवाड़ के सवसे वड़े शत्रु की शरण ली थी, और उससे मेवाड़ का ही एक परम्परागत प्रदेश जागीर में प्राप्त कर लिया था। परन्तु इससे कोई काम नही वना। मेवाड़ के स्वतन्त्र प्रदेश मे वह इसके वाद कभी प्रवेश नहीं प्राप्त कर सका।

1571 मे एक घटना ऐसी हुई कि जगमाल को अपना भाग्य अजमाने का एक मौका और मिल गया। सिरोही के राजा मानसिंह के, जिसकी पुत्री से जगमाल का विवाह हुआ था, उस वर्ष मर जाने से वहां की राजगद्दी खाली हो गयी। जगमाल के हित के प्रति अपनी रुचि दिखाने के लिए अकबर ने उसे सिरोही का राजा मनोनीत कर दिया। सच वात यह थी कि मानसिंह ने शाही सेवा स्वीकार नहीं करके अकवर को चिढ़ा रखा था, और वह वहां की गद्दी पर अपना हिमायती चाहता था। उधर, सिरोही के सदा से मेवाड़ को अपना प्रमुख मानने के अधिकार का उपयोग करके महाराणा प्रताप ने कल्ला को वहां का राजा वना दिया। इस प्रकार, दूर-दूर से ही सही, अकवर और प्रताप में टक्कर की नौवत आ गयी। लेकिन दोनो को मालूम नहीं था, मरने के पहले मानसिंह ने सुरताण को सिरोही का राजा वनाने का निश्चय कर लिया था।

सुरताण सिरोही का राजा हो गया। अपने कुटुंवी देवड़ा वीजा से उसकी अनवन हो गयी। दोनो मे जिन दिनो युद्ध की नौवत आ गयी थी, वीकानेर का राजा रायसिंह (जो उन दिनो अकवर की सेवा में था) सोरठ जाता हुआ सिरोही राज्य मे पहुंचा। उससे सुरताण और बीजा दोनो मिले, और दोनो ने उससे सहायता का अनुरोध किया। रायसिंह ने सुरताण के सामने प्रस्ताव रखा कि यदि वह सिरोही का आधा राज्य वादशाह अकबर को दे दे तो शाही सेना की सहायता से वीजा को सिरोही राज्य से

निकाल दिया जायेगा। सुरताण इससे सहमत हो गया। बीजा से सिरोही को छुटकारा दिलाकर रायसिंह ने अकबर के आदेशानुसार आधा राज्य जगमाल को दे दिया। 'इस प्रकार एक म्यान में दो तलवारों की तरह सिरोही में दो राजा राज करने लगे।'

स्वभावतः सुरताण और जगमाल में दिन प्रतिदिन झगड़े होने लगे। जगमाल ने फिर अकबर से अनुरोध किया कि उसे सिरोही का पूरा राज्य दिलाया जाये। बादशाह ने उसकी सहायता के लिए जोधपुर के राव चंद्रसेन के तीसरे पुत्र रायसिंह और दांतीवाड़ा के मालिक कोलीसिंह के नेतृत्व में शाही सेना भेजी। जगमाल शाही फौज लेकर आ रहा है, यह मालूम होने पर सुरताण राजधानी सिरोही छोड़कर आबू पहाड़ पर चला गया—सिरोही पर बिना लड़े अधिकार हो गया।

जगमाल को उसकी पत्नी, और सिरोही के स्वर्गवासी राजा की पुत्री, ने उकसाया कि उसे आधा-अधूरा क्या, पूरा ही राज्य लेना चाहिये। जगमाल को जो भाग्य से मिला था, उसके खोते देरी नहीं लगी। शाही सेना लेकर उसने आबू पर चढ़ाई कर दी। सुरताण ने भी युद्ध की तैयारी की। 17 अक्टूबर 1583 को दोनो सेनाओं के बीच दातानी में लड़ाई हुई। शाही सेना का कुछ बस नहीं चला। इसमे जगमाल ही नहीं, शाही सेना के रायसिंह और कोलीसिंह भी मारे गये। राजस्थान के इतिहास का यह कम प्रसिद्ध, परन्तु अतिशय गौरवशाली युद्ध है, जहां अकबर की सेना को, जोधपुर तथा दांतीवाड़ के मुगल-पक्षीय राजपूतों सहित, सिरोही जैसे छोटे-से राज्य के सैनिकों से पराजय स्वीकार करनी पड़ी थी। आक्रमणकारी सेना के सब नेता और अधिकांश सैनिक मारे गये थे। सुरताण का फिर से पूरे सिरोही राज्य पर अधिकार हो गया। जगमाल की मृत्यु से एक ऐसे जीवन पर पटाक्षेप हुआ जिसने एक बार तो मेवाड़ में बड़ा संकट उत्पन्न कर दिया था।

## उल्लास और उत्साह

राज-सभा से इधर जगमाल विदा हुआ, उधर नये महाराणा प्रतापसिंह के राज्यारोहण का उल्लास और उत्साह खुलकर सामने आया। उदयसिंह का देहावसान और प्रतापसिंह का राज्यारोहण जिस दिन हुआ था वह होली का दिन था। उस त्यौहार को मेवाड़ में मनाने का परम्परागत तरीका यह था कि महाराणा अपने सरदारों, राजकुमारों आदि के साथ 'अहेड़ा' पर (सूअर के शिकार को) जाता था।

जैसे ही राज्यारोहण की रस्म पूरी हुई, इसी परम्परा की स्मृतियों से सबके मन ओत-प्रोत हो गये। पिता के मरने का शोक था, लेकिन यह भी भय था कि यदि शकुन के शिकार पर नहीं जाया गया तो पुश्तो तक इस दिन की 'औख' (गमी) रह जायेगी। प्रताप को इसका आभास था। उसने स्वयं सबको आखेट के लिए आमंत्रित किया। सब शिकार को निकल पड़े। सफलता तो मिलनी ही थी—सब आश्वस्त होकर, आत्मविश्वास दूना करके लौटे।

और यह भी क्या कोई विकल्प हुआ कि वह उसी मार्ग पर चलता रहा जो उसके पिता उदयसिंह ने, तथा उसके परम शत्रु अकबर ने, मिलकर निर्धारित कर दिया था ? यह तो प्रताप को करना ही था, इसके अलावा वह कर क्या सकता था ? आखिर वह आदमी था, साहसी था, उसे अतीत का ध्यान था और भविष्य का भी। वह उस रास्ते से भाग कैसे सकता था ? अकबर की हर चाल का, चाहे वह रक्षा-नीति की हो चाहे कूट-नीति की, मुंह तोड़ जवाब देना ही उस समय प्रताप के लिए सबसे स्वाभाविक, और अनिवार्य, मार्ग था। "प्रताप और अकबर के बीच मतभेद इतने अधिक थे कि शांति से समझौता हो ही नही सकता था, सिवा संग्राम के निर्णायक दूसरा नहीं बचा था।"[1] 'राणा प्रतापसिंह साम्राज्य की शक्ति का अनम्य प्रतिरोध करता रहा।'

"अकबर की मेवाड़ के उस पश्चिमी अर्ध-भाग को जो 1568 में उसके अधिकार में आते-आते रह गया था, जीतने की इच्छा ने उसे ऐसे विपक्षी से अनवरत संघर्ष में ला दिया जो राज्य के विस्तार, भौतिक साधनो और जनबल में बहुत हीन होते हुए भी, साहस, पुरुषोचित शौर्य, चारित्रिक दृढ़ता, देशभक्ति, सैनिक प्रतिभा और वास्तव में केवल रचनात्मक योग्यता, दूरदर्शिता, राजनीतिक अन्तर्दृष्टि और नीतिज्ञता को छोड़कर[2] नेतृत्व के सभी गुणो में उसके ही जोड़ का था। लगभग समान वय के[3] अकबर और प्रताप दोनो ही असाधारण पुरुष थे और प्रत्येक अपनी-अपनी तरह से अद्वितीय था। दोनो एक आदर्शवाद से प्रेरित थे, और यद्यपि उनके आदर्शो में विभिन्नता थी पर फिर भी वे उनके लिए कोई भी त्याग करने को प्रस्तुत थे। दोनो ही कर्मवीर थे। अकबर की महत्वाकांक्षा थी कि वह भारतीय अर्द्ध-महाद्वीप को एक ही शासन दंड के अन्तर्गत लाकर एकता स्थापित करे। इसीलिए उसने देश के प्राचीन राजवंशों के प्रति आक्रमणकारी नीति अपनायी थी। दूसरी ओर राणा प्रताप के जीवन का मुख्य उद्देश्य हर कीमत पर अपने राज्य की स्वतन्त्रता और अपने स्वतन्त्र पद को युग के सर्वाधिक शक्तिशाली और ऐश्वर्यशाली सम्राट के अनवरत अतिक्रमण से बचाये रखना था। जिस सीसोदिया वंश ने सदियो तक भारत के राजपूत राज्यवंशों में प्रथम स्थान का उपभोग किया था, राणा उसी सीसोदिया (गुहिलोत) वंश का प्रमुख होने के नाते अकबर की पराधीनता स्वीकार कर अपने पूर्वजो के पक्ष को कलंकित न करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ था।"[4]

जो लोग यह कल्पना करते हैं कि अपनी परम्परा का परित्याग करके, अपनी परिस्थितियों को भुलाकर, प्रताप के मन में अकबर से 'मित्रता' का विकल्प आ सकता था, वे यही क्यों नही सोचते कि इस 'मित्रता' की कल्पना को अकबर ही क्यों नहीं प्रताप

---

1 पावल–प्राइस, पृष्ठ 260
2. डा. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव का यह मन्तव्य समुचित नही है, इस पर आगे विचार किया जायेगा।
3 अकबर का जन्म 15 अक्टूबर 1542 को और प्रताप का 9 मई 1540 को हुआ था। इस तरह प्रताप अकबर से सिर्फ सवा दो साल बडा था, परन्तु सोलह वर्ष पहले राज्य-सत्ता प्राप्त करने के कारण वह प्रताप से कहीं अधिक अनुभवी था।
4. श्रीवास्तव, पहला भाग, पृष्ठ 193

के योग्य वना सकता था ? असल में उस समय तक अकवर अपने जीवन की उन ऊंचाइयों तक नहीं पहुंचा था जहां से उसने इतना आदर और श्रद्धा अर्जित की, जिस 'महानता' के आगे सभी चमत्कृत है उसे अकवर ने इसके कहीं वाद प्राप्त किया, 'मानवता का संरक्षक' तव तक मानव मूल्यों का सवसे वड़ा विध्वंसक वना हुआ था।

"यह कहना कठिन है कि अकवर ने क्या वैरमखान और हरम के प्रभाव से मुक्त होते ही देश में रहने वाली विभिन्न जातियों के लिए पूर्ण धार्मिक सहनशीलता की एक विस्तृत नीति सोच-समझकर निर्धारित कर ली थी। यह संभव है कि सहनशीलता के विचारों की रूपरेखा धीरे-धीरे वनी और वे अपनी पूर्ण परिपक्वता उसके शासन काल के 20 वर्षों के वाद ही प्राप्त कर सके। इस समय के पश्चात् उसकी नीति चित्र की तरह पूर्णरूप से उभर आयी।"[1] मेवाड़ की दृष्टि से, हल्दीघाटी के युद्ध तक जो कुछ भी हुआ वह अकवर के 'असहनशील और अपरिपक्व युग' में आ जाता है। "हल्दीघाटी और वंगाल विजय के पश्चात् के तीन वर्षो (1576-79) में अकवर के दृष्टिकोण, व्यवहार और नीति में सुस्पष्ट किन्तु क्रमशः परिवर्तन हुए।...तीन वर्ष के इस समय ने उसके जीवन में एक नया मोड़ ही ला दिया।"[2]

अकवर पर उदारता उसकी अत्यन्त अल्प आयु मे ही थोप दी गयी है। आरम्भ में वह 'पक्का मुसलमान' था। उसे अपने शासन के पहले अठारह वर्षो में इस्लाम पर विशेष श्रद्धा थी और वह आलमियों की वड़ी कदर करता था। वह शरियत की कड़ाई से पावन्दी करने की कोशिश करता, स्वयं मस्जिद में अजान देता और नमाज पढ़ने के लिए इमाम वनता, अपने हाथो मस्जिद में झाड़ू लगाने को अहोभाग्य समझता। प्रमुख सदर शैख अब्दुन् नवी के हाथ से उसने डंडा तक खा लिया। यह सही है कि 1562 में उसने एक आज्ञा निकाली थी जिसके अनुसार युद्ध में भाग न लेने वालो को और लड़ने वालों के स्त्रियों और वच्चो को वन्दी करना अथवा गुलाम वना लेना और उन्हें इस्लाम में दीक्षित करना वर्जित कर दिया गया था। परन्तु 'चित्तौड़ का नर-संहार', जो इस आज्ञा के एकदम विरोध में पड़ता है, स्वयं अकवर की देखरेख में 1568 में तथा अकवर द्वारा नियन्त्रित हल्दीघाटी का संग्राम 1576 में हुआ था, और मेवाड़ का असाधारण दमन और मेवाड़ियों पर अकल्पनीय अत्याचार इसके सालों वाद, एक वार स्वयं अकवर की उपस्थिति और नेतृत्व में, होते रहे। या तो 1562 के निदेश सिर्फ दिखावा मात्र थे, लोगों को लुभाने के लिए, या उस समय तक अकवर अपने कहे पर स्वयं दृढ़ नहीं था। 'वादशाह इन्साफ पसन्द और स्वतंत्र चेता था, पर जव इस्लाम के नाम पर उसे डराया जाता, तो सहम जाता था।'

अकवर को हिन्दुओ के प्रति व्यवहार की वहुत ही शोचनीय परम्परा प्राप्त हुई थी, और उसका आरम्भिक शासन काल, इसमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये, इस

---

1 श्रीवास्तव, दूसरा भाग, पृष्ठ 325
2 वही, पहला भाग, पृष्ठ 220

परम्परा का पोषक था। सिकन्दर लोदी की हिन्दू-विरोधी नीति का अनुसरण बावर ने किया था, यही नही, उसने अपनी कर-नीति से हिन्दू और मुसलमानों में भेद बढ़ाया था। उसने और उसके अधिकारियों ने अनेक हिन्दू और जैन मंदिर तोड़े थे। 'ऐसा विश्वास करने का कोई कारण नही है कि हिन्दुओ के प्रति कड़ाई की जो स्थिति उसके भारत आगमन के समय थी उनमें बाबर ने कोई परिवर्तन किया।' हुमायूं को आधार-भूत नीतियो पर विचार करने का समय नहीं मिला, स्थिति उसने जैसी की तैसी चलने दी। अकबर इतनी कम उम्र में बादशाह बना था कि आरम्भ में वह भी कुछ और नहीं कर सकता था। बंदी हेमू की हत्या या तो उसने की या उसके सामने की गयी। मुसलमान बनने से इन्कार करने पर हेमू का पिता पूरणमल मार डाला गया। शासन के सर्वोच्च धार्मिक अधिकारी अब्दुन् नबी के आदेश से, एक काजी की शिकायत पर, मुस्लिम धर्म की निन्दा करने वाले ब्राह्मण को फांसी लगा दी गयी। पंजाब के सूबेदार हुसैनखान ने हुक्म दिया कि हिन्दू अपनी पोशाक पर कपड़े का ऐसा टुकड़ा लगाये रहें जिससे उनमें और मुसलमानो मे भेद देखते ही मालूम हो सके और किसी मुसलमान को उनका अभिवादन करने का अपमान नहीं उठाना पड़े। हिन्दुओ का घोड़े पर चढ़ना भी उसने रोक दिया था। कुछ हिन्दुओं को जबरन मुसलमान भी बनाया गया था। अकबर ने जब टोडरमल्ल और मानसिंह को ऊंचे पद देने चाहे, उनके हिन्दू होने के कारण इसका विरोध किया गया। भरी लड़ाई में बदायूनी को सलाह यह दी गयी कि वह शत्रु-मित्र का भेद किये बिना हिन्दुओं को मारे। सूरत मे पकड़े गये कुछ पुर्तगालियो को जीवन-दान इस शर्त पर दिया गया कि वे मुसलमान हो जाये। सलीम बनारस में हिन्दू मंदिर तोडना चाहता था, मानसिंह के बीच मे पड़ने पर ही वे बच सके। मुस्लिम अधिकारी बायाजीद ने तो वहां एक मंदिर तोड़कर मकतब बनवा ही डाला। गुजरात में कुछ जैन मंदिर तोड़े गये। एक मुसलमान अधिकारी ने 'गाड़ी भर' जैन मूर्तियां मंदिरो से निकाल लीं और जैनो से कुछ धन लेकर ही उन्हें लौटाया। हिन्दुओं के प्रति अकबर की नीति और व्यवहार के ये कुछ उदाहरण है। आक्रमणों के समय जो व्यवहार होता था, उसमें उदारता का प्रश्न ही नही था। हिन्दू ही नही, सुधारवादी मुसलमानो के साथ भी इसी तरह की ज्यादतियां उन दिनों की गयी।[1] धीरे-धीरे अपने प्रयत्न और चारों ओर के वातावरण[2] के प्रभाव से अकबर ने इस नीति और स्थिति में आमूलचूल परिवर्तन किया।

अकबर के जीवन में 'पूर्ण परिवर्तन' कब आया इसकी तिथि प्रायः निश्चित है। 'अमानवीय क्रूरता' से 'उदारता और निष्पक्षता' तक पहुंचने में समय लगना स्वाभाविक था। इस ओर छुटपुट प्रयत्न अवश्य पहले आरम्भ हो गये थे, परन्तु 'क्रान्तिकारी आध्यात्मिक अनुभव' तो अप्रेल 1578 में ही हुआ।

---

1 श्रीराम शर्मा, रिलीजन, के आधार पर।

2 हिन्दू धर्म उन दिनो भक्ति मार्ग से अपने भेदभाव स्वय कम करने के यत्न मे था। धार्मिक कट्टरता कम हो रही थी। इसी कारण सब मतो के हिन्दू अकबर के सपर्क मे आ सके, और अपने विचारो से उसे प्रभावित कर सके। हिन्दू परिवारो मे अकबर के विवाह भी सहायक हुए।

अकबर के जीवन की एक घटना मात्र के कारण ही नहीं, मानव जाति के लिए एक अविस्मरणीय अनुभव के रूप में भी इसके बारे में जान लेना उपयुक्त होगा।

इस घटना का समकालीन, कदाचित् आंखो-देखा, विवरण 'दलपत विलास' में मिलता है। भेहरा के सुप्रसिद्ध कमरगाह शिकार के समय यह हुई थी। उन दिनो अकबर के मन में न पशुओं के प्रति विशेष दया थी न मनुष्यो के प्रति, अपने इस तरह के दयाहीन स्वभाव का परिचय इस शिविर में उसने भली प्रकार दिया। 'अस्सी कोस अर्थात् बीस योजन का घेरा' करके मैदानी-पहाड़ी सभी तरह के जीव और जानवर बादशाह के शौक पर जान देने के लिए एकत्रित किये गये थे। इसी शिविर में राजपूतो पर जो अत्याचार हुआ, उसका वर्णन इसी अध्याय मे आगे आया है। यह सब अकबर ने शराब के नशे में नही किया था, ऐसा उसके यहां होता ही रहता था। इस अवसर पर शाहंशाह अधिक क्रोधित हो गया था, सब राजपूत-सामन्त, जो शिविर में साथ थे, 'विचार करने लगे कि बादशाह का क्रोधित होना बहुत बुरा हुआ, न जाने क्या कहेंगे?' अकबर का उस दिन साधारण व्यवहार भी संभव नहीं था, उस पर यह असाधारण घटना हुई।

"उस समय पूनम की रात की चांदनी छिटकी हुई थी। कुंवर मानसिंहजी, माधवसिंह और कुंवर दलपतजी बादशाह के पास पधारे। आगे देखा तो बादशाह पागल की तरह चिल्ला रहे हैं—हिन्दू गाय खाये और मुसलमान सूअर खायें, जो नहीं खायें तो हुडियार (नरभेड़) को कढ़ाई मे रांधो और जो हुडियार से सूअर हो जाय तो हिन्दू मुसलमान मिलकर खाओ, जो गाय हो जाय तो हिन्दू मुसलमान मिलकर खाओ, जो सूअर हो तो मुसलमान खाओ और जो गाय हो तो हिन्दू खाओ। कुछ दैवी चमत्कार होगा।

"इस प्रकार तथा और भी बकने लगे। उन्होने पगड़ी उतारी और कहा नाई को बुलाओ और मेरे बाल साफ कर डालो। ऐसा कहने पर सभी नाई छिप गये। इस पर कटार निकालकर खुद अपने हाथ से बाल काटने लगे। तब साह फतलह (शाह फतहुल्ला शिराजी अमीनुलमुल्क, हिन्दुस्तान का खास सदर) ने बादशाह के हाथ पकड़ लिये और जैनखान तथा सेख फरीद ने उनके हाथ से कटार ले ली। तब साह फतलह ने कहा कि आपको बाल कटवाने ही हो तो कटवाइये। ऐसा कहकर सब उमरावो को आदेश दिया कि पगड़ी उतारो। इस पर सभी हिन्दू मुसलमानों ने पगड़ी उतारकर बगल में दाब ली। मानसिंह ने भी पगड़ी उतारकर बगल में दबायी। बादशाह ने अपने बाल साफ करवाये।

"तब मानसिंहजी ने कुंवर दलपत के आदमियों को कहा कि तुम दलपतजी को यहां से ले जाओ। ये (बीकानेर के) राजाजी के एक ही है और 11-12 वर्ष के बालक हैं। बादशाह न जाने क्या करेंगे? भोपतजी (दलपत के बड़े भाई) का तो यह ढंग (उसे जहर दिया गया था) हुआ और इधर यह बात बन रही है। इसलिए तुम कुंवरजी को दूर बीकानेर ले जाओ। तब कुंवरजी ने कहा कि मै कहां जाऊं? बीकानेर तो बहुत दूर रह गया। पांच ठाकुरों से टलकर मै नहीं जाऊंगा। जिस प्रकार आप पांच ठाकुर हो उसी प्रकार मै भी आपके पास हूं, ऐसा कहकर कुंवरजी भी वहां पर खड़े रह गये।

"तब बादशाह ने हिन्दुओं की तरफ देखकर कहा कि जो राठौड़ हैं वे तो रज के धनी है, राजा है और जो ये राजावत हैं वे भी इनके भानजे हैं सो अच्छे है। लेकिन यह शेखावत मेरे जटड़े (निरे जाट) हैं। जटड़े-जटड़े कहकर पांच सात बार बके। इस प्रकार बकते-बकते जब आधी रात हो गयी तो साह फतलह उन्हें धीरे-धीरे करके महलों में ले गये। इस प्रकार बादशाह के चले जाने पर हिन्दू मुसलमान सभी अपने-अपने डेरे गये।

"जब सुबह हुआ तो सब हिन्दू ठाकुर पूजा-पाठ करके और शंख-चक्र लगाकर मरने के लिए उद्यत हुए, अपने-अपने डेरों में बैठ गये। वे सोचने लगे कि बादशाह जाने क्या कहेंगे और क्या करेंगे।

"जब सुबह हुआ तो बादशाह रात से ही बागा पहने हुए घोड़े पर सवार होकर कुंवर दलपतजी के डेरों के समीप से निकले। पधारकर उन्होने दाढ़ी की हजामत करवायी और सभी ठाकुरो से कहा कि आप लोग दाढ़ी रखवाओ, हम फिरंग पर चढ़ाई करेंगे। सभी ठाकुर विदेश के लिए तैयार हो जाओ। इसके बाद अपनी पगड़ी उतारी और उसके दो टुकड़े किये। एक टुकड़े के चार-चार अंगुल के छोटे टुकड़े किये और हिन्दुओ को पगड़ी का एक-एक टुकड़ा और गंगा जल हाथ में दिया और कहा कि हम जब विदेश चलेंगे तब यह निशानी मांग लेंगे। उस समय कुंवरजी (दलपत) भी पधारे। तब श्रीजी (अकबर) ने कहा कि तुम तो छोटे-से हो। अभी दाढ़ी भी दस ग्यारह वर्ष बाद आयेगी। तुम क्या विदेश चल सकोगे ? तब कुंवरजी ने श्रीजी से कहा कि मै भी आपके साथ चलूंगा। इस पर बादशाह राजी हुए और कुंवरजी को भी पगड़ी का टुकड़ा तथा गंगाजल दिया और बहुत प्रसन्न हो कर कहा कि यह निशानी हम विदेश में मांगेंगे।

"मानसिंहजी की दाढ़ी रखवायी और रखवाकर वापस पधारे। उन्होने (अकबर ने) हुक्म दिया कि शिकार के घेरे में खरगोस, लोमड़ी, सिंह, रोज, स्याल, रीछ और हरिण आदि इकट्ठे हुए है और डेरों में छोटे-छोटे जीवो पर आकर पड़ रहे है, इसलिए उनके हुक्म से सिंह, सावज और रोज आदि जो तीन-तीन कोस की दूरी पर थे ऐसे सभी जानवरों को छोड़ दिया गया। बादशाह नाव मे बैठकर डेरे पधारे, और पांच दिन महलों में रह, दाढ़ी संवराकर बाहर पधारे। तब सभी लोगों ने दाढ़ियां संवराई।"[1]

पशुओं पर, पुरुषों पर, स्वयं अपने पर अत्याचार से सर्वथा भिन्न यह असाधारण उदारता और लगातार पांच दिन का चिन्तन, अकबर में मौलिक परिवर्तन ले आया, ऐसा माना जाता है।

"अकबर ने 22 अप्रेल 1578 को झेलम नदी के किनारे स्थित भेरा स्थान पर 'कमरगाह'[2] शिकार-यात्रा की। उसने नदी पार की और अपने अमीरों और अधिकारियो

---

1 'दलपत विलास', पृष्ठ 102–108

2 'कमरगाह' एक प्रकार का शिकार होता था जिसका ईरान और तूरान के प्राचीन बादशाहों को बहुत शौक था। किसी बडे जगल के चारो ओर बड़े-बड़े लक्कड़ो की दीवार घेर देते थे। कहीं टीलो की प्राकृतिक श्रेणियो से और कहीं बनाई हुई दीवारो से सहायता लेते थे। तीस-तीस चालीस-चालीस

को 50 मील के फासले के जंगली जानवरों को हुंकाकर एक घेरे में लाने की आज्ञा दी। इसे पूरा होने में चार दिन लग गये। तब शिकार शुरू हुआ। लेकिन अकबर के साथ एक अजीब बात हुई जिसके फलस्वरूप उसके व्यवहार में असाधारण परिवर्तन आ गया, और उसने अकस्मात् ही शिकार बंद कर आदेश दिया कि कोई शिकार को न छूए तथा पकड़े हुए सब जानवरों को मुक्त कर दिया जाये और उन्हें जहां चाहे वहां जाने दिया जाये। अकबर के केश लम्बे थे और उन्हें भारतीय रिवाज के अनुसार बढ़ने दिया गया था। उसने अब उन्हें कटवाकर छोटे करा दिया और बहुत-सा धन दान में वितरित कर दिया। उसने इसकी स्मृति में एक फलदार पेड़ के समीप, जहां यह घटना घटित हुई थी, एक बाग लगाने और एक इमारत खड़ी करने की इच्छा प्रकट की। उसी दिन वह नदी पारकर पड़ाव में वापस लौट आया। यह कहना कठिन है कि वास्तव में अकबर को क्या हुआ था। पर निश्चय ही वह किसी प्रकार के वैसे ही धार्मिक आवेश से ओत-प्रोत हो उठा था जैसा कि सूफी और योगी अपनी उपासना में अनुभव करते हैं। मुहम्मद आरिफ कन्धारी, जो शाही खेमे के पास ही था, कहता है कि अकबर को परमात्मा का ज्ञान प्राप्त हुआ था और वह स्थान जहां पर यह घटना घटित हुई थी 'छोटा मक्का' (मक्का-इ-खुर्द) के नाम से प्रसिद्ध हो गया। अबुल् फज्ल लिखता है, 'जैसे सिद्धि साधना की अनुगामिनी होती है वैसे ही दृष्टि द्वीप आलोकित हो गया। एक दैवीय आनन्द उसके शरीर में व्याप्त हो गया और परमात्मा के साक्षात्कार की अनुभूति से किरण फूटी।' वह आगे लिखता है, 'पवित्रता और मुक्ति के प्रधान शोधक जिसकी व्यर्थ ही खोज करते हैं उसका उसे ज्ञान हो गया।' आम धारणा यह थी कि सम्राट को एक नवीन आध्यात्मिक अनुभव हुआ है और एक झलक में उसका ईश्वर से प्रत्यक्ष सम्पर्क हो गया है।"[1]

1578 के पहले तक जो कुछ होता रहा था उसका स्वयं अकबर को पछतावा था। 'आईन-इ-अकबरी' के अनुसार उसने अपने आस-पास के लोगों से कहा था, "पिछले दिनो में मैं लोगों पर अपने धर्म के अनुसार अत्याचार करता रहता था, और इसे ही इस्लाम मानता था। जैसे-जैसे मेरा ज्ञान बढ़ा, मैं शर्म मे डूबने लगा। विवशतापूर्वक जिससे धर्म मनवाया जायेगा उससे उस धर्म के प्रति लगाव होने की आशा कैसे की जा सकती है?"

---

कोम से जानवरो को घेर कर लाते थे। उनमे सभी प्रकार के हिंसक पशु और पक्षी आदि आ जाते थे। और तब निकास के सब मार्ग बन्द कर देते थे। बीच मे बादशाह और शाहजादो आदि के बैठने के लिए कई ऊचे स्थान बनाते थे। पहले स्वय बादशाह सवार होकर शिकार मारता था, फिर शाहजादे शिकार करते थे, और तब फिर और लोगो को शिकार करने की आज्ञा हो जाती थी। उनमे कुछ खास-खास अमीर भी सम्मिलित होते थे। दिन पर दिन घेरे को सिकोडकर छोटा करते जाते थे और जानवरो को समेटते लाते थे। अत मे जब स्थान बहुत ही थोडा बच जाता था और जानवर बहुत अधिक हो जाते थे, तब उनकी धक्कापेल और रेल-धकेल, घबराहट, दौडना, चिल्लाना, भागना, कूदना, उछलना और गिरना-पडना लोगो के लिए एक अच्छा तमाशा हो जाता था। इसीको कमरगाह या जरगा कहते थे—'अकबरी दरबार', पहला भाग, पृष्ठ 226

1. श्रीवास्तव, पहला भाग, पृष्ठ 228

1578 ही में इस दिशा में एक और उल्लेखनीय घटना हुई—इबादतखाना गैर-मुसलमानों के लिए खोल दिया गया। विद्वानों, विचारकों और धार्मिक नेताओं से विचार-विमर्श के लिए अकबर ने इस बहुप्रसिद्ध स्थान का—जिसे अपने में विशिष्ट संस्था ही माना जाना चाहिये—निर्माण करवाया था, लेकिन 1578 के पहले इसमें गैर-मुस्लिम नही आ सकते थे। मुस्लिम मुल्लाओ के कठमुल्लापन और आपसी द्वंद से परेशान होकर अकबर ने दूसरे धर्मो से प्रकाश प्राप्त करने के लिए विचार-विनिमय में हिन्दू, जैन, पारसी, ईसाई, यहूदी आदि धर्मों के चिन्तको के लिए, ईश्वर में विश्वास नहीं करने वालो तक के लिए भी, इबादतखाने के द्वार खुलवा दिये। जैसा कि हम आगे देखेंगे, तब तक अकबर का मेवाड़-अभियान निर्णायिक स्थिति मे पहुंच चुका था—कुम्भलगढ़ जीता जा चुका था, प्रताप को वहां से हटने के लिए विवश किया जा चुका था। 1578 के बाद ही अकबर ने स्वयं कुतवा पढ़ा तथा वे धार्मिक-सुधार किये जिनके लिए वह इतना प्रसिद्ध है।

मेवाड़ का दुर्भाग्य, उसे अकबर के आक्रमण और अत्याचार का बार-बार अनुभव होने के बाद, अकबर को यह 'नवीन आध्यात्मिक अनुभव' हुआ।

अकबर की धर्म-निरपेक्षता की भी बहुत दुहाई दी जाती है। 1562 में गैर-मुसलमानों के लिए राजकीय सेवा के द्वार खोल दिये गये थे। 1563 मे उसने हिन्दुओं पर यात्रा-कर समाप्त कर दिया और 1564 में 'घृणित जजिया' को एकदम हटा दिया। उसके इन निश्चयो का तात्पर्य यह लगाया गया है कि शाही राज्य-कोष की आय कम हो जाने का खतरा उठाकर भी उसने गैर-मुस्लिम प्रजा के प्रति जो भेद-भाव बरता जाता था, उसे समाप्त कर दिया। इसके कुछ पूर्व ही टोडरमल्ल को मालगुजारी विभाग में एक उच्च पद पर नियुक्त किया गया था, और एक हिन्दू को राज्य सेवा मे लिये जाने पर मुस्लिम अमीरों ने जो विरोध प्रकट किया था उसकी ओर उसने बिलकुल ही ध्यान नहीं दिया था। उलटे, 1574 में टोडरमल्ल को वित्त मंत्री नियुक्त कर दिया गया। इसके तुरन्त पश्चात् रामदास को साम्राज्य का नायब दीवान बनाया गया। अकबर के ये निश्चय अवश्य ही 'उसकी अपनी अगुवाई और चिन्तन' के परिणाम थे। परन्तु इस तर्क के साथ कम तथ्य नही है कि "इसका कारण यह था कि अकबर के मुस्लिम अमीर विश्वासघाती और बागी सिद्ध हुए थे, और अकबर का विचार था कि योग्य हिन्दुओ और विशेषकर राजपूतो को उनके विरुद्ध जमाया जा सकता है। कछवाहों और अन्य राजपूतों ने अकबर के प्रति जो निष्ठा-भक्ति दिखायी उसने अकबर को इसके लिए प्रेरित किया कि सभी हिन्दुओं के प्रति सहिष्णुता की नीति बरते और उन्हे विश्वसनीय समझे।"[1]

अकबर को धार्मिक सहिष्णुता की यह सफलता कैसे प्राप्त हुई, इसकी विवेचना करते हुए, जेम्स टाड ने कहा है, "मुगलो के साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक अकबर

1. श्रीवास्तव, दूसरा भाग, पृष्ठ 325

ही था, राजपूती स्वतन्त्रता का प्रथम सफल विजेता : इस लक्ष्य की प्राप्ति में उसे अपने गुणों से शक्तिदायी सहायता मिली, चूंकि मस्तिष्क के विश्लेषण तथा उसके अनुसार पूरे उत्साह से जुट जाने की प्रतिभा से ही उसके लिए यह संभव हुआ कि जिन जंजीरों से उसने उन्हें (राजपूत राजाओ को) बांधा था उनको इतना सुनहरा आकर्षण प्रदान करने में वह सफल हो गया। इनसे वे आदत पड़ने पर अभ्यस्त हो गये, विशेषतः जबकि शासन अपने प्रभाव का प्रयोग राष्ट्रीय दम्भ को तुष्ट करने में, अथवा और भी अप्रतिष्ठित लालसाओं की पूर्ति में, करने लगा। परन्तु शूरवीर जातियो की पीढ़ियां की पीढ़ियां उसकी तलवार से मौत के घाट उतार दी गयी थी, और मानमंडित मस्तक लुढका दिये गये थे। यह सिलसिला चलता रहा, जब तक उसकी विजय इतनी पक्की नहीं हो गयी कि वह अपने स्वाभाव की उदारता का उपयोग कर सके, और जिन्हे उसने पराजित किया था उन्हीं की सर्वसम्मत तथा उत्साहपूर्ण सहमति से 'जगत् गुरु' का गौरवपूर्ण अलंकार उसने प्राप्त कर लिया। बहुत समय तक उसकी गणना शाहबुद्दीन, अलाउद्दीन, तथा विनाश के अन्य आयोजको के साथ ही होती थी, और ऐसा करना सर्वथा न्यायोचित था, और इन्हीं की तरह, उसने भी एकलिंग के सामने जड़े पत्थर उखड़वाकर कुरान के लिए मिमबर (धर्मासन)[1] निर्मित करवाया। फिर भी जो घाव उसकी महत्वाकांक्षा ने किये थे उन्हें भरने मे उसे अन्ततः सफलता मिल गयी, और करोड़ो से उसने ऐसी सराहना प्राप्त की जैसी उसकी जाति के किसी दूसरे को कभी नहीं मिली।"[2]

अकबर के व्यवहार और नीति में जो साम्प्रदायिकता का अभाव परिलक्षित होता है उसके पीछे एक गूढ़ता थी, यद्यपि उस समय की भारतीय राजनीति को मौलिक देन होने के कारण, इसके लिए सही ही अकबर की बहुत सराहना की जाती है। परन्तु इसका तारतम्य भी ठीक से समझ लेना आवश्यक है, "अकबर ने तुर्क अफगानों की भारतीय राज्यो के प्रति परम्परागत नीति मे एक महत्वपूर्ण परिवर्तन किया। वैसे अकबर को भी दिल्ली के सुलतानो की तरह बड़ी आकांक्षा थी कि वह पूरे भारतीय अर्ध-महाद्वीप को विजिन कर ले। लेकिन वह यह भी चाहता था कि भारत के प्राचीन बड़े-बड़े राज्य उसकी अधीनता स्वीकार कर लेने पर काफी मात्रा मे आन्तरिक स्वतन्त्रता का उपयोग करते हुए बने रहें, और उसका ऐसा सोचना किसी निर्बलता से नहीं, अपितु नीति और औचित्य की भावना से प्रेरित हुआ था। वह भारत के प्राचीन राजवंशों में और ऐसे राजवंशों में भेद करता था, जो अपेक्षाकृत अभी हाल ही में कुछ प्रदेशो को जीत कर वहां की प्रजा पर अपना-अपना शासन जमाने में सफल हुए थे। प्राचीन हिन्दू राज्यों में अधिकतर राजपूत राज्य थे, जबकि नव-अंकुरित राज्यो में वे मुस्लिम राज्य आते थे जो दिल्ली की सलतनत के पतन के काल में स्थापित हुए थे। जहां तक प्राचीन

1. मस्जिदो मे ठीक सामने दाहिनी तरफ बना स्थान, जिस पर चढने के लिए तीन सीढ़िया होती हैं। इस पर खड़े होकर इमाम (धार्मिक गुरु) उपस्थित लोगो के सामने प्रवचन करते हैं।
2. जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 259

राज्यों का सम्बन्ध था, अकबर ने इन राज्यो के शासको द्वारा मुगल अधीनता स्वीकार कर लेने पर इन्हें बना रहने दिया और मुगल साम्राज्य में नहीं मिलाया।[1] लेकिन इसके विपरीत उसने सब नहीं तो देश के अधिकतर मुस्लिम राज्यो को अपने साम्राज्य में मिला लिया।[2] इसका कारण शायद यह था कि वह भारतीय मुस्लिम राज्यों को दिल्ली साम्राज्य का ही जायज अंग मानता था। दूसरे, अगर अकबर ने उन्हें विभिन्न मात्रा में आन्तरिक स्वतन्त्रता का उपयोग भी करने दिया तब भी उसने इस पर जोर दिया कि अधीन राज्यों के शासक खास-खास मौकों पर, जैसे उसके जन्मदिन और सिंहासनारोहण के वार्षिक समारोहो पर, दरबार में उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करने स्वयं उपस्थित हुआ करे। उनको मनसबदारो में भर्ती होने और जब आवश्यकता पड़े तब सेवा करने के लिए तैयार रहने को भी कहा जाता था। इन दो बातों से किसी को छूट नहीं दी जाती थी। केवल गुजरात में ही कुछ रजवाड़े ऐसे थे जो मनसबदार नहीं बने थे, जिसका कारण या तो वहां की परिस्थितियां थीं अथवा जिस जल्दी में उनसे सन्धियां हुई थीं उसके कारण तब इन बातो की ओर ध्यान नही दिया जा सका था। भथा (आधुनिक रींवा) के राजा रामचन्द्र ने वैसे अकबर के राज्यकाल के प्रारम्भ में ही काफी पहले उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी, लेकिन वह कई वर्षो तक मुगल दरबार में उपस्थित हो कर अकबर को नजराना देना टालता रहा था। सम्भवतः वृद्ध और निर्बल होने के कारण वह आगरा की लम्बी यात्रा नहीं कर सकता था, लेकिन अकबर तब तक उससे सन्तुष्ट नही हुआ, जब तक कि उसने दरबार मे स्वयं उपस्थित होकर उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित नहीं किया। पर मेवाड़ के राणा प्रताप ने मुगल दरबार में स्वयं आना स्वीकार नहीं किया, और जब अकबर ने बहुत जोर दिया तो उसने अपने बजाय अपने पुत्र अमरसिंह को भेज दिया।[3] किन्तु अकबर इससे भी सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने मेवाड़ को हल्दी-घाटी के रक्तपातपूर्ण युद्ध में झोक दिया, और तत्पश्चात् भी राणा पर कई चढ़ाइयां कीं। यहां स्मरण रहे कि अकबर के पुत्र जहांगीर ने जब राणा की दरबार में व्यक्तिगत उपस्थिति की शर्त हटा दी तब मेवाड़, जो मुगल-साम्राज्य के अभी तक बाहर था, 1615 में उसका अधीन राज्य बन गया।.......राजपूत राजाओं को वार्षिक राज्य-कर उतना नही खटकता था जितना कि वह नजराना जो उन्हें दरबार में स्वयं उपस्थित होकर सम्राट् को देना पड़ता था। यह उनके आत्मसम्मान को बड़ी ठेस पहुंचाता था। यही कारण था कि राणा प्रताप के सिवाय जोधपुर के चन्द्रसेन और बूंदी का दूदा अधीनता स्वीकार न कर मुगल सेनाओ से अन्त तक लड़ते रहे। कुछ अन्य राजपूत राजा, जैसे ओरछा के मधुकर शाह, और सिरोही का राजा, जबतब विद्रोह करते रहे। पर ऐसे

1 उसने अपने शासन के प्रारम्भ मे ग्वालियर जैसे कुछ थोडे-से हिन्दू राज्यो को अपने साम्राज्य मे मिला लिया था। वहा के राजा ने मेवाड मे शरण ली थी।

2 जालौर के अफगान शासक तज्जाखान के पास उसका राज्य बना रहने दिया गया था।

3 जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह सही नही है कि महाराणा प्रताप के समय मे उसका पुत्र अमरसिंह अकबर के दरबार मे स्वय उपस्थित हुआ था।

उदाहरण विरले ही थे। इससे स्पष्ट है कि भारतीय राज्यों के प्रति अकबर की कूटनीतिज्ञतापूर्ण नीति बहुत ही सफल सिद्ध हुई थी।"[1]

इससे स्पष्ट है कि मेवाड़-मुगल संघर्ष को समाप्त न होने देने का एक मात्र कारण यह शर्त थी कि मेवाड़ का राणा स्वयं शाहंशाह के सम्मुख उपस्थित हो। बात देखने में छोटी लगती है, परन्तु इसने इतना महत्व प्राप्त कर लिया था कि इस एक बात पर न अकबर झुका न प्रताप। दोनो में से कोई ऐसा कर नहीं सकता था।

अकबर के लिए यह कठिन था। वह भारत का चक्रवर्ती सम्राट बनना चाहता था। देश का एक भी राजा जब तक उसकी इस स्थिति को चुनौती दे तब तक वह इस सर्वोच्च एवं सर्वमान्य सम्मान का साधिकार स्वामी स्वीकृत नहीं किया जा सकता था। इससे कम कोई स्थिति न उसे स्वीकार्य थी, न हो सकती थी।

प्रताप ने उसकी इसी स्थिति को चुनौती दे रखी थी। उसके पितामह ने अकबर के पितामह को भारत में पैर जमाने से रोकने के लिए सबसे बड़ा मध्ययुगीन संग्राम किया था, (खानुवा में)। इसमें उसकी सेना हारी थी, परन्तु स्वय उसने कभी हार स्वीकार नहीं की थी। उसके पिता की सेना को अकबर ने अपने समय के भयंकरतम युद्ध मे परास्त किया था, (चित्तौड़ मे)। परन्तु उदयसिंह स्वयं न हराया जा सका था, न पकड़ा जा सका था। तीन पीढ़ियो के लड़ने की एक परम्परा हो गयी थी, बाबर, हुमायूं और अकबर तीनों, विदेशी[2] आक्रमणकारी के रूप में भारत आये थे, तीनों का सबसे भयंकर प्रतिरोध संग्रामसिंह और उदयसिंह ने किया था, और अब प्रतापसिंह की बारी थी। प्रताप कुछ और कर नहीं सकता था। चाल अकबर के हाथ में थी, वह चाहता तो ऐसी परिस्थिति प्रस्तुत कर सकता था कि प्रताप सारे प्रश्न पर पुर्नविचार के लिए विवश हो जाता।

## अकबर की विजय-यात्रा

5 नवम्बर 1570 को अकबर अजमेर से नागौर पहुंचा, और वहां 50 दिन रहा। राजस्थान की दृष्टि से ये दिन बड़े निर्णायक रहे। यहां जोधपुर के राजा

1. श्रीवास्तव, दूसरा भाग, पृष्ठ 338
2. फ्रेडरिक आगस्टस की अकबर की जीवनी की अनुवादिका श्रीमती एनेट एस बेवरिज ने अपने आरम्भिक विवरण मे पुस्तक का परिचय देते हुए प्रारम्भ ही इस प्रकार किया है. "अकबर की जीवनी को जिस प्रकार उसके जर्मन विवेचक ने प्रस्तुत किया है उससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि अकबर भारत मे एक विदेशी था और उसका शासन सैनिक आधिपत्य की स्थापना ही था। उसके रक्त मे एक बूद भी किसी ऐसी जाति की नही थी जो खैबर के भीतर रहती हो और जिन सैनिकोकी सहायता से उसने अपने साम्राज्य पर अपना अधिकार जमाये रखा था उनमे से अधिकाश उन्ही लोगो में से निकले थे जो उसके पिता का अनुसरण करते हुए हिन्दुस्तान की सीमाओं के बाहर से आये थे। उसी तरह, वह जो देश मे बस गये थे और आधिपत्य जमाने के आरम्भिक दिनो मे आ गये थे, अपने-अपने परिवार भी (बाहर से) ले आये। आंबेर (जयपुर) से सबंध स्थापित होने के बाद अकबर की सेवा मे राजपूत सैनिक भी हो गये थे, परन्तु उसने सदा मुख्यत. भरोसा उन्ही पर किया जो हिमालय के उस पार जन्मे थे या उधर के लोगो के वशज थे।"

प्रकार की सफलता सदा मिलती रहती है। राजकीय तथा धार्मिक क्षेत्रों में उसे जितनी सफलता मिलती है उतना ही वह परमात्मा के प्रति विनम्र होता जाता है। जैसे-जैसे उसका सौभाग्य बढ़ता है, उसकी विनयशीलता बढ़ती जाती है।"[1]

अकबर ने जो कुछ किया उसे 'समुचित व्यवहार' की संज्ञा कैसे दी जा सकती है? फिर भी अगर अत्यन्त उदारता से देखा जाये, तथा और सब अन्यथा बातें भुला दी जायें, तो यही एक उचित और तर्कसम्मत कारण अकबर द्वारा आगे होकर प्रताप से समझौता करने के प्रयत्न का हो सकता है। यह सही है कि हल्दीघाटी के युद्ध के पहले अकबर के लिए सिवा कश्मीर और उड़ीसा के उत्तर भारत में कुछ भी जीतना बाकी नहीं बचा था। तब क्या समझौते के प्रयत्न वास्तव मे 'उसकी विनयशीलता' के द्योतक थे? कहा नहीं जा सकता; इतनी सारी बातें इसके विरुद्ध हो रही थीं कि इसे इस तरह देखना-समझना संभव नहीं था। प्रताप इस अत्यन्त गूढ़ बात को उस समय की परिस्थिति मे नहीं समझ सका, तो आज उसे इसके लिए दोष नही दिया जा सकता।

वास्तविकता तो यह थी कि प्रताप को नतमस्तक करना, वह भी खुले और भरे दरबार में, अकबर ने अपने चारो शांति-प्रयत्नो का, और दुर्दीर्घ सशस्त्र प्रयत्नों का, एकमात्र लक्ष्य बना रखा था।

"राणा की अहंमन्यता, उसके पूर्वजो के गौरव के कारण, जो प्राचीन समय में सारे भारत के शासक थे, बहुत ही बढ़ गयी थी। उसकी स्थिति की सुदृढ़ता, उसके राज्य का विस्तार, और ऐसे राजपूतो की बड़ी संख्या ने, जो सम्मान के लिए जीवन का बलिदान हँसते-हँसते कर देते हे, उसकी दृष्टि के आगे पड़दा डाल रखा था। शाहंशाह के सौभाग्य की विशिष्टता को वह नहीं समझ सका, वह आज्ञाकारिता का मार्ग छोड़कर पथ भ्रष्ट हो गया।"[2]

"राणा पर आक्रमण के लिए उद्देश्य रूप में किसी घटना विशेष को प्रस्तुत करना आवश्यक नही है।....उसकी देशभक्ति ही उसका अपराध था। अकबर ने अपनी चतुर नीति द्वारा अधिकांश राजपूत राजाओ को अपने पक्ष में कर लिया था, और वह राणा की स्वतंत्र वृत्ति सहन नही कर सकता था, जिसे, यदि वह अन्य साथियों के समान झुका नही सकता था, तो तोड़ना ही था। 1576 के सैनिक अभियान का ध्येय राणा को सम्पूर्णतया नष्ट कर देना था, और उसके साम्राज्य की परिधि से बाहर रहने के दंभ को भी अतिम रूप से कुचल देना था। इस प्रयत्न की असफलता से अकबर को घोर निराशा हुई, जो अपने गर्वोन्नत प्रतिद्वंदी के लिए भावुकता, कोमलता, से विचलित नही था। राणा की वह मृत्यु चाहता था, और उसके प्रदेश का अपने साम्राज्य मे विलयन। यद्यपि राणा आवश्यकता पड़ने पर अपने जीवन का बलिदान करने के लिए पूर्णरूपेण तत्पर था, वह इसके लिए भी दृढ़ संकल्प था कि वह

---

1 'अकबरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 55
2. 'अकबरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 244

अपने रक्त को विदेशी से वैवाहिक सम्पर्क स्थापित कर दूषित नहीं होने देगा, और यह भी कि उसका देश स्वतन्त्र व्यक्तियों की भूमि बना रहेगा। बहुत पीड़ा सहन करने के बाद वह सफल हुआ, और अकबर असफल।"[1]

अकबर के 'महान' और 'राष्ट्रीय एकता के लिए आयोजित' प्रयत्नो मे हाथ नहीं बटाने के कारण जो राणा प्रताप की आलोचना करते है, वे दोनो के बीच हुए संघर्ष के मूल कारण को नही समझते। यदि संघर्ष किसी वस्तु अथवा भूभाग के लिए हुआ होता तो परिस्थिति भिन्न हो सकती थी। अकबर के पास चित्तौड़ के किले के अन्तर्गत आने वाला मेवाड़ का महत्वपूर्ण भूभाग तो था ही, और इसे फिर से जीतने का कोई प्रयत्न प्रताप ने तब तक नहीं किया था। जो प्रदेश बचा, पहाड़ी, जंगली और शाही दृष्टि से भी अमहत्त्वपूर्ण था—जब अकबर ने उत्तर भारत का और समस्त भूभाग हस्तगत कर लिया था तभी तो इसे लेने का यत्न किया, वह कभी इस पर अपना स्थायी कब्जा नहीं बनाये रख सका, और उसकी मृत्यु के वर्षों पहले यह सारा भूभाग वापस प्रताप के अधीन हो गया। फिर से इसे लेने के लिए अकबर ने सालो, इतना जान-माल लगाकर, उदारता और धार्मिक सहिष्णुता की अपनी चारो ओर फैलती प्रतिष्ठा गवाकर, उद्योग क्यो किया ?

"एक मुस्लिम-सम्राट के अधीन एक संयुक्त साम्राज्य का जो स्वप्न अकबर देख रहा था उसमें क्या एक अकेले स्वतंत्र हिन्दू राजा के लिए भी स्थान नहीं था ? रेत और पत्थर से भरे जमीन के छोटे से टुकड़े को अपने पैरो के नीचे रोंदे बिना क्या सचमुच उसकी भारत-विजय अपूर्ण रह जाती ? क्या वास्तव मे प्रताप ऐसा व्यक्तिवादी विद्रोही था जो अकबर के अपने महान साम्राज्य के स्वप्न को नष्ट करने मे जुटा हुआ था ? जैसे-जैसे ये प्रश्न मन में उठते है, यही उत्तर सामने आता है कि अकबर के तौर-तरीके पर संचालित साम्राज्य तो उसकी मृत्यु से पचास साल भी नहीं चला। प्रताप एक ऐसी सत्ता का विद्रोही नही माना जा सकता जिसकी अधीनता उसने कभी स्वीकार ही नहीं की। वह अपने उस राज्य की स्वतन्त्रता को अपने से चिपटाये हुए था जिसने एक समय दिल्ली तक को नेतृत्व देने की महत्वाकाक्षा की थी और जहां उसकी जाति के उन बहादुरी से भरे कारनामो की याद में बनाया गया गोरवशाली स्तम्भ खड़ा था जो उन लोगो ने गुजरात और मालवा को जीतकर दिखा दिये थे। हां, उसने दृढ निश्चय कर लिया था। जो अन्य राजपूत राज्यो ने, तथा स्वयं उसके दूषित भाई जगमाल ने किया था, उसका कोई अनुकूल प्रभाव प्रताप पर नहीं पड़ा।

"शाही दरबार में (सम्मानपूर्ण) स्थान का वादा उससे किया गया था, और उसने तिरस्कारपूर्वक उसे ठुकरा दिया। उसने मेवाड़ की स्वतन्त्रता अपने हृदय से लगाये

1. स्मिथ, पृष्ठ 155

रखने का, जब तक बन पड़े उसकी रक्षा करने का, और फिर उसकी रक्षा के लिए जान दे देने का निश्चय कर लिया था।"[1]

हल्दीघाटी के युद्ध का विवरण 'अकबरनामा' के जिस अध्याय में दिया गया है, उसका शीर्षक है, 'शाहंशाह के सौभाग्य का दीपक प्रज्वलित होना, और राणा का मैदान छोड़कर भागने के अंधकार मे डूबना'। तब तक मेवाड़ की भूमि और भी छोटी हो गयी थी, अकबर और भी महान हो गया था, इस पर भी हल्दीघाटी की जीत को सम्राट का सौभाग्य माना गया !

मेवाड़ पर सीधा हाथ उठाने के पहले अकबर ने उसकी घेराबन्दी पूरी की।

चित्तौड़-विजय के साथ-साथ मेवाड़ का जो प्रदेश शाही अधिकार मे आ गया था उसे सुव्यवस्थित और समृद्ध करने के लिए प्रयत्न किये गये ताकि शेष मेवाड़ के निवासी शाही शासन के गुण और लाभ देखकर उसके अनुकूल हो सकें और मेवाड़ के शेष भाग पर जब शाही आक्रमण हो इस प्रदेश से पर्याप्त सैनिक सहायता मिल सके।

मेवाड़ का जो प्रदेश अकबर की सेनाओ ने जीता था उसे सीधा मुगल साम्राज्य मे मिला लिया गया था। यह प्रदेश अब सरकार (सूबे के अन्तर्गत प्रदेश) कहलाने लगा, चित्तौड़ उसका प्रधान केन्द्र था। इस सरकार का क्षेत्रफल 16,79,803 बीघा था, और मालगुजारी 3,00,47,649 दाम[2]। सारे क्षेत्र की 'मुगल शासन की सामान्य पद्धति के अनुसार' नयी तौर से पैमाइश की गयी, और मालगुजारी तदनुसार निर्धारित की गयी। मेवाड़ के आन्तरिक भाग मे पहुंचना शाही अधिकारियो के लिए सरल नहीं था। इसलिए कुछ भाग की पैमाइश नहीं हो सकी, और इसमे भी संदेह प्रकट किया गया है कि निर्धारित मालगुजारी भी पूरी वसूल हो पाती थी। जो हो, शासन की ओर से कृषि को प्रोत्साहन दिया गया, व्यापार के लिए मार्ग साफ किये गये, जनसाधारण के जीवन में सामान्यता लाने की कोशिश की गयी।

चित्तौड़ सरकार के 26 महाल थे, जिनमें प्रमुख थे मांडलगढ़, मांडल, रायला, बदनोर, बागोर और शाहपुरा। इनमे बदनोर, शाहपुरा, रायला आदि पर, जो महाराणा के मेवाड़ के अधिक निकट पड़ते थे, विशेष ध्यान दिया गया। यहां मध्य-एशियन जातियो के सैनिको के दल बसा दिये गये। यहां मुस्लिम धार्मिक प्रभाव बढ़ाने के भी प्रयत्न किये गये। इन महालो मे से कई गाँव 1575 में अजमेर की दरगाह को दान मे दिये गये। इन महालो मे मुस्लिम आबादी बढ़ायी गयी। मोहन और रामपुरा महालो का नाम बदलकर इस्लामपुर कर दिया गया। मुसलमान अधिकारियो और मेवाड़ के महाराणा को छोड़कर भागे हुए लोगो को इस प्रदेश मे जागीरें प्रदान की गयीं। उदाहरण के लिए जगमाल को जहाजपुर दे दिया गया। 'अकबर के इन सब कार्यों से प्रदेश के भीतर ही राणा के विरुद्ध चक्राकार व्यूह रचना स्थापित हो गयी।'

---

1. श्रीराम शर्मा, प्रताप, पृष्ठ 55
2. चालीस दाम=एक (अकबरकालीन) रुपया।

इस क्षेत्र के पूर्व में पड़ने वाले अजमेर, बूंदी, कोटा, इन्दौर और ग्वालियर से ऐसा कोई खतरा नहीं रह गया था कि उधर से महाराणा को सहायता पहुंच जायेगी। नीचे की ओर पड़ने वाले प्रतापगढ़, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, ईडर और गुजरात के क्षेत्र भी पूरी तरह बांध लिये गये थे। पश्चिम-उत्तर की ओर चन्द्रसेन से खतरा हो सकता था, परन्तु वह स्वयं दयनीय स्थिति में था, उसके जोधपुर राज्य के अकबर ने टुकड़े-टुकड़े कर दिये थे। सिवाना और सोजत मेवाड़ पर आक्रमण के पहले जीत लिये गये। सिरोही से भी सहायता पहुंचना कठिन हो गया था। आंबेर और बीकानेर के राजा अकबर की सेवा में थे। जैसलमेर भी उसकी प्रभुता मान चुका था। मेड़ता पर सीधा शाही शासन था। रणथम्भोर लिया जा चुका था, और ठीक पास पड़ता था, आगरे का शाही प्रदेश जहां फतहपुर-सीकरी मे अकबर ने अपनी नयी राजधानी बनायी थी।

"यह भूलने की बात नही है कि मेवाड़-समस्या को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझा लेने के प्रयत्न की असफलता से अवगत होने के पहले ही अकबर राणा पर सैनिक दबदबा जमाने तथा उसके प्रदेश की घेराबन्दी करने का प्रयत्न कर रहा था। वास्तव में, मेवाड़ के विरुद्ध सीधी सैनिक कार्रवाई से अपने को रोके रहते हुए भी, अकबर ने उसे चारों ओर से घेरने की कोशिश उस समय की जबकि वह शांति-प्रस्ताव लेकर एक के बाद एक करके चार-चार बार राणा के पास राजदूत भेज रहा था। यह भी याद रखा जाना चाहिये कि पूर्वी मेवाड़ के कई भागों को (जागीर में) देना, जो अकबर ने मुस्लिम अफसरों को तथा जगमाल जैसे राणा के पास से भागकर आये लोगो को दिये थे, वास्तव में अन्दर ही अन्दर घुसपैठ करना था। साथ ही साथ अकबर ने मेवाड़ को उसके परम्परागत मित्र ईडर, सिरोही, डूंगरपुर, बांसवाड़ा और बूंदी से अलग करने का प्रयत्न किया।"[1]

## प्रताप की तैयारी

महाराणा प्रताप प्रत्युत्तर में क्या कर रहा था? 1572 के आरम्भ में शासन सम्हालते ही वह यह समझ गया था कि उसे भी अपने पिता की तरह बादशाह अकबर से लोहा लेना पड़ेगा। प्रताप के राज्यारोहण के चार वर्ष पहले चित्तौड़ का पतन हो चुका था। जब इतने साल अकबर चुप बैठा रहा, वह और भी न जाने कितने साल मेवाड़ पर सेना भेजने से अपने को रोके रखेगा, उस समय कौन कह सकता था? फिर, 1573 ही में तो उसने चार-चार बार प्रताप को 'शब्दों से जीतने के प्रयत्न' किये थे। 'बाहर से सैनिक दबाव, भीतर से चक्राकार व्यूह और एक दूसरे के पश्चात् तुरन्त ही क्रमशः चार राजदूत मंडल, इन सभी ने राणा प्रताप को एक श्रेष्ठ शत्रु से जीवन और मरण के युद्ध की अनिवार्यता का अनुमान करा दिया होगा, और फिर अब किसी भी पक्ष के किसी भी प्रकार झुकने की संभावना भी नही थी।' इस कारण प्रताप ने स-सैन्य आक्रमण की तैयारी में कोई कमी नही की, विशेषतः वह समझ गया था कि जब उसने अकबर के शाब्दिक

---

1. डा ए एल श्रीवास्तव, इडियन हिस्ट्री काग्रेस प्रोसीडिंग्स, 1960, पृष्ठ 190

आक्रमण को परास्त कर दिया है तो उसे अवश्य सशस्त्र आक्रमण का सामना करना पड़ेगा। सीधा सेना लेकर चढ़ आने की जगह शांति के प्रस्ताव भेजकर अकबर ने प्रताप का सम्मान बढ़ाया था। भारत पर कहा उसने हमला नही किया ? हिन्दू ही नहीं, मुसलमान राज्याध्यक्ष भी बड़ी संख्या में उसकी साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओ के नीचे कुचले जा चुके थे। उसने राजाओं को परास्त ही नही किया, अपमानित भी किया था। हिन्दू राजा तो उससे इतने सहम गये थे कि अपने कुल-धर्म की समस्त मर्यादाओ को तोड़ कर वे स्वेच्छा से अपनी बहनो-बेटियो के डोले उसके हरम में पहुंचाने लगे थे। परन्तु इनमें से किसी को भी समझाने-मनाने की इस तरह की कोशिश सम्राट अकबर ने नहीं की थी। मेवाड़ को भारत के सम्राट ने यह असाधारण आदर दिया।

परन्तु प्रताप इतना महत्त्वाकांक्षी नहीं हो गया था, इतना अव्यावहारिक नहीं था, कि उसने 'दिल्ली के अस्थिर कहे जाने वाले सिंहासन को जीतने की योजना बनायी थी'। "अपनी जाति की उदात्त भावनाओं से परिपूरित प्रताप चित्तौड़ पुनः प्राप्त करने की, अपने कुल के सम्मान की पुनः स्थापना करने की और उसकी सत्ता पुनः स्वीकार कराने की परिकल्पना किया करता था। इन कामनाओ से उत्साहित होकर वह अपने शक्तिशाली शत्रु का सामना करने को दौड़ पड़ा, उसने इस बात का हिसाब लगाने को हेटा समझा कि उसके विरोध मे क्या-क्या साधन संकलित कर लिये गये हैं। उसने अपने देश के इतिहास में कई बार अपने पूर्वजो के प्रतापी कार्यो के विवरण पढ़े थे, यह भी उसने पढ़ रखा था कि चित्तौड़ कई बार अपने शत्रुओ का बंदीगृह बन चुका था, उसे विश्वास हो गया था कि उसका भाग्य-चक्र उसके अपने उन प्रयत्नो के अनुरूप घूमेगा जो वह दिल्ली के अस्थिर सिंहासन को उलटने के लिए कर रहा था। यह तर्क जितना उचित था उतना ही उत्कृष्ट भी।"[1] परन्तु यह सत्य नहीं है कि प्रताप ने दिल्ली को लेने की और भारत पर अपना सिक्का जमाने की सोची थी। "यह प्रदर्शित करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है कि हल्दीघाटी के युद्ध (18 जून 1576) के पूर्व उदयसिंह के 1568 में खोये हुए मुगल अधिकृत मेवाड़ के किसी भाग को फिर से प्राप्त करने के लिए प्रताप ने कोई चढ़ाई की थी। उसने इन खोये प्रदेशो पर फिर से अधिकार करने का कार्य 1576 के पश्चात् प्रारम्भ किया था और उसमे भी वह केवल आंशिक रूप से सफल हुआ था। आगरा या दिल्ली पर अधिकार करने का प्रताप का कोई विचार न था। उसका उद्देश्य केवल मेवाड़ की रक्षा करना और संभव हो सके तो चित्तौड़ को पुनः प्राप्त करना था।"[2]

मेवाड़, जिस पर से अकबर की नजर कभी हटी नही थी, निरन्तर आक्रमणों के कारण जर्जर हो गया था। सदा से उसे जिन पड़ोसियों की सहायता मिलती रहती थी, वे अकबर के ज्यादा शक्तिशाली चुबक से खिचकर दूसरी तरफ पहुंच गये थे। मेवाड़ का सारा समतल भाग मुगल साम्राज्य में शामिल हो गया था। चित्तौड़-पतन से सारे

---

1 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 264
2 श्रीवास्तव, पहला भाग, पृष्ठ 199

मेवाड़ को सामरिक ही नहीं, नैतिक एवं मानसिक धक्का भी इतना भयंकर लगा था कि ऐसे मे अपने को और अपने राज्य को सम्हाले रखना अत्यन्त असाधारण क्षमताओं की अपेक्षा करने लगा था। इस कारण प्रताप ने जो कुछ स-सैन्य प्रयत्न के रूप में किया— और इसको लेकर ही प्रताप की अधिक ख्याति है— उससे कम इस दिशा में की गयी चेष्टाओं को नहीं माना जाना चाहिये। यह सही है कि चित्तौड़ और हल्दीघाटी के बीच में आठ साल निकल गये, और उनमें से चार साल उसके हिस्से मे भी आये, परन्तु फिर तो निरन्तर नौ साल उसे अकबर के आक्रमणो का सामना करना पडा, और बाद में तो उसने स्वयं आक्रमणकारी बनकर जो जो भूभाग अकबर ने उसके हाथो से छीना था उसे वापस प्राप्त कर लिया। फिर, आखिरी बाजी भी प्रताप के हाथ में रही, क्योकि उसके जीवित रहते, बारह साल की लम्बी अवधि तक, अकबर मेवाड़ पर कोई आक्रमण नहीं कर सका। सैनिक अभियानो में असैनिक तैयारी का महत्व जो लोग जानते हैं वे ही प्रताप के इन प्रयत्नों की अच्छी तरह सराहना कर सकते हैं।

'गिरवा से कुम्भलगढ़ और उसके आगे तक की पहाड़ियों और घाटियो के मोर्चे के सभी स्थानों की उसने मोर्चाबन्दी कर ली और हल्दीघाटी के दर्रे की रक्षा के लिए वीर सैनिक नियुक्त कर दिये। प्रताप ने भीलो से मित्रता जोड़ ली और अपनी प्रजा को देशभक्ति एवं आत्मविश्वास के अपने आदर्शो से प्रेरित कर दिया। उसने उन्हें गुहिल, बप्पा रावल, कुम्भा और राणा सांगा के देश के श्रेष्ठ उद्देश्य भी स्मरण कराये। प्रताप ने छापामार युद्ध प्रणाली को और अधिक उन्नत किया और अपने सैनिकों को सदैव सावधान रखा।'

इतिहासकारो ने एक स्वर से महाराणा प्रताप की इस बात के लिए भी सराहना की है कि दृढ़ता से उसने अपने प्यारे मेवाड़ के उस भूभाग को तहस-नहस करवा दिया जिसका उपयोग आक्रमण के लिए आने पर मुगल सेना कर सकती थी। जैसा कि बताया जा चुका है, प्रताप के पिता ने भी ऐसा कराया था, और इसकी परम्परा इससे भी पुरानी थी। परन्तु प्रताप ने इस बारे मे जो कड़ाई बरती उसने उसके राज्यवासियों तक के दिल कँपा दिये।

"कुछ ज्ञानी और अनुभवी सरदारो की सहायता से प्रताप ने उस समय की परिस्थितियो तथा उसके साधनो की अपर्याप्तता के अनुरूप शासन-प्रबन्ध का पुनर्गठन किया। कई नये पट्टे दिये गये, जिनमे स्पष्ट अंकित कर दिया गया था कि क्या सेवा पट्टा प्राप्त करने वाले को देनी होगी। कुम्भलमेर का, जहां अब राज्य की राजधानी थी, रक्षा-प्रबन्ध और भी दृढ़ किया गया, साथ ही गोगूंदा तथा अन्य पर्वतीय दुर्गो का भी[1], और मेवाड़ के मैदानी भाग पर अपना नियंत्रण बनाये रखना कठिन होने के कारण

---

1 गोपीनाथ शर्मा (मेवाड, पृष्ठ 81) ने एक ताम्रपत्र का उल्लेख किया है जिसके द्वारा 29 अक्टूबर 1574 को प्रताप ने हल्दीघाटी के मुहाने पर तीन सौ घुडसवार तैयार रखने के लिए कुम्भलगढ जिले के ढोल गाँव की जागीर एक घुडसवार-नेता जोगी पूनो को दी थी।

प्रताप ने अपने पूर्वजों की परम्परा का अनुसरण किया, और, जान से मारने तक की धमकी देकर, वहां रहने वाले अपने प्रजाजनों को पर्वतीय प्रदेशो में चले जाने के आदेश दिये। लंबे समय तक जो संघर्ष चलता रहा, उस बीच बनास और बेड़च नदियों से सिंचित, पश्चिम में अरावली पर्वतमाला से लेकर पूरब में ऊंचे उठे समतल भूभाग तक फैला, उपजाऊ प्रदेश 'बेचिराग' (बिना एक भी दीपक का) हो गया।

"इस कठोर नीति का अनुपालन कितनी दृढ़ता से प्रताप ने करवाया था, इसकी कई गाथाएं कही जाती है। बहुधा, थोड़े से ही घुड़सवारो को साथ लेकर, वह स्वयं अपने आदेशो का पूरी तरह पालन कराने निकल जाता था। मैदानी इलाके मे रेगिस्तान जैसी चुप्पी छा गयी थी, लहलहाती (अनाज की) बालों की जगह घास ने हड़प ली थी, मध्य मार्ग कांटो भरे बबूल से बंद हो गये थे, और उसके प्रजाजनों के निवास-स्थानो में जंगली जानवरो ने अपने घर कर लिये थे। इस निर्जनता के बीच, एक चरवाहा, यह सोचकर कि कौन देखेगा, अपने राजा के आदेशो के विरुद्ध, बनास के किनारे, ऊंटाला के घास के मैदानों में, अपनी बकरियां चरा रहा था। प्रताप ने उससे कुछ प्रश्न किये, और उसे जान से मार डाला--उसका शरीर लोगो को चेतावनी देने के लिए टांग दिया गया। इस कठोर देशभक्ति से, प्रताप ने 'राजस्थान के उद्यान' को शत्रु के लिए किसी उपयोग का नही छोड़ा, और मुगल दरबार तथा यूरोप के बीच जो व्यापार, सूरत तथा अन्य बन्दरगाहो से मेवाड़ में से होकर, चालू हो गया था, बीच में रोका और लूटा जाने लगा।"[1]

जेम्स टाड का यह विवरण आज भी दिल दहला देता है, परन्तु जहां तथ्यों का प्रश्न है उनसे जगह-जगह गलती हो गयी है।

"चारण इतिहासकार जिसे उसके सौन्दर्य के आभूषणों से विहीन बनायी गयी विधवा कहते है उस चित्तौड़ का विनाश कभी स्मृति से नही उतरे इसलिए प्रताप ने अपने और अपने उत्तराधिकारियो के वास्ते विलास एवं आडम्बर की समस्त सामग्री का तब तक के लिए निषेध कर दिया जब तक उसके गौरव के चिह्न पुनः प्राप्त नहीं कर लिये जायें। सोने और चांदी के पात्रों को हटाकर पत्तलो का प्रयोग होने लगा, बिस्तर पर घास-फूस बिछाया जाने लगा और दाढियां जैसी की तैसी छोड़ दी गयीं। भाग्य के पराभव को और भी तीक्ष्णता से इंगित करने के लिए, और उसको फिर से उठाने के वास्ते प्रेरित करने के लिए, उसने आदेश दिये कि सैनिक नक्कारा, जो युद्ध अथवा जलूस नें सदा आगे बजा करता था, पीछे रहा करेगा। मेवाड़ की अवनति का यह अन्तिम चिह्न अब तक चला आ रहा है, दाढ़ी को अब भी कतरनी नहीं छू पाती, और देशभक्त राणा के आदेशों से जिस प्रकार छल से बचा जाता था उससे भी उसकी स्मृति का सम्मान बढ़ता ही है क्योंकि उसका उत्तराधिकारी अब जब सोने-चांदी के बरतनों में खाता है और पलंग पर सोता है, नीचे पत्तल और घास रखी जाती है।

---

1 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 266

"उस अवधि में जो जगमगाते काम प्रताप ने किये वे अब भी हर घाटी में जीवित हैं, वे हर राजपूत के हृदय के सिंहासन पर सुशोभित हैं, और अनेक विजेताओ के इतिहासो में सदा के लिए अंकित हो गये हैं। उन सब को गिनाना अथवा जो कष्ट उसने सहे उन्हें सुनाना ऐसी भावुकता मानी जायेगी जो उस भूमि में उदित ही नहीं हुई जहां आज भी परम्पराओं में उसकी उपलब्धियां स्वयं प्रस्फुटित हो रही हैं। उसके सामन्तों के वंशजो से, जो श्रद्धापूर्वक अपने पूर्वजो के कृत्यों की स्मृतियां संजोये हुए है, आज भी जब बातें होती हैं तो वे विवरण सुनाते-सुनाते द्रवित हो जाते हैं, आंसू उनकी आंखों से गिरने लगते हैं।

"मै उन पहाड़ियों पर चढ़ा हूं, उन नालो को मैंने पार किया है, और उन मैदानो में मै घूमा हूं जो प्रताप के गौरवमय रंगमंच में पड़ते हैं, और मैंने जयमल्ल तथा पत्ता के वंशधरो से उनके पूर्वजों के कार्यो के संबंध में चर्चा की है, और कई बार ऐसा हुआ है कि जैसे-जैसे वे विवरण कहते जाते है उनकी आंखों से आंसू गिरते रहते है।"[1]

यह लिखते हुए, एक प्रकार से, श्री जेम्स टाड स्वयं द्रवित हो गये थे, जो अस्वाभाविक नहीं है, बातें ही ऐसी हैं।

परन्तु यह सब की सब सच नहीं हैं। "ये सब बातें कल्पित हैं। उदयपुर के महाराणाओ के भोजन की रीति तो यह है कि प्राचीन शैली के अनुसार फर्श को धोकर उस पर धुला हुआ शुद्ध श्वेत वस्त्र बिछाया जाता है, जिस पर बाजोट (छः पायों वाली षट्कोण या चार पायों वाली चतुष्कोण चौकी, जो अनुमानतः नौ इंच ऊंची होती है) रखा जाता है। उस पर पत्तल और पत्तल पर थाल रखा जाता है। यह पत्तल कर्नल् टाड के कथनानुसार चित्तौड़ की उक्त प्रतिज्ञा के निमित्त नहीं, किन्तु प्राचीन भोजन शैली का चिन्हमात्र है। प्राचीन काल में भोजन पत्तलों पर ही होता था। उनके बिस्तर के नीचे घास कभी नहीं रखी जाती और नक्कारा तो महाराणा उदयसिंह से चित्तौड़ का किला छूटा, तब से ही सैन्य के पीछे रहने लगा और अब तक रहता है।

"राजपूतो में पहले आजकल के जैसी ऊपर की तरफ मुड़ी हुई दाढ़ी रखने की रीति ही नही थी। राजपूताने के कई मन्दिरों मे वि. सं. 1400 के आसपास तक की राजपूत राजाओ या सरदारो की कई खड़ी मूर्तियां मिली हैं, जिनके या तो दाढ़ी नहीं है और है तो नीचे की तरफ लटकती हुई और अन्त में चपटी, जैसी कि मिस्र में मिलने वाली मूर्तियो के होती हैं। ऐसी दाढ़ी वाली दो मूर्तियां राजपूताना म्यूजियम (अजमेर) में सुरक्षित हैं, जिनमें से एक पर वि. सं. 1389 का लेख है और दूसरी बिना लेख की। ये दाढ़ियां पंचकेश के चिह्न के रूप है। ऊपर की तरफ मुड़ी हुई दाढ़ी रखने की रीति पहले राजपूतो में बिलकुल न थी। वि. सं. 1500 के आसपास और उसके पीछे बहुधा

1 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 265

तमाम राजपूत गलमुच्छे ही रखते थे, जैसा कि नाथद्वारा-आदि के वैष्णव मन्दिरों के सेवक लोग अब तक रखते हैं। मुसलमानों में नीचे की ओर बढ़ी दाढ़ी रखने की रीति थी, जैसा कि बाबर और हुमायूं के चित्रों से पाया जाता है। अकबर ने दाढ़ी बिलकुल मुडवा दी और वह गलमुच्छे भी नहीं रखवाता था। जहांगीर राजपूतों की तरह गलमुच्छे और शाहजहां गलमुच्छों के साथ खसखसी दाढ़ी रखता था। औरंगजेब के मुसलमान शैली की नीचे को बढ़ी हुई दाढ़ी थी। बहादुरशाह (प्रथम) के खसखसी से कुछ बड़ी दाढ़ी थी। फर्रुखसियर की दाढ़ी राजपूतों की वर्तमान दाढ़ी से कुछ मिलती हुई थी। पीछे से राजपूतों ने भी उसकी दाढ़ी का अनुकरण किया।

"उदयपुर के महाराणाओं में पहले पहल महाराणा संग्रामसिंह दूसरे (वि. सं. 1767) ने गलमुच्छों के साथ खसखसी से कुछ बड़ी दाढ़ी रखवायी। जगतसिंह (दूसरे) और प्रतापसिंह (दूसरे) ने उसका अनुकरण कर बिलकुल खसखसी दाढ़ी रखवायी। फिर अरिसिंह (दूसरे) से शंभूसिंह तक वर्तमान शैली की दाढ़ी रही। सज्जनसिंह ने पहले गलमुच्छे, फिर बहुत बड़ी दाढ़ी रखवायी और अंत में उसे कटवाकर छोटी रखवायी। वर्तमान महाराणा साहब को ऐसी (बड़ी) दाढ़ी का विशेष आग्रह है।

"जोधपुर के महाराणा भीमसिंह ने (वि. सं. 1849) पहले पहले एक प्रकार की दाढ़ी रखवायी। मानसिंह ने भी उसी का अनुकरण किया। तख्तसिंह ने वर्तमान शैली की दाढ़ी रखवाना शुरु किया, जो जसवन्तसिह तक रही।

"जयपुर में महाराजा जगतसिह (सिव. सं. 1860) ने सर्व प्रथम एक प्रकार की (ठोड़ी पर से कटी हुई) और रामसिंह तथा माधोसिंह ने वर्तमान शैली की दाढ़ी रखवायी।

"राजपूतों की वर्तमान शैली की दाढ़ी कुछ परिवर्तन के साथ फर्रुखसियर की दाढ़ी का अनुकरण मात्र है। महाराणा प्रतापसिंह ने कभी दाढ़ी नहीं रखी, जैसा कि उसके चित्रों से पाया जाता है।"[1]

मेवाड़ और मुगल सेनाओं के बीच, प्रताप के समय में, हल्दीघाटी के युद्ध के नाम से जो पहला मुकाबला हुआ उसका नेतृत्व अकबर के पुत्र सलीम (जो जहांगीर के नाम से बाद में मुगल सिंहासन पर बैठा) ने किया था, ऐसा भी जेम्स टाड ने कहा है।[2] समकालीन किसी मुस्लिम लेखक ने, जिनकी अकबर के समय मे कमी नहीं थी, यह बात नहीं कही है। हो यह सकता है कि मेवाड़ के प्रशंसक चारणों ने इस युद्ध का

1. ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 769

2 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 269 इसी जगह जेम्स टाड ने यह भी कहा है कि सगर (महाराणा उदयसिंह का एक बेटा) का पुत्र महाबतखान सलीम को सलाह देने को इस लड़ाई मे उपस्थित था। यह भी इसी प्रकार असत्य है। महाबतखान तो उम्र में सलीम से भी छोटा था, और वह काबुल में रहने वाले सैयद गफूर बेग का बेटा था। उसका असली नाम जमान बेग था। सलीम ने जहांगीर के नाम से बादशाह बनने के बाद उसे 'महाबतखान' का खिताब दिया था।—'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 155

महत्व बढ़ाकर बताने के लिए सलीम को हल्दीघाटी में ला बैठाया हो। परन्तु थोड़ा-सा हिसाव लगाने की बात थी। सलीम का जन्म 30 अगस्त 1569 को हुआ था, और हल्दीघाटी का युद्ध 18 जून 1576 को, अर्थात् उस समय सलीम की आयु केवल सात वर्ष की थी। जीवन के 27 और राज्यारोहण के 13 वर्ष पश्चात्, इतनी मनौतियो और मिन्नतो के बाद, अकबर जैसे उत्तराधिकारी के लिए उत्सुक पिता को जो पहला पुत्र प्राप्त हुआ था, उसे वह क्या इतनी कम आयु में, अपने समय के अत्यन्त विकराल माने जाने वाले युद्ध में, झोक देता ?

उन दिनो की वास्तविक घटनाओं के बारे में जानकारी के लिए सही यही होगा कि उन्ही दिनो लिखी गयी पुस्तको पर निर्भर रहा जाये। इस बारे में यह कड़ी सीमा है कि ये सब विवरण अकबर की सेवा में नियत मुस्लिम लेखको की कलम के लिखे हुए है, परन्तु ये लेखक आपस में एकमत नही थे, इसलिए बहुत सीमा तक वास्तविकता सामने आ जाती है।

## अकबर की तीर्थ यात्रा

टोडरमल्ल की प्रताप से हुई वार्ता असफल होने पर अकबर को स्पष्ट हो गया कि फैसला लड़ाई के मैदान में ही होगा। मेवाड़ से लड़ना कितना मुश्किल होता है, यह वह जानता था। अतएव एक ओर तो वह उत्तर भारत की प्रमुख समस्याओं से निपटा, और दूसरी ओर उसने राजस्थान के विपरीत वातावरण को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया; जो भी प्रताप को सहायता पहुंचा सकते थे, उन्हें परास्त करने का यत्न किया गया।

मारवाड़ में राव चन्द्रसेन ने, अपने शाही सेवा में गये भाई राम राय के पुत्र कल्ला को साथ लेकर, विद्रोह का झंडा उठा दिया। मालानी का मेघराज भी उनके साथ हो लिया। सिरोही के राव सुरतान ने भी सिर उठा रखा था। प्रताप का इन सबसे सम्पर्क था, और इस बात की पूरी संभावना लगती थी कि ये सब मिलकर शाही सेना का सामना करेंगे। राजस्थान को मुगल प्रभुता से मुक्त कराने का यह महाअभियान बनता जा रहा था।

"जैसे राख के नीचे आग रहती है और उस पर हवा का झोंका लगते ही लपटें निकलने लगती है, उसी प्रकार राजस्थान के परतन्त्र बनाये गये भूभाग में जाति एवं देश से प्रेम बना रहता था और उसे सक्रिय होने के लिए केवल थोड़ी-सी हवा की आवश्यकता पड़ा करती थी। परिस्थितियो से विवश हो जाने के कारण ही, कुछ राजपूत राजाओं ने, जिनमें सिर्फ छोटे-छोटे ही नही थे, साम्राज्य के प्रति अपनी भक्ति उद्घोषित कर दी थी, और अब, हाथो में हथियार लेकर, वे उस घड़ी की प्रतीक्षा में थे जिसमें वे मुगलो का घृणास्पद जूड़ा अपने कंधो से उतार फेकें। मुस्लिम इतिहासकारों के विवरणो मे उस समानान्तर की गयी कार्रवाई के वर्णन मिलते है जो राजपूत राजकुलों

ने एक साथ की थी, जिससे इस परिणाम पर पहुंचा जा सकता है कि इस समय हुए छुटपुट विद्रोह एक संगठित आयोजना के अंग थे।"[1]

अकबर ने मेवाड़ पर हाथ उठाने के पहले इस संभावना को समाप्त करना आवश्यक माना, और सबसे एक साथ लड़ने की जगह एक-एक से अलग-अलग निपटने की कोशिश की। सोजत, जहां कल्ला का अधिकार था, पहला शिकार हुआ, भरपूर प्रयत्न से लड़ने के बाद भी कल्ला को हार तथा अधीनता माननी पड़ी—सोजत उसी के हाथ में रहने दिया गया। मुगल सम्राट् की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार करने के उपरान्त क्या व्यवहार प्राप्त होता है, इसका यह उदाहरण बनाया गया। राव मेघराज की भी यही गति हुई। सिवाना में चन्द्रसेन स्वयं जमा हुआ था। इस दुर्ग की दृढता प्रसिद्ध थी। इसकी घेराबन्दी की गयी, लेकिन सफलता सरलता से नहीं मिली। उधर, मेवाड़ की सेना भी आसपास ही परिस्थिति को प्रतिकूल बनाये हुए थी। अतएव जो सेना सिवाना पर लगी थी उसे पहले प्रताप के सैनिकों से निपटना पड़ा। मार्च 1576 में जाकर सिवाना पर मुगल शासन स्थापित हुआ। इसके बाद ही अकबर ने मेवाड़-अभियान आरम्भ किया।

अकबर के राज्यारोहण के बाईसवें वर्ष के आरम्भ की बात है। वह फतहपुर-सीकरी से 17 फरवरी 1576 को अजमेर के लिए रवाना हुआ। जैसा कि रिवाज था, बड़ी संख्या में अमीर, सामन्त, सेनानी और सैनिक उसके साथ, और आगे-पीछे, चले।

अकबर प्रायः प्रति वर्ष ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह की तीर्थ-यात्रा पर अजमेर जाया करता था। यह यात्रा नितान्त धार्मिक भावना से की जाती थी, इसमें लोगों को शक है: "इस यात्रा से सदा दो लाभ होते थे, यह एक पवित्र तीर्थ-यात्रा हो जाती थी और इससे अकबर को राजपूताने पर कड़ी निगाह रखने का मौका भी मिल जाता था।" जो हो, इस बार स्पष्ट ही अकबर ने इस तीर्थ-यात्रा का उपयोग एक विशिष्ट सैनिक अभियान के आयोजन और आरम्भ के लिए किया। 'मुन्तखबुत-तवारीख' का लेखक शेख अब्दुल कादिर ईब्न-इ-मुलुक शाह, जो अल् बदायूनी (वह बदायूं का नहीं, आगरा-अजमेर के पुराने रास्ते पर राजस्थान में भुसावर के पास टोडा-भीम का रहने वाला था। कदाचित् उसे बदायूं में जागीर दी गयी थी।) के नाम से ज्यादा प्रसिद्ध है, उसके साथ था। उसने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में अकबर की यह यात्रा विशेष शुभ बतायी है:

> कार्यकारी सूर्य जब अपना काम नयी तौर से शुरू करता है,
> उसका मेष राशि में प्रवेश उठते दिन को शुभ बना देता है।

यह शुभकामना शाहंशाह के बाईसवे वर्ष के लिए भी थी, अजमेर की तीर्थ-यात्रा के लिए भी, और प्रताप से होने वाले युद्ध के लिए भी: चूंकि अल् बदायूनी स्वयं

---

1. फ्रेडरिक, पृष्ठ 241

इस युद्ध में गया था, यह शुभ-कामना उसने स्वयं अपने लिए भी प्रकट की। अकबर और बदायूनी दोनों को अवश्य इसका पुण्य प्राप्त हुआ।

अजमेर में लगभग एक पखवाड़ा इस बात पर विचार करने में लगा कि मेवाड़ पर किस प्रकार आक्रमण किया जाये। यह भी गंभीरता-पूर्वक विचारणीय विषय था कि सैनिक अभियान का नेतृत्व किसे सौंपा जाये। "चूंकि राणा मे अवज्ञा तथा धृष्टता बहुत बढ़ गयी है, और उसका कपट तथा पाखंड सब सीमाएं पार कर चुका है, सम्राट् ने उसे उखाड़ फेंकने की ओर अपना ध्यान लगाया। कुंवर मानसिंह, बुद्धिमत्ता, स्वामि-भक्ति तथा वीरता में जिसकी बराबरी का दरबार मे दूसरा नहीं है, और जिसे अन्य शाही कृपाओ के साथ-साथ 'फर्जन्द' (बेटा) का ऊंचा खिताब भी दिया गया है, इस सेवा पर लगाया गया।"[1]

यह अपने में बड़ा आश्चर्यकारी और परम्परा-विरोधी निर्णय था। मानसिंह की आयु उस समय सिर्फ 26 वर्ष की थी,[2] और इसके पहले उसने किसी बड़ी लड़ाई में सेनापतित्व नहीं किया था।[3] आयु और अनुभव दोनों दृष्टियो से अनेक अग्रणी तथा ख्याति-प्राप्त व्यक्ति उस समय शाही सेवा मे थे। ऐसा भी इसके पहले नहीं हुआ था कि एक महत्वपूर्ण संग्राम के लिए नियत मुगल सेना का नेतृत्व गैर-मुस्लिम को सौंपा जाये।

ऐसा क्यों किया गया? इसका उत्तर अबुल् फज्ल और अल् बदायूनी दोनों नहीं देते है, यद्यपि इस अवसर पर मानसिंह की दोनो ने बड़ी सराहना की है, 'बुद्धिमानी, राजभक्ति और बहादुरी मे वह दरबार में प्रथम श्रेणी के लोगो में था।' 'तबाकत-इ-अकबरी' में मानसिंह को 'वीर और योग्य' वर्णित करके यह भी कहा गया है कि 'साहस, पौरुष, बुद्धिमानी, और उत्साह' के लिए मानसिंह उस समय भी बहुत प्रतिष्ठा अर्जित कर चुका था।

मौलाना मुहम्मद हुसेन आजाद ने अपने 'अकबरी दरबार' में मानसिंह को प्रतिष्ठापित करते हुए कहा है, "अकबर के दरबार की चित्रशाला मे इस कुलीन राजा का चित्र सोने के पानी से खींचा जाना चाहिये, क्योकि सबसे पहले इसके बाप-दादा का शुभ सहयोग अकबर का सहायक और साथी हुआ था जिसके कारण तैमूरी वंश की जड़ जमी।

1. अकबरनामा, तीसरा भाग, पृष्ठ 236
2 कुंवर मानसिंह का जन्म 21 दिसम्बर 1550 को हुआ था। उसने 12 वर्ष की आयु ही मे शाही सेवा मे प्रवेश कर लिया था। वह अकबर के साथ-युद्ध मे पहली बार फरवरी 1569 मे रणथम्भार की घराबन्दी के समय गया था।—प्रसाद, पृष्ठ 19, 21
3. यद्यपि सैनिक और सेनानी की तरह उसे अनुभव था, इस युद्ध के पहले जो बड़ी लडाई अकबर ने गुजरात मे की उसमे जो शाही सैन्यदल अफगान विद्रोहियो का पीछा करने ईडर की तरफ भेजा गया था उसका नेतृत्व उसी को सौंपा गया था। वह लूट का बहुत-सा माल लेकर लौटा था। जब इब्राहीम हुसैन मिर्जा पर अकबर ने सीधा हमला सरनाल मे किया, मानसिंह ने स्वय निवेदन करके अग्रिम पंक्ति का नेतृत्व प्राप्त किया था।—निजामुद्दीन, पृष्ठ 342 345

उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा तथा कीर्ति को उसकी प्रतिष्ठा तथा कीर्ति के साथ मिलाकर एक कर दिया। धर्म की दीवार और जातीय बंधनों का किला इतना अधिक दृढ़ होता है कि जल्दी किसी के तोड़े टूटता नहीं। परन्तु राजनीति संबंधी नियम इन सबसे बहुत प्रबल होते है। जब उसकी आवश्यकता की नदी चढ़ाव पर आती है, तब वह सबको बहा ले जाती है। यद्यपि राजा भारमल्ल आदि महाराणा प्रताप के संबंधी थे, तथापि जब चित्तौड़ पर आक्रमण हुआ तब राजा भगवानदास भी अकबर के साथ थे, और हर मोर्चे पर कभी ढ़ाल की तरह आगे रहते थे कभी पीछे। (रणथम्भोर के युद्ध मे मानसिंह अपने पिता के साथ उपस्थित था।) जब अकबर स्वयं सेना लेकर गुजरात पर चढ़ाई करने गया, राजा भगवानदास और कुंवर मानसिंह भी इस अभियान में साथ थे। वे लोग बादशाह के चारों ओर इस प्रकार प्राण निछावर करते फिरते थे, जिस प्रकार दीपक के चारो ओर पतंगे।"[1]

यह पृष्ठभूमि है जिसमें अकबर ने मानसिंह को सेनापतित्व दिया था। परन्तु इसका कोई कारण भी अवश्य होगा। मौतमिदखान ने 'इकबालनामा-इ-जहांगीरी' में कुछ कारण बताने का प्रयत्न किया है, "इसको भेजने मे बादशाह का यही अभिप्राय था कि वह राणा की ही जाति का है और उसके बाप-दादे हमारे (अकबर के) अधीन होने से पहले राणा के अधीन और खिराजगुजार (करदाता) रहे है, इसको भेजने से संभव है कि राणा इसे अपने सामने तुच्छ और अपना अधीनस्थ समझ कर लज्जा और अपनी प्रतिष्ठा के खयाल से लड़ाई में सामने आ जाये और युद्ध मे मारा जाये।"[2]

'सवानीह-इ-अकबरी' का कहना है कि उस समय शाही दरबार में मानसिह ही ऐसा व्यक्ति था जो मेवाड़ के विरुद्ध भेजी जा रही सेना को इतना 'साहस और आशा से ओतप्रोत' कर सकता था कि वह प्रताप का सामना होने पर उसके भय से मैदान छोड़कर भाग नहीं जाये।

'वीर विनोद' में कहा गया है, 'बादशाह जानता था कि मानसिंह और प्रताप सिंह में तकरार[3] हुई है जिससे लड़ने को वह जरूर आयेगा और मारा जायेगा।' मानसिह को अपने अपमान का बदला लेने का अवसर मिलेगा, यह भी स्पष्ट ही था।

फ्रेडरिक आगस्तस ने इस प्रश्न की तह तक जाने का प्रयत्न किया है, "विचार-विमर्श और युद्ध दोनों मे राजपूत के विरुद्ध राजपूत को लगाकर, जो साधन उसके पास

---

1 'अकबरी दरबार', तीसरा भाग, पृष्ठ 122

2 आबेर का राज्य महाराणा कुभा ने अपने अधीन किया था, पृथ्वीराज राणा सागा के सैन्य मे था और भारमल्ल का पुत्र भगवानदास भी पहले महाराणा उदयसिंह की सेवा मे रहा था। जब से राजा भारमल्ल ने अकबर की सेवा स्वीकार की, आबेर वालो ने मेवाड की अधीनता छोड दी।—ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 741

3 इससे अभिप्राय उदयसागर के तट पर मानसिंह के अपमान से है। उसे सही नहीं मानने वाले भी स्वीकार करेंगे कि मानसिंह और उसके पिता की बात नही मानकर प्रतापसिंह ने उनके सम्मान पर चोट पहुचायी थी, इसका बदला लेने की ताक मे मानसिह तभी से अवश्य रहा होगा।

थे उनका समुचित उपयोग अकबर ने किया और परिस्थिति को भली प्रकार समझने की अपनी क्षमता का अच्छा परिचय दिया। हिन्दुओ के विशिष्ट स्वभाव का, वंशागत अनुबन्ध हो जाने के बाद और भी अधिक, गहरा ज्ञान अकबर को था, और उसी से प्रेरित होकर वह समझ गया था कि जैसे समान धर्म तथा जाति के लोगो के बीच कूटनीतिक संबंध अधिक शीघ्रता और सरलता से विकसित होते है, उसी प्रकार युद्ध में भाई के विरुद्ध भाई अत्यंत कठोर और कटु हो जाता है।"[1]

मानसिंह का पक्ष समझने वाले सारे प्रश्न पर दूसरा दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं, "इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मेवाड़ के राणा के विरुद्ध भेजी गयी सेना का मुख्य सेनापतित्व मानसिह को देने का सबसे बड़ा कारण उसके अपने गुण थे—बुद्धिमानी, साहस, युक्तिपूर्णता, सैन्य-संचालन मे दक्षता तथा आश्चर्यकारी संगठन-शक्ति। साथ ही साथ, अपनी वीरता और ओजपूर्णता के लिए प्रसिद्ध कछवाहा सैनिकों का मानसिह अपना प्यारा कुंवर था, और अकबर जानता था कि राजपूताने के सबसे अधिक सम्मानित शासक प्रताप के विरुद्ध भी अपने कुंवर को जीत दिलाने मे कछवाहा सेना कोई कसर नहीं उठा रखेगी। मुगल सम्राट् इस बात से भी अवगत था कि राणा प्रताप जैसे व्यक्तित्व से, जो उस समय भारत की समस्त राजपूत जाति का गौरव और गर्व था, शाही सेना का मुकाबला इससे पहले कभी नही हुआ था। अकबर का यह सोचना सही था कि यदि सेनापतित्व किसी मुसलमान को दिया गया तो मेवाड़ के राणा को हराने का दायित्व या तो राजपूत सैनिक उठायेंगे ही नहीं या उससे बचने का पूरा प्रयत्न करेंगे, इसलिए कुंवर मानसिह को 'इस्लाम की तलवार' उठाने को नियुक्त किया गया। फिर, शाही सेना का नेतृत्व कछवाहा राजकुमार को देकर अकबर सीसोदिया राजा को, जो राजपूती गौरव की गरिमा माना जाता था, चिढ़ाना भी चाहता था। अकबर कछ-वाहा राजपूतो को भी यह दिखाना चाहता था कि कितना विश्वास उसे उनमे है, इसी लिए उसने मानसिह के हाथ मे अपनी सेना की बागडोर सौंपी।"[2]

"अकबर इतना चतुर भी था कि उसने कुंवर मानसिह पर पूरा भरोसा नहीं किया। मन ही मन में वह जानता था कि अपनी जाति के सदा से प्रमुख व्यक्ति के प्रति राजपूतो के हृदय में अवश्य ही नम्रता का भाव रहेगा। यही कारण था कि मानसिह के साथ अनेक प्रतिष्ठित मुगल सेनानी भेजे गये।"[3] इस सेना का मीर बख्शी आसफखान को बनाया गया था। अन्य प्रमुख लोग थे गाजीखान बदख्शी, शाह गाजीखान तबरेजी, ख्वाजा मुहम्मद रफी बदख्शी, शियाबुद्दीन गुरोह, पायिन्दा कज्जाक, अली मुराद उजबेक, काजी खान, इब्राहीम चिश्ती, शैख मंसूर, ख्वाजा गियासुद्दीन, अली आसिफ खान, सैयद अहमद खान, सैयद हाशिम, सैयद राजू, मिहतर खान, मुजाहिद खान बारहा,

1 फ्रेडरिक, पहला भाग, पृष्ठ 214
2 प्रसाद, पृष्ठ 42
3. वही

आदि। इनमें अनेक 'महत्वाकांक्षी युवक' थे, अर्थात् सेनापति के समवयस्क। हिन्दू सरदारों में साथ थे--मानसिंह का चाचा जगन्नाथ, भाई माधोसिंह और रिश्ते में चाचा खगार तथा कछवाहो की शेखावत शाखा का लूणकर्ण।[1]

इस सेना में अपने शामिल होने का पूरा हाल अल् बदायूनी ने स्वयं लिखा है। वह काजी खान और आसफखान के सैन्य दल के साथ था। 'धर्मद्रोहियो (मुस्लिम धर्म के विरुद्ध भाव रखने वाले हिन्दू) के विरुद्ध लड़ने की उत्कठा मेरे मन में भी जागृत हुई।' उसने अपनी बात कई अमीरो के जरिये अकबर तक पहुंचाने की कोशिश की। सफलता नहीं मिलने पर वह 'अपने भाई जैसे' नकीबखान के पास गया। पहले तो उसने भी आपत्ति की, और कहा, 'यदि एक हिन्दू इस सेना का नेता नहीं होता तो बादशाह से इसमें शामिल होने की आज्ञा मांगने वाला मै ही पहला व्यक्ति होता।' परन्तु अल् बदायूनी नही माना, और उसने कहा, "बादशाह के हर सच्चे सेवक को मै अपने लिए उपयुक्त नेता मानता हूं। इसलिए सेनापति मानसिंह होता है या कोई दूसरा, क्या फरक पड़ता है? हमे ध्यान उद्देश्य की पवित्रता का रखना चाहिये।" इस पर नकीब खान ने अकबर को, जब वह ख्वाजा साहब की दरगाह जा रहा था, अल् बदायूनी की इच्छा से अवगत किया।

अजमेर के लिए रवाना होने के कुछ दिन पहले ही, उसकी 'आवाज के मिठास' के कारण, अल् बदायूनी को अकबर ने अपने सात निजी इमामो में से एक, बुधवार के लिए, नियुक्त किया था। सप्ताह के हर दिन के लिए अकबर ने अलग-अलग इमाम नियुक्त किये थे। इस कारण अकबर ने नकीबखान की बात एक बार तो नहीं मानी, 'क्यो? उसे हाल ही मे तो शाही इमाम बनाया गया है, वह कैसे लड़ाई पर भेजा जा सकता है?' नकीबखान ने निवेदन किया कि अल् बदायूनी का बहुत मन इस धर्म-युद्ध मे भाग लेने का है। इस पर अकबर ने बदायूनी को बुलवाया, और उससे भी पूछा कि वह इतना उत्सुक क्यो है? इस पर बदायूनी ने कहा: 'मेरे मन मे अपनी काली मूंछे और दाढ़ी आपकी वफादारी मे (खून से) लाल करने की है--

आपकी सेवा मे संकट बहुत है,
परन्तु मै उसे अगीकार करना चाहता हूं।
मेरा मन यह है कि आपके लिए ही,
मुझे नामवरी मिले, या मृत्यु प्राप्त हो।

इस पर अकबर ने कहा, 'खुदा ने करा तो तुम जीत की खबर लेकर लौटोगे।' विदा करते समय अकबर ने अल् बदायूनी को 56 अशरफियां प्रदान की, और उसे सेना के साथ जाने के लिए अनुमति दी।

---

1. लूणकर्ण के वश मे साभर का इलाका चला आता था। उसने आवेर के राजा भारमल्ल के साथ बादशाही सेवा स्वीकार की थी। वह सेवा-भावना और बुद्धिमानी के कारण अकबर क' बहुत प्रीतिपात्र बन गया था। उसे 'रायराया' का खिताब भी दिया गया था।

इसके बाद अल् बदायूनी मुल्लों के सदर (प्रधान) 'शेख उल इस्लाम' शेख अब्दुन् नबी से विदा लेने गया। उसने पहले बादशाह से अल् बदायूनी को लड़ाई पर जाने की अनुमति दिलाने में आनाकानी की थी, परन्तु अब उसने 'उदारता की पराकाष्ठा' प्रदर्शित की। उसने विदा देते-देते कहा, 'जब दोनो सेनाओ का लड़ाई के लिए आमना-सामना हो तब मेरी भी याद रखना, और मेरे लिए भी दुआ मांगना, क्योंकि पैगम्बर की परम्परा के अनुसार ऐसा समय दुआ मांगने और उसके पूरी होने के लिए सबसे अच्छा समय और स्थान माना गया है। उस वक्त मुझे भूलना मत।' अल् बदायूनी ने आश्वासन दिया, फातिहा पढ़ा, और हथियार-घोड़ा लेकर, 'इस विषय में अपने मनोविचारो से मेल खाते अनेक मित्रों के साथ', सेना में शामिल हो गया।

इस कथनोपकथन की कई बातें आगे चलकर सही उतरीं। परन्तु जो बात यहां ध्यान देने की है वह यह है कि एक हिन्दू को मुगल सेना का नेतृत्व सौंपा जाना कई मुसलमान दरबारियो और सेनानियो को रुचिकर नहीं हुआ था।[1] दूसरे, कई मुसलमान 'धर्मद्रोहियो की समाप्ति' करने के उद्देश्य से ही इस युद्ध मे सम्मिलित हुए थे।

कदाचित् इसके पहले बादशाह ने कभी मार्नासह को ख्वाजा साहब की मजार मे ठीक उस स्थान पर नहीं बुलाया था जहां उनकी कब्र है, क्योंकि इस अवसर पर अकबर द्वारा उसे वहां बुलाने का विशेष उल्लेख अल् बदायूनी ने किया है। जिसकी पूजा अकबर करता था उससे उसने मार्नासह को आशीर्वाद दिलाया, और अपनी ओर से उसके प्रति अत्यन्त अनुकम्पा तथा स्नेह प्रकट किया। उसे खिलअत[2] प्रदान की और एक पूरी तरह सजा-सजाया घोड़ा भी भेंट किया। इसके उपरान्त अकबर ने मार्नासह को 'राणा कीका के अधीन शत्रुतापूर्ण प्रदेश गोगूंदा और कुम्भलगढ़' प्रस्थान करने का आदेश दिया।

---

1 इसी प्रकार जब अकबर ने राजा टोडरमल की नियुक्ति साम्राज्य का वित्तीय प्रबन्ध सम्हालने के लिए की थी, हिन्दू होने के कारण इसका भी विरोध किया गया था। टोडरमल को इसी काम पर लगे दूसरे अधिकारी ख्वाजा मुजफ्फर अली तुरबती से निरन्तर प्रतिद्वन्द्विता मे रहना पड़ा। अल् बदायूनी ने कहा है :

"कुत्ता जैसा राजा मुजफ्फर खान से बेहतर है, यद्यपि राजा से सौ गुना अच्छा एक कुत्ता होता है। शाही सामन्त (अमीर) टोडरमल की नियुक्ति को नही सह सके, और इस शिकायत को लेकर शाहंशाह के पास पहुचे, और निवेदन किया कि टोडरमल को बरखास्त कर दिया जाये। अकबर ने उत्तर दिया, "तुम मे से हर एक ने अपने निजी मामले सम्हालने के लिए एक न एक हिन्दू रख रखा है। मैं भी यदि एक हिन्दू को रख लू, तो बताओ इससे नुकसान क्या हो जायेगा ?" फिर भी, उन दिनो एक कहावत प्रचलित हो गयी—

जिसने भारतीय मामलो को एकदम उलझा दिया,
वह था राजाओ का राजा टोडरमल।"

—अल् बदायूनी, दूसरा भाग, पृष्ठ 64

2 खिलअत सिर्फ सैनिक सम्मान नही था, जो भी शाही दरबार मे प्रस्तुत किया जाता था उसे यह प्रदान की जाती थी। प्राप्तकर्ता के पद अथवा स्थिति के अनुसार अलग-अलग तरह की खिलअत दी जाती थी। खिलअत शाही पोशाक होती थी, जिसमे क्रमवार तीन, पाच, छ अथवा सात कपड़े होते थे, और विशेष सम्मान जिसका करना होता था उसे वे कपड़े दिये जाते थे, जिन्हे शाहशाह स्वयं पहन चुका होता था—उन्हे . इ-ख [illegible] ा था।

मानसिंह को विदा करते समय शाहंशाह ने उसे संक्षेप में, परन्तु स्पष्टता के साथ, निर्देश लिखकर दिये कि किन परिस्थितियों में क्या करना समुचित होगा।[1] मानसिंह को यह भी आदेश थे कि वह महाराणा प्रताप को 'बुद्धिनाश की तंद्रा' से मुक्त करने का और 'पवित्रता की पाठशाला' का मार्ग दिखाने का प्रयत्न करे। "परन्तु जो अभागा होता है उसके लिए जागृति के उद्देश्य और अधिक तन्द्रा के कारण बन जाते हैं।"[2]

मेवाड़ पर आक्रमण का प्रबन्ध करके अकबर फतहपुर लौट गया।

'अपने प्रतिदिन बढ़ते भाग्य पर भरोसा करके' मानसिंह ने 3 अप्रेल 1576 को अजमेर से 'सोते भाग्य के' राणा प्रताप के 'देश' की ओर शाही सेना के साथ कूच किया। लक्ष्य गोगूंदा था, जो उन दिनो मेवाड़ का प्रमुख केन्द्र बन गया था। 'हिन्दूवाड़ा के पहाड़ों में बसे इस नगर की उस समय अपने 'सुन्दर भवनो और उद्यानो के लिए' बड़ी प्रसिद्धि थी।

अजमेर से कोई 70 मील दक्षिण-पूर्व की ओर चलकर मानसिंह ने पूर्वी मेवाड़ में स्थित मांडलगढ़ मे डेरा डाला। माडलगढ़ अकबर पहले ही जीत चुका था। यह चित्तौड़ से कोई 25 मील उत्तर-पूर्व की ओर हे।[3]

यहां मानसिह सारी सेना के साथ मध्य अप्रेल से मध्य जून तक दो महीने रहा। इसके सैनिक कारण तो आगे आयेंगे, परन्तु ऐसा लगता है कि यहां से मानसिह ने 'सोते भाग्य' की 'तंद्रा तोड़ने का', अकबर के आदेशानुसार, प्रयत्न किया। इसके लिए मानसिह ने वास्तव मे क्या किया? इसका उत्तर कही देखने को नहीं मिलता। एक ही बात है, मानसिंह मांडलगढ में लगभग दो महीने अपनी सेना के साथ क्यो पड़ा रहा? हल्दीघाटी की लड़ाई बड़ी प्रतिकूल ऋतु मे हुई थी, गरमी के मारे सारा स्थान भट्टी हो गया था। मानसिंह को इसका आभास होगा, फिर भी उसने दो महत्वपूर्ण महीने 'वृथा' गंवा दिये? बताया यह जाता है कि मानसिह प्रताप के विरुद्ध जाने वाली सेना के एक जगह एकत्रित होनी की प्रतीक्षा कर रहा था। शाही प्रबन्ध मे इतने दिन इस तरह की बातों में नहीं लगा करते थे। हो सकता है कि मानसिह प्रताप को एक बार फिर से सारी परिस्थिति पर विचार करने का, और अब भी अकबर की शर्तें मान लेने का मौका देना चाहता था। इसके लिए उसने कुछ अवश्य किया होगा। शाहंशाह के आदेश थे कि वह कुछ 'वफादार'

---

1 'अकबरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 237

2 वहीं, पृष्ठ 241

3 कुछ लेखको ने (भार्गव, राजस्थान, पृष्ठ 243) माडल और माडलगढ का प्रयोग इस प्रकार किया है जैसे कि वे दोनो एक ही स्थान हो। मेवाड मे यह दो भिन्न-भिन्न स्थान हैं, परन्तु दोनो के अजमेर के दक्षिण और चित्तौड के उत्तर मे होने के कारण यह गलतफहमी हो जाती है। मानसिंह माडलगढ मे ठहरा था। श्री भार्गव का यह कहना भी सही नहीं है, 'माडल से रवाना होकर मानसिंह गोगूदा होता हुआ खमनोर पहुचा।' गोगूदा मानसिंह हल्दीघाटी के युद्ध के बाद पहुच सका था, पहले नहीं। श्रीवास्तव, पहला भाग, पृष्ठ 112, मे भी जहा माडलगढ़ होना चाहिये, 'माडल' लिखा है।

लोगों के साथ जाये और प्रताप को 'बुद्धिनाशी तंद्रा से जागृत करके उसे पवित्र पाठशाला (शाहंशाह का दरबार) का मार्ग बता दे'। "जागृति के लिए मिले इस अवसर के समय राणा ने अज्ञानवश अपनी जिद और भी बढ़ा ली, और वह सेना लेकर उपद्रव करने के लिए आगे बढ़ आया। उसने उस सौभाग्य की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जो सदा सर्वदा के लिए उसे उपलब्ध था।"[1]

'मानप्रकाश' नामक अप्रकाशित ऐतिहासिक महाकाव्य में भी निम्न पंक्तियां हैं जिनसे इस अनुमान को समर्थन मिलता है कि मानसिंह ने प्रताप को समझाने का प्रयत्न किया था :

"धर्मधुरीणो मे भी प्रमुख, समान्तादिजनो से परिवृत, अग्नि के समान तेजस्वी राजा मान (राणा प्रताप को जीतने के लिए) पहुंचा। महान शक्तिशाली राणा को महाराज मानसिंह ने बुलाया।

महाराजा मानसिंह ने राणा से कहा—वीर, बाहर आओ। तुम्हें सर्वस्व देकर बादशाह की सेवा करनी है। यदि युद्ध करने की इच्छा है तो शीघ्र मैदान मे आ जाओ तथा समृद्ध होकर मेरे योद्धाओ से युद्ध करो।

राजा मान की बात सुनकर राणा अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे और डंडे से पीटे गये सर्प के समान (क्रुद्ध भाव से) राजा मान को मारने के लिए आ पहुंचे।"

जब यह 'अंतिम शाब्दिक प्रयत्न' भी परिणामप्रद नहीं रहा, शस्त्र उठाने का निश्चय किया गया, रण की भेरी बजा दी गयी। भारत का अत्यन्त प्रसिद्ध युद्ध आरम्भ हुआ।

मांडलगढ़ में इतना समय लगाने का कारण, इस प्रकार एक ओर, प्रताप को अकबर से बिना लड़े समझौते के लिए तैयार करना, कम से कम इसका एक और मौका देना था; दूसरी ओर, जैसा कि बताया गया, उसे, इसमे सफलता नहीं मिलने पर, मैदान में आकर युद्ध करने के लिए लुभाने का था। इसके साथ-साथ अन्य कुछ सैनिक कारण भी थे।

मानसिंह के जीवन की यह पहली लड़ाई थी जिसमे वह स्वयं सेनापति था। फिर, मेवाड़ से लड़ने का अनुभव शाही सेना के लिए अच्छा नहीं रहा था। चित्तौड़ ने स्वयं अकबर को चार-पांच महीने परेशान किया था। तैयारी में कोई कमी लेकर मानसिंह युद्ध मे नहीं कूद सकता था। "कुंवर मानसिंह भी महाराणा से लड़ना और उदयसागर तालाब पर अपने कहे हुए बोल को सिद्ध करना कुछ छोटी बात नहीं समझते थे। इसलिए बहुत-सी फौज इकट्ठी करने के बाद जब लड़ाई का पूरा सामान तैयार हो गया तो उन्होने वहां से मोही गांव मे आकर डेरा किया।"[2]

---

1 'अकबर नामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 244

2 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 150

मांडलगढ़ से चलने के पहले मानसिंह ने अजमेर के मार्ग की, और आगे के मार्ग की, सुरक्षा का भी विशेष प्रबन्ध किया।

आवागमन के साधनों का महत्व इसलिए हो गया था कि प्रताप ने आसपास का सारा मैदानी भाग खाली कराकर शत्रु के लिए पूर्णतः अलाभकारी बना दिया था, उधर इतनी बड़ी सेना के लिए कुछ भी सामान मिलने की आशा नहीं थी। अजमेर तक का रास्ता खुला रहने पर ही इस दिशा मे सन्तोषप्रद प्रबन्ध हो सकता था।

मानसिंह के मांडलगढ़ पहुंचने का समाचार पाकर प्रताप कुम्भलगढ़ से गोगूंदा आ गया। यहां आकर उसने अपने सरदारो, सामन्तो, सहयोगियो ओर विशिष्ट व्यक्तियों से विस्तारपूर्वक परामर्श किया।

इस महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक अवसर पर जो विचार-विनिमय हुआ उसका विस्तार से वर्णन 'राणा रासौ' ने किया है। उसके अनुसार ग्वालियर के राजा रामसहाय का पुत्र शालिवाहन सबसे पहले शाही सेना के आगमन का समाचार लेकर महाराणा प्रताप के पास गया था।

प्रताप ने शालिवाहन को ससम्मान अपने पास बुलाया, बाबरवंश के सूर्य-स्वरूप शाह अकबर के आक्रमण की सारी बाते जानकर महाराणा प्रताप ने तत्काल युद्ध का उद्घोष कर दिया तथा स्वयं रण-क्षेत्र मे उतरने को उद्यत हो गया। शालिवाहन ने समझाया, 'शाह की सेना का पार वही पा सकता है जो शेष नाग के मस्तक पर संतुलित पृथ्वी के भार का अनुमान लगा सकता है, इसलिए पूरे परामर्श और हर तरह की तैयारी पहले की जानी चाहिये।' महाराणा ने जिस तरह की परिस्थिति थी उसमें अनुभवी और अतिशय वीर रामसहाय से सलाह करने का निश्चय किया, और उसे अपने पास बुलाने की जगह स्वयं उसके निवास-स्थान चला गया। राणा का आगमन सुनकर राजा रामसहाय अगवानी करने आगे पहुंचा और पांवड़े बिछवाये। तदन्तर वह राणा को अपने भवन में ले गया। बैठ चुकने पर रामसहाय तंवर ने राणा से निवेदन किया, 'हे एकलिंग के दीवान मुझे ही क्यो नही बुलवा लिया? आपने यहां आने का कष्ट क्यो किया? आपका जो भी आदेश होगा मै उसे शिरोधार्य करूंगा।'

सब सामन्तो, मन्त्रियो, आदि को रामसहाय के घर पर ही बुला भेजा गया। जो उल्लेखनीय व्यक्ति एकत्रित हुए वे थे—राव सग्रामसिह, बीदा झाला, मानसिह झाला, भीमसिह डोडिया, डूगरसी पंवार, शेरखान चौहान, पत्ता का पुत्र चूंडावत कल्याणसिंह, दुर्गादास, हरिदास चौहान, नाथा चौहान, प्रयागदास भाखरोट, आलम राठौड़, नंदा प्रतिहार, सेढू महमूदखान, महाराणा का मामा मानसिह, कूपा का पुत्र जयमल्ल तथा मंत्री भामाशाह 'जिसके कंधो पर मेवाड़ भू भाग का भार था'। यह सब 'महाराणा के समीप इस प्रकार सुशोभित हुए मानो दैत्यो के वध की मन्त्रणा करने के लिए सब देवता शिव के समीप आये हो'।

महाराणा ने 'हाथ जोड़कर ससम्मान' राजा रामसहाय तंवर से आगत आक्रमण के असफल करने का उपाय जानना चाहा। रामसहाय ने उत्तर दिया, 'जिनके प्रपंच के कारण मैंने अपनी जन्मभूमि छोड़ दी वही मुगल आज पृथ्वी पर अपार शक्तिशाली बना है, इसका मुझे दुःख है। मुझे तो अन्य मंत्रणाएं व्यर्थ लगती है। मेरा तो एक यही काम है कि पहाड़ो का दृढ आश्रय लेकर यवनो को घेर लेना चाहिये। जैसी मेरी बुद्धि वैसी सम्मति मैंने आपको दी है। आगे जैसा सबका विचार हो वैसा इसी क्षण करना चाहिये।'

पहाड़ों का आश्रय लेने के सलाह पर 'सब सामंत हंस पड़े' और कहने लगे, 'आश्चर्य है कि आप हमारे साथी बनकर और मस्त हाथी जैसे होकर शत्रुओ से भयभीत होते हो। रामसहाय के मुख से ऐसा सुनने की आशा नही थी।' कुछ नवयुवको ने कहा, 'यह वृद्ध तो बहुत जीवत रहना चाहता है। हम युवक तो मानो अबोध और अज्ञानी ही है। यह बात तो आज ही हमने सुनी है कि मुगलो को छोड़कर समस्त पृथ्वी वीर-रहित है। हमने तो प्रकट रूप से आमने-सामने युद्ध करने का निश्चय किया है, आप चाहें तो सेना के हरावल (आगे) के बजाय पीछे रह कर युद्ध करना।"

राजा रामसहाय बोले, 'विशेष बोलने वाले ही अधिक अनुभवी होते है। यदि मेरा कथन तथ्य रहित है तो महाराणा प्रातः होते ही युद्ध छेड़ कर देख लें। मेरे कथन की वास्तविकता सहज ही जानी जा सकेगी।'[1]

यह परामर्श नही माना गया, इस कारण हम आगे देखेंगे, मेवाड़-पक्ष विजय-श्री का वरण नहीं कर सका, और राजा रामसहाय का उसके पुत्रो सहित बलिदान हुआ। परन्तु इस सामूहिक परामर्श का लाभ अवश्य हुआ।

ऐसा लगता है कि महत्वपूर्ण विषयो मे अपने राजा को सलाह देने के लिए परम्परा से बनी इस संस्था ने एक बार फिर बड़ा लाभकारी योग दिया। 'स्वतंत्र मेवाड़ में मानसिंह को आक्रमणकारी के रूप में प्रवेश करने देना प्रताप अपमानजनक मानता था', और मांडलगढ़ पहुंचकर मानसिंह का मुकाबला करना चाहता था, परन्तु उसे परामर्श दिया गया, "कुंवर मानसिंह अपनी ताकत से नहीं आये है, वह अपने फूफा याने बादशाह की फौज लेकर आये है, इस वास्ते आप को भी लाजिम है कि पहाड़ो मे रहकर उनको बहादुरी दिखलायें। जिस पर यही बात पक्की ठहरी।"[2]

मुगल खुले मैदान मे युद्ध करने मे बहुत कुशल और अभ्यस्त थे। यदि मेवाड़ी सेना मैदान में उतर आती तो शायद अकबर के सब अंदाज और मंसूबे पूरे हो जाते, वहां मानसिंह के हाथों मरने या पकड़े जाने की संभावना बहुत थी। प्रताप से पहाड़ो की उसकी बड़ी सुविधा छूट जाती, और वह मुगलो की सेना की संख्या का ही नहीं, जितनी जरूरत हो नयी सेना के आने के लिए अजमेर तक खुले मार्ग की शाही सुविधा का भी, शिकार हो जाता। एक इस फैसले से सारी स्थिति बदल सकती थी।

---

1 'राणा रासो', पद 302–321
2. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 150

इसके लिए, और बाद में भी हल्दीघाटी से बाहर निकल आने के लिए, सैन्य संचालन की दृष्टि से, प्रताप की आलोचना की जाती है। अरावली पर्वत माला के भीतर मुगल सेना को आने देना, और फिर समस्त प्राकृतिक सुविधा और पर्वतीय प्रदेश के पूरे ज्ञान का लाभ उठाकर उसे छकाना ही कदाचित् सबसे अधिक उपयुक्त होता। एक बार पहाड़ों में फंस जाने के बाद उनमें से जीत कर निकलना कठिनता से संभव हो सकता था, जैसा कि हम शीघ्र देखेंगे, "परन्तु प्रताप कदाचित् अपने पर्वतीय प्रदेश में मुगल सेना को आने देने से डरता था: क्योंकि एक बार अन्दर आ जाने पर उसके सैनिकों को हर पहाड़ी की चोटी पर पहुंचने से नहीं रोका जा सकता था, यद्यपि यह प्रयोग मुगल सेना के लिए बहुत ही महंगा पड़ता। परन्तु शाहंशाह सहायक सैनिको की निरन्तर झड़ी लगा सकता था, इसलिए प्रताप ने प्रकृति प्रदत्त सुविधा का लाभ नहीं उठाने का निश्चय किया। फिर, राजपूत इस तरह की रण-चातुरी तब तक पूरी तरह नहीं सीख पाये थे, और प्रताप इसका प्रयोग उतने प्रभावकारी ढंग से नही कर सकता था जैसा कि उसके उत्तराधिकारी महाराणा राजसिह ने बाद मे औरंगजेब के विरुद्ध किया। साथ ही साथ वह सीसोदिया आतुरता भी काम कर रही थी जो शत्रु को, विशेषतः जब वह कछवाहा हो, ललकारने में कोई देरी सहन नहीं कर सकती। मेवाड़ पर आक्रमण करके मानसिंह ने जो धृष्टता दिखायी थी उससे प्रताप इतना क्रोधित हुआ कि उसने मांडलगढ़ जाकर उसे सबक सिखाने का फैसला करीब करीब कर ही लिया था। परन्तु यह पूरा पागलपन होता, मांगलगढ़ अजमेर के इतना नजदीक था कि चाहे जितनी सेना और सामग्री वहां पहुंचायी जा सकती थी, और सारी प्राकृतिक सुविधा हाथ से निकल जाती।"[1]

मांडलगढ़ से चलने के पहले मानसिंह ने अपनी सेना का पुनर्गठन किया, जो टुकड़ियों शेष थीं वे यहां आकर मिल गयी थीं। माडलगढ़ से यह सेना गोगूंदा की ओर बढ़ी। गोगूंदा उदयपुर से लगभग 16 मील उत्तर-पश्चिम है। गुजरात जाने वाले शाही मार्ग पर पड़ने के कारण अकबर के लिए इसे लेना आवश्यक था, और इसलिए भी इसे इस अभियान का लक्ष्य बनाया गया था। 'दिन को रोज चलकर और हर रात नयी जगह गुजार कर' यह सेना पहले मोही और बाद मे मोलेला गांव पहुंची, जो गोगूंदा से कुछ ही मील उत्तर-पश्चिम बनास नदी के उत्तरी किनारे पर है। खमनोर बनास के दक्षिणी तट पर पास ही है। यहां से पहाड़ी प्रदेश प्रारम्भ होता है।[2] गोगूंदा 14 मील दक्षिण पड़ता है। बीच मे है अरावली पर्वत माला में कुम्भलगढ़ पर्वत श्रेणी की सुप्रसिद्ध हल्दीघाटी।

सैनिक प्रबन्ध और परामर्श गोगूंदा में पूरा करके प्रताप मेवाड़ की सेना के साथ वहां से रवाना हुआ, और खमनोर से दस मील दक्षिण-पश्चिम लोसिग गांव पहुंचा।

---

1. श्रीराम शर्मा, प्रताप, पृष्ठ 66
2. प्रसिद्ध वैष्णव मन्दिर नाथद्वारा यहा से सिर्फ सात मील दक्षिण है, परन्तु उस समय श्रीनाथजी का वहा आगमन नही हुआ था।

यहां कुम्भलगढ़ की पर्वत-श्रेणी के नीची हो जाने से दर्रा बन गया है। दोनों सेनाओं के बीच की दूरी अब सिर्फ बारह मील रह गयी थी।

मोलेला गांव पहुंचने और ठहरने के बाद भी मानसिंह को यह पता नहीं लग पाया था कि प्रताप की सेना इतने पास है। इस कारण यहां एक घटना होते-होते रह गयी जो मेवाड़ को शायद जीत दिला देती, परन्तु प्रताप की कीर्ति कम कर सकती थी।

खमनोर से दक्षिण पहाड़ी प्रदेश मे जांच-पड़ताल करने के लिए, शिकार का बहाना करके, मानसिंह मेवाड़ के सैन्य शिविर के बहुत पास जा पहुंचा। उस समय उसके साथ एक हजार से अधिक घुड़सवार नहीं होगे। गुप्तचरो ने आकर प्रताप को उसकी खबर दी। "उस वक्त कितने ही सरदारो ने अर्ज की कि कुंवर मानसिंह पर हमला करें, लेकिन झाला बीदा ने कहा कि इस तरह दगा करना बहादुरो का काम नहीं है। महाराणा ने भी बीदा के कहने को पसन्द किया। दूसरे रोज कुंवर मानसिंह को महाराणा प्रतापसिंह के (इतने नजदीक) आने की खबर मिली।"[1] इस तरह मानसिंह, और प्रताप का, सम्मान बच गया। हां, झाला सरदार बीदा को अपने परामर्श का मूल्य अपने जीवन से देना पड़ा। परन्तु अपने इस परामर्श और बाद में युद्ध मे अत्यन्त असाधारण त्याग और वीरता का प्रदर्शन करके उसने मेवाड़ के इतिहास में अपना स्थान सुरक्षित कर लिया, मानवीय गुण कहां तक एक व्यक्ति को उठा सकते है, इसका वह उदाहरण बन गया है।

## हल्दीघाटी का युद्ध

मानसिंह और प्रतापसिंह के बीच हुआ यह युद्ध 'हल्दीघाटी युद्ध' के नाम से प्रसिद्ध है, परन्तु यह युद्ध हल्दीघाटी के भीतर नहीं हुआ था, और उस समय के मुगल इतिहासकारो ने इसका उल्लेख इस नाम से किया भी नहीं है। मेवाड़ के इतिहास से संबंधित जो प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमें भी इस युद्ध को 'हल्दीघाटी का युद्ध' नहीं कहा गया है।

राजस्थानी का एक दोहा बहुत प्रचलित है, जिसकी प्रथम पंक्ति है :

गोगूंदा रै घाट पर, मचियो घाण मथाण

अर्थात् जिस स्थान पर प्रतापसिंह और मानसिंह की सेनाओ के बीच 'भयंकर युद्ध' हुआ था वह 'गोगूंदा के घाट' के नाम से प्रसिद्ध था।

उदयपुर से 40 मील उत्तर की ओर बने राजसमुद्र सरोवर के तट पर श्री रणछोड़ भट्ट की लिखी 'राजप्रशस्ति' 25 काले पत्थरों पर खुदी लगी हुई है। इसमें लिखा है कि 'खमणोर गांव में प्रताप और मानसिंह के बीच भीषण युद्ध हुआ'। इसी कवि के लिखे 'अमरकाव्य' में कहा गया है, 'खमणोर के बीच इतना रक्तपात हुआ कि बनास नदी का पानी लाल हो गया।'

---

1 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 151

सांदू माला महाराणा प्रताप के समकालीन चारण कवि थे। उनके लिखे 'झूलणा महाराणा प्रतापसिंह जी रा' में यद्यपि यह आया है कि 'हल्दीघाटी के मैदान में प्रताप अपने अश्वारोही दल सहित पहुंचा' परन्तु 'भयंकर घात-प्रतिघात' 'खमणोर के मैदान मे' ही हुए। अर्थात् युद्ध का स्थल खमनोर ही था।

'राणा रासौ' में स्पष्ट लिखा है, 'दोनो दल तुमुल घोष के साथ खमणोर नामक स्थान पर सोत्साह एक दूसरे का सामना करने लगे।'

प्रताप के छोटे भाई शक्तिसिंह के सम्मान में गिरधर आसिया द्वारा लिखित 'सगत रासौ' मे भी कहा गया है, 'खमणोर नामक स्थान पर युद्ध हुआ।'

मुहणोत नैणसी कहते है, "बनास तट पर खमणोर गांव के पास युद्ध हुआ।"[1]

किसी अज्ञात कवि द्वारा लिखित, परन्तु सजीव वर्णन से सजे, 'पतायण' में बताया गया है, 'सेना घूमती झूमती खमणोर के मैदान में पहुंची।'

एक और अज्ञात कवि ने कहा है, 'खमणोर के युद्ध मे राणा प्रताप ने विकट से विकट योद्धाओ को मार कर गिरा दिया।'

डा. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने स्पष्ट किया है, "हल्दीघाटी से कुछ ही दूर खमणोर के निकट दोनो सेनाओ का भीषण युद्ध हि. स. 984 रवि उल् अव्वल के प्रारम्भ (वि सं. 1633 द्वितीय ज्येष्ठ सुदि—ई. स. 1576 जून) में हुआ।"[2]

डा. गोपीनाथ शर्मा कहते है कि युद्ध 'और कही नहीं', उस मैदान में हुआ जो अब बादशाह बाग कहलाता है। घाटी से ठीक नीचे इस बाग की एक ओर खमनोर और दूसरी ओर भागल गांव है।[3] डा. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव स्वयं तीन बार (1930-34) इस स्थान की जांच-पड़ताल करने गये थे, और एक बार उनके साथ सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ सर यदुनाथ सरकार भी थे। उन्होने इस प्रश्न का विवेचन करते हुए लिखा है, "हल्दीघाटी एक हल्दी के रंग का ही पीला पहाड़ी दर्रा है। यह दक्षिण से उत्तर-पूर्व की ओर डेढ़ मील तक फैला हुआ है, और खमनोर गांव के ठीक दक्षिण में आकर समाप्त होता है। इसीलिए अबुल् फज्ल ने हल्दीघाटी के युद्ध को खमनोर का युद्ध कहा है। यद्यपि बदायूनी ने इस युद्ध मे भाग लिया था, पर वह भी इसे गोगूंदा के युद्ध का नाम देता है। लेकिन बदायूनी ने स्वयं जो इस युद्ध का विवरण छोड़ा है उससे स्पष्ट है कि यह युद्ध गोगूंदा या खमनोर में न होकर दर्रे में ही कहीं भीतर की ओर हुआ था, जो इतना संकरा है कि चार सौ वर्ष के पश्चात् अभी भी इसके अधिकांश भागों से केवल दो आदमी ही कठिनाई से साथ-साथ इसमे से गुजर सकते है। हल्दीघाटी के भीतर बादशाह बाग नाम से प्रसिद्ध केवल एक मैदान अवश्य है। पर युद्ध इसमे भी नही हो सकता था। कम से कम

1 नैणसी, पृष्ठ 69
2 ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 744
3 गोपीनाथ शर्मा, मेवाड़, पृष्ठ 86

हल्दी घाटी का युद्ध
जून १५७६
मानसिंह का पडाव
मोलेला
सोरोरखेरा
बनास
भागल
खमनोर
अजमेर से
हल्दी घाटी
चेतक का चबूतरा
बालीचा
लोसिंग

गट, माही से
मटार
टाटोत
सीनहाटा
गूटा
संकेत
समोच्च रेखायें
नदी
गाँव
रास्ता
प्रताप का रास्ता
मानसिंह का रास्ता
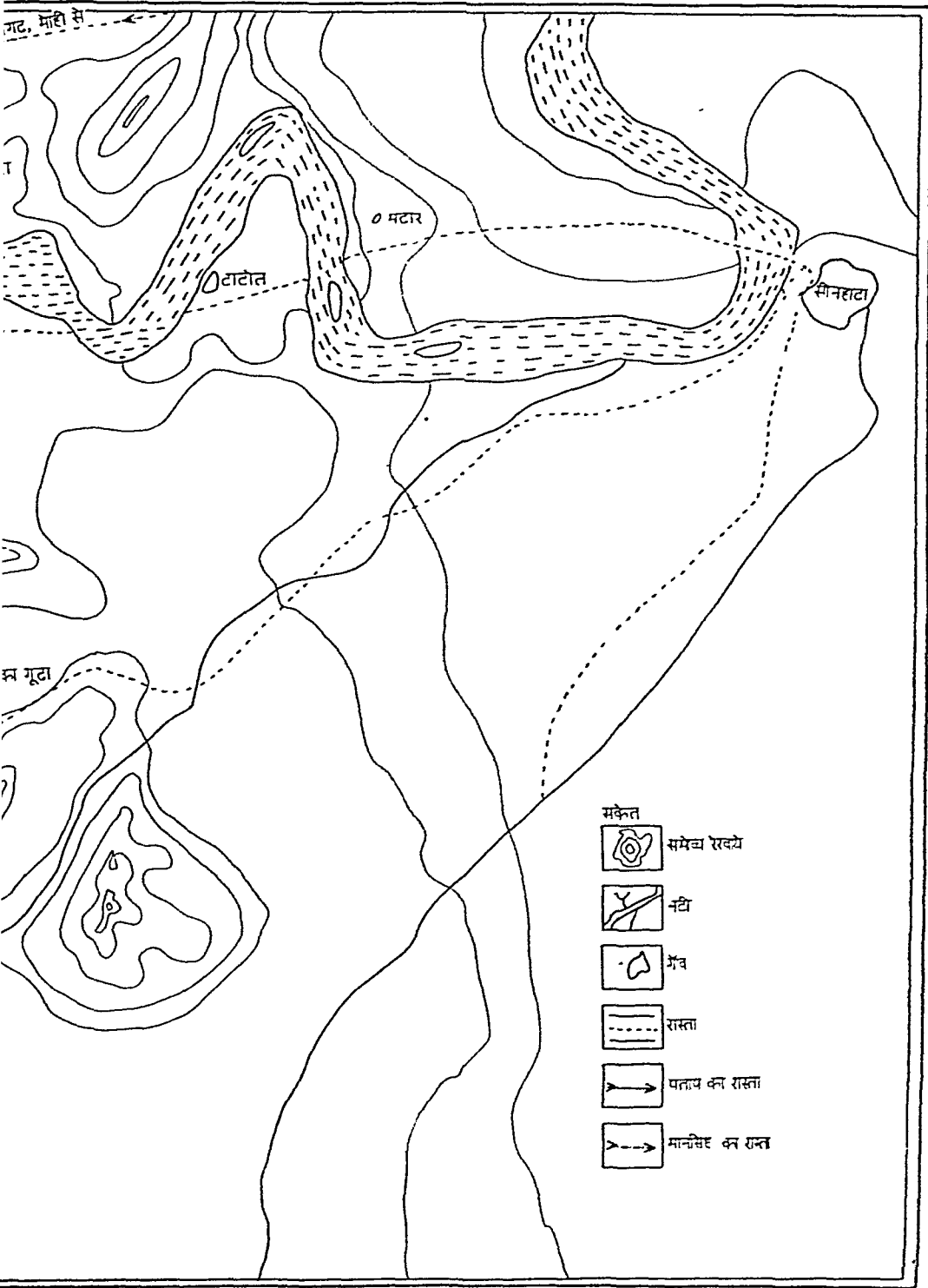
हल्दीघाटी
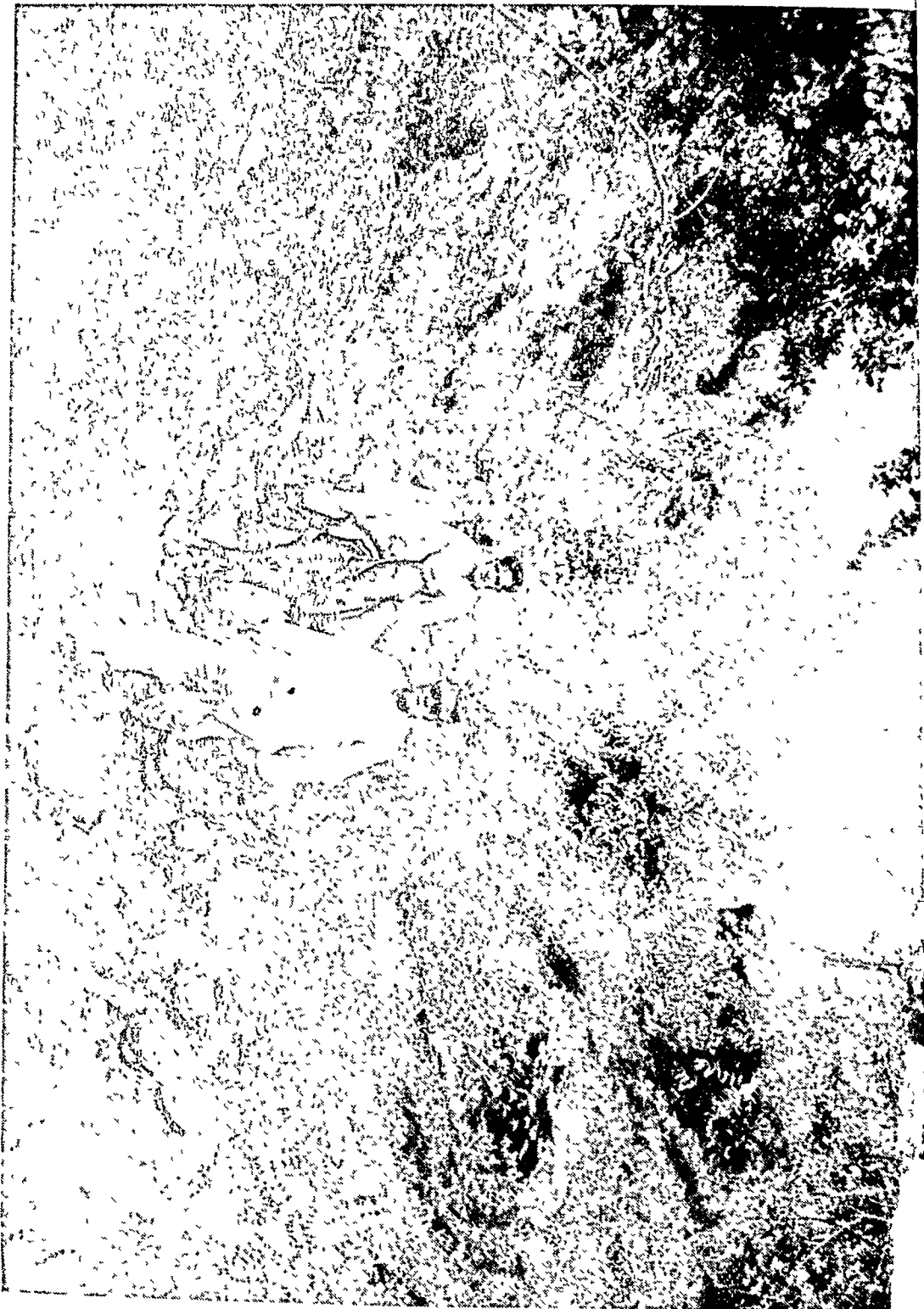
अनुमान करने पर भी दोनों सेनाओं में कुल मिलाकर 8,000 सैनिक और इतने ही मिले-जुले घोड़े और हाथी थे। इतनी सेना के लिए बादशाह बाग बहुत ही छोटा युद्ध क्षेत्र है, और बदायूनी सैनिको के जिस फैलाव और युद्ध की जिन चालो की चर्चा करता है वे सब इस सीमित क्षेत्र मे सम्भव नहीं थीं। बदायूनी निश्चित रूप से कहता है कि मुगल सेना का बायां पक्ष घाटी के मुहाने पर रखा गया था। घाटी का यह मुहाना खमनोर से 2-3 मील दक्षिण-पूर्व में है। इसलिए इससे प्रतीत होता है कि मुगलो का मध्य और दाहिना पक्ष पूर्व में घाटी के मुहाने से लेकर पश्चिम मे बनास नदी तक फैला हुआ था। बदायूनी आगे लिखता है कि राणा की सेना दर्रे के पीछे से आयी थीं, और हकीम सूर के अधीन हरावल पहाड़ो के पश्चिमी भाग से निकला था, जबकि स्वयं राणा हकीम सूर के पीछे दर्रे के कमर जैसे सकरे भाग से बाहर आया था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि युद्ध हल्दीघाटी के मुहाने पर दर्रे और खमनोर गांव के बीच के मैदान मे हुआ था। बदायूनी यह ठीक लिखता है कि भूमि कठोर तथा दुर्गम थी और पत्थरो से जड़ी एवं कांटेदार झाड़ियों से ढंकी थी। (आज भी यह स्थल ठीक वैसा ही है।) दोनों सेनाओ के हरावली दस्तो की मुठ-भेड़ यहीं हुई थी, और शेष युद्ध खमनोर के दक्षिण-पश्चिम के मैदान मे हुआ था, जो बनास नदी के दक्षिण तट तक फैला हुआ है।"[1]

जेम्स टाड ने सारा प्रदेश स्वयं देखा था। इसकी प्राकृतिक बनावट का वर्णन—'इस सारे प्रदेश में पर्वत हैं ओर जंगल, घाटी और झरने'—करने के बाद वह कहता है कि इसमे ऐसी खुली जगहें भी थीं 'जहां बड़ी सेना अपना पड़ाव डाल सके'। इससे लोसिंग में प्रताप के शिविर की स्थिति तो समर्थित होती है, परन्तु बादशाह बाग मे युद्ध होने की बात नहीं, यद्यपि उसने कहा है "हल्दीघाटी का मैदान पहाड़ की गर्दन के निचले भाग में था, जिसने घाटी को बंद कर रखा था और उसमें पहुंचना प्रायः असंभव था। ऊपर और नीचे राजपूत तैनात किये गये थे, और पहाड़ो के किनारों और चोटियों पर, जहां से लड़ाई का मैदान नीचे की ओर दीखता था, वफादार आदिवासी भील, अपने तीर कमान तथा लड़ाकू शत्रु पर लुढकाने के लिए बड़े-बड़े पत्थरो के साथ। इस दर्रे पर प्रताप डटा था, 'मेवाड़ के फूलो के साथ'। इसकी रक्षा के लिए युद्ध भी बड़ा गौरवशाली हुआ। अपने राजा के साहस का अनुसरण करते हुए, जो केसरिया झंडे के आगे-आगे वहीं जा पहुंचता था जहां युद्ध सबसे अधिक भयानक हो रहा था, वंश के वंश प्रचंड निर्भीकता के साथ आगे बढ़े जाते थे।"[2]

कदाचित् जेम्स टाड पर इसे 'हल्दीघाट का युद्ध' नाम से प्रसिद्ध करने का दायित्व है,[3] यद्यपि 'वीर विनोद' ने भी 'हल्दीघाटी की लड़ाई' नाम आगे चलकर अंगीकार किया।[4]

---

1 श्रीवास्तव, पहला भाग, पृष्ठ 200
2 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 269
3 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 264
4 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 150

जेम्स टाड ने एक गलती और की, 'हल्दीघाटी' को 'हल्दीघाट' कह दिया। इस कारण सर यदुनाथ सरकार, श्री श्रीराम शर्मा तथा डा. राजीव नयन प्रसाद जैसे आधुनिक तथा विज्ञ इतिहासकारों ने भी इसे 'हल्दीघाट' कहा है।[1] पहाड़ों के बीच का यह संकरा स्थान वास्तव में घाटी है, और यहां की मिट्टी के हल्दी के समान पीली होने के कारण इसका नाम 'हल्दीघाटी' पड़ा। कुछ लोग इसे 'हल्दूघाटी' भी कहते है। यह भी भ्रम है। 'हल्दूघाटी' 'हल्दीघाटी' से भिन्न है, और वह उदयपुर से जयसमुद्र जाने वाले मार्ग पर आती है।

'सामरिक दृष्टि से सुदृढ़, सुरक्षित और सुविधाजनक' लोसिंग सचमुच लोहे जैसी मजबूती दिखा सकता था, यह एक प्राकृतिक किले की तरह था। हल्दीघाटी से नौ मील दक्षिण-पश्चिम बसे इस गांव मे मेवाड़ की सेना ने अपना पड़ाव डाला था। प्रताप की रणचातुरी का यह एक उदाहरण है, परन्तु इस स्थान को छोड़ना उसकी क्षमता की एक सीमा भी प्रदर्शित करता है। लगता ऐसा है कि मानसिंह स्वयं हल्दीघाटी में आना नही चाहता था। हल्दीघाटी का महत्त्व उसे मालूम था, दर्रा संकरा होते हुए भी आवागमन का उन दिनों बहुप्रचलित मार्ग था—गुजरात इसमें होकर जाया जाता था, और मक्का की यात्रा पर जाने वाले भी इसमें होकर निलकते थे। इसलिए मुगलों के लिए इसे लेना आवश्यक था, परन्तु मोजेरा तक पहुंच कर भी मानसिंह इसके भीतर आने से अपने को रोके रहा। "यहां से बड़े-बड़े पहाड़ अन्दर की ओर सभी तरफ जाते है, और यदि मानसिंह इनमें फंस जाता तो प्रताप उसे ऐसा सबक सिखा सकता था कि जिसे वह कभी नही भूलता। इसका मौका उसने नही दिया, और अन्ततः महाराणा प्रताप ने इस घाटी में से निकल कर उससे लड़ने का निश्चय किया।"[2]

लोसिंग का मार्ग हल्दीघाटी में से होकर निकलता था। हल्दीघाटी इतनी संकरी थी[3] कि एक साथ एक-दो से अधिक आदमी इसमें नही चल सकते थे। एक घोड़ा भी कठिनता से आगे बढ़ सकता था। कई जगह रास्ता पहाड़ी ढलाव के इतने निकट होकर जाता था कि 'पैर और आंख दोनो साधकर' चलना होता था। लोसिंग आने के लिए मानसिंह की सेना को एक-दो की कतार में डेढ़ मील लम्बे इस बहुत ही संकरे मार्ग से आना पड़ता। 'यहां थोड़े से धनुर्धर भी शत्रु की पूरी फौज को रोक सकते थे।' भीतर आ जाने के बाद, शत्रु सेना को वापस लौटने के लिए मार्ग मिलना कठिन हो जाता, क्योंकि सारा स्थान चारों ओर से प्राकृतिक किलाबन्दी से आरक्षित था। कुछ वीर और

---

1 (क) सरकार, पृष्ठ 75
(ख) श्रीराम शर्मा, प्रताप, पृष्ठ 67
(ग) प्रसाद, पृष्ठ 43

2 श्रीराम शर्मा, प्रताप, पृष्ठ 68

3 स्वाधीनता प्राप्ति के बाद इसमे होकर पूरी चौडी पक्की सडक बनायी गयी है, और हल्दीघाटी के मुहाने पर बना पुराना दरवाजा हटा दिया गया है, जिससे इतिहास-प्रसिद्ध हल्दीघाटी का वह पुरातन स्वरूप अब पूर्णत बदल गया है।

दृढ़प्रतिज्ञ सैनिक यहां अपने से कई गुनी सेना के छक्के छुड़ा सकते थे। यदि युद्ध में कोई विपरीत अवस्था आ जाती तो भी, स्थानीय परिस्थिति तथा पर्वतों से परिचित सैनिक आस-पास की पर्वत-माला और वन-वीथिकाओं में छिपकर शत्रु को अपना पीछा करने के लिए इस तरह लुभा सकते थे कि वह संकट में पड़ जाता, या तो वह रास्ता खो देता या अपनी जान ही। जो सैनिक इस तरफ के थे वे तो जंगलों से होनेवाली चीजों से अपना काम चला सकते थे, लेकिन इस तरह के पर्वतीय प्रदेश में लड़ाई से अभ्यस्त न होने के कारण, और रास्ते अवरुद्ध हो जाने के कारण, मुगल सेना को रसद की बहुत तंगी पड़ सकती थी। "प्रताप के लिए सबसे अच्छी रणनीति यह होती कि मानसिंह को वहां आने को बाध्य करता और संकरे मार्ग मे घेरकर उसकी सेना को नष्ट कर देता। किन्तु एक तो राजपूतो ने तब तक छापामार युद्ध की कला को पूरी तरह समझा नहीं था; दूसरे, प्रताप के वीर सरदार शत्रु पर टूट पड़ने को आतुर थे। इसलिए प्रताप इस दुर्गम मार्ग से होकर खमनोर गांव के पास की समतल भूमि मे जा पहुंचा।"[1]

इस ऐतिहासिक अवसर पर महाराणा प्रताप के साथ 'मेवाड़ के फूलों' में थे, ग्वालियर का रामसिंह[2], और उसके पुत्र शालिवाहन, भवानीसिंह तथा प्रतापसिंह, भामाशाह और उसका भाई ताराचन्द, झाला मानसिंह, झाला बीदा, सोनगरा मानसिंह, डोडिया भीमसिंह, रावत कृष्णदास चूंडावत, रावत नेतसिंह (इसका दादा बाबर की खानुवा की लड़ाई में और पिता बहादुरशाह की चित्तौड़ की चढ़ाई में मारा गया था), रावत सांगा, राठौड़ रामदास (चित्तौड़ की लड़ाई में प्रसिद्धि प्राप्त जयमल्ल का पुत्र), मेरपुर का राणा पुंजा, पुरोहित गोपीनाथ, पुरोहित जगन्नाथ, पडिहार कल्याण, बच्छावत महता जयमल, महता रतनचन्द खेतावत, महासानी जगन्नाथ, राठौड़ शंकरदास, चारण जैसा और केशव। इनके अतिरिक्त हकीम खान सूर भी मुगलों से लड़ने के लिए राणा की सेना में सम्मिलित हुआ था।[3]

मेवाड़ के न होने पर भी मेवाड़ के लिए अपना ही नहीं अपने सारे वंश का—'इस लड़ाई में तंवर वंश का एक भी वीर पुरुष बचने न पाया'—बलिदान करने वाले रामशाह का सम्मान उसी समय से बहुत होने लगा।

मेवाड़ की प्राचीन पुस्तकों मे रामशाह का उल्लेख बड़े आदर के साथ आया है। "राजाओ में अनुपम, श्रेष्ठ बुद्धि शक्ति वाला तथा राजाओं को सहारा देने वाला, पांडव वंशी, ग्वालियर का स्वामी जो रण में अचल रहने वाला था।....रुद्रस्वरूपी पांडु

---

1 रघुवीरसिंह, प्रताप, पृष्ठ 24

2 रामसिंह का नाम रामशाह भी मिलता है। उसके साथ अपने सैनिक भी थे, जिनके व्यय के लिए महाराणा प्रताप से उसे प्रतिदिन 800 रुपये मिलते थे। इस उल्लेख से उस समय युद्ध मे कितना व्यय होता था, इसका कुछ अंदाज मिलता है, और मेवाड की तत्कालीन सम्पन्नता भी प्रकट होती है।

3 ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 744. इनमे कई मेवाड के प्रसिद्ध परिवारो मे से थे, जैसे देलवाडा, बड़ी सादड़ी, सरदारगढ (लावा), सलुंबर, कानोड़, देवगढ, सोन्याणा आदि।

वंशज तंवर क्षत्रिय जो ग्वालियर का स्वामी एवं नवें खंड का शिरोमणि है। उसके गुणों का विस्तार इतना है कि उनके वर्णन करने का सामर्थ्य शेषनाग या व्यास में ही हो सकती है।... सुना गया है कि सुग्रीव ने दूसरों के अर्थ प्राण नहीं दिये। जामवंत, नल, नील आदि कई वीरों ने कई युद्ध रचे और विभीषण राम का संसार प्रसिद्ध सेवक बना किन्तु किसी ने भी स्वामी के अर्थ रण-भूमि में मस्तक नहीं दिया। यही बात देव-दानव, नर-नाग तथा तीनों लोकों के कई चराचर में भी देखी जाती है। किन्तु पांडव वंशी राम-सहाय को धन्य है जिसने अपने पुत्र सहित खुमान पद राणा प्रताप के निमित्त युद्ध किया और मस्तक दिया।" रामशाह के ज्येष्ठ पुत्र शालिवाहन की सराहना मे भी इसी प्रकार लिखा मिलता है, "शालिवाहन की कीर्त्ति त्रिभुवन मे व्याप्त है। वह दिल्लीश्वर शाह के लिए एक रोग के समान था। शालिवाहन के अपार गुण दसो दिशाओं में प्रसिद्ध थे। वह अद्भुत एवं श्रेष्ठ वीर था। उस वीर ने अपने यश का साक्षी समस्त संसार को बना लिया था। बादशाह अकबर भी उसकी वीरता पर 'वाह वाह' कहने लगा था।"[1]

महाराणा प्रताप के पौत्र कर्णसिंह द्वारा युद्ध स्थल पर, खमनोर गांव के बाहर, समतल भूमि पर, बनवायी एक छतरी हाल में पहचानी गयी है, जिसमे एक शिला पर लिखा था: 'यह ग्वालियर के राजा रामशाह के पुत्र शालिवाहन की छतरी है।' हो सकता है इसके आसपास ही अन्यत्र इधर-उधर, जहां घटनाओं के संबध मे उन दिनों मान्यता हो, रामशाह और उसके अन्य दो पुत्रों की भी छतरियां बनवायी गयी हों। इस छतरी के स्थान से हल्दीघाटी के युद्ध के स्थल का भी आभास होता है। "खमणोर ग्राम से बाहर इस छतरी के चारों ओर सुविशाल समतल भूमि बनास नदी के किनारे तक फैली है। यह स्थल विशेष 'रक्तताल' होना चाहिये। (उक्त शिला आजकल उदयपुर के राजकीय संग्रहालय की शोभा बढ़ा रही है।) उपर्युक्त छतरी व शिला-लेख मुगल एवं राजपूत इतिहास की महत्त्वपूर्ण थाती हैं और तत्कालीन स्थापत्य की दृष्टि से भी उल्लेखनीय है। यह उस सपूत का स्थाई स्मारक है जिसने मुगल आक्रमणों से टक्कर लेने में तनिक भी संकोच न किया था। यह उस लाडले शालिवाहन की याद दिलाता है जो अपने पिता व भाइयों के साथ मेवाड़ रक्षा-कार्य हेतु स्वर्ग सिधारा था।"[2]

80 और 5 तथा 22 और 3 मे बड़ा अन्तर है। परन्तु विभिन्न लेखकों ने इन संख्याओं का मुगल तथा मेवाड़ सेनाओं की संख्याओं का वर्णन करने के लिए खुलकर प्रयोग किया है।

"ख्यातो मे सुरक्षित मेवाड़ की एक गाथा के अनुसार मानसिंह के अधीन मुगल सेना में 80,000 और राणा की सेना में 20,000 घुड़सवार थे। मुहणोत नैणसी मान-सिंह की सेना की संख्या 40,000 और राणा की सेना की संख्या 9-10 हजार के बीच

1. 'राणा रासो', पद 238, 253, 422, 239, 397
2. अग्रवाल, पृष्ठ 98

बताता है। लेकिन टाड कहते है कि राणा ने 22,000 वीर राजपूत सैनिक युद्ध मे उतारे थे, जिसमें से केवल 8,000 ही अपने घर लौटे और शेष 14,000 युद्ध क्षेत्र में सैनिकों की मौत मरे। सेना की ये संख्याएं बहुत ही अतिशयोक्तिपूर्ण हैं और एक भारतीय कहावत 'चतुर चौगुणा, मूरख दस गुणा' के अनुरूप ही है, जिसका आशय है कि चतुर एक बात को चौगुनी और मूर्ख उसको दसगुनी बढ़ाकर कहते हैं। समकालीन मुगल इतिहासकार और युद्ध में मौजूद रहने वाला बदायूनी भी मानसिंह के अधीन सैनिको की संख्या 5,000 देते है। इस सेना के अधिकांश सैनिक मध्य एशियन उजबेक, कज्जाक और बदख्शी थे। इसमे बारहा के सैयद, फतेहपुर के शैखजादे और अन्य ऐसे ही भारतीय मुसलमान और राजपूत सैनिक भी थे। राजपूत सैनिको में अधिकतर मानसिंह की अपनी कछवाहा जाति के थे। राणा के साथ 3,000 सवार और लगभग 400 भील थे।[1] बदायूनी ने इन भीलो का उल्लेख नही किया है, क्योकि ये सेना के पृष्ठ भाग में बहुत पीछे थे और उन्होने युद्ध मे कोई भाग नही लिया था। भील मैदानी इलाके में युद्ध करने के अभ्यस्त नहीं थे। इस लड़ाई मे मुगल सेना ने मेवाड़ की सेना का पीछा नही किया था, इसलिए भीलो से भिड़न्त होने का वैसे भी अवसर नहीं आया। मुगलो के पास उत्तम किस्म की हल्की तोपें तो थी पर उनके पास भारी तोपें न थीं, क्योकि पश्चिमी मेवाड़ के इस भीतरी पहाड़ी प्रदेश मे उन्हे खींचकर लाना असम्भव था। राणा के पास कोई तोपे नहीं थी और तलवार के सिवाय धनुषबाण तथा भाले ही इस युद्ध मे उसके मुख्य अस्त्र थे। दोनो पक्षो के पास युद्ध-निपुण हाथी भी थे।"[2]

डा. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा[3] से लेकर अब तक के सभी आधुनिक इतिहासकारों ने मुगल और मेवाड़ सेनाओं की उपरोक्त संख्या को ही सही माना है। डा. गोपीनाथ शर्मा अवश्य कहते है कि प्रताप की सेना मे 3,000 घुड़सवारो के अतिरिक्त 2,000 पैदल सैनिक, 100 हाथी तथा 100 सामान ढोने वाले तथा रणवाद्य बजाने वाले थे।[4] भीलो का इसमें अलग से उल्लेख नहीं है, इसलिए इन संख्याओ को अन्य आधुनिक इतिहासकारो की बताई संख्याओ से बहुत भिन्न नही कहा जा सकता।

यह युद्ध 18 जून 1576 को हुआ था।[5]

---

1. सर यदुनाथ सरकार के अनुसार शाही सेना मे 10,000 और मेवाड़ की सेना मे 3,000 लोग थे। —सरकार, पृष्ठ 77
2. श्रीवास्तव, पहला भाग, पृष्ठ 201
3. ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 754
4. गोपीनाथ शर्मा, पृष्ठ 84
5. विद्वानों ने इस तिथि को विवाद का विषय बना दिया है। जेम्स टाड केवल जुलाई 1576 कहते है और गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा जून 1576। 'अकबरनामा' के अनुवादक 18 जून 1576 कहते है, और यदुनाथ सरकार, रघुवीरसिंह तथा आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव इसी को स्वीकार करते हैं, 'वीर विनोद' 31 मई लिखता है और गोपीनाथ शर्मा 21 जून। शंका को दूर करने के लिए 'वीर विनोद' मे समझाया गया है, "मेवाड़ की पोथियों मे इस लड़ाई का होना विक्रमी 1632 (हि 983—ई 1575) मे लिखा है और फारसी तवारीखों के हिसाब से विक्रमी 1633 (हि 984—ई 1576) है।

मानसिंह और प्रताप दोनों ने अपनी सेनाओं की व्यूह-रचना परम्परागत प्रणाली से की थी।

मानसिंह मोलेला में ठहरा हुआ था। कुछ दिन उसे सेना के लिए रसद आदि एकत्रित करने और उपस्थित परिस्थितियों का विश्लेषण करने में लगे। लड़ाई के दिन, बहुत सबेरे, वह अपने 6,000 जवानो के साथ आगे आया, और युद्ध के लिए पंक्तियां संगठित कीं। सैयद हाशिम बारहा के नेतृत्व में 80 नामी युवक सैनिक सबसे आगे खड़े किये गये। उसके बाद सेना की मुख्य अग्रिम पंक्ति थी, जिसका संचालन आसफ खान और राजा जगन्नाथ कर रहे थे। दक्षिण पार्श्व की सेना सैयद अहमद खान के अधीन खड़ी की गयी। बारहा के सैयद कौशल और साहस के लिए प्रसिद्ध थे, और इसी कारण इन्हे सेनापति की दाहिनी ओर खड़ा किया जाता था। इस युद्ध में भी इन्होने अपनी इस प्रतिष्ठा की बड़े ही गौरवपूर्ण ढंग से रक्षा की। बाएं पार्श्व की सेना गाजी खान बदख्शी तथा लूणकरण कछवाहा की देखरेख में खड़ी की गयी। मानसिंह स्वयं इनके बीच में, सारी सेना के मध्य में, रहा। मानसिंह के पीछे मिहतर खान के नेतृत्व में सेना का पिछला भाग था। इसके पीछे एक सैनिक दल माधोसिह के नेतृत्व मे आपात स्थिति के लिए सुरक्षित रखा गया। हाथी अगल-बगल, परन्तु पीछे की ओर खड़े किये गये थे।

प्रताप की सेना भी प्रायः इसी प्रकार खड़ी की गयी थी, यद्यपि संकरी घाटी से थोड़े-थोड़े लोगो के निकलकर आने के कारण सारी व्यूह-रचना को पूरा परम्परागत रूप नही दिया जा सका था। सेना के सबसे आगे के भाग का नेतृत्व हकीम सूर पठान के हाथ में था, और उसकी सहायता कर रहे थे सलुम्बर का चूडावत किशनदास, सरदारगढ़ का भीमसिह, देवगढ़ का रावत सांगा, तथा बदनोर का रामदास। दक्षिण पार्श्व में थे राजा रामशाह और उसके तीन पुत्र तथा अन्य चुने हुए वीर। इन्ही मे दोनों भाई भामाशाह और ताराचन्द भी थे। वाम पार्श्व मानसिंह झाला के अधीन था। उसकी सहायता पर नियत थे बड़ी सादड़ी का झाला बीदा तथा सोनगरा मानसिह। राणा प्रताप ठीक बीच मे था। सबसे पीछे थे पनरवा के राणा पूजा तथा पुरोहित गोपीनाथ, जगन्नाथ, महता रतनचन्द, महासनी जगन्नाथ, केशव तथा जैसा चारण। पुरोहित, महता और चारण साधारणतः लड़ने वाले नही माने जाते है, परन्तु उन दिनो जब ये लोग लड़ाइयो में जाते थे तो राजपूतो से लड़ने मे किसी भी तरह पीछे नही रहते थे। भील सेना दोनो ओर पहाड़ियों पर थी। छोटी-छोटी तलवारो तथा धनुष बाण के

---

इसका फैसला इस तरह हो सकता है कि यहा विक्रमी सवत् ज्योतिप के तरीके से, व स।हूकारों मे व जन्त्रियो मे तो चैत्र शुक्ल एक से मानते है और फसली सवत् मेवाड के मुलाजिम कुल श्रावण कृष्णा एक से गिनते है। हमने अपनी किताव मे ज्योतिप, आम रिवाज और जन्त्रियो के तरीको से लिखा है, जिससे विक्रमी 1633 हुआ क्योकि इसी सवत् की वैशाख शुक्ल दो को हिजरी 984 का मुहर्रम शुरू हुआ और ज्येष्ठ महीना अधिक पडा जिससे द्वितीय ज्येष्ठ के शुक्ल पक्ष मे लडाई हुई, और यह यह रियासती सवत् उस वक्त भी इसी तरह समझा जाता था जैसा कि अब माना जाता है।" (भाग दूसरा, पृष्ठ 154)

अतिरिक्त उन्होने शत्रु पर लुढ़काने के लिए बड़े-बड़े पत्थर भी एकत्रित कर रखे थे। सैनिको की संख्या कम अवश्य थी परन्तु उनमें देशभक्ति और महाराणा प्रताप के प्रति स्वामिभक्ति का अतिरेक था ।

सेना को सजा लेने के वाद भी दोनों पक्ष थोड़ी देर एक दूसरे की पहल की प्रतीक्षा करते रहे । पहल की प्रताप की सेना ने । 'मानप्रकाश' नामक अप्रकाशित ऐतिहासिक महाकाव्य से इस वात का समर्थन होता है—

"राणा के योद्धा एकाएक मानसिंह पर आक्रमण करने लगे । उन योद्धाओ ने शर(बाण), असि(तलवार), शक्ति, ऋष्टि(अस्त्र विशेष), परश्वध(परशु), आदि की वर्षा कर दी, जिस प्रकार मेघ-समूह जल की वर्षा करते है ।

जिस प्रकार सिंह महान हाथी को मारने की इच्छा रखता है, उसी प्रकार प्रताप पक्षीय योद्धाओ के प्रताप को देखकर राजा मान ने स्वयं युद्ध के लिए ललकारा ।"

दिन निकलने के कोई तीन घंटे बाद, प्रताप की सेना का हाथी मेवाड़ का झंडा फहराता हुआ घाटी के मुहाने में से निकला । उसके पीछे थी सेना की अग्रिम पंक्ति—'हरावल' —हकीम खान सूर के नेतृत्व मे । रणवाद्य तथा चारण गायक मिलकर वातावरण को वड़ा उत्तेजक वनाये हुए थे ।

युद्ध का हाल अल् वदायूनी से अच्छा कोई दूसरा नहीं वता सकता, 'उन्होने शब्दों के पानी और रंग से युद्ध क्षेत्र का ऐसा चित्र खींचा है कि उसके सामने इतिहास-लेखको की कलम टूट गयी है'[1] —वे स्वयं लड़ने वालों मे शामिल थे । डा. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने तो सारा विवरण वदायूनी से उद्धृत करना पर्याप्त माना है :[2]

"जब मानसिंह और आसफखान गोगूंदा से 7 कोस पर दर्रे (घाटी) के पास शाही सेना सहित पहुचे तो राणा लड़ने को आया । ख्वाजा मुहम्मद रफी वदख्शी, शियाबुद्दीन गुरोह, पायन्दा कज्जाक, अली मुराद उजबक और राजा लूणकरण तथा वहुत से शाही सवारो सहित मानसिंह हाथी पर सवार होकर मध्य में रहा और वहुत से प्रसिद्ध जवान पुरुष हरावल के आगे रहे । चुने हुए आदमियो में से 80 से अधिक लड़ाके सैयद हाशिम वारहा के साथ हरावल के आगे भेजे गये और सैयद अहमदखान वारहा दूसरे सैयदो के साथ दक्षिण पार्श्व मे रहा । शेख इब्राहीम चिश्ती के रिश्तेदार अर्थात् सीकरी के शैखजादो सहित काजी खान वाम पार्श्व में रहा और मिहतर खान चन्दावल में (एकदम पीछे की ओर) । राणा कीका (प्रतापसिंह) ने दर्रे (हल्दीघाटी) के पीछे से 3,000 राजपूतो सहित आगे वढ़कर अपनी सेना के दो विभाग किये । एक

---

1. 'इस लेखक का आखों देखा विवरण प्राप्य विवरणो मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है लेकिन उसमे घटनाओ का क्रमिक वर्णन ठीक न होने से वह दोषपूर्ण है और वदायूनी के स्पष्ट दुराग्रहो को अबुल् फज्ल के संक्षिप्त किन्तु यथार्थ विवरण मे तुलना कर उसे ठीक कर लेना आवश्यक है ।' —श्रीवास्तव, पहला भाग, पृष्ठ 205

2. ओझा, राजपूताना,

विभाग ने, जिसका सेनापति हकीम सूर अफगान था, पहाड़ो की तरफ से निकलकर हमारी हरावल पर आक्रमण किया। भूमि ऊंची-नीची, रास्ते टेढ़े-मेढ़े और कांटों वाले होने के कारण हमारी हरावल मे गड़बड़ी मच गयी, जिससे हमारी (हरावल की) पूरी तौर से हार हुई। हमारी सेना के राजपूत, जिनका मुखिया राजा लूणकरण था, और जिनमे से अधिकतर वाम पार्श्व में थे, भेड़ो के झुण्ड को तरह भाग निकले और हरावल को चीरते हुए अपनी रक्षा के लिए दक्षिण पार्श्व की तरफ दौड़े। इस समय मैं (अल् बदायूनी) ने, जब कि मैं हरावल के खास सैन्य के साथ था, आसफ खान से पूछा कि ऐसी अवस्था मे हम अपने और शत्रु के राजपूतों की पहचान कैसे कर सकते हैं? उसने उत्तर दिया, 'तुम तो तीर चलाये जाओ, चाहे जिस पक्ष के आदमी मारे जावें, इस्लाम को तो उससे लाभ ही होगा।' इसलिए हम तीर चलाते रहे और भीड़ ऐसी थी कि हमारा एक भी वार खाली न गया। इस तरह बिना शत्रु-मित्र का भेद किये राजपूतों पर वार करने का और पक्का कारण भी था, 'दिल सबसे वफादार गवाह होता है जो पक्की बात बता सकता है।' यह निश्चय हो गया कि मेरा हाथ इस तरह की कार्रवाई करते-करते और भी मजबूत हो गया, और मुझे वह पुण्य मिला जो काफिरो (हिन्दुओं) के खिलाफ लड़ने वालो को मिलता है।

"इस लड़ाई में बारहा के सैयदों तथा कुछ जवान वीरो ने रुस्तम की-सी वीरता दिखायी। दोनो पक्षो के मरे हुए वीरों से रणखेत छा गया। राणा कीका के सैन्य के दूसरे विभाग ने, जिसका संचालक राणा स्वयं था, घाटी से निकलकर काजीखान के सैन्य पर, जो घाटी के द्वार पर था, हमला किया और उसकी सेना का संहार करता हुआ वह उसके मध्य तक पहुंच गया, जिससे सबके सब सीकरी के शैखजादे भाग निकले और उनके मुखिये शैख मन्सूर के, जो शैख इब्राहीम का दामाद था, भागते समय एक तीर ऐसा लगा कि बहुत दिनों तक उसका घाव न भरा। काजीखान मुल्ला होने पर भी कुछ देर तक डटा रहा, परन्तु दाहिने हाथ का अंगूठा तलवार से कट जाने पर वह भी अपने साथियो के पीछे यह कहता हुआ भाग गया कि 'संकट सामने जब सहने लायक नही रहे, वहां से भाग जाना पैगम्बर की ही एक परम्परा है'।

"हमारी जो फौज पहले हमले में ही भाग निकली थी, नदी (बनास) को पार कर 5-6 कोस तक भागती ही रही। इस तबाही के समय मिहतर खान अपनी सहायक सेना सहित चन्दावल से निकल आया। उसने ढोल बजाया और हल्ला मचाकर[1] फौज

1. कई इतिहासकारो का कहना है कि उसने यह भी कहा कि नयी सेना के साथ स्वयं सम्राट् अकबर आ पहुचा है। 'अकबरी दरबार' मे मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद ने उस समय बडे-बडे यारो के, जिनमे मुल्ला अल् बदायूनी भी थे, भागने की बात को लेकर कहा है, "कुरान की एक आयत का आशय है कि जो व्यक्ति जहाद से भागता है, उसकी तोबा स्वीकृत नही होती। बडे-बडे विद्वान भी मुह से तो यही कहते है, परन्तु जब स्वय भागने लगते है, तब पैगबरो को भी आगे रख कर भागते है। जो लोग पहले आक्रमण मे भागते थे, उन्होंने तो पाच-छह कोस तक दम ही न लिया। बीच मे एक नदी पड़ती थी उसे भी पार कर गये। लडाई तराजू हो रही थी। इतने मे एक सरदार घोडा उडाता और

को एकत्र होने के लिए कहा। उसकी इस कार्रवाई ने भागती हुई सेना मे आशा का संचार कराया, जिससे उसके पैर टिक गये। ग्वालियर के प्रसिद्ध राजा मान के पोते रामशाह ने, जो हमेशा राणा की हरावल में रहता था, ऐसी वीरता दिखलाई, जिसका वर्णन करना लेखिनी की शक्ति से बाहर है। मानसिंह के राजपूत, जो हरावल के वाम पार्श्व में थे, भगे, जिससे आसफखान को भी भागना पड़ा और उन्होंने दाहिने पार्श्व के सैयदो की शरण ली। यदि इस अवसर पर सैयद लोग टिके न रहते, तो हरावल के भगे हुए सैन्य ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी थी कि बदनामी के साथ हमारी हार होती।

"दोनो सेनाओ के मस्त हाथी अपनी-अपनी फौज मे से निकलकर एक-दूसरे से खूब लड़े और हाथियो का दारोगा हुसेनखान, जो मानसिंह के पीछे वाले हाथी पर सवार था, हाथियों की लड़ाई मे शामिल हो गया। इस समय मानसिंह ने महावत की जगह बैठ कर अकल्पनीय वीरता दिखायी। उनमें से बादशाह का एक खासा हाथी राणा के रामप्रसाद नामक अत्यन्त सुदृढ़ हाथी से खूब लड़ता रहा, अन्त में रामप्रसाद का महावत तीर लगने से जमीन पर गिर गया, तो शाही हाथी का महावत बहुत ही फुर्ती से उछलकर उस पर जा बैठा। उसने ऐसा करतब दिखाया जैसा कोई दिखा नही सकता था। ऐसी परिस्थिति होने पर राणा मैदान में टिक न सका और भाग निकला, जिससे उसकी सेना में गड़बड़ी फैल गयी। मानसिंह के जवान अंग-रक्षक बहादुरो ने अनुकरणीय वीरता दिखलायी। इस दिन से मानसिंह के सेनापतित्व के संबंध मे मुल्ला शीरो का यह कथन 'हिन्दू इस्लाम की सहायता के लिए तलवार खींचता है' चरितार्थ हुआ।

"इस लड़ाई मे चित्तौड़ वाले जयमल्ल का पुत्र (राठोड़ रामदास), और ग्वालियर का राजा रामशाह अपने पुत्र शालिवाहन सहित, जिन्होंने बड़ी ही दृढ़ता से प्रतिकार किया था, नरक को गये। तवंर खानदान का एक भी वीर पुरुष बचने न पाया, जो (इस्लाम की दृष्टि) में एकदम कूड़ाकरकट था उससे अच्छी छुट्टी मिली। माधवसिंह के साथ लड़ते समय राणा पर तीरो की बौछार की गयी, और हकीम सूर, जो सैयदो से लड़ रहा था, भागकर राणा से मिल गया। इस प्रकार राणा के सैन्य के दोनो

---

नगाड़ा बजाता हुआ आ पहुँचा। उसने सूचना दी कि बादशाही सेना जल्दी-जल्दी बढ़ती हुई चली आ रही है। बादशाही लश्कर का बहुत तेज शोर सुनाई पड़ता था। इसने बहुत बड़ा प्रभाव किया। जो लोग भाग रहे थे, वे थम गये और जो भाग गये थे, वे लौट पड़े। बस शत्रु के पैर उखड़ गये।" (तीसरा भाग, पृष्ठ 133)

परिणाम से ऐसे अवसरो पर नीति का औचित्य निर्णीत किया जाता है। लड़ाई जीतने के लिए सत्य-असत्य का उतना विचार नहीं किया जाता। अकबर के आगमन के समाचार ने अवश्य एक ओर प्रेरणा, दूसरी ओर आशंका फैलायी होगी—आशंका इस बात की कि अगर बादशाह ने भागते देख लिया तो वह उन सैनिकों का शत्रु से भी बुरा हाल करेगा। लड़ाई की स्थिति ही इस समाचार से बदल गयी।

नियति ने थोड़ी भी प्रतीक्षा नहीं की। इस ही युद्ध मे थोड़े ही समय पश्चात् मेवाड़-पक्ष को भी सामयिक आवश्यकता का स्वीकार करना पड़ा। राजछत्र वास्तविक महाराणा के सिर पर से हटाकर उसके सिर पर चढ़ाना पड़ा जो महाराणा नहीं था, परन्तु महाराणा और मेवाड़ के लिए अपना बलिदान करने को प्रस्तुत हुआ था—तभी प्रताप का जीवन बच सका।

विभाग एक जगह एकत्र हो गये । फिर राणा लौटकर पहाड़ों में, जहां चित्तौड़ की विजय के बाद वह रहा करता था और जहां वह किले के समान सुरक्षित रहता था, भाग गया । प्रचंड उष्णकाल के मध्य के इस दिन गर्मी इतनी पड़ रही थी कि खोपड़ी के भीतर मगज भी उबला जाता था । ऐसे समय भी लड़ाई प्रातःकाल से मध्याह्न तक चली । लगभग 500 आदमी खेत रहे, जिनमें 120 मुसलमान और शेष (380) हिन्दू थे । 300 से अधिक इस्लाम के वीर (मुसलमान) घायल हुए । उस समय लू आग के समान चल रही थी, हमारे सैनिकों मे चलने-फिरने की भी शक्ति नही रही थी, और सेना मे यह भी खबर फैल गयी थी कि राणा छल के साथ पहाड़ के पीछे घात लगाये खड़ा होगा । इसी कारण हमारे सैनिको ने राणा का पीछा नही किया । वे अपने डेरों मे लौट गये और घायलो का इलाज करने लगे ।

"दूसरे दिन हमारी सेना ने वहां से चलकर रणखेत को इस अभिप्राय से देखा कि हर एक ने कैसा काम किया था । फिर दर्रे (घाटी) से हम गोगूंदे पहुंचे, जहां राणा के महलो के कुछ रक्षक तथा मन्दिर वाले, जिन सबकी संख्या बीस थी, हिन्दुओ की पुरानी रीति के अनुसार अपनी प्रतिष्ठा के निमित्त अपने-अपने स्थानो से निकल आये और सबके सबने लड़कर अपना बलिदान दिया । अमीरो को यह भय था कि रात के समय कही राणा उन पर टूट न पड़े, इसलिए अपनी रक्षार्थ उन्होने सब मोहल्लों मे आड़ खड़ी करा दी और गोगूंदा के चारो तरफ खाई खुदवाकर इतनी ऊंची दीवार बनवादी कि सवार उसको फाद न सके । तत्पश्चात् वे निश्चिन्त हुए ।

"फिर वे मरे हुए सैनिको और घोड़ों की सूची बादशाह के पास भेजने को तैयार करने लगे, जिस पर सैयद अहमदखान बारहा ने कहा—'ऐसी फिहरिश्त बनाने से क्या लाभ है ? मान लो कि हमारा एक भी घोड़ा व आदमी मारा नही गया । इस समय तो खाने का सामान का बन्दोबस्त करना चाहिये । इस पहाड़ी इलाके में न तो अधिक अन्न पैदा होता है और न बनजारे आते है और सेना भूखों मर रही है ।' इस पर वे खाने के सामान के प्रबन्ध का विचार करने लगे । फिर वे एक-एक अमीर की अध्यक्षता मे सैनिको को इस अभिप्राय से समय-समय पर भेजने लगे कि वे बाहर जाकर अन्न ले आयें । उन्होने पहाड़ियो मे जहां कहीं लोगो को एकत्रित पाया उनको तितर-बितर कर दिया और कैद कर लिया । हर एक को जानवरो के मांस और आम के फलो पर, जो वहां अवर्णनीय बहुतायता से होते थे, निर्वाह करना पड़ रहा था । साधारण सिपाहियो को रोटी न मिलने के कारण, भूख के मारे, इन्ही आम के फलो पर निर्वाह करना पड़ा, जिससे उनमे से अधिकांश बीमार पड़ गये । इस प्रदेश मे एक-एक सेर का एक-एक आम होता है, परन्तु मिठास और सुगंधी इनमे विशेष नही थी ।

"बादशाह ने अपने विशेष दूत महमूद खान को तुरन्त ही गोगूदे जाने की आज्ञा दी । उसने रणखेत की स्थिति को देखा और अगले ही दिन वहां से लौटकर हर एक आदमी ने लड़ाई मे कैसा काम किया इस विषय मे जो कुछ उसके सुनने मे आया, वह

बादशाह से निवेदन किया । यह सुनकर बादशाह सामान्य रूप से तो सन्तुष्ट और प्रसन्न हुआ, परन्तु राणा का पीछा न कर उसको जिन्दा रहने दिया, इस पर वह बहुत क्रुद्ध हुआ । अमीरो ने विजय के लिखित वृत्तांत के साथ रामप्रसाद हाथी को, जो लूट में हाथ लगा था और जिसको बादशाह ने कई बार राणा से मांगा था, परन्तु दुर्भाग्यवश वह नटता ही रहा था, बादशाह के पास भेजना चाहा । आसफखान ने उक्त हाथी के साथ ग्रन्थकर्ता (मुझ) को भेजने की सलाह दी, क्योकि वही इस काम के लिए योग्य था, और जो धार्मिक पुण्य प्राप्त करने के लिए तथा उसके परमात्मा के प्रति प्रेम के कारण ही लड़ने को भेजा गया था । मानसिंह ने हसी के साथ कहा कि अभी तो उसे बहुत काम करना बाकी है, उसको तो हर एक लड़ाई में आगे रहकर लड़ना चाहिये । इस पर मैंने जवाब दिया कि 'मेरा यहां का इमाम का काम तो समाप्त हो चुका , अब मुझे बादशाह के सामने जाकर इमाम का काम करना चाहिये' । इस पर मानसिंह खुश हुआ और मुसकराया । फिर 300 सवारों को सुरक्षा के लिए साथ देकर उस हाथी के साथ मुझे वहां से रवाना किया । वह (मानसिह) भी भिन्न-भिन्न जगह थाने नियत कर गोगूंदा से 20 कोस मोहनी (गोही) गॉव तक शिकार खेलता हुआ मेरे साथ रहा । वहां से एक सिफारिशी पत्र देकर उसने मुझे सीख दी ।

"मै बाकोर (बागोर) और मांडलगढ़ होता हुआ मानसिह के अपने राज्य आंबेर पहुंचा । जहां-जहां से हम निकले, लड़ाई की खबर सर्वत्र फैल गयी थी, लेकिन मार्ग मे उसके संबंध में जो कुछ हम कहते उस पर लोग विश्वास नहीं करते थे । आंबेर में हम लोग तीन-चार दिन रहे । फिर अपने जन्म स्थान टोडा और बसावर होता हुआ मैं फतहपुर पहुंचा, जहां मानसिह के पिता राजा भगवन्तदास द्वारा बादशाह की सेवा मे उपस्थित हुआ और अमीरो के पत्र तथा हाथी बादशाह के नजर किया । बादशाह ने पूछा, 'इस हाथी का नाम क्या है ?' मैंने निवेदन किया कि 'रामप्रसाद' । इस पर बादशाह ने कहा कि यह विजय पीर (अर्थात् अजमेर के ख्वाजा साहब) की कृपा से हुई है, इसलिए अब से इसका नाम 'पीर प्रसाद' रखा जाये ।

"फिर बादशाह ने मुझसे पूछा कि 'अमीरो ने तुम्हारी बड़ी प्रशंसा लिखी है, परन्तु सच-सच कहो कि तुम कौन-सी सेना में रहे और वीरता का क्या-क्या काम किया ?' मैंने कहा, 'शाहंशाह के सामने यह विनम्र सेवक तो सच कहते भी डरता और कांपता है, जो बात सच नही है वह तो कह ही कैसे सकता है ?' फिर मैंने सारा हाल निवेदन किया । फिर बादशाह ने पूछा, 'तुम सशस्त्र या बिना शस्त्रो के थे ?' मैंने कहा, 'सैनिक और घोड़े दोनो के हथियारो से मै लैस था ।' इस पर भी प्रश्न किया गया, 'वह हथियार तुम्हे मिले कहां से थे ?' मैंने उत्तर दिया, 'सैयद अब्दुल्ला खान से ।' सम्राट अत्यन्त प्रसन्न हुआ, अपने पास रखी अशरफियो की ढेरी की ओर हाथ बढ़ाया (जैसे खजाने मे ढेरियां रहती है, उसी तरह सम्राट के पास उन दिनो अशरफियो की ढेरियां लगी रहती थीं ) और मुझे 96 अशरफिया प्रदान की ।

"मुझसे पूछा, 'तुम (लौटने के बाद) शैख अब्दुन् नबी से मिल लिये ?' मैने उत्तर दिया, 'रास्ते की धूल साफ किये बिना, मै तो सीधा दरबार मे आ गया हूं, मैं उनसे पहले कैसे मिल सकता था ?' इसके उपरान्त शाहंशाह ने बहुत शानदार शालों का एक जोड़ा दिया, और कहा, 'इनको ले जाओ और शैख से जाकर मिलो। हमारी ओर से उससे कहना, यह हमारे खास खजाने में से है, ओर हमने इन्हें खास तौर से तुम्हारे लिये बनवाया था। तुम इनको पहनो।' मैने शाल ग्रहण किये, और शैख के सामने जाकर शाहशाह का सदेश सुना दिया। वह बहुत प्रसन्न हुए। शैख ने मुझसे पूछा, 'जब तुमको मै बिदा कर रहा था, मैने कहा था कि लड़ाई आरम्भ होते समय मेरे लिए दुआ मांगना नही भूलना ?' मैने उत्तर मे कहा, 'मैने यह प्रार्थना उस समय की थी :

"ए खुदा, तुम मे यकीन करने वाले
नर-नारियो को क्षमाकर।
जो मुहम्मद के धर्म की रक्षा करता है,
उसकी तू रक्षा कर।
जो उस धर्म की रक्षा नही करता,
उसकी तू भी रक्षा मत कर।
मुहम्मद तुझे शांति प्राप्त हो !"[1]

'अकबरनामा' में अबुल् फजल ने कुछ बात और कही है :

"अपने अधकारपूर्ण अनुमानो के कारण राणा को यह ज्ञान नहीं हुआ कि उसे अपनी सेना को सग्राम के लिए समुचित स्वरूप से व्यवस्थित करना चाहिये, परन्तु (उसके पक्ष के) दूरद्रष्टा लोगो के प्रयत्न से विभिन्न प्रबन्ध पूरे हो गये, और स्वयं राणा ने भी बहुत तत्परता और तीव्रता दिखायी।

"दोनो सेनाओ का मुकाबला खमणोर गांव मे हुआ, जो हल्दीघाटी के मुहाने पर है, और गोगूदा के अन्तर्गत आता है। दोनों ही ओर के आक्रमण अत्यन्त वीरतापूर्ण थे। जीवन सस्ता हो गया था, सम्मान महंगा हो गया था।

सेना की जब सेना से मुठभेड़ हुई
पृथ्वी पर स्वर्ग जाने का दिन जल्दी आ गया।
खून के दो समुद्रो ने एक दूसरे को टक्कर दी,
उनसे उठी उबलती लहरो ने पृथ्वी को रंग-बिरंगा कर दिया।

"शत्रु के दाहिने पक्ष ने शाही सेना के बाएं पक्ष को पीछे ढकेल दिया, और उसके हरावल ने भी दबोच दिया। शाही सेना के बहुत से लोगों के पैर उखड़ गये। जगन्नाथ ने बहुत वीरता दिखायी, और वह अपने जीवन का बलिदान देने वाला ही था कि इल्तमश (सेना मे मध्य स्थान का अग्रगामी संरक्षक-दल) आ गया, और स्वयं मानसिंह ने युद्ध मे

---

1. अल् बदायूनी, दूसरा भाग, पृष्ठ 236 अंतिम पक्तियां उस प्रार्थना की है जो अल् बदायूनी ने युद्ध स्थल पर की थी।

सक्रिय भाग लिया। शत्रु के वाएं पक्ष ने भी दाहिने शाही पक्ष को दवा दिया। सैयद हाशिम अपने घोड़े से गिर गया, लेकिन सैयद राजू ने उसे फिर घोड़े पर वैठा दिया। गाजी खान वदख्शी आगे वढ़ा, और आक्रामक सेना मे सम्मिलित हो गया। जान लेने और जान देने का वाजार खुल गया। दोनो ओर के योद्धाओ ने अपना जीवन दे दिया, और अपना सम्मान वचा लिया।

"जैसे आदमियों ने आश्चर्यकारी कार्य किये, उसी तरह हाथियो ने भी असाधारण कृत्य कर दिखाये। शत्रु पक्ष की ओर से था सैन्य-पक्ति-भंजक लूणा। जमाल खान फौजदार ने गजमुक्त हाथी उसका सामना करने के लिए आगे किया। इन दो पहाड़ जैसे शरीरो के भिडने से सैनिक अचम्भे मे आ गये, और थर्रा उठे। शाही हाथी घायल हो गया। वह भागने को ही था कि प्रतिदिन वढ़ते सौभाग्य की सहायता से शत्रु के हाथी के महावत के एक गोली लगी, और उसे पीछे मुड़ना पड़ा। उसी समय प्रताप, जो राणा का एक संवंधी था, अपने पक्ष के हाथियो मे सर्वप्रमुख हाथी रामप्रसाद को लेकर आगे आया, और उसने अनेक को धराशायी कर दिया। जव स्थिति अनिश्चित होने लगी, कमाल खान गजराज हाथी को लेकर आगे आया और युद्ध मे जूझने लगा। पंजू रणमदार हाथी रामप्रसाद हाथी के मुकावले में ले गया, और उसने वहुत अच्छा काम किया। इस (रणमदार) हाथी के साहस के पंर भी उड़खने लगे। तभी सहसा सौभाग्य की शक्ति से रामप्रसाद का महावत तीर लगने के कारण मर गया, और यह प्रसिद्ध हाथी—जिसकी शाही दरवार मे कई वार चर्चा होती रहती थी—शाही सेना के हाथ लगा। दोपहर तक लड़ाई चलती रही।

वहुसंख्यक वीर एक दूसरे से लड़,
रण क्षेत्र में वहुत सा रुधिर वहने लगा।
दिल वलने लगे, चिल्लाहट गूंजने लगी,
गरदने फन्दो से भिच गयी।

"जयमल्ल का पुत्र रामदास जगन्नाथ के हाथ के एक झटके से विनाश के शोकपूर्ण संसार में पहुंच गया। अपने तीन पुत्र शालिवाहन, मार्नासह और प्रतापसिंह सहित राजा रामशाह वीरतापूर्वक लड़ता हुआ मारा गया।[1] जव खलवली और कटाजज्झ की लपटें उठ रही थीं, और सौभाग्य की अग्नि भी प्रज्वलित थी, कुंवर मानसिंह और राणा एक दूसरे के सामने आये, और दोनो ने वड़ी वहादुरी दिखायी। जो ऊपर-ऊपर ही देख पाते है उनकी सम्मति में जीत शत्रु की हो रही थी, तभी एकदम अचानक दैवी सहायता की—जो सदा सौभाग्य की सहायता करती है—विजली ने विजय तड़तड़ा कर

---

1 मेवाड के आतिथ्य के लिए अपनी कृतज्ञता ग्वालियर के राजा ने हल्दीघाटी की पीत मिट्टी को अपने सारे वश के रक्त से लाल करके इस प्रकार प्रकट की कि शत्रु भी उसकी सराहना जहा की तहा करने लगे। शाही सेना के उसकी और उसके राज्य की जो वरवादी की थी उसका जवाव देने मे उसने कुछ नही उठा रखा।

ला दी। इसका एक बाहरी कारण यह था कि कोलाहल जब बढ़ा हुआ था पीछे सुरक्षित खड़ी सेना युद्ध के लिए पूरी तैयारी के साथ आ पहुंची। यह समाचार भी चारों ओर फैल गया कि संसार का स्वामी (शाहंशाह अकबर) अपने घोड़े पर चढ़कर हवा-सी तेजी से आ पहुंचा है और रणांगण उसकी शक्ति की परछाई से छा गया है। जो लड़ रहे थे वे जोर से चिल्लाने लगे, और शत्रु की, जो बराबर ज्यादा जोर पकड़े जा रहा था, हिम्मत टूट गयी। ईश्वरीय सहायता की ओर से आयी विजय की वायु भक्तों की आशाओं के गुलाब के पौधों को हिलोरे देने लगी, और स्वामिभक्ति में अपने को न्यौछावर करने को उत्सुक लोगों की सफलता की गुलाब-कलियां खिल उठीं। अहंकार और अपने को ऊंचा मानने का स्वभाव अपमान में बदल गया। सदा सर्वदा रहने वाले सौभाग्य की एक और नयी परीक्षा हुई। सच्चे हृदय वालों की भक्ति बढ़ गयी, और जो सीधे-सादे थे उनके दिल सच्चाई से भर गये। जो शंकाएं किया करते थे उनके लिए स्वीकार-शक्ति और विश्वास की प्रातःकालीन पवित्र वायु बहने लगी, शत्रु के लिए विनाश का रात का गहन अन्धकार आ गया। लगभग 150 गाजी रण-क्षेत्र में काम आये, और शत्रु-पक्ष के 500 विशिष्ट वीरों पर विनाश की धूल के धब्बे पड़े। बेहद गर्मी और लड़ाई की थकान के कारण शाही पक्ष का मन शत्रु का पीछा करने का नहीं हुआ, और कुंवर अगले दिन ही, भगवान के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के बाद, गोगूंदा जा सका।

"जब जीत का समाचार बादशाह अकबर के पास पहुंचा, उसने भगवान को धन्यवाद दिया, और उसने स्वामिभक्त तथा युद्ध में अच्छा काम करने वालों की पदोन्नति की। उस समय बंगाल पर मुगल सेना चढ़ाई कर रही थी—वहां द्रुतगामी घोड़ों से इस शानदार जीत का समाचार भिजवाया गया। सैयद अब्दुल्ला खान को यह शुभ संदेश लेकर भेजा गया। उसके रवाना होते वक्त शाहंशाह ने कहा कि उसके हृदय में आन्तरिक प्रेरणा जागृत हुई है, जिसका कहना है कि जिस प्रकार वह इस अलौकिक विजय का संदेश उस देश ले जा रहा है, उसी प्रकार वह दरबार में बंगाल-विजय का समाचार लेकर आयेगा।"[1]

निजामुद्दीन अहमद के सुप्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ 'तबाकत-इ-अकबरी' में इस युद्ध का वर्णन संक्षेप ही में दिया गया है। इस पुस्तक में बताया गया है कि पहाड़ों में बसे गोगूंदा में 'अच्छे मकान और बगीचे थे'। यहां प्रताप ने 'विद्रोह' के दिनों में अपने दिन काटे थे। जब कुंवर मानसिंह ने चढ़ाई की, प्रताप ने 'हिन्दुवाड़ा के सब राजाओं को अपनी सहायता के लिए बुलाया'। दोनों ओर से कुछ बहुत ही भयंकर आक्रमण हुए, और कुछ समय तक युद्ध में विकट नरसंहार हुआ। दोनों सेनाओं के राजपूत एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्विता में बहुत ही विकरालता से लड़े। 'उस दिन राणा कीका तब तक बहुत ही दृढ़ता से लड़ता रहा जब तक कि तीर और भाले की चोटों से वह घायल नहीं हो गया; उसके

1. 'अकबरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 247

बाद अपनी जान बचाने के लिए उसने पीछे मुंह मोड़ा और रणक्षेत्र छोड़कर चला गया। शाही सेना ने राजपूतो का पीछा किया, और कितनों को ही मौत के घाट उतार दिया।' अगले दिन कुंवर मानसिंह हल्दीघाटी मे से निकल कर गोगूंदा पहुचा। वह राणा कीका के मकान मे जाकर ठहरा, और सर्वशक्तिमान (भगवान) की कृपा से लौट भी आया। 'राणा कीका अपने संरक्षण के लिए ऊचे पहाड़ो मे भाग गया।' बादशाह ने कुंवर मानसिंह और उसके अमीरों को खिलअत और घोड़े देकर पुरस्कृत किया।[1]

'अकबरी दरबार' मे मौलाना मुहम्मद हुसेन आजाद ने यद्यपि स्पष्ट कहा है, 'राणा की सेना परास्त हुई', परन्तु उन्होने यह भी उतनी ही स्पष्टता से बताया है—"यद्यपि सेना हार गयी, परन्तु उस समय (प्रताप का) बचकर निकल जाना ही बहुत बड़ी विजय थी।"

यह कोई बहुत नयी परिस्थिति नहीं थी। मार्च 1527 में अकबर और प्रताप के पितामह क्रमशः बाबर और संग्रामसिंह के बीच खानुवा के ऐतिहासिक युद्ध में भी मुगल सेना अपनी विजय के बाद मुख्य शत्रु को नहीं पकड़ सकी थी। प्रताप की तरह सांगा को भी युद्ध-क्षेत्र से हटाया गया था, सांगा के साथ भी उस समय कुछ सामन्त और सैनिक थे। हल्दीघाटी की तरह, सांगा के जाने के बाद मेवाड़ का राजछत्र एक सामन्त पर ताना गया था। लौटते राणा का पीछा करने का प्रयत्न मुगल सैनिको ने आधे मन से किया, परिणाम वही हुआ, महाराणा बच निकला। यद्यपि 'शत्रु' के लिए दिन अंधकारपूर्ण और शाही सेना के लिए रात्रि आनन्दमयी हो गयी थी, परन्तु बाबर को इसका निजी पछतावा रहा कि उस दिन सांगा को पकड़ा नहीं जा सका, 'ऐसी खुदा की मरजी नहीं थी'—उसने कहा। उसे शिकायत रही कि सांगा को पकड़ने का प्रयत्न कुशलता से नहीं किया गया। बाबर ने कहा, 'वह घड़ियां बहुत ही महत्त्वपूर्ण थीं, मुझे सांगा के पीछे खुद जाना चाहिये था, दूसरो पर भरोसा नहीं करना चाहिये था।' 'जब इतनी बड़ी विजय प्राप्त कर ली गयी, राणा सांगा का पीछा करना और उसके देश पर हमला करना स्थगित कर दिया गया, और मेवात जीतने के काम को पहले हाथ में लिया गया।'

इसी तरह की परिस्थिति का सामना मानसिंह को आगे चलकर काबुल में करना पड़ा। मिर्जा हकीम को दबाने भेजी गयी शाही सेना पूरी शक्ति से लगी हुई थी, इसका सेनापतित्व मानसिंह के हाथ मे था। इस युद्ध का मौलाना मुहम्मद हुसेन आजाद ने बड़ा सजीव वर्णन किया है। इसमे और हल्दीघाटी के युद्ध में बहुत साम्य है, लगने लगता है कि जैसे कि उन दिनों सब युद्ध एक ही तरह के होते थे। यहां से भी प्रमुख शत्रु भाग गया था। "सूरमा राजपूतों ने बड़ा साका किया। वीरो ने बड़े अच्छे-अच्छे काम करके दिखलाये। भागते हुए शत्रुओं के पीछे घोड़े उठाये। तलवारे खींच लीं और दूर तक

1 निजामुद्दीन, पृष्ठ 398

मारते और ललकारते हुए चले गये। फिर भी जैसा पीछा करना चाहिये था और जैसा पीछा वे करना चाहते थे, वैसा न हो सका। उनके मन का हौसला मन में ही रह गया। वे लोग यह भी सोचते थे कि कहीं ऐसा न हो कि मिरजा टीले के पीछे से चक्कर मार कर दूसरी ओर निकल आये और सेना के पिछले भाग पर आक्रमण कर दे। कुछ बहादुर घोड़े बढ़ाते हुए ऐसे गये कि कई कोस आगे बढ़कर उन्होंने मिरजा को जा लिया। उस समय उसने अपने प्राण बचाने में ही सबसे बड़ी जीत समझी।"[1] कही हल्दीघाटी की घटनाओ को लेकर नाहक बाल की खाल तो नहीं निकाली गयी थी—युद्ध में ऐसा भी हो जाता है।

हल्दीघाटी के युद्ध का राजा मानसिंह की ओर से माना जा सके ऐसा विवरण ऐतिहासिक महाकाव्य 'मानप्रकाश' में उपलब्ध है :

दोनों सेनाएं बहुत देर तक युद्ध की भावना से—नववधू के समान, जो तरुण गज पंक्ति की गति से युक्त, तथा चमकती हुई तलवारो की कांति से उद्दीप्त थीं—मैदान न छोड़ सकीं।

(मानसिंह इस समय स्वयं युद्ध कर रहा था। कवि ने युद्ध-वर्णन से अधिक मानसिंह की सराहना यहां की है। यहां तक लिख दिया है, 'राजा मान भुज-प्रताप से क्षण भर मे विपक्षियो को छिन्न-भिन्न कर, जीत कर अपने प्रताप से वैरी वर्ग को सन्तप्त करता हुआ, इन्द्र के समान शोभित हुआ।' ऐसा होता तो छः श्लोको के बाद कवि को क्यो नीचे की पंक्तिया लिखनी पड़तीं ?)

इस प्रकार मानसिंह के युद्ध करते हुए माधवसिंह वीर (मानसिंह का छोटा भाई) आ गये। वे बोले—राजन् आप क्षण भर विश्राम कीजिये, इस युद्ध को समाप्त कीजिये।

यह कहकर वीर माधवसिंह युद्धाभिमुख हुए तथा सभी विपक्षी योद्धाओ को व्यग्र बना दिया। उस समय उनके भय से कोई भी युद्ध के लिए सामने नहीं आया।

माधवसिंह के बाण से अनेक योद्धा छिन्नभिन्न हो गये, अनेक राजा दीन हो गये, कुछ युद्ध भूमि को छोड़कर भाग गये, कुछ युद्ध करने के लिए कुछ समय खड़े रहे।

दिन मे रात्रि की कल्पना की गयी। शत्रु का मित्र भी शत्रु ही होगा। शत्रुओ के युद्ध मे अस्त हो जाने पर वह दिन रात्रि के समान हो गया। तब माधवसिंह रूपी चन्द्रमा उस रात्रि में प्रकाशित हो उठा।

माधवसिंह रूपी चन्द्रमा के उद्दीपित होने पर शत्रु अन्धकार बन गये। तथा माधवसिंह के पक्ष वाले योद्धाओ के मुख कुमुदनियो के वन के समान खिल उठे।

दुर्मदवीरवर्य राणा प्रताप माधवसिंह से लड़ने के लिए सामने आ गया। कर्ण के समान प्रतापी राणा प्रताप अर्जुन के समान शक्तिशाली राजा मान को जीतने की इच्छा से कठोर वचन बोला।

---

1 'अकबरी दरबार', तीसरा भाग, पृष्ठ 151

राणा ने कहा—माधवसिंह ! वीरों को अपने बल से विद्रावित कर इस रण भूमि में जो हर्ष का अनुभव कर रहे हैं, मैं अभी क्षण भर में राजा मान सहित तुम्हें हर्षहीन बना दूंगा।

राणा प्रताप के जीवित रहते तुम युवकों की जो जीतने की इच्छा है, वह व्यर्थ ही है। मैं जो कह रहा हूं, उसे अच्छी तरह जान लो, मैं भगवान विष्णु के चरणों की शपथ खाकर कह रहा हूं।

इस प्रकार कह कर वीर प्रताप ने उन दोनों को सैकड़ों बाणों से ढक दिया। आकाश बाण समूह से आच्छन्न हो गया और वह दिन दुर्दिन के समान प्रतीत होने लगा।

सर्व प्रथम हाथी से हाथी भिड़ गये तथा घोड़े से घोड़े। पैदल से पैदल लड़ने लगे, इस प्रकार उस समय समान प्रयोग हो रहा था।

इस भयंकर संग्राम को देखकर देवताओं का समूह भी आश्चर्यचकित हो गया। शस्त्रों की अधिकता से हुए घने अन्धकार में भय से आक्रांत मन व शरीर वाले योद्धा इतस्ततः भागने लगे।

जो जिसके सामने चला गया, उसने उसे मार डाला। अपने पराये का भेद नहीं रखा गया। राणा की सेना बाणों से छिन्न-भिन्न-शरीरा विदेह के समान इतस्ततः दौड़ने लगी।

जिस प्रकारबादल जलधारा से भूमि को रोक देता है, उसी प्रकार उस राणा ने पुनः सैकड़ों बाणों से शूरवीर मानसिंह को रुद्ध कर दिया। उसके बाणों से आच्छान्न धनुर्धारी युद्ध की कामना से उसके सामने जा खड़ा हुआ।

राणा प्रताप के बाणों से उत्पन्न घने अन्धकार को दूर करके सूर्य के समान मानसिंह रणभूमि में शत्रुओं के लिए उत्प्रेक्षणीय हो गये।

जैसे जैसे हाथियों की पंक्ति लड़ती थी वैसे ही वैसे मानसिंह भी युद्ध कर रहे थे। घुड़सवार और पैदल भी लड़ रहे थे। वह युद्ध शत्रुओं द्वारा लक्ष्ययुक्त था।

खड़ग से काटे गये हाथी और बाणों से छिन्न-भिन्न घुड़सवार वहां गिरे हुए थे। महीपाल मणि मान के डर से अनेक योद्धा भी गिर पड़े थे।

इस प्रकार प्रताप से संतप्त कर दिया है शत्रु वर्ग को जिसने ऐसे राजा के युद्ध करने पर शत्रु योद्धा क्रोध रहित होकर विभिन्न दिशाओं में भयभीत होकर भाग गये।

युद्ध करने वाले योद्धाओं की वहां खून की नदी उत्पन्न हो गयी। मरे हुए हाथी महान् पर्वत के समान लग रहे थे तथा योद्धाओं के केश शैवाल (सिवार) की शोभा दे रहे थे।

जिसने मानरूपी (स्वाभिमान रूपी) सिंह को जीत लिया है, उस मानसिंह ने अपने पराक्रम से रण नदी को विशाल बना दिया। वह भीरु जनों के लिए भय देने वाली एवं वीर योद्धाओं के लिए आनन्ददायिनी हुई।

अपने देश की विजय में निराश, विनष्ट सर्वगर्व, चंचलगति राणा प्रताप ने अपने मन को पुनः रण मे जाने के लिए तरुण बनाया।

दो मुख वाले व्यक्ति के समान बड़े वेग से आगे तथा पीछे देखता हुआ राणा प्रताप हत-गति हो गया। राणा प्रताप के पीछे क्रोध से दौड़ते हुए राजा मानसिंह ने भी निष्प्राण के समान इस एक को ही छोड़ा। (राणा प्रताप के अतिरिक्त शेष सब को मौत के घाट उतार दिया)।

युद्ध क्षेत्र में शत्रुओं की मृत्यु ही राजाओं की कीर्ति के लिए है। वे राजा लोग निष्फल नही है। युद्ध-भूमि में जीते गये शत्रु राजाओं के समूह के नमस्कार को बहुत व्यक्ति कीर्ति के लिए स्वीकार करते है।

मानसिंह के भुजदंड की किरणों से जले हुए कुछ राजा लोग अम्बर से पृथ्वी पर गिर पड़े। कुछ युद्ध छोड़कर अपने घर भाग गये और कुछ पीड़ित होकर उनके चरणाश्रित हो गये।

जो योद्धा राजा मान की तीक्ष्ण धारा वाली तलवार के मार्ग में आये, वे शत्रु लोग स्वर्ग-सुन्दरियों के रतिरसोल्लास के भागी हुए। जो उगते हुए सूर्य के प्रताप रूपी अग्नि ज्वाला से भयंकर खड़ग के सम्मुख नही आये, वे राजा लोग स्वतः ही जीत लिये गये।[1]

काव्य का अतिरेक और एक पक्ष के प्रति आग्रह को समझने के बाद भी इस विवरण मे कई महत्त्वपूर्ण संदर्भ है, जिनसे तत्कालीन घटनाएं समझने में अवश्य सहायता मिलती है, अनेक मान्यताओं को समर्थन मिलता है।

उपरोक्त इतिहासकारों ने कुछ ऐसी बातें छोड़ दी है जो राजस्थान में बहुत प्रचलित है।

'अमरकाव्य वशावली' और 'राजरत्नाकर' के आधार पर डा. गोपीनाथ शर्मा ने बताया है कि जब हाथियों की लड़ाई पूरे जोर पर थी, चेटक पर चढ़ा प्रताप उस हाथी के पास पहुचा जिस पर मानसिंह सवार था। सामने शत्रु को देखकर चेटक दो पैर उठा कर उछला, मानसिंह को सीधा सामने देखकर प्रताप ने अपने भाले से वार किया। सामने से भाला आते देख, मानसिंह हौदे ही में झुक गया, भाला हौदे के ही लग कर रह गया,[2] नही तो हो सकता था कि अकबर की सेना का सेनापति वहीं समाप्त हो जाता।

---

1. डा प्रभाकर शास्त्री, 'स्मृति ग्रन्थ', पहला खड, पृष्ठ 144
2. (क) डा गौरीशकर हीराचन्द्र ओझा के अनुसार भाला मानसिह के कवच में ही लगा, और वह बच गया। इस समय महाराणा के घोडे के अगले दोनो पैर मानसिह के हाथी की सूड के सिर पर लगे जिससे उसकी सूड मे पकडी हुई तलवार से चेटक का एक पिछला पैर जख्मी हो गया। प्रताप ने मानसिह को मारा गया समझ कर घोडे का पीछा मोड लिया।—राजपूताना, पृष्ठ 751

   (ख) डा राजीव नयन प्रसाद सारी घटना के सबंध मे उतने आश्वस्त नही हैं। उपरोक्त 'हिन्दू सूत्र' उ हे पर्याप्त विश्वसनीय नही लगते।—प्रसाद, पृष्ठ 47

चेटक की टांगो की चोट, और प्रताप के भाले की मार के कारग हाथी ने घूम कर मैदान छोड़ दिया। परन्तु प्रताप तत्काल घिर गया, उस पर चारो ओर से तीर पड़ने लगे। इस लड़ाई में हाथी की सूंड में लगी। चेटक के आगे के पैर में तलवार से चोट लग गयी थी, जिससे उसके लिए भी चलना कठिन हो गया।[1]

दोपहर हो गयी थी। युद्ध पूर्ण तीव्रता के साथ तीन घंटे से हो रहा था। चारो ओर से पहाड़ों से घिरे, उस बिना पेड़ो के मैदान में, चढ़ी दोपहरी की गर्मी सैनिको को वेहोश किये दे रही थी। महाराणा के सैनिकों को तो लम्वा रास्ता पार कर के आना पड़ा था—वे मुगल सैनिकों से अधिक थके थे, और अव उनका सामना हो गया मानसिंह की सुरक्षित सेना से, जो मौके के इन्तजार में युद्ध में विना सक्रिय भाग लिये पीछे खड़ी थी। प्रताप की सेना के प्रसिद्ध वीर और योद्धा एक-एक करके मारे जा चुके थे। जिन्होंने अपनी जान दी उनमें से वहुत से ऐसे थे जिनका नाम तो नहीं हुआ, परन्तु उनकी वीरता किसी से कम नहीं थी।

युद्ध पर पटाक्षेप हुआ 'शुद्ध स्वामिभक्ति' से, 'राजपूत स्वभाव के पवित्रतम कृत्य' से। तव तक युद्ध की हवा महाराणा की सेना के विरुद्ध वहने लगी थी। उसकी दिशा फिर से उलटने की कोई आशा नहीं रही थी। सेना के दोनो पार्श्व खंडित हो गये थे, और मध्य से आ मिले थे। इन सवको तीन तरफ से शाही सेना ने घेर लिया था। इस अनिश्चित स्थिति मे 'मेवाड़ की आशा' स्वय प्रायः हर ओर से शत्रु से घिर गया, ऐसा हो सकता था कि यह आशा सदा के लिए टूट जाती। परन्तु जव तक एक भी राजपूत जीवित था, ऐसा हो कैसे सकता था! 'राणा प्रताप के सात घाव लगे। शत्रु उस पर वाज की तरह गिरते थे, परन्तु वह अपना राजसी छत्र नहीं छोड़ता था। वह तीन

---

(ग) अकवर के समय में युद्ध-कुशल हाथियो का प्रयोग वहुत होता था। लडाई मे जव वे उतरते थे, साधारणत उन्हे युद्ध के अतिम चरण मे सामने लाया जाता था, उन्हे फौलादी पोशाक 'पाखर' पहनायी जाती थी। उनकी पीठ पर फौलाद की चद्दर से मढा हौदा होता था, इस पर ऊपर से ढकी वैठने की जगह होती थी। इनके चारो किनारे कोई तीन फीट उठे हुए होते थे। इस पर शाहशाह या सेनापति वैठता था। उठे किनारो के कारण उसके सिर और कधो के अतिरिक्त सारा शरीर सुरक्षित रहता था. ऊचे हाथी का उपयोग इसलिए किया जाता था कि सेनापति को दूर-दूर से देखा जा सके, क्योंकि उन दिनो सेनापति के भाग्य से युद्ध का परिणाम पूरी तरह वधा रहता था सेनापति गिरा, और सेना भागी। परन्तु इसका सकटग्रस्त पक्ष यह है कि सेनापति दूर-दूर से दीखने के कारण शत्रु का सव ओर से सरल निशाना वन जाता था इस प्रणाली को भारत आने पर नादिरशाह ने 'आश्चर्यकारी' कहा था, अपने आप अपने नेता को सकट मे डालने वाली। वह अपनी सेना एव अंगरक्षको का भी कैदी हो जाता था—उसके घूमने-फिरने की स्वतत्रता सीमित हो जाती थी। सेना मे हाथी उस समय सकट का कारण स्वय हो जाते थे जव कि उन्हें चोट लगती। ऐसे समय उन पर नियन्त्रण कठिन हो जाता था, और वे जव भागते थे शत्रु मित्र का भेद नहीं रख सकते थे। कई वार ऐसे हाथी अपने साथ अपने सवार के लिए भी सकट उत्पन्न कर देते थे। हाथी किलो के दरवाजे तोडने मे वहुत काम में लाये जाते थे। वारूद के हथियारो का चलन होने के वाद हाथी लडाइयो मे कम काम आने लगे। उनसे वोझा ढोने का काम लिया जाने लगा। मुगल काल मे उन पर युद्ध के दिनो में वोझा भी ले जाया जाता था, और वे हरम की महिलाओ को भी ले जाते थे। युद्ध के दिनो मे महिलाओ से भरे हौदो वाले हाथियो का वर्णन मिलता है, जो सेना के पीछे के भाग मे रहते थे और जिनकी रक्षा की विशेप व्यवस्था की जाती थी।

1 गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, पृष्ठ 90

बार शत्रुओं के समूह में से निकला। एक बार वह दब कर मरना ही चाहता था कि झाला सरदार दौड़ा और राणा को इस विपत्ति से निकाल कर ले गया।' संकट का आभास पाते ही झाला सरदार बीदा (उसका दूसरा नाम मार्नासह था) ने प्रताप पर लगा राजकीय छत्र उतार कर स्वयं अपने ऊपर लगा लिया, और शत्रुओं को ललकारा कि 'महाराणा मैं हूं'। वह बिना किसी भय के आगे बढ़ने लगा। यह चतुरता बहुत काम आयी। मुगल सैनिको और सेनानियों में सभी राणा प्रताप को स्वयं पकड़ने को उत्सुक थे---वे सब झाला बीदा के पीछे भागे। प्रताप पर से उनका दबाव ढीला पड़ गया। फिर भी प्रताप युद्ध क्षेत्र छोड़ने को सहमत नहीं हुआ। प्रताप के स्वामिभक्त सामन्तों और सैनिको ने (उनमें हकीम खान सूर भी था) चेटक की रास अपने हाथ में ली, और उसका मुंह मोड़ दिया। पीछे ही हल्दीघाटी थी।[1] उसमें से निकालकर वे घायल प्रताप को सुरक्षित स्थान तक ले गये। प्रताप की जगह झाला बीदा की जान गयी। इस बलिदान के लिए उसने स्वयं अपने को प्रस्तुत किया था; इसने उसे अमर कर दिया है। उसके गिरते ही युद्ध समाप्त हो गया।[2]

इन घड़ियो से एक कहानी जुड़ गयी है, जो बहुत प्रसिद्ध है, 'राजप्रशस्ति' में यह अंकित है। कहते है, जब प्रताप मैदान छोड़ कर जा रहा था, दो मुगल सैनिको ने उसका पीछा किया। प्रताप का जीवन संकट मे देखकर प्रताप के भाई शक्तिसिंह का भी मन कचोटने लगा। वह उस समय मुगल सेवा में था। उसने उन दोनो सैनिकों का पीछा किया, और उनके प्रताप के पास पहुंचने के पहले ही उन्हे मार डाला। फिर उसने प्रताप को पुकारा, 'ओ ! नीला घोड़ा रा सवार !' दोनों भाई एक नाले के किनारे मिले। जब दोनो गले मिल रहे थे, चेटक ने आखिरी सांस ली।[3] दोनो भाई अश्रु बहाते उसके पास थे। जहां चेटक गिरा, उसकी वहां छतरी बनी हुई है। शक्तिसिंह ने अपना घोड़ा प्रताप को दिया। वह दोनो सवारो के घोड़ों में से एक लेकर फिर मुगल सेना में जा मिला। उसने मार्नासह के सामने कुछ बहाना बनाकर अपनी अनुपस्थिति का असली कारण छिपा लिया।

यह गाथा निरी कल्पना की उपज है। शक्तिसिंह चित्तौड़ पर हमले के समय अकबर के शिविर को धौलपुर मे छोड़कर बिना शाही अनुमति के मेवाड़ आ गया था।

---

1 कुछ लोगो का मानना है कि प्रताप हल्दीघाटी के रास्ते से नहीं लौटकर, उनवास के रास्ते से पहाड़ी रास्ता पकड कर कालोडा गया जहा एक मशहूर वैद्य रहता था। वहा उसने अपने घावो का उपचार कराया। कालोडा लोमिग मे हल्दीघाटी के रास्ते मे पडता है। मेवाड मे एक उक्ति प्रचलित है : 'घाव निराया राणा रा, कालोडा मे जाय।'

2 सरकार, पृष्ठ 82

3 हल्दीघाटी से लगभग दो मील दूर, बलीचा गाव के पास एक नाला है। उसके पास बने एक शिवालय के निकट चेटक का देहान्त हुआ माना जाता है। वहा उसका चबूतरा बना हुआ है। पुराना चबूतरा खडहर हो जाने पर, उसी स्थान पर कुछ वर्ष हुए नया चबूतरा बनवाया गया था, और इसकी समय-समय पर मरम्मत होती रहती है। चेटक की भी लोग पूजा करते है। यह गाथा चाहे सत्य नहीं हो, इनमे संदेह नही कि अपने स्वामी की तरह चेटक ने हल्दीघाटी के युद्ध मे असाधारण वीरता दिखायी, और अपने बलिदान के पहले प्रताप को सुरक्षित स्थल तक पहुचाने में महत्त्वपूर्ण सहायता की थी।

उसके वाद में लौटकर मुगल सेवा में जाने का न कहीं समकालीन वर्णन मिलता है, न उसका ऐसा साहस हो सकता था। फिर, प्रताप अकेला युद्ध-भूमि छोड़कर नहीं भागा था। कई सैनिक और सामन्त उसके साथ थे, (इनमें भामाशाह भी वताये जाते हैं), जो जवरदस्ती उसे लड़ाई के मैदान से ले गये थे, सुनसान में उसके अकेले मिलने का प्रश्न ही नहीं उठता। 'किसी भी फारसी तवारीख में शक्ता का उस समय वादशाही सेना में होना भी नहीं लिखा है।' हल्दीघाटी की लड़ाई का वर्णन अल् वदायूनी ने स्वयं देखकर लिखा है, उसने दोनो पक्षों के प्रमुख सेनानियों के नाम भी दिये हैं—प्रताप का भाई मुगल सेना के साथ होता तो उसका नाम न देने का कोई कारण नहीं था। 'राणा रासौ' में इस घटना का उल्लेख नहीं है। 'राजरत्नाकर' तथा मेवाड़ के ख्यातों में भी इस घटना का वर्णन नहीं है। महाराणा जगतसिंह के समय की 'जगन्नाथराय प्रशस्ति' में अथवा महाराणा राजसिंह के समय के 'राजप्रकाश' में भी इसका वर्णन नहीं है। मेवाड़ के इतिहास के प्रतिष्ठित विद्वान् डा. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा[1] और डा. गोपीनाथ शर्मा[2] दोनो इस घटना को अविश्वसनीय मानते हैं।

राणा प्रताप के अचानक युद्ध-भूमि से हट जाने के वाद मेवाड़ की सेना की हिम्मत टूट गयी। फिर भी, झाला मानसिंह, राठोड़ शंकरदास, रावत नेतसी आदि अत्यंत वीर सेनानियों ने अपने सैनिकों को थोड़ी देर और जमाये रखने का यत्न किया। परन्तु कुंवर मानसिंह के वीर अंगरक्षकों ने उनके पैर जमने नहीं दिये, और अंततः मेवाड़ी सेना के बचे हुए लोगों को भी मैदान छोड़ना पड़ा।

"इस प्रकार जिस दिन युद्ध शुरू हुआ था उसी दिन दोपहर को वह मुगलो की जीत के साथ समाप्त हो गया।"[3] "कछवाहे ने विजय लाभ किया और राणा लड़ाई हार गया।"[4] "फतह का झंडा वादशाही फौज के हाथ रहा।"[5]

'जगन्नाथ राय प्रशस्ति', 'राजरत्नाकर', 'राणा रासौ' आदि मेवाड़ से संवंध रखने वाली रचनाओ का यह कथन कि इस युद्ध में महाराणा प्रताप की विजय हुई थी, वास्तविकता के विरुद्ध है। 'अमरकाव्य' अवश्य वास्तविकता के निकट पहुंचा है, "इस प्रकार महाराणा ने, रणभूमि में, वादशाह के वशीभूत मानसिंह को, जिसके साथ वड़ी शाही सेना थी, अपने शौर्य का परिचय दिया। यह युद्ध ऐसा हुआ कि संसार में इसकी प्रसिद्धि हो गयी तथा प्रताप का यश फैल गया।"

दोनो पक्षो के कथनों पर विचार करते हुए, डा. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने ठीक ही लिखा है, "यही मानना पड़ता है कि उस समय के संसार के सवसे वड़े,

---

1 ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 752
2 गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, पृष्ठ 91
3 गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, पृष्ठ 92
4 नैणसी, पृष्ठ 69
5 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 153

सम्पन्न और प्रतापी बादशाह अकबर के सामने एक छोटे-से प्रदेश का स्वामी प्रतापसिंह कुछ भी न था, क्योंकि मेवाड़ के बहुत से नामी-नामी सरदार बहादुरशाह और अकबर की चित्तौड़ की चढ़ाइयों में पहले ही मर चुके थे, जिससे थोड़े ही स्वामिभक्त सरदार उस (प्रतापसिंह) के लिए लड़ने को रह गये थे। मेवाड़ का सारा पूर्वी उपजाऊ इलाका अकबर की चित्तौड़ की विजय से ही बादशाही अधिकार में चला गया था, केवल पश्चिमी पहाड़ी प्रदेश ही प्रताप के अधिकार मे था, तो भी उसका कुलाभिमान, बादशाह के आगे दूसरे राजाओं के समान सिर न झुकाने का अटलव्रत, अनेक आपत्तियां सहकर भी अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने का प्रण और उसका वीरत्व, ये ही उसको उत्साहित करते रहे थे। उसके सरदार भी अपने स्वामी का अनुकरण कर युद्ध में प्राणोत्सर्ग करने को अपना क्षात्र धर्म समझते थे। इसी से प्रतापसिंह ने 3,000 सवारों के साथ 5,000 शत्रु सेना को पहले ही आक्रमण में तितर-बितर कर कोसों तक भगा दिया, परन्तु शाही सेना की चन्दावल मे बादशाह के आने का शोर मचने से समय-सूचकता का विचार कर पहाड़ों का सहारा न छोड़ने की इच्छा से वह हल्दीघाटी के पीछे ससैन्य लौट गया।"

डा. ओझा आगे कहते हे, "हिन्दुओं के साथ की मुसलमानों की लड़ाई का मुसलमानो का लिखा हुआ वर्णन एक पक्षीय होता है, तो भी मुसलमानों के कथन से ही निश्चित है कि शाही सेना की बुरी तरह दुर्दशा हुई और प्रतापसिंह के लौटते समय भी उस सेना की स्थिति ऐसी न रही थी कि वह उसका पीछा कर सके और उसका भय तो उस (सेना) पर यहा तक छा गया था कि वह यही स्वप्न देखती थी कि राणा पहाड़ के पीछे रहकर हमारे मारने की घात में लगा हुआ होगा। दूसरे दिन गोगूंदा पहुंचने पर भी शाही अफसरों को यही भय बना रहा कि राणा आकर हमारे पर टूट न पड़े। इसीसे उस गांव की चौतरफा खाई खुदवा कर, घोड़ा न फांद सके, इतनी ऊंची दीवार बनवाई और गांव के तमाम मोहल्लों मे आड़ खड़ी करवा दी गयी, फिर भी शाही सेना गोगूंदे मे कैदी की भांति सीमाबद्ध ही रही और अन्न तक न ला सकी, जिससे उसकी और भी दुर्दशा हुई। इन सब बातो पर विचार करते हुए यही मानना पड़ता है कि युद्ध में प्रतापसिंह की ही प्रबलता रही थी।"[1]

अतएव इसे मुगलों की विजय नहीं माना जा सकता। मुगलों का लक्ष्य प्रताप था, वह न पकड़ा जा सका, न मारा जा सका। लड़ाई तीन-चार घंटे ही हुई थी, दिन अभी आधा बाकी था—मानसिंह और उसके सैनिकों का साहस प्रताप को पकड़ने के लिए आगे बढ़ने का नहीं हुआ। प्रताप ने भी उसी दिन फिर से मानसिंह पर चढ़ाई नहीं की। दोनों ने ऐसी हिम्मत नहीं दिखायी। यदि जीत हुई थी तो दोनों पक्षों की, यदि हार हुई थी तो दोनों पक्षों की—परिणामविहीन, बराबरी में समाप्त, इस युद्ध को मानना होगा।

---

1. ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 754

महाराणा प्रताप लड़ाई हारा था, हिम्मत नहीं। यह घटना मानसिक रूप से उसे पराजित नहीं कर सकी। मेवाड़ के इतिहास से प्राप्त इस शिक्षा को उसने और अर्थपूर्ण बना दिया कि मनुष्य की आशा और आस्था को परास्त नहीं किया जा सकता। इस युद्ध में अकबर की सेना को जीता भी मान लें तो भी उसकी नीतियों को हल्दीघाटी में पराजय का मुंह देखना पड़ा। उसी की सेना के सदस्य अल् बदायूनी को भरी लड़ाई में यह शिक्षा दी गयी कि जो हिन्दू सामने दिखे उसे कत्ल कर दो, चाहे वह शत्रु हो चाहे मित्र, इससे आखिर जीत इस्लाम की होगी। धर्मनिरपेक्षता, जिसके लिए अकबर इतना प्रसिद्ध है, हिन्दुओ का आदर, जिसके लिए उसका आज भी सम्मान किया जाता है, हल्दीघाटी मे खेत रहे।

सामरिक दृष्टि से हल्दीघाटी में जो हुआ वह हमारे देश के इतिहास में बारबार हुआ है, "भारत के सामरिक इतिहास का अत्यंत खेदजनक पक्ष यह है कि कई बार नेताओं ने संख्या के आधिक्य के बल पर बंदूकबाजी को जीतने की कोशिश की है। आदमी आदमी से लड़ सकता है, वह तोप से नहीं लड़ सकता। पानीपत के युद्ध में इब्राहीम लोदी ने बाबर की तोपों को जीतने की आशा इसलिए की थी कि उसकी सेना शत्रु की सेना से दस गुनी थी। आगे चलकर नागपुर के भोसलाओ ने भी यही गलती की। इसी प्रकार हल्दीघाटी मे सीसोदियों का शौर्य, जिनकी संख्या शत्रु से पहले से ही कम थी, उस सेना का सामना करने मे सफल नहीं हुआ जिसके साथ अनेक हलकी तोपें थीं।"[1]

मौलाना मुहम्मद हुसैन आजाद ने भी इस 'बड़े भारी युद्ध का' हाल बताते हुए कहा है कि 'नमक हलाल मुगल और मेवाड़ के सूरमा ऐसे जान तोड़ कर लड़े कि हल्दी-घाटी के पत्थर ईंगुर हो गये'। मेवाड़ी सैनिको-सेनापतियों का विशेष उल्लेख करते हुए, उन्होने कहा है, "यह वीरता ऐसे शत्रुओं के सामने क्या काम कर सकती थी जिसके साथ असंख्य तोपें और रहकले आग बरसाते थे और ऊंटो के रिसाले आंधी की तरह दौड़ते थे।"[2]

अकबर और प्रताप की टक्कर का हल्दीघाटी में अन्त नहीं, आरम्भ हुआ था। प्रताप के गद्दी पर बैठने के चार वर्ष बाद यह सीधा सैनिक सामना हुआ था, और इतना अनिर्णीत यह रहा कि चार महीने बाद ही स्वयं अकबर को यहां आना पड़ा। तब भी स्थिति मे कोई मौलिक परिवर्तन नही आया। अतएव आगामी नौ-दस वर्षों मे बारबार शाही सेना प्रताप के विरुद्ध भेजनी पड़ी। मेवाड़ को कष्ट और यातना तो बहुत हुई, लेकिन संग्राम का भूगोल प्रायः जहां का तहां रहा, क्योंकि मेवाड़ का जो भूभाग मुगल सेना जीतती थी उसे प्रताप मुख्य सेना हटते ही फिर से अपने कब्जे मे कर लेता था, और अततः जितनी जमीन प्रताप के राज्यारोहण के समय उसे मिली थी उसमे से जरा-सी भी अकबर इस लम्बी अवधि, और इतने प्रयत्न के बाद भी, शाही क्षेत्र में स्थाई

1 लाल, पृष्ठ 172
2 'अकबरी दरबार', तीसरा भाग, पृष्ठ 130

रूप से शामिल नहीं कर सका, और बाद में बारह साल, जब तक प्रताप जीवित रहा, उसने कोई निर्णायक कार्रवाई नहीं की। इस सन्दर्भ में हल्दीघाटी के युद्ध का महत्त्व कुछ भी नहीं रहता। परन्तु हो यह गया है कि और सब प्रयत्न भुला-से दिये गये हैं, हल्दीघाटी ही असंख्य लोगों के मन पर चढ़ी हुई है। कई बार लगता है कि कहीं इसके उपलब्ध समकालीन विशेष वर्णन के कारण, उसके लेखकों के कौशल के कारण, ही तो इसे इतनी महत्ता नहीं मिल गयी है! वैसे, मोहम्मद कासिम फिरिश्ता ने तो हल्दीघाटी के युद्ध का, और उसके पहले अकबर द्वारा प्रताप से सम्पर्क का, अपने बहुप्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ में उल्लेख तक नहीं किया है। इसी प्रकार लारेन्स बिनियोन ने अपने प्रसिद्ध 'अकबर' में, जिसमें तीन पृष्ठ चित्तौड़-युद्ध पर दिये हुए है, और जिसके अनुक्रमांक तक में उदयसिंह, जयमल्ल और पत्ता का नाम से उल्लेख है, एक भी शब्द हल्दीघाटी अथवा प्रताप के बारे में नही दिया है।

प्रताप ने अपना सब कुछ हल्दीघाटी के युद्ध में झोंक दिया था। इसे त्याग और बलिदान तो बहुत कहा जा सकता है, रण-कौशल इसे नहीं माना जा सकता। अपना सुरक्षित पर्वतीय संरक्षण छोड़कर सिर्फ इसलिए कि पहल हमें करनी चाहिये, आगे होकर वार करने का अब भी सैनिक विशेषज्ञ समर्थन नहीं करते। और सारी की सारी सेना को एक बार ही में लगा देने को तो कतई बुद्धिमानी नहीं माना जा सकता। सुरक्षित सेना ने ही विकट संकट के समय मानसिंह का सम्मान बचाया था, प्रताप की भी सुरक्षित सेना होती तो वह कम से कम उससे बराबरी से लोहा तो ले सकती थी।

"राणा प्रतापसिंह ने जी-जान से किये गये सीधे आक्रमण में ही अपना सब कुछ दांव पर लगा दिया, उसने संकट के समय के लिए न तो सुरक्षित सैनिक बचाये, न अपना पृष्ठ भाग ही सुदृढ़ रखा। सच तो यह है कि उसकी सेना की कुल संख्या (जो मुगल सेना से एक तिहाई ही थी) इतनी कम थी कि वह इस तरह की एहतियाती कार्रवाई बिना दोनों ओर से हमला करने वाली अपनी सेना की शक्ति को कम किये और अपने आक्रमण की तीव्रता को घटाये, कर ही नही सकता था। इस कारण, उसे प्रारम्भ में जो सफलता मिली उसको और आगे नहीं ले जा सका, न लड़ाई के दूसरे चरण में, जब उसके लिए डट कर मुकाबला करना जरूरी था, वह शक्ति दिखायी जा सकी।"[1]

"युद्ध के प्रारम्भ में राणा प्रताप को बहुत कुछ सफलता मिली थी, परन्तु उसे वह किसी भी प्रकार स्थाई नही बना सका। मुगल सेना संख्या में बहुत अधिक थी, परन्तु उस ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी-पूर्ण असम प्रदेश में उन्हें जान पर खेलने वाले मेवाड़ के अदम्य साहसी वीरो तथा मृत्यु से यत्किचित् भी नहीं हिचकने वाले उनके जंगली भील साथियों का सामना करना पड़ा, अतएव इससे विशेष लाभ नही उठाया जा सकता था। राणा प्रताप में अतुलनीय साहस तथा अद्वितीय वीरता थी, परन्तु शतरंज के खेल की

1. सरकार, पृष्ठ 79

तरह बुद्धि-बल पर सामूहिक रूप से लड़े जाने वाले आधुनिक युद्धों में सेनापतित्व करने के उपयुक्त वह कदापि न था, क्योंकि वहां कठिन से कठिन प्रतिकूल परिस्थितियों में भी स्थिर बुद्धि से अत्यावश्यक शीघ्रता के साथ पूरा सोच विचार कर अपनी सूझ-बूझ तथा सेना-संचालन के कौशल का पूर्ण उपयोग किये बिना अन्त में किसी न किसी प्रकार विजय प्राप्त कर ही लेना कदापि संभव नहीं हो सकता है। मुगल सेना पर आक्रमण करते समय राणा प्रताप ने न तो कोई सुनिश्चित व्यवस्था ही अपनायी थी, और न युद्ध-क्षेत्र पर अपनी सेना के विभिन्न दलों के संचालन में किसी भी प्रकार का पारस्परिक समन्वय बनाये रखने का कोई उपाय ही निर्धारित किया गया था कि उन सबके सामूहिक परिणामस्वरूप अन्त मे शत्रु पर पूर्ण सफलता प्राप्त हो सके। घुड़-सवारो के दो सशक्त बड़े दलो द्वारा एक साथ ही विरोधी सेना पर प्रबल आक्रमण करना, और उनके ऐसे हमलो के प्रचण्ड आवेग को न सह सकने के फलस्वरूप शत्रु सेना के विशिष्ट भागों के भाग निकलने पर उनका पीछा करते जाने की पुरातन अनादृत आक्रमण-शैली का ही राणा प्रताप ने इस युद्ध में प्रयोग किया। किन्तु अपनी सेना के सारे ही विभिन्न दलों के साथ पूरा-पूरा सम्पर्क बनाये रखकर उनका ठीक तरह संचालन करते रहने वाले उत्कृष्ट सेनापति की सेना पर केवल ऐसे आवेगपूर्ण आक्रमण द्वारा ही युद्ध में पूर्ण विजय प्राप्त करना एक सर्वथा अनहोनी बात थी। विभिन्न योद्धाओं या सैनिक दलो के व्यक्तिगतरूपेण आशातीत वीरतापूर्ण युद्ध करने पर भी एक-दूसरे से पूर्णतया असम्बद्ध होने के कारण उनके द्वारा उस युद्ध के अन्तिम परिणाम में किसी भी प्रकार का परिवर्तन होने की आशा करना ही व्यर्थ था। अच्छा निशाना लगाने वाले अभ्यस्त घुड़-सवार योद्धाओ के विरुद्ध हाथियो द्वारा आक्रमण करने की निस्सारता हल्दीघाटी के इस युद्ध द्वारा एक और बार प्रमाणित हो गयी। सामने से किये जाने वाले इस प्रचण्ड आक्रमण द्वारा ही इस युद्ध में पूर्ण सफलता प्राप्त करने की आशा से इस एक आक्रमण में ही राणा प्रताप ने अपनी बहुत कुछ सैनिक शक्ति लगा दी थी। न तो अपनी पृष्ठ-रक्षा के लिए ही उसने कोई सैनिक दल रखा था, और न आवश्यकता पड़ने पर सहायतार्थ अधिरक्षित विशेष सेना का ही कोई आयोजन किया गया था। अतएव आक्रमण के फलस्वरूप प्रारम्भ मे प्राप्त सफलता को राणा प्रताप स्थायी नहीं बना सका, तथा आक्रमण के उस प्रारम्भिक आवेग को रुद्ध करने वाले विरोध को दबाने का भी राणा प्रताप की ओर से ठीक समय पर कोई आयोजन नहीं किया जा सका।"[1]

"राणा ने युद्ध की जो परम्परागत प्रणाली अपनायी उसी से उसको इतनी क्षति उठानी पड़ी। पर्वतीय घाटी के बीच उसके लिए इस प्रकार की व्यूह-रचना करना आवश्यक नही था। सबसे अच्छा तरीका तो यह होता कि वह अपने सैनिक-दल समुचित स्थानों पर इस तरह खड़े करता कि शत्रु सेना स्वयं घाटी मे आने का लोभ संवरण नहीं कर सकती, और फिर या तो मृत्यु या अवश्यंभावी विनाश के बिना उसे वहां से

1. रघुवीरसिंह, राजस्थान, पृष्ठ 55

निकलने नहीं दिया जाता। दूसरी बात यह है कि मुगल सेना के अग्रिम सैनिकों के पैर उखड़ जाने के बाद राणा ने यह ठीक नहीं किया कि अपनी पूरी ताकत के साथ मैदान में उतर आया, इस कारण उसके सैनिक पहले हमले ही में थक गये। तीसरे, युद्ध के जो विवरण राजपूत और मुस्लिम सूत्रो से मिलते हैं उनसे स्पष्ट है कि मुगलों पर अपने दूसरे आक्रमण के बाद वह अपनी सेना में पूर्ण व्यवस्था नहीं कायम रख सका, जबकि मुगल अपने इधर-उधर बिखरे सैनिकों को एकत्रित कर सके, और उन्हें व्यवस्था में बनाये रख सके। शत्रु की संख्या में अधिकता और उसकी साहसपूर्ण रणनीति के आगे राणा और उसकी सेना का पीछे हटना अनिवार्य था।

"फिर भी, प्रताप की इसके लिए सराहना की जानी चाहिये कि उस संकट की घड़ियों में उसने अपना विवेक नहीं खोया और अपने को शत्रु के कब्जे मे जाने या मारे जाने से बचाकर निकाल ले गया। वहां से हटकर उसने अपनी भूमि की उससे कहीं अधिक हित-साधना की जितनी कि वह वहां अपना बलिदान करके कर सकता था।"[1]

प्रताप की दृष्टि से हल्दीघाटी के युद्ध का इतना ही महत्त्व है कि अपने जीवन की मुगलो से हुई पहली टक्कर में उसने ऐसा मुकाबला किया कि एक बार तो उस बहुत बड़ी और अच्छी तरह सजी सेना के छक्के छूट गये, और यह सेना उसे न पकड़ सकी, न सदा के लिए सुला सकी। यह एक स्तर, एक परिमाण, अथवा एक रेखा-सी बन गयी, जिसके आगे कभी अकबर की सेना नहीं जा सकी, और जिसके सम्मान की रक्षा मेवाड़ी सेना प्रताप के जीवन भर करती रही। यह सही है कि मुगलों को 'हल्दीघाटी की विजय जितनी कठिनाई से प्राप्त हुई थी उतनी ही निष्फल सिद्ध हुई,' परन्तु हो यह गया कि उसने अकबर और प्रताप के बीच के सारे संघर्ष का परिणाम निर्धारित कर दिया, वह सारा संघर्ष ही निष्फल सिद्ध हुआ।

हल्दीघाटी के कारण न प्रताप का उत्साह कम हुआ, न सम्मान। नया संकल्प, और नया सहयोग इसके परिणामस्वरूप उसने प्राप्त किया। हल्दीघाटी के युद्ध के पहले उसने अवश्य अकबर के राजदूतों से भेंट की थी, और समझौता-प्रस्तावों पर चर्चा भी की थी, परन्तु हल्दीघाटी के युद्ध के बाद उसका व्यवहार सीधा और सच्चा था; शान्ति-वार्ता त्यागकर जो शाही पक्ष रणांगण में उतर आया है उसने फिर कभी भेंट-वार्ता का अपना अधिकार स्वयं त्याग दिया है, यह मानकर इसके बाद प्रताप ने कभी अकबर से किसी प्रकार की समझौता-वार्ता नहीं की। अपना सर्वस्व न्यौछावर करके अपनी मातृ-भूमि की स्वतंत्रता तथा अपने कुल का सम्मान सुरक्षित रखने का उसने अपना निश्चय फिर से दृढ़ किया, और इसी का फल हुआ कि ऐसे कठिन समय में भी अकबर की कोशिशों को विफल करके सिरोही, जालोर, नाडोल आदि या तो उसका साथ देते रहे या स्वयं अकबर का सामना करते रहे। पड़ोसी प्रदेशों से प्राप्त यह सहयोग वास्तव

1 गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, पृष्ठ 93

में इसका व्यावहारिक प्रदर्शन है कि किसी ने नहीं माना था कि हल्दीघाटी के युद्ध ने मेवाड़ को या प्रताप को 'समाप्त' कर दिया था।

इस युद्ध ने प्रताप को अच्छे सवक भी सिखाये—हल्दीघाटी के युद्ध के वाद इस तरह की जम कर लड़ाई उसने नहीं लड़ी, और वह कभी अकवर की सेना के कावू में भी नहीं आया, यद्यपि इसके वाद वहुत वार इसका प्रयत्न किया गया। संसार के सर्वशक्तिमान सम्राट् की सेना से सीधी टक्कर लेने की स्थिति में उस समय कोई नहीं था। प्रताप ने इस पर भी अकवर को उसकी असीम क्षमता का आजीवन लाभ नहीं उठाने दिया, और उसके रहते मुगल सेना मेवाड़ में अपने मूल उद्देश्यों में सफल नहीं हो सकी।

"हल्दीघाटी का युद्ध राणा की 18 जून 1576 के पूर्व और उसके पश्चात् की नीतियों एवं कार्यों को विभाजित करने वाली रेखा है। इस युद्ध में महत्त्वपूर्ण अनुभव प्राप्त करने के पश्चात् मुगल अधिकृत मेवाड़ को पुनः प्राप्त करने के कार्यक्रम को एक क्रियात्मक रूप दिया जाने लगा। प्रताप ने वहुसंख्यक श्रेष्ठ शत्रु पर सामने से आक्रमण करने की गलती फिर नहीं दुहराई। अव से उसने छापामार युद्ध प्रणाली अपनायी। इस प्रकार का युद्ध प्रदेश की प्राकृतिक दशाओ एवं स्थानीय लोगो और विशेषकर भीलों के लिए विशेष अनुकूल था। इस प्रकार हल्दीघाटी के सवको के फलस्वरूप प्रताप और अकवर के वीच युद्ध का रूप ही वदल गया।"[1]

दूसरा महत्त्व का अनुभव यह रहा कि महाराणा का युद्ध-क्षेत्र से हटना मेवाड़ का पतन नहीं हो सकता। "हल्दीघाटी से हटकर प्रताप अपनी भूमि के हितो की उससे कहीं अधिक सेवा कर सका जितनी वह वहीं अपना वलिदान देकर करता। इस नये अनुभव का उपयोग वह आजीवन करता रहा, इससे जव तक प्रताप जीवित रहा मुगल पूरे प्रयत्न के वाद भी सफल नहीं हुए, वुरी तरह थक अवश्य गये। यह युद्ध-चातुर्य प्रताप अपने उत्तराधिकारियो के लिए थाती के रूप मे छोड़ गया, जिसका सफल उपयोग महाराणा राजसिंह ने औरंगजेव से कई लड़ाइयों में किया। इस तरह एक युद्ध से हटना अपमान की वात नहीं रही, युद्ध-कौशल हो गया।.....प्रताप ने जिस तरह सुरक्षात्मक संग्राम किया वह नयी रण-नीति मानी जाने लगी।"[2]

अकवर इस युद्ध को कितना महत्त्व देता था? स्वयं उसने इसमें भाग नहीं लिया था, और उसने एक ऐसे व्यक्ति को सेनापति वनाकर भेजा था जिसके लिए अपने सेनापतित्व का यह पहला अवसर था। चित्तौड़ की चढ़ाई का संचालन स्वयं अकवर ने किया था, और प्रताप के विरुद्ध भी सेना लेकर आगे चलकर वह स्वयं आया। यह तो वीच का क्षेपक मात्र लगता है। इस युद्ध का परिणाम भी कुछ नहीं निकला—न

1 श्रीवास्तव, पृष्ठ 208

2 गोपीनाथ शर्मा, ग्लोरी, पृष्ठ 70

मुगलों की दृष्टि से, न प्रताप की दृष्टि से। परन्तु यही क्या बड़ी बात नहीं है कि इतना बड़ा सैनिक अभियान आयोजित करके भी अकबर कोई परिणाम नहीं प्राप्त कर सका ?

"1576 के सैनिक अभियान का ध्येय राणा को सम्पूर्णतया नष्ट कर देना था, और उसके साम्राज्य की परिधि से बाहर रहने के दम्भ को भी अंतिम रूप से कुचल देना था। इस प्रयत्न की असफलता से अकबर को घोर निराशा हुई, जो अपने गर्वोन्नत प्रतिद्वंद्वी के लिए भावुकता, कोमलता से विचलित नहीं था। राणा की वह मृत्यु चाहता था, और उसके प्रदेश का अपने साम्राज्य में विलयन। यद्यपि राणा आवश्यकता पड़ने पर अपने जीवन का बलिदान करने के लिए पूर्णरूपेण तत्पर था, वह इसके लिए भी दृढ़-संकल्प था कि वह अपने रक्त को विदेशी से वैवाहिक सम्पर्क स्थापित कर दूषित नहीं होने देगा, और यह भी कि उसका देश स्वतंत्र व्यक्तियों की भूमि बना रहेगा। बहुत पीड़ा सहन करने के बाद वह सफल हुआ, और अकबर असफल।"[1]

स्वयं अकबर को इसकी बड़ी खीज थी।[2] युद्ध की परिस्थिति और परिणाम का विवेचन करने के लिए उसने अपना एक विश्वस्त प्रतिनिधि—जो मार्नासह और प्रतापसिंह की जाति का नहीं था, अकबर की जाति का था, भेजा; मार्नासह के भेजे विवरण पर उसे पूरा विश्वास नहीं हुआ। जो जानकारी उसके पास पहुंची उसके आधार पर वह मार्नासह से इतना अप्रसन्न हुआ कि उसे अपनी सेना जहां की तहां छोड़कर वापस बुला लिया गया, और जब वह पहुंचा, कई दिन तक मार्नासह को दरबार में आने की इजाजत नहीं दी गयी। यही नहीं, इसके बाद मेवाड़ पर आक्रमण कई हुए, लेकिन मार्नासह को फिर से सेनापति नहीं बनाया गया, उसे दूसरों के साथ इन अभियानों मे जाना पड़ा। और जब वह शाहबाजखान के अधीन आगे चलकर मेवाड़ पर चढ़ाई करने आया तब सेनापति शाहबाजखान ने रास्ते से ही उसे लौटा दिया—मार्नासह जैसे सेनानी का इससे अधिक अपमान क्या हो सकता था ! मार्नासह ने सारे देश में मुगल सेनापति के रूप में बड़ा नाम कमाया, परन्तु मेवाड़ ने उसका गौरव नही बढ़ने दिया।

इस पर भी इतिहासकार लिखते हैं, "इस युद्ध को कुंवर के जीवनकाल को नया मोड़ देने वाला माना जाना चाहिये, इससे सहसा ही उसे बहुत प्रसिद्धि प्राप्त हो

---

1 स्मिथ, पृष्ठ 155

2 वह कदाचित् भूल गया था कि 24 दिसम्बर 1572 को जब स्वय उसने इब्राहीम हुसैन मिर्जा के विरुद्ध युद्ध सचालित किया था, और जब इब्राहीम हार कर भाग गया था, उसका भी शाही सेना ने पीछा नही किया था। इसी युद्ध मे अकबर पर मारक आक्रमण हुआ था, जिसे आबेर के राजा भगवन्तदास ने अपनी जान पर खेलकर विफल किया था। इसके लिए उसे झडे और नगाडे से सम्मानित किया गया। 'यह प्रथम अवसर था जब किसी हिन्दू सेनानायक को इस प्रकार का शाही सम्मान और पुरस्कार प्रदान किया गया था।' फिर वह उसी आबेर के मार्नासह से प्रताप का पीछा नही कर सकने के कारण इतना अप्रसन्न क्यो था ? फिरिश्ता (पृष्ठ 238) ने साफ लिखा है, "शाहशाह इस उपलब्धि से (कि मिर्जा भाग गया) सतुष्ट हो गया, उसने उसका पीछा नही किया।"

गयी। यही युद्ध था जिसमें मानसिंह को सेनापति के रूप में अपनी क्षमता एवं आश्चर्यकारी संगठन-शक्ति दिखाने का अवसर मिला।"[1]

इस युद्ध से मुख्यतः तीन व्यक्ति संबद्ध थे—अकबर, प्रतापसिंह और मानसिंह। इस लड़ाई ने एक की भी महत्वाकांक्षा पूरी नही की, एक को भी सन्तोष नहीं दिया, एक का भी सम्मान नहीं बढ़ाया, एक भी अपनी दृष्टि से इसे अन्तिम प्रयत्न नहीं मान सका—बड़ा निरर्थक, परिणामविहीन, यह युद्ध सिद्ध हुआ। फिर भी, इसका भाग्य, इसका बड़ा नाम है !

इसका कारण कदाचित् यह है कि प्रयत्न और परिणाम की दृष्टि से इसे उतना नहीं आंका जाता, इसे देखा जाता है प्रतीक के रूप में, प्रतीक इस बात का कि जब हमारी स्वतंत्रता पर कोई हमला करे, तब बिना यह देखे कि शत्रु संख्या में कितना है और सामान उसके पास कैसे हैं, अपना सब कुछ वारकर उसका सामना करना चाहिये, परिणाम चाहे कुछ भी हो, चाहे इसमें प्राण भी गवांने पड़ें। इस उच्च एवं शाश्वत सिद्धान्त को मेवाड़ी सेना के वीरों ने देश के लिए एक अत्यन्त कठिन और संशयपूर्ण समय में अपने लहू से फिर से पवित्र और प्रज्वलित किया था, और इस कारण हल्दीघाटी असंख्य लोगों के लिए प्रेरणादायी बनी हुई हैं। आज लोग उसके दर्शन करने उसी प्रकार जाते हैं जैसे कोई देव-मन्दिर मे जाता है, उसकी मिट्टी को उसी प्रकार माथे पर लगाते है जैसे कि वह व्रज-रज हो, उसके गीत उसी प्रकार गाये जाते है जैसे कि वहीं भारत देश ने अपना सबसे बड़ा स्वतन्त्रता-संग्राम जीता था।

"पराजित होने पर भी हल्दीघाटी के इस युद्ध ने राणा प्रताप की कीर्ति को अधिक समुज्जवल बना दिया, तथा राजस्थान की स्वाधीनता के एकमात्र क्रियात्मक समर्थक राणा प्रताप की पराजयपूर्ण स्मृति वाला वह युद्ध-क्षेत्र भी स्वतंत्रता देवी की बलिवेदी पर मर मिटने वाले उन स्वामिभक्त देश-प्रेमी वीरो के पुनीत रुधिर से सींचा जाकर राजस्थान की थर्मोपिली और समूचे भारत के स्वाधीनता-प्रेमियों के लिए एक पुण्य पवित्र तीर्थ-स्थान बन गया।"[2]

सबसे पहले जेम्स टाड ने हल्दीघाटी को मेवाड़ की थर्मोपिली और देवेर के मैदान को मेवाड़ का माराथोन कहा था।

यूनान (ग्रीस) के प्राचीन इतिहास में थर्मोपिली को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। यूनान की इस पहाड़ी घाटी का सामरिक महत्व यह था कि आक्रमणकारी इसमें होकर ही यूनान के उत्तरी भाग से दक्षिणी भाग मे पहुंच सकता था। इसके एक किनारे पर थिसिली और दूसरे पर लोक्रिस नगर बसे थे; थिसिली से मध्य यूनान जाने वाला एक मात्र अच्छा मार्ग इसी घाटी में होकर जाता था। घाटी की एक ओर माउन्ट ओएटा

1. प्रसाद, पृष्ठ 34
2 रघुवीरसिंह, राजस्थान, पृष्ठ 57

की पर्वतमाला थी और दूसरी ओर मालिक खाड़ी के किनारे पड़ने वाला अगम्य दलदल। घाटी मुश्किल से 50 फीट चौड़ी थी।

ईसा से 480 वर्ष पूर्व थर्मोपिली में बड़ा भयानक युद्ध हुआ था। बहुत विशाल ईरानी (फारसी) सेना ने यूनान पर आक्रमण कर दिया। राजा लीओनीडास पर इस घाटी की रक्षा का दायित्व था। उसके साथ लगभग 7,000 सैनिक थे। लीओनीडास ने संख्या मे अपनी सेना से कही अधिक ईरानियो के आरम्भिक आक्रमण असफल कर दिये, परन्तु थोड़े समय बाद बहुत से ईरानी सैनिक जब एक पहाड़ी पगडंडी से होकर यूनानी सेना के पीछे पहुंच गये, उसने अपनी सेना के दो भाग कर दिये, और स्वयं 1,400 सैनिको सहित थर्मोपिली घाटी की रक्षा के लिए रह गया। कदाचित् वह ईरानी सेना को घेर लेना चाहता था। इसमें उसे सफलता नहीं मिली, और उसकी छोटी-सी यूनानी सेना पर दो तरफ से मार पड़ने लगी। सिवा 400 सैनिकों के, जिन्होने आत्मसमर्पण कर दिया था, लीओनीडास का एक भी सैनिक नहीं बचा। घनघोर संग्राम में वह स्वयं भी काम आ गया। उसका सिर काट दिया गया, और शेष शरीर लोगों को डराने के लिए ऊंचा टांग दिया गया। उस समय की परिस्थितियो का हमें ज्ञान इतना कम है कि हम लीओनीडास की युद्ध-नीति पर कोई अभिमत नहीं प्रकट कर सकते, परन्तु उसकी वीरता और निष्ठा ने उसके लिए उस समय के ही नहीं आने वाले युगों के मानस मे भी असाधारण स्थान सुरक्षित कर दिया।

इसी घाटी पर 279 ईसा पूर्व और 191 ईसा पूर्व में दो और भयंकर युद्ध हुए। पहली लड़ाई में यूनानी कई महीने आक्रमणकारी को थर्मोपिली में रोकने में सफल रहे, दूसरी मे घाटी के रक्षको को, पूरे प्रयत्न के बाद भी, सफलता नहीं मिली।

सफलता सैनिको को चाहे इस घाटी में नहीं मिली हो, कीर्ति सदा बहुत प्राप्त हुई, और लगभग ढाई हजार वर्ष बीत जाने के बाद भी इस स्थान का नाम शूरवीरता और बलिदान-भावना के पर्याय के रूप मे लिया जाता है। जेम्स टाड ने इसी के नाम से हल्दीघाटी को अभिषिक्त किया।

हल्दीघाटी और थर्मोपिली मे एक और साम्य है। हल्दीघाटी की मिट्टी पीली-सी है तो थर्मोपिली के झरनो के पानी का रंग नीला-सा हरा है। यह पानी बड़ा स्वास्थ्यप्रद माना जाता है। हल्दीघाटी की तरह अब थर्मोपिली का भी प्राचीन स्वरूप नहीं रहा है।

माराथोन भी एक स्मरणीय संग्राम के लिए विख्यात है।

यूनान के एक प्राचीन नगर का यह नाम है। इसी नाम से एक गांव अब भी है। इस नगर के आसपास छः मील लम्बा और तीन से डेढ़ मील चौड़ा एक मैदान है। यहां से प्राचीन नगर एथेन्स को एक सड़क जाती थी जो लगभग 25 मील लम्बी थी।

सितम्बर 490 अथवा 491 ईसा पूर्व में यहां एक भयंकर युद्ध हुआ था, जिसमें यूनानियो ने ईरानियो को बुरी तरह हरा दिया था। यूनानियों के पास 9-10 हजार और आक्रमणकारियो के पास इससे दूनी सेना थी। ईरानी पूरे यूनान पर आधिपत्य प्राप्त करना चाहते थे, एथेन्स पहला लक्ष्य था। उन्हें निर्देश एथेन्स को पराजित करने का और वहां के नागरिकों को बंदी बनाकर ईरान ले आने का था। यूनानियों ने आस-पास की पहाड़ियों पर अपने सैनिक तैनात कर दिये। सारा माराथोन मैदान उनके सामने फैला था। यूनानी आक्रमण करने के लिए आगे बढ़े। परन्तु ईरानियो ने बाण-वर्षा से उनके छक्के छुड़ा दिये। परन्तु वे शीघ्र यूनानियों से घिर गये। मार के तेज होने पर ईरानी भाग खड़े हुए, उनके 6,400 सैनिक खेत रहे। यूनान के सिर्फ 192 सैनिक काम आये। जीत के बाद यह लोग एथेन्स लौट गये, और उस नगर पर हुए आक्रमण को भी असफल किया। इस शानदार जीत के कारण माराथोन का मैदान और संग्राम संसार-प्रसिद्ध हो गया।

ईरानियो की असफलता का कारण यह था कि उन्होने सुरक्षा की समुचित व्यवस्था नहीं की थी, और आगे होकर आक्रमण करने मे भी वे हिचक गये थे, जिससे उन्हें उनकी संख्या के आधिक्य का लाभ नहीं मिला; और अंततः उनकी सेना विभक्त भी हो गयी। यूनानियों ने बड़ी फुर्ती से काम किया और वे अपनी सारी शक्ति निर्णायक युद्ध के लिए संजोने में सफल हुए, और ईरानी सेना के एक भाग को उन्होने एकदम दबा दिया। माराथोन में परिस्थिति जानबूझकर चाहे न बनायी गयी हो, परन्तु जो अवसर प्राप्त हुआ उसका बड़ी ही कुशलता से उपयोग किया गया।

रणनीति का यह विश्लेषण हल्दीघाटी के युद्ध पर भी लागू किया जा सकता है जहां मार्नासिह अपनी संख्या के आधिक्य का लाभ नहीं उठा सका था।

वास्तव मे यह उपमा जेम्स टाड ने आगे चलकर हुए देवेर के युद्ध के लिए दी है, जहां मेवाड़ी सेना ने सचमुच बहुत गौरवशाली और निर्णायक जीत प्राप्त की थी।

मानना होगा कि जेम्स टाड ने अपने दोनो उदाहरण बड़ी चतुरता से चुने थे।

मार्नासिह ने हल्दीघाटी के युद्ध के बाद जो कुछ भी किया, और जिसके कारण उसे अकबर का कोपभाजन बनना पड़ा, उसका एक और पक्ष धीरे-धीरे सामने आने लगा है। प्रश्न यह उठ रहा है कि क्या मार्नासिह के मन मे भीतर ही भीतर प्रताप के प्रति श्रद्धा-भाव था? अपनी मार्नासिह की जीवनी मे डा. राजीव नयन प्रसाद हल्दीघाटी की लड़ाई की समाप्ति पर महाराणा का पीछा नहीं किये जाने के मुस्लिम इतिहास-कारों के कारण देने के बाद—"हवा भट्टी-सी जल रही थी, यह भ्रम फैला हुआ था कि प्रताप अपने सैनिको के साथ पहाड़ों में छिपा बैठा है, जो जायेगा उसे अपनी जान से हाथ धोने पड़ेंगे, सैनिक इतने थक गये थे कि वे आगे बढ़ने की हालत ही में नहीं थे"—लिखते है, "जो सेना हार गयी थी उसका पीछा नहीं करने का वास्तविक कारण कुछ और था। कुंवर (मार्नासिह) का मुख्य लक्ष्य पूर्ण रूप से पराजित करके प्रताप को नीचा

दिखाना भर था, वह न उसे सताना चाहता था, न उसे किसी तरह की यातना देना चाहता था; क्योंकि सिर्फ उसी के मन में नहीं, समस्त कछवाहा राजपूतों के मन में प्रताप के प्रति उस समय भी सम्मान का भाव था। यही कारण था कि युद्ध के समाप्त होते ही कुंवर ने राणा के सैनिको का पीछा करने से रोक दिया ताकि उन्हे शर्मिन्दगी नहीं उठानी पड़े।

"राणा के प्रति इस प्रकार के भाव की बात का समर्थन कई सूत्रों से होता है। 'हकीकत-इ-हिन्दुस्तान' में लक्ष्मीनारायण कहते है : "कुंवर ने अपने सैनिकों को राणा का प्रदेश लूटने से मना कर दिया था।" 'तबाकत-इ-अकबरी' में ख्वाजा निजामुद्दीन कहते है : "गोगूदा जाने वाली सड़के इतनी मुश्किल थीं कि वहां अनाज थोड़ा और कठिनाई से ही पहुंचता था, और सेना करीब-करीब भूखो मरने लगी। मानसिंह को शीघ्र वापस आने के आदेश भेजे गये, और वह बिना समय लगाये शाही सिंहासन की सेवा में आ उपस्थित हुआ। जब सेना की कठिनाइयो की जांच की गयी, यह पता लगा कि यद्यपि सैनिक इतनी कठिनाइयो में थे, कुंवर मानसिंह को यह स्वीकार नही था कि राणा कीका की भूमि को लूटा जाये। इस कारण शाहंशाह उससे रुष्ट हो गया, और कुछ समय के लिए उसे दरबार से निकाल दिया गया।" यही नहीं, मानसिंह को माफी किस शर्त पर दी गयी यह भी इस प्रतिष्ठित मुस्लिम लेखक ने स्पष्ट किया है— "थोड़े समय बाद उसे माफ कर दिया गया, और एक सेना सौंपकर उसे राणा का देश ध्वंस करने भेजा गया।"

"यह बात मानसिंह का मन्तव्य स्पष्ट करती है कि उसने ऐसे समय में लूटमार नही करने के आदेश दिये जब कि उसके सैनिक खाद्य पदार्थों के अभाव में भूख से बहुत परेशान थे।

"बदायूनी ने लिखा है कि मानसिह और आसफखान कुछ समय तक स्वयं उपस्थित होकर बादशाह के प्रति अपना सम्मान नहीं प्रकट कर सके। कुंवर मानसिंह ने धैर्य से बादशाह की अप्रसन्नता सहन की, परन्तु जो कुछ उसने किया था उसके लिए वह कभी नही पछताया।"[1]

इस विवरण के साथ पढ़ने पर बदायूनी का निम्न कथन और भी साफ हो जाता है, जिसे डा. राजीव नयन प्रसाद ने उद्धृत किया है : "और इस समय, जब गोगूंदा में (मुगल) सेना को जो कष्ट हो रहे थे उसके समाचार बादशाह को मिले, उसने आदेश भेजे कि मानसिह, आसफखान और काजीखान वहां से बिना किसी और को साथ लिये चले आयें, और उनकी कुछ गलतियो के कारण उसने कुछ समय के लिए मानसिंह और आसफखान को (जो इस विश्वासघात में साझीदार था) दरबार में आना रोक दिया; जबकि, दूसरी तरफ, गाजी खान बदख्शी, मिहतरखान, अलीमुराद उजबेक, खांजकी

1. प्रसाद, पृष्ठ 50

तुर्क, तथा एक-दो अन्य को, जिनमें मैं भी था, इनसे (मानसिंह-आसफखान से) पृथक् करके पुरस्कार तथा पदोन्नति से सम्मानित किया गया। परन्तु बाकी सबको, यद्यपि सम्मान के स्तर से तो वे नीचे गिर गये, बिना कोई सजा दिये छोड़ दिया गया।"[1]

"यहां प्रश्न उठता है: मानसिंह तथा आसफखान ने ऐसी कौन-सी गलती की थी कि वे बादशाह के निकट इतने अप्रिय हो गये? हल्दीघाटी के युद्ध में कुंवर मानसिंह ने गौरवपूर्ण विजय प्राप्त की थी, जिसके लिए बादशाह को कुंवर से प्रसन्न होना चाहिये था न कि वह उससे रुष्ट होता। बादशाह की नाराजी का मुख्य कारण यही था कि कुंवर राणा का पीछा करने अथवा पकड़ने में तथा उसके प्रदेश को विनष्ट करने में असफल रहा था। राणा बादशाह का बहुत बड़ा शत्रु था, और यदि कुंवर ने राणा को पकड़ लिया होता या उसे परेशान किया होता तो वह (बादशाह) बहुत ही प्रसन्न होता।"[2]

विद्वान लेखक का अभिमत यह है कि मानसिंह की यह 'असफलता' नहीं थी, उसने जानबूझकर प्रताप को न पकड़ा था न सताया था। इसे माना जा सकता है, क्यों कि मेवाड़ और उसके महाराणा के प्रति, कुंभा और सांगा के कुल के प्रति, उस समय इसी तरह के भाव थे, और यदि कठिन घड़ियो में शक्तिसिंह अकबर को छोड़कर वापस अपने 'देश' की सेवा में जा सकता था तो यह भी हो सकता है कि मानसिंह के हाथ उसे पकड़ने में कांप गये हो जिसके कुल की सेवा अकबर के ही जीवन के आरम्भ तक आंबेर के राजकुल के लोग किया करते थे। एक बेटी देने पर तो आंबेर का कुल राजपूतों में इतनी हेय दृष्टि से देखा जाने लगा था, अब यदि मानसिंह अपने हाथों उस प्रताप को पकड़ लेता जो 'हिन्दुआ सूर्य' कहलाता था तो जो भर्त्सना मानसिंह को और उसके उत्तराधिकारियों को सहनी पड़ती उसकी ओर उसकी दूरदृष्टि उस समय गयी हो, इसमें आश्चर्य नहीं माना जाना चाहिये।

और यदि ऐसा था तो अकबर की समझ में भी कदाचित् यह आ गया—इसी लिए उसने इसके बाद कभी मेवाड़-अभियान की बागडोर मानसिंह को नहीं सौंपी।

"मानसिंह अकबर का स्वामिभक्त सेवक था, और प्रतापसिंह के प्रति उसके प्रेम का कोई कारण नहीं था, जिन राजपूतों ने मुसलमानो को, चाहे वे शाही परिवार के ही हों, अपनी बेटियां और बहनें दे रखी थीं उनके संबंध में प्रताप की सम्मति सर्वविदित थी, फिर भी मानसिंह से यह अपेक्षा करना अधिक ही था कि वह अपनी जाति के प्रमुख को मृत्यु के नहीं तो अपमान के हाथो सौंपकर अपने को सदा के लिए कलंकित कर लेगा। इसमें संदेह नहीं कि उसने राणा को पकड़ने का अवसर हाथ से निकल जाने दिया था। अकबर को ऐसे दायित्व का भार एक राजपूत पर नहीं डालना चाहिये था, और अब ऐसा लगता है कि वह समझने लगा था कि अपने सेवक की स्वामिभक्ति की उसने

---

1. अल् बदायूनी, दूसरा भाग, पृष्ठ 247
2. प्रसाद, पृष्ठ 53

ज्यादा ही कड़ी परीक्षा ले ली थी, क्योंकि कुछ दिन बाद ही मानसिंह और उसके अधिकारियों को क्षमा कर दिया गया और उनके दरबार में आने पर लगी रोक हटा दी गयी।"[1]

## अकबर मेवाड़ में

जो भी हो, प्रताप और मानसिंह ने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी---एक ने अपने सक्रिय प्रयत्नों से और दूसरे ने यह दर्शाकर कि मेवाड़ में वह मूल उद्देश्यों में सफल नहीं हो पा रहा है---कि अकबर को स्वयं सेना लेकर मेवाड़ पर चढ़ाई करनी पड़ी।

हल्दीघाटी का युद्ध समाप्त होने के बाद न मुगल सेना ने प्रताप की सेना का पीछा किया, न मेवाड़ की सेना ने मानसिंह की सेना का : उस समय परिस्थिति ऐसी हो गयी थी कि दोनो ओर से यथास्थिति को श्रेयस्कर ही समझा गया।

प्रताप पहाड़ी रास्तो में होकर पीछे हट गया। उसने गोगूंदा ठहरना भी ठीक नहीं समझा, उदयपुर की ओर जाने का प्रश्न ही नहीं था, वह इन दोनों के दक्षिण-पश्चिम में बसे छोटे से गांव कोल्यारी पहुंचा।[2] आसपास के पर्वतीय प्रदेश में सुरक्षित निवास योग्य कई स्थल थे। उसकी बची हुई सेना भी आ गयी। जो लोग घायल हो गये थे, उनका इलाज कराया गया। आगे की समर-नीति पर विचार-विमर्श किया गया।

कदाचित् इन्हीं क्षणो में प्रताप ने अपनी सैनिक नीति बदलने का निश्चय कर लिया---जिसे जीता नहीं जा सके उसके आगे जान देना वृथा है, परन्तु न उसे चैन से कहीं ठहरने दिया जाये, न जहां भी उसका कब्जा जरा भी ढीला दिखायी दे उसे उस जगह टिकने दिया जाये। मुगल जो जगह लेते, प्रताप मुख्य मुगल सेना के हटते ही उस जगह पर फिर से कब्जा कर लेता। यह क्रम उसने वर्षों चलाया, और इसी के सहारे उसने अपना सारा प्रदेश फिर से मुगल सेना से छीन लिया, और अंततः उसने अकबर की महत्वाकांक्षा पूरी नहीं होने दी। अपने से बड़ी, साधन-सम्पन्न, रणकुशल, चारों ओर विजय-प्राप्त सेना का सामना करने के लिए इससे अच्छी नीति नहीं हो सकती थी। हल्दीघाटी के युद्ध के बाद दोनों ओर की मुख्य सेनाओ का खुलकर सामना होने का दूसरा अवसर नहीं आया, इसके बाद जो मुठभेड़ें होती रहीं, और यह सालो चलती रहीं, वे 'गुरिल्ला युद्ध' के नाम से प्रचलित है। प्रताप ने इस युद्ध प्रणाली को बहुत परिष्कृत किया, और इसमें बहुत सफलता प्राप्त की।

युद्ध समाप्त होने पर मानसिंह भी अपनी सेना सहित पीछे हटकर बनास के किनारे अपने शिविर में आ गया। अगले दिन मुगल सेना फिर आगे बढ़ी। गोगूंदा

---

1 'केम्ब्रिज हिस्ट्री', पृष्ठ 117

2. चारण परम्परा के अनुसार प्रताप कोल्यारी नहीं, कालोडा गया था। जैसा कि कहा गया, कालोडा लोहसिंह के पास पहाडो मे है। वही एक प्रसिद्ध वैद्य रहता था। कोल्यारी हल्दीघाटी से दूर पड़ता है, प्रताप उस समय घायल था।

पहुंचने पर मालूम हुआ कि प्रताप नगर खाली कर चुका है। वहां 20-25 लोग रह गये थे, जिन्होंने आक्रमणकारी का विधिवत् विरोध किया, और अपना वलिदान देकर यह सिद्ध कर दिया कि स्वेच्छा से मेवाड़ की इस सामयिक राजधानी को शत्रु को नहीं सौंपा जा रहा है।

मानसिंह अपनी सेना के साथ सितम्बर के अन्त तक गोगूंदा में रहा, लगभग चार महीने। इन दिनों मेवाड़ की सेना का मुख्य काम उसकी रसद पहुंचाने में वाधा डालना, जो शाही दस्ते हिम्मत करके रसद एकत्रित करने गोगूंदा से वाहर आएं उन पर बरावर लुके-छिपे हमला करना ताकि और सैनिक वाहर आने का साहस नहीं कर सकें, और जहां तक हो सके शाही कब्जे में आयी मुख्य भूमि से इस शिविर को जोड़ने वाले सभी मार्गो को संकट-पूर्ण रखना था ताकि सीधी रसद सामग्री भी नहीं पहुंच सके। आसपास की भूमि इतनी विनष्ट हो चुकी थी कि कोई स्थानीय उपज भी मुगलो के हाथ नहीं लगती थी। वनजारे यदि सामान लेकर शाही शिविर की तरफ जाने का प्रयत्न करते थे तो उन्हें भी वहां तक पहुंचने नहीं दिया जाता था। मुगल सेना भूख से परेशान हो जाये, कोशिश यह थी।

गोड़वाड़ के परगनो और पश्चिमी मेवाड़ के पहाड़ी प्रदेश में पूरी नाकेवन्दी की गयी, जिससे गुजरात-मेवाड़ और मेवाड़-मालवा के मार्गो से सहायता और सामग्री का आना संभव नहीं रहा। मेवाड़ी सैनिकों ने अजमेर-गुजरात मार्ग का चलना भी कठिन कर दिया। उदयपुर और खानपुर के पहाड़ी क्षेत्र में प्रताप स्वयं घूमने लगा, और जहां मुगल सैनिक मिलते उन पर हमले किये जाने लगे।

कोल्यारी के पर्वतीय प्रदेश से प्रताप थोड़े ही दिन वाद कुम्भलगढ़ पहुंच गया। वहीं से उसने सैन्य संगठन फिर से दृढ़ करना आरम्भ किया, और मेवाड़ के जिस मध्यवर्ती भाग को क्षति अधिक पहुंची थी वहां के नागरिक जीवन में सामान्यता लाने का प्रयत्न किया। हल्दीघाटी के युद्ध के तीन महीने वाद के दो ताम्रपत्र प्राप्त हुए है जो प्रताप ने कुम्भलगढ़ से दिये थे, इनमें मध्य मेवाड़ के गांव पीपली और सयाना वलभद्र को देने के आदेश है। इससे सिद्ध होता है कि जो प्रदेश एक वार शत्रु-सेना के कब्जे में आ गया था उस पर अपना प्रभाव वढ़ाने का प्रयत्न प्रताप करने लगा था, और वहां अपने समर्थकों की स्थिति सुदृढ़ कर रहा था जिससे मुगलो का प्रभाव कम हो।[1]

अपने अधीन मेवाड़ के वाहर से भी सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न इसी वीच प्रताप ने किया। जो राजा अकवर का विरोध कर सकते थे उनसे उसने सम्पर्क किया, और सबको मिलाकर अकवर से लड़ने के लिए संयुक्त मोर्चा वनाने की कोशिश की। उसका सवसे पहले ध्यान अपने श्वसुर ईडर के राजा नारायणदास की ओर गया। वह मुगल सेना द्वारा जीता जा चुका था। उसे फिर से विद्रोह का झंडा उठाने को प्रताप ने

1. गोपीनाथ शर्मा, मेवाड़, पृष्ठ 94

प्रेरित किया। सिरोही के राव सुरतान को उसने अपनी सहायता के लिए आने के लिए आमन्त्रित किया। जालोर में ताजखान का राज्य था। उससे सम्पर्क करके प्रताप ने उसकी सहानुभूति और सहायता प्राप्त कर ली। ये सब मिलकर अरावली पहाड़ के दोनों तरफ लूटपाट और गुजरात की तरफ के शाही थानों पर हमला करने लगे।

नाडोल में चंद्रसेन फिर से सिर उठाने लगा। सम्भवतः उससे भी प्रताप का सीधा सम्पर्क बैठ गया था। बूंदी में फिर से उठे उपद्रव का इस प्रयत्न से सम्पर्क था, ऐसा नहीं लगता, लेकिन उस राज्य का मेवाड़ से इतना सम्बन्ध था कि वहां फिर से मुगल दबदबा जमाने के लिए बड़ी सेना भेजना आवश्यक हो गया।

अकबर के बुलाने पर मानसिंह गोगूंदा से चला गया था, परन्तु मुगल सेना का बड़ा भाग वहीं रह गया था। इसकी स्थिति दिन प्रति दिन और भी खराब होती गयी, क्योंकि प्रताप की ओर से छुटपुट हमलों का क्रम बराबर बढ़ता जाता था। गोगूंदे से निकलना मुश्किल हो गया था, और वहां रसद पहुंच नहीं पा रही थी। जब कभी थोड़े आदमी रसद आदि लेने के लिए बाहर निकलते थे, मेवाड़ी सैनिक मौका पाते ही उन पर हमले कर देते थे। हो यह गया था कि "शाही फौज के आदमी हवालाती कैदियों के मुवाफिक गोगूंदे में पड़े थे। जो कभी थोड़े आदमी रसद वगैरह लेने के लिए फौज से अलहदा जाते तो उन पर महाराणा के राजपूतों का धावा होता था। जब शाही फौज के लोग बहुत घबरा गये और खाना-पीना न मिल सका तब मेवाड़ के राजपूतों से लड़ते-भिड़ते पहाड़ों से निकलकर बादशाह के पास अजमेर पहुंचे। बादशाह इन लोगों पर बहुत नाराज हुए, लेकिन पीछे सब हाल सुनकर इनको बेकसूर समझा"।[1]

प्रताप अपनी सेना के साथ कुम्भलगढ़ से नीचे उतर आया। वह फिर से कोल्यारी पहुंचा, जहां हल्दीघाटी की लड़ाई के बाद वह आकर ठहरा था। वहां से वह गोगूंदा गया। ज्यादातर मुगल सैनिक वहां से जा चुके थे, बाकी बचे सैनिकों को भी खदेड़ दिया गया। वहा फिर से प्रताप का अधिकार हो गया। गोगूंदा में सुरक्षा आदि की व्यवस्था करके प्रताप सेना सहित आगे बढ़ा। मजेरा गांव में राणेराव तालाब की पाल पर पहुंचने पर कई और सैनिक दस्ते भेजे गये। जहां-जहां मुगल सैनिक थाने स्थापित करके रह रहे थे, वहां से उन्हें खदेड़ दिया गया। मेवाड़ के इस भाग पर फिर से महाराणा का आधिपत्य हो गया। प्रताप ने अब गोगूंदा को अपना थाना बनाया, और वहां की रक्षा के लिए मांडण कूंपावत को नियत किया। प्रताप स्वयं कुम्भलगढ़ चला गया। वहां भी नया किलेदार रखा गया, महता नर्बद।

'इस प्रकार बादशाह की महाराणा प्रतापसिंह पर की पहली चढ़ाई निष्फल हुई, जिससे बादशाह की क्रोधाग्नि और भी भड़क उठी।' जिसे हरा देने की बात इतनी की गयी थी, उसका इस प्रकार फिर से सुदृढ़ हो जाना अकबर को सहन कैसे हो सकता

1. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 155

था ? 'जब यह खबर बादशाह अकबर को मिली तो वह गुस्से होकर उसी संवत् व सन् में मेवाड़ की तरफ आया ।'

प्रताप का सीधा सामना करने के पहले, अकबर ने आसपास के प्रदेश पर अपना दबदबा दुरुस्त किया ।

बूंदी में बहुत गड़बड़ी हो रही थी। वहां के राजा राव सुर्जन का पुत्र दुर्जनसाल अकबर की सेवा मे था। अकबर द्वारा अपने छोटे भाई के बूंदी का उत्तराधिकारी घोषित किये जाने के कारण, वह रुष्ट हो गया और बिना अनुमति शाही शिविर छोड़ आया, और बूंदी के आसपास उपद्रव मचाने लगा। उसकी विद्रोही उपद्रवी कार्रवाई 'समाप्त' करने और बूंदी के लोगो को 'शांति' देने के लिए अकबर ने अपनी सेना भेजी। सफदरखान, बहादुरखान, मुहमद हुसैन शैख, कनदार राय, जनदुन सुलतान, जयमल आदि 'वीर सेनानी' उस सेना के साथ किये गये ।

अकबर स्वयं 26 सितम्बर 1576 को अजमेर पहुंचा। वहां से मानसिंह को विदा करके वह तीन महीने पहले ही तो गया था ।

अजमेर में मानसिह, आसफखान आदि गोगूंदा से लौटकर अकबर की सेवा में उपस्थित हुए। यदि शाहंशाह उनसे नाराज भी था तो स्थिति बदलते देरी नहीं लगी।

अबुल्फज्ल ने इनको 'स्वामिभक्त समुदाय' कहा है, और कहा है कि इन लोगों ने 'विवेक के कारण' राणा प्रताप का पीछा नहीं किया था। राणा के सैनिक आकर गोगूंदा पर हमले करने लगे और रसद पहुंचने में दिक्कत होने लगी, अतएव यह लोग पर्वतीय प्रदेश छोड़ कर चले आये थे। 'कपटी और अवसरवादी' लोगों ने बादशाह के कान भरने की कोशिश की कि 'शत्रु का नाश करने में ढिलाई बरती गयी है', और मानसिह आदि करीब-करीब शाहंशाह के गुस्से का शिकार हो ही गये थे। परन्तु अकबर ने सारी बात का स्वयं विवेचन किया, और 'कपटी और अवसरवादी' लोगो की एक नहीं चली।

यदि तत्कालीन परिस्थिति का निष्पक्ष अध्ययन किया जाये तो बिना कठिनाई स्पष्ट हो जायेगा कि मानसिंह ने जो कुछ किया उसके अतिरिक्त कुछ भी करना कठिन था। मेवाड़ के इतिहासकार डा. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने भी कहा है, "हमारी सम्मति में कुंवर मानसिह पर जो अपराध लगाया गया, उसका वह दोषी नहीं था, क्योंकि बदायूनी के कथनानुसार कुंवर एक-एक अमीर की अध्यक्षता मे सैनिकों को अन्न लाने के लिए बराबर भेजा करता था, परन्तु गोगूंदे के आसपास का प्रदेश विकट पहाड़ियों वाला होने के कारण वहां लूट करने पर भी सेना के लिए पर्याप्त अन्न मिलने की संभावना ही न थी। जिन लोगो ने इस प्रदेश को देखा है वे ही वहां की स्थिति का ठीक-ठीक अनुमान लगा सकते है। इसके अतिरिक्त वहां अन्न न पहुंचने का यह भी कारण था कि जहां कहीं शाही फौज के आदमी अन्न लेने के लिए जाते वहीं उन पर राजपूत हमला करते थे : मेवाड़

के निकट के शाही इलाकों से भी अन्न नहीं आ सकता था, क्योंकि रास्ता राजपूतों और भील लोगो ने रोक रखा था।"[1]

अकबर ने सारी स्थिति को ठीक-ठीक समझा। मानसिंह के प्रयत्न और परिस्थिति की विकटता का उसने स्वयं अंदाज लगाया। जो काम मानसिंह जैसा सेना-नायक नही कर सका था, उसकी कठिनता समझकर उसने स्वयं उस काम को अपने हाथ में लेने का निश्चय किया। 'कीका के प्रदेश को विनष्ट करने के लिए' मेवाड़ पर स्वयं सेना ले जाने का उसने आयोजन किया।

पहले जालोर और सिरोही शाही सेना भेजी गयी। इन दोनो क्षेत्रो में साम्राज्य-विरोधी कार्रवाइयो के कारण यह भय हो गया था कि उधर से प्रताप को सहायता पहुंच सकती है।

जालोर के ताजखान और सिरोही के राव सुरतान ने अकबर के अंतिम गुजरात अभियान में अधीनता मान ली थी, परन्तु मन से उन्होंने शाही पक्ष स्वीकार नहीं किया था। शाही दबदबा कम होते ही उन्होने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी थी, और महाराणा प्रताप से मैत्री संबंध जोड़ लिये थे। सब मिलकर गुजरात के शाही प्रदेश को संकट में डाल सकते थे, यह स्पष्ट था। अकबर इन संबंधों को समाप्त करवाकर प्रताप के प्रदेश की घेरेबन्दी पूरी करना चाहता था, और गुजरात को संभावित संकट से बचाना चाहता था।

तरसुनखान, राय रार्यसिंह, सैयद हाशिम बारहा, और 'अनेक चतुर योद्धा' सेना के साथ जालोर और सिरोही जाने के लिए नियत किये गये। इन लोगो को स्पष्ट आदेश थे, 'पहले वे विद्रोहियो को समझाबुझा कर सम्राट् की सेवा में लाने का प्रयत्न करें। यदि इस तरह काम बन जाये तो ये युद्ध नहीं करे, और उन्हे शाही मेहरबानियो का भरोसा दिलायें। नहीं तो वे पूरी ताकत से जो सिर उठाये उसे समाप्त कर दें।'

यह सेना पहले जालोर गयी, जहां ताजखान ने आत्मसमर्पण कर दिया। बाद में शाही सेना सिरोही पहुंची। वहां भी इसी प्रकार बिना लड़े काम बन गया। ताजखान और राव सुरतान सम्राट के सम्मुख स्वयं उपस्थित होने के लिए रवाना हुए। तरसुन-खान को पट्टन-गुजरात और सैयद हाशिम तथा राय रार्यसिंह को गुजरात की सीमा पर नादोत नामक कस्बे में नियत किया गया। 'राणा के प्रदेश मे आने-जाने के मार्ग इस तरह बंद कर दिये गये।'

यह याद दिला कर कि 'शाहंशाह अकबर जो मामले उसके सेवक नहीं निपटा सकते उनकी ओर अपनी पवित्र आत्मा लगाता है', अबुल्फज्ल ने मेवाड़ पर अकबर की चढ़ाई का अच्छा वर्णन किया है।

11 अक्टूबर 1576 को, 'यद्यपि कि बाहर निकलने का बहाना शिकार-यात्रा था', और स्वयं शाहंशाह के साथ ज्यादा सैनिक नहीं थे, सैनिक अभियान आरम्भ

---

1 ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 756

हुआ; थोड़ी ही देर में 'बहुत बड़ी सेना' सामने आ गयी। उस समय 'दरबार में उपस्थित होने का जिन्हें सौभाग्य प्राप्त था', ऐसे विभिन्न श्रेणियों के अधिकारी तथा बहुसंख्यक शाही सेवक इसके साथ थे। 'शिकार' पर निकले सैनिक सिर से पैर तक किस तरह लोहे से लैस थे, जिरहबख्तर से सजे थे, इसका वर्णन करते समय अबुल् फज्ल को शायरी का सहारा लेना पड़ा है :

> वीर सिर से पैर तक लोहे में डूबे थे,
> सामने से वे दर्पण से दीखते थे।
> एक तो ऐसा लोहे से मढ़ा था,
> उसकी भौंहें सूइयों जैसी लगने लगी थीं।

अकबर इस तरह से तैयार सेना के साथ अजमेर से गोगूंदा के लिए रवाना हुआ।

यहां एक विशेष आदेश का उल्लेख है कि जिन अधिकारियों को सेना की सुरक्षा के लिए प्रतिदिन नियुक्त किया जाये वे आते और जाते, दोनो बार, शाहंशाह के सामने 'कोर्निश' करें।[1]

कोर्निश के बारे में अकबर ने यह नियम बनाया था कि अभिवादन करने वाला सामने जाकर धीरे से बैठे। सीधे हाथ से मुट्ठी बांधकर हथेली का पिछला भाग जमीन पर टेके और धीरे से सीधा उठाये। दाहिने हाथ से तालू पकड़कर इतना झुके कि दोहरा हो जाये और एक सुन्दर ढंग से दाहिनी ओर को झुका हुआ उठे। इसी को कोर्निश कहते थे। इसका अर्थ यह था कि उसका सारा जीवन अकबर पर ही निर्भर है। उसे वह हाथ पर रखकर भेंट करता है। स्वयं आज्ञापालन के लिए उद्यत होता है और शरीर तथा प्राण बादशाह के सुपुर्द करता है। इसी को तस्लीम भी कहते थे।

जब किसी को नौकरी, छुट्टी, जागीर, मंसब, पुरस्कार, खिलअत, हाथी या घोड़ा मिलता था, तब वह थोड़ी-थोड़ी दूर पर तीन बार तस्लीम करता हुआ पास आकर नजर करता था, और जब किसी पर और किसी प्रकार की कृपा होती थी, तब वह एक बार तस्लीम करता था।

जिन लोगों को दरबार में बैठने की आज्ञा मिलती थी, वे आज्ञा मिलने पर झुककर अभिवादन करते थे, जिसे सिजद-इ-नियाज कहते थे। आज्ञा थी कि ऐसे अवसर पर मन में यह भाव रहे कि मैं झुककर जो यह अभिवादन कर रहा हूं, वह ईश्वर के प्रति कर रहा हूं। 'केवल ऊपर-ऊपर से देखने वाले कम-अक्ल लोग समझते थे कि यह मनुष्य-पूजन है, मनुष्य को ईश्वर का स्थानापन्न मानकर उसका अभिवादन किया जाता है।' अकबर की आज्ञा थी कि ऐसे अभिवादन के समय मन में उसका नहीं, बल्कि ईश्वर का ध्यान रहे। सब लोग सब अवसरों पर ऐसा अभिवादन नहीं कर सकते थे। यहां तक

---

1 'अकबरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 269

कि दरबार आम या सार्वजनिक दरबार में विशिष्ट कृपा पात्रों को भी इस प्रकार अभिवादन न करने की आज्ञा थी।[1]

जो लोग शाही सेवा में थे वे जानते थे कि कब क्या करना चाहिये। फिर इस विशेष आदेश का अभिप्राय क्या था ? कदाचित् जिस प्रदेश के लोगो के बीच से अकबर की सेना निकले उन पर वह रोब डालना चाहता था, दिखाना चाहता था कि बड़े-बड़े राजा-सरदार किस तरह उसका सम्मान करते है। इसी संदर्भ में ठीक अगले वाक्य का कुछ अर्थ हो सकता है, 'सौभाग्य के झंडे जब अपने लक्ष्य के निकट पहुंचने लगे, उस देश के अनेक उद्दंड व्यक्तियों ने आज्ञापालन में अपना मस्तक झुकाया।'[2] अकबर का वास्तविक उद्देश्य मेवाड़ की प्रजा को भयभीत करना और उनके महाराणा को अपनी अधीनता मानने के लिए मानसिक रूप से विवश करना था।

परन्तु राणा शाहंशाह के आने पर 'अपमान के प्रदेश' में जाकर छिप गया। 'सावधानी और दूरदृष्टि' से कुतुबुद्दीनखान, राजा भगवन्तदास और कुंवर मानसिंह को शाही सेना के कुछ दस्तों के साथ प्रताप को पहाड़ियों और घाटियो में ढूंढने के लिए भेजा गया। 'उन्हें आदेश दिये गये कि वे राणा कीका के देश को रौंद डालें। उसे लूटें और नष्ट करें, और जहां भी उसके होने की खबर मिले उसी ओर उसका पीछा करें और उसे परेशान करें और उसे नष्ट कर दें।'

उसी दिन कुलीनखान, ख्वाजा गियासुद्दीन, अली आसफ खान, मीर गियासुद्दीन, अली नाकिब खान, तिमूर बदख्शी, मीर अब्दुलगयोस, नूरम कुलीज, तथा 'बहुत से अन्य वीरो तथा अनेक सैनिकों को' ईडर रवाना किया गया ताकि वे 'अकृतज्ञ लोगो की निरर्थक उपज उस क्षेत्र से समाप्त कर दें'। ईडर के राजा नारायण दास ने 'दुस्साहस का झंडा' उठाकर प्रताप के पक्ष में सरगर्मी मचा रखी थी।

'जिस धर्म में उसका जन्म हुआ था उसमे अकबर की लगन की लौ आखिरी बार देखने मे आयी।' उसका बहुत मन हज की यात्रा पर जाने का हुआ, परन्तु अपने 'उच्चा-

---

1 'अकबरी दरबार', पहला भाग, पृष्ठ 209
जहांगीर के समय मे किसी बात की परवाह नहीं थी, इसलिए प्राय यही प्रथा प्रचलित रही।
शाहजहा के शासनकाल मे पहली आज्ञा यही हुई कि इस प्रकार का सिजदा बन्द हो क्योंकि ऐसा सिजदा धार्मिक दृष्टि मे एक ईश्वर को छोडकर और किसी के लिए उचित नहीं है। महावत खान सेनापति ने कहा कि बादशाह के अभिवादन मे और साधारण अमीरो के अभिवादन मे कुछ अन्तर होना आवश्यक है। यदि लोग सिजदा करने के बदले जमीन चूमा करे तो अच्छा हो, जिसमे स्वामी और सेवक, राजा और प्रजा का सम्बन्ध नियमबद्ध रहे। निश्चय हुआ कि अभिवादन करने वाले दोनो हाथो को जमीन पर टेक कर अपने हाथ का पिछला भाग चूमा करे। कुछ सतर्क लोगो ने कहा कि इसमे भी सिजदे का कुछ रूप निकल आता है। राज्यारोहण के दसवें वर्ष यह भी बन्द हो गया और इसके बदले मे चौथी तस्लीम और बढा दी गयी। शेख, सैयद और विद्वान आदि सेवा मे उपस्थित होने के समय वही सलाम करते थे, जो शरअ से अनुमोदित है और चलने के समय फातहा पढ कर दुआ देते थे। जान पडता है कि यह तुर्किस्तान की प्राचीन प्रथा है, क्योंकि वहा अब भी यही प्रचलित है। बल्कि साधारणत सभी प्रकार की संगतियो मे और सभी भेंटो मे यही ढग बरता जाता है।

2 'अकबरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 269

अधिकारियों के निवेदन पर' उसने यह विचार छोड़ दिया। फिर भी, बड़ी तैयारी हज यात्रा की की गयी, और शाही आदेश निकाल दिये गये कि जो भी यात्रा पर जाना चाहे उसका खर्च शाही खज़ाने से दिया जाएगा। सुल्तान ख्वाजा को मीर हाजी (यात्रियो का नेता) नियुक्त किया गया। उसे छः लाख रुपये, 12,000 खिलअत (शाही पोशाक) और वहुत-सा सामान मार्ग में, तथा मक्का-मदीना में, लोगों को बांटने के लिए दिया गया। यह भी आदेश दिये गये कि उन पवित्र नगरो के धार्मिक तथा निर्धन लोगो की सूची वनायी जाये ताकि प्रतिवर्ष शाही खजाने से उन्हे सहायता पहुंचायी जा सके। 'इससे पहले कभी भारत से इतने यात्री हज यात्रा पर नहीं गये थे।' सम्राट अकवर स्वयं, नंगे सिर और नंगे पैर, सिर के वाल थोड़े उतरवाकर, अपने कपड़े उतारकर, हज यात्रियो की सादी पोशाक पहनकर, इस दल के साथ थोड़ी दूर तक पैदल चला। उसे इस तरह देखकर जो लोग वहां थे सव जोरो से नारे लगाने लगे, मंगल-कामना और सराहना के उच्च स्वर चारों ओर से उठने लगे। शाहंशाह की यह सांकेतिक तीर्थ यात्रा थी, यात्रियो को विदा करके वह वापस अपने शिविर मे आ गया।

हज यात्रा का सवसे सीधा रास्ता मेवाड़ मे होकर जाता था। यह डर था कि हज-यात्रियो को मेवाड़ी सैनिक तंग करेगे। अतएव प्रताप की तलाश में तथा ईडर में फिर से 'शांति' स्थापना के उद्देश्य से भेजे गये दोनो सैनिक दलो को यात्री-दल के साथ कर दिया गया जिससे रास्ते में यात्रियों को कोई कष्ट नहीं हो।

यह वड़ा जनसमूह हल्दीघाटी नें होकर गोगूंदा को ओर रवाना हुआ। जव यह लोग मेवाड़ की सीमा पर पानरवा पहुंचे, राणा का पोछा करने के लिए भेजा गया सैन्य दल इनसे अलग हो गया, और वे लोग लौटकर गोगूंदा की ओर चले गये। ईडर की ओर भेजा गया शाही सैनिक दल ईडर तक इनके साथ रहा, और उसने यात्रियों के अहमदावाद तक सुरक्षित पहुंचने का प्रवन्ध किया।

जव शाही सैनिक दल गोगूंदा पहुंचा महाराणा और उसके सैनिक वहां नहीं थे, "उस दुर्भागी पुरुष ने अपने को छिपा लिया, और वह अपमान के गड्ढे मे गिर गया।'

उधर अकबर स्वयं भी सेना के साथ गोगूंदा की ओर बढ़ रहा था। वह मेवाड़ में स्थापित शाही थानो के पास ठहरता हुआ मोही गांव पहुंचा। हल्दीघाटी के युद्ध के लिए जव मानसिह शाही सेना लेकर आया था, उसने इसी गांव मे कुछ दिन डेरा डाला था। अकवर भी यहां कुछ दिन ठहरा। कदाचित् वह पिछली लड़ाई की परिस्थिति का स्वयं पूरा अध्ययन करना चाहता था। यहां अकवर ने 'सारी फौज को दुरुस्त किया', और वह 'प्रताप के दमन के लिए भांति-भांति के आयोजन करने लगा'।

शाहंशाह ने अपने साम्राज्य से संवंधित कई महत्वपूर्ण निर्णय भी यहां किये। ख्वाजा शाह मन्सूर शीराजी को वजीर नियुक्त किया गया, जो अकवर की 'दूसरी आत्मा और तीसरा नेत्र' हो गया।

यह स्थान कुछ दिन तक 'शाहंशाह की उपस्थिति से गौरवान्वित रहा, और इस क्षेत्र के निवासियो की परिस्थिति का पूर्ण अध्ययन किया गया'। इसके उपरान्त प्रबन्ध यह किया गया कि शाही सेना के आगे एक अग्रगामी सैन्य दल चले ताकि प्रताप के सैनिक अचानक आक्रमण न कर दे। अकबर मेवाड़ के दुर्ग जैसे पहाड़ी प्रदेश में प्रवेश करने के पहले अपनी सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध कर लेना चाहता था।

स्वयं अकबर के मेवाड़ पर चढ़ाई के लिए निकलने की खबर जब प्रतापसिंह के पास पहुंची उसने भी लड़ाई की तैयारी आरम्भ कर दी। आन्तरिक प्रबन्ध सुदृढ़ किया गया, और बाह्य सहायता प्राप्त करने की चेष्टा की गयी। परन्तु अकबर ने इन दोनों दिशाओं से प्राप्त समस्त सुविधाओं को अपने गोगूंदा पहुंचने के पहले ही समाप्त कर दिया था। मुगल सैनिको को भगाकर जहां-जहां प्रताप के सैनिक जम गये थे, वहां सब जगह फिर से शाही सेना का कब्जा हो गया था, और सब पड़ौसी राजा स्वयं शाही आक्रमण से अपने को बचाने में लग गये थे। प्रताप फिर अकेला पड़ गया, परन्तु उसका दृढ़ निश्चय, अदम्य साहस, अनुकरणीय वीरता और कभी हार नहीं मानने की हिम्मत उसके साथ थी। इनसे ही उसने परम प्रतापी सम्राट् अकबर की विशिष्ट महत्वाकांक्षा, मेवाड़ के अधिपति को अवश्य नतमस्तक करूंगा, ध्वस्त कर दी।

'महान' अकबर के 'महान' आक्रमण को परास्त करने के लिए महाराणा ने विशिष्ट रणनीति अपनायी। अकबर का सीधा सामना कहीं नहीं किया गया, परन्तु उसे जमने भी कहीं नहीं दिया गया। "साफ मुल्क में कुछ लड़ाई नहीं हुई, लेकिन पहाड़ो में शाही फौज पर महाराणा के राजपूत कहीं-कहीं घाटियो के मौके पर हमला करते थे। बड़ी लड़ाई कहो नहीं हुई। बादशाह खुद गोगूंदा में आ पहुंचा। महाराणा प्रतापसिंह के बहुत से राजपूत पहले हल्दीघाटी की लड़ाई में मारे गये थे, इसलिए फौजी ताकत की कमी से मुकाबला न किया गया, लेकिन महाराणा की बहादुराना हिम्मत और जिस्मानी ताकत मे बिलकुल फर्क न आया। उन्होने वक्त की मस्लहत से अपने ससुर नारायण-दास को साथ लेकर पहाड़ों मे लड़ाई करना मुफीद समझा।"[1]

गोगूदा मे शाहंशाह के आगमन का समाचार पाकर प्रताप की खोज में भेजी गयी सेना के साथ मुगल सेनानी कुतुबुद्दीन खान, राजा भगवन्तदास, कुंवर मानसिंह आदि बिना पहले अनुमति प्राप्त किये, और अपने काम मे बिना सफलता प्राप्त किये, शाही सेवा मे उपस्थित हो गये। अकबर इससे बहुत रुष्ट हुआ, उनके प्रति शाही अप्रसन्नता प्रकट की गयी, और उनके दरबार मे आने पर पाबन्दी लगा दी गयी। जब उन्होंने माफी मागी, और अपनी गलती मंजूर की, उन्हे दरबार में फिर से उपस्थित होने की अनुमति दी गयी।

अपने अधिकार में आये मेवाड़ की सुरक्षा और महाराणा प्रताप को घेरने और नष्ट करने के लिए अकबर ने विस्तृत योजना बनायी। 'बड़े नामी बहादुरों के नेतृत्व में'

---

1 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 156

जगह-जगह फौजी थाने स्थापित किये गये। आदेश यह दिये गये कि जब भी 'वह शैतान उपद्रवी अपमान की घाटियों में से निकल कर आये उससे पूरी तरह वदला लिया जाये'। जो कुछ हो रहा था उसका उद्देश्य शाहंशाह के शाही इतिहास में इस प्रकार उल्लिखित कराया गया, "अकवर की इच्छा इतनी ही थी कि उसके आगमन की कृपा से इस प्रदेश को न्याय प्राप्त हो, और आम जनता को उसकी उदारता की छत्रछाया में विश्राम एवं स्थिर जीवन का लाभ मिले।"[1] नितान्त साम्राज्यवादी अभियान को, जिसके साथ प्रताप से वदला लेने की कटुतम भावना शामिल थी, यहां मानवीय मूल्यों की वहुमूल्य चादर से ढकने का प्रयत्न किया गया है। दरवारी इतिहासकार होने के कारण यही अवुल् फज्ल का कर्त्तव्य था, परन्तु अन्य समकालीन फारसी लेखकों ने अकवर के आक्रमण का ऐसा कोई कारण वताने का प्रयत्न नहीं किया है।

कुतुवुद्दीन खान, भगवन्तदास, और मानसिंह को गोगूंदा में रहकर प्रताप की खोज जारी रखने के आदेश दिये गये।

3,000 घुड़सवार मोही पर तैनात किये गये। इनके साथ गाजी खान वदख्शी, शरीफ मोहम्मद खान, मुजाहिदखान तथा तुर्क सुब्हान कुली सेनानायक थे।

अजमेर की ओर से मेवाड़ सीमा पर स्थित गांव मदारिया में 500 सैनिक अव्दुर्रहमान वेग (तथा एक अन्य अव्दुर्रहमान) की अध्यक्षता में नियत किये गये।

पिंडवारा और हल्दीघाटी में भी शाही सेनाएं तैनात की गयीं, जिनका उद्देश्य गुजरात जाने वाला राजमार्ग आरक्षित रखना और प्रताप को निकल भागने से रोकना था।

इसके वाद अकवर (नवम्वर 1576 में) उदयपुर के लिए रवाना हुआ।

फारसी इतिहासकारो और कुछ आधुनिक इतिहासकारो का मानना है कि अकवर गोगूंदा से स्वयं मोही और मदारिया गया था, और वहां से लौटकर उदयपुर पहुंचा।[2] इसका कोई कारण नहीं लगता। मोही और मदारिया गोगूंदा से उत्तर की ओर हैं, और उसे दक्षिण उदयपुर की ओर जाना था। अकवर इस प्रकार उल्टी दिशा जाने का आदी था, और प्रताप की तलाश स्वयं करने के लिए वह ऐसा कर भी सकता था। परन्तु इतनी वड़ी सेना को घुमाना-फिराना आवश्यक नहीं था। फिर, वह स्वयं उत्तर की ओर से, सव कुछ देखता-सुनता, आया ही था, और मोही और गोगूंदा में वैठकर उसने स्वयं सारे प्रदेश की सैनिक परिस्थिति का अच्छी तरह अध्ययन किया था। 'वीर विनोद', डा. ओझा, आदि यह नहीं कहते कि अकवर ने इस प्रकार की उल्टी यात्रा की थी, और डा. रघुवीरसिंह ने साफ लिखा है, "मोही से प्रस्थान कर अकवर ससैन्य उदयपुर आया।" यहां वे यह विवाद अवश्य उठाते हैं कि "कई इतिहासकारों का यह कथन कि अकवर तव गोगूंदा भी गया था ठीक नहीं है। समकालीन फारसी आधार ग्रंथों में

1. 'अकवरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 274
2 (क) श्रीराम शर्मा, प्रताप, पृष्ठ 89, (ख) गोपीनाथ शर्मा, मेवाड़, पृष्ठ 96

कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं है।"[1] प्रायः सब आधुनिक इतिहासकार मानते हैं कि अकबर गोगूंदा गया था,[2] और यह स्वाभाविक भी लगता है कि वह स्वयं उस जगह जाये जहां मानसिंह और मुगल सेना महीनों पड़ी रही थी।

मेवाड़ी सेना उदयपुर पहले ही खाली कर चुकी थी, अतएव विना किसी दिक्कत के उदयपुर पर अकवर का अधिकार हो गया। अकवर ने उदयपुर को अजमेर का एक परगना वना लिया, और इस नवीन नगर को नया नाम दिया मुहम्मदावाद, और अपनी विजय की स्मृति सदा वनाये रखने के लिए उसने यहां सोने के सिक्के ढलवाकर निकलवाये, जिन पर लिखा था—'सिक्का ढाला गया मुहम्मदाबाद उर्फ उदयपुर में, जो जीता जा चुका है'।[3] 'उदयपुर के प्राकृतिक सौंदर्य का आनन्द लेता और अपने वैभव से स्थानीय लोगो को प्रभावित करता' अकवर कुछ दिन यहां रहा। यहां वैठकर उसने अपनी सैनिक व्यवस्था और सुदृढ़ की।

कुतुबुद्दीन खान भगवन्तदास, मानसिंह आदि को गोगूंदा से बुला भेजा गया। उन्हें उदयपुर के द्वार देवारी की घाटी पर नियत किया गया। शाह फखरुद्दीन और जगन्नाथ कछवाहा को उदयपुर की सुरक्षा का भार सौंपा गया। जितनी भूमि जीत ली गयी थी उसकी सुरक्षा का पूरा प्रवन्ध किया गया। उद्देश्य यह था कि पहाड़ी प्रदेश की इतनी पक्की नाकेवन्दी कर दी जाये कि प्रताप उसमे से निकल नहीं सके, और आत्म-समर्पण को विवश हो जाये।

नवम्बर के अन्त तक अकवर मेवाड़ में रहा। इस प्रकार उसे डेढ़ महीने से ज्यादा समय महाराणा की खोज मे भटकते हो गया था। जहां वह गया, उसे वहां की भूमि अवश्य मिल गयी, परन्तु भूपति प्रताप पकड़ मे नही आया। इतना तो मानसिंह ने भी कर लिया था। उससे गलती नहीं हुई थी, यह मन में अवश्य अकवर ने स्वीकार कर लिया होगा। प्रताप की चतुरता का भी वह कायल हुआ होगा। वह और समय इन पहाड़ो और घाटियो मे नहीं लगा सकता था।

तव तक खवर आयी कि जिस हज-यात्रियों के दल को उसके सैन्य दल अहमदावाद तक पहुंचा आये थे, उसे समुद्र-तट के पास दिक्कत हो रही है, यात्रा पर जाने के लिए जहाज नहीं मिल रहे। 'अपनी असीम उदारता के कारण शाहंशाह इन स्वेच्छा से अपना घरवार छोड़कर निकले लोगो को किसी तरह की परेशानी मे नहीं रहने दे सकता था।' ईडर में शाही सेना के साथ भेजे गये कुलीजखान को जितनी जल्दी हो सके शाहंशाह की सेवा में आने के आदेश भेजे गये। वह वांसवाड़ा में आकर अकवर से मिला, और वहां से हज यात्रियो का प्रवन्ध करने सूरत गया।

---

1 रघुवीरसिंह, प्रताप, पृष्ठ 34

2 (क) श्रीराम शर्मा, प्रताप, पृष्ठ 89, (ख) गोपीनाथ शर्मा, मेवाड़, पृष्ठ 96

3. गुप्ता, पृष्ठ 166

शाहंशाह स्वयं दिसम्बर के आरम्भ में उदयपुर से बांसवाड़ा पहुंच गया था। मेवाड़ की आन्तरिक सुरक्षा का प्रबन्ध पक्का करके वह उन अर्ध-स्वतंत्र राज्यों को भी प्रताप से अलग, और अपने अधीन, करना चाहता था, जिनकी सहायता से प्रताप गुजरात के शाही इलाके में उपद्रव मचाया करता था, और जो प्रताप को निरन्तर मेवाड़ के भीतर भी सहायता देते रहते थे।

शाही सेना के साथ शाहंशाह अकवर के बांसवाड़ा पहुंचने पर वहां का राजा रावल प्रतापसिंह स्वयं दरवार में उपस्थित हुआ। डूंगरपुर निकट ही है। उस पर वारवार मुगल आक्रमण हो चुके थे। वहां का राजा रावल आशकर्ण शाही सेना का सामना करने की स्थिति में नहीं था। वह भी स्वयं दरवार में हाजिर हुआ। इस प्रदेश के और भी जो लोग 'विद्रोह' करते रहे थे, 'पछतावे का दंडवत करने' के लिए अकवर के सम्मुख आये, "शाहंशाह का स्वभाव ही यह है कि यदि कोई पछतावा दिखाये तो वह उसके वनाये वहाने मान लेता है, जो उसके सामने विनम्रता दिखाते हैं उनके प्रति वह उदारता दिखाता है, अतएव जव शाही सेवा में कुताही की गलती और शर्म इन लोगों ने मंजूर की, अकवर ने इन्हें माफ कर दिया, और इन लोगों के जीवन, सम्मान और राज्य अपने न्याय और उदारता के संरक्षण में ले लिये। विशेष कृपाओं से उनका उत्साह वढ़ाया गया।"[1] इस प्रकार मेवाड़ के दो दक्षिणी आधार टूट गये।

ईडर में भी यही हो चुका था। वह भी डूंगरपुर के पास ही पड़ता है। वहां का राजा नारायणदास निरन्तर अकवर के प्रति विद्रोह का झंडा उठाये हुए था। अकवर ने स्वयं मेवाड़ के लिए रवाना होने के पहले कुलीनखान आदि के नेतृत्व मे शाही सेना ईडर भेज दी थी। शाही सेना के पहुंचने पर नारायणदास पहाड़ों में चला गया, "राणा कीका की तरह, जैसा कि डाकू किया करते हैं, वह पर्वत-पर्वत और जंगल-जंगल भकटता रहा—जो चांद करता है उसका कौन-सा अनुकरण ज्योतिमंडल नहीं करता?"[2] फिर भी कुछ राजपूत ईडर के मंदिरों और मकानों में डटे रहे—वे अपनी जान देने को उतारू थे। 'हीरा भान, उमरखान अफगान, हसन वहादुर आदि अनेक शाही सेना के वीर उनको सदा के लिए समाप्त करने के लिए टूट पड़े। दुर्भागी लोगों ने अपनी तलवारें निकाल लीं और भाले तान लिये और उन्हे जहां जीवन का वलिदान करना था वहां आ धमके। उनका सामना न कर सकने के कारण अनेक शाही सैनिक पीठ दिखाकर भाग गये, परन्तु उपरोक्त वीर उस शानदार वाजार में दृढ़ता के जवाहरात लेकर पहुंच गये, और उन्होने वहुत ही वहादुरी दिखायी। उमरखान और हसन वहादुर ने अंतिम स्वस्थ सांस ली और सदा के लिए स्वर्ग की शान्ति प्राप्त की। गरदन उठाकर चलने वाले तथा अज्ञानी लोग सीधे मुंह संहार के गढ़े में गिर गये, और शहर (ईडर) तथा वहुत-सा

1. 'अकवरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 277
2. अल् वदायूनी, दूसरा भाग, पृष्ठ 249

लूट का माल शाही सेवकों के हाथ लगा, और वे शांति स्थापित करने और न्याय करने के काम में लग गये।'

ईडर से शुभ समाचार आने पर, और बांसवाड़ा तथा डूंगरपुर बिना लड़े अधीन हो जाने पर भी, अकबर को चैन नहीं मिला। बांसवाड़ा में ही उसे समाचार मिला कि राणा ने फिर से 'पहाड़ियों और घाटियों को उपद्रव का साधन बना लिया है,' और वह 'कुविचारों से भरकर' गड़बड़ी कर रहा है। हुआ यह था कि हमेशा की तरह जैसे ही अकबर और मुख्य शाही सेना मेवाड़ से हटी, प्रताप पहाड़ों से उतरकर शाही थानों पर हमला करने लगा और मेवाड़ में होकर जाने वाले शाही लश्कर का आगरे का रास्ता उसने बन्द कर दिया। गोगूंदा पर भी फिर से उसका कब्जा हो गया। ईडर और सिरोही के राजाओं से उसने फिर से सम्पर्क स्थापित किया। अकबर को बांसवाड़ा से ही फिर 26 दिसम्बर 1576 को शाही सेना मेवाड़ भेजनी पड़ी, जिसके साथ थे राजा भगवन्तदास, कुंवर मानसिंह, मिर्जाखान खानखाना, कासिमखान मीरबहर तथा 'अन्य अनेक अनुभवी व्यक्ति'। वह स्वयं बांसवाड़ा से मालवा के लिए रवाना हो गया। उज्जैन से लगभग 27 मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित देपालपुर नामक स्थान पर उसने अपना शिविर स्थापित किया, और वहां तीन महीने रहा। वहां से वह प्रताप के विरुद्ध कार्रवाई की देखरेख रखे रहा।

प्रताप को पकड़ने भेजे गये लोग सफल नहीं हुए। उन लोगों ने गोगूंदा पर फिर से अधिकार कर लिया, लेकिन वे प्रताप पर हाथ नहीं डाल सके। इस बार कोई बड़ा युद्ध कहीं नहीं हुआ, छुटपुट हमले ही मुगल सेना को परेशान करते रहे। अपने सेनानियों की असफलता का समाचार देपालपुर पहुंचने पर अकबर ने मेवाड़ के विरुद्ध और भी कड़ी कार्रवाई करने का निश्चय किया।

भगवन्तदास आदि शाही सेना के साथ मेवाड़ के आन्तरिक क्षेत्र में लगे ही हुए थे। उन्होंने महाराणा के मेवाड़ का कोई कोना नहीं छोड़ा, लेकिन प्रताप पहाड़ियों, घाटियों और उनके सच्चे स्वामी भीलों की सहायता से हाथ में आते-आते छिटक जाता था। यह लुका-छिपी महीनों चलती रही।

प्रताप के पड़ोसी मित्र भी इसी प्रकार शाही सेना को परेशान किये हुए थे। मेवाड़ होकर आवागमन अवरुद्ध हो गया था। अल् बदायूनी अपनी बीमारी के कारण अकबर के साथ नहीं जा सका था, और भुसावर ही में रह गया था। स्वस्थ होने पर जब उसने बांसवाड़ा के शाही शिविर जाने का प्रयत्न किया, उसे शाही थानेदारों ने सीधे मार्ग से हिन्डौन के आगे ही नहीं बढ़ने दिया—उसे बताया गया 'रास्तों में तरह-तरह की मुश्किलें हैं और रास्ते रुके हुए हैं'। अतएव वह लम्बे रास्ते ग्वालियर, सारंगपुर, और उज्जैन होता हुआ देपालपुर पहुंचा।

यहां शाहंशाह के पास खबर पहुंची कि कुलीनखान के (अकबर द्वारा) बांसवाड़ा बुला लिये जाने पर ईडर के विद्रोही राजा नारायणदास की हिम्मत फिर बढ़ गयी।

वहां की शाही सेना की कमान उस समय आसफखान के हाथ में थी, जिसे कुलीनखान की जगह नियत किया गया था। नारायणदास ने 'राणा कीका और अन्य जमीदारों की सहायता से' नयी सेना संगठित कर ली, और वह ईडर से कोई दस कोस तक चढ़ आया। इरादा अचानक रात में हमला करने का था। यह बात आसफखान को मालूम हो गयी। उसने मुगल सेनानियों से सलाह की। लगभग 500 सैनिक ईडर की सुरक्षा के लिए छोड़कर, मुगल सेना ने स्वयं अचानक हमला करने का निश्चय किया। 22 फरवरी 1577 को दिन भी नहीं निकला था कि यह सेना नारायणदास के शिविर की ओर चल पड़ी। सात कोस जाने के बाद इसकी मुठभेड़ सामने से आती नारायणदास की सेना से हुई।

'तुरन्त आक्रमण कर दिया गया, तीर, तलवार और भाले हवा में उड़ने लगे।' शाही सेना के अग्रभाग पर राजपूत सेना ने करारी चोट की। सेना के इस भाग का नेता मिर्जा मुहम्मद मुकीम 'बहुत बहादुरी दिखाकर शहीद हो गया'। 'विजयवाहिनी' शाही सेना के वीरो ने अपने घोड़ों की रास ढीली कर दी, और वे लड़ने के लिए टूट पड़े। अत्यन्त साहसी राजपूतो ने अपने भाले ताने और उनसे भिड़ पड़े। अचम्भे में डाल देने वाली हाथों-हाथ लड़ाई हुई। 'साहस के हीरे की परीक्षा की घड़ी आ गयी, वह और भी ज्यादा चमचमाने लगा।'

नगाड़े गरजने लगे, लड़ाई शुरू हो गयी,  
तलवारें निकल आयीं, वीर भिड़ गये।  
खून शराब की तरह बहने लगा,  
वीरों का सिंहनाद उस समय संगीत हो गया,  
बरछों की मूठें प्याले, तीर अंतिम स्वाद।

हाथ पैर घायल हो जाने के बाद भी नूर कुलीज ने लड़ाई से हाथ नहीं खींचा। राजपूतों का जोर पड़ने पर मुजफ्फर घोड़े से गिर गया, परन्तु वीरो ने उसे फिर से चढ़ा दिया। धीर परवन ने भी बहुत साहस दिखाया। इस मुठभेड़ में सेना का अग्रभाग अस्तव्यस्त हो गया, परन्तु उपरोक्त वीर अपने सम्मान की रक्षा करते रहे, और जब तक जान रही वे जमे रहे। उनका बलिदान हो गया। मुहम्मद मुकीम ने 'मृत्यु का शानदार शर्बत पिया,' और उसके साथी कुतुबखान ने भी 'अपने जीवन का सिक्का दांव पर चढ़ा दिया'। जब अग्रभाग मुश्किल में पड़ा हुआ था, शाही सेना आगे बढ़ी। राजपूत सेना से जो बन पड़ा, उसने किया, परन्तु उसे भागना पड़ा। शाही सेवकों ने 'प्रतिदिन बढ़ती दैवी कृपा के आशीर्वाद से' निराशा की चढ़ी दुपहरी मे सफलता प्राप्त की। उनका मन मस्त हो गया। विजय का समाचार जब शाहंशाह के पास पहुंचा, उसने भगवान को धन्यवाद दिया। शाही कृपाओ से साहसी सेवको का सम्मान किया गया। आसफखान से विजय का समाचार प्राप्त होने पर शाहंशाह ने उसके पास 'सराहना का फरमान' भेजा।[1]

---

1. 'अकबरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 280, (ख) अल् बदायूनी, दूसरा भाग, पृष्ठ 251

इससे प्रकट है कि प्रताप स्वयं ही शाही सेना को परेशान नहीं कर रहा था, पड़ौस के जो राजा—इनमें ईडर का नारायणदास श्वसुर होने के कारण प्रताप के ज्यादा निकट था—उससे सहानुभूति रखते थे, उन्हें भरसक सक्रिय सहायता भी पहुंचा रहा था।

इस कारण मुगल सेनानी और चिन्ता से उसके पीछे पड़ गये। "शाहंशाह के पूरी तरह निजी ध्यान देने के कारण उस (मेवाड़) प्रदेश से विद्रोह के कांटे साफ कर दिये गये, और न्यायप्रिय प्रजा से सारा प्रदेश सुशोभित हो गया।"[1]

ऐसा लगता है कि मेवाड़ के बाहर और भीतर जो हो रहा था उसका प्रभाव आस-पास बहुत पड़ा। जब अकबर देपालपुर में ही था, उसने राजा बीरबल और राय लूणकर्ण को डूंगरपुर भेजा। वहां के राजा आशकरण ने शाही दरबारियों द्वारा संदेश भेजा था कि वह अपनी पुत्री का विवाह बादशाह अकबर से करना चाहता है। इस कन्या को अबुल् फज्ल ने 'पवित्रता और बुद्धिमत्ता मे असाधारण' बताया है और कहा है कि अकबर से निवेदन यह किया गया था कि 'इस तरह एक असामान्य हीरे को उसका समुचित स्थान प्राप्त हो जाएगा और राजा (आशकरण) के संबंधों को भी बड़ी सहायता मिलेगी। शाहंशाह ने उसकी स्वामिभक्ति का सम्मान किया, और उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।' दोनो 'विश्वस्त सेवक' डूंगरपुर भेजे गये ताकि वे 'एकान्त वासिनी को सौभाग्य के हरम में ले आये।[2] यह लोग बाद मे डूंगरपुर की राजकुमारी को फतहपुर लेकर पहुंचे, जहां यह 'आबदार मोती पवित्र हरम' में दाखिल हुआ।

इन्ही दिनों 'अपने अभाग्य और प्रादेशिक जंगलीपन के कारण' राव सुरताण देवड़ा ने सिरोही में अकबर के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। बादशाह का निर्देश मिलने पर, फरवरी 1577 में, बीकानेर का राजा राय रायसिंह, सैयद हाशिम, आदि शाही सेना लेकर सिरोही पहुंचे। उन्होंने राव सुरताण को किले में घेर लिया। 'क्योंकि किला बहुत मजबूत था, सुरताण मे विवेक का अभाव था, इसलिए उसने सोचा कि ऊंची पहाड़ियां उसका बचाव कर सकेंगी, और उसका घमंड बढ़ गया।' शाही सेना ने जल्दी नहीं दिखायी, घेरेबन्दी चलती रही। राय रायसिंह ने बीकानेर से अपना परिवार बुला भेजा। जब ये लोग मार्ग में थे, राव सुरताण ने अपने कुछ साहसी सिपाहियो के साथ इन पर हमला कर दिया। दोनो पक्षों के राजपूतों के बीच 'भयानक युद्ध' हुआ। दोनों ओर के कई वीर काम आये, परन्तु सुरताण की हार हुई और वह 'दुर्भाग्य के रेगिस्तान' में भाग गया। उसने सिरोही छोड़ दी, और आबू चला गया। सिरोही को शाही साम्राज्य मे शामिल कर लिया गया।

शाही सेना सुरताण का पीछा करती आबू पर चढ़ गयी। इस पर्वत के शिखर पर पुराने समय में मेवाड़ के महाराणा द्वारा बनवाया 'आकाश जितना ऊंचा' किला था। आबू जाने वाला मार्ग 'बड़ा कठिन' माना जाता था, "अच्छे पानी के अनेक झरने हैं, मीठे

1. 'अकबरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 277
2. 'अकबरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 278, 295

पानी के कुए हैं, और रक्षा-सेना के लिए पर्याप्त खेती होती है। यहां बहुत तरह के फूल और सुगन्धयुक्त पौधे होते हैं, और वायु बहुत आनन्ददायी है। धनवान लोगो ने आत्मिक कल्याण के लिए यहां अनेक मन्दिर और देव-स्थान बनवा रखे हैं। प्रतिदिन बढ़ते भाग्य से विजयवाहिनी सेना (आबू के) किले के पास पहुंच गयी, और इतना सुदृढ़ दुर्ग, जिसे जीतने का साहस बड़े-बड़े राजा भी नहीं करते, बिना बहुत प्रयत्न के शाही सैन्य दल के हाथ में आ गया। शाहंशाह के सुलतानों की शान के सामने राव सुरताण भौंचक्का रह गया और विनतियां करने लगा। उसने शाही सेवको की शरण ली, और किले की चाबी उन्हें सौंपकर, उस चाबी को अपना भाग्य खोलने का साधन बना लिया। सुयोग्य व्यक्तियो को किले की व्यवस्था का भार सौंपकर, राय रायसिंह सिरोही के राव के साथ शाही दरबार के लिए रवाना हुआ।"[1]

बूंदी में भी विद्रोह का झंडा उठ खड़ा हुआ था। वहां का राव सुर्जन अपने दो पुत्र दूदा और भोज सहित शाही सेवा में था। बड़ा पुत्र दूदा बिना अनुमति शाही दरबार छोड़ आया था, और उसने बूंदी में उपद्रव मचा रखा था। उस विद्रोही ने राणा प्रताप से भी सम्पर्क स्थापित कर लिया था। शाही सेना उसे दबाने भेजी गयी थी, परन्तु उसने 'ईमानदारी से काम नहीं किया था', अतएव 30 मार्च 1577 को रामपुर से जाइनखान कोकलताश को सेना लेकर फिर बूंदी भेजा गया। उसके साथ स्वयं राव सुर्जन और भोज, तथा रामचन्द, कर्मसहाय, आदि भी थे। ये भी आदेश दिये गये कि पहले भेजी गयी सेना और उसके अधिकारी भी इस सेना को सहयोग दें और लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पूरा प्रयत्न किया जाये। थोड़े ही समय में बूंदी हस्तगत कर ली गयी, दूदा पहाड़ियों में भाग गया। जब शान्ति स्थापित हो गयी, शाही आदेश से बूंदी का इंतजाम भोज आदि अधिकारियो को सौंपकर जाइनखान, राव सुर्जन के साथ, शाही दरबार के लिए रवाना हो गया।

पहले ही पड़ाव पर उसे सूचना मिली कि बूंदी में फिर से उपद्रव होने लगा है, अतएव उसे विवश होकर वापस लौटना पड़ा। काफी समय से इस पहाड़ी प्रदेश में रहने के कारण, बहुत से सैनिक निर्धनता अनुभव करने लगे थे। जब कोकलताश चला गया, सेना के बुरी वृत्ति के लोगो ने अफवाह फैला दी कि दूदा फिर से आ रहा है, और वे लूटमार करने लगे। उर्दू बाजार (सैन्य शिविर का बाजार) और शहर का बहुत सामान इन सैनिकों ने लूट लिया। जो शाही अधिकारी और सैनिक प्रदेश की रक्षा के लिए छोड़ दिये गये थे वे भय और अज्ञान के कारण बूंदी छोड़ने को उद्यत हो गये।

कोकलताश बूंदी वापस पहुंचा और उसने वहीं ठहरने का निश्चय किया। 'ईश्वरी कृपा और बुद्धिमानी के कारण उसने अपने आनन्द पर नियन्त्रण प्राप्त किया— और परोक्ष सेवा को स्वयं दरबार में उपस्थित होने से अधिक महत्व दिया।' उसने राव

---

1. 'अकबरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 278

सुर्जन को शाही दरबार भेज दिया और स्वयं व्यवस्था बैठाने में लग गया। 'न तो बाहर से सैन्य सामग्री का अभाव, न मन में साहस की कमी उस पर प्रभाव डाल सकी', और उपद्रव का बवंडर उसने शीघ्र शान्त कर दिया। 'निराश लोग आनन्द अनुभव करने लगे, शैतानी भरी अफवाहें अपमान के गड्ढे में डूब गयीं, और विद्रोहियों को समुचित दंड दिया गया।'

दूदा कोकलताश के आने पर भाग गया था, परन्तु शान्त नहीं हुआ था। उसने शाही सेना की जरा भी परवाह नहीं की, उसके उपद्रव और भी बढ़ गये। कुछ सैनिकों-साथियों को एकत्रित करके वह ऊंची, ऊंट की गरदन जैसी, पहाड़ी पर बने दुर्ग पर पहुंच गया, और वहां 'अवज्ञा का झंडा' फहरा दिया। यह पहाड़ी बहुत ऊंची है, इस पर चढ़ना बहुत ही मुश्किल है। उसका उद्देश्य यह था कि मौका पाते ही वह विजयी सैन्य शिविर को क्षति पहुंचाये। कोका (कोकलताश इसी नाम से अधिक प्रसिद्ध हो गया है) ने अपनी सेना तीन टुकड़ियो मे विभाजित की, और किले पर चढ़ाई कर दी। उसने अपने सैनिको को चढ़ाई चढ़ने के लिए प्रेरित किया, और स्वयं रायभोज तथा पर्वतारोहण मे विशेषज्ञ लोगो के साथ बड़ी बहादुरी के साथ आगे बढने लगा।

जब उन लोगो ने घाटियां पार कर लीं, और वे चोटी के निकट पहुंचे, तब 'शत्रु' को उनके आने की बात मालूम पड़ी। वे लोग भी आगे आये। बंदूकों से मुकाबला होने लगा। दूदा की तरफ के तीन प्रमुख व्यक्ति मारे गये। बाकी भाग छूटे। 'दैवी सहायता अपनी तरफ देखकर' कोका और भी आगे चढ़ने लगा। उसका शीघ्र सामना दूदा से हुआ, जो नया उपद्रव खड़ा करने के यत्न में लगा था। दोनो पक्ष जूझने लगे।

जो तीर और ढालें चमचमाने लगी थीं,
उनसे भूमि रेगिस्तान नहीं, फूल भरा बगीचा बन गयी।
विनाश पर उतारू तलवारें चमकने लगीं,
पताकाओ ने नेत्रो की ज्योति लूट ली।

'सौभाग्य से' असफलता के पत्थर भरे मार्ग के कारण 'शत्रु' के पैर छालो से भर गये। दूदा के 120 प्रमुख लोग इस युद्ध में काम आये। 'घमंडी और बिगड़े दिमाग का पहाड़ी'—दूदा—हार गया। जब प्रदेश से 'विद्रोह की धूल बिलकुल साफ कर दी गयी', राय भोज को उसे सम्हला दिया गया। जाइनखान शाही सेवा मे फतेहपुर रवाना हुआ।[1]

इसी बीच अकबर देपालपुर से फतहपुर के लिए रवाना हो गया था। रास्ते में वह 23 अप्रेल 1577 को रणथम्भोर पहुंचा। वहां पहले ही शाही कब्जा हो चुका था। शाहंशाह वहां कुछ दिन ठहरा। किले पर पहुंचकर उसने राव सुर्जन के महल में निवास किया। कदाचित वह बूंदी की घटनाओ की देखरेख निकट से करना चाहता था। अपनी सैना की प्रगति सन्तोषप्रद जानकर वह फतहपुर के लिए रवाना हो गया।

---

1. 'अकबरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 284

अपनी राजधानी वह वहुत समय और वहुत-सी घटनाओं के वाद पहुंचा था। स्वभावतः उसका हार्दिक स्वागत हुआ। शैख फैजी ने अकवर के आगमन पर लिखा :

हृदय को आनन्द देने वाली वयार फतहपुर से उठ रही है,
क्योंकि मेरा शाहंशाह लम्बी यात्रा से लौटा है।

परन्तु क्या अकवर के हृदय में आनन्द था ? 'मेवाड़ का काम तमाम करने के लिए', 'प्रताप को परास्त करने के लिए', जो काम 'शाही सेवक नहीं कर सके उसे अपने हाथों पूरा करने के लिए', वह सितम्वर के मध्य में फतहपुर से चला था, और अव, मई के आरम्भ में, साढ़े सात महीने वाद, वह लौटा, विना अपनी महत्त्वाकांक्षा पूरी किये—प्रताप उसी प्रकार अपनी स्वतन्त्रता अपने सीने से लगाये अरावली पर्वतमाला मे विचरण कर रहा था। उसका साहस और विश्वास जरा भी नहीं टूटा था।

प्रताप की परेशानियां अवश्य वढ़ गयी थीं। मुगल सेना ने उसे चारो ओर से घेर लिया था। उत्तर-पश्चिम में अजमेर से सिरोही तक शाही कब्जा था, अव सिरोही भी जीता जा चुका था। उसके नीचे, आवू, ईडर, डूंगरपुर और वांसवाड़ा ने भी अकवर के सामने शस्त्र रख दिये थे। दक्षिण-पूर्व में मालवा पड़ता था, उसके ऊपर कोटा और वूंदी, सभी पर शाही कब्जा था। उसके आगे, अजमेर से लगी चित्तौड़ सरकार की सीमा थी, जहां अकवर का अधिकार वहुत पहले हो चुका था। मेवाड़ का वड़ा भाग शाही कब्जे मे था। प्रताप मेवाड़ के पहाड़ी प्रदेश में, वह भी कभी एक स्थान पर टिक कर रहने का मौका पाये विना, फिर रहा था। उसे आसपास से सहायता मिलने की संभावना नहीं रही थी। "हल्दीघाटी की जीत और वाद में मेवाड़ की भूमि पर मुगल सेना के आधिपत्य से वस इतना ही शाही पक्ष को उपलव्ध हुआ था। इस प्रकार शाहंशाह फिर असफल रहा।"[1]

## शाहवाज खान के प्रयत्न

प्रताप को जव मालूम हुआ कि शाही शिविर देपालपुर से उठ गया है, और अकवर फतहपुर की तरफ चल निकला है, उसने फिर से अपनी सक्रियता आरम्भ कर दी। मेवाड़ मे मुगल सेना अव भी गश्त लगा रही थी, और वड़ी संख्या में शाही सैनिक जगह-जगह थानों पर जमा थे। परन्तु जहां तक प्रताप को पकड़ने का प्रश्न था, मुगल सेना को जरा भी सफलता नहीं मिल रही थी। उलटे, मुगल चौकियों और सैनिक टुकड़ियों पर प्रताप के सैनिको के हमले वढ़ गये। सारी परिस्थिति को देखकर प्रताप कहीं कोई वड़ी लड़ाई नहीं करता था, परन्तु पहाड़ों और घाटियो में छुटपुट मुठभेड़ें प्रतिदिन होने लगीं।

पहाड़ी प्रदेश के भीलों ने तथा अन्य आदिवासी जातियों ने इन दिनों में मेवाड़ के महाराणा की वड़ी सहायता की। वे ही इस प्रदेश से पूर्णतः परिचित थे। उनकी ही

---

1. श्रीराम शर्मा, प्रताप, पृष्ठ 95

सहायता से महाराणा का परिवार सुरक्षित रह सका, और प्रताप अपने सैनिकों के साथ जब जहां चाहता था वहीं पहुंच सका, और प्रताप को पकड़ने वाले कभी उस तक नहीं पहुंच सके। यह लोग शाही सेना की पूरी गतिविधियों से प्रताप को सूचित भी रखते थे।

मेवाड़ के शाही थानों के विरुद्ध प्रताप ने सुनिश्चित योजना बनायी।

सबसे पहले उदयपुर और गोगूंदा पर छापेमार हमले करके वहां से मुगल सेना को खदेड़ दिया गया। दोनो जगह फिर से प्रताप का अधिकार हो गया।

मेवाड़ में जहां-जहां मुगल थाने कायम थे, स्थानीय निवासी वैसे ही अपने खेतों से ऐसी उपज नही करते थे जिसका शत्रु लाभ उठा सके। फिर भी, जहां से भी ऐसी उपज होने के समाचार आते, मेवाड़ के सैनिक अचानक पहुंच जाते, और उसे उजाड़ देते थे।

मोही के आसपास प्रताप के सैनिकों ने इस प्रकार का हमला किया, और नयी जोती हुई जमीन के किसानों को लूट लिया। 'अकबरनामा' के अनुसार ये लोग शाही संरक्षण मे खेती कर रहे थे। मोही में मुजाहिदखान शाही थानेदार था। इस लूट का समाचार मिलने पर वह लूटने वालों पर सैनिक लेकर दौड़ा। प्रताप के सैनिकों के साथ उसकी मुठभेड़ हो गयी, जिसमें वह 'रुस्तम जैसी हिम्मत दिखाने के बाद' मारा गया। इससे मेवाड़ ही में नहीं, शाही दरबार में भी सनसनी फैल गयी। जो सेनाएं प्रताप का पीछा करने को इधर-उधर फैली हुई थीं, वे अपने-अपने शिविरों को लौटने लगीं, और इनमें से कुछ सैनिक और सेनानी सारा हाल सुनाने को, और अपना बचाव करने को, शाही दरबार में पहुंच गये।

उधर, राजस्थान के बाहर भी नये उपद्रव उठने लगे। ओरछा के बुन्देला राजा मधुकर ने, 'अपने प्रदेश की व्यापकता, अपने साहसी वीरों की संख्या और खुशामदियों की चापलूसी के कारण,' अक्बर की अवज्ञा करनी आरम्भ कर दी। उसे 'ठीक रास्ते पर लाने के लिए' सादिक खान, आंबेर के आसकरण, जोधपुर के मोटा राजा (उदय सिंह), उलगखान हब्शी तथा 'अन्य वीरों के साथ' शाही सेना भेजी गयी।

अकबर का इस तरह की घटनाओं से चिन्तित होना अवश्यम्भावी था। प्रताप उसके मस्तिष्क को फिर से उद्वेलित करने लगा। जिसे अकबर 'दर दर की ठोकर खाने को' छोड़ आया था, उसने शाहंशाह का फतहपुर में चैन से बैठना मुश्किल कर दिया। 'अकबर ऐसे अतिक्रमणों को बिना दंडित किये नही छोड़ सकता था। अब उसके लिए भारत की एकता के हित में और अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए भी प्रताप का दमन करना आवश्यक हो उठा।' अकबर ने नये सिरे से कार्रवाई आरम्भ की।

मेवाड़ के निकट पड़ने वाले शाही सूबे अजमेर और गुजरात में नये सूबेदार क्रमशः दस्तम खान और शहाबुद्दीन अहमदखान नियुक्त किये गये। साथ ही कई अनुभवी और वरिष्ठ दरबारी नये सूबेदार की सहायता के लिए गुजरात भेजे गये। मालवा में भी शाही प्रतिनिधियों को सचेत किया गया। आगे चलकर वहां भी नये सूबेदार शुजाअतखान को भेजना पड़ा।

गुजरात के सेवा-निवृत्त सूबेदार को ईडर की सीमा पर तैनात किया गया ताकि उस तरफ नया उपद्रव नही उठ जाये या उधर होकर प्रताप भाग नहीं जाये।

अकबर स्वयं 2 सितम्बर 1577 को अजमेर के लिए रवाना हुआ। वहां की वार्षिक यात्रा का यह समय था,परन्तु राजस्थान की समस्याओं को सुलझाने के लिए उसने अपने अजमेर आगमन का बारबार उपयोग किया था। इस बार भी ऐसा ही किया गया। 18 सितम्बर को अजमेर पहुंचने पर एक ओर अकबर ने ख्वाजा साहब की सेवा में अपने को लगाया, दूसरी ओर 'महाराणा प्रताप का काम तमाम करने की' उसने व्यवस्था बैठायी।

अजमेर पहुंचते ही वह ख्वाजा साहब की दरगाह गया। सोने तथा अन्य मूल्यवान वस्तुओं से उसका तुलदान किया गया। बहुत-सा सोना, चांदी और धन उसने दान में दिया। अकबर पहाड़ी पर बने अजमेर के पुराने दुर्ग तारागढ़ पर भी गया, जहां शहीद सैयद हुसैन खांगसवार की मजार है। वह वहां सारी रात धार्मिक चर्चा करता रहा। साथ ही उसने तारागढ़ में जहां-जहां टूट-फूट हो रही थी, मरम्मत के आदेश दिये।

इस सारी कार्रवाई के बीच उसका ध्यान बराबर मेवाड़ की तरफ लगा था। परन्तु अजमेर से 5 अक्टूबर 1577 को वह मेवाड़ नहीं, मारवाड़ रवाना हुआ, और मेड़ता में जाकर ठहरा। यह नगर अजमेर से थोड़ी दूर उत्तर-पश्चिम पड़ता है, जबकि मेवाड़ अजमेर से दक्षिण की ओर है। मेवाड़ से इसका कोई सीधा सम्पर्क नहीं माना जा सकता था। इस प्रकार के असंबद्ध अभियान अकबर किया करता था। इस यात्रा के बारे में भी अबुल् फज्ल ने कहा है, "ऊपर से देखने पर वह शिकार से अपना मनोरंजन कर रहा था, परन्तु वास्तव में वह न्याय प्रदान कर रहा था, और दैवी इच्छा के अनुसार कार्रवाई कर रहा था।"

मेड़ता से शाहंशाह ने वार्षिक हज यात्रा का प्रबन्ध किया। मीर आबू तुराब को यात्रियो का नेता नियुक्त किया गया, और उसके सुपुर्द पांच लाख रुपये और दस हजार खिलअत मक्का-मदीना में बांटने के लिए की गयीं। एक लाख और रुपये तथा मूल्यवान भेंट वहां के शरीफो के लिए दी गयीं।

इस तरह के छुट-पुट कामों से निपट कर अकबर मुख्य काम—'राणा प्रताप को समूल नष्ट करना'—पर लग गया। इसमें संदेह नहीं किया जा सकता कि कई दिन से वह इसकी उधेड़बुन में था। अबुल् फज्ल ने उस समय अकबर के चिन्तन का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, "सामाजिक जगत में देव-पूजा का सबसे उत्तम उपाय यही है कि समुचित सलाह और चेतावनी तथा शक्तिशाली योजना के माध्यम से गर्वीले और हेंकड़ी में गर्दन कड़ी रखने वालो को आज्ञापालन के मार्ग पर लाया जाये, और यदि सलाह तथा ताड़ना सफल नहीं हो तो ऐसे लोगो का अस्तित्व ही समाप्त कर दिया जाये, जिससे एकता मे फटाव दूर हो, और संसार के आनन्दमय निवास पर से दुराव की दुविधा का कलंक दूर हो जाये।"[1] 'इसलिए' राजा भगवन्तदास, कुंवर मानसिंह,

---

1. 'अकबरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 307

पायिन्दाखान मुगल, सैयद कासिम, सैयद राजू, उलूग ग्रासद तुर्कमान, गजरा चौहान, तथा ग्रन्य 'स्वामिभक्त' तथा 'नामी' सेनानी इस 'महान कार्य को पूरा करने के लिए' भेजे गये। मीर बख्शी शाहवाजखान को इस सेना का नेतृत्व और 'काम पूरा करने का दायित्व सौंपा गया'। बिहार की लड़ाई में और सिरोही जीतने में इस सेनानी ने बड़ी सराहना ग्रर्जित की थी और पहाड़ी प्रदेश में सैन्य संचालन का इसे ग्रच्छा ग्रनुभव था। "शिकार से मनोरंजन का बहाना बनाकर उस प्रान्त (राजपूताना) की व्यग्रताओं को सफलतापूर्वक समाप्त कर दिया गया, शाहंशाह के स्वल्प एवं महत्वविहीन ध्यान देने पर ऐसे उपक्रम पूरे कर लिये गये जो इससे पूर्व हजारों प्रयत्न के उपरान्त भी सफल नहीं हुए थे।"[1] यह तो अभी देखना होगा कि इस उपक्रम में कितनी सफलता मिली, और सम्राट की व्यग्रता समाप्त हुई या नहीं। शाही सेना का इस बार लक्ष्य मेवाड़ में पश्चिम की ओर बना ऐतिहासिक, सुदृढ़ दुर्ग कुम्भलगढ़ था, जो चित्तौड़ छूटने के बाद राज्य की राजधानी हो गया था। यह सेना 15 ग्रक्टूबर 1577 को मेवाड़ के लिए रवाना हुई।

'जब इस प्रदेश का प्रबन्ध पूरा हो गया', ग्रकबर ने पंजाब जाने का निश्चय किया। ग्रांबेर होकर उसने दिल्ली की ओर कूच किया।

शाहवाजखान को मेवाड़ के लिए रवाना हुए ग्रभी ज्यादा दिन नहीं हुए थे, और ग्रकबर भी मेड़ता से ज्यादा दूर नहीं निकला था, जबकि 'घाटियो की सुरक्षा के लिए ज्यादा ग्रनुभवी लोग' भेजने का उसका ग्रावेदन शाही दरबार में पहुंचा। ग्रकबर ने उसके भेजे विवरण पर विचार किया, और शेख इब्राहीम फतहपुरी को सेना लेकर शाहवाजखान की सहायता के लिए भेज दिया। उसे ग्रजमेर-मेवाड़ सीमा पर नाडोल मे नियुक्त किया गया ताकि वह घाटियो के पश्चिमी सिरो की मजबूत नाकेबन्दी कर दे। यहा से दक्षिण की ओर कुम्भलगढ़ पड़ता है।

शाहवाजखान ने शाहंशाह को और क्या लिखा था? कहीं जो उसने इसके बाद किया उसकी ग्रनुमति तो नहीं मांगी थी? ग्रकबर ने इसकी ग्रनुमति दे दी थी? कहा नहीं जा सकता, परन्तु शाहवाजखान ने माने हुए शाही सेनानियों एवं सामन्तो का ही नहीं, ग्रकबर के संबंधियों का, बड़ा ग्रपमान किया। शाही सेना जब कुम्भलगढ़ पहुंचने को थी, उसने ग्रांबेर के राजा भगवन्तदास और राजकुमार मानसिंह को ग्रपनी सेना से हटा दिया, और उन्हें दरबार मे लौट जाने के ग्रादेश दिये 'जिससे उनके मन में (मेवाड़ के) जागीरदार होने की भावना के कारण उस गर्वीले उपद्रवी (प्रताप) से बदला लेने में देरी न हो जाये'।[2]

यहां मानसिंह और महाराणा का प्रकरण प्रायः समाप्त होता है। जिस संघर्ष में वह पहले प्रतिष्ठित राजदूत और बाद में पूर्णाधिकार सेनापति होकर कूदा था, उसमें से उसने बहुत ही ग्रपमानित होकर विदा ली। "शाहवाजखान को भगवन्तदास और

1 'अकबरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 307
2 'ग्रकबरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 339

मानसिंह का कोई भरोसा नहीं था। जब शाहवाजखान ने राणा के विरुद्ध चढ़ाई की, उसने भगवन्तदास और मानसिंह को अपने विश्वास में नहीं लिया। इसके बाद कुंवर मानसिंह और उसके पिता राजा भगवन्तदास का कार्य क्षेत्र मेवाड़ से हटकर भारत के सबसे उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी छोर पर--पंजाव, पेशावर और कावुल में चला गया।"[1]

"भगवानदास[2] और मानसिंह को, जिनके वारे में शक था कि उनका झुकाव महाराणा प्रताप के प्रति था, वापस भेजकर शाहवाजखान ने अपने दायित्व के प्रति पूरी गंभीरता का परिचय दिया। अपनी सेना में जिसे कदाचित् उसने प्रतिकूल तत्व समझा था उससे निपट कर वह कुम्भलगढ़ की ओर वढ़ा। यह ध्यान देने की बात है कि इस शुद्धिकरण के उपरान्त शाही सेना मे एक भी नामी हिन्दू अधिकारी नहीं रह गया था। भगवानदास और मानसिंह को वापस भेजने का अपने में मतलव होता था। अपने पूरे विश्वास के साथ अकवर ने उनको मेड़ता से इस सेना के साथ भेजा था। उनके पिछले व्यवहार में ऐसा कुछ नहीं था जिससे शाहवाजखान द्वारा अचानक की गयी इस कार्रवाई का औचित्य सिद्ध किया जा सके। जव अकवर ने यह दो राजपूत सेनानी उसके सहायक के रूप में उसे दिये थे, वह राणा के विरुद्ध मानसिंह की युद्ध प्रणाली से अवगत था। अवश्य ही उनके वीच कोई कहासुनी हुई होगी। क्या इन दो सेनानियों ने फिर इस पर जोर दिया था कि राजपूतो की इस पवित्र भूमि को क्षति नहीं पहुंचायी जाये, जवकि वारवार मुगल सेनाएं यहां वेकार खप रही थीं? और ऐसा करके क्या उन्होने शाहवाज खान द्वारा संचालित अरुचिकर कार्य में भागीदार वननेसे श्रेयस्कर अपना पदच्युत होना माना? और इसके लिए कौन उन्हें दोष देगा? सम्राट के सम्मुख आत्मसमर्पण करके, और उससे वैवाहिक संवंध स्थापित करके, वे पहले ही वहुत नीचे गिरे हुए थे। इससे नीचे गिरने को वे तैयार नहीं थे। स्वाभिमानी सीसोदिया शिरोमणि को अपने अधीन करने का यत्न अवश्य ही सम्राट को करना था। वे उसे ऐसा करने से नहीं रोक सकते थे। परन्तु यदि उन्हें इस काम पर नियत किया जाता है तो वे इसे अपनी तरह से और दया-पूर्वक करना चाहते थे। यदि वे ऐसा नहीं कर सकते थे, यदि राणा के विरुद्ध युद्ध से प्रताप की पूरी समाप्ति ही होनी थी, तो वे उसमे भाग नहीं लेना चाहते थे। इनका यह दृष्टिकोण इस वार अवश्य ही ज्यादा खुलकर सामने आया होगा जिसके कारण शाहवाज खान ने सम्राट के इतने निकट के संवंधियो को भी अपमानित अवस्था में वापस भेजना ही उचित माना। स्वभावतः इनके जाने से उसने सोचा होगा कि अच्छी छुट्टी मिली, क्योंकि वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भय उत्पन्न कर देने वाले उपाय काम में लाने का दृढ़ निश्चय कर चुका था। वह सारे प्रदेश को तहस-नहस कर देना चाहता था, और यह एक ऐसी योजना थी जिसका उन्होने (भगवन्तदास और मानसिंह ने) विरोध किया होगा।"[3]

---

1. प्रसाद, पृष्ठ 54
2. यह भगवन्तदास होना चाहिये। अवुल् फज्ल ने यही नाम लिखा है। भगवानदास भगवन्तदास का छोटा भाई था।
3. श्रीराम शर्मा, प्रताप, पृष्ठ 98

अकबर ने भगवन्तदास और मानसिंह को दोषी नहीं माना। मानसिंह को तो उत्तर-पश्चिमी सीमा पर भेजने के पहले खीचीवाड़ा (राजस्थान, कोटा के दक्षिण में) में उठे उपद्रव को शान्त करने भेजा गया। इसके बाद उसे मालवा भेजा गया। बाद में उसका मनसब बढ़ा कर 3,500 किया गया। इसके बाद उसे काबुल भेजा गया। कही शाहबाजखान ने शक ही शक में तो इन सेनानियों को वापस नहीं कर दिया था? अकबर ने शाहबाजखान की भी इसके लिए कभी प्रताड़ना नहीं की। इससे लगता है कि शाहबाजखान ने अकबर की अनुमति से यह कड़ी कार्रवाई की थी। यदि अकबर ने दोनों को सन्तुष्ट करने की समानान्तर कार्रवाई की थी तो भी कुछ आश्चर्य नहीं होना चाहिये।

अपनी 'आकाश जैसी ऊंचाई' के कारण ही नहीं, मेवाड़ में उसके विशिष्ट महत्व के कारण भी, कुम्भलगढ़ को शाही सेना ने अपना लक्ष्य बनाया था।

चित्तौड़ से निकाले जाने, और मैदानी प्रदेश से खदेड़े जाने के बाद भी, मेवाड़ के महाराणा मुगल सेना के कब्जे में नही आते थे। प्रताप को ही नहीं, उदयसिंह को भी इस पर्वतीय प्रदेश ने सालों संरक्षण दिया था। संकट के समय यहां आकर मेवाड़ के मैदानी क्षेत्र की अधिकांश जनता भी बस जाती थी। स्पष्ट था कि प्रताप को पकड़ने के लिए इस पर्वतमाला के भीतर जाना होगा। कुम्भलगढ़ इसका शिखर, और अपनी ऊंचाई, दृढ़ता और दुर्गमता के कारण, सचमुच पहाड़ो जैसा मजबूत था। 'यह किला 1452 में बनवाया गया था, और तब से अब तक इस पर किसी दुश्मन का कब्जा नहीं हुआ था।' जिस प्रकार मैदानी इलाके में चित्तौड़गढ़ मेवाड़ का मस्तक था, उसी प्रकार पर्वती प्रदेश में कुम्भलगढ़ मेवाड़ का मेरुदंड था—इसको तोड़े बिना प्रताप की दृढ़ता समाप्त नहीं हो सकेगी, इसमें संदेह नहीं रह गया था।

कुम्भलगढ़ के आसपास की भूमि को मेवाड़ का हृदय भी माना गया है। सीसोदा गांव, जिसने इस राजकुल को सीसोदिया नाम दिया, कुम्भलगढ़ के पास ही है। सन्निकट ही, यद्यपि श्रीनाथजी का नाथद्वारा में आगमन तो बाद मे हुआ, अनेक, विभिन्न धर्मानुयायियों के, देव मंदिर इस प्रदेश में प्राचीन काल से बने हुए है, जिनके कारण यह सारा क्षेत्र देव-भूमि-सा पूजित रहा है।

प्रकृति ने बहुलता से अपनी सुन्दरताएं इस रोमांचकारी प्रदेश को दी है। पहाड़ियां और घाटिया चारों तरफ फैली है। जगह-जगह पहाड़ियों ने सांस ली है, और लम्बी-चौड़ी समतल भूमि निकल आयी है। सिंचाई की सुविधाओ की कमी नहीं है। खेतिहर उपज और सामान्य नागरिक जीवन को यहां अच्छी सुविधाएं है। गन्ना, कपास, ज्वार, मक्का और चावल अच्छी तरह होता रहा है। बनास नदी यही होकर बहती है, जिसके किनारे हलके और लचीले (नरकट) पेड़ो से भरे रहते है। 'उपादेय आम' और 'आकर्षक इमली' के वृक्ष, तथा बरगद, पीपल आदि के, 'शांतिदायी छाया' देने वाले वृक्षों से सारा क्षेत्र खूब भरा है। गूलर, सीताफल (शरीफे) और आलूबदाम (अड़ूचे) बहुतायत से होते है।

जलवायु ने भी इस पहाड़ी प्रदेश में विशिष्टता प्राप्त कर ली है, जिसके कारण यहां के निवासियों में प्रतिदिन नवजीवन का संचार होता रहता है, और ऐसे गुण उनमें पनप गये हैं जिन्होंने सदा से इस क्षेत्र के लोगों को मानवता के उच्च और उत्तम गुणों से सुशोभित किया है। इसका कारण इन्हीं परिस्थितियो में मिलेगा कि इस क्षेत्र के लोगों ने पीढ़ियों मेवाड़ के महाराणाओ को ऐसी सेवा की जो स्वामिभक्ति का कीर्तिमान वन गयी, उनके साथ ऐसे कष्ट सहे जो आज भी प्रेरणा देते हैं। 'इस क्षेत्र में ऐसी कोई पहाड़ी नहीं है, ऐसा कोई नाला नहीं है, जिसकी अपनी कहानी नहीं हो।'

कुम्भलगढ़ पर्वतमाला की एक ओर मेवाड़ है, दूसरी ओर मारवाड़, यह क्षेत्र यदि मेवाड़ का संरक्षक और सिरमौर रहा है तो मारवाड़ को इसे कुंजी माना गया है। कुम्भलगढ़ की चोटी पर पहुंचने पर मेवाड़ की ओर जहां पहाड़ियो, घाटियो, वनो और वस्तियों के मनभावने दर्शन होते हैं, वहीं, दूसरी ओर, डरावना रेगिस्तान दूर तक फैला दीखता है। जल मार्ग यहीं अपनी दिशाएं वदलता है, औसतन वर्षा अधिक होने के कारण झरने-नाले वहुत हैं, और इनका पानी पूर्व में मेवाड़ को और पश्चिम में मारवाड़ को जाता है।

कुम्भलगढ़ का किला चित्तौड़ की तरह अलग पहाड़ी पर स्थित नहीं है। वह अरावली की विस्तृत श्रेणी के सबसे ऊंचे स्थान पर (समुद्री सतह से 3,568 फीट ऊपर) बना है। इस पर घेरा डालना सरल नहीं होता था। पर्वतमाला के दक्षिणी किनारे पर केलवाड़ा है, और उत्तरी छोर पर नाडोल। शाहबाजखान ने पहले दोनो छोरों की कड़ी नाकेवन्दी की। विशेष रूप से वुलवायी गयी शाही सेना को नाडोल पर नियुक्त किया जा चुका था। पहुंचते ही उसने, समतल भूमि पर कुम्भलगढ़ के नीचे वसे, केलवाड़ा को लेने का प्रयत्न किया। इसमें सफलता मिलने पर उसकी समस्याओ का अन्त नहीं हुआ। वह एक प्रकार से कुम्भलगढ़ की प्राचीर के भीतर पहुंच गया था, जो थोड़े आगे से शुरू हो गयी थी। जैसे-जैसे आगे वढ़ने में आता था, प्राचीर ऊंची होती जाती थी, जहां जोड़ पड़ते थे वहीं मजवूत दरवाजे वने थे, जिनकी रक्षा प्रकृति और प्रकृति-पुत्र मिलकर दृढ़ता और सफलता से किया करते थे। अतएव मनोकामना सरलता से पूरी हो जायेगी, इसकी आशा शाहवाजखान को नहीं थी, उसने पूरी तैयारी से इस 'मेवाड़ की प्राण-भूमि' में प्रवेश किया। कुछ भी उसके अनुकूल नहीं था —सिवा शाही सेना की संख्या और उसकी अपनी महत्वाकांक्षा एवं दृढ़ निश्चय के, और सिवा 'उन सितारों के जो जव चाहते हैं चाहे जिसका भाग्य जगमगा देते हैं।'

कुम्भलगढ़ के युद्ध के सिलसिले मे अवुल् फज्ल ने इन सितारो की आरम्भ से अन्त तक चर्चा की है। वह कहता है, "इस किले पर चढ़ाई कठिन है, और यह आकाश जैसे ऊंचे पहाड़ पर वना है। अपने पूर्वजों की परम्परा के अनुसार राणा ने इस पर अपना निवास वना लिया था। अतीतकालीन समय में वहुत ही कम लोग इसे जीतने में सफल हुए थे। शाहंशाह के आश्चर्यकारी सौभाग्य के कारण इस दिन यह थोड़े ही प्रयत्न पर

विजयी सेना का विश्राम-स्थल बन गया।"[1] आगे, "सितारों से मार्गदर्शन प्राप्त करके सेना ने आसानी से पथरीली पगडंडियां पार कीं, और घाटियों में से निकल गयी। ऐसे समय, जब कि न वहां का निवासी, न वहां पहुंचा अपिरिचित इसकी कल्पना कर सकता था, किला जीतने के लिए शाहबाजखान वहां जा पहुंचा। ईश्वरीय सहायता की शक्ति से उसे केलवाड़ा की घाटी पर कब्जा मिल गया—वह तो ऐसी है कि 'खयाल' (कल्पना) के चरण भी वहां नहीं पहुंच सकते। वीर पहाड़ों पर चढ़ गये, और उन्होंने जीत हासिल की। अलौकिक सहायता (जो शाही सेना को प्राप्त हुई थी) के प्रकाश को देखते ही किले की रक्षक-सेना की हिम्मत टूट गयी। 3 अप्रेल 1578 को किले पर अधिकार हो गया, और आनन्द के नक्कारे बजाये गये। गाजियों की ताकत देखकर, उपद्रवी (राणा प्रताप) के साहस का पैर फिसल गया, वह और भी हक्काबक्का हो गया। किस्मत को ताज्जुब में डाल देने वाली कारगुजारी के कारण किले के भीतर एक बड़ी तोप फट गयी, और जो सैनिक-सामग्री उसने सकलित की थी राख हो गयी। तत्काल उसका साहस टूट गया, और वह पहाड़ियों में भाग गया। कई प्रसिद्ध राजपूत (किले के) मुख्य द्वार पर तथा मन्दिरों के आसपास डटे रहे, और उन्होंने बहुत ही साहस के साथ युद्ध किया। हाथोहाथ हुई वीरतापूर्ण लड़ाई के बाद वे नाश के गर्भ मे जा गिरे। वह अलौकिक ग्रन्थि साम्राज्य के सुप्रभात में खुली, और एक ऐसा कृत्य सामने दिखायी दिया जिसकी सामान्य जन कल्पना ही नहीं कर सकते थे। जब यह बताया गया कि वह शरारती (प्रताप) बांसवाड़ा के पहाड़ी प्रदेश में पहले ही पहुंच गया है, शाहबाजखान ने किला गाजी खान बदख्शी को सौंप दिया, और खुद उस दिशा की ओर फुरती से रवाना हो गया। अगले दिन दोपहर मे उसने गोगूंदा जीता, और आधी रात को उदयपुर। बहुत-सी लूट विजेताओं के हाथ लगी।"[2] परन्तु प्रताप पकड़ में नहीं आया।

इस सारे विवरण मे 'आश्चर्यकारी सौभाग्य', 'स्वर्गीय सहायता की शक्ति', 'अलौकिक सहायता', 'किस्मत को ताज्जुब मे डाल देने वाली कारगुजारी', जैसी उक्तियां बिखर रही हैं, और शाही विजय को 'थोड़े ही प्रयत्न पर' प्राप्त बताया गया है। परन्तु हो नहीं सकता था कि वीर राजपूत इतनी आसानी से अपना गौरव-शिखर मुगल सेनानी के सुपुर्द कर देते।

कुम्भलगढ़ की लड़ाई के एक वर्ष के भीतर पूरे हुए अपने ग्रन्थ 'तारीख-इ-अकबरी' मे हाजी मोहम्मद आरिफ कन्धारी ने लिखा है, "दुर्ग विजय की सूचना शाहबाज-खान तथा अन्य दरबारियों द्वारा दरबार में भेजी गयी कि बहुत ही मुश्किल से इस किले को अपने कब्जे मे कर लिया गया है। इस कारण कि हजरत बादशाह सदैव अपने सेवकों की खुशी और उन्नति का ध्यान रखते हैं, और हमेशा उनका यह स्वभाव है कि इस्लाम धर्म को मानने वालों को तथा इस्लाम धर्म की दिन-प्रतिदिन उन्नति होती रहे तथा कुफ्र

1 'अकबरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 339
2 वहीं, पृष्ठ 339

की हिमायत करने वालों के समस्त स्थान दरबार के सामन्तों द्वारा विजित हों। चूंकि कुम्भलमेर का किला ऐसे मुल्क में स्थित है कि उसकी ऊंचाई बहुत है और देखने वालों की आंख उसके छज्जे तक मुश्किल से पहुंचती है, और यदि उसको देखने का प्रयास भी करते हैं तो पीछे की ओर सिर के बल गिर पड़ते हैं। चूंकि शाहंशाह का यह उद्देश्य था कि यह किला उनके अधिकार मे आ जाये, अतः उन्होने जीतने के लिए समस्त चिन्ता दरबार के सामन्तों पर निहित की। इस पहाड़ी इलाके में एक राणा का राज्य है, कि उसके महलों की ऊंचाई और वहां तक पहुंचने के रास्तों की कठिनाई के कारण उसने अपने मस्तक में घमंड को स्थान दे रखा था। अपने समस्त साथियो तथा समकालियों से गर्व करता था कि मैं किसी के अधीन नहीं हूं। आज तक कोई बादशाह अपने लगाम की डोरी से उसके कान नही छेद सका, तथा इस्लाम राज्य का उस देश में पदार्पण नहीं हुआ था। न जाने कितने बादशाह तथा सुलतान उस प्रदेश को जीतने के लिए परेशानी तथा हसरत को लेकर मर गये और इस किले को फतह करने में हमेशा हार मानी। हजरत बादशाह के मन में यह था कि खुदा के आशीर्वाद से इस किले को अपने कब्जे में ले आये। ऊपर लिखे हुए सन् में शाहबाजखान ने धोखे और चालाकी से उस किले को कब्जे में कर लिया। समस्त जनता को जो किले मे थी तलवार के घाट उतार दिया। राणा भाग कर पहाड़ों में चला गया।"[1]

यह समकालीन विवरण कुछ वास्तविकताएं प्रस्तुत करता है, जिनमें 'इस्लाम धर्म के मानने वालो' और 'कुफ्र की हिमायत करने वालो' की बात आगे के लिए छोड़कर, हमें देखना होगा कि वह 'धोखा और चालाकी' क्या थी जिसका इस मुस्लिम लेखक ने इतना स्पष्ट उल्लेख किया है—इसमे भी वास्तविक लड़ाई का विवरण नहीं है, 'बहुत मुश्किल' तो 'धोखा और चालाकी' दिखाने में भी उठानी पड़ सकती है।

जेम्स टाड इस गुत्थी को कुछ खोलते हैं। वे लिखते हैं, "प्रताप ने कुम्भलमेर में वीरतापूर्ण और दीर्घकालीन प्रतिरोध किया, और वह वहां से तभी हटा जब पीने के पानी के एक मात्र नौगुण नामक कुए का पानी कीड़े पड़ जाने के कारण खराब हो गया। आबू के देवड़ा राजा पर, जो अब अकबर के साथ था, इस धोखेबाजी का दोष लगाया जाता है।"[2] ऐसा लगता है कि जेम्स टाड ने यह तथ्य मेवाड़ की प्राचीन पुस्तको मे से लिया है। 'रावल राणा री वात', जिसकी हस्तलिखित प्रति ही प्राप्य है, आया है, "पछै कुम्भलमेर चढ्या उठै फौज पहुची। राड हुई। गढ़ टूटतो नही, पण गढ़ बदल्यो। नौगण मे जीनावर पड्या ने देव डोड परवाडे फोज ले चढ्यो। जदी दीवाण जी नीसर्या। भाण सोनीगरो काम आयो। दीवांण चावड पधार्या।"[3]

---

1 रामवल्लभ सोमानी, स्मृति ग्रथ, प्रथम खड, पृष्ठ 103

2 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 271

3 स्मृति ग्रथ, द्वितीय खड, भाग 'ग' पृष्ठ 8

हम देख चुके है कि शाहबाजखान के साथ कोई प्रसिद्ध हिन्दू सेनानी इस संग्राम में नहीं रह गया था। किसी समकालीन विवरण में इस नाम का उल्लेख नहीं है। अतएव आबू के राजा का कुछ करना तो बाद की बात है, उसके आसपास होने में भी संदेह है। परन्तु ऐसा हो सकता है कि किसी और राजपूत की सहायता से शाहबाजखान ने कुम्भलगढ़ मे पीने के पानी का कुआ खराब करा दिया हो। एक जगह वर्णन मिलता है, "बहुत देर तक महाराणा इस किले में रहकर मुगल सेना का सामना करते रहे परन्तु उस मुगल सेनापति के साथ मेवाड़ का जो देशद्रोही राजपूत देवराज था उसने महाराणा से कुम्भलमेर भी छुड़ा दिया। देवराज को यह बात मालूम थी कि कुम्भलमेर में एक ही कुआ है जिसका पानी सब पीते है, इसलिए उसने कुए में कुछ मरे हुए जहरीले सांप डलवा दिये थे। पानी खराब हो जाने के कारण महाराणा को अपना आश्रय-स्थान त्याग देना पड़ा।"[1] शाहबाज खान ने कुछ ऐसा काम नहीं कराया होता तो इसका इतना स्पष्ट उल्लेख एक समकालीन मुस्लिम ग्रन्थ में नहीं होता।

एक प्रचलित किंवदंती यह भी है कि किले में नियमित रूप से फूल पहुंचाने वाली एक मालिन से मुगल सेना ने कुम्भलगढ पर चढ़ने के मार्ग का पता लगाया था। उसने जासूसी की। वह सेना के लिए उपयुक्त मार्ग पर फूल गिराती किले पर चढ़ी, और इन फूलो के सहारे सारी सेना किले पर चढ़ गयी। उसी के बताये हुए रास्ते से शाही सेना ने तोप चढ़ायी थी जिससे किला ध्वस्त किया गया।

इस युद्ध का राजपूत पक्ष कम मिलता है। 'वीरविनोद' मे कहा गया है कि अकबर ने बड़ी 'जर्रार फौज' के साथ शाहबाजखान को भेजा था। "महाराणा प्रतापसिंह भी कुम्भलगढ़ किले पर मौजूद थे, राजपूत लोग शाही फौज पर पहाड़ो की घाटियों में हमला करने लगे। एक दिन मेवाड़ी राजपूतों ने रात के वक्त छापा मारकर शाही फौज के चार हाथी किले मे लाकर महाराणा को नजर किये। जब शाही फौज ने नाडोल व केलवाड़ा की तरफ नाकाबन्दी करके किले के रास्ते रोक दिये और रसद का पहुंचना दुश्वार (कठिन) हो गया तब महाराणा प्रतापसिंह से सब राजपूतो ने अर्ज की कि घिरकर मरना आपका काम नहीं है, हम लोग किले में अच्छी तरह लड़ेंगे, और आप मारे जाएंगे तो मुल्की दावा कोई न कर सकेगा। इस तरह पर समझाकर महाराणा को बाहर जाने को तैयार किया, और कुम्भलगढ़ में राव अखैराज का बेटा भाण[2] किलेदार मुकर्रर किया गया। महाराणा प्रतापसिंह किले से निकलकर राणपुर में आ ठहरे, जहां से रवाना होकर ईडर की तरफ चूलिया ग्राम में पहुंचे। किले पर बादशाही फौज के हमले होने लगे, और बहादुर राजपूत भी लड़कर फौज के हमलों को रोकते थे, परंतु आखिरकार शाही फौज के बहादुर किले पर चढ़ने लगे, उस वक्त किलेवालों ने भी किवाड़ खोल दिये। राव भाण सोनगरा वगैरह बहुत से नामी बहादुर

---

1 भडारी, पृष्ठ 64
2 इस नाते यह प्रताप का ममेरा भाई हुआ।

राजपूत किले के दरवाजों व मन्दिरों पर मारे गये,और शाहवाजखान ने फतह के साथ किले पर बादशाही झंडा कायम किया।"[1]

इस विवरण में राजपूत सैनिकों की चतुरता और वीरता के अतिरिक्त यह विशेष बात है कि प्रताप ने अपने सामन्तों और सेनानियों द्वारा विवश किये जाने पर कुम्भलगढ़ छोड़ा था। इसी प्रकार की परिस्थिति में प्रताप के पिता उदयसिंह ने चित्तौड़गढ़ छोड़ा था। प्रताप उस निर्णय के समय स्वयं चित्तौड़ में उपस्थित था, अतएव उदाहरण का बल उसे विवश करने ही पर लगा होगा। दूसरे, किसी भी तरह शत्रु के हाथ में पड़ने से बचना तब तक मेवाड़ की मान्य रणनीति हो गयी थी। सबसे बड़ी बात यह है कि इस प्रकार के बड़े निर्णय सामन्तों और सलाहकारो के परामर्श से करने की परम्परा मेवाड़ में सुदृढ़ और प्राचीन थी। उसके आगे प्रताप के पहले भी मेवाड़ के महाराणा झुके थे।

डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने इतना और बताया है कि 'मुगलो ने चार बार अपनी सेना भेजी और चार बार उसे मुंह की खानी पड़ी'। इसके बाद ही कुम्भलगढ़ जीता जा सका। दूसरे,प्रताप के चले जाने के उपरान्त किले मे 'कोई जीवन ही नहीं बचा था जिसे जीतने का दावा किया जा सकता'। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक तो प्रताप के साथ किले के अधिकांश लोग चले गये थे। दूसरे, बारबार किये गये हमलों मे बहुत से लोग काम आ गये थे, और, तीसरे, जो बचे थे उनको आक्रमणकारी सेना ने समाप्त कर दिया था। चित्तौड़ जैसा नरसंहार अवश्य ही कुम्भलगढ़ में भी हुआ होगा।

यह ध्यान में रखने की बात है कि जिस प्रकार अकबर को चित्तौड़गढ़ जीतने में कुल मिलाकर करीब पांच महीने लगे थे,उसी प्रकार शाहवाजखान को कुम्भलगढ़ जीतने में लगभग छः महीने लगे। इतना समय, श्रम और साधन लगाकर, सैनिक दृष्टि से 'एक आश्चर्य' कर दिखाकर, मन में बैठी महत्वाकांक्षा की पूर्ति की पूरी आशा लेकर जब शाहवाजखान और उसके सुप्रसिद्ध सेनानी कुम्भलगढ़ पहुंचे होंगे, और उन्हें 'चिड़िया उड़ गयी' यह मालूम हुआ होगा, तब कुछ कम गुस्सा और खीझ उनको नहीं हुई होगी। ऐसे में नरसंहार सहज हो जाता है।

इतिहासकार इस पर सहमत हैं कि प्रताप ने कुम्भलगढ़ छिपकर छोड़ा था। डॉ. गोपीनाथ शर्मा कहते है कि प्रताप आधी रात के समय कुम्भलगढ़ से निकला था,[2] और डॉ. रघुवीरसिंह कहते हैं कि 'विवश होकर प्रताप को वेश बदल कर कई सैनिको के साथ रात्रि में कुम्भलगढ़ से निकल जाना पड़ा।'[3]

प्रताप के कुम्भलगढ़ छोड़ने का स्पष्टीकरण देते हुए डॉ. शर्मा कहते हैं, "किला छोड़ने की यह कार्रवाई प्रताप के सारे सैनिक जीवन के अनुरूप थी, क्योकि वीर होते हुए

1. 'वीरविनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 1--
2 गोपीनाथ शर्मा, मेवाड़, पृष्ठ 98
3. रघुवीरसिंह, प्रताप, पृष्ठ 37

भी उसने वास्तविकताओं और सेनाध्यक्ष की आवश्यकताओं से आंखें नहीं मूंद रखी थीं। किले को छोड़ना और सुरक्षा के साधनों का बलिदान करना उतनी बड़ी क्षति नहीं थी जितनी शत्रु के सामने, किले पर संकट आने पर, सबके पीछे हटने पर उठानी पड़ती। प्रताप का लक्ष्य यह था कि शत्रु को अलग-अलग हराया जाये।"[1]

"मेवाड़ के जिस प्रमुख चारण ने अपने कृत्यों से, और अपनी कविता से, 'निर्दयी बादशाह' के विरुद्ध प्रतिरोध की उदात्त भावना को प्रेरित कर रखा था, और अपने स्वामी की सराहना में रचे जिसके कवित्त अब भी हर मुंह पर हैं, वह भी इस युद्ध में मारा गया। परन्तु काव्य की आत्मा उसके साथ मर नहीं गयी, क्योंकि युद्धप्रिय राजपूत को—जो राष्ट्रीय उत्तेजना के कारण कमर कसकर कूदने में देरी ही नहीं करता—मनोभावना को आकाश जितना ऊंचा उठा देने वाले छन्दों द्वारा देशप्रेमी प्रताप की प्रशंसा करने में राजा और सामन्त, हिन्दू और तुर्क, सबमें होड़ लगी रहती थी।"[2]

कुम्भलगढ़ छोड़कर प्रताप ने कोई दुर्बलता दिखायी, इसकी कोई कल्पना भी नहीं करता, आज उन दिनों की चर्चा में इस घटना का बहुत उल्लेख भी नहीं किया जाता। वह युग था जब हजारों को अपनी जान होमने में देरी ही नहीं लगती थी, जब 'जान सस्ती और शान महंगी थी,' जब अपना सौन्दर्य और कौमार्य लेकर सैकड़ों महिलाएं और कन्याएं चिता पर बैठ जाया करती थीं। ऐसे समय में अपना स्थान छोड़ना मृत्यु से भी कठिन था। प्रताप ने अपने कुल की परम्परा से अपने कर्त्तव्य को अधिक महत्त्व दिया।

यही उसके पिता उदयसिंह ने भी किया था। आश्चर्य यही है कि जिस जेम्स टाड ने प्रताप की ओर से इसके लिए स्पष्टीकरण दिया है,[3] उसी ने उदयसिंह की इसी तरह की कार्रवाई के लिए निन्दा की,[4] और इतिहासकारों की आगामी पीढ़ियों को उदयसिंह के प्रति एकपक्षीय एवं अकारण निन्दात्मक दृष्टिकोण के लिए प्रेरित किया। प्रतापसिंह और उदयसिंह के व्यवहार में कोई अन्तर नहीं था।

कुम्भलगढ़ से निकलकर प्रताप पहाड़ों और जंगलों में चला गया, और शाहबाजखान उसका पीछा करता रहा। यह दौड़-भाग लगातार तीन महीने तक होती रही, परन्तु प्रताप पकड़ा नहीं जा सका, शाहबाजखान परेशान हो गया। हां, उसने मेवाड़ को बुरी तरह लूटा और बरबाद किया। 50 स्थानों पर उसने मुगल थाने कायम किये। 30 और थाने मेवाड़ के पड़ोस में पड़ने वाले जिलों में स्थापित किये गये। इस तरह, शाहबाजखान ने सोचा, मेवाड़ पूरी तरह जकड़ लिया गया है।

इसका असर भी पड़ा। बूंदी का विद्रोही राजकुमार दूदा (दुर्जनसाल) शाही सेवा छोड़कर चला आया था, और महाराणा के साथ हो गया था। शाहबाजखान ने जो

---

1. गोपीनाथ शर्मा, मेवाड़, पृष्ठ 99
2. जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 271
3. वही, पृष्ठ 271
4. वही, पृष्ठ 259

बरबादी मेवाड़ की की थी, और प्रताप जिस तरह भटकता फिर रहा था, दूदा उससे अपने बारे में फिर से सोचने को विवश हुआ। शाहवाजखान की ओर से भी उससे सम्पर्क किया गया—वह फिर से अकवर की सेवा में जाने को राजी हो गया।

कुम्भलगढ़ की विजय और मेवाड़ पर पूरे कब्जे का समाचार, तथा साथ में दूदा को लेकर, शाहवाजखान शाहंशाह की सेवा में पहुंचा—अकवर उस समय पंजाब में, झेलम के किनारे पर था। यहां पर पहले राजा भगवन्तदास और कुंवर मानसिंह पहुंचे, जिन्हें अकवर ने शाहवाजखान के साथ भेजा था, लेकिन उसने उन्हें कुम्भलगढ़ की चढ़ाई के पहले ही अपने पास से वापस शाही शिविर लौटा दिया था। वे रास्ते में अपने राज्य आंवेर रुकते हुए आये थे।

एक समकालीन विवरण के अनुसार उस समय वादशाह इन दोनो पर वहुत क्रोधित हुआ, "और कहा कि कुम्भलमेर से भागकर क्यो आये ? कुम्भलमेर मे इन लोगों में वहुत वुरी वीती। वहां ये धरमद्वार मांगकर निकलकर आये थे। वहुत खर्च करके, हारकर और भूखों मरते भागकर आये थे, इसलिए वादशाह वहुत क्रोधित हुए।"[1] परन्तु यह कथन विश्वसनीय नहीं लगता, इतिहासकार इसे 'शिविर में अकारण फैली गप्प' मानते है,[2] अकवर के शाही इतिहासकार ने ऐसा उल्लेख नहीं किया है। 'वादशाह वहुत क्रोधित हुए' यह वताने के साथ-साथ लेखक, अगले ही वाक्य में, कहता है कि इन दोनों की 'आवभगत अखैराज वीका ने की', वादशाह जिनसे इतना नाराज होता उनकी ऐसी खुली आवभगत नहीं की जा सकती थी। फिर, ये दोनो कुम्भलगढ़ की लड़ाई में नहीं थे जो इस प्रकार की नौवत आती, वे वहां से नहीं भागे थे, कुम्भलगढ़ की चढ़ाई से पहले ही शाहवाजखान द्वारा भेज दिये गये थे।

एक और ध्यान देने योग्य घटना का उल्लेख इसी स्थल पर 'दलपत विलास' में मिलता है, "जव दूसरे ठाकुर कामकाज कर रहे थे और कुंवर मानसिंहजी, दलपतजी तथा राव दुरगा एक जगह वेठे हुए थे, उतने में कसूम्भा पिये हुए एक राजपूत कुंवर मानसिंह जी को मारने के ख्याल से आया। जव वह होठ डसकर कटार निकाले, मानसिंहजी पर वार करने को उद्यत हुआ तो कुंवर दलपतजी की नजर पड़ी। तव कुंवर दलपत जी ने उसे देखकर राव दुरगा को कहा कि यह मानसिंहजी पर कटार मार रहा है सो देखते क्या हो ? इसे पकड़ो। तव राव दुरगा ने उसे हाथो से पकड़ लिया।"[3] यहां 'दलपत विलास' की उपलब्ध प्रति सहसा समाप्त हो जाती है। वह राजपूत मानसिंह को क्यो मारना चाहता था ? वह कौन था ?

शाहबाजखान शाहंशाह की सेवा में उपस्थित हुआ। अवुल् फज्ल याद दिलाता है कि उसे अजमेर सूबे के 'हठीले लोगों को दवाने और शरारती लोगो को

1. 'दलपत विलास', पृष्ठ 109
2. दशरथ शर्मा, पृष्ठ 141
3 'दलपत विलास', पृष्ठ 109

सीधा करने के लिए भेजा गया था। उसने वहां बहुत अच्छा काम किया, और बहुतों को मौत के घाट उतार दिया। कुछ ने आत्मसमर्पण करके अपने को बचा लिया, और शांति का विश्राम प्राप्त किया। राणा ने अपना निवास-स्थान लुटा लिया, और स्वयं घाटियों के बीच विलीन हो गया। दूदा, जो सदा से उपद्रवियों में प्रमुख रहा है, पछता कर सेवा में आ गया।"[1]

17 जून 1578 को, तिहारा गांव में, शाहबाजखान अकबर के सम्मुख प्रस्तुत हुआ। दरबार में उसका 'राजकीय सम्मान' से स्वागत किया गया। दूदा की 'दयनीय स्थिति' से अकबर को अवगत कराया गया, और उसे भी शाहंशाह ने भेंट का अवसर दिया। अकबर ने कहा कि उनके माथे पर तो 'निरंतर नाश' अंकित है, जो शरारती होते हैं उनके लिए शाही दया का अकाल पड़ा रहता है। परन्तु, क्योंकि 'वचन का पालन शासन का आवश्यक अंग है,' उसे क्षमा कर दिया गया, और 'शांति की छाया में बैठने की अनुमति' दे दी गयी। जब अकबर अपनी राजधानी के लिए रवाना हुआ, दूदा को पंजाब ही मे छोड़ दिया गया। वहां से वह फिर से भाग गया, और यह सबको प्रकट हो गया कि 'शाहंशाह को होने वाली बातों का पहले से आभास हो जाता है'। पिछले साल के 15 अक्टूबर को शाहबाजखान मेड़ता के शाही शिविर से रवाना हुआ था—आठ महीने उसे इस अभियान मे लगे। देखना यह है कि इनका परिणाम क्या हुआ ?

कुम्भलगढ़ पर शाही सेना के कब्जे के पहले मेवाड़ का सामन्त भामाशाह वहां के बहुत से निवासियों को लेकर मालवा की तरफ रामपुरा चला गया था। वहां के राव दुर्गा ने उसे, और उसके साथियों को, सुरक्षा और सुविधा दी। उसके साथ उसका भाई ताराचन्द भी था। थोड़ी स्थिति ठीक होते ही, भामाशाह ने मालवा में, जो उस समय शाही शासन मे था, जहां बन पड़ा लूटपाट की। 25 लाख रुपये और 20 हजार अशर्फियां उसके हाथ लगीं। इनको, और अपने साथियों को, लेकर वह पुनः महाराणा प्रताप के पास पहुचने के लिए रवाना हो गया।

महाराणा प्रताप कुम्भलगढ़ से निकलकर राणपुर (रणकपुर, जहां प्रसिद्ध जैन मन्दिर है, पहुंचा, और वहा से मेवाड़ की सीमा पारकर ईडर मे निकल गया। काफी समय उसे वहां रहना पड़ा। यहीं, चूलिया गांव मे, भामाशाह आकर उससे मिला, और मालवा मे लूटा धन (25,00,000 रुपये और 20,000 अशर्फियां) उसे भेंट किया। इतना धन और स्वामिभक्त भामाशाह के, नयी सैन्य के साथ, आ पहुंचने पर प्रताप में उत्साह फिर से उमड़ने लगा, और मेवाड़ की भूमि को मुगलो से मुक्त करने का उसने नया संकल्प लिया। भामाशाह की क्षमता देखकर उसे राज्य का सर्वोच्च पद देने का निश्चय किया गया।

मेवाड़ की पुनःप्राप्ति के लिए अभियान प्रारम्भ करने के पहले प्रताप ने अपनी

1 'अकबरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 355

प्रशासन व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये। भामाशाह को प्रधान बनाया गया। इस पद पर इन दिनों रामा महासहाणी काम कर रहा था।

भामो परधानो करै, रामो कीधो रद्द।
धरची बाहर करणनूं, मिलियो आय मरद्द॥

अर्थात्, भामाशाह को प्रधान बनाया गया, रामा को हटाया गया।[1] देश की तरफदारी करने को एक मर्द आ मिला है। यहां भामाशाह की प्रशंसा 'मर्द' कहकर की गयी है, 'दानी' या 'खजांची' कहकर नहीं, जो उसका रूप प्रचलित हो गया है।

भामाशाह के पूर्वजों के संबंध में कुछ विवाद हाल में चल गया है।[2] सारे तथ्यों पर विचार करने के बाद लगता है कि भामाशाह कावड़िया गोत्र का ओसवाल महाजन था। उसका पिता भारमल दिल्ली के निकट उस प्रदेश का रहने वाला था जो आजकल अलवर के नाम से प्रसिद्ध है। वह अपनी प्रतिभा के कारण राणा सांगा के समय में मेवाड़ के अधीन रणथम्भोर दुर्ग का किलेदार बन गया था। बाद में जो अशान्ति और अनिश्चय की स्थिति आयी उसमें यह परिवार फिर दिल्ली के आसपास जाकर बस गया। मेवाड़ में इसकी प्रतिष्ठा पुरानी थी, इसलिए महाराणा उदयसिंह ने भारमल को फिर से मेवाड़ की सेवा में बुलाया। उसे एक लाख की जागीर का पट्टा देकर अपना सामंत बनाया, वह उदयसिंह के समय में प्रधान (मंत्री) के पद तक पहुंच गया। बाद में उसका पुत्र भामाशाह उदयसिंह और प्रतापसिंह के समय में प्रधान बना। भामाशाह का भाई ताराचन्द भी इसी समय मेवाड़ की सेवा में था। दोनो ने हल्दीघाटी के युद्ध मे भी भाग लिया था। भामाशाह ने प्रताप की सैनिक टुकड़ियों का नेतृत्व करते हुए गुजरात, मालवा मालपुरा आदि इलाकों पर आक्रमण किये एवं लूटपाट कर प्रताप की आर्थिक सहायता की। अमरसिंह के समय में भी भामाशाह तीन वर्ष प्रधान पद पर रहा, और इसी पद पर उसकी मृत्यु हुई। इसके बाद भामाशाह का पुत्र जीवाशाह महाराणा अमरसिंह का प्रधान बना। वह कुंवर कर्णसिंह के साथ जहांगीर के दरबार में गया था।

ताराचन्द भी एक कुशल सैनिक एवं अच्छा प्रशासक था। वह भी कई बार, प्रताप की सेना लेकर शत्रुओं को दबाने एवं लूटपाट के लिए गया था। इसी सिलसिले में उसे मालवा जाने का अवसर मिला। प्रताप ने उसे सादड़ी का हाकिम भी बनाया था।

मुगल सेना क्या कर रही है, इसके समाचार प्रताप के पास बराबर पहुंचते रहते थे। भीलो ने प्रताप का जो साथ शुरू से दे रखा था, वह इन दिनों बहुत काम आया। वे दुश्मन के समाचार लाते थे, जहां बनता उसे लूटते थे, उसके पास सामान ले जाने वालों को रोकते थे, और अपने महाराणा को सुरक्षा ही नहीं, जीवनयापन की सुविधा भी

---

1. रामा कायस्थो के 'महासहाणी' कुल का था। उसे गलत तरह से कई जगह रामाशाह कहा गया है, कायस्थो मे 'शाह' लगाने की परम्परा [illegible] थी।
2 'शोध पत्रिका', 6, और 'शोध प[illegible]

उपलब्ध करते थे। मेवाड़ में भीलों से सहयोग महाराणा हमीर (सन् 1326) के समय से ही शुरू हो गया था, युद्ध में भी वे तभी से सक्रिय भाग लेने लगे थे, परन्तु प्रताप के समय में उनका योगदान लगभग निर्णायक रहा और जब इन दिनों के मेवाड़ में महाराणा के संकटपूर्ण दिनों की कल्पना होती है, यह मानने में कठिनाई नहीं होती कि यदि इन दिनों में भीलों ने पूरा साथ नहीं दिया होता तो प्रताप सचमुच कहीं का नहीं रहता।

शाहबाजखान के मेवाड़ को बरबाद करने, और मेवाड़ में तथा आसपास अस्सी थाने कायम करने की बात जब प्रताप के पास पहुंची, उसे मेवाड़ वापस प्राप्त करने का काम अवश्य ही कठिन लगा होगा। परन्तु साहस और सूझबूझ ने उसका साथ नहीं छोड़ा। शाहबाजखान ने इधर मेवाड़ से विदा ली, उधर प्रताप ने उसकी सीमा में प्रवेश किया।

एक-एक थाने पर मेवाड़ और मुगल सैनिकों के बीच युद्ध हुआ। इनमें से कोई संघर्ष बहुसंख्यक नहीं हो सकता था, एक-एक जगह, और कई बार कुछ ही लोगों के बीच, लड़ाई होती थी। ऐसी लड़ाइयां विकट और अधिक बलिदान एवं मानवीय गुणों की मांग करने वाली होती हैं, परन्तु इनको प्रसिद्धि बहुत नहीं मिल पाती। फिर भी इनमें से कुछ में ऐसी वीरता दिखायी गयी कि शताब्दियों बाद भी वे वीरों को प्रेरणा देने वाली बनी हुई हैं।

भामाशाह और ताराचन्द जिन दिनों रामपुरा में थे, और उन्होंने मालवा में लूटपाट मचा रखी थी, एक बार ताराचन्द मेवाड़ की दक्षिण-पूर्वी सीमा पर लगे हुए मुगल सूबे मालवा के मंदसोर क्षेत्र में चंबल के किनारे अपनी सैनिक कार्रवाई कर रहा था। इसकी खबर मिलने पर शाहबाजखान वहां जा पहुंचा, और उसने ताराचन्द को घेर लिया। ताराचन्द हाथ तो नहीं आया, लेकिन घायल हो गया और अपने घोड़े से गिरकर मूर्छित हो गया। रुणीजा (बस्सी) का राव सांईदास देवड़ा ताराचन्द को उठवाकर अपने निवास-स्थान ले गया, और वहां उसका इलाज कराया और उसे संरक्षण दिया। शाहबाजखान को बिना ताराचन्द को पकड़े लौट जाना पड़ा।

इस बात की खबर प्रताप को मिली, जो स्वयं जहां बन पड़ता मुगल थानों को लूटने और उखाड़ने में लगा था। इधर से जहां शाहबाजखान हटा, प्रताप आ धमका, और उसने मालवे में कई मुगल थानों को तहस-नहस कर दिया और वहां से धन-सम्पदा भी लूटी। राव सांईदास के प्रति प्रताप ने कृतज्ञता प्रकट की, और ताराचन्द को अपने साथ ले गया।

इन दिनों के आसपास ही शाहबाजखान के मेवाड़ से चले जाने का समाचार प्रताप के पास पहुंचा। पहाड़ों ही पहाड़ों वह दक्षिण-पूर्व से उत्तर-पश्चिम पहुंच गया।

शाहबाजखान ने कुम्भलगढ़ को लक्ष्य बनाया था, और इस तत्कालीन मेवाड़ की राजधानी को जीता था। प्रत्युत्तर में प्रताप ने इसी को जल्दी से जल्दी फिर से लेने का प्रबन्ध किया।

कुम्भलगढ़ से कोई ३० मील उत्तर-पूर्व में अरावली पर्वतमाला की दिवेर घाटी के पूर्वी सिरे पर स्थित दिवेर ग्राम में मुगल सैनिक टुकड़ी पड़ी थी । कुम्भलगढ़ की रक्षा-व्यवस्था के लिए जो प्रवन्ध शाहवाजखान ने किया था, उसमें इस थाने का वड़ा महत्व था । इसी को प्रताप ने अपना पहला लक्ष्य वनाया, और शाहवाजखान द्वारा हस्तगत मेवाड़ की मुक्ति का अभियान यहीं से प्रारम्भ किया । दिवेर की लड़ाई[1] इसी लिए वहुत प्रसिद्ध हो गयी है, और जैसा कि ऊपर वताया गया, जेम्स टाड ने इसकी कीर्ति हल्दीघाटी के साथ-साथ उल्लिखित की है ।

दिवेर के शाही थाने का मुख्तार 'वादशाह का काका' सुलतानखान था। उस पर प्रताप ने आक्रमण कर दिया। प्रताप का वड़ा पुत्र अमरसिंह और प्रधान भामाशाह भी इस समय उसके साथ थे। मेवाड़ की सेना आने की सूचना मिलते ही सुलतानखान युद्ध के लिए सामने आया और उसने आसपास के मुगल थानों में भी खवर भेज दी। मेवाड़ और मुगल सेनाओं के वीच यहां वड़ा भयंकर और निर्णायक युद्ध हुआ। सुलतानखान हाथी पर वैठा अपनी सेना का संचालन कर रहा था। प्रताप के एक वीर सैनिक ने तलवार के वार से इस हाथी के अगले पैर काट डाले और प्रताप ने हाथी के मस्तक को भाले से फोड़ दिया। हाथी धराशायी हो गया। सुल्तानखान को हाथी छोड़ना पड़ा और वह घोड़े पर वैठकर लड़ने लगा। उसका सामना अमरसिंह से हुआ। उसने भाले का ऐसा जोरदार वार किया कि एक ही वार में 'सुलतानखान के, उसके घोड़े के, तथा उसके टोप-वख्तर के एक साथ टुकड़े-टुकड़े कर दिये'।

'अमर काव्य' के अनुसार भाला सुलतानखान की छाती में ऐसा लगा कि वह खींचने पर भी नहीं निकला। प्रताप ने कहा, 'लात देकर खींचो।' अमरसिंह ने ठोकर देकर उस भाले को खींच निकाला। मरते-मरते सुलतानखान ने अमरसिंह के दर्शन करने चाहे। प्रताप ने उसके पास किसी अन्य योद्धा को भेजा। उसे देखकर सुलतानखान वोला, 'यह नहीं है। उसी को भेजो।' तव अमरसिंह उसके पास गया, जिसे देखकर सुलतानखान ने कहा कि इसी वीर के शस्त्र से मैं पवित्र हुआ हूं। अन्त में उसने पानी मांगा। प्रताप ने गंगाजल से भरा सुवर्ण कलश ले जाकर उसे दिया। पीकर उसने मोक्ष प्राप्त किया। यह विचित्र घटना सुनकर कोशीयल आदि स्थानों पर नियुक्त थाने उठ भागे। प्रतापसिंह का यश फैल गया। कवि-कल्पना का प्रभाव इस विवरण पर स्वीकार करने के उपरान्त भी यह स्पष्ट है कि दिवेर के युद्ध में प्रताप को यश और विजय प्राप्त हुई थी।

दिवेर की जीत की ख्याति चारों ओर फैल गयी, और मुगल सैनिक अपने थाने स्वयं खाली करके भागने लगे। जो जहां वच गये उनकी वहीं सफाई कर दी गयी। प्रताप के जीवन के वहुत वड़े विजय-अभियान का यह शुभ एवं कीर्तिदायी समारम्भ था।

---

1. दिवेर की लड़ाई कव हुई इस पर इतिहासकारों में मतभेद है। डॉ ओझा, श्री राम शर्मा और डॉ गोपीनाथ शर्मा इसे शाहवाजखान के पहले हमले के वाद हुआ वताते हैं, परन्तु डॉ. रघुवीरसिंह तीसरे हमले के वाद होना लिखते हैं। अभी तक इसकी वास्तविक तिथि निश्चित नहीं हो सकी है। इसी प्रकार इन वर्षों की अनेक घटनाओं की स्थिति है।

दिवेर के आगे कुम्भलगढ़ के पहाड़ शुरू हो जाते हैं। इस घाटी के मुहाने पर एक दूसरी मुगल चौकी थी। 'नामी मुगल' बहलोलखान यहां शाही सैन्य टुकड़ी के साथ नियुक्त था। प्रताप ने उस पर हमला किया। बहलोलखान और उसका घोड़ा प्रताप की तलवार के एक ही वार से मारे गये, अन्य मुगल सैनिकों को भी कत्ल कर दिया गया। दिवेर की घाटी पर प्रताप का आधिपत्य हो गया।

वह और आगे बढ़ा। कुम्भलगढ़ के निकट हम्मीरसर से भी मुगल थाना उठा दिया गया। कुम्भलगढ़ के शाही सैनिक प्रताप को इतना निकट आया जान, स्वयं किला छोड़कर भाग गये और मेवाड़ के ऐतिहासिक किले पर फिर से प्रताप का अधिकार हो गया। वहां का आवश्यक प्रबन्ध करके प्रताप और दक्षिण ओवरो गांव पहुंचा, वहां से जावर; जावर का सैनिक से अधिक आर्थिक महत्व था, वहीं की खानों से उन दिनों चांदी निकाली जाती थी।

मुगलों द्वारा मेवाड़ के दक्षिण-पश्चिमी पर्वतीय प्रदेश को मुक्त कराने के बाद प्रताप ने आसपास अपनी स्थिति दृढ़ करने की व्यवस्था की। जावर के नीचे था छप्पन-क्षेत्र और उसके नीचे पड़ते थे डूंगरपुर और बांसवाड़ा। ये सब ही मेवाड़ के प्रभाव क्षेत्र में आते थे, परन्तु मेवाड़ की स्थिति मुगल आक्रमणों के कारण निर्बल होने पर यहां के लोग सिर उठाने लगे थे। इन पर अपनी प्रभुता फिर से स्थापित करना सुरक्षा की दृष्टि से प्रताप को पहली आवश्यकता अनुभव हुई।

छप्पन क्षेत्र में सोनग राठौड़ राजपूतों की कई बड़ी जमींदारियां थीं, जो इस तरफ आ बसने के कारण 'छपनिये राठौड़' कहलाने लगे थे। बस्ती इस तरफ ज्यादातर मीणों की थी। इन लोगों ने महाराणा उदयसिंह के समय में, जब मेवाड़ पर बाहरी आक्रमण बढ़ गये, अपने को स्वतन्त्र करने का प्रयत्न किया था, परन्तु उन दिनों परिस्थिति ऐसी नहीं थी कि इनका दमन किया जा सकता। प्रताप के शासन के आरम्भिक दिनों में भी कुछ गड़बड़ी इन लोगों ने की थी, और प्रताप ने इन्हें दबाया था। प्रताप की स्थिति बिगड़ने पर इन्होंने फिर सिर उठा लिया। इस समय यदि इन्हें काबू में नहीं किया जाता तो ये लोग बहुत उत्पात कर सकते थे, विशेषतः जबकि निकटस्थ राज्य डूंगरपुर और बांसवाड़ा पर मुगल अधिकार हो गया था।

छपनिया राठौड़ों में उन दिनों प्रमुख था चावंड का लूणा चावंडिया राठौड़। उसने सारे क्षेत्र पर अपना दबदबा जमा रखा था। प्रताप ने उसी पर हमला किया; उसे परास्त करके चावंड उससे खाली करा लिया। अन्य राठौड़ जमींदारों का भी दमन किया गया, और सारे छप्पन क्षेत्र पर प्रताप का पूरा अधिकार हो गया।

कदाचित् चावंड पहुंचने का एक उद्देश्य प्रताप के मन में अपने निवास के लिए सुरक्षित स्थान ढूंढना भी था। चित्तौड़, उदयपुर, कुम्भलगढ़, गोगूंदा—मेवाड़ की सब राजधानियां मुगलों ने जीतकर अरक्षित कर दी थीं और मुगलों के आक्रमण का भय अब भी बना हुआ था। प्रताप पर्वतों के और भी आन्तरिक भाग में अपनी राज-

धानी बनाना चाहता था। चावंड इसके लिए सबसे उपयुक्त लगा। चावंड कुम्भलगढ़, गोगूंदा और उदयपुर तीनों से दूर, दक्षिण की तरफ पहाड़ों के बीच प्राकृतिक दृष्टि से अत्यन्त सुरक्षित स्थल पर है। अतएव सैनिक दृष्टि से इस अधिक सुरक्षित स्थान को प्रताप ने अपने निवास के लिए चुना। राजघराने के लिए यहां महल, और सामन्तों, सेनानियो, सैनिकों आदि के लिए भी उपयुक्त मकान बनवाये गये। चामुंडा माता का मन्दिर स्थापित किया गया। इस 'राजधानी' के अवशेष अब भी देखे जा सकते हैं।

चावंड में रहकर प्रताप ने परिस्थिति का पुनरावलोकन किया, और एक बार फिर से मेवाड़ के आसपास अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयत्न किया। डूंगरपुर और बांसवाड़ा चावंड से दूर नहीं थे। यह दोनों राज्य परम्परा से मेवाड़ के प्रभाव क्षेत्र में थे। अकबर जब मेवाड़ से इधर होकर निकला था, दोनों राज्यों के राजाओं ने मुगल आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। प्रताप ने इनको फिर से मेवाड़ के अधीन लाने का प्रबन्ध किया।

रावत भाण[1] (कुम्भलगढ़ पर प्रताप द्वारा नियुक्त भाण से भिन्न) के नेतृत्व में मेवाड़ी सेना बांसवाड़ा और डूंगरपुर से निपटने के लिए पहुंच गयी। सोम नदी के किनारे जमकर लड़ाई हुई, जो राज्य हाल तक अपने को मेवाड़ के अधीन मानते थे उन्होंने भी बिना लड़े अपने पर मुगल दबदबा उठना स्वीकार नहीं किया। इस बीच ये दोनों राज्य मुगल दरबार के बहुत निकट आ गये थे, डूंगरपुर वालो ने तो अपनी बेटी भी अकबर को ब्याही थी। उधर, प्रताप की परिस्थिति उन्हें दुर्बल लगती थी, उससे संरक्षण की आशा नहीं रही थी, फिर से शाही आक्रमण से वे बचना चाहते थे। जो हो, लड़ाई भयानक ही हुई, जिसमें मेवाड़ी सेना का सेनापति भाण भी बहुत घायल हुआ, और उसका काका रणसिंह मारा गया। वागड़िये चौहानो ने बड़ी वीरता दिखायी, फिर भी अंततः विजय मेवाड़ी सेना की ही हुई, दोनों राज्यों ने फिर से प्रताप का पक्ष स्वीकार किया। अपनी नयी राजधानी के सन्निकट प्रताप संभावित संकट से मुक्त हुआ।

शाहबाजखान को गये छः महीने भी नहीं हुए थे कि प्रताप ने फिर से मेवाड़ के उस भाग को अपने कब्जे में कर लिया जिसे जीतकर शाहबाजखान लौटा था। उसकी की-करायी मेहनत पानी में मिल गयी। डूंगरपुर और बांसवाड़ा के भी शाही आधिपत्य से निकल जाने का समाचार अवश्य ही अकबर के दरबार मे 'राणा का उपद्रवकारी सिर उठाना' लगा होगा। शाहबाजखान को ही स्थिति का सामना करने के लिए फिर से नियुक्त किया गया। उसके साथ कई प्रमुख मुगल सेनानी किये गये। आदेश, फिर से, यही थे कि राणा आदि को शाही सेवा में आने को 'प्रेरित' किया जाये, यदि वे नही मानें

1 रावत भाण शक्तिसिंह का बडा लडका था जिसे प्रताप ने भीडर की बडी जागीर दी थी। भीडर वाले मेवाड़ के प्रथम श्रेणी के सामन्त माने जाते थे। महाराणा के भाई के कुटुम्ब वाले होने के कारण इनको 'महाराज' कहा जाता था मेवाड मे सीसोदिया के समस्त ठिकाने वालो को 'रावत' पदवी तथा अन्य क्षत्रिय सामन्तो को 'राव' पदवी से सम्बोधित किया जाता था।

तो 'बलबलती तलवारों से उनका नाश कर दिया जाये'। सेना के साथ बहुत-सा धन भी भेजा गया। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि मेवाड़ के सैनिक जिधर शाही सेना जाती थी उधर ही खेत और खलिहान उजाड़ देते थे, रसद प्राप्त करने में दिक्कत ही नहीं खर्चा भी बहुत पड़ता था। परन्तु इस कारण इस धन का विशेष उल्लेख अनिवार्य नही लगता, फोज जाएगी तो अपना खर्च ले ही जाएगी। अतएव हो सकता है कि यह धन जो काम का हो उसे घूंस देने के लिए दिया गया हो। प्रताप को हर तरह काबू में रखने की कोशिश थी।

15 दिसम्बर 1578 को शाहबाजखान अपनी सेना के साथ मुगल राजधानी से रवाना हुआ। यद्यपि अबुल् फज्ल ने कहा है कि 'थोड़े ही समय में उस काले विचारों से भरे (राणा) का मान मर्दन कर दिया गया', परन्तु शाहबाजखान को इस बार फिर से मेवाड़ में छः महीने लगे। अजमेर सूबे की 'समस्याएं सुलझा करके' और 'जिद्दी लोगो को आज्ञापालन के लिए विवश करके', वह 10 जून 1579 को फतहपुर–सीकरी लौटा। मेवाड़ मे उसने क्या किया, इसका विस्तृत विवरण कहीं नहीं मिलता, परन्तु वही सब फिर से हुआ होगा। जहां शाही सेना पहुची, मेवाड़ी सैनिक एक ओर उसके मार्ग से हटते गये, दूसरी ओर उस पर छुट-पुट हमले करते रहे। प्रताप स्वयं पहाड़ों में चला गया। मुगल थाने फिर से मजबूत कर दिये गये। इसका परिणाम भी वही निकला। शाहबाज खान के लौटते ही प्रताप ने अपनी भूमि फिर से प्राप्त कर ली।

इसकी पूरी जानकारी अकबर को अजमेर में मिली होगी। ख्वाजा साहब की सेवा में अपनी अंतिम यात्रा पर अकबर अजमेर 14 अक्टूबर 1579 को पहुंचा। ऐसा लगता है, यह यात्रा मुख्यतः धार्मिक नहीं थी। इस तरह की यात्राओं पर उसका उतना विश्वास उन दिनो नही रह गया था।

यह यात्रा सुप्रसिद्ध 'अभ्रान्ति आज्ञापत्र' निकाले जाने के एक सप्ताह बाद ही की गयी थी। 'अकबर के विचारो, विश्वासों और निजी जीवन में अधिकाधिक उदारता और निष्पक्षता की ओर महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लक्षित होने लगे। इसके दो कारण थे। एक तो विभिन्न धर्मो और देशो के विद्वानो तथा धर्मनिष्ठ लोगों से सम्पर्क और दूसरा स्वयं अपना आत्मनिरीक्षण।' मुस्लिम कठमुल्लापन मानने से उसने इन्कार कर दिया। साम्राज्य के सर्वप्रमुख धार्मिक अधिकारी, मुख्य सदर अब्दुन् नबी को पदच्युत और निर्वासित कर दिया गया–'इस देश मे किसी सदर ने न कभी ऐसी सत्ता का उपभोग किया न कभी इतनी बड़ी धनराशि के भत्ते ही अपने हाथों प्रार्थियो को दिये। दान-पुण्य की भी इन्हीं दिनों अकबर ने अति ही कर दी। इबादतखाना सभी धर्मो के विद्वानों और सन्तो के लिए खोल दिया गया। अकबर ने मुख्य मस्जिद के धर्मासन से स्वयं खुतबा पढ़ा। उसे मुस्लिम कानूनों का मुख्य व्याख्याता और निर्णायक घोषित कर दिया गया: इस घोषणा को ही 'महजर' अथवा 'अभ्रान्ति आज्ञापत्र' कहा गया है। वह 'कट्टर मुसलमानो की तरह एक विशेष खेमे मे नमाज पढ़ता रहा'। इसी तरह जो उसका विरोध करते थे उन्हें

उसकी उपरोक्त उदारता का कोई लाभ नहीं हुआ। उनके विरुद्ध 'असंदिग्ध, असीम, असाधारण अत्याचार' की नीति जैसी की तैसी वनी रही, उन्हें अपने अधीन करना कदाचित् इस धार्मिक भावना का ही अंग वना लिया गया। इस यात्रा में मेवाड़ के विरुद्ध नया सैनिक अभियान आयोजित किया गया।

वह अजमेर साधारणतः ख्वाजा साहव के उर्स के दिनों में आया करता था, इस वार अपने जन्म दिन के आसपास आया था। "उसके महान मन में अचानक यह आया कि यात्राओ की प्राचीन प्रथा को केवल मात्र कुछ परिस्थितियों में ही धार्मिक माना जा सकता है, और यदि सर्वसाधारण के हित का ध्यान रखे विना की जायें तो राजकीय अभियानो को प्रशंसा योग्य नहीं ठहराया जा सकता। उसने पता लगाया कि ऐसी परिस्थितियां हैं या नहीं, और क्या वह, पिछले सालों की प्रथा के विरुद्ध, अपनी अजमेर यात्रा स्थगित कर सकता है। जव यह मालूम हुआ कि उस ओर अभियान पर निकलने से जनता में शांति होगी और अवज्ञाकारियों का दमन और भी प्रभावकारी होगा, उसने 8 सितम्वर 1579 को विश्वविजय के रिकाव (घोड़े की जीन के दोनों ओर, पैर रखने के लिए लटकता लोहे का आधार) पर अपना सौभाग्य चरण स्थापित कर दिया, और उधर की ओर चल निकला।"[1] इससे प्रकट होता है कि यह यात्रा मुख्यतः सैनिक अभियान था, और इसके लिए परिस्थितियां प्रताप ने अपने 'उपद्रव' से उत्पन्न कर दी थीं।

दो सप्ताह अकवर अजमेर में रहा। अपनी राजधानी के लिए लौटते हुए इस वार वह मेवात होकर रवाना हुआ।

इस वीच वह मेवाड़ के मामले पर वरावर विचार कर रहा था। जो निर्णय वह अजमेर में कर सकता था, वह उसने लौटते हुए सांभर के पास किया, इससे लगता है कि उसने इसी वीच मेवाड़ की परिस्थिति की ताजी जानकारी भी प्राप्त कर ली। उसे इससे वहुत वेचैनी थी कि प्रताप ने तव तक की सभी शाही कोशिशों को नाकामयाव कर दिया है, और मेवाड़ के पश्चिमी प्रदेश पर फिर से उसकी प्रभुता हो गयी है। शाहवाज-खान उसके साथ ही था। अकवर ने सांभर (जहां नमक की झील है) ही में उसे 'विजयिनी सेना' लेकर फिर से मेवाड़ जाने की आज्ञा दी, जिससे वह अजमेर सूवे में "सार्वभौम शक्ति के कानूनों की सुरक्षा कर सके, और शांति कायम रखने और उस प्रदेश को सभ्य वनाने में अपनी पूरी शक्ति लगा सके।"[2] तत्काल सांभर से ही 15 नवम्वर 1579 को वह अपने अभियान पर चल दिया। उसने दृढ़ निश्चय कर लिया कि इस वार 'मुख्य उद्देश्य' प्राप्त करने में कुछ उठा नहीं रखा जाएगा।

उसे फिर छः महीने से ज्यादा मेवाड़ से निपटने मे लगे; वह वापस अकवर के दरवार में 12 जून 1580 को पहुंचा। तीसरी वार उसे भेजकर व्यक्तिशः उसमें, और

---

1. 'अकवरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 402
2 'अकवरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 406

उसकी नीतियो में, अकबर ने अपना विश्वास प्रकट किया था। शाहबाजखान ने प्रताप को पकड़ने में कुछ उठा नहीं रखा था; उसमें सफल चाहे वह नहीं हुआ हो, हर बार उसने मेवाड़ से बदला लेने और उसे बरबाद करने में कोई कोताही नहीं की थी। अकबर ने सैनिक गैर-सैनिक सब क्षेत्रों में हिन्दुओं को ऊंचे पद दे रखे थे, जो हिन्दू उसके साथ थे उन्हे वह जाति के कारण हीनता अनुभव नहीं होने देता था। परन्तु शाहवाज खान मेवाड़ के विरुद्ध अपने अभियानो में किसी उच्च हिन्दू सामन्त या सेनानी को नहीं ले जाता था। इस विषय में अकबर ने हस्तक्षेप नही किया, जो ठीक भी था; जिसे सेनापति बनाया जाये उसे अपनी सेना, अपने शस्त्र, और अपनी रणनीति, चुनने का अधिकार होना चाहिये। प्रताप के साथ भी इन दिनों मुसलमान हों, ऐसा नहीं लगता। यद्यपि कभी केवल मात्र राजपूतों को लेकर वह नही लड़ा, परन्तु जब पहाड़ो और घाटियो में दिन-रात भटकना पड़े, वे ही साथ रह सकते थे जो अधिक निकटता अनुभव करते हों। इनमें गैर-राजपूत अवश्य बहुत थे, ऊँचे पदो पर भामाशाह, ताराचन्द, रामा महासहाणी आदि के नाम आते है, और भीलों और भील सरदारों के भी। परन्तु जो प्रताप के साथ थे वही थे, बाहर से सहयोग-सहायता कठिन हो गयी थी, शाहबाजखान ने मेवाड़ को चारों तरफ से जकड़ दिया था। इतने पर भी इसे हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष नहीं माना जा सकता। मूलतः न प्रताप की, न अकबर की, इस प्रकार की नीति थी, मेवाड़-मुगल संघर्ष ही में थोड़े समय बाद यह स्पष्ट हो गया। दूसरे, यदि प्रताप के साथ मुसलमानों का इन दिनों नाम नहीं आता तो वह परिस्थितिवश था, और यदि शाहबाजखान के साथ हिन्दू सेनानी नही रह गये थे तो यह उसकी रणनीति के कारण था।

प्रतिकूल परिस्थितियो में भी प्रताप की प्रतिष्ठा पर कोई आंच नहीं आयी थी। मेवाड़ की जो भूमि उसके अधिकार में थी वहां तो उसे पूरा समर्थन और सहयोग मिल ही रहा था, जो भूमि मुगलो के अधिकार में चली जाती थी वहां भी प्रताप का दबदबा बना रहा। मुगल सेना को सब तरह की सहायता बन्द करने के उद्देश्य से उसने मेवाड़ का सारा समतल क्षेत्र उजड़वा दिया था, वहां अन्न की क्या, तरकारी की भी खेती वह नही होने देता था। उसके सैनिक ही नही, वह स्वयं भी चारों तरफ निगाह रखता था। एक-दो अवसर ऐसे आये जब प्रताप ने खेती करते किसान का अपनी तलवार से सिर काट दिया। इससे उसकी धाक मुगलो के अधीन आये मेवाड़ मे भी बनी रही। किसान अपने परिवार और सामान लेकर, अपने घरो और खेतो को छोड़कर, जहां बन पड़ा चले गये। मारवाड़ के राव चन्द्रसेन ने भी विद्रोह का झंडा झुकाया नहीं था। प्रताप का दबदबा जब बढ़ता था उसे प्रोत्साहन मिलता था। इन दिनों वह अजमेर के आसपास पहुंच गया और उससे निपटने के लिए पाइन्दा मुहम्मदखान मुगल के नेतृत्व में अलग से सेना भेजनी पड़ी। मारवाड़ और मुगल सेनाओ के बीच 'भयानक युद्ध' हुआ, जिसमें मुगल सेना विजयी रही। चन्द्रसेन अपने रेगिस्तानी क्षेत्र में निकल गया।

शाहबाजखान की यह तीसरी बार मेवाड़ पर चढ़ाई थी, और उसने पूरा प्रयत्न अपने मूल उद्देश्य—प्रताप की प्राप्ति अथवा समाप्ति—में सफल होने का किया।

"मुगल सेनाओं द्वारा निरन्तर पीछा किये जाने का प्रभाव अन्ततः महाराणा के स्वल्प साधनों पर पड़ने लगा, और कुछ समय उसे अवश्य ऐसा युद्ध लड़ना पड़ा जिसमें उसकी जीत नहीं हो रही थी। व्यापक पर्वतमाला ने अवश्य उसका साथ दिया, परन्तु शाहबाजखान का कोई इरादा उसे भागने में सफल होने देने का नहीं था।"[1] "शाहबाजखान ने बड़ी तत्परता और चतुराई के साथ प्रताप का पीछा किया। निरन्तर होने वाले छुटपुट युद्धों में अनेकों राजपूत योद्धा काम आये। उसने प्रताप के कई पड़ावों पर सहसा आक्रमणकर उन्हें लूट लिया। अनेको स्थानो पर नये शाही थाने बिठा दिये गये। इस प्रकार बारबार प्रयत्न करने पर भी शाहबाजखान प्रताप को नहीं पकड़ पाया। किन्तु उसके इन आक्रमणों से घबराकर प्रताप ने मेवाड़ छोड़ देने का निश्चय किया। वह गोड़वाड़ की ओर चल दिया। शाहबाजखान के इन प्रयत्नो के फलस्वरूप जल्दी ही समूचे मेवाड़ प्रदेश पर मुगल आधिपत्य हो जाने की संभावना हो चली थी, तभी एकाएक मई 1580 के उत्तरार्ध में अकबर ने शाहबाजखान को मेवाड़ से वापस बुला लिया।"[2] "शाहबाजखान दरबार में उपस्थित हुआ। उसे अजमेर सूबे में अभिमानियो को आज्ञाकारी बनाने के लिए भेजा गया था। उसकी शक्ति और योग्य सेवा के कारण राणा प्रताप रेगिस्तानी आवारा हो गया, और उसे बहुत बुरे दिनों का सामना करना पड़ा। उसे हर सुबह लगने लगा कि आज उसका आखिरी दिन होगा, और डर के मारे भागते-भागते उसके पैरो में छाले पड़ गये। शाहबाजखान ने तेजमल सीसोदिया के निवास-स्थान पर भी सफल आक्रमण किया। अनेक उद्दंडी मार डाले गये, और उसका निवास लूट लिया गया। पास-पड़ौस से भी शरारतियो का सफाया कर दिया गया, और वहां सैनिक थाना कायम कर दिया गया। भाग्यहीन लोग उससे बहुत ही डर गये। जब पूर्वी जिलों में विद्रोह के गुबार उठने लगे, उसे वहां भेजने के लिए बुला भजा गया।"[3] इस तरह शाहबाजखान का मेवाड़ के विरुद्ध तीसरा प्रयत्न समाप्त हुआ; उसे बंगाल की तरफ भेज दिया गया। वह मेवाड़ाधिपति को नहीं जीत पाया था, परन्तु उसने मेवाड़ को करीब-करीब जीत लिया था। इससे मुगल दरबार में मेवाड़-विजय की बड़ी खुशियां मनायी गयीं।

इन दिनो का जेम्स टाड ने बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है, जिसमें तथ्यो से अधिक भावना की प्रधानता है, परन्तु शारीरिक कष्ट और कटुता के क्षणो में भी किस प्रकार उदात्त भावना की विजय हुई, यह भी अच्छी तरह प्रकट हो जाता है।

"इस प्रकार हर ओर से घिर जाने पर, अपने सबसे छिपे बचाव के स्थानो से भी निकाल दिये जाने पर, और वृक्षो से आच्छादित घाटी-घाटी मे पीछा किये जानेपर,

---

1 श्रीराम शर्मा, प्रताप, पृष्ठ 106

2 रघुवीर सिंह, प्रताप, पृष्ठ 39

3 'अकबरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 459। मेवाड मे उसे पूरी सफलता नही मिल रही है, यह भी अकबर के ध्यान मे होगा। शाहबाजखान का ही मेवाड के विरुद्ध यह अंतिम अभियान नही था, प्रताप के विरुद्ध हिन्दू सेनापतियो को न भेजने की रणनीति की भी यह समाप्ति थी।

प्रताप के लिए कोई आशा ही नहीं बची लगती थी; फिर भी, जबकि उसका पीछा करने वालों को आशा थी कि वह किसी मुंह छिपाने लायक दूरस्थ जगह में खड़ा हांफ रहा होगा, वह पर्वतीय प्रदेश में सदेश भेजने के साधनों से अपने अनुयायियों को एकत्रित कर लेता था, और शत्रु पर बिना बताये, बहुधा जब वे आत्मरक्षा के लिए तत्पर नहीं होते थे उसी वक्त, टूट पड़ता था। एक चतुराई भरे सैन्य प्रयत्न में फरीद, जो राजपूत राजा (प्रताप) को अपना बंदी बनाने से नीचे की बात का सपना भी नहीं देखता था, एक घाटी में घेर लिया गया, और उसकी सेना के एक-एक सैनिक का काम तमाम कर दिया गया। इस तरह के युद्ध में अनभ्यस्त, भाड़े पर खड़े किये गये मुगल सैनिक एक ऐसे शत्रु का पीछा करते-करते परेशान हो गये जो शायद ही कभी दीखता था; उधर बरसात ने पर्वतीय नालो को पानी से बुरी तरह भर दिया, जिसने अनेक जलागार खनिज विष से भर गये और वायु विनाशक गंधो से दूषित हो गयी।' इस तरह वर्षा ऋतु आने पर सदा प्रताप को कुछ विश्राम मिल जाता था।

"वर्ष के उपरान्त वर्ष इस प्रकार व्यतीत होते गये। हर वर्ष उसके साधन कम होते जाते थे, और उसकी विपत्तियां बढ़ती जाती थीं। प्रताप की चिन्ता का मुख्य कारण उसका परिवार था। इस बात का भय उसे सदा लगा रहता था कि कहीं उसमें से कोई पकड़ा न जाये, यह भय ऐसा था जो कई बार सच्चा होते-होते रह गया था। एक बार उन्हें स्वामिभक्त भीलों ने बचाया था। वे उन्हें टोकरियो में बैठाकर ले गये और जावर की खानो मे छिपाकर रखा, वहां भीलों ने उनकी सुरक्षा का और खाने-पीने का प्रबन्ध किया। जावर और चावंड के आस-पास पेड़ो पर जिन पर वे टोकरियां टांगी जाती थीं, और जो मेवाड़ के राज-परिवार के बच्चों के उन दिनों झूलने बने हुए थे, अब भी छल्ले और कीलें देखी जा सकती है जिनके सहारे बच्चो को चीतों और भेड़ियों से बचाने के लिए टोकरियो में टांगा जाता था। इन उलझन भरी मुसीबतो में भी प्रताप का धीरज कभी नही डिगा; और अकबर ने जो जासूस भेजा वह यह खबर लेकर लौटा कि वह राजपूत (प्रताप) भोजन थोड़ा होने पर भी अपने सरदारों को साथ बैठाकर खाना खाता है, उस समय वह सब कायदे निबाहे जाते हैं जो सम्पन्नता के दिनों के लिए थे; राणा उसी तरह सबसे सुयोग्य सरदार को अपने भोजन मे से 'दोना' देता था, और उसे उसी तरह अच्छे दिनो मे दिखाये जाने वाले सम्मान के साथ स्वीकार किया जाता था, यद्यपि उसमे खाने को केवल आसपास मिलने वाले जंगली फल ही होते थे। ऐसी अबाध महानता की बातो ने अकबर की आत्मा को भी छू लिया, प्रताप ने राजस्थान के हर राजा की प्रशंसा प्राप्त की; शाहशाह की सेवा मे जगमगाते जलूस मे जिन लोगो ने भीड़ कर रखी थी वे भी प्रताप की सराहना करने से अपने को नहीं रोक सके। इतना ही नहीं, इन ख्यातो मे उस महान् राजपूत को संबोधित अपनी भाषा मे लिखे ऐसे पद सुरक्षित हैं जो सम्राट् के प्रमुख सामन्त खानखाना ने प्रताप की वीरता की प्रशंसा और उसके धीरज को प्रोत्साहित करने के लिए लिखे थे: 'संसार मे सब कुछ अस्थाई है: भूमि और धन आज

हैं, कल नहीं रहेंगे, परन्तु एक महान् नाम की कीर्ति सदा अमर रहती है। प्रताप ने धन और भूमि सबको छोड़ दिया, परन्तु उसने कभी अपना सिर नहीं झुकाया: हिन्दुस्तान के सब राजाओं में उस अकेले ने अपनी जाति के सम्मान की रक्षा की।'

"परन्तु ऐसे क्षण भी आये जब अपने जीवन से भी अधिक प्रिय लोगों की जरूरतों ने उसे पागल-सा कर दिया: पर्वतों और कंदराओं में भी उसकी परम प्रिय रानी सुरक्षित नहीं थी, और उसके बच्चे, जो जन्म से सभी तरह ही सम्पन्नता के अधिकारी थे, उसके आसपास भोजन के लिए रोते रहते थे: क्योंकि नीच मुगल नौकर ऐसे हठपूर्वक उनका पीछा करते रहते थे कि 'पांच बार भोजन तैयार किया गया और खाने का मौका नहीं मिलने के कारण उसे पांचों बार छोड़ना पड़ा।' एक मौका ऐसा आया जब कि उसकी रानी और पुत्रवधू ने माल (कोदरा) नामक जंगली घास के आटे की कुछ बाटियां बनायीं, जिनमें से हर एक को एक-एक दे दी गयी; आधी उसी वक्त खाने के लिए, आधी अगली बार के लिए। अपने कष्टकारी भाग्य पर विचार में मग्न प्रताप उनके पास ही लेटा हुआ था, जबकि उसकी पुत्री की चीत्कार ने उसे चौंका दिया: एक जंगली बिलाव अगले भोजन के लिए बचायी बाटी झपटकर ले गया था, और भूख की पीड़ा के कारण उठी उसकी चिल्लाहट में सांत्वना देना भी कठिन हो गया था। उस क्षण तक उसका धैर्य कभी नहीं टूटा था। उसने अपने पुत्रों और अपने परिजनों को युद्ध क्षेत्र में गिरते स्वयं देखा था, फिर भी वह विचलित नहीं हुआ था—'राजपूत जन्म ही इसके लिए लेता है'; परन्तु भोजन के लिए उसके बच्चों की पुकार ने उसकी 'मनुष्योचित दृढ़ता' डिगा दी। उसने ऐसे राजत्व को धिक्कारा, यदि उसका लाभ ऐसे क्षणों में ही मिलने को था, और उसने अकबर से उसके (प्रताप के) कष्टों में कमी करने का अनुरोध किया।

"आत्मसमर्पण की इस अभिव्यक्ति से अकबर फूला नहीं समाया, उसने सार्वजनिक रूप से खुशियां मनाने का आदेश निकाल दिया, और पुलकित होकर वह पत्र पृथ्वीराज को दिखाया, जो विवशतावश विजयवाहिनी के पीछे-पीछे चला करता था। पृथ्वीराज बीकानेर के राजा का छोटा भाई था; यह राज्य हाल में मारवाड़ के राठौड़ों में से निकला था, परन्तु उसकी भूमि रेगिस्तान के समतल भाग में होने के कारण वह अपने बड़े भाई मालदेव जैसा प्रतिरोध करने की स्थिति में नहीं था। पृथ्वीराज अपने युग के सबसे शूरवीर सामन्तो मे से था, वह एक लक्ष्य को आत्मा को आसमान तक उछाल देने वाले छन्दो से अलंकृत कर सकता था, और अपनी तलवार से उसकी बहुत सहायता भी कर सकता था: इतना ही नहीं, राजस्थान के चारण जब एकत्रित होते थे, एकमत से सब सर्वोत्तम रचनाओ के लिए सर्वोच्च स्थान इस राठौड़ अश्वारोही को ही देते थे। प्रताप के नाम की तो वह आराधना किया करता था, और जब उसे यह (आत्मसमर्पण का) समाचार मिला उसका मन खेद से भर गया। अपने स्वभावानुसार बड़ी व्यग्रता और स्पष्टवादिता से उसने शाहंशाह से कहा कि यह राजपूत राजा (प्रताप) की कीर्ति के किसी शत्रु द्वारा बनायी हुई बनावटी चिट्ठी है। 'मैं उसे अच्छी तरह जानता हूं', उसने

कहा, 'वह तो आपके ताज मिलने की बात पर भी आपकी शर्तों को नहीं मान सकता।' उसने अपने दूत द्वारा प्रताप के पास एक पत्र भेजने की बादशाह से अनुमति मांगी, और वह प्राप्त की, जिससे वह ऊपर-ऊपर से तो राणा के आत्मसमर्पण की बात पक्की करना चाहता था, परन्तु वास्तव में उसे रोकना चाहता था। इस अवसर पर उसने उन छन्दों की रचना की जिनकी अब भी सराहना की जाती है, और उनसे जो परिणाम निकला उसके कारण, उनकी तुलना पश्चिमी जगत के इस प्रकार के अच्छे से अच्छे पदों से की जा सकती है। राठौड़ का यह उद्‌गार दस हजार सैनिकों के समान सिद्ध हुआ; इसने प्रताप के मुरझाते मन में नया जीवन फूंक दिया, और उसे फिर से अपने काम पर लगने के लिए प्रेरित किया : क्योंकि यह अत्यन्त उदात्त प्रेरणा पुंज था, जिससे उसकी जाति की हर आंख उसी पर लग गयी।"

जेम्स टाड ने यहां स्वयं कहा है, "बिना औपचारिकता के मैं यह बात कह रहा हूं कि अनुवाद के अधूरेपन में कृति की आत्मा विलुप्त हो जाती है। लेखक (अर्थात् टाड) को (पृथ्वीराज की) मूल रचना की शक्ति अनुभव हुई थी, यद्यपि वह स्वयं उस शक्ति की प्रतिकृति प्रस्तुत नहीं कर पाया है।"[1]

जेम्स टाड के तथ्य नहीं शब्द, उनके पीछे उमड़ती भावना, और उनकी अमिट प्रेरक शक्ति, ध्यान देने योग्य है। ऐतिहासिक दृष्टि से तथ्यों की छानबीन करने के पहले पृथ्वीराज-प्रताप के पद्यात्मक पत्र व्यवहार पर एक दृष्टि डाल लेना उचित होगा।

'पातल और पीथल का पत्र व्यवहार' बहुत प्रसिद्ध है।' 'पातल' से तात्पर्य महाराणा प्रतापसिंह से है और 'पीथल' से पृथ्वीराज राठौड़ से है। पद्य डिंगल (राजस्थानी पद्य का प्राचीन रूप) में है, उनका भावार्थ इस प्रकार है:

पृथ्वीराज की ओर से:–

'यदि प्रताप अपने मुंह से अकबर को बादशाह कहे तो कश्यप का पुत्र (सूर्य) पश्चिम में उदय होने लगेगा। हे दीवाण ! मुझे दो में से एक बात लिख भेजो, मैं अपनी मूंछों पर ताव दूं या अपनी तलवार से अपने ही शरीर पर प्रहार करूं।'

'पृथ्वीराज राठौड़ के इन शब्दों में जो विद्युत् तरंग है उसका वेग और शक्ति अनिर्वचनीय है। भाषा का ऐसा गठन अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। इनकी प्रेरणा से महाराणा प्रतापसिंह ने दृढ़ता धारण की और वे लोकपूजित हुए। असल में ऐसा पत्र पाकर महाराणा की तो बात ही क्या, कोई भी व्यक्ति सर्वस्व होमने के लिए सन्नद्ध हो सकता है। यदि दैव-दुर्विपाक से मान लीजिये महाराणा दृढ़ता धारण नहीं करते और वह भारती स्वाधीनता का सूर्य डूब गया होता तो पृथ्वीराज राठौड़ अपने जीवन को निश्चय ही व्यर्थ समझकर समाप्त कर डालते। परन्तु दोनों ही बातें होने वाली न थीं। न महाराणा डिगे और न वीर कवि की वाणी व्यर्थ गयी।'

---

1. जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 272

प्रताप सिंह की ओर से :

'एकलिंग जी इस शरीर से तो बादशाह को तुर्क ही कहलावेंगे, और सूर्य का उदय जहां होता है वहीं पूर्व दिशा में होता रहेगा।

हे वीर राठौड़ पृथ्वीराज ! जब तक प्रतापसिंह की तलवार यवनों के सिर पर है तब तक आप अपनी मूंछों पर खुशी से ताव देते रहिये।

(राणा प्रताप) सिर पर खांग का प्रहार करेगा, क्योंकि अपने बराबर वाले का यश जहर के समान कटु होता है। हे वीर पृथ्वीराज ! तुर्क के साथ वचन रूपी विवाद में आप भलीभांति विजयी हों।'

इस उत्तर को प्राप्त करके पृथ्वीराज स्वभावतः बहुत प्रसन्न हुआ, अकबर के सामने उसकी बात रह गयी।

पृथ्वीराज ने प्रताप की प्रशंसा में कुछ और पद लिखे थे, जिनमें से एक में कहा गया था :

'अकबर रूपी ठग भी एक दिन इस संसार से चला जायेगा, और उसकी यह हाट भी उठ जायेगी, परन्तु संसार में यह बात अमर रह जायेगी कि क्षत्रियो के धर्म में रहकर उस धर्म को केवल प्रतापसिंह ने निभाया। अब पृथ्वी भर में सबको उचित है कि उस क्षत्रियत्व को अपने व्यवहार में लावें।' -

महाराणा प्रताप के अकबर के विरुद्ध संघर्ष का राष्ट्रीय महत्त्व उसके समय में भी स्वीकार किया जाता था। पृथ्वीराज राठौड़ ने ही एक पद में कहा है :

'भारतीय स्वाधीनता के गौरव का तीन-चौथाई भाग अर्थात् अधिकांश समाप्त हो चुका है। अब उसका एक चौथाई भाग अर्थात् बहुत थोड़ा अंश बचा है। इस अवशिष्टांश को आप (प्रताप) ने अपने मस्तक पर धारणकर रखा है, और सभी भारत-भक्तों की दृष्टि आप पर जमी हुई है।'

इतिहासकार प्रायः इस पर एकमत हैं कि प्रताप-पृथ्वीराज पत्र-व्यवहार विश्वसनीय नहीं है। वास्तव में बात यह है कि ऐसा कोई पत्र-व्यवहार हुआ ही नहीं। "किसी समकालीन इतिहासकार ने, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, इसका उल्लेख नहीं किया है; और प्रताप से क्षमा-प्रार्थना का पत्र ऐसी चीज नहीं है जिसकी ओर कोई भी मुस्लिम इतिहासकार ध्यान देने से चूक जाता।"[1]

इस पत्र-व्यवहार की साहित्यिक दृष्टि से समीक्षा करते हुए डॉ. मनोहर शर्मा ने कहा है :

"इस लौकिक-प्रवाह की ऐतिहासिकता के संबंध में विद्वानों में मतभेद है और प्रामाणिकता हेतु कोई पुष्ट साधन उपलब्ध न होने पर भी यह विवाद चल रहा है। इस पत्र-व्यवहार की शैली राजपूत समाज की न होकर किसी चारण कवि की चीज प्रतीत

---

1. गोपीनाथ शर्मा, मेवाड़, पृष्ठ 101

होती है।....ये पद्य विशेष रूप से अर्थ-गंभीर हैं।....पृथ्वीराज राठौड़ स्वयं उच्चकोटि के कवि एवं भारत-भक्त थे।....(परन्तु) महाराणा प्रतापसिंह महावीर थे, वे कवि नही थे।"[1]

फिर भी इस पत्र-व्यवहार की महत्ता का डॉ. मनोहर शर्मा ने भली प्रकार प्रतिपादत किया है :

"प्राचीन काल से भारतीय प्रजा के सामने अपनी स्वाधीनता एवं जीवन-पद्धति की सुरक्षा का विकट प्रश्न रहा है। इस पुनीत कार्य हेतु सदा से भारतीय जनता संघर्ष एवं आत्म-बलिदान करती रही है। बाह्य आक्रमणकारियों ने अनेक बार इस देश को आक्रान्त किया और हर समय भारतीयों द्वारा उनका सामना किया गया। समय-समय पर यहां ऐसे त्यागी और वीर महापुरुष हुए हैं जो देश की सम्मिलित शक्ति एवं गौरव के प्रतीक रूप में लोक सम्मान के पात्र बने हैं।

"कई बार हमारा राष्ट्र-गौरव गिरा भी है, परन्तु वह सर्वथा विनष्ट कभी नहीं हुआ। दिल्लीपति अकबर के जमाने में भारतीयों के सामने बड़ी विकट स्थिति आयी और देश-गौरव के बचे रहने में संदेह पैदा हो गया। उस समय भारतीयता की उपासक समस्त प्रजा की आंखें महाराणा प्रतापसिंह की ओर लगी हुई थीं। महाराणा स्वयं वन-वासी बने हुए थे परन्तु वे सम्पूर्ण देश के लिए गौरव के प्रतीक थे। ऐसी स्थिति मे यदि महाराणा पराधीनता स्वीकार कर लेते तो भारत का सम्मान सर्वथा विनष्ट हो चुकता, और हजारो वर्षो से जिस ज्योति को जागृत रखने के लिए असंख्य नर-वीरो ने आत्म-बलिदान किया था, वह व्यर्थ चला जाता। इसी भावना से प्रेरित होकर किसी राष्ट्र कवि ने ये दोहे (अथवा सोरठे) बनाकर भारतीय प्रजा को समर्पित किये हैं।

"पृथ्वीराज के पत्र में दिये गये प्रथम पद्य को लीजिये। अकबर दिल्ली का बादशाह है। उसने बड़ी शक्ति संचित कर रखी है। परन्तु महाराणा प्रतापसिंह भारत के हृदय सम्राट हैं। एक ओर भौतिक शक्ति है तो दूसरी तरफ आत्मा का बल है। अकबर ने अपनी नीति और तलवार से यहां साम्राज्य स्थापित कर लिया परन्तु फिर भी महाराणा के रूप में भारत की आत्मा स्वाधीनता थी। वह कभी अकबर के सामने झुकी नहीं। यह एक ओर शक्तिशाली विस्तृत साम्राज्य एवं दूसरी ओर छोटे-से भू-भाग मे केन्द्रित एक राष्ट्र के गौरव का संघर्ष था।

"दूसरे सोरठे जैसा उद्गार तो शायद ही कभी किसी कवि के मुख से प्रकट हुआ होगा। इन शब्दों मे कवि-मुख से सम्पूर्ण भारत की आत्मा बोल रही है। इस दोहे के पीछे सम्पूर्ण भारत के हृदय की पीड़ा है। यह एक व्यक्ति की आवाज नहीं परन्तु एक प्राचीन एवं विशाल जाति की आवाज है। यह एक प्राचीन राष्ट्र के जीवन-मरण का प्रश्न है जो प्रताप की 'हां' या 'ना' पर निर्भर है। अतः कवि विस्तार में नहीं जाना चाहता।

---

1 मनोहर शर्मा, स्मृति ग्रंथ, प्रथम खंड, पृष्ठ 105

उसने लघुतम प्रश्न उपस्थित किया है। राष्ट्र का गौरव ही राष्ट्र कवि का जीवन है। राष्ट्र की पराधीनता राष्ट्र कवि की मृत्यु है। वह मान खोकर जीवित नहीं रहना चाहता। भारतीय कवि का स्वाभाविक रूप यही है, जिसका इस राजस्थानी सोरठे में साक्षात् दर्शन करके पुण्य-लाभ किया जा सकता है।

"महाराणा की तरफ से दिये गये उत्तर में 'तुरक' शब्द विशेष रूप से ध्यातव्य है। भारत में असुर, यवन, म्लेच्छ, तुरक आदि[1] शब्द समानार्थक-से हो गये हैं, और इन सबके पीछे एक ही भावना है। यह भावना भारतीय स्वाधीनता एवं संस्कृति पर चोट करने वालों के प्रति विरोध की सूचक है। भारत एक जीवित राष्ट्र है। उसमें आक्रामक के प्रति सार्वजनिक विरोध की स्थाई भावना है। उसमें सुदूर स्थित आत्मीय के प्रति सुदृढ़ भावात्मक एकता है। महाराणा के उत्तर में यही दृढ़ता प्रकट हुई है।

"इस प्रकार इस पत्र-व्यवहार के पांच पद्यो मे भारत की विजय का गौरवगान है। यह अकबर पर महाराणा प्रतापसिंह की विजय है। यह अकबर पर पृथ्वीराज राठौड़ की विजय है। सबसे ऊपर यह कवि-वाणी की विजय है। राजस्थान में सदा से कवि को विशेष सम्मान मिलता रहा है। इसका मूल कारण कवि-वाणी की तीव्र प्रेरणा है, जो इस पत्राचार में व्याप्त है।"[2]

"पृथ्वीराज और प्रताप के पत्र-व्यवहार के बारे में एक बात पर निश्चित रूप से कुछ कहा जा सकता है। अपने बच्चों की चिल्लाहट और अपने कुटुम्बियों के कष्ट से हताश होकर अकबर को पत्र लिखने या संधि प्रस्ताव करने का जो संकेत इस प्रवाद में है वह अवश्य ही निराधार है। यदि ऐसी कोई बात हुई होती तो अबुल् फज्ल बहुत ही बढ़ा-चढ़ा कर उसका उल्लेख अपने इतिहास मे निस्सन्देह करता। परंतु ऐसा कोई संकेत भी 'अकबरनामा' मे कहीं नही है। यह बात संभव है कि पहाड़ो मे प्रताप तथा उसके कुटुम्ब के संकटमय जीवन के विवरण जब अकबर को ज्ञात हुए होंगे तब उसने उनकी चर्चा पृथ्वीराज राठौड़ के सामने की होगी और यह आशा भी जाहिर की होगी कि इस स्थिति मे प्रताप अकबर की अधीनता स्वीकार कर लेगा। यद्यपि पृथ्वीराज राठौड़ स्वयं अकबर का सम्मानित दरबारी था और उस पर अकबर की बहुत कृपा थी, पर उसकी यही इच्छा रही होगी कि प्रताप अकबर की अधीनता न स्वीकार करे, प्रत्युत् अकबर के प्रति उसका विरोध अडिग रहे। अतएव पृथ्वीराज-प्रताप के पत्र-व्यवहार की कहानी सर्वथा अमान्य नही की जा सकती। यह भी कहा जा सकता है कि यह कथा पृथ्वीराज और प्रताप दोनों के जीवन-काल में ही प्रचलित हो गयी होगी। इससे यह बात भी प्रमाणित होती है कि विवशता के कारण जिन राजपूतो को अकबर की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी थी, प्रायः उन सबके हृदयो में प्रताप के प्रति अत्यधिक आदर और अटूट श्रद्धा थी, और वे

1. ये सब ही नाम विदेशियो के लिए काम मे लाये जाते थे।
2. मनोहर शर्मा, स्मृति ग्रथ, प्रथम खड, पृष्ठ 106

प्रताप की सफलता के लिए मन ही मन बहुत उत्सुक थे, जिससे राजस्थान में क्षात्र धर्म की परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे।"[1]

जेम्स टाड ने इस प्रवाद को अपनी कल्पना में से निकालकर अपने ग्रन्थ में जड़ दिया, ऐसा कोई नहीं कहता। उसके समय में मेवाड़ में अवश्य इस पत्र-व्यवहार की परम्परा प्रचलित थी। बीकानेर में भी इसका प्रचलन था। परन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में इसे ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, उस समय की भावना का प्रतिबिम्ब मात्र इसे माना जा सकता है।

जेम्स टाड द्वारा वर्णित वह मूल तथ्य भी विश्वसनीय नहीं है, जिसको लेकर प्रताप के आत्मसमर्पण की कल्पना की गयी है।

"देश निकाले के इन दिनो में प्रताप के जीवन की अलग-अलग तरह से व्याख्या की गयी है। यह चित्र प्रस्तुत किया गया है कि वह सदा घूमते रहने वाले का जीवन जी रहा था, अपने बड़े परिवार का पालन घास खिलाकर कर रहा था, रातें उसकी चटाई पर बेचैनी में बीतती थीं और वह जंगली जाति के लोगों के साथ एक घाटी से दूसरी में दुबकता फिरता था। राज परिवार की दुखस्था दर्शानेवाली कई कहानियां भी प्रचलित हो गयी हैं। इनमे सबसे अधिक प्रसिद्ध यह कहानी है कि प्रताप की चीखती बच्ची के हाथ से एक बिल्ली रोटी का टुकड़ा छीन कर ले गयी। परन्तु इन कहानियों के संबंध में दिक्कत यह है कि इनका उल्लेख किसी ख्यात में नहीं मिलता, 'राजप्रशस्ति', 'अमरकाव्य वंशावली', 'राजविलास' आदि, जिनमें मेवाड़ के इतिहास की घटनाओ का वर्णन प्रारम्भिक समय से राजसिह के शासन काल तक का मिलता है। इस तरह की गप्प टाड ने किस स्रोत से पकड़ी यह खोज निकालना बहुत ही कठिन है। यह तथ्य कि राणा प्रताप के कोई पुत्री ही नही थी जो चिल्लाती सारी कहानी की निस्सारता सिद्ध करता है।"[2]

"इन्ही सारी ऐतिहासिक कथाओ तथा प्राचीन काव्यों को सुनकर पहाड़ों में निवास के समय प्रताप की विपत्तियो का जो सजीव विवरण कर्नल टाड ने लिखा है, उसे पढ़कर आधुनिक कवियो, साहित्यकारो तथा इतिहास-लेखको को भी बहुत सी भ्रांतियां होती रही है। इनके ही आधार पर वे प्रताप के समूचे जीवन, रहन-सहन, खान-पान आदि का ऐसा चित्रण करते है, तथा उसकी और उसके राजघराने की आर्थिक कठिनाई के बारे में ऐसे निष्कर्ष निकालते है, जो वास्तविकता से बहुत ही भिन्न और अनैतिहासिक होते है। अतः इन ऐतिहासिक प्रवादों की जांच-पड़ताल करना अत्यावश्यक हो जाता है।

"स्पष्ट है कि टाड का तत्सम्बन्धी सारा विवरण और प्राचीन काव्यो का वर्णन अतिरेकित है। तथापि उन्हें बिल्कुल काल्पनिक और मिथ्या नहीं कहा जा सकता।

---

1. रघुबीरसिंह, प्रताप, पृष्ठ 50
2. गोपीनाथ शर्मा, मेवाड़, पृष्ठ 100

अपनी सब चढ़ाइयों में शाहवाजखान और जगन्नाथ कछवाहा ने वड़ी ही तेजी, चुस्ती तथा दृढ़ता के साथ प्रताप का पीछा किया था। ऐसे समय में अवश्य ही प्रताप को वारंवार कठिन संकट का सामना करना पड़ता था। निवास-स्थान छोड़कर पहाड़ों में जंगलो की शरण लेनी पड़ती थी। रात्रि विताने के लिए तव पहाड़ों की कन्दराओ अथवा घास-फूस या पत्तों से छाई हुई झोपड़ियों का ही आश्रय था। पीछा करती हुई शाही सेना से वचने के लिए वारंवार आश्रय स्थान वदलना अनिवार्य हो जाता था। ऐसे समय सदैव उपयुक्त भोजन सामग्री सुलभ नहीं हो सकती थी। अतः पहाड़ों के जंगली प्रदेशों में फल-फूल, कंद-मूल आदि जो भी मिल सकें उन्हीं से पेट भरना पड़ता था। शिकार के समय भी जंगल में अनेकों वार ऐसी कठिनाइयों को भुगतना पड़ता है। तव विकट युद्धकाल में शक्तिशाली शत्रु-सेना से वच निकलने में जंगल-पहाड़ भटकते हुए प्रताप की उस हालत में ये घटनाएं अनहोनी नही हैं। इसी प्रकार जंगल में वैठे वालक के हाथ से जंगली विलाव का रोटी छीन ले जाना वहुत-ही स्वाभाविक घटना है, जो जंगल निवासियों के जीवन में प्रायः होती ही रहती है।

"इन प्रवादों को लेकर मुख्यतः दो भूलें हो जाती हैं। एक तो इस प्रकार के संकट प्रताप को इने-गिने अवसरो पर, और वह भी प्रत्येक वार थोड़े ही समय तक, झेलने पड़े थे। परन्तु यह मान लिया जाता है कि प्रताप का सारा जीवन ऐसी ही संकट की स्थिति में वीता, जो सही नही है। दूसरे, संकट के इन विवरणों से यह भी निष्कर्ष निकाला जाता है कि प्रताप की आर्थिक स्थिति वहुत ही दयनीय थी और अपनी सेना का निर्वाह भी उसके लिए असंभव हो गया था। भामाशाह द्वारा प्रताप को प्रचुर संपत्ति भेंट किये जाने की कहानी से भी इस धारणा को विशेष वल मिला है। परन्तु संकट के समय की कठिनाइयों और अभाव को प्रताप की गरीवी का सही प्रमाण नही माना जा सकता। वे अभाव तथा कठिनाइयां जंगल, पहाड़ घूमने के कारण थीं; केवल धन-व्यय से वे दूर नहीं हो सकती थीं। मेवाड़ राज्य के उच्च पदाधिकारियों और प्रधान मंत्री के रूप में भामाशाह और उसके पिता भारमल ने शासन और कोष की जो सुव्यवस्था की थी उसी के फलस्वरूप राज्य कोष में जो प्रचुर धन एकत्र हो गया था आवश्यकता पड़ने पर उसी को सुलभकर भामाशाह ने प्रताप की उल्लेखनीय सेवा की थी। यह वात स्पष्ट हो जाती है कि ये सारे प्रवाद उसी समय के है, जव शाहवाजखान अथवा जगन्नाथ कछवाहा के आक्रमणों को विफल करने के लिए प्रताप को जंगलो का आश्रय लेना पड़ा था और पीछा करते हुए मुगल सैनिकों से वच निकलने के लिए प्रताप को वारंवार अपना निवास-स्थान वदलना पड़ता था।"[1]

प्रताप द्वारा अकवर को अपनी कठिनाइयां कम करने के लिए लिखने की वात को डॉ. ओझा ने दृढ़तापूर्वक 'यह सम्पूर्ण कथन अतिशयोक्तिपूर्ण कपोलकल्पना मात्र' वताया है। वे कहते हैं, "उत्तर में कुम्भलगढ़ से लगाकर दक्षिण में ऋषभदेव से परे तक

1. रघुवीरसिंह, प्रताप, पृष्ठ 49

अनुमातः 90 मील लम्बा और पूर्व में देबारी से लगाकर पश्चिम में सिरोही की सीमा तक करीब 70 मील चौड़ा पहाड़ी प्रदेश, जो एक के पीछे एक पर्वतश्रेणियो से भरा हुआ है, महाराणा के अधिकार में था। महाराणा तथा सरदारों के जनाने एवं बाल-बच्चे आदि इसी सुरक्षित प्रदेश में रहते थे। आवश्यकता पड़ने पर उनके लिए अन्न आदि लाने को गोड़वाड़, सिरोही, ईडर और मालवे की तरफ के मार्ग खुले हुए थे। उक्त पहाड़ी प्रदेश में जल तथा फल वाले वृक्षो की बहुतायत होने के अतिरिक्त बीच-बीच में कई जगह समान भूमि आ गयी है और वहां सैकड़ो गांव आबाद है। ऐसे ही वहाँ कई पहाड़ी किले तथा गढ़ भी बने हुए है और पहाड़ियो पर हजारो भील बसते है। वहां मक्का, चने, चावल आदि अन्न अधिकता से उत्पन्न होते है, और गायें, भैसें आदि जानवरों की बहुतायत के कारण घी, दूध आदि पदार्थ आसानी से पर्याप्त मिल सकते है। ऐसे ही छप्पन तथा बानसी से लगा कर धर्याबद के परे तक सारा पहाड़ी प्रदेश भी उस (महाराणा) के अधिकार मे था। *शाही सेना से केवल मेवाड़ का उत्तर-पूर्वी प्रदेश ही घिरा हुआ था।* इतने बड़े पहाड़ी प्रदेश को घेरने के लिए लाखो की संख्या में सेना चाहिये। ऐसे देश का सहारा होने से ही महाराणा अपनी स्वतन्त्रता को स्थिर रख सका और मुसलमानों की ऊपर लिखी हुई चढ़ाइयां निष्फल ही हुईं। वह अपने सरदारो सहित विस्तृत पहाड़ी प्रदेश में निडर रहता था और उसके स्वामिभक्त एवं वीर प्रकृति के हजारों भील लोग, जो वन्दरों की तरह पहाड़ लांघने में कुशल होते है, शत्रु सैन्य के हलचल की 40-50 मील दूर तक की खबरों को 7-8 घंटे में उसके पास पहुंचा देते थे, जिससे वह शत्रु पर कहां हमला करना ठीक होगा, यह सोचकर अपने राजपूतो सहित पहाड़ो की ओट मे घात लगाये रहा करता और मौका पाते ही उस पर टूट पड़ता था। इसीसे अकबर की सेना ने पहाड़ो में दूर तक प्रवेश करने का एक बार भी साहस न किया। अलबत्ता यह बात निश्चित है कि उदयपुर या गोगूंदे के राजमहलो मे रहने का-सा आराम वहां नहीं था और शत्रु से लड़ने की चिन्ता सदा लगी ही रहती थी।"[1]

डा. ओझा के हवाले से यहां एक और भ्रांति दूर कर लेना उचित होगा। इसके उद्गम का स्रोत भी जेम्स टाड का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। शाहबाजखान के हमलो ने प्रताप को कितना परेशान कर दिया था, इसका वर्णन करते हुए जेम्स टाड लिखते है :

"शत्रु के प्रवाह को रोकने में असमर्थ होने के कारण उस (प्रताप) ने अपने चरित्र के अनुकूल एक प्रस्ताव किया; उसने मेवाड़ और रक्त से अपवित्र चित्तौड़ (जो उसकी जाति का केन्द्र अब नहीं रहा था) छोड़कर सीसोदियो को सिन्धु के तट पर ले जाकर वहां की (चारों ओर रेगिस्तान के बीच में) अलग-थलग बसी राजधानी सोगड़ी नगर में अपना केसरिया झंडा स्थापित करने और अपने तथा अपने निर्दय शत्रु के बीच में रेगिस्तान छोड़ने का निश्चय किया। अपने कुटुम्बियों, और मेवाड़ में अब भी जो कुछ

1. ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 767

महत्तापूर्ण शेष रह गया था, उसके सरदार और सामन्त, जिनमे सब ही दृढ़ और निर्भीक थे, और जो अपमान की अपेक्षा स्वदेश-निर्वासन को श्रेयस्कर समझते थे, साथ लेकर वह अरावली से उतारा। जब वह रेगिस्तान की सीमा पर पहुंचा एक घटना ऐसी हुई जिससे उसे अपना विचार बदलने, और इतने पर भी अपने पूर्वजों की भूमि में बसे रहने, के लिए प्रेरित किया। यद्यपि मेवाड़ की ऐतिहासिक ख्यातों मे असाधारण कठोरता के कामो का उल्लेख अधिक मिलता है, ऐसा नहीं है कि उनमें अद्वितीय निष्ठा के उदाहरण नहीं हो। प्रताप के मंत्री ने, जिसके पूर्वजों ने भी अनेक वर्षों तक इसी पद पर कार्य किया था, अपने राजा के चरणों में अपने परिवार की संचित सम्पत्ति समर्पित कर दी, जो, अन्य साधनों सहित, कहा जाता है कि इतनी थी कि उससे बारह वर्ष तक पच्चीस हजार सैनिकों का निर्वाह किया जा सकता था। भामाशाह का नाम मेवाड़ के रक्षक के रूप से स्मरण किया जाता है। कृतज्ञता के इस भव्य प्रमाण, और पृथ्वीराज के पदो से प्राप्त प्रेरणा से, उसने फिर से उस 'ललसी भूमि से अपने साहस को कसा', अपने सैनिको को एकत्रित किया, और जबकि उसके शत्रु यह कल्पना कर रहे थे कि वह रेगिस्तान मे होकर पीछे हटने के प्रयत्न में है उसने शाहवाजखान को उसके शिविर दिवेर में जाकर चौंका दिया और वहां के एक-एक सैनिक के टुकड़े-टुकड़े कर दिये।" क्रमशः कैसे मेवाड़ का शेष भाग वापस प्रताप के हाथ आया इसका आगे वर्णन है। "ख्यातो के अनुसार प्रताप ने मेवाड़ को ही रेगिस्तान बना दिया; उसकी समतल भूमि में जो भी बसते थे सबको उसने अपनी तलवार पर चढ़ा दिया: एक दिल दहला देने वाला परन्तु आवश्यक बलिदान।"[1]

शत्रु-सेना के आक्रमण से महाराणा प्रताप परेशान हो गया हो यह तो एक बात है, परन्तु वह इतना निराश हो गया कि उसने मेवाड़ छोड़ देने का निश्चय कर लिया था, इसका उल्लेख और कहीं नहीं मिलता, अतएव यह जेम्स टाड की नहीं तो किसी कवि की कल्पना मात्र है। अपनी अगली ही पंक्तियों मे मेवाड़ की पुन प्राप्ति का जो गौरव-शाली विवरण जेम्स टाड ने दिया है, उसकी यह परम प्रतिकूल पृष्ठभूमि हो सकती है, जिसे शब्दों के उस जादूगर ने न जाने किस कपोल कल्पना से प्राप्त करके अपने ग्रन्थ में सजा दिया है।

मालवा से लूट कर लाया धन भामाशाह ने चूलिया गांव में प्रताप को भेंट किया था, इसका उल्लेख हो चुका है। मेवाड़ के राजकोष का वह, और उसका परिवार, संरक्षक था। उसे जैसा-का-तैसा, जब जरूरत पड़ी, उसने दे दिया, यह भी अवश्य हुआ होगा। उन बलिदानी क्षणो में जब जिससे जो बना 'अपने देश' के लिए न्यौछावर कर रहा था, भामाशाह ने अपना पैतृक धन भी जितना बन पड़ा, दिया ही होगा। परन्तु यह कहना कि उसके पास निजी संपत्ति इतनी थी कि उसने उसमे से जो धन दिया

---

1 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 275

उससे पच्चीस हजार लोगों का बारह वर्ष तक पालन हो सकता था न तो विश्वसनीय है न भामाशाह के कुल के लिए शोभनीय ।

प्रश्न यह सीधा है कि इतना धन यदि भामाशाह का था तो वह आया कहां से ? भामाशाह का पिता भारमल राणा सांगा के समय में रणथम्भोर का किलेदार था। उस किले से मेवाड़ का अधिकार उठ जाने पर यह परिवार अपने मूल स्थान चला गया था, वहां से चित्तौड़ आया था। भारमल को महाराणा उदयसिंह ने 'एक लाख की जागीर का पट्टा तथा चित्तौड़ के किले पर महलों के पास हवेली बनाने और किले की तलहटी में अपनी हस्तशाला रखने की आज्ञा देकर समर्पित किया था'। चित्तौड़ ही में 24 जून 1547 को भामाशाह का जन्म हुआ था। एक-दो पीढ़ी में कितनी सम्पदा एकत्रित हो सकती थी ? जब यह कहा जाता है कि 'किसी दक्षिणी शंख की कृपा से इस परिवार के पास करोड़ों की सम्पत्ति हो गयी थी', तो सहसा विश्वास नहीं होता। भामाशाह ने अपना जीवन ही मेवाड़ की सेवा मे समर्पित कर रखा था। युद्धक्षेत्र और राज्य व्यवस्था दोनो मे उसने बहुत कीर्ति अर्जित की थी। ऐसे व्यक्ति के लिए अपनी सम्पदा मातृभूमि के लिए समर्पित करना कोई बड़ी बात नहीं हो सकती थी, परन्तु इतना धन उसके पास था, यह समझ में नहीं आता, और जो पास नहीं हो उसके देने का प्रश्न ही नहीं उठता।

बाल्यकाल से प्रताप और भामाशाह मित्र थे, दोनो चित्तौड़ में वर्षों साथ रहे, और दोनो ने साथ-साथ उस किले को छोड़ा। भामाशाह उनमे था जिन्होंने प्रताप के राज्याधिकार का समर्थन किया था, और महाराणा बनने पर निरन्तर प्रताप का साथ दिया था। हल्दीघाटी के युद्ध में भामाशाह ने, अपने भाई ताराचन्द के साथ सक्रिय भाग लिया था। दिवेर के गौरवशाली युद्ध मे भी उसका प्रशंसात्मक योगदान था।

वास्तव मे मेवाड़ के कठिन दिनों में, प्रताप के ही नहीं, उसके पुत्र अमरसिंह के समय में भी, भामाशाह ने शासन प्रबन्ध का सुचारु संचालन किया, राज्यकोष की सुव्यवस्था की, और जब धन की कमी हुई मुगल साम्राज्य के निकटवर्ती क्षेत्रों को मेवाड़ की सेना को साथ ले जाकर भरपूर लूटा, और उस धन को मेवाड़ के काम में लगाया। जो धन मेवाड़ का था, और जो इस प्रकार प्राप्त किया गया था, उसकी सुरक्षा करने और मरने से पहले उसका पूरा हिसाब छोड़ जाने के लिए अवश्य भामाशाह की सराहना की जानी चाहिये ।

वास्तव में मेवाड़ का राजकुल ऐसा निर्धन नहीं था कि उसे इस तरह निजी धन प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ती। भामाशाह संबंधी किंवदंती का उल्लेख करके डा. ओझा लिखते हैं :

"इस कथन को हम बहुधा कल्पित कथा ही समझते हैं। भामाशाह और उसके पिता (भारमल) उदयपुर राज्य के सच्चे स्वामिभक्त सेवक अवश्य थे। भामाशाह राज्य के खजाने की सुव्यवस्था करता था, इसमें संदेह नहीं, परन्तु आधुनिक शोध के आधार पर यह बात सिद्ध होती है कि महाराणा के पास अतुल सम्पत्ति विद्यमान थी और धन

की कमी के कारण उसके स्वदेश को छोड़कर अन्यत्र जा बसने का विचार भी सर्वथा निर्मूल है।

"प्रतापी महाराणा कुम्भकर्ण और संग्रामसिंह ने दूर-दूर तक विजय कर बड़ी समृद्धि संचित की थी।[1] चित्तौड़ पर महाराणा विक्रमादित्य के समय गुजरात के सुलतान बहादुरशाह की दो चढ़ाइयां हुई और महाराणा उदयसिंह के समय बादशाह अकबर ने आक्रमण किया। बहादुरशाह की पहली चढ़ाई के पूर्व ही राज्य की सारी संपत्ति चित्तौड़ से हटा ली गयी थी,[2] जिससे बहादुरशाह और अकबर में से एक को भी चित्तौड़-विजय करने पर कुछ भी द्रव्य न मिला। यदि कुछ भी हाथ लगता तो अबुल् फज्ल जैसा खुशामदी लेखक तो राई का पहाड़ बनाकर उसका बहुत कुछ वर्णन अवश्य करता, परन्तु फारसी तवारीखों में कही भी उसका उल्लेख न होना इस बात का प्रमाण है कि मेवाड़ की संचित सम्पत्ति का कुछ भी अंश उनके हाथ न लगा और वह ज्यो की त्यों सुरक्षित रही।[3]

"चित्तौड़ छूटने के बाद महाराणा उदयसिंह को तो सम्पत्ति एकत्र करने का कभी अवसर ही नहीं मिला।[4] उसके पीछे महाराणा प्रतापसिंह मेवाड़ के राज्य सिंहासन पर बैठा जो बहुधा उम्र भर मेवाड़ के विस्तृत पहाड़ी प्रदेश मे रहकर अकबर से लड़ता रहा। प्रतापसिंह के पीछे उसका ज्येष्ठ कुंवर अमरसिंह मेवाड़ का स्वामी हुआ। वह भी लगातार अपने राज्य की स्वतन्त्रता के लिए अपने पिता प्रताप का अनुसरण कर अकबर और जहांगीर का मुकाबला करता रहा।

"महाराणा प्रताप सिंह और अमरसिंह के समय मुसलमानो से लगातार लड़ाइयां होने के कारण चतुर मंत्री भामाशाह राज्य का खजाना सुरक्षित स्थानो में गुप्त रूप से रखवाया करता था, जिसका ब्यौरा वह अपनी एक बही मे रखता था। उन्हीं स्थानों से आवश्यकतानुसार द्रव्य निकालकर वह लड़ाई का खर्च चलाता था। अपने देहान्त के पूर्व उसने उपर्युक्त वही अपनी स्त्री को देकर कहा कि इसमें राज्य के खजाने का ब्यौरेवार विवरण है, इसलिए इसको महाराणा के पास पहुंचा देना।

---

1. एक कुसमय मे मालवा पर आक्रमण करके भामाशाह ही कितना अधिक धन ले आया था। इससे अदाज हो सकता है कि कुभा और सागा ने कितनी सम्पत्ति सचित की होगी।

2. स्वय महाराणा विक्रमादित्य और भावी महाराणा उदयसिंह को भी बहादुरशाह के अगले हमले के वक्त चित्तौड से हटाकर बूंदी भेज दिया गया।

3. अकबर की चित्तौड पर चढाई के समय 'तबाकत-इ-अकबरी' का लेखक निजामुद्दीन अहमद स्वय उपस्थित था। उसने वहा धन सपत्ति हाथ लगने का कोई उल्लेख नही किया है। शाहबाजखान के कुम्भलगढ, गोगूंद, और उदयपुर जीतने के बाद 'बहुत सी लूट हाथ लगी' जिसका उल्लेख 'अकबरनामा' मे मिलता है, परन्तु यह बहुत करके नागरिक सम्पत्ति थी, राजकीय नही।

4. फिर भी उसने उदयपुर नगर और उदयसागर तालाब जैसे सुविशाल निर्माणकारी कार्य कराये।

"ऐसी दशा में यह कहना अनुचित न होगा कि चित्तौड़ का किला मुसलमानों के हस्तगत होने के पीछे तो मेवाड़ के राजाओं को सम्पत्ति एकत्र करने का अवसर ही नहीं मिला था। वि. सं. 1671 (ई.सं. 1614) में महाराणा अमरसिंह ने बादशाह जहांगीर के साथ संधि की, उस समय शाहजादा खुर्रम से मुलाकात करने पर एक लाल उसको नजर किया, जिसके विषय में जहांगीर अपनी दिनचर्या में लिखता है—'उसका मूल्य 60,000 रुपये और तौल आठ टांक था। वह पहले राठौड़ों के राजा राव मालदेव के पास था। उसके पुत्र चन्द्रसेन ने अपनी आपत्ति के समय उसे राणा उदयसिंह को बेच दिया था।' वि. सं. 1673 (ई. सं. 1616) में शाहजादा खुर्रम दक्षिण को जाता हुआ मार्ग में उदयपुर ठहरा। उस प्रसंग में बादशाह जहांगीर अपनी दिनचर्या में लिखता है—'राणा ने शाहजादे को 5 हाथी, 27 घोड़े और रत्नों और रत्नजटित जेवरों से भरा थाल नजर किया, परन्तु शाहजादे ने केवल तीन घोड़े लेकर बाकी सब चीजें वापस कर दीं।' जहांगीर के इन कथनों से महाराणा अमरसिंह के समय की मेवाड़ की सम्पत्ति का कुछ अनुमान पाठक कर सकेंगे। यदि महाराणा प्रतापसिंह के पास कुछ भी सम्पत्ति न होती तो उसका पुत्र महाराणा अमरसिंह सन्धि के समय ही इतने रत्नादि कहां से प्राप्त कर सकता ?

"अमरसिंह के पीछे उसका ज्येष्ठ पुत्र कर्णसिंह राजगद्दी पर बैठा, जिसका सारा समय अपने उजड़े हुए इलाकों को आबाद करने में लगा। तदनन्तर महाराणा जगतसिंह मेवाड़ का शासक हुआ, जो बड़ा ही उदार राजा था। उसने लाखों रुपये लगाकर मन्दिर बनवाया और उसकी प्रतिष्ठा में लाखों रुपये खर्च किये। उसने अनेक बहुमूल्य दान किये, जिनमें से 'कल्पवृक्ष' दान विशेष उल्लेखनीय है, क्योंकि कल्पवृक्ष का प्रत्येक अंग रत्नों से ही बनाया गया था। उसने सैकड़ों हाथी, हजारों घोड़े और बहुत से गांव दान किये। प्रारम्भ में वह प्रतिवर्ष अपनी जन्मगांठ के दिन चांदी की तुला करता था, परन्तु वि. सं. 1705 (ई. सं. 1648) से प्रतिवर्ष उस अवसर पर सोने की तुला करने लगा। उसकी दानशीलता बहुत ही प्रसिद्ध है। उसके पीछे उसका ज्येष्ठ कुंवर राजसिंह मेवाड़ के सिंहासन पर वि. सं. 1709 (ई. सन् 1652) में बैठा। उसने उसी वर्ष के मार्गशीर्ष मास में एकलिंग जी जाकर वहां रत्नों का तुलादान किया। समस्त भारतवर्ष में रत्नों के तुलादान का यही एक प्राचीन लिखित प्रमाण मिला है। उसने राजसमुद्र नाम का प्रसिद्ध तालाब बनवाया, जिसमें 1,05,07,584 रुपये व्यय हुए।

"ऊपर उद्धृत किये हुए प्रमाणों से पाठकों को उस समय की उदयपुर राज्य की समृद्धि का ठीक-ठीक अनुमान हो सकेगा। हम ऊपर बतला चुके हैं कि महाराणा उदयसिंह, प्रतापसिंह और अमरसिंह को तो सम्पत्ति संचित करने का अवकाश ही नहीं मिला। महाराणा कर्णसिंह अपने उजड़े हुए राज्य को आबाद करने में लगा रहा। महाराणा जगतसिंह और राजसिंह को बाहर से कोई बड़ी संपत्ति नहीं मिली। अतएव यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि यह सारी संपत्ति कुम्भा और सांगा की संग्रह की हुई

थी और महाराणा प्रतापसिंह के समय ज्यों की त्यों विद्यमान थी। ऐसी दशा में यह मानना कि प्रतापसिंह के पास अकबर के साथ लड़ाइयों के समय सेना का खर्च चलाने के लिए कुछ भी द्रव्य नहीं था, जिससे वह मेवाड़ छोड़कर सिन्ध में राज्य स्थापित करने जा रहा था, परन्तु भामाशाह के अपनी सारी सम्पत्ति नजर करने पर अपनी मातृभूमि को लौट आया, सर्वथा निर्मूल है। कर्नल टाड का उपर्युक्त कथन सुनी-सुनाई बातों के आधार पर लिखे जाने के कारण विश्वास के योग्य नहीं है। वस्तुतः महाराणा प्रताप बहुत सम्पत्तिशाली था और उसके पास धन की कोई कमी नहीं थी। इसी से वह तथा उसका पुत्र दोनों बरसों तक बादशाहों से लड़ने में समर्थ हुए थे।"[1]

जेम्स टाड से यदि एक ओर, तो डॉ. ओझा से दूसरी ओर अतिरंजन हो गया है। शाहबाजखान और उसके बाद जगन्नाथ कछवाहा के अनेक और निरन्तर आक्रमणों के कारण प्रताप को 'कुछ समय अवश्य ऐसा युद्ध लड़ना पड़ा जिसमें उसकी जीत नहीं हो रही थी', और वह कई बार मेवाड़ के बाहर जाकर ही अपने को पकड़े जाने से बचा सका। ऐसे में कितने संकटों का सामना प्रताप और उसके परिवार को करना पड़ा होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है। सत्य अवश्य ही इन दोनों मन्तव्यों के बीच में है।

"हल्दीघाटी के युद्ध के समय प्रताप को गोगूंदा के अपने चिरपरिचित राजमहल छोड़ने पड़े थे, और अगले वर्ष शाहबाज खान की प्रथम चढ़ाई के समय कुम्भलमेर के भव्य राजमहल भी छूट गये। उदयपुर के विख्यात विशाल राजभवन तब तक पूरे बन भी नहीं पाये थे, और सामरिक स्थिति के कारण तब वहां रहना संभव भी नहीं था। इस प्रकार सन् 1578 के प्रारम्भ से ही प्रताप तथा उसके सारे राज-परिवार को वर्षों तक निरंतर पहाड़ों में ही एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहना पड़ा। चावंड में नवनिर्मित 'साधारण, काम चलाऊ भवनों में स्थायी निवास तक यही स्थिति बराबर बनी रही। दो-तीन बार प्रताप को मेवाड़ छोड़कर सकुटुम्ब अन्यत्र भी जाना पड़ा था। इन आठ वर्षों में शाहबाजखान और जगन्नाथ कछवाहा की चढ़ाइयों के समय जब-जब शाही सेना ने प्रताप तथा उसके राजपरिवार का पीछा किया, तब-तब उन्हें विषम संकटों का सामना करना पड़ा था।"[2]

शाहबाजखान के प्रयत्न से जब 'समूचे' मेवाड़ प्रदेश पर मुगल आधिपत्य हो जाने की संभावना हो चली थी, प्रताप गोड़वाड की ओर निकल गया। वह आबू के पहाड़ों मे रहने लगा। उन दिनों उस क्षेत्र पर परिहारों की देवल नामक उप-शाखा के राजपूतों का अधिकार था। इनके प्रमुख ठिकाने लोयणा के ठाकुर राय धवल ने प्रताप का बहुत सत्कार किया, उसकी सुरक्षा की व्यवस्था की और बहुत आदर से उसे अपने यहां रखा। राय धवल ने अपनी पुत्री का विवाह भी प्रताप से कर दिया। इन दिनों में प्रताप ने वहां एक बावड़ी बनवायी और एक बाग लगवाया।

---

1 ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 775
2 रघुबीरसिंह, प्रताप, पृष्ठ 47

प्रताप को मेवाड़ में ढूंढने की कोशिशों में, ऐसी स्थिति में, शाहबाजखान को सफलता नही मिल सकती थी। उसे फिर 'मुख्य उद्देश्य' में 'असफलता का अपमान' लेकर मेवाड़ से लौटना पड़ा। जब इसकी खबर लोयणा पहुंची, प्रताप ने राय धवल से बिदा ली। और एक बार फिर वह अपने मेवाड़ को मुगलों से मुक्त कराने निकल पड़ा। आड़े वक्त मे राय धवल ने उसकी बहुत सहायता की थी। कृतज्ञतावश प्रताप ने उसे 'राणा' की उपाधि से विभूषित किया, इस प्रकार अपने बराबर का संम्मान दिया।

लोयणा से चलकर जब प्रताप मेवाड़ में आया, उसको नहीं रोका जा सका। गोगूंदा से लगभग 10 मील उत्तर-पश्चिम पहाड़ों में स्थित सायरा परगने के ढोलाण नामक गांव में उसने अपना शिविर स्थापित किया। सैनिक आवश्यकता और सुरक्षा की दृष्टि से इसकी उपयुक्ता देखकर प्रताप ने इसी को अपना केन्द्र बना लिया, और यहां बैठकर अपनी भूमि फिर से प्राप्त करने की योजना बनाने लगा।

परन्तु शाहबाजखान के किये काम को उलटना आसान नहीं था। मेवाड़ पर मुगल आधिपत्य इतना दृढ़ कर लिया गया था कि अकबर इस तरफ से निश्चिन्त-सा हो गया था। शाहबाजखान के मुगल दरबार में लौटने के डेढ़ महीने के भीतर ही यह प्रश्न आया कि ख्वाजा साहब के उर्स के अवसर पर अकबर अजमेर जाये या नहीं। सारी स्थिति पर विचार करके यह देखा गया कि 'इस समय उस क्षेत्र (अजमेर सूबा) में कोई प्रशासनिक कार्य करने को नही है,' अकबर ने अजमेर जाने का अपना इरादा बदल दिया, और अपने पुत्र, 'सौभाग्य आकाश के जगमगाते सितारे,' दानियाल को 30 जुलाई 1580 को अजमेर रवाना किया। शाहंशाह के कई प्रमुख दरबारी उसके साथ भेजे गये। उर्स पर शाही उदारता का पूरा प्रदर्शन करके दानियाल शीघ्र ही लौट गया।

उन दिनो दस्तमखान अजमेर का सूबेदार था। जब वह तीन वर्ष का था, तभी उसकी अकबर से भेंट हुई थी, और दोनो में बहुत स्नेह था। इसी कारण अजमेर जैसे महत्त्पूर्ण सूबे में उसे नियुक्त गया किया था। परन्तु प्रताप के विरुद्ध युद्ध इतना विकट हो गया था कि मेवाड़ में सैनिक अभियान का दायित्व शाहबाजखान को दिया गया था। साधारणत: व्यवस्था यह रहती थी कि जो अजमेर का सूबेदार होता था, मेवाड़ के विरुद्ध अभियान का वही संचालन करता था। शाही दृष्टि से मेवाड़ मुगल सूबे अजमेर का भाग माना जाता था। परन्तु प्रताप के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई विकट और दीर्घ-कालीन होने के कारण सूबेदार अलग और सेनापति अलग नियुक्त किया जाने लगा इस तरह भी सफलता नहीं मिलने पर पुराना प्रबन्ध फिर से चालू हो गया।

## स्थिति जैसी की तैसी

दस्तमखान प्रताप की नयी गतिविधियो के विरुद्ध कुछ कर पाता, इसके पहले ही उसकी मृत्यु हो गयी। आंबेर के राजा भारमल्ल के भतीजे अचल, मोहन, सूरदास और त्रिलोकसी पंजाब से बिना अनुमति शाही सेवा छोड़कर अपनी जागीर लूणी चले

आये, और उपद्रव मचाने लगे। कछवाहों के प्रति सम्मान के कारण दस्तमखान ने उन्हें समझाने की कोशिश की, परन्तु इससे उनके हौंसले और बढ़ गये। यह बात शाही दरबार तक पहुंची। विशेष संदेशवाहक आदम ताजबन्द द्वारा अकबर ने आदेश भिजवाये कि 'यदि उपद्रवी समझाने पर नहीं मानें तो उन्हें सजा दी जाये'। दस्तमखान परिस्थिति का ठीक अंदाज नहीं लगा सका, और अपर्याप्त सेना लेकर सामने को निकल गया। थोरी गाँव में दोनो पक्षों के बीच 16 जून 1580 को भयंकर युद्ध हुआ। सभी विद्रोही मारे गये, मुगल सेना की महान विजय हुई, परन्तु सेनापति और अजमेर का प्रतिष्ठित सूबेदार काम आ गया। उसकी मृत्यु युद्ध के एक दिन बाद शेरपुर में हुई। मुगल दरबार में उसकी जितनी प्रतिष्ठा थी, उतनी ही पीड़ा इस समाचार से होना स्वाभाविक था। अकबर को एक प्रिय मित्र के नहीं रहने से विशेष दुःख हुआ।

अपने मे यह घटना मेवाड़ के इतिहास से सबद्ध नहीं लगती, परन्तु जो परिस्थिति उस समय थी, उसका अच्छा चित्रण करती है। अकबर का वर्चस्व बहुत था, लेकिन उसे रह रहकर चुनौतियां मिलती रहती थीं, जिन राजपूतो से बनता था वे उसके चंगुल से निकलने का प्रयत्न करते थे।

बैरामखान के पुत्र मिर्जा अब्दुल रहीमखान (खानखाना) को अजमेर का सूबेदार नियुक्त किया गया, और रणथम्भोर की उसे जागीर दी गयी। वह बड़ा योग्य तथा अनुभवी सेनानायक था। अपनी विद्वत्ता और उदारता के लिए भी वह प्रसिद्ध था। मिर्जा खान को मेवाड़ का अच्छा अनुभव था। वह अकबर और शाहबाजखान दोनो के साथ मेवाड़ अभियान पर आया था। फिर भी अकबर ने उसके ज्ञान के कानो का परामर्शो के अनेक रत्नों से शृंगार किया।

अजमेर पहुंचकर मिर्जाखान ने सबसे पहले वहीं से शुरुआत की जहां पिछले सूबेदार की मृत्यु हुई थी। उसने मेवाड़ में स्थापित शाही थाने भी सुदृढ़ कराये। वह स्वयं अपनी सेना के साथ शेरपुर पहुंच गया, और वहाँ से प्रताप के विरुद्ध सेना लेकर मेवाड़ के भीतरी भाग की ओर चला। इसकी खबर प्रताप के शिविर में पहुँच गयी और वह दूसरी ओर निकल गया। प्रताप का बड़ा पुत्र उन दिनो गोगूंदा मे, वहां का मुगल थाना उठाकर, अपनी सेना के साथ पड़ा था। मिर्जाखान का ध्यान बटाने के लिए उसने अचानक शेरपुर पर हमला कर दिया।

मिर्जाखान का परिवार भी शेरपुर में था। अमरसिंह को 'शेरपुर का मोर्चा तोड़ने में ही सफलता नहीं मिली, वहां बनाये गये बन्दियो मे मिर्जाखान का पूरा परिवार भी हाथ लगा।

जब मिर्जाखान की स्त्रियों और बच्चों के बन्दी बनने की सूचना महाराणा प्रताप को मिली, उसने उन्हें छोड़ने के आदेश अपने पुत्र के पास भेजे। बहिन-बेटियो की तरह सन्तोष देकर उन्हें मिर्जाखान के पास लौटा दिया गया। 'जो खानखाना मेवाड़ को नष्ट-भ्रष्ट करना चाहता था, राणा की इस उदारता से बड़ा प्रभावित हुआ। उसकी वैमनस्यता की भावना श्रद्धा में परिणत हो गयी।'

एसा लगता है कि मिर्जाखान का इन दिनों कहीं सम्पर्क भामा शाह से हुआ। उपरोक्त घटना का इससे तारतम्य तो स्पष्ट नहीं है, लेकिन प्रताप के भामा शाह जैसे विश्वसनीय मंत्री की उपस्थिति का लाभ उठाकर मिर्जाखान ने मेवाड़-मुगल संघर्ष शांति से निपटवाने का प्रयत्न अपनी ओर से किया। 'मिर्जा खान ने महाराणा को वादशाह की खिदमत में ले जाना चाहा लेकिन भामाशाह ने मंजूर नहीं किया।"[1] मेवाड़ पूरी तरह जीता जा चुका था, प्रताप कष्ट में दिन निकाल रहा था। मिर्जाखान ने सोचा यह होगा कि ऐसे क्षणो में क्षीणता दिखाकर प्रताप अकवर का आधिपत्य स्वीकार कर लेगा। परन्तु यह होना नही था। कदाचित् इस सुलह के सौदे की उस समय प्रताप और अकबर दोनों को जानकारी नहीं थी, इसका उल्लेख समकालीन पुस्तको मे नहीं मिलता। भरे युद्ध में इस तरह की चर्चा हो सकी, इसका यही महत्व है कि प्रताप को सशस्त्र प्रयत्न से पकड़ना संभव न देखकर, शांति के सहारे काबू में करने की कोशिशें भी बन्द नहीं हुई थीं। अकबर से इसका समर्थन नही मिला, प्रताप ने इस पर विचार तक नहीं किया, स्थिति यथावत् रही।

मिर्जाखान को 1581 के अन्त में दिल्ली बुलाकर, 'उसकी दूरदर्शिता, बुद्धिमानी और दिन प्रतिदिन बढ़ती स्वामिभक्ति के कारण' शाहजादा सलीम का अभिभावक नियुक्त किया गया। यह उसका बड़ा सम्मान था, परन्तु अजमेर की सूबेदारी फिर खाली हो गयी।

1581 के अन्त से, वैसे तो 1580 के मध्य से, जब शाहवाजखान मेवाड़ से लौट गया था, 1584 के अन्त तक, तीन साढे-तीन वर्ष की ऐसी अवधि पडती है जबकि मेवाड़ और मुगल सेनाओं के बीच सीधी मुठभेड़ नहीं हुई, और एक तरह से प्रताप जो कर सकता था उसकी छूट उसे मिल गयी। इन दिनो अकवर को कई जगह 'महान विद्रोह' का सामना करना पड़ा, और वह अपनी 'महत्वाकांक्षी विजय योजनाए' बनाकर देश की सीमाओ पर बसे कई प्रदेशों को जीतने में लगा था। उसका ध्यान मेवाड़ की ओर नही लग सकता था।

इसका लाभ प्रताप ने उठाया। उसने अपने क्षत-विक्षत राज्य का सैनिक तथा प्रशासनिक पुनर्गठन आयोजित किया। सवसे पहले उत्तरी पहाड़ी क्षेत्र को मुक्त कराने का निश्चय किया गया।

धीरे-धीरे प्रताप का मेवाड़ के पश्चिमी और दक्षिणी प्रदेशों पर फिर से अधिकार हो गया। अजमेर में किसी शक्तिशाली सूबेदार के न होने से मेवाड की सेनाएँ चित्तौड़ और मांडलगढ़ के आस पास के अपने उस समतल भूभाग पर भी हमले करने लगीं, जो मुगलो के अधिकार में उदयसिंह के समय से था।

प्रताप ने साथ ही साथ अपनी राजनीतिक शक्ति बढाने का भी प्रयत्न किया। वह चाहता था कि आसपडोस के राज्यों की सहायता उसे फिर से मिलने लगे। इस उद्देश्य से उसने सिरोही मे मुगल सत्ता के विरुद्ध झंडा उठाने वाले राव सुरताण से अपनी पौत्री, अमरसिंह की पुत्री, का विवाह निश्चित कर दिया। जैसाकि बताया जा चुका है, वह

---

1. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 158

प्रताप के सौतेले भाई जगमाल को हराकर, और मारकर, वहां की गद्दी पर बैठा था। जगमाल के एक मां-जाये भाई सगर ने प्रताप के निश्चय का विरोध किया। प्रताप ने शत्रु शाहशाह की शरण में गये जगमाल की मृत्यु का शोक नहीं मनाया, और उसे मारने वाले से अपनी पौत्री की सगाई तोड़ने की बात भी नहीं मानी। सगर इस पर बहुत कुपित हुआ, और मेवाड़ छोड़कर अकबर के दरबार में चला गया। उसका वहां तत्काल बहुत आदर नहीं हुआ, सिर्फ दो सौ सवारों का मनसब उसे दिया गया, परन्तु आगे चलकर वह 'मेवाड़ का मुगलों द्वारा मनोनीत महाराणा' हो गया।

कुछ तो सगर की बातें सुनकर, कुछ मेवाड़ की परिस्थिति अधिकाधिक प्रताप के अनुकूल होती देखकर, अकबर ने मेवाड़ की ओर फिर से ध्यान दिया। प्रताप अब भी परास्त नहीं हुआ है, यह 'भारत विजेता' सम्राट सहन कैसे कर सकता था ?

"जगन्नाथ को अजमेर भेजा गया। समाचार पहुंचा कि राणा पहाड़ी की घाटियों मे से निकल आया है, उसने उपद्रव मचा रखा है,और वह कमजोरो पर अत्याचार कर रहा है। चूंकि शरारतियों को दंडित करना ईश्वरीय पूजा है, उसके सेनापतित्व में एक सेना नियोजित की गयी। जफर बेग को बख्शी नियुक्त किया गया।"[1]

जगन्नाथ आंबेर के राजा भारमल्ल का छोटा पुत्र था, और मानसिंह की सेना के साथ हल्दीघाटी के युद्ध में उपस्थित था। शाही सेनानियो में अपनी वीरता और दृढ़ता के कारण वह बहुत गौरव प्राप्त कर चुका था। मेवाड़ के विरुद्ध मुगल सेनानी भेजने का परीक्षण शाहबाजखान की असफलता के साथ समाप्त हो चुका था। 5 दिसम्बर 1584 को राजा जगन्नाथ कछवाहा की अध्यक्षता में मिली-जुली और बहुत विशाल तथा शक्तिशाली सेना मेवाड के विरुद्ध रवाना हुई। जाने के पहले, अकबर ने स्वयं जगन्नाथ को 'बहुमूल्य निर्देश' दिये। जगन्नाथ को अजमेर का सूबेदार भी साथ-साथ नियुक्त किया गया।

शाही सेना को आदेश थे कि वह बिना समय गंवाये मेवाड पहुंचे। यह सेना शीघ्रता से, अजमेर होती हुई, मेवाड़ के पूर्वी भाग मे अवस्थित मांडलगढ़ पहुँच गयी। यहां राजा जगन्नाथ ने मेवाड़ की तत्कालीन परिस्थिति का अध्ययन किया, और अपनी सेना को लड़ने के लिए तैयार किया। सेना का एक भाग सैयद राजू के नेतृत्व में मांडलगढ़ में छोड़कर, शेष सैन्य दल के साथ जगन्नाथ मेवाड़ के उस पर्वतीय प्रदेश में प्रविष्ट हुआ जिसे प्रताप ने अपना 'सुदृढ़ गढ़' बना रखा था। प्रताप ने, अपनी सुनियोजित नीति के अनुसार, शाही सेना का सीधा सामना नहीं करने का निश्चय किया। मुगल सेना ने जब घाटी में एक ओर से प्रवेश किया, वह दूसरी ओर से निकल गया। उसने बड़ा साहस दिखाया, जगन्नाथ को अरावली की घाटियो में छोड़कर वह अपने सैनिको के साथ मांडलगढ़ की ओर तेजी से बढ़ गया। वहां तैनात सैयद राजू मेवाड़ की सेना का सामना करने के लिए आगे बढा। प्रताप इस पर, मुड़कर चित्तौड़ की ओर निकल गया। सैयद राजू ने प्रताप का पीछा करने का प्रयत्न किया, परन्तु वह हाथ नहीं आया। सैयद राजू वापस मांडलगढ लौट आया। जगन्नाथ उधर

1. 'अकबरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 661

6

# प्रताप का प्रति-उत्तर

अकवर ने मेवाड़ में दस वर्षों में जो किया, उसे प्रताप ने एक ही वर्ष में उलट दिया।

सितम्बर 1585 में अपने अभियान में असफल होकर, जव राजा जगन्नाथ अजमेर लौट गया, प्रताप गोडवाड़ से निकलकर मेवाड़ के दक्षिण-पश्चिम में पड़ने वाले पर्वतीय प्रदेश में वसे चांवड में फिर से ग्रा पहुचा। मेवाड़ की पुरानी राजधानियाँ सुरक्षित नही थी, जगन्नाथ लौट गया था, परन्तु वह कभी भी फिर से ग्रा सकता था, अथवा अकबर किसी अन्य सेनानी को मेवाड़ के विरुद्ध सेना लेकर भेज सकता था। अकवर कव क्या करेगा, यह स्पष्ट नहीं होने के कारण प्रताप सैनिक प्रवन्ध में कोई कमी नहीं कर सकता था। इस दृष्टि से चांवड आदर्श स्थान था। प्रताप ने इसे मेवाड़ की नयी राजधानी वना लिया। तात्कालिक सैनिक और शासन व्यवस्था को यहां बैठकर सुदृढ किया।

प्रताप का पहला दायित्व मुगल सेना के कब्जे से अपनी मातृभूमि को मुक्त कराना था। परन्तु वह तत्काल सैनिक कार्रवाई करने की स्थिति में नहीं था। जन-धन दोनों दृष्टियो से वहुत-सा प्रवन्ध पहले पूरा करना आवश्यक था। इसमें लगभग डेढ साल लग गया। तव तक यह भी स्पष्ट हो गया कि जगन्नाथ कछवाहा अथवा कोई और मुगल सेनानी निकट भविष्य में मेवाड़ पर चढ़ाई करने का विचार नहीं रखता। इससे प्रताप का साहस और उत्साह वढा। अकवर पर प्रत्याक्रमण का उसने अभियान आयोजित किया। इसके लिए उसने आवश्यक साधन और संगठन जुटाये।

## अकबर पर प्रत्याक्रमण

अपने और अपने पुत्र अमरसिंह के नेतृत्व में उसने दो सेनाएं संगठित की, और दोनों ने दो दिशाओ से मेवाड़ के मुगल अधिकृत क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया। शाही थाने और चौकियां एक-एक करके मेवाड़ी सैनिकों के कब्जे में तेजी से आने लगी। अमरसिंह तो इतनी तीव्रता से बढ रहा था कि एक दिन में पांच शाही थाने उसने जीत लिये। एक वर्ष के भीतर लगभग 36 थाने खाली करा लिये गये, मेवाड़ की राजधानियां उदयपुर तथा गोगूंदा, हल्दीघाटी का सरक्षण करने वाला मोही, और दिवेर के पास सीमा पर पड़ने वाला भदारिया आदि सब फिर से प्रताप के कब्जे में आ गये। उत्तर-पूर्व मे जहाजपुर परगना तक की जगह और चित्तौड़ से पूर्व का पहाड़ी क्षेत्र भी मुगलो से खाली करवा लिया गया। सिर्फ चित्तौड़ तथा मांडलगढ, और उनको अजमेर से जोड़ने वाला मार्ग, मुगलो के हाथ मे बचा, अन्यथा सारा मेवाड़ फिर से स्वतन्त्र हो गया। प्रताप के राज्यारोहण के समय यही मेवाड़ का भूगोल था। वास्तव में तो उत्तर-पूर्वी क्षेत्र मुगलो से खाली करा लिये जाने के कारण मेवाड़ का उससे भी ज्यादा भूभाग प्रताप के अधिकार में आ गया था। जो सफलता अकबर ने इतना समय और साधन लगाकर प्राप्त की थी, जिस पर उसने अपनी और अपने प्रमुख सेनानियों की प्रतिष्ठा दाव पर लगा दी थी, उसे सिर्फ एक वर्ष में समाप्त करके प्रताप ने मित्र-शत्रु सबको आश्चर्य में डाल दिया। 'प्रताप ने मेवाड़ को रेगिस्तान बना दिया, जो भी समतल भूमि में बसता था उसे उसने तलवार पर चढा दिया' : 'एक भयानक परन्तु अनिवार्य बलिदान', जेम्स टाड ने इसे कहा है। वे लिखते है, "एक स्वल्पकालीन अभियान में उसने सारा मेवाड़ पुनः प्राप्त कर लिया, सिवा चित्तौड़, अजमेर और मांडलगढ के, और यह सोचकर कि राजा मानसिंह को विजय का जो सौभाग्य प्राप्त हुआ था (उसने अपनी इस चेतावनी को कि प्रताप को 'संकट मे दिन काटने पड़ेंगे' अक्षरशः सत्य कर दिखाया था) उसके प्रति-उत्तर मे थोड़ा अपना उत्साहवर्धन कर लेना चाहिये, उसने आंबेर (राज्य) पर हमला कर दिया, और उसकी मुख्य व्यापारिक मंडी मालपुरा को लूट लिया।"[1] महाराणा प्रताप ने इन दिनो में जो वीरता दिखायी उसके कारण 'राजप्रशस्ति' ने उसे 'रावल के समान पराक्रमी' कहा है।

जेम्स टाड इस अभिमत का खंडन करते है कि उदयपुर (तथा मेवाड़ के अन्य विजित प्रदेश) का सरक्षण शाही सेना ने 'अकबर की उदार भावना के कारण नहीं किया था, जिसका प्रेरक था महान खानखाना, जिसका मन, ऐसा लगता है, राजपूत राजा (प्रताप) ने अपने व्यवहार से हर लिया था'। "अकबर द्वारा कठोरता में ढील देने के सम्बन्ध मे एक किंवदंति कही जाती है, परन्तु वह इन गाथाओ के लिए भी अविश्वसनीय भावुकता से ओतप्रोत है।"[2] अतएव यह मानने का कोई कारण नहीं है

---

1. जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 276
2 वहीं

कि अकबर ने मेवाड़ के प्रति अपनी नीति बदल ली थी,आगे की घटनाएं इस स्थिति को स्वयं स्पष्ट कर देंगी। अपने प्रशासनिक और सामरिक कारणों से अकबर प्रताप को मात्र एक विश्राम देने को विवश हुआ था। "अपने जीवन के अन्तिम दिनों में प्रताप को जो विश्राम प्राप्त हुआ उसके लिए उसे कई कारणों के समूह के प्रति कृतज्ञ होना चाहिये, और यद्यपि मुख्य कारण मुगल सेना की महत्वाकांक्षा के नवीन क्षेत्रों में व्यस्तता बताया जा सकता है, फिर भी जो प्रभाव हिन्दू राजाओं के व्यवहार के कारण अकबर पर पड़ रहा था, और उस (प्रताप) के साथी राजाओं की सर्वव्यापी सहानुभूति का हो रहा था, उसे भी स्वीकार करने का हमें अधिकार है—वे राजा विजेता के अनुगामियों की संख्या बढाते चले जा रहे थे, परन्तु वे इतने प्रभावशाली थे कि उनकी उपेक्षा नही की जा सकती थी।"[1]

जो भावना उन दिनों प्रताप के मन में उमड़ रही होगी उसे शाब्दिक स्वरूप देने का प्रशंसनीय प्रयत्न जेम्स टाड ने किया है, 'विश्राम, वास्तव में, अपनी जाति के सर्वोत्तम (पुरुष,प्रताप) के लिए कोई वरदान नही था। प्रताप जैसे व्यक्ति के मन को शांति या आनन्द नही मिल सकता था, जबकि जो घाटी उदयपुर की रक्षा करती है उसकी चोटी से वह चित्तौड़ के उन कंगूरो को देखता ही रहता था जिनके लिए उसे सदा अनजान रहना था। उसकी जैसी आत्मा के लिए, जो अपनी जाति के गौरव की पुनः प्राप्ति के लिए बिलबिला रही थी. उसकी आशाओं पर लगायी गयी सीमाओं के कारण, इस प्रकार जो दया उस पर दिखायी गयी थी उसे सहना विकट कष्टों से अधिक कठिन हो गया था। उस योद्धा की कल्पना करें जो अब भी जीवन के चढाव पर था परन्तु श्रान्त होकर टूट गया था और चोटों से भरा था, और प्राकृतिक उद्यान के अवशेष प्रस्तर खंडों में से (स्वयं उसकी स्थिति के समुचित चिह्न) लालसा भरी निगाहों से उन चट्टानों को देख रहा था जिन पर उसके पूर्वजों का रक्त बहा था; उसके मस्तिष्क के 'अन्धेरे कोने' को पूर्व समय में वहां हुए कीर्तिदायी दृश्य अनोखे तेज से आलोकित कर रहे थे।' चित्तौड़ की गौरव-गाथाओं को यहां गूंथकर, उनका यशस्वी गायक कहता है, "उसकी कल्पना ने जो चित्र प्रस्तुत किया था उससे स्वय हक्का बक्का होकर, सोचें तो, उसने कैसे अपनी आशाहीन अवस्था की समीक्षा की होगी, जो पीड़ाएं उसे पहुचायी जा रही थी उनके थमने के लिए वह उस भावना के प्रति कृतज्ञ था जो वीरों के मन को विद्रोह से भर देती है—दया, जिसकी तुलना में तिरस्कार सहनीय हो जाता है, अपमान तो ईर्पा योग्य होता है, इनका वह प्रतिकार तो कर सकता था, परन्तु उच्च विचारशील, उदार राजपूत के लिए दयनीयता देखकर की गयी दया शत्रु के हाथों से भी अधिक पीड़ा देने वाली हो गयी थी।"[2]

यह सोचना सही नहीं है कि 'बादशाह के सभी सेनापति और अकबर स्वयं राणा को पकड़ने के प्रयत्नों में असफल और निराश हो गये तथा महाराणा ने एक ही

1. जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 276
2 वही

वर्ष में जानबूझकर मांडलगढ़ और चित्तौड़ को छोड़कर सारे मेवाड़ पर पूर्ण अधिकार कर लिया तथा अकवर ने मेवाड़ पर आक्रमण करना ही छोड़ दिया। इतिहासकारों का मत है कि प्रताप माडलगढ़ और चित्तौड़ को अपने अधिकार में न ले सके। ...जव प्रताप ने सारे मेवाड़ के सभी थाने उठा दिये तव इन दो स्थानो (चित्तौड़ और मांडलगढ़) को लेने में उनके लिए कोई कठिनाई नहीं थी। किन्तु ये दोनों स्थान तो उनके सगे भाई सगर के ही अधिकार में थे। इसलिए उन्होंने भाई पर आक्रमण करना उचित नहीं समझा।"[1] सगर को चित्तौड़ की 'जागीर' अकवर के नहीं, जहांगीर के समय में सौंपी गयी थी अतएव प्रताप से इस तथ्य को जोड़ना वास्तविक घटनाओं के विपरीत है। फिर, यह दोनों स्थान अकवर ने प्रताप से नही, उदयसिंह से जीते थे, और इनका महत्त्व शाही राजमार्ग पर पड़ने के कारण वहुत था। ये मेवाड़ के मैदानी भाग में, अलग, अरक्षित, अवस्था में थे। अजमेर से आवागमन आसान होने के कारण यहां जितनी जरुरत होती सेना और सामग्री पहुंचायी जा सकती थी। इनको जीतना उस समय की स्थिति में प्रताप के लिए सभव नहीं था। वास्तव में वात तो यह है कि प्रताप ने इनको फिर से प्राप्त करने का कभी 'दु साहस' नहीं किया, यद्यपि वह इसके लिए निरन्तर विकल रहा। यह व्यावहारिक परिस्थिति थी, इसे स्वीकार करने मे जो पीड़ा प्रताप के मन में हुई होगी उसका सही चित्रण जेम्स टाड ने किया है जैसा ऊपर कहा गया, और आगे की घटनाओ से स्पष्ट हो जायेगा, यह कहना भी सही नही है कि 'अकवर ने मेवाड़ पर आक्रमण करना ही छोड़ दिया', मेवाड़ पर आक्रमण की आयोजना अकवर अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक वनाता रहा।

जितनी भूमि उसे अपने पिता से मिली थी उसे फिर से शत्रु के हाथ से छीनकर भी प्रताप वहुत उत्फुल्लित नहीं हो सकता था, चित्तौड़ पर जव तक अकवर का झंडा था वह पूरी तरह अपना सिर नहीं उठा सकता था। अतएव यह सोचना सही नहीं है कि 'महाराणा की शेष आयु सुख से व्यतीत हुई',[2] परन्तु उस समय देश की जो स्थिति थी, उसके आसपास के सभी राज्य जिस तरह अपनी स्वतन्त्रता खो चुके थे, अकवर जैसा शक्तिशाली और वैभवशाली हो गया था, मेवाड़ जिस प्रकार अपने वारवार वहाये रक्त के निकल जाने के कारण श्री-शक्ति-विहीन हो गया था, उसे देखते हुए प्रताप के मन में आनन्द न सही, आत्मविश्वास अवश्य आया होगा, और उसने प्रशासनिक तथा सामाजिक क्षेत्र' में पुनर्निर्माण का साहसिक प्रयत्न आरम्भ कर दिया।

## पुनर्निर्माण का साहसिक प्रयत्न

पूर्ण निश्चितता नहीं होने के, और मेवाड़ मे शत्रु को सुविधा नहीं होने देने की नीति के अनुसरण में अपने हाथों अपनी वस्तियां, वाग, खेत आदि उजाड़ दिये जाने के, और मुगल सेना द्वारा सालों निर्मम लूट-पाट तथा वरवादी किये जाने के कारण

1. 'स्मरणीय स्मारिका', पृष्ठ 61
2. ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 773

यह प्रयत्न कितना कठिन हो गया था, इसका अन्दाज लगाने मे दिक्कत नहीं होनी चाहिये। इस प्रयत्न में प्रताप को जो सफलता मिली वह उसके जीवन का कम प्रसिद्ध, परन्तु परम प्रशंसनीय, पक्ष है। जेम्स टाड से लेकर, जिन्होंने प्रताप द्वारा उदयपुर की पुनः प्राप्ति को भी 'इतना महत्वहीन कि उसका उल्लेख ही अनावश्यक' बताया है, हाल तक के इतिहासकारों ने, जैसे डा० वी० एस० भार्गव जिन्होंने 'राणा के विरुद्ध अन्तिम अभियान' के बाद दस पंक्तियों ही में प्रताप की मृत्यु ला दी है जबकि इसमें लगे दस साल थे,[1] इन वर्षों के प्रताप के जीवन के सम्बन्ध में बहुत कम प्रकाश डाला है; अन्धकार में पहली किरणो के प्रकाश की तरह बड़ी विश्रृंखल, परन्तु बहुत विश्वासभरी जानकारी इन दिनो सामने आने लगी है।

इस दिशा में प्रारम्भिक प्रयत्न डा० गोपीनाथ शर्मा ने किया है। वे लिखते है, "मुगल सेनानियो के बार-बार किये आक्रमण राजपूतों ने बार-बार धावे करके निष्फल कर दिये, और अंततः आक्रमणकारियों को बहुत दुःख और कष्ट का सामना करना पड़ा। मेवाड़ मे राजपूतो से भय के कारण मुगल साम्राज्य के अधिकांश साधन इस ओर लगे थे, इसलिए बंगाल तथा उत्तर-पश्चिमी-सीमा प्रांत में मुगल हितों को क्षति उठानी पड़ रही थी। 1585 के आसपास, अकबर ने मेवाड़ के विरुद्ध अभियान स्थगित कर दिये, और फिर उसकी मृत्यु तक उन्हें गंभीरतापूर्वक आरम्भ नही किया गया। इस अवधि में राजपूतो ने अपनी शक्ति पुनर्गठित की, और इतने कठिन संग्राम तथा जन-धन की इतनी हानि के उपरान्त जो कुछ भी किया गया था उस सबको उलट दिया। मुगलो के हाथों में सिर्फ चित्तौड़ और मांडलगढ़ बचे। यह इतिहास का अजब व्यंग है कि अकबर ने मेवाड़-विजय का अपना जीवन मांडलगढ़ और चित्तौड़ जीतकर आरम्भ किया और उसके अत में भी उसके पास यही दो स्थान बचे।

"एसा लगता है कि 1585 का वर्ष प्रताप के जीवन में अत्यन्त महत्व का हो गया। उस समय तक मुगल सकट समाप्त हो गया था। व्यावहारिक दृष्टि से जगन्नाथ का आक्रमण अंतिम महत्वपूर्ण आक्रमण था, क्योंकि इसके बाद सम्राट पजाब तथा पश्चिम-उत्तर सीमान्त प्रदेश के अधिक महत्व के प्रश्नो से निपटने मे लग गया। इस विश्राम का प्रताप ने अच्छा उपयोग किया, उसने मुख्यतः मेवाड़ के उत्तर-पश्चिम, उत्तर-पूर्व तथा मध्य भाग में फैले मुगल थानो पर धावे बोल दिये। अपने पुत्र कुवर अमरसिंह को साथ लेकर उसके 36 स्थानो से मुगल थाने उठा दिये, जिनमें मुख्य थे उदयपुर, मोही, गोगूदा, मॉडल, पानरवा। मेवाड़ के अधिकांश भाग की पुनः प्राप्ति उदयपुर स्थित कमिश्नर कार्यालय से हाल में प्राप्त एक प्राचीन लेख से स्पष्ट है। इस पर कार्तिक पूर्णिमा, विक्रम सवत् 1645 (सन् 1588) की तिथि पड़ी है, और

1 भार्गव, राजस्थान, पृष्ठ 247

इसमें त्रिवेदी सादुलनाथ को जहाजपुर के निकट मंडेर की जागीर देने का लेख है। इससे हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि उस समय तक राणा ने मेवाड़ का उत्तर-पूर्वी प्रदेश भी हस्तगत कर लिया था, और अपने विश्वसनीय अनुयायियों को जागीरें देकर वह पुनर्निर्माण कार्य में व्यस्त था।

"जैसा कि सुरखड आलेख से बताया गया है, प्रताप ने इस विश्राम का उपयोग 1585 में अथवा उसके आसपास चांवड में अपनी राजधानी बनाने में भी किया। यह सुरक्षित स्थल था जहां उसके लिए रहना और शासन व्यवस्था करना सरल था। इसी अवधि में चांवड में महल और एक मंदिर बनवाये गये।

"प्रताप के पुत्र के समय में लिखे गये 'अमरसार' से हमें ज्ञात होता है कि राणा ने अपने राज्य में इतना सुदृढ़ शासन स्थापित कर लिया था कि महिलाओं और बच्चों तक को किसी से भय नहीं रहा था। आंतरिक सुरक्षा लोगों को इतनी प्राप्त हो गयी थी कि राणा भी बिना अपराध किसी को दंड नहीं दे सकता था। उसने शिक्षा-प्रसार का प्रबन्ध किया था। उसके अधीन भूमि में दूध, फल, वृक्ष तथा विभिन्न प्रकार की सामग्री की बहुलता थी। शांति के इस समय मे अनेक समृद्ध नगर स्थापित हो गये जिनमें विश्वासप्राप्त तथा सम्पन्न प्रजाजन रहते थे।

"प्रताप को लगभग 12 वर्ष शांति और स्वाधीनता का उपयोग करने का अवसर मिला।"[1]

जिन दिनों युद्ध हो रहा था उन दिनों भी निर्माण कार्य कम नहीं हुआ था। प्रताप ने अपने 'वनवास' में अपने और अपने साथियों के, जिनमें परिवार के सदस्य, सामन्त, सेनानी, सैनिक आदि सभी थे, रहने और बारबार बचने की व्यवस्था अच्छी की थी। चारों ओर फैले खंडहर इसके साक्षी हैं। यह इस बात के भी साक्षी हैं कि किस प्रकार 300 मील के छोटे से घेरे में रहकर भी मेवाड़ के तीन महाराणाओं ने बड़े बलशाली और वैभवशाली मुगल सम्राटों का सालों सामना किया था।

हल्दीघाटी से 6 मील दूर, चारों ओर पहाड़ों से घिरी, एक पूरे वर्ष बहने वाले नाले के पास की पोली पहाड़ी के अन्दर, 'मायरा की गुफा' है, जिसके बारे में प्रसिद्ध है कि हल्दीघाटी के युद्ध के समय इस गुफा को शस्त्रागार बनाया गया था, और बहुत से सैनिक यहां रहते थे। गुफा अन्दर से अन्धेरी है। गुफा के पहाड़ के शिखर से 10-12 मील दूर से आता हुआ व्यक्ति दीख जाता है, परन्तु गुफा के 10-12 कदम पास तक पहुंच जाने वाला इस गुफा को नहीं देख सकता। माना जाता है कि दुश्मनों द्वारा पीछा किये जाने पर प्रताप कई बार इस गुफा मे रहा था।

गोगूंदा के दक्षिण मे, लगभग एक मील दूर, पठारी मैदान मे 'राणा' गांव है। इस गांव में और एक मील दक्षिण में थोलिया पहाड़ की तलहटी में कुछ खंडहर

---

1. गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, पृष्ठ 103, 105

हैं जिन्हे 'राणा महल' और 'राणीकोट' (राणा उमर और राणा बाव) कहते हैं। इन खंडहरो के उत्तर में 'माल' नाम का मैदान है। थोलिया का जंगल बहुत घना है और इसमें जंगली जानवर बहुत हैं। यहां एक बहुत पुराना पेड़ है जिसके लिए प्रसिद्ध है कि संकट काल मे इसके नीचे बैठकर प्रताप विचार और मंत्रणा किया करता था। माना जाता है कि यहां के महलो में प्रताप और उसका परिवार रहता था। गांव का नाम प्रताप के नाम पर ही पड़ा बताया जाता है।

हल्दीघाटी, गोगूंदा और कुंभलगढ़ से लगभग 12-14 मील की समान दूरी पर, मचीन्द गाव के पास एक बड़ी पहाड़ी है, जो आसपास की पहाड़ियो से जुड़ी है। यहा महाराणा कुम्भा का बनाया हुआ गढ है। कुछ और खंडहर और एक गुफा भी है। पास में पानी का कुआ है। पहाड़ी की चोटी से 10-15 मील का दृश्य देखा जा सकता है। इस स्थान का धार्मिक महत्व भी है। कहते है यहां नाथ सम्प्रदाय के मत्स्येन्द्रनाथ ने तपस्या की थी। इन्ही के नाम पर गांव का नाम पड़ा है, अब भी यहा एक आश्रम हे। यहां के खडहरो को प्रताप के महलो का अवशेष कहा जाता है, और बताया जाता है कि यहीं अमरसिंह के पुत्र का जन्म हुआ था। इस अवसर पर हुए सस्कार के समय के कुछ लाल-पीले चिन्ह एक चट्टान पर दिखाये जाते हैं। यहां की गुफा भीतर ही भीतर 4-5 मील तक चली गयी है। कहते हैं जब कभी मुगल सेना आती थी, प्रताप अपने साथियो सहित इस गुफा में होकर दूसरी ओर के पहाड़ो में निकल जाता था।

मचीन्द से चार मील एक पहाड़ी की तलहटी में बसा 'रोहिड़ा' गांव है। गांव के पास ही एक नाला है। पहाड़ी पर के खंडहरों को भी प्रताप के महल के अवशेष बताया जाता है। यहां प्रताप अपने साथियो सहित संकट के समय रहता था।

उदयपुर से 16 मील पश्चिम 'उभयेश्वर' तीर्थ स्थान है। चारो ओर घना और भयावना जंगल है। यहां शिव का मंदिर है। मुसलमानो के आक्रमण से मूर्ति के दो खण्ड हो गये हे। पास मे पानी का कुंड है। इस मन्दिर से ढलान की ओर जो खंडहर है वहां भी प्रताप के महल थे। यहां भी उसने अपने संकट का कुछ समय निकाला था।

उदयपुर से लगभग 40 मील पश्चिम अरावली के सघन पहाड़ों में एक उच्च शिखर 'कमलनाथ' है। कमलनाथ से भी ऊपर चढकर 'आवरगढ़' है। कीसू चौहान ने जब चित्तौड़ हस्तगत कर लिया तब यह मेवाड़ की राजधानी था। उदयसिंह चित्तौड़ के बाद यहां रहा था। तलहटी से, जहां 'देभाणा' गांव है, ऊपर तक पहुंचने के पहले कई द्वार पार करने पड़ते है, जो उन दिनों सुरक्षा का प्रचलित प्रबन्ध था। लगभग आधा मील चढने पर 'कुंभजर' नामक पौराणिक स्थान है। आगे 'रावण टुंक' 'वानर टुंक' नाम की एक दूसरे की ओर झुकी हुई दो पहाड़ियां है। इनके आगे कमलनाथ महादेव का मुख्य मंदिर है। यहां बारहो महीने बहने वाला झरना है। यहां से एक मील चढकर

आवरगढ पहुंचा जाता है। ऊपर पानी का तालाव है । आसपास के पहाड़ो पर 12 तालाव हैं। चढाई समाप्त होते ही प्रताप के महलों के खंडहर हैं । इनमें चार-पांच कमरे और वाहर वड़ी चौपाल है । तालाव से थोड़ा और भी ऊपर जाने पर जगह-जगह खंडहर मिलते हैं । यह सैनिकों के रहने के स्थान होंगे । वैसे, इन्हें भी प्रताप के महल वताया जाता है । जव चढाई समाप्त होने को होती है दो वड़े-वड़े वड़ के पेड़ आते हैं। वताया जाता है कि इन पर प्रताप के वच्चो के झूलने डले रहते थे । यहां से और थोड़ा चढने पर, जहां चढाई समाप्त हो जाती है, और भी खंडहर मिलते है । यहां एक ऊंचे स्थान पर वड़ा गोल चवूतरा वना हुआ है। मान्यता यह है कि यह प्रताप का मुख्य निवास स्थान था । इसकी स्थिति को देखने से लगता है कि यह सभा-स्थल रहा होगा । यहां से 15–20 मील तक चारो ओर के पहाड़ी और मैदानी क्षेत्र पर अच्छी तरह निगाह रखी जा सकती है । यहां से पूरा आवरगढ, उसका परकोटा, नीचे के सव खंडहर, तालाव आदि भी दिखते है। गोल चवूतरे के आसपास और खंडहर हैं जिन्हें घोड़ो-हाथियों के वांधने का स्थान वताया जाता है। यहीं टूटी-फूटी हालत में होली वुर्ज है। कहा जाता है कि प्रताप के समय में यहां होली जलायी जाती थी। कमलनाथ मंदिर का पुजारी अव भी यहीं होली जलाता है। आवरगढ (आहोर) 12 मील के घेरे में. वसा हुआ है । चारों ओर परकोटा है, जिसका ज्यादातर हिस्सा अव गिर चुका है। यहां कभी अच्छी वस्ती रही होगी। महाराणा कुंभा ने नये महल वना इसका अपने नाम पर नया नामकरण किया—'कलशमेक'। यह स्थान अरावली के सर्वाधिक सुरक्षित स्थानो में है। यहां शत्रु का पहुंचना अति कठिन था, पहाड़ियाँ इस तरह चारो ओर आ गयी है कि शत्रु उन्हीं में वरावर चक्कर काटता रहे, उसे आवरगढ़ में प्रवेश नहीं मिलेगा । सम्पूर्ण पहाड़ जंगल से भरा है । पानी की वहुतायत है । आम, आंवला, अटेड़ी, कारया, कणजी आदि फलो के पेड़ भी वहुत हैं । हल्दीघाटी के युद्ध के वाद प्रताप अपने सैनिको के साथ यहीं आया था और घायल लोगों का यहीं इलाज कराया गया था । कोल्यारी गांव यहां से दक्षिण में तीन मील ही है । हो सकता है इस स्थान ने प्रताप को वार-वार सुरक्षा दी हो । प्रताप के जीवन से सम्वन्धित यह महत्वपूर्ण स्थान है ।

कमलनाथ—आवरगढ से 10 मील उत्तर—पूर्व 'वदराना' गांव में हरिहर मंदिर है । मदिर वहुत वड़ा है, और इसमें हरि (विष्णु) तथा हर (शिव) की काले संगमरमर की कलात्मक सम्मिलित मूर्ति है । माना यह जाता है कि इस मंदिर का निर्माण प्रताप ने उन्हीं दिनो करवाया था जव वह कमलनाथ-आवरगढ़ मे रहता था। महाराणा राजसिंह (1552–1707) के समय मे इसका जीर्णोद्धार कराया गया ।

उदयपुर—ऋषभदेव मार्ग पर प्रसिद्ध जावर की खानें हैं। इन्हीं के आसपास प्रताप को कई वार समय निकालना पड़ा था । यहीं 'जावरमाला' गुफा है । यहां पुरानी

चान्दी व जस्ते की खान थी जो माल निकल जाने पर गुफा में परिणत हो गयी। इसका मुंह पूर्व की ओर है। अन्दर जाने के लिए सीढ़ियों जैसी जगह से नीचे उतरना पड़ता है। नीचे एक चौड़ी जगह है जहां लगभग 200 लोग बैठ सकते हैं। गुफा की छत में और अगल-बगल में ऐसे छेद हैं जिनसे हल्की रोशनी और हवा आती रहती है। प्रसिद्ध है कि प्रताप इस गुफा में रहा था, और मुगल तथा मेवाड़ की सेनाओं में यहां कई बार मुठभेड़ हुई थी।

रणकपुर और ढोलाण के बीच में सायरा जिले के रोहेड़ा गांव में प्रताप के बनाये 'महल' 'दृढ़ता के सुदृढ स्मारक' माने जाते हैं। मोगार क्षेत्र के आहोर गांव में भी प्रताप ने ऐसे ही 'महल' बनवाये थे। मेवाड़ का महाराणा जिस मकान में रहे वही महल हो जाता है, अन्यथा ये निवासस्थान बहुत ही सादे और काम-चलाऊ थे।

ये सब स्थल अरावली पर्वतमाला के 300 मील के वृत्ताकार घने भाग में अवस्थित हैं। इस भाग में दसियों छोटे-बड़े खंडहर, गुफाएं, आदि हैं जिनका सम्बन्ध प्रताप से बताया जाता है। इन स्थानो में से कुछ तो ऐसे हैं जो तीस-चालीस मील पर्वतीय पट्टी से घिरी हुई उपजाऊ समतल घाटियो में स्थित है। ये घाटियां भी प्रायः 30-40 मील तक के वृत्ताकार में फैली हुई है। इन घाटियों में पानी की बहुतायत है, और कृषि भूमि अत्यन्त उपजाऊ है। इनमें पहुंचने के मार्ग संकरे, दुर्गम और विकट हैं। ऐसे मार्गों की (जिन्हें स्थानीय बोली में 'नाल' कहते हैं) सैनिक टुकड़ियों द्वारा नाकेबन्दी की जाती थी, जिससे भीतरी भाग अत्यन्त सुरक्षित हो जाता था। घनी पर्वतीय पट्टियों के भीतर वनीय भागो में, इस तरह शत्रु का दुर्गम मार्गों को पारकर, घाटियों में प्रवेश करने के बाद भी, पहुंचना कठिन हो जाता था। ऐसे स्थान अरावली के लगभग सभी विशाल पर्वतो में है। इन स्थल-स्थल पर पाये जाने वाले खंडहरो में सर्वत्र शिव अथवा शक्ति के मंदिर मिलते है, जिनमें से अधिकांश परित्यक्त एवं जीर्ण-शीर्ण हे। इनमे से कई का समय-समय पर पुनर्निर्माण हुआ है।[1]

इन स्थानो की यात्रा करने से प्रताप, उसके पहले उदयसिह, और बाद में अमरसिह, के उन दिनो के दैनिक जीवन की अच्छी झांकी मिलती है जब अकबर ने मेवाड़ के इन महाराणाओं का कुछ समय भी निश्चित होकर एक जगह रहना असम्भव कर दिया था, परन्तु प्रकृति, उससे प्राप्त सुविधा और सम्पदा, तथा अपने और अपने परिवार, सामन्तो, सैनिकों, साधारण प्रजाजन सभी के दृढ निश्चय, साहस और सहनशक्ति के कारण मेवाड़ के महाराणा वर्षो 'संसार के सबसे बड़े सम्राट' के छक्के छुड़ाते रहे, और उसे अन्त तक अपनी 'मेवाड़ाधिपति का माथा झुकाने की महत्वाकांक्षा' पूरी नहीं करने दी।

---

1. मुख्यत श्री देव कोठारी के लेख से, 'स्मृति ग्रन्थ' पहला खड, पृष्ठ 215

## नयी राजधानी की स्थापना

प्रताप ने अपने स्थायी जीवन का आरम्भ चांवड में मेवाड़ की नयी राजधानी स्थापित करके किया।

नयी राजधानी हर एक पीढी नहीं बनाया करती। प्रताप और उसके पिता दोनो को इसका अवसर मिला, इसके ऐतिहासिक कारण हैं, एक तरह दोनों के लिए सम्राट अकबर को श्रेय है। अकबर ने चित्तौड़ पर आक्रमण करके सीसोदिया परिवार को उसे छोड़ने को विवश किया था, और उदयसिंह ने इस आशंका में उदयपुर बसाया। अकबर की सेनाओ ने जब उदयपुर को भी अरक्षित कर दिया तो उदयसिंह को गोगूंदा में जाकर रहना पड़ा, जहां उसका देहावसान और प्रताप का राजतिलक हुआ। गोगूंदा भी जब सुरक्षित नहीं रहा, चांवड को मेवाड़ की राजधानी बनाया गया।

इस निर्णय को समझने के लिए अरावली पर्वतमाला के सामरिक महत्व को समझना होगा। अरावली पहाड़ दक्षिण में कई जगह 150 मील तक चौड़े हैं और उत्तर की ओर से शाखाओं मे आते हैं। एक शाखा राजस्थान के दक्षिण से उत्तर-पूर्व की ओर चलती है, जो अजमेर, टोंक, जयपुर, झुंझनू होती हुई दिल्ली तक जाती है। दूसरी बांसवाड़ा, चित्तौड़ को, और बूंदी होती हुई अजमेर के पास आकर पहली शाखा में मिल जाती है। इनके बीच-बीच पठार बन गये हैं। सैन्य-संचालन, सुरक्षा और शत्रु से बचकर सामान्य जीवन बिताने में बड़ी सहायता इस पहाड़ी प्रदेश ने शताब्दियों की है। घोड़े-हाथियों पर सवार सेना, और शत्रु की भारी तोपें, इस क्षेत्र में सरलता से नहीं बढ सकती थीं, और यहां के निवासी तीर-बंदूक क्या लुढ़काये जाने वाले पत्थरो से भी बड़ी क्षति पहुंचा सकते थे। ऊंचाई तथा टेढी-मेढी बनावट अपरिचित का गंतव्य तक पहुंचना कठिन कर देती थी, और परिचित उस पर चाहे जब झपट सकता था। चोटियां आने वाले की खबर रखती थीं और मोड़ अचानक आक्रमण का जगह-जगह मौका देते थे। ऊँचाई पर रहने वाला घाटी से गुजरने वाले के लिए सदा ज्यादा खतरनाक होता था। जो पहाड़ी प्रदेश मे रहते थे, वे यहां के जलवायु तथा यहां होने वाली उपज के उपयोग के अभ्यस्त होते थे; नवागन्तुक को कई बार उसी जलवायु और उपज का शिकार हो जाना पड़ता था। संकरे नाके पहाड़ी किलेबन्दी के प्राकृतिक सशक्त द्वार थे, जो या तो शत्रु को बढने नहीं देते थे, या उसे जेल जैसी स्थिति मे डाल देते थे। पहाड़ों में बसने वालों की प्रवृत्ति स्वच्छन्द, सरल और मित्रतामयी होती है, इसका जो लाभ उठा सके वही इन पर्वतों में अपनी धाक जमा सकता था।

अकबर के चित्तौड़-आक्रमण के बाद किस सफलता से इस प्राकृतिक परिस्थिति का उपयोग किया गया, इसका प्रताप को अनुभव था, वह स्वयं चित्तौड़ को छोड़कर अरावली की शरण में चले जाने के ऐतिहासिक निर्णय का भागीदार था। उदयसिंह

को चाहे इसका श्रेय दें, चाहे मेवाड़ के सामन्तों और विज्ञ जनो को, प्रताप ने इसका पूरा लाभ उठाया, और अकबर के हर आक्रमण को अंततः असफल करके अपना सिक्का प्रायः पूरे मेवाड़ पर जमा लिया। इस अर्जित अनुभव और प्रकृति प्रदत्त सुविधा को उसने तब भी नहीं छोड़ा जब मुगल हमलों की संभावना समाप्त-सी हो गयी।

उदयपुर और गोगूंदा अब भी सुरक्षित नहीं थे। उदयपुर भी घाटी मे बसा है, परन्तु इसमें प्रवेश उत्तर और पूर्व से कठिन नहीं है। गोगूंदा पर देसूरी और हल्दी-घाटी के मार्ग से मुगल बड़ी संख्या में पहुंचने लगे थे। अतएव प्रताप को अरावली के और भी अन्दरुनी हिस्से में जाना पड़ा। छप्पन का पर्वतीय भाग इस दृष्टि से अधिक सुरक्षित था। अतएव चांवड की घाटी को प्रताप ने अपने रहने के लिए चुना और यहीं अपनी राजधानी बनायी। इस क्षेत्र में बाहर से आक्रमण बहुत कठिन था, और आक्रमण होने पर पास के दुर्गम और जंगलों से भरे पहाड़ों मे गायब हो जाना सरल था। मालवा, गुजरात और गोड़वाड़ के जिन इलाकों पर मुगल आधिपत्य हो गया था, वहां उल्टा आक्रमण करके लूटपाट करना भी यहां से सरल था। यहां से प्रताप और उसके सेनापतियों ने कई बार मुगल प्रदेशो पर सफल आक्रमण किये, और वहां से धन-साधन प्राप्त किये। छापामार युद्ध प्रणाली का यहीं पूरा लाभ प्राप्त हुआ और उसने प्रताप को युद्ध संचालक के रुप मे सफल और प्रसिद्ध किया।

प्रताप के अंतिम बारह वर्ष, जो उसके शांतिकालीन प्रयत्न को प्रतिष्ठित बनाते हैं, और उसके उत्तराधिकारी अमरसिंह के राज-काल के प्रारम्भिक सोलह साल चांवड में बीते। चांवड 28 साल मेवाड़ की राजधानी रहा।[1]

यह स्थान चारों ओर ऊंची पहाड़ियो से घिरा है, पर्वतीय नाले और नाको से भरा है, और पीने के पानी की यहां कमी नहीं है। जंगल घने हैं, और आसपास फल, फूल, अनाज आदि की खेती की भी सुविधा है। चांवड मेवाड़ के पर्वतीय प्रदेश से भली प्रकार सम्बद्ध था, और पड़ोस के राज्य सिरोही, ईडर, डूंगरपुर और बांसवाड़ा के निकट पड़ता था, और गुजरात तथा मालवा दो-दो सम्पन्न सूबों से दूर नहीं था। उस समय का इतिहास बताता है कि मेवाड़ का शासन एवं सैनिक प्रबन्ध इन राज्यो और सूबों से दूर रहकर चलाना कठिन हो जाता। इस सारे भूभाग मे आपसी व्यापारिक सम्बन्ध संचालित रखने की दृष्टि से भी चांवड बहुत उपयुक्त था।

चांवड गांव से लगभग आधा मील दूर, एक पहाड़ी पर प्रताप ने अपने महल बनवाये। "ये महल अपने ढंग से मजबूती के विचार से विलक्षण हैं। इनकी निर्माण शैली में उदयसिंह और कुंभकर्ण के काल की निर्माण शैली की झलक है। यहां के

1. चावड का महत्व अखिल भारतीय स्तर पर स्वीकार किया जाने लगा है। नवम्बर 1974 मे ससद सदस्यो की ओर से उठायी गयी माग को स्वीकार करके भारत सरकार चावड को पुरातत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान घोषित करके उसे संरक्षण देने के लिए वहा का सर्वेक्षण करा रही है।

भग्नावशेषों की, चौपालो तथा कमरो की वनावट ठीक चित्तौड़ के कंवरपद के महलों-सी है, परन्तु, आकार तथा प्रकार की कुछ विशेषता पूर्व की शैली से भिन्न है। इसी शैली का सुन्दर रूप वड़े पैमाने पर राजसिंह काल में देखा जाता है। इन महलो का सवसे वड़ा चमत्कार यह है कि स्थापत्य कला ने युद्ध काल की भीषणता को वनाये रखा है। हर स्थान में बचाव, रक्षा सुदृढता, आदि वातो को ध्यान में रखा गया है। परन्तु राजसिंह काल की सजावट का लवलेश मात्र इनमें नहीं दिखाई देता। सम्पूर्ण राजप्रासाद के स्वरूप में हम अनायास प्रताप के कठोर जीवन की झांकी देख सकते हैं मानो कि बनाने वाले ने प्रताप के जीवन का ठीक नमूना महलो के रूप में रख दिया हो। ये महल युद्धकालीन स्थापत्य कला के अनूठे उदाहरण है।"[1]

"महलो के खंडहर वतलाते है कि उनमे विलासिता या वैभव का कोई दिखावा नही रखा गया था। उसकी वनावट मे ग्रामीण जीवन तथा सुरक्षा के साधनो को प्रधानता दी गयी थी। जगह जगह मोर्चों की सुविधाएं, निकलकर भागने की व्यवस्था और सादगी पर अधिक वल दिया गया था।"[2]

"इन महलों के पास सामन्तो के वने हुए मकानो के आकार भग्नावस्था में दिखायी देते हैं। कुछ एक दीवारो के निशानों से हम अनुमान लगा सकते है कि सामंतों की वस्ती के मकानो मे कुछ एक छोटे कमरे, चवूतरे व खुले घुड़साल होते थे और मकानों को बांस और केलू से ढका जाता था। दीवारो के ढेरो में कई वांस के टुकड़े और लम्वे आकार के मजवूत 'केलू' अव भी देखने को मिलते है। इस वस्ती से कुछ दूर कच्चे मकानो के ढेर भी हैं। इस जन साधारण की वस्ती के अवशेषो से वर्तमान गांव की वस्ती मिल-सी गयी है। मकानो की वनावट सादी है जिनमे मुख्य द्वार के आगे आंगन और आंगन के आगे चौपाल और एक दो वड़े कमरो के सिवाय कुछ नहीं दिखायी देता। रास्ते ऊंची नीची भूमि पर हैं और उनका कोई निश्चित क्रम नही है। अलवत्ता राजप्रासाद और सामंतो की वस्ती के मार्ग के मार्ग सीधे है और अधिक चौड़े है। उस युग में साधारण वस्ती की वनावट और विशेष अधिकारी वर्ग की वस्ती की वनावट में भेद अवश्य होता था, जैसा कि चांवड की पुरानी वस्ती के आधारो के अध्ययन से स्पप्ट है।

"ठीक इन खंडहरो के पास चांवड देवी का मन्दिर है जो वनावट के विचार से अधिक प्राचीन नही माना जा सकता। संभव है पुराने मन्दिर का जीर्णोद्धार समय-समय पर होता रहा हो। महलो के पास देवी के मन्दिर का होना भी यह वतलाता है कि युद्ध के लिए प्रेरणा लेने के लिए शक्ति की उपासना इस समय अधिक चल पड़ी थी।

1 गोपीनाथ शर्मा, 'शोध पत्रिका', एक, पृष्ठ 15
2 गोपीनाथ शर्मा, 'रिसर्च स्मारिका', पृष्ठ 44

"चांवड की प्रतिमा इन खंडहरों में अमिट है, इसमें कोई सन्देह नहीं।"[1]

नवीनतम पुस्तकों में यही मिलता है कि 'प्रतापकालीन मेवाड़ की शासन व्यवस्था का कोई भी ब्यौरेवार प्रामाणिक विवरण प्राप्य नहीं है',[2] फिर भी इसमें संदेह नहीं कि चांवड प्रताप के लिए भाग्यशाली सिद्ध हुआ। यहां उसे मुगल-आक्रमणों से विश्राम ही नहीं मिला, इस समय का उपयोग रचनात्मक क्षेत्रों में करने का उसे अवसर भी मिला, जिनका सदुपयोग करके उसने अपना उतना ही गौरव बढ़ाया जितना अकबर की सेना का सामना करके प्राप्त किया था। रणकुशल प्रताप का यहां शांतिकालीन नेतृत्व सफल सिद्ध हुआ।

प्रताप ने उदयपुर की ओर भी ध्यान दिया। इस नगर के बसते-बसते मेवाड़ पर मुगलों के हमले बढ़ने लगे थे, इसलिए इस नगर का निर्माण बीच ही में छूट गया था। इसे फिर से हाथ में लिया गया, और यहां बसने के लिए लोगों को प्रेरित किया गया। परन्तु प्रताप इस नगर में आकर स्वयं नहीं रहा। जंगलों और पहाड़ों से प्राप्त संरक्षण छोड़ने की स्थिति अभी नहीं आयी थी, उदयपुर शत्रु से उतना सुरक्षित नहीं था। जब महाराणा ही वहां नहीं रहे, प्रजाजन भी बड़ी संख्या में उदयपुर को नहीं अपना सकते थे, परन्तु उदयपुर की उन्नति से प्रताप ने मेवाड़ के पुनर्निर्माण-आयोजन का आरम्भ किया।

उदयपुर में जहां अब प्रताप-स्मारक बना है, मोतीमगरी के खंडहर दिखा कर कहा जाता है कि उनमें प्रताप रहा था। अपनी भाग-दौड़ की जिन्दगी में वह यहां कुछ दिन ठहर गया हो, यह बात तो अलग है, अन्यथा सही यह है कि 'प्रताप को उदयपुर या मोतीमगरी के महलों में महाराणा की हैसियत से रहने का प्रचुर अवसर भी प्राप्त नहीं हुआ था।'[3] मेवाड़ की दो ही राजधानियां बहुत प्रसिद्ध हैं, चित्तौड़ और उदयपुर। अब दोनों जगह प्रताप के दर्शनीय स्मारक भी बन गये हैं। दोनों प्रताप की चिन्ता के कारण अवश्य थे, परन्तु उनसे महाराणा प्रताप के जीवन का वास्तविक सम्बन्ध बहुत ही कम था।

चांवड और उदयपुर में किये गये निर्माणकार्य के अतिरिक्त प्रताप ने कई कस्बों और गांवों को भी बसाया या सुधारा। इनमें से कई उसके आदेश से खाली कर दिये गये थे, कई को मुगल सेना ने लूटा और बरबाद किया था। कई तो पूरे के पूरे जला दिये गये थे। पीपली, सधावा, ढोल, ढीकड आदि गांवों के नाम इस संदर्भ में पुराने ताम्रपत्रों में मिलते हैं।

अपनी शासन-व्यवस्था का भी प्रताप ने पुनर्गठन किया। बारबार होने वाले हमलों ने सामान्य प्रबन्ध असंभव कर दिया था। नयी व्यवस्थाएं आवश्यक हो गयी थीं।

---

1 गोपीनाथ शर्मा, 'शोध पत्रिका', [illegible], पृष्ठ 15
2 रघुवीरसिंह, प्रताप, पृष्ठ 59
3 टिप्पणी एक के अनुसार, पृष्ठ 13

कई पुराने सामन्त और अधिकारी युद्ध में काम आ गये थे, कई ऐसे सामने आये थे जिन्होने अपनी स्वमिभक्ति, साहस और दृढता से अपने लिए स्थान वना लिया था। ऐसे लोगों को वड़ी जागीरें, और ऊंचे पद दिये गये, उनकी प्रतिष्ठा वाढ़ायी गयी।

"इस कार्य में उन्हें अपने व्यक्तित्व, आदर्शवादिता तथा क्रियाशीलता से बड़ी सफलता मिली। सीसोदिया सरदार, स्थानीय सरदार तथा अन्य वाहरी राजपूत वशों ने प्रताप को अपना नेता स्वीकार किया और सभी मेवाड़ की सुरक्षा के लिए उनके सहयोगी वन गये। चौहान, सीसोदिया, तंवर, राठौड़, सोलंकी आदि राजपूत वंशों ने मेवाड़ के लिए वलिदान चढ़ाने को अपना-अपना सैन्य वल प्रताप के सुपुर्द कर दिया और सभी देश की रक्षा के कार्य में लग गये। इन राजपूत वंशो के अतिरिक्त ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र तथा भीलों (और मीणो) के जत्थे भी महाराणा के साथ देश-रक्षा के पुनीत कार्य के लिए कमर वांधकर तैयार हो गये। हल्दीघाटी के युद्ध में इन सभी जातियों का, जिनमें मुसलमान भी सम्मिलित थे, सहयोग था। राज्य के तथा राज्येतर सामन्तों तथा सम्पूर्ण जनता का सहर्ष सहयोग प्राप्त करना और आसपास के राज्यो में मैत्री-सयोग वढाना प्रताप की सहिष्णु तथा विचारशील नीति का परिचायक है। इस नीति को समयोचित और चतुर नीति कहा जा सकता है।

"जन जागरण तथा जन संगठन को क्षमता भी प्रताप में खूव थी। सम्पूर्ण पहाड़ी भागों मे घूम-घूम कर तथा कष्टसाध्य जीवन को विताकर उन्होने जनता के नैतिक स्तर को वनाये रखा। प्रताप ने उनके जीवन की समस्या को अपने जीवन की सनस्या वनाया। वे कई दिन ग्रामीण जनता के बीच में विचरण करते रहते और जन-आन्दोलन के द्वारा देश को सजग वनाये रहे। मुगलो के लिए ऐसे नये संगठन का मुकावला करना वड़ा कठिन था।

"जव मुगलो का भय कम हो गया और देश भी एक सूत्र में संगठित हो चला था तो प्रताप ने जन जीवन को व्यवस्थित करने का बीड़ा उठाया। समुचित शासन व्यवस्था के लिए वे शासन के प्रमुख कर्णधार वने परन्तु उन्होने कई विभागों की देखरेख के लिए विभागीय अध्यक्षो की नियुक्ति की। पुराने अधिकारो या तो मर चुके थे या नयी प्रणाली के लिए उपयुक्त नहीं थे। महाराणा ने नयी शासन व्यवस्था के लिए नये दल को तैयार किया। इस प्रकार की शासन व्यवस्था में परम्परा ओर नयी परिस्थिति के अनुकूल आचरण क सामंजस्य था। जिस विभागीय वर्गीकरण की शासन पद्धति का प्रारम्भ प्रताप ने किया था उसी का रूप हम महाराणा अमरसिह के समय में पाते हैं।"[1]

शासन प्रवन्ध की दृष्टि से प्रताप का वड़ा निर्णय यह था कि रामा महसानी के स्थान पर भामाशाह को प्रधान (मंत्री) वनाया गया। नये प्रवन्ध के लिए नये लोगों

---

1. गोपीनाथ शर्मा, 'स्मृति ग्रन्थ', पहला खड, पृष्ठ 94

को सामने लाया गया। शासन-प्रबन्ध विभागों में बांटा गया, और उन पर अलग अलग अधिकारी नियुक्त किये गये। जिस विभागीय वर्गीकरण की शासन पद्धति का प्रारम्भ प्रताप ने किया उसी को और सामयिक बनाकर अमरसिंह ने सुदृढ़ किया।[1]

भू-प्रबन्ध व्यवस्थित किया गया। जगह-जगह प्रताप ने विश्वस्त लोगों को बसाया, और उनको जमीन के नये पट्टे दिये। जिनके पुराने पट्टे खो गये थे या जल गये थे, उनको नये पट्टे बनवाकर दिये गये।

युद्धकालीन समय में भी प्रताप ने कृषि और वाणिज्य की ऐसी व्यवस्था रखी थी कि हजारों सैनिकों और सामान्य नागरिकों को निरन्तर दैनिक आवश्यकता की वस्तुएं जहां वे थे वहीं मिलती रहीं। 'जगह जगह पहाड़ी उपत्यकाओं में खेती की व्यवस्थाओ से जनता के लिए काम भी खोज निकाला गया और उस भूभाग को आबाद करने में सहायता मिल गयी।' शांति होने पर उपज और आय के साधन और भी खुल गये। कृषि की और अधिक उन्नति की ओर ध्यान दिया गया, और व्यापार-वाणिज्य भी फिर से सामान्य स्थिति मे आ गया। मालवा और गुजरात की ओर के मार्ग खुल गये, आवागमन सरल हो गया। इन दोनों समृद्ध क्षेत्रो से मेवाड़ का आयात-निर्यात व्यापार फिर से होने लगा।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, प्रताप का शासन-प्रबन्ध व्यवस्थित और सुदृढ़ था। राज्यादेश व्यावहारिक रुप से मनवाने में प्रताप बहुत कड़ा था, भरे युद्ध में आज्ञा न मानने वालों को जहां का तहां प्राणदंड तक दिया गया था। यह परम्परा कायम रही, चोरी, डकैती तथा अनैतिक आचरण करने का लोगों को साहस ही नहीं रहा। दंड देने के अवसर ही कम आने लगे। 'प्रताप की राजधानी में न्याय का समुचित प्रबन्ध था। अपराधियों की संख्या उचित दंड देकर कम कर दी गयी थी जिससे चोरी, डकैती तथा अनैतिक आचरण का राज्य में कोई भय नहीं रह गया था।' 'अमरसार' का लेखक अलंकृत भाषा मे लिखता है कि प्रताप के राज्य में पाश (डोरी) की विद्यमानता महिलाओ की अलकाओं मे ही थी, चोरों को पकड़ने के लिए पाश (रस्सी) का प्रयोग नहीं होता था। जन साधारण का उचित और नैतिक आचरण सामान्य बात हो गयी थी।

## साहित्य, कला और शिल्प

साहित्य, कला और शिल्प में मेवाड़ की परम्परा पुरानी थी। राणा कुम्भा के समय मे तो वह चोटी पर पहुंच गयी थी। राणा सांगा के समय में मेवाड़ की सीमा का भी विस्तार हुआ और सम्मान का भी, परन्तु उसी के समय में मेवाड़ में संध्या भी उतर आयी, और उसके बाद दूसरो को आलोकित करने वाला यह राज्य अंधकार

1 'अमरसार' मे प्रताप-वर्णन से यह स्पष्ट है। पहला सर्ग, श्लोक 255-59

में समा गया। उदयसिंह और प्रतापसिंह ने जो कुछ किया इस अंधकार में सितारों से रोशनी करने के समान था, उन्होंने लोहे से लोहा लड़ाकर जमीन पर सितारे उतार दिये। 'हिन्दुआ सूर्य' चाहे पूर्णतः उदय नहीं हुआ था, परन्तु इन सितारो ने उसके लिए आशा और आस्था सदा बनाये रखी। अब शांति आने पर भोर का प्रकाश प्रकट हुआ, साहित्यकार, कलाकार तथा कारीगर—जो जहां बना चले गये थे—आ-आ कर प्रताप के पास एकत्रित होने लगे। चांवड सांस्कृतिक केन्द्र बन गया।

चांवड के आगमन के मार्गों से दूर होने के कारण, और इसकी स्थिति प्रकृति के प्रभावकारी वातावरण में होने के कारण, नयी राजधानी सभी तरह की शांतिकालीन रचना-प्रक्रिया के लिए बड़ी अनुकूल सिद्ध हुई। राणा अमरसिंह ने भी यहीं से शासन-प्रबन्ध किया। चांवड को एक साथ लम्बी अवधि तक मेवाड़ का केन्द्र रहने का अवसर मिला, जिसका पूरा उपयोग कला, साहित्य और संस्कृति की अभिवृद्धि मे हुआ। इस परम्परा ने यहां इतनी जड़ें जमा लीं कि राजधानी के हट जाने पर, उदयपुर के प्रमुख केन्द्र बन जाने पर भी, चांवड में रचना-प्रक्रिया अठारहवीं शताब्दी तक अच्छी तरह चलती रही।

प्रताप के समय में लिखे गये ग्रन्थों की पांडुलिपियां और चांवड में बने चित्रों की मूल प्रतियां अब सामने आने लगी हैं। उनसे सिद्ध होता है कि राणा प्रताप ने साहित्य और कला को चांवड में रहकर बहुत प्रोत्साहन दिया था।

अपने पिता के समय से प्रताप का कई विद्वानों से सम्पर्क था, जिनमें मथुरा के मिश्र चक्रपाणि का उल्लेख विशेष मिलता है। उन्होने उन दिनों में प्रताप की प्रेरणा से 'विश्ववल्लभ' नाम के ग्रन्थ की रचना की, और बाद में 'राज्याभिषेक पद्धति' का संकलन और संपादन किया। चक्रपाणि ने जन साधारण के उपयोग के लिए ज्योतिष 'मुहूर्तमाला' की भी रचना की।

प्रताप के साथ कई चारण कवि रहते थे। धरमा का पुत्र रामा सांदू सुकवि ही नहीं वीर योद्धा भी था, उसने लड़ते हुए अपनी जान दी थी। उसका और अन्य कई कवियों का प्रताप ने सम्मान किया था।

उसके सामन्त और प्रबन्धक भी इसी प्रकार कवियों को प्रोत्साहन देते थे। गोड़वाड़ में जब प्रताप की ओर से भामाशाह का भाई ताराचन्द नियुक्त था, उसकी प्रेरणा से मेवाड़ और मारवाड़ के संधिस्थल पर स्थित सादड़ी नगर में अयाचक जैन विद्वान साधु हेमरतन सूरि ने 'गोरा-बादल चरित्र' की रचना अल्हा-ऊदल के ढंग पर की।

इस रचना का साहित्यिक के साथ-साथ राजनीतिक महत्व, विशेषतः यदि इसका रचनाकाल ध्यान में रखें, स्पष्ट है, यह एक साहित्यकार की राष्ट्रीय यज्ञ में अनुपम आहुति है। "हेमरतन महाराणा प्रताप का समकालीन कवि था और उसके लिखने में मेवाड़ के प्रति सम्मान का भाव था। मेवाड़ के स्वामिभक्त सेवकों का

गौरव उसने गाया है। महाराणा की समस्या को उसने चेतना प्रदान की है। हेमरतन ने 'स्वामिभक्ति' पर बल दिया है और स्वामिभक्त सेवकों का गौरव गान गाया है। स्वामिभक्ति का भाव मेवाड़ के शासकों के प्रति और विशेष रूप से महाराणा प्रताप के प्रति दिखलाया गया है। (यह) मेवाड़ के गौरव की अभिव्यक्ति है। मेवाड़ का यह गौरव मेवाड़ के सेवकों, स्वामिभक्त सेवकों, के कारण सुरक्षित रह सका है। इस परम्परा में लिखे गये काव्यों ने समय-समय पर मेवाड़ के प्रति स्वामिभक्ति जमाने में और जन जीवन में मेवाड़ के प्रति आस्था को जीवित रखने में सहयोग दिया है। मेवाड़ का उज्ज्वल यश राजस्थान भर के लिए आदर्श माना जाता रहा है। वाद में भारतवर्ष में भी इस यश को ऐतिहासिक रूप में स्वीकृति मिली है। दक्षिण में, उत्तर में तथा अन्यत्र इस आदर्श ने औरो में वीरश्री की भावना जगायी है। इस वीर-मनोवृत्ति को सजग रखने में गोरा-वादल से सम्वन्धित वीर काव्यों का महत्व अक्षुण्ण रहेगा। गोरा-वादल पात्रों को नायक रूप में प्रसिद्धि अकवर के काल मे ही मिली और हेमरतन द्वारा लिखी गयी इस रचना के कारण ही गोरा-वादल नायक रूप में ख्यात हो गये। हेमरतन के पूर्व गोरा वादल लोक में (परम्परारूप में) प्रसिद्ध रहे होंगे, किन्तु हेमरतन ने इनको सर्वप्रथम नायक का दरजा दिया। मेवाड़ के नायकों (चित्तौड़ के शासको) के गौरव के साथ मेवाड़ के स्वामिभक्त सेवकों का गौरव भी होने लगा। इस रूप में गोरा-वादल के गौरव में मेवाड़ तथा मेवाड़ से सम्वन्धित शासकों के ऐतिहासिक गौरव का भाव निहित है। हेमरतन के इस काव्य ने मेवाड़ में महाराणा प्रताप के स्वामिभक्त सेवकों की वृद्धि की। कवि हेमरतन ने अपने काव्य-प्रयोजन को व्यक्त करते हुए लिखा है—

> वीरा रस सिणगार रस, हासा रस हित हेज।
> सांमि धरम रस सांभलु, जिम हुई तन अति तेज ॥5॥
> सांमि धरम जिणि साचविउ, वीरा रस सविसेष।
> सुभटां महि सीमा लही, राषी खित्रवट रेष ॥6॥

इन पंक्तियो से यह वात स्पष्ट होती है कि हेमरतन 'स्वामिभक्ति' को विशेष प्रोत्साहन देना चाहता था। 'सांमि धरम रस सांभलु' कहकर कवि ने स्वामि के प्रति भक्ति (धर्म) रखने वाले पात्रों को प्रोत्साहित किया है। स्वामिधर्म के साथ वीररस संवद्ध है, यह भी कवि का कहना है। इस रचना का मूल्यांकन मुनि जिनविजय जी ने इस प्रकार किया है:

'हेमरतन ने भी पद्मनी की लोककथा को कविता-वद्ध किया है, परन्तु उसने इसे कोई प्रेम की कहानी नही वतायी। वह तो उसे आदर्श हिन्दू नारी के पवित्र शील की और सती धर्म की रक्षा सूचक सच्ची कहानी मानता है, वह इसे स्वदेश, स्वधर्म के रक्षक और पोषक वीरत्व की गाथा समझता है। हेमरतन की यह रचना हमारा एक राष्ट्रीय गीत है। यह गीत हमारे राष्ट्र के उस सर्वनाशी संकटकाल के मर्मान्तक एवं

करुणा नाद की आंसू लाने वाली दुःखद धुन भी सुनाता है और उस कराल-काल में भी राष्ट्र के गौरव की रक्षा निमित्त शौर्य के मद में मस्त होकर हंसते, नाचते और गाते हुए अपने प्राणों की आहुति देने वाले वीर और वीरांगनाओं की हुंकारों से गूंजती हुई धुन भी सुनाता है।'

मुनिजी ने हेमरतन के इस काव्य को राष्ट्रीय धर्म में परखा है। एक प्रकार से इस मूल्यांकन में अकवरकालीन महाराणा प्रताप द्वारा अपनायी गयी राजनीतिक प्रवृत्ति को (महाराणा के अपने आदर्श को) राष्ट्रीय माना गया है। महाराणा प्रताप को राष्ट्रीय संदर्भ में सम्मान दिलाने में हेमरतन द्वारा रचित 'गोरा-वादल' का अक्षुण्ण महत्व रहेगा। गोरा-वादल की स्वामी की भक्ति महाराणा के काल मे आदर्श सिद्ध हुई और इस काव्य के प्रचार से महाराणा प्रताप को स्वामिभक्त सेवक मिले,। भामा-शाह तथा ताराचन्द (ताराचन्द की प्रेरणा से यह रचना लिखी गयी थी, उस समय अकवर और प्रताप दोनो मौजूद थे। इसे हल्दीघाटी के युद्ध के 12 साल वाद, प्रताप की मृत्यु के नौसाल पहले, लिखा गया था। जिस समय में यह रचना लिखी जा रही थी उस समय प्रताप ने अकवर से कुछ किले जीत लिये थे। कवि ने लिखा है– 'प्रतपइ दिन-दिन अधिक प्रताप'। इसके वाद प्रताप पर कोई प्रवल आक्रमण नहीं हुआ) महा-राणा प्रताप के स्वामिभक्त सेवक थे। राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि हेमरतन के इस काव्य ने अतीतकालीन इतिहास को दोहराकर तत्कालीन परिस्थितियों के संदर्भ में राजनीतिक आदर्श को प्रोत्साहित किया है। जो काव्य सामयिक राजनीतिक प्रवृत्तियो को ऐतिहासिक आदर्शों के आधार पर प्रोत्साहन देते हैं और जन जीवन में आवेग जगाते हैं, उन्हें राष्ट्रीय काव्य कहा जाता है। इस दृष्टि से हेमरतन का यह काव्य महाराणा प्रताप के काल का राष्ट्रीय काव्य है। हेमरतन के इस काव्य के लिखने के वाद इस काव्य की लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वहुत शीघ्र गोरा- वादल पर एक और काव्य (जटमल कवि द्वारा) लिखा गया। महाराणा प्रताप की राजनीतिक सफलताओं के पीछे उस काल में लिखे गये काव्यों का महत्व अभी आंका नहीं गया है।"[1]

भारतीय चित्रकला की मेवाड़ शैली वहुत प्रसिद्ध है। विद्वानो का मत है कि इस शैली के 'प्रारम्भिक उत्कृष्ट नमूनो का प्रादुर्भाव चांवड से हुआ था।'[2] मेवाड़ शैली के अंतर्गत चांवड कलम का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया है। और माना गया है कि 'इस शैली में वने चित्र भारतीय कला के अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है'[3]। चांवड में वने कई चित्र सामने आये है, जो रोचकता और मौलिकता की दृष्टि से अनूठे हैं। "इस शैली मे विषय के प्रतिपादन में तथा रंगों के प्रयोग में सादगी तथा भाव प्रदर्शन में गांभीर्य

1. राजमल वोरा, 'शोध-पत्रिका', चार, पृष्ठ 18
2. गोपीनाथ शर्मा, 'शोध पत्रिका', एक, पृष्ठ 16
3 मोतीचन्द्र, पृष्ठ दो।

प्रमुख है। इस शैली के बने हुए चित्र श्री गोपीकृष्ण कानोड़िया तथा श्री मोतीचंद खजानची के संग्रहों में सुरक्षित हैं। एक रागमाला का चित्र जो प्रताप के समय के ठीक बाद वि. स. 1662 में बना था इस बात को प्रमाणित करता है कि रागमाला का चित्रण प्रताप के समय से आरम्भ हो गया था तथा इस माला का आधार स्थानीय चित्रकला की अभिव्यक्ति था। इससे यह भी प्रतीत होता है कि रागमाला के चित्रकार निसारदी (नासिरुद्दीन) या निसार आदि चित्रकार थे जो एक चित्र को अनेक चित्रकार मिलकर मुगल पद्धति के अनुकूल बनाते थे···यदि हम चित्रशैली को अधिक बारीकी से देखते हैं तो स्पष्ट होता है कि पृष्ठभूमि के चित्रण में तथा पुरुष और स्त्रियो की आकृति मे दक्षिण तथा पश्चिमी तटीय भागो और मालवा के प्रभाव की भी छाप है। ऐसा प्रतीत होता है कि तब तक मेवाड़ का सांस्कृतिक सम्बन्ध इन विभिन्न भागो मे परिपक्व अवस्था मे पहुंच चुका था।"

"चित्रकला की भांति प्रताप ने स्थापत्य कला में भी रुचि ली। उनके समय के स्थापत्य में सैनिक तथा साधारण जन जीवन के स्थापत्य का सम्मिश्रण था।"[1]

## उदारता और उदात्तता

हल्दीघाटी के युद्ध में हकीमखान सूरी और चित्रकला के क्षेत्र में नासिरूद्दीन के नाम प्रताप की धर्मनिरपेक्षता सिद्ध करते हैं। कूटनीतिज्ञ के रूप मे उसने जालोर के ताजखान से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये थे। एक और किंवदंती प्रसिद्ध है। एक बार प्रताप के अनुयायियों की कुछ औरते (मुगल) सैनिको के हाथ पड़ गयीं। मुसलमान सैनिक उन्हे कहां ले गये है, पता नही लग रहा था। इस बात के मालूम होते ही एक मुसलमान हकीम घोड़े पर चढ़कर प्रताप के पास आया और बोला, 'मुझसे यह देखा नही जाता कि आपके सामन्त जब मुसलमान शाहजादियाँ पकड़ लाये थे, आपने उन्हें ससम्मान वापस लौटाया था, किन्तु आज आपके शत्रु आपकी बहन-बेटियों की इज्जत लूटने पर उतारू है। मेरे साथ चलिये और उन्हे छुड़ाइये।' रात का वक्त था, फिर भी प्रताप खबर मिलते ही अपने विश्वस्त सैनिकों को साथ लेकर हकीम के साथ गया, और रात में ही शत्रु पर आक्रमण कर औरतों को छुड़ा लाया। इस कहानी में कुछ भी सचाई चाहे न हो, लेकिन एक और मुस्लिम नाम सामने आता है, जो यह भी बताता है कि प्रताप का कितना आदर अन्य धर्म वाले करते थे, और कितना विश्वास उसका उन पर था कि रात के वक्त में वह हकीम के साथ चला गया। प्रताप के प्रति अकबर के सेनानायक अब्दुर्रहीम खानखाना की जो श्रद्धा-भावना थी उसे तो उसने अपनी रचनाओ से अमर कर दिया है।

प्रताप के जीवन में एक आधारभूत उदारता थी, और अपने प्रारम्भिक जीवन में उसे--अपने पिता के छोटे पुत्र जगमाल के प्रति अनुराग के कारण--आम लोगों से मिलजुल कर रहने का मौका ज्यादा मिला था। इस अवधि में उसके सम्पर्क

---

1 गोपीनाथ शर्मा, 'स्मृति ग्रन्थ', पहला खण्ड, पृष्ठ 96

व्यापक और भेदभाव विहीन हो गये। धर्मान्धता के लिए इसमें लेशमात्र भी स्थान नही था। इसलिए इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि युद्ध-काल और शांति-काल दोनों में उसे मुसलमानो का भी सहयोग प्राप्त रहा। इसका उल्लेख इसलिए आवश्यक हो गया है कि कई व्यक्ति प्रताप को साम्प्रदायिक नेता के रूप में प्रस्तुत करते हैं। साम्प्रदायिकता जिस रूप में आज जानी जाती है उसकी प्रताप तक पहुंच कभी नही हुई।

यही नहीं, जैसाकि हम ऊपर देख चुके हैं, हिन्दुओ में फैला आपसी भेदभाव भी प्रताप के प्रयत्नों में बाधा नहीं उपस्थित कर सका। चौहान, सीसोदिया, तंवर, राठौड, सोलंकी आदि राजपूत वंशों के अतिरिक्त ब्राह्मण, वैश्य, भील, शूद्र, और मुसलमानों के जत्थे भी महाराणा के साथ देश-रक्षा के पुनीत कार्य के लिए कमर बांधकर तैयार रहते थे।

प्रताप को जो सफलता मिली उसका श्रेय उसके अपने व्यक्तित्व और मेवाड़ की यशस्वी परम्परा को था। परस्पर दोनों ने एक दूसरे को प्रभावित किया। प्रताप के आदर्श, उद्देश्य और कार्यविधि उसके पूर्वजों से प्रेरित थी, भारतीयता की उच्चतम अभिव्यक्ति उनमें हुई थी। उसमें ऐसे गुणों का प्राधान्य था जो सदा से सारे संसार में समादृत रहे हैं। यही कारण है कि प्रताप एक व्यक्ति नहीं, एक दर्शन और मार्गदर्शक बन गया है। यह सफलता प्राप्त करके प्रताप ने अपने कुल और अपने राज्य की कीर्ति इतनी ऊंची उठा दी कि जो प्रताप के नाम से परिचित है वही उसका भक्त है। अपनी स्वाधीनता के लिए जूझने वालो ने बार-बार प्रताप से प्रेरणा प्राप्त की है, प्रताप वीरों और बलिदानियों का नारा बन गया है। मिर्जा अब्दुर्रहीम खानखाना, जिसे अकबर ने प्रताप को मिटाने के लिए भेजा था, प्रताप की प्रशंसा में दो पंक्तियां लिख गया है :

ध्रम रहसी रहसी धरा, खप जासी खुरसाण,
अमर विशंभर उपरे, राखे नहचो राण।

धर्म रहेगा और धरती रहेगी, परन्तु शाही सत्ता सदा नहीं रहेगी। अपने भगवान पर भरोसा करके राणा ने अपने सम्मान को अमर कर लिया है।

## प्रताप का अंत समय

इस अमरत्व को प्राप्त करने के लिए प्रताप को केवल 57 साल का जीवन और 25 साल का राजकाल मिला। "राजस्थान का गौरव समय से पहले कुम्हला गया, खिन्न मस्तिष्क ने चकनाचूर हुए शरीर को शिकार बना लिया, और वह अपने जीवन के भरे मध्यान्ह में जमीन से लग गया।"[1]

"अंतिम दिन वह अत्यन्त दुःखी था और उसके प्राण शांति से पयान नहीं करते थे, उसकी ऐसी अवस्था देखकर सरदारों को दुःख हो रहा था, जिससे सलूंबर

1. जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 277

के रावत ने साहस कर पूछा—'क्या कारण है कि आपके प्राण शांति के साथ इस शरीर को नहीं छोड़ते ?' उसने उत्तर दिया—'मैं अपने पुत्र अमरसिंह का स्वभाव जानता हूं, वह आराम-पसन्द है, इसलिए उससे मुझे आशा नहीं कि वह आपत्ति सह कर देश और वंश के गौरव की रक्षा कर सके। यदि आप लोग मेरे पीछे मेरे राज्य के गौरव की रक्षा करने का प्रण करें तो मेरी आत्मा शान्ति के साथ इस शरीर को छोड़ सकती है।' इस पर सरदारों ने बापा रावल की गद्दी की शपथ खाकर वैसी ही प्रतिज्ञा की, जिससे महाराणा को संतोष हो गया और उसका प्राणपक्षी शान्ति-पूर्वक प्रयाण कर गया। यह घटना वि० सं० 1653 माघ सुदी 11 (ई० सं० 1597 ता० 19 जनवरी) को हुई।"[1]

डा० ओझा ने यह बात 'वीर विनोद, भाग 2, पृ० 164' के हवाले से लिखी है, जैसा कि उनके दिये पाद-टिप्पण से प्रकट है। परन्तु 'वीरविनोद' के 164 वें पृष्ठ पर ऐसी कोई बात नही लिखी हुई है, और यदि उनका तात्पर्य केवल तिथि के लिए प्रमाण देने का है तो भी 'वीर विनोद' में '19' जनवरी नहीं, '29' जनवरी दी हुई है। डा० ओझा ने अवश्य इस घटना का उल्लेख कहीं और देखा होगा।

'वीर विनोद' के 164 पृष्ठ पर एक और ही घटना दी हुई है : "एक दिन महाराणा प्रतापसिंह किसी पहाड़ पर फूस के झोपड़ो में अपनी राणियो सहित सोते थे कि मेह बरसने लगा। उस समय महाराणा तो एक झोंपडी में तलवार हाथ मे लिए होशियार बैठे थे और दूसरे छप्पर में कुंवर अमरसिंह मौजूद थे, जब ऊपर से पानी टपकने लगा तब कुंवरानी ने लम्बा सांस खेंचकर कहा कि 'हम इस दुःख से कभी पार उतरेंगे या नही ?' तब महाराजकुमार ने जवाब दिया कि 'हम क्या करें ? दाजीराज[2] के बखिलाफ कुछ नहीं कर सकते'। कुंवर और कुंवरानी की बाते सुनकर महाराणा प्रतापसिंह ने सवेरे सब सरदारो को इकट्ठा करके उनसे महाराजकुमार अमरसिंह के सामने रात की सुनी हुई बातो का इशारा जताकर कहा कि 'ए सरदार लोगों! मैं अच्छी तरह जानता हूं कि मेरे पीछे यह अमरसिंह जो दिल से आराम चाहता है कभी तकलीफ न उठावेगा और मुसलमान बादशाहो के दिये हुए खिलअत पहनेगा और फरमान को अदब के साथ लेना और तावेदारी करना कुबूल करेगा, और हमारे बेदाग वंश को अपने आराम के लिए दाग लगावेगा'। कुंवर अमरसिंह इस बात को सुनकर बहुत शर्मिन्दा हुए, लेकिन अपने पिता के सामने कुछ न कह सके, मगर दिल में मजबूत इरादा कर लिया कि 'मैं हरगिज बादशाहों का फर्मांबरदार न बनूंगा'।"[3]

'वीर विनोद' मे कहीं नहीं लिखा कि यह घटना प्रताप के जीवन के 'अंतिम दिन' हुई, हो भी नहीं सकती थी क्योंकि मृत्यु के पहले प्रताप को चावंड के महलो में रहते

1. ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 778
2. मेवाड के राजकुल के लोग अपने पिता को इसी शब्द से सम्बोधित करते रहे है।
3. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 164

सालों हो गये थे, वहां 'झोपड़ो में अपनी राणियों और बेटो सहित' सोने का प्रश्न ही नही उठता। अतएव जब उनका दिया हुआ प्रमाण ही सत्य नहीं है तो डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के इस आख्यान को विश्वास करने का कोई कारण नहीं रह जाता, उनसे न जाने कैसे प्रताप और उसके पुत्र के प्रति यह असम्मानजनक वात लिखी गयी। अपने पिता के समय में अमरसिंह ने कम वीरता नहीं दिखायी थी, कष्ट उठाने में वह पीछे नहीं रहा था। अतएव उसके प्रति आशंका करना उसके साथ अन्याय था। प्रताप अपने पुत्र को जानता था। इस प्रकार की भावना का, इस कल्पित कहानी का, कोई कारण और आधार नहीं है।

अब रह जाती है 'वीर विनोद' में दी गयी घटना। हो सकता है अमरसिंह के मन में कभी कमजोरी के क्षण आये हो, यह मनुष्य स्वभाव के नितान्त विपरीत नहीं है, विशेषतः जब प्रिय पत्नी पीड़ा सह सकने में असमर्थ लग रही हो। परन्तु अमरसिंह ने शीघ्र अपना मन दृढ कर लिया, कमजोरी को मन से निकाल दिया। यद्यपि यह घटना इतिहास ग्रन्थो द्वारा समर्थित नहीं है, फिर भी यह घटना परिस्थिति की स्वाभाविकता प्रदर्शित करती है, किसी पर किसी तरह का कलंक नहीं लगाती। इससे प्रताप के अंतिम समय को—यह घटना हुई भी थी तो इससे बहुत पहले हो गयी थी—कलुषित नहीं किया जा सकता।

असल मे दिक्कत यह हुई है कि 'वीर विनोद' ने जगन्नाथ कछवाह के आक्रमण का उल्लेख करते ही, अगली पंक्ति में, इस घटना को दे दिया है, और इसके तत्काल बाद, बीच में और कुछ नही है, महाराणा प्रतापसिह के 'बैकुंठवास' की तिथि। इस लिए इस घटना को प्रताप की मृत्यु से जोड़ लिया गया है।

जेम्स टाड के ग्रंथ से गुत्थी कुछ सुलझती है। यह 'वीरविनोद' से पहले का है, अतएव संभव है कि जेम्स टाड की पुस्तक से इसे उठा लिया गया हो। जेम्स टाड के अनुसार प्रताप ने अपनी मृत्यु के समय 'वीर विनोद' मे दी गयी घटना को अपने सरदारो के सामने सुनाकर अमरसिंह के अधीन मेवाड़ के भविष्य के प्रति आशंका व्यक्त की थी, और उस कारण वह व्यथित था। इस पर मेवाड़ के सरदारों ने डा. ओझा की बतायी शपथ ली। परन्तु जेम्स टाड ने भी अमरसिंह की पत्नी का इस संदर्भ में उल्लेख नहीं किया है, उसकी जगह अमरसिंह की पगड़ी झोपड़े के बांस से उलझकर गिरने पर जिस तरह वह उसे खींचता ले गया उसी से प्रताप के मन में अमरसिंह के प्रति आशंका घर करने की बात कही गयी है।[1] किसी ने कुछ कहा नही था, प्रताप की आशंका निर्मूल भी हो सकती थी। जो हो, जब मृत्यु आती है, बताया जाता है, तरह-तरह की बाते मन में आने लगती हैं, उन्हे ऐतिहासिक तथ्य कहकर नहीं प्रस्तुत किया जा सकता।

---

1 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 277

इतिहासकार डा. गौरीशंकर ओझा से अधिक सावधानी की अपेक्षा थी। यदि उन्होने अपनी बतायी घटना किसी तीसरे सूत्र से ली थी तो उसका उन्हें उल्लेख करना चाहिये था। आधुनिकतम खोज के अनुसार ऐसा कोई समकालीन अथवा विश्वस्त उल्लेख नहीं मिला है।

श्रीराम शर्मा बिना विस्तार में गये कहते हैं कि प्रताप ने अपनी मृत्यु के पहले अपने उत्तराधिकारी और सामन्तो से उस झंडे को झुकने नहीं देने का वचन ले लिया जिसे फहराते रखने में वह लगा रहा था।[1]

डा. रघुवीरसिंह उक्त किंवदन्ती का समर्थन करते है, "प्रताप के जीवनकाल में ही पिछले कई वर्षो से उसका ज्येष्ठ पुत्र, कुंवर अमरसिंह, मेवाड़ राज्य के शासन और सैनिक प्रबन्ध में अधिकाधिक हाथ बँटाने लगा था। दिवेर के युद्ध में अमरसिंह ने बड़ी वीरता दिखायी थी और मुगलों द्वारा अधिकृत क्षेत्रों को मुक्त करने के अभियान में भी उसने महत्वपूर्ण भाग लिया था। तथापि मृत्यून्मुख प्रताप के मन में यह आशंका उठी कि कही उसके देहान्त के बाद उसका उत्तराधिकारी, कुंवर अमरसिंह, अकबर की अधीनता स्वीकार न कर ले। अमरसिंह ने शपथ लेने के बाद भी जब मेवाड़ के प्रमुख सरदारो ने उसे वचन दिया कि मेवाड़ को मुगल साम्राज्य के अधीन नहीं होने देगे, तभी प्रताप आश्वस्त हुआ तथा शांतिपूर्ण चिर-निद्रा में सो गया।"[2] यहां 'तथापि' के पहले और बाद में कही गयी बात में जो स्पष्ट विरोधाभास है उसे स्पष्ट नहीं किया गया है।

डा. गोपीनाथ शर्मा ने स्पष्ट रूप से जेम्स टाड के लिखे विवरण का खंडन किया है, "टाड ने मरणासन्न प्रताप का बहुत ही दयनीय चित्र प्रस्तुत किया है, जिसे लगभग सभी आधुनिक लेखकों ने स्वीकार कर लिया है। परन्तु मुझे किसी मौलिक स्रोत में इस प्रकार के चित्र का कोई उल्लेख नही मिला है। बाद में सभी ख्याती आदि में भी उसका कोई उल्लेख नही है। इसलिए मुझे लगता है कि भावुकतापूर्ण वीरपूजा पर इसे आधारित माना जाना चाहिये, और इसलिए अस्वीकार किया जाना चाहिये।"[3] यह स्थिति जब जेम्स टाड की है, तब डा. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा तथा उनके अनुसरण मे लिखने वाले इतिहासकारो की स्थिति इससे भिन्न नही हो सकती। विश्वास ही नही होता कि प्रताप जैसा योद्धा सारा जीवन वीरता में बिताने के बाद इस तरह की दुर्बलता दिखाएगा, जिस पुत्र ने पिता के जीवित रहते इतना यश अर्जित कर लिया था उसके प्रति इतनी आशंका तथा अविश्वास प्रदर्शित करेगा। कोई कारण भी इसका नही था।

तत्कालीन फारसी इतिहासकारों ने तो हद करदी है। अबुल् फज्ल ने लिखा है, "राणा कीका की मृत्यु हो गयी है। ऐसा लगता है कि उसके दुष्ट पुत्र उमरा (अमरसिंह)

---

1. श्रीराम शर्मा, प्रताप, पृष्ठ 124
2. रघुवीरसिह, प्रताप, पृष्ठ 57
3. गोपीनाथ शर्मा, मेवाड़, पृष्ठ 104

ने उसके खाने में जहर मिला दिया था। एक कड़े धनुष को झुकाने में वह घायल भी हो गया था।"[1] यही बात 'इकबालनामा' में भी दी हुई है। दोनों का स्रोत एक हो सकता है, हो सकता है मुगल दरबार में उस समय इस तरह की बेबुनियाद बात फैली हो। परन्तु किसी गैर-फारसी स्रोत में इसका उल्लेख नहीं मिलता। इस तरह की कार्यवाही अमरसिंह करे, इसका कोई कारण भी तो नहीं था।

परम्परा के रूप में तो नहीं, अपवाद के रूप में बड़े पुत्र के रहते छोटे को राज उन दिनो राजस्थान के राज्यों में दिया जाता था। मेवाड़ के पड़ौस में, और उन्हीं दिनों मे, मारवाड़ में मालदेव ने बड़े पुत्र रामसिंह को देश निकाला दे दिया था, और उसके बाद अधिकार उदयसिंह (मोटा राजा) का होते हुए भी चन्द्रसेन को अपना उत्तराधिकारी बनाया था। सत्रह साल वास्तविक अधिकार उसके पास रहा, और राज उदयसिंह का कहलाता रहा। इस विद्रोही परिस्थिति ने स्वभावतः चन्द्रसेन को प्रताप का मित्र बना दिया। दूसरे पड़ौसी राज्य आमेर में भी पृथ्वीराज का सबसे छोटा पुत्र पूरणमल्ल गद्दी पर बैठा था, जिससे उसके बड़े भाई भीमसिह को उसकी हत्या करके राज्य लेना पड़ा। भीमसिंह को मारकर उसका पुत्र रत्नसिह राजा बना, जिसे उसके पुत्र आशकरण ने मार डाला। इसी आशकरण को गद्दी से हटाकर पृथ्वीराज का छोटा पुत्र भारमल्ल आमेर का राजा बना, और राजपूत राजाओ में वह पहला था जिसने अकबर से मित्रता की, एक तरह से अपना अनधिकृत राज जमाये रखने के लिए उसकी शरण में गया। भारमल्ल की पुत्री से अकबर के विवाह से भारत में अकबर का मार्ग प्रशस्त हुआ। स्वयं प्रताप के होते हुए, उसके छोटे भाई जगमाल को मेवाड़ का राज मिल ही गया था। अतएव प्रताप यदि अमरसिंह के प्रति आश्वस्त नहीं होता तो वह अपना उत्तराधिकारी किसी दूसरे पुत्र को बना सकता था। प्रताप ने स्वेच्छा से अमरसिंह को अपना 'भार' सम्हालने के लिए चुना था। अमरसिंह इसके लिए सर्वथा योग्य था। जिस प्रकार यह सही नहीं है कि प्रताप ने अकबर को संधि के लिए विवशता-वश पत्र लिखा, उसी प्रकार यह भी सही नहीं है कि प्रताप ने मरने के पहले अमरसिंह के प्रति अविश्वास प्रकट किया था। "प्रताप का उत्तराधिकार उसके पुत्र अमरसिंह प्रथम को प्राप्त हुआ, जो सदा उसके साथ रहा था और उसके प्रयत्नों एवं कष्टो में सदा उसका सहयोगी था। अपने पिता द्वारा पर्वतीय युद्ध के हर पहलू की उसे शिक्षा प्राप्त हुई थी, और उसके संकटो से वह अच्छी तरह अवगत था; इस अनुभव के साथ अमरसिंह ने जीवन के सबसे अच्छे अंश में अपना राजकाल आरम्भ किया, और अकबर उसका अपने जीवन के शेष वर्षो मे कुछ नहीं बिगाड़ सका।"[2]

यह कथन मेवाड़ में प्रचलित परम्परा के सर्वथा अनुरूप है। 'हे प्रताप! तुम युग-युग जीवित रहो, तुम भगवान एकलिंग के द्वितीय अंग माने जाते रहो, हिन्दुओं के

---

1 'अकबरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 1069
2 इर्सकिन, पृष्ठ 21

पिता बने रहो।' इन शब्दों में प्रताप की स्तुति, और 'प्रताप का युवराज अमरसिंह साक्षात् अमर (देवता) का अवतार था'–इस प्रकार अमरसिंह का यशगान करके 'राणा रासौ' ने कहा है, "अपने पुत्र अमरसिंह को पुत्र (कर्णसिंह) सहित बलवान समझकर राणा प्रताप ने निश्चय किया कि अब मुझे हरिस्मरण करके वैकुंठवास करना चाहिये। इस प्रकार सोचकर राणा ने गंगाजल से स्नान किया। तदनन्तर पद्मासन लगाकर भगवान के चरण-कमल में अपने मन को लगा दिया। उन्होंने जब भृकुटी की तीन रेखाओं के बीच अष्टायुध (विष्णु) का ध्यान किया तब कांतिमान सजल जलद सदृश श्यामरंग जो श्याम सुन्दर है उसके दर्शन हुए। दर्शन करके राणा मुग्ध हो गये। फिर उन्होंने अंजनी-कंत (पवन) अर्थात् प्राणवायु को खींचा (प्राणायाम चढ़ाया)। वे ममत्व (मोह) को छोड़कर बड़े प्रसन्न हुए। उसी समय उनके हंस (प्राण) हरिस्मरण करते हुए वहां पहुचे जहां परमहंस (योगी) पहुंचते है।"[1]

जो यह आदर्श-मृत्यु की बात स्वीकार नहीं करना चाहें उनके लिए इतिहासकारों ने महाराणा प्रताप की मृत्यु का कारण खोजने का प्रयत्न किया है।

शेखावत भूरसिंह लिखित 'महाराणा यशप्रकाश' अबुल् फज्ल के इस कथन का समर्थन करता है कि प्रताप की मृत्यु का कारण उसके पेट में लगी वह चोट थी जो धनुष तानते समय लगी थी। इसके कारण प्रताप कुछ दिन पीड़ा में रहा, और अंततः मर गया :

"ईश्वर की माया अपार है कि जो वीर मुसलमानो के साथ की अनेक लड़ाइयों में कभी घायल न हुआ और जो अपनी तलवार से अनेकों वीरों को मृत्यु शय्या पर सुलाता रहा, वही वीर कमान खींचने से बीमार होकर इस संसार से सदा के लिए विदा हो गया।"

'वीर विनोद' प्रताप की मृत्यु का कोई कारण नहीं देता और डा० गौरी शंकर हीराचन्द ओझा कहते है, "महाराणा का देहान्त किस बीमारी से हुआ यह अनिश्चित है, तो भी ऐसी प्रसिद्धि है कि एक दिन शेर का शिकार करते समय उसने कमान बड़े जोर से खेंची, जिससे अंग मोड़ते समय आंत में कुछ खराबी हो गयी और उसी बीमारी से उसका देहांत हो गया।"[2]

मृत्यु 19 जनवरी 1597 को हुई। उस समय वह चावंड में था। उसकी आयु 57 वर्ष थी।

'उसके पुत्र अमरसिंह ने अन्त्येष्टि क्रिया श्रुति, स्मृति, पुराण, आदि शास्त्रोक्त विधि से, जो आचार्य-सम्मत है, सम्पन्न की। इस कार्य ने राणा (अमरसिंह) के यश को अलंकृत कर दिया। उसकी कीर्ति त्रिभुवन में फैल गयी। पितृभक्त अमर

---

1 'राणा रासो', पद 455-158
2 ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 778

के इस कृत्य को देखकर गुणवानों ने धन्य-धन्य कहा'।[1] (मेवाड़ में परम्परा यह थी कि एक राजा के मरने पर उसका युवराज दाहसंस्कार के समय श्मशान में उपस्थित नहीं रहता था। इस प्राचीन परम्परा को तोड़कर, अपने हाथों दाह-क्रिया करके अमरसिंह ने एक ओर अपनी पितृभक्ति का परिचय दिया और दूसरी ओर असाधारण यश-अर्जन किया।)

चांवड से लगभग डेढ़ मील दूर बंडोली गांव के निकट बहने वाले एक नाले के तट पर प्रताप का अग्नि संस्कार किया गया। यह स्थान मेवाड़ के राज-परिवार का श्मशान था। यहां इस संस्कार के स्मारक के रूप में, राजपूत परम्परा के अनुसार, एक छतरी बनवायी गयी। यह सफेद पत्थर की बनी थी। इसमें आठ खंभे थे। समय बीतने पर यह टूटने लगी। कुछ वर्ष हुए इस नाले पर बांध बांधा गया। इससे यहां एक तालाब बन गया, जिसे 'केजड़ का तालाब' कहते हैं। छतरी इसके बीच में पड़ गयी। अतएव इसका जीर्णोद्धार करके इसे एक ऊंचे चबूतरे पर बनवा दिया गया है।

प्रताप की मूल छतरी पर 1601 का एक शिलालेख था जिसका संबंध प्रताप की बहन की मृत्यु से है। इसलिए यह शंका हो गयी है कि यह छतरी प्रताप की थी या उसकी बहन की? परन्तु यह भी हो सकता है कि शिलालेख कहीं और से लाकर इस प्रमुख छतरी पर लगा दिया गया हो। जो कुछ भी हो, प्रताप की मृत्यु और दाहसंस्कार के स्थल के संबंध में कोई विवाद नहीं है, और परम्परा से जिस छतरी से उसका नाम जुड़ा है उससे उसे अलग करने से ऐतिहासिकता की कोई बड़ी सेवा नहीं हो सकती।

'महाराणा यशप्रकाश' के अनुसार जब प्रताप की मृत्यु का समाचार (लाहौर में) अकबर के पास पहुंचा वह स्तब्ध और उदास हो गया। उसका यह हाल देखकर शाही दरबारी ताज्जुब में पड़ गये। परन्तु वहां उपस्थित प्रसिद्ध चारण कवि दुरसा आढ़ा ने सम्राट की भावना को ठीक तरह समझा, और उसी समय कहा :

> अस लेगो अणदाग, पाघ लेगो अणनामी।
> गो आड़ा गवड़ाय, जिको बहतो धुर वामी॥
> नवरोजे नह गयो, न गो आंतसां नवल्ली।
> न गो झरोखां हेठ, जेठ दुनियाण दहल्ली।
> गहलोत राण जीती गयो, दसण मूंद रसणा डसी।
> नीसास मूक भरिया नयन, तो मृत शाह प्रताप सी॥

तूने अपने घोड़े को (शाही) दाग नहीं लगने दिया; अपनी पगड़ी तूने कभी भी किसी दूसरे के सामने नहीं झुकायी; तू अपने यश के गीत गवा गया; अपने राज्य के धुरे को तू अपने बायें कन्धे से ही चलाता रहा; तू न तो नोरोज में गया और न शाही डेरों

1 'राणा रासो', पद 459

में; तू शाही झरोखे के नीचे नहीं गया, तेरी श्रेष्ठता के कारण दुनिया ही दहलती रही। हे प्रतापसिंह ! तेरी मृत्यु पर शाह (अकवर) ने दाँतों के बीच जीव दवाई, निश्वासें छोड़ीं और उसकी आंखों में आंसू भर आए। गहलोत राणा (प्रताप) तेरी ही विजय हुई।

यह सुनकर दरवारी सहम गये, उन्हें डर लगा कि जिस प्रताप को समाप्त करने के लिए शाहंशाह ने इतनी लड़ाइयां लड़ी थीं उसकी सराहना सुनकर वह आग ववूला हो जाएगा। अवकर ने उन्हें निराश किया, कवि की सराहना की, उसे इनाम दिया, और कहा कि दुरसा आढ़ा ने उसकी मनोदशा का सही चित्रण किया है।

'अकवरनामा' इस प्रकार की परिस्थिति का कोई उल्लेख नहीं करता। जब प्रताप की मृत्यु का उसमें उल्लेख है, तो सम्राट की प्रतिक्रिया भी सम्मिलित की जा सकती थी। परन्तु इस प्रकार की परम्परा प्रचलित और आधुनिकतम इतिहासकारों द्वारा समर्थित है।[1]

'राजप्रशस्ति' और 'अमरकाव्य' के अनुसार प्रताप को उसके जीवनकाल में, अकवर के आगे आत्मसमर्पण नहीं करने के कारण, 'अनम्र' की पदवी दी गयी थी। प्रताप को प्राप्त इस पदवी का उल्लेख अकवर के दरवार तक में होता था। 'सारे संसार के समस्त हिन्दू और तुर्क' प्रताप का इस सम्मान से उल्लेख करते थे। यह पदवी किसने दी यह पूछने की वात नहीं है, चारो ओर स्वयं प्रसिद्ध था, ('अमरसार' के अनुसार), 'महाराणा प्रताप वुद्धि में श्रेष्ठ, पराक्रमी और सधीर था। वह अपने वंश-सिंधु का चन्द्रमा था। उसकी कीर्ति उज्ज्वल थी। वह एक उज्वल दीप था।' चंद्र और दीप का प्रकाश कौन फैलाता है, वे स्वयं अपने प्रति लोगों का आदर आकृष्ट करते हैं। प्रताप ने अपने यशस्वी जीवनकाल मे जो किया उसके लिए 'अनम्र' पदवी नम्र शृद्धांजली थी।

प्राचीन राजपूत परम्परा का प्रतिविंव होने के कारण 'राणा रासौ' ने प्रताप के संवंध में जो लिखा है अवलोकनीय है, 'महाराणा उदयसिंह से राणा प्रताप अवतरित हुआ जिसके यश को सुर-नर-नाग सभी इस प्रकार गाते थे जैसे भक्त ईश्वर के नाम का स्मरण करते है। राणा प्रताप सोनगिरी रानी से उत्पन्न हुआ और संसार में अद्वितीय वीर माना गया। वह दानी एवं युद्ध में शत्रुओं को दलने वाला तथा ज्ञान-विज्ञान के पथ पर चलने वाला था। वह राणा प्रताप सत्यवक्ता, स्वेच्छाचारी तथा द्विजों के दारिद्रय को नष्ट करने वाला था। वह मानों युधिष्ठर के समान संसार का रंजन (खुशहाली) करने के लिए ही संसार में अवतरित हुआ था। प्रतापसिंह अपना प्रताप स्वयं फैलाने वाला था। उसमें अक्षुण्ण रजोगुण (क्षात्रियोचित गुण) विद्यमान था। ...इस संसार में जैसा राणा प्रताप हुआ है वैसा न तो कभी कोई दूसरा हुआ और न

1 रघुवीरसिंह, प्रताप, पृष्ठ 58

कभी होगा। राणा प्रताप युधिष्ठर के समान सत्यवक्ता, दधीचि के समान उदार बुद्धि, दशरथ के समान पुरुषार्थी, भीम के समान युद्ध करने वाला, रावण के समान स्वाभिमानी एवं राम के समान प्रणपालक था। वह भारतवर्ष में विक्रम, भोज, कर्ण और सूर्य स्वरूप माना जाता है। उदयसिंह के उस खुमान पद पुत्र को राजागण अपना शिरोमणि मानते थे। प्रताप नरेश हिन्दुओं का अडिग ताज था, वह वास्तव में मृगराज कहे जाने योग्य था।..हे प्रताप! तुम युग युग जीवित रहो। तुम्हारे स्मरण मात्र से पाप दूर हों। तुम भगवान एकलिंग के द्वितीय अंग माने जाते रहो, हिन्दुओं के पिता बने रहो।"[1]

जेम्स टाड ने प्रताप की जीवन गाथा का उपसंहार करते हुए एक बार फिर अर्द्ध शताब्दी से अधिक अकबर के शासन काल के गौरव का गान किया है, बताया है कि अपने साम्राज्य को संगठित और सम्पन्न कर लेने के उपरान्त वह किस प्रकार यूरोप के महान शासकों जैसा शक्ति सम्पन्न हो गया था, जिनमे विशेष उल्लेख उसने अपने द्वीप की 'यशस्वी महाराणी' एलीजाबेथ का किया है, परन्तु कहा कि जबकि प्रताप अकबर से लगातार लड़ता ही रहा—'हमारी महारानी' ने उससे मित्रता करने का प्रयत्न किया, उसके पास अपना एक दूत भेजा। सर थामस रो, मुगल साम्राज्य को भेजा गया प्रथम ब्रिटिश राजदूत, यद्यपि सम्राट जेम्स के समय में रवाना हुआ था, और सम्राट जहांगीर के समय में भारत पहुंचा था, उसे भेजने का निर्णय और तैयारी, एलीजाबेथ के समय में ही हो गयी थी। "मेवाड़ का यह दुर्भाग्य रहा कि अकबर की यह समस्त बुद्धि और शक्ति सम्मिलित होकर प्रलव को परास्त करने ही में लग गयी। फिर भी मुगल (सम्राट) की स्मृति के लिए यह सम्मान की ही बात है कि उसका नाम प्रताप के साथ ऐसी अनेक परम्परागत पद्य-पंक्तियो में अंकित है जो दोनों का सम्मान बढाने वाली हैं; और यद्यपि राजपूत गायक स्वभावत: पृष्ठ के प्रथम भाग में अपने ही वीर का यशगान करता है, फिर भी वह स्वीकार करता है कि अकबर के अतिरिक्त किसी और की प्रताप से तुलना नही की जा सकती।"[2]

---

1. 'राणा रासो', पद 229-231, 235, 251, 252, 434, 455
2. जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 279

7

# अकबर का फिर प्रयत्न

प्रताप की मृत्यु हो गयी, परन्तु मेवाड़ के विरुद्ध अकबर की महत्वाकांक्षा समाप्त नही हुई। अमरसिंह को यह उत्तराधिकार में प्राप्त हुई।

अकबर ने जिस प्रकार प्रताप को उसके राज्यारोहण के बाद चार वर्षो का समय सीधा आक्रमण करने के पहले दिया था, उसी प्रकार अमरसिंह को भी तीन वर्षो का समय दिया।

ग्यारह वर्ष जो प्रताप को जगन्नाथ कछवाहा के आक्रमण के बाद मिले, और तीन वर्ष जो अमरसिंह को मुगल सेना का सामना करने के पहले मिले, ये चौदह वर्ष प्रताप, और उसके बाद अमरसिह ने, अपने अधिकृत प्रदेश के पुर्नानर्माण में लगाये।

यह काम जहां प्रताप ने छोड़ा था वहीं से अमरसिंह ने आरम्भ किया। युद्ध के विकट दिनो में, और शांति के निर्माणकारी युग में, वह पूरी तरह अपने पिता के साथ था, 'निरन्तर साथ रहने वाला सहयोगी और कष्टमय प्रयत्नो तथा आशातीत संकटो मे बराबरी का भागीदार। पर्वतीय युद्ध के हर पहलू से अपने महान पिता द्वारा द्वारा परिचित, उसके संकटो से अवगत, अमरसिंह का जब राज्यकाल आरम्भ हुआ वह जीवन के उठान पर था, उस समय उसके ऐसे पुत्र भी थे जो अपनी मातृभूमि के उस भाग की रक्षा करने की क्षमता रखते थे जिसे उसकी तलवार फिर से प्राप्त करले।' (राज्यारोहण के समय अमरसिंह की आयु 38 वर्ष थी।) फिर भी अमरसिंह राजगद्दी पर बैठते ही युद्ध क्षेत्र मे कूद नहीं पड़ा। 'उसके लिए अपनी बुद्धि का उपयोग इतने व्यापक क्षेत्र मे करना अनिवार्य था कि वह अपने को ऐसे काम पर

लगाने से रोके रहा जिसमें सफलता भी उसके लिए किये गये बलिदानों का मूल्य नहीं चुका सकती थी।'

## अमरसिंह के आरम्भिक वर्ष

अपने शासन के आरम्भिक वर्षों में अमरसिंह ने वही किया जो प्रताप ने किया था, बिना स्वयं आक्रामक हुए मेवाड़ का जो भूभाग उसके अधीन था उसकी सुरक्षा का प्रबन्ध, अपने शासन का पुनर्गठन और जितनी हो सके प्रजा की हित साधना। अतएव 'वीर विनोद' का यह कहना ठीक नहीं है कि 'गद्दी पर बैठने के वक्त से ही महाराणा अमरसिंह ने तलवार से लड़ाई के सिवाय और दूसरे सब काम मुल्तवी रखे'। वास्तव में शांतिकालीन प्रयत्नों में जो कुछ अमरसिंह ने किया वह, प्रताप के प्रयत्नों की तरह, हाल तक छिपा ही रहा है। डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जैसे इतिहासकार ने इनके सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है, यद्यपि जेम्स टाड ने इनका संक्षेप में उल्लेख किया है।

मेवाड़ पर मुगल आक्रमण हुए एक युग-सा बीत गया था, परन्तु अमरसिंह ने अकबर से सावचेत रहने का निश्चय किया, और अपनी सेना को सुदृढ़ और संगठित करने की ओर सबसे पहले ध्यान दिया। 'अमरसार' में उसके इस प्रयत्न का अच्छा चित्रण है। पैदल और घुड़सवार सेना संगठित की गयी, साथ-साथ रथ और हाथियों की पंक्तियां भी सुदृढ़ की गयीं। असैनिक दल, जिनमें प्रमुख भील थे, सदा सैनिक सेवा के लिए प्रस्तुत रहने के वास्ते तैयार किये गये। सैनिकों के जिन वर्गों में कमी मालूम दी उसे पूरी करने के लिए मेवाड़ के बाहर से सैनिक बुलाये गये, जिनमें गोड़वाड़ और मुलतान से आये तोपचियों का उल्लेख विशेष रूप से मिलता है। बाहर से हथियार भी बड़ी संख्या में प्राप्त किये गये, और स्थानीय रूप से जो बन सकते थे उन पर नयी तौर से लोगों को लगाया गया। अपने अधीन मेवाड़ की भूमि के किलों और थानों को अमरसिंह ने सुदृढ़ कराया, और जहाजपुर क्षेत्र में, जो पूर्व में शाही प्रदेश के सबसे निकट पड़ता था, अपने नाम पर अमरगढ़ बनवाया। जो तैयारी की जा रही थी उससे लगने लगा कि नया महाराणा सुरक्षा ही नहीं, आक्रमण करने की भी तैयारी कर रहा है।

सेना से भी अधिक महत्व सेनानियों का हुआ करता है। अमरसिंह ने 'सिहोयं शौर्य गुणेन सम्यक्' हरिदास झाला को प्रधान सेनापति नियुक्त किया। वह उसी कुल का था जिसके वीर ने हल्दीघाटी के युद्ध में मेवाड़ महाराणा का छत्र लेकर बदले में अपनी जान दी थी, इस उद्देश्य से कि मेवाड़ की 'जीवन ज्योति' बुझने नहीं पाये।

सामन्त ही प्रमुख सेनापति हुआ करते थे, और निरन्तर चले युद्ध के कारण मेवाड़ के सामन्तों का संगठन ढ़ीला पड़ चुका था। इस ओर अमरसिंह ने विशेष ध्यान दिया। सामन्तों की दो श्रेणियाँ निर्धारित की गयीं 'उमराव' और 'सरदार'। हर

श्रेणी में कितने सामन्त होंगे, और उनमें आपसी वरिष्ठता क्या होगी, यह भी उसने निश्चय किया। यह प्रबन्ध अमरसिंह के बाद भी जैसा का तैसा चलता रहा। यह परम्परा तोड़ दी गयी कि एक सामन्त की जागीर सदा उसी की रहेगी। राज्यसेवा और उपयोगिता के अनुसार सामन्तों की श्रेणियां और जागीरें आपस में बदली जाने लगीं, और प्रत्येक सामन्त का दायित्व निर्धारित किया गया। मेवाड़ के प्रसिद्ध बेगूं, रतनगढ, बेदला, देलवाड़ा, बदनौर आदि ऐसे ठिकाने थे जिनको अमरसिंह ने एक से लेकर दूसरे सामन्त को कई बार दिया। सामन्त इससे अपने स्वामी के प्रति अधिक आश्रित हुए, सेवा की भावना को बल मिला, और भय होने लगा कि दायित्व-हीनता का परिणाम जागीर की क्षति में हो सकता है।

दरबारी परम्परा और वेशभूषा में भी अमरसिंह ने अनेक सुधार किये। उसने एक विशेष प्रकार की पगड़ी प्रचलित की; 'अमरशाही पगड़ी' बाद में, पीढ़ियों तक, मेवाड़ के महाराणा और अनेक सामन्त पहनते रहे। परन्तु एक प्रकार की उदारता भी इस सारे प्रबन्ध में थी। जो लोग बाहर से आकर मेवाड़ में सामन्त हुए थे उन्हें अपनी तरह की वेशभूषा और पगड़ी पहनने की उसने छूट दी, और यह छूट भी उसके बाद के वर्षों में देखी जा सकती थी।

असैनिक प्रशासन में भी नये प्रबन्ध लागू किये गये, परन्तु अमरसिंह ने अपने पिता द्वारा सम्मानित व्यक्तियों का निरादार नहीं किया। भामा शाह प्रधान मन्त्री आजीवन बना रहा। उसकी मृत्यु होने पर उसी का पुत्र जीवा शाह प्रधान मन्त्री बना, और उसके बाद (अमरसिंह के पुत्र कर्णसिंह के समय में) उसका पुत्र अक्षयराज। इस प्रकार एक महाजन घराने की तीन पीढ़ियो ने मेवाड़ के राजकुल की तीन पीढ़ियों की मूल्यवान सेवा की।[1]

मुगल आक्रमण और उसे और भी कंटकाकीर्ण बनाने के लिए 'अपनी भूमि अपने हाथो उजाड़ने की नीति' के कारण उजड़े गांवों और कस्बो को फिर से बसाने के काम में फिर से तेजी लायी गयी। नये गाव और कस्बे बसाने के काम में अमरसिंह अपने पिता के समय से रुचि लेने लगा था, कुम्भलगढ़ क्षेत्र में उसने कई गांव और सायरा कस्बा

1 "उसके वंश मे इस समय कोई प्रसिद्ध वशधर नही रहा, फिर भी उसके मुख्य वशधर की यह प्रतिष्ठा चली आती रही कि जब महाजनो मे समस्त जाति समुदाय का भोजन आदि होता, तब सबसे प्रथम उसके तिलक किया जाता था, परन्तु पीछे से महाजनो ने उसके वशवालो के तिलक करना बद कर दिया, तब महाराणा स्वरूपसिह ने उसके पूर्वजो की अच्छी सेवा का स्मरण कर इस विषय की जाच करायी और यह आज्ञा दी कि महाजनो की जाति मे बावनी (सारी जाति का भोजन) तथा चौके का भोजन व सिह पूजा मे पहले के अनुसार तिलक भामा शाह के मुख्य वशधर के ही किया जाये। इस विषय का एक परवाना वि स 1912 ज्येष्ठ सुदि 15 को जयचद कुनणा वीरचद कावडिया के नाम कर दिया। तब से भामा शाह के मुख्य वशधर के पोछा तिलक होने लगा। फिर महाजनो ने महाराणा की उक्त आज्ञा का पालन नही किया, जिससे वर्तमान महाराणा साहब के समय वि. स. 1952 कार्तिक सुदि 12 को मुकदमा होकर उसके तिलक किये जाने की फिर आज्ञा दी गयी।"—ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 787

बसाया था। राज्यारोहण के बाद उसने कुम्भलगढ़, चित्तौड़ और लाखौड़ा क्षेत्रों में क्रमशः केलवा, मुरेली और रामपुरा में जो जमीनें दी थीं उनके ताम्रपत्र और पट्टे प्राप्त हुए हैं। इससे मालूम देता है कि इस प्रकार मेवाड़ को फिर से व्यवस्थित करने का प्रयत्न पूरे जोर से किया गया था। जिन लोगों को आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी उनके लिए राज्य की ओर से इसकी भी व्यवस्था की गयी।

कृषि भूमि का प्रबन्ध फिर से कराकर नयी दरों पर लगान निर्धारित किया गया। प्रताप के समय में ही कृषि और व्यापार ने गति पकड़ ली थी, अब शासन प्रबन्ध और भी सुदृढ़ होने पर इस ओर और प्रगति स्वाभाविक थी।

कला और साहित्य का भी अच्छा विकास अमरसिंह के समय में हुआ, संस्कृत का अध्ययन एवं लेखन प्रोत्साहन प्राप्त करने लगा। ऐसे काव्य-ग्रंथ लिखे जाने लगे जो इतिहास के दर्पण बन गये। पंडित जीवधर का 'अमरसार' इसका अच्छा उदाहरण है। 'अमरभूषण' ज्योतिष की प्रौढ़ रचना है। मेवाड़ के मुगलों से हार जाने के बाद भी, अगले महाराणाओं के समय में यह परम्परा और भी पुष्ट हुई, और मेवाड़ भारतीय संस्कृति का सुदृढ़ दुर्ग बन गया। मुगल-अधीनता की यह ध्यान देने योग्य प्रतिक्रिया थी, एक ओर मेवाड़ का सैनिक पराभव हुआ, दूसरी ओर विदेशी धर्म एवं संस्कृति के प्रति प्रतिरोध साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में अधिक तीव्र हुआ। इसने यथा समय राजनीतिक रूप भी लिया, जिसने महाराणा राजसिंह के समय में सैनिक स्वरूप ले लिया।

नागरिक जीवन सामान्य रूप से चलने लगा। परन्तु मेवाड़ के 'सबसे बड़े शत्रु' अकबर को यह स्वीकार नहीं था।

## सलीम मेवाड़ के विरुद्ध नियुक्त

जिन चौदह वर्षों में अकबर ने मेवाड़ के विरुद्ध सेना भेजने से अपने को रोके रखा, उन वर्षों में वह और क्षेत्रों में इतना व्यस्त और त्रस्त था कि मेवाड़ का मामला उसे उठाकर रखना पड़ा। वह स्वयं अपने अनुभव से जान चुका था कि यह अभियान पूरी शक्ति और पर्याप्त समय चाहता है, और फिर भी परिणाम अनिश्चित रहता है। इस तरह से समय और शक्ति लगाने की सुविधा इन वर्षों में अकबर को नहीं मिली, और इस कारण मेवाड़ को शान्ति का सा अनुभव होने लगा।

उत्तर की घटनाओं ने अकबर को उसी स्थान पर पहुंचा दिया जहां उसका राज्याभिषेक हुआ था, वह अक्टूबर 1585 मे पंजाब में कलानूर पहुंचा। काबुल की स्थिति बराबर बिगड़ती जा रही थी, अपने उत्तरी तथा उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में उसने शासन और सैनिक व्यवस्था पुनर्गठित की, और स्वयं उस ओर चल निकला। कश्मीर के शासक यूसुफखान को पूरी तरह अधीन करने और काबुल जाने वाले राजपथ पर पड़ने वाले स्वात, बाजौर और बलूचिस्तान की विजय के लिए भी सेना भेजनी पड़ी। विजय तो मिली, लेकिन इसमें बीरबल जैसे 'आत्मिक साथी' को होमना पड़ा।

इन्हीं वर्षों में एक-एक करके अकबर के निकट सहयोगी, तानसेन, टोडरमल, भगवन्तदास, राजकवि फैजी, नवरत्नों में से एक हकीम आदि का बिछोह उसे सहना पड़ा।

उधर, 'विस्तृत मुगल साम्राज्य में शायद ही कभी किसी न किसी किस्म के उपद्रव या विद्रोह से पूर्ण मुक्ति रही हो।' इन वर्षों में भी, मुख्यतः 1590 में अकबर की मृत्यु की गलत खबर फैलने पर, अलवर और बघेलखंड में विद्रोह हो गये, और भी कई छोटे-छोटे राजा सिर उठाने लगे। इनको शान्त किया गया। अकबर को तीन बार कश्मीर स्वयं जाना पड़ा। 'छोटे' और 'बड़े' तिब्बत को 'मुगल प्रभुता स्वीकार कर लेने के लिए फुसला लिया गया', और क्रमशः सिन्ध, कन्धार, बिहार, उड़ीसा, कूच-बिहार, पूर्वी बंगाल, जूनागढ़, सौराष्ट्र, द्वारका—इस तरह प्रायः सारे उत्तर भारत पर पूर्ण प्रभुता स्थापित की गयी। इनमें से सभी जगह सेनाएँ भेजनी पड़ीं, अनेक युद्ध हुए। साम्राज्य की शक्ति चारों ओर बिखर गयी। अकबर ने साथ-साथ प्रान्तीय शासन के पुनर्गठन, साम्राज्य के चार मंडलों में विभाजन, नवीन राजनैतिक व्यवस्था और सामाजिक सुधार में भी बहुत समय लगाया। इनके बाद उसने दक्षिण की ओर ध्यान दिया, और अहमदनगर और खानदेश के विरुद्ध चढ़ाइयों कीं, स्वयं देखरेख रखने के लिए सितम्बर 1599 में वह आगरा से दक्षिण की ओर रवाना हुआ।

उत्तर से निपटने और दक्षिण की ओर कूंच करने के पहले अकबर ने एक बार फिर मेवाड़ का काम निपटाने का निश्चय किया। साथ-साथ यह भी आवश्यक हो गया कि बड़े पुत्र सलीम को 'किसी ऐसे उचित कार्य पर, जिसमें वह उपयोगी रूप से व्यस्त रह सके' लगाया जाये। अकबर का सलीम के प्रति अत्यन्त अनुराग था, और उसने उसे सर्वाधिक सम्मान भी प्रदान किया था। फिर भी तरुणावस्था पार करते ही उसने अपने पिता के प्रति अवज्ञा प्रदर्शित करने वाले कार्य प्रारम्भ कर दिये और 'अपनी दुष्प्रवृत्तियों के कारण' 'दुस्साहस' दिखाने लगा। जुलाई 1589 में यहां तक प्रसिद्ध हो गया कि उसने अकबर को जहर दिलवाया है।[1] अकबर दो दिन तक उदरशूल से बड़ा बेचैन रहा, वह कहा करता था कि वह बहुत बार बीमार पड़ा, परन्तु 'उसने उस पहले दिन जैसी पीड़ा कभी अनुभव नहीं की'। उसने उन दिनों में बार बार कहा, 'बाबा शेखूजी, तूने यह वार मुझ पर क्यों किया!' अकबर थोड़े दिन बाद ठीक हो गया, परन्तु पिता-पुत्र के बीच मनमुटाव समाप्त नहीं हुआ, और सलीम ने बार-बार शाही आदेशों की अवज्ञा की।

सलीम को एक बार उत्तर में तूरान और फिर दक्षिण भारत में मुगल सेना का सेनापतित्व संभालने की आज्ञा दी गयी, और दोनों बार उसने कार्यभार नहीं सम्हाला। 1589 और 1598 के बीच के समय में 'अकबर सलीम से बहुत विमुख हो गया था,

---

1. श्रीवास्तव, पृष्ठ 448

और सलीम के मस्तिष्क में विद्रोह का बीज जम चुका था'। 'निश्चयात्मक रूप से इस विरक्ति का मुख्य कारण यह था कि सलीम शीघ्र से शीघ्र अपने पिता के स्थान पर सम्राट बनने के लिए अधीर हो उठा था।' ऐसी स्थिति में दक्षिण जाने के पहले अकबर ने सोचा होगा कि स्वयं अपने अपनी राजधानी से हटने पर सलीम को भी वहां नहीं रहने देना चाहिये। उधर, मेवाड़ में अमरसिंह की स्थिति सुदृढ़ होती जाने के समाचार भी आ रहे थे।

'राणा रासौ' जैसी मेवाड़ की कुछ प्राचीन पुस्तकों में यह भी वर्णन मिलता है कि अमरसिंह की सेनाएं मेवाड़ और मेवाड़ के बाहर के शाही इलाकों पर हमले करके लूट-पाट करने लगी थीं। जिन क्षेत्रों को इस प्रकार क्षति उठानी पड़ी उनमें उल्लेख मिलता है गुजरात, मालपुरा (आमेर), और सिरोज (मालवा) का। इन इलाकों के 'लूटे जाने की पुकार दिल्लीश्वर के पास पहुंची', 'जिन पर बीती थी उनकी पुकार सुनते ही बादशाह की भ्रकुटी तन गयी'। ऐसी परिस्थिति में अपने वरिष्ट पुत्र को अपने प्रमुख शत्रु प्रताप के वरिष्ट पुत्र से लड़ाने का अकबर ने निश्चय किया।

15 सितम्बर 1599 को सलीम को अजमेर का सूबेदार नियुक्त किया गया, और उसे राणा अमरसिंह के विरुद्ध चढ़ाई करने का आदेश भी दिया गया। सलीम के लिए यह पहली प्रतिष्ठित शाही पद पर नियुक्ति थी, और मुगल सेना का पहला महत्वपूर्ण सेनापतित्व था। उसकी आयु इस समय 30 वर्ष थी। 16 सितम्बर को अकबर स्वयं दक्षिण के लिए रवाना हुआ, और उसने उसी दिन सलीम को अजमेर जाने की 'अनुमति' दी। इस अवसर पर अकबर ने उसे 'अनेक आदेश और परामर्श दिये'।

आंबेर का राजा मानसिंह उन दिनों बंगाल का सूबेदार था। वहां की घटनाओं से वह उद्विग्न था, वहां की जलवायु उसे अनुकूल नहीं हो रही थी, उसका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रह रहा था, और उन्हीं दिनों उसके दो-दो पुत्रों की असमय मृत्यु हो गयी थी। अतएव कुछ दिन वह बंगाल से हटकर आराम करना चाहता था। अजमेर में शांति से कुछ समय बिताने का उसने निश्चय किया।

मानसिंह के अजमेर आने के कई और कारण बताये जाते हैं। वह अपने राज्य आंबेर के तथा राजस्थान के अन्य राज्यों के भी निकट रहना चाहता था, और आगरा के भी जहां इन दिनो राजनीतिक गतिविधि बढ़ गयी थी। अजमेर में सलीम के पहुंच जाने से शाहंशाह के उत्तराधिकार को लेकर होने वाले षडयन्त्रों का वह गढ़ हो गया था। मानसिंह ऐसे अवसर पर अपनी उपस्थिति से आगामी निर्णयो को प्रभावित करना चाहता था। उसकी इच्छा अपनी बहन के लड़के खुसरु को अकबर के बाद बादशाह बनवाने की थी, उसके पिता सलीम पर वह निगाह रखना चाहता था। हो सकता है सलीम की विद्रोही वृत्तियो के कारण सम्राट ने ही यह दायित्व मानसिंह को सौंपा हो। जो हो, 1599 में वह अजमेर आ गया। सलीम वहां पहले से पहुंच चुका था।

मेवाड़ पर आक्रमण कितना कठिन हो सकता है, इसे अकबर अच्छी तरह जानता था। वह यह भी मानता था कि महाराणा के विरुद्ध भेजी जाने वाली सेना की बागडोर अकेले, अनुभवहीन, विद्रोहवृत्ति से परिपूर्ण, सलीम के हाथ मे सौंपना समझदारी नही होगी। अतएव साम्राज्य के प्रतिष्ठित और मेवाड़ से परिचित सेनानी सलीम के साथ नियत किये गये, जिनमें प्रमुख था मानसिंह जो उन दिनों अजमेर में उपस्थित था। उसके मेवाड़ जाने की बात जब आयी, उसने सोचा 'बंगाल का काम मुश्किल नही है', और अपनी जगह अपने सबसे बड़े पुत्र जगतसिंह को नायब सूबेदार बनाकर भेजने की अनुमति प्राप्त करली। 'कुंवर' मानसिंह प्रताप के सामने मुंह की खा चुका था, 'राजा' मानसिंह को अब उसके पुत्र के सामने भाग्य आजमाने का अवसर मिला।

'आसमान में तारों जितनी अनगिनत' शाही सेना के साथ शाहकुली महराम तथा अन्य अनेक अधिकारी भी थे। परन्तु दुर्भाग्य भी इस सेना के साथ था। सेनापति सलीम ने अपने उत्तरदायित्व के प्रति उत्साह नहीं दिखाया। उसका मन मेवाड़ पर नही, भारत का राज किसी न किसी तरह प्राप्त करने पर लगा हुआ था। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि उसका पिता और कितने दिन जीवित रहेगा, उसे राज करते 43 वर्ष हो चुके थे, अभी उसे शाही सत्ता से और कितने साल दूर रहना होगा, उसका मन उस समय इस बेचैनी से भरा था। उधर यह आशंका भी उसे होने लगी थी कि शाहजादा दानियाल पर अकबर अधिक अनुकम्पा दिखा रहा था, शायद उसे उत्तराधिकारी बनाने की सोच रहा था। विद्रोह के विचार उसे उद्वेलित किये हुए थे। मन बहलाने के और समय निकालने के लिए मार्ग में वह इधर-उधर घूमता रहा। ग्वालियर में अकबर के पास जब यह समाचार पहुंचे, उसने सलीम को समझाने के लिए मीर अबुल हई को 'अनेक सतपरामर्श' लेकर अजमेर भेजा। उधर राजा मानसिंह के पुत्र जगतसिंह की, उसके बंगाल रवाना होने के पहले ही, अचानक मृत्यु हो गयी। जगतसिह के स्थान पर उसके अल्पायु पुत्र महासिंह को (मानसिंह के भाई प्रतापसिंह को उसका अभिभावक बनाकर) भेजा गया, और बादशाह ने मानसिंह के पास अपने संवेदना संदेश के साथ घोड़ा और खिलअत भी भेजी। मानसिंह सलीम के साथ रहा, परन्तु पुत्र की मृत्यु के कारण खिन्न, और अपने सूबे बंगाल की घटनाओं से चिन्तित।

यह शिकायत करते हुए कि सलीम ने 'विषय-भोग, मद्यपान और कुसंगति मे अजमेर में बहुत समय निकाल दिया' अबुल फज्ल ने उसे 'साम्राज्य का नादान बेटा' कहकर सम्बोधित किया है, जो एक प्रकार से उसके पिता अकबर के सलीम के प्रति दृष्टिकोण का द्योतक है : सलीम गलती पर गलती किये जा रहा था, परन्तु सम्राट उसके विरुद्ध कुछ कर नहीं पा रहा था। अवश्य अकबर ने फिर से उसे 'परामर्श' भेजा होगा, इसीलिए 'बाद में वह फुर्ती के साथ उदयपुर पहुंचा'। "राणा दूसरी तरफ से आ धमका, और उसने अपने उपद्रव बढ़ा दिये। उसने (आंबेर राज्य का

महाराणा उदयसिंह

महाराणा अमरसिंह

कस्बा) मालपुरा तथा अन्य उपज भरे स्थान लूट लिये। सलीम ने माधोसिंह और एक सैन्यदल उस तरफ भेजा, और राणा पहाड़ियों में लौट गया। लौटते-लौटते उसने रात में कुछ (मुगल) सैनिकों पर हमला किया। रिजा कुली, लालवेग, मुबारिज बेग, आलिफखान जमे रहे, और वह विना सफलता के लौट गया। अपना काम समुचित रूप से पूरा करने के पहले ही, वुरे लोगों के भड़काने पर, उसने मनचाहा व्यवहार करने की वृत्ति का परिचय दिया।"[1]

## अमरसिंह के आक्रमण

मुगल और मेवाड़ के सैनिकों के बीच जगह-जगह जमकर लड़ाइयां हुईं। ऊटाला, मोही, कोशीथल, वागोर, मांडल, मदारिया, पुर आदि स्थानों पर शाही थाने जमा लिये गये। मांडलगढ़ और चित्तौड़ की रक्षा-व्यवस्था और भी सुदृढ़ करली गयी। जहां-तहां खेत लूटे गये, वस्तियाँ जलायी गयीं, और कुछ लोग बदी भी बना लिये गये।

राजपूत सैनिक भी पीछे नहीं रहे। उन्होंने अनेक स्थानो पर मुगल सैनिकों को परास्त किया। यह भी कोशिश की गयी कि जहाँ से हो सके मुगल थानां उठा दिया जाये। वागोर के मुगल थाने पर सुल्तानखान गौरी को हराकर वहां फिर से कब्जा कर लिया गया। रामपुर जीत लिया गया।

ऊटाला जिस तरह लिया गया वह वीरता की अनोखी कहानी हो गयी है।

अमरसिंह ने ऊटाला के थानेदार कायमखान पर चढ़ायी की और गाँव को घेर लिया। शाही फौज ने वहादुरी से सामना किया, जमकर लड़ाई हुई, दोनों ओर के 'सैकड़ों आदमी' मारे गये, कायमखान को 'खुद महाराणा ने मारा'। शाही फौज के वहुत से लोग भाग गये, और वहुतो ने जाकर ऊटाला के गढ़ में शरण ली। वे लोग भीतर से घातक हमले करने लगे। गढ़ जीतना मुश्किल हो गया। इस पर अमरसिंह ने अपने साथियों को उत्साहित किया, और चूंडावत तथा शक्तावत सरदारों के बीच चला आ रहा झगड़ा भी सदा के लिए निपटाने का निश्चय किया।

"महाराणा की फौज में कायदा था कि हरावल में (अर्थात् आगे) चूंडावत और चन्दोवल में (याने फौज के पीछे) शक्तिसिंह के वेटे-पोते शक्तावत रहे। इस वात से चूंडावत हर एक वात में शक्तावतों को ताना दिया करते थे। इस वक्त महाराणा अमरसिंह ने हुक्म दिया कि पहले ऊटाले के किले में जो हमारी फतह का निशान कायम करेगा उन्हीं के नाम पर हरावल होगी। यह हुक्म सुनकर शक्तावत व चूंडावत दोनो गिरोह के सरदार अपनी-अपनी जमाइयत (सैन्य दल) सहित किले की तरफ चले। वल्लू शक्तावत तो दरवाजे की तरफ गया और रावत जैतसिंह कृष्णावत दीवार की तरफ। वल्लू शक्तावत ने अपने हाथी के महावत से कहा कि हाथी

1. 'अकवरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 1155

को हूलकर दरवाजे के किवाड़ तुड़वा। हाथीवान ने कहा कि हाथी मुकना (विना दांत का) है और किवाड़ों मे भाले लगे है। इसलिए टक्कर नहीं मारता। रावत बल्लू ने किवाड़ के भालो पर खड़े होकर हाथीवान को कहा कि मेरे वदन पर हाथी को हूल दे, नहीं तो तुमको मार डालूंगा: उसने वैसा ही किया। जबकि वल्लू के वदन पर हाथी झुका तो उसी वक्त रावत जैतसिंह कृष्णावत सीढ़ी लगाकर दीवार पर चढ़ा, और किले वालो की तरफ से उसकी छाती में गोली लगी: जव सीढ़ी से गिरने लगा तो अपने साथियो से कहा कि मेरा सिर काटकर किले में फेंक दो, जिस पर उसके राजपूतो ने वैसा ही किया, और सीढियो से चूंडावत किले पर चढ गये। शक्तावत भी किवाड़ तोड़कर भीतर चले आये। किला फतह हुआ। शाही मुलाजिम अक्सर मारे गये और वहुत से पकड़ लिये गये। शक्तावत और चूंडावतों की महाराणा ने तारीफ करके इज्जतें वढायीं, और हरावल चूडावतों के सावित रही। इस लडाई में रावत जैतसिंह शक्तावत, वल्लू, रावत तेजसिंह खंगारोत के सिवाय और भी वहुत से बहादुर मारे गये।"[1]

जेम्स टाड[2] तथा डा० ओझा[3] ने भी इस घटना का उल्लेख किया है। परन्तु इसे पादटिप्पणी में देकर डा० गोपीनाथ शर्मा कहते है कि 'अपने प्रचलित रूप में यह किसी विश्वसनीय राजपूत स्रोत में प्राप्त नही है, वहां केवल ऊंटाला की विजय का उल्लेख है।' अतएव उन्होने इसे स्वीकार करने से इन्कार किया है।[4] वीरोचित गुणों से ओतप्रोत यह गाथा इतनी लुभावनी है कि फिर भी इसे यहां देने से अपने को रोका नही जा सकता।

राजपूत गाथाओ में कहा गया है कि थोड़े ही समय में मेवाड़ के 30 थाने और कस्बे फिर से जीत लिये गये। परन्तु क्षति वहुत हुई, अनेक वीरों को अपना वलिदान देना पड़ा। परिणाम यह हुआ कि 'सारा (शाही) अभियान विना वहुत सफलता के समाप्त हो गया'। इन सैनिक सफलताओ से अमरसिंह को वहुत प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, 'राजप्रशस्ति' ने उसे 'चक्रवीर' को पदवी से विभूषित किया है।

इस पराजय का प्रमुख कारण सलीम की उदासीनता थी। वह मेवाड़ को नहीं, भारत को हस्तगत करना चाहता था।

## अकबर का असफल अभियान

अकवर के दक्षिण में फंसे रहने का लाभ उठाकर उत्तर मे विद्रोह करने का सलीम ने निश्चय किया, वह पंजाव पहुंचकर उस सूवे पर अपना स्वतन्त्र अधिकार कर लेना चाहता था। उसी समय वंगाल में अफगानों ने भयंकर विद्रोह मचा दिया।

---

1. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 217
2. जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 284
3. ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 788
4. गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, पृष्ठ 111

"अज्ञानतावश राजा मानसिंह बंगाल का काम अपने हाथ में रखे हुए था, जबकि वह स्वयं अजमेर सूबे में रह रहा था। उसने वहां के राजद्रोहियों को राजभक्त मान रखा था, और उस दूरस्थ प्रदेश में उन्हें मनचाहा करने को छोड़ रखा था। उस्मान, सजावल तथा अन्य उपद्रवी अफगान, जो दिखावे में तो राजहित में लगे थे, राजद्रोह करने लगे। महासिंह और प्रतापसिंह ने सोचा कि इस स्थिति से आसानी से निपटा जा सकता है, और वे सेना लेकर लड़ने के लिए आ गये। (मई 1600 में) भद्रक में जमकर लड़ाई हुई, और शाही सेना हार गयी। बंगाल हाथ से तो नहीं निकला, लेकिन उसका कुछ हिस्सा छिन गया"।[1] सम्राट ने सूबेदार मानसिंह को तत्काल अजमेर से बंगाल जाकर स्थिति सुधारने के आदेश दिये।

मानसिंह का बंगाल की स्थिति से चिन्तित होना स्वाभाविक था। उसने सोचा कि साम्राज्य के युवराज को बंगाल साथ ले जाने से शाही स्थिति वहां सुधरेगी, और उसकी उपद्रवी वृत्ति और पंजाब-विजय योजना पर भी रोक लगेगी। उसे, सलीम की तरह, इस बात की उतनी चिन्ता नहीं थी कि मेवाड़ का काम बीच ही में छूटा जा रहा है। बंगाल का सूबेदार होने के कारण उसे अपना प्रथम दायित्व उस तरफ लगा। और इधर मेवाड़ में घटनाएं फिर से पहले जैसे चक्कर में पहुंच गयीं। आक्रमण अनिर्णीत अवस्था के आगे नहीं निकल पा रहा था। इस बार मेवाड़ में मानसिंह से बहुत बन पड़ा हो, ऐसा नहीं लगता।[2]

परन्तु, जो शाहजादा अपने पिता की अवज्ञा कर रहा था, वह अपने संबंधी (मानसिंह की बहन से अकबर का विवाह हुआ था; और उसकी सबसे बड़ी पौत्री का अकबर के सबसे

---

1 'अकबरनामा', तीसरा भाग, पृष्ठ 1151

2 इतिहास-पुस्तकों में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि मानसिंह का सम्पर्क इस अवधि में मेवाड़ के महाराणा से हुआ हो। फिर भी, कुछ लेखक मानते हैं कि इन दिनों एक अवसर ऐसा आया था जब मानसिंह और महाराणा में मित्रता हो सकती थी, और 'आज दिल्ली पर हिन्दू-साम्राज्य होता'। दो और ऐसे अवसर गिनाकर लेखक (चतुरसेन, पृष्ठ 309) कहते हैं 'तीसरा अवसर वह था जब प्रताप के पास, काबुल-विजय कर, मानसिंह मिलने गये थे। अकबर से उनका भीतरी द्वेष चल रहा था। मुगल-सैन्य उनके हाथ में थी। मन में न जाने क्या भाव आये थे। यदि प्रताप घमंड न करके मानसिंह को छाती से लगा लेते तो अकबर ही मुगल साम्राज्य का अन्तिम बादशाह होता, और दुर्बल, ऐयाश और शराबी जहांगीर को वह गद्दी नसीब न होकर सीसोदियों को मिलती।" इनमें कुछ स्थापनाएं असत्य हैं, शेष बातें निरी कल्पनाएं हैं, जिनके मूर्त रूप में ले सकने की संभावना उन दिनों की परिस्थिति पर विचार करते हुए लगती नहीं है। पहले तो उन दिनों मेवाड़ का महाराणा प्रताप नहीं, अमरसिंह था। दूसरे, अकबर से खिन्नता की बात उतनी प्रकट नहीं है, फिर, मानसिंह विद्रोह को अखिल भारतीय रूप दे कर सफल कर सकता था, यह सोचना बहुत ज्यादा है, अकबर का पुत्र सलीम ही ऐसा नहीं कर सका। मुगल सैन्य किसी एक सामन्त या सेनापति के हाथ में नहीं रहा करती थी। उस समय मानसिंह की नियुक्ति बंगाल में थी, दिल्ली से बहुत दूर। चूंकि मानसिंह के मिलने जाने की बात पक्की नहीं है, प्रताप उस समय जीवित नहीं था, इसलिए उसके घमंड दिखाने की बात नहीं उठती। प्रताप और अमरसिंह तो इतनी सावधानी बरत रहे थे कि मेवाड़ के शत्रु-विजित प्रदेश चित्तौड़ तक पर भी सीधा हमला नहीं कर पा रहे थे—उनमें से किसी के लिए उन परिस्थितियों में भारत का सम्राट होने की कल्पना करना, नितान्त निरर्थक बात है।

बड़े पुत्र से) का भी बहुत आदर नहीं कर सकता था सलीम ने मानसिंह की सलाह नहीं मानी, और 'सम्मान और प्रसन्नता के साथ' उसे बंगाल जाने की छुट्टी दे दी।

सत्तर वर्षीय शाहबाजखान की, 'जिसके जैसे कम ही शाही सेवा में और सैनिक व्यवस्था में थे', अजमेर में मृत्यु हो गयी। उन दिनों वह कदाचित् अजमेर में नियुक्त था। कुछ इतिहासकारो का मत है कि वह सलीम का मंत्री था,[1] जो ठीक नही लगता। यदि वह सलीम के साथ आया होता तो इतने प्रतिष्ठित व्यक्ति का नाम सलीम के साथ आने वालो में 'अकवरनामा' अवश्य देता। वह अकवर का प्रिय शाही अधिकारी था। उसकी मृत्यु होने पर सलीम ने उसकी एक करोड़ रुपये की संपत्ति अपने कब्जे मे कर ली। मेवाड़ मे फैले अपने सैनिक उसने वापस बुला लिये। संपत्ति, सैनिक और शैतानी से घंमड में आने पर सलीम को पंजाव दूर लगने लगा, साम्राज्य की राजधानी ही उसे हाथ में आयी लगने लगी।

वह उस ओर बढा, परन्तु आगरा के सूवेदार कुलीनखान ने किले से वाहर निकलकर उसका स्वागत और सम्मान तो किया, परन्तु किला उसे सौंपने से दृढ़तापूर्वक इन्कार कर दिया। इस पर सलीम इलाहावाद चला गया, और वहां उसने अपने को स्वतंत्र सुलतान घोषित कर दिया, और अपनी सेना भी संगठित करने लगा। अकबर के कहने-सुनने का कोई परिणाम नही निकला, उलटे वह 30,000 सैनिको के साथ 'वदइरादों से' आगरा रवाना हो गया। परन्तु पिता की धमकी कड़ी मालूम देने पर रास्ते से ही लौट गया। अकवर ने बंगाल के सूवेदार मानसिंह को वापस वुलाकर सलीम की उसकी जगह नियुक्ति की घोषणा की। इसे सलीम ने स्वीकार नही किया, और इलाहावाद में 'स्वतंत्र शासक' के रूप में रहने लगा। पिता पर मार्मिक आघात करने के लिए उसने 'बुद्धि की खान और ज्ञान के सागर', इतिहासकार, अमीर, वजीर, सेनापति और अकवर के परम मित्र तथा परामर्शदाता अबुल् फज्ल को मरवा डाला।

परन्तु सम्राट अपने पुत्र के विरुद्ध फिर भी कड़ी कार्रवाई नहीं कर सका, और सलीम की दादी मरियम मकानी तथा सौतेली मां सुलताना सलीमा बेगम ने बीच में पड़कर पिता-पुत्र के बीच समझौता कराया, सलीम ने सम्राट के चरणों पर अपना सिर रखा, और अकबर ने शाहजादे के सिर पर अपनी पगड़ी।

अकवर सलीम को अनुचित संगति से अलग रखना चाहता था, यह भी चाहता था कि वह फिर से उपद्रव न खड़ा कर सके। अमरसिंह की अकड़ उसको कांटे की तरह चुभ रही थी, मेवाड़ का काम वह तमाम करना चाहता था। अतएव मेवाड़ में जो काम सलीम अधूरा छोड़ आया था उसे पूरा करने और 'मन्दभाग्य धर्मद्रोही को नष्ट करने' पर उसे फिर से नियुक्त किया गया। अक्टूबर, 1603, में, विजया दशमी के दिन, वह आगरा से अजमेर के लिए अपनी 'विजय यात्रा' पर निकला। उसके साथ

---

[1] लूनिया, पृष्ठ 325

बड़ी सेना की गयी, और जगन्नाथ कछवाहा, माधोसिंह कछवाहा, सादिकखान, हाशिमखान, इस्लाम कुली, शेर वेग, अमीरवेग, बीकानेर का राजा राय रायसिंह, रामपुर का राय दुर्गा, बूंदी का राजा रामभोज, दलपतसिंह (रायसिंह का पुत्र), जोधपुर के राजा के दो पुत्र विक्रमादित्य तथा दलपत, जैसे अनुभवी, प्रतिष्ठित तथा बहादुर सेनानी उसके साथ किये गये। परन्तु साहस और महत्त्वाकांक्षा उसके साथ नहीं थी। उसे यह भी लगता था कि जहां स्वयं सम्राट और मानसिंह-सा सेनानी असफल हो चुका है, वहां सफलता की संभावना नहीं है। 'मेवाड़ के राजपूतों और भीलों को, पहाड़ियों और घाटियो को जीतने के लिए जो सैनिकोचित उत्साह, शत्रु पर टूट पड़ने के लिए उत्कंठा, संगठन की शक्ति तथा युक्ति-चातुर्य चाहिये था वह उसमें नहीं था।' सलीम ने अकवर के सब मंसूबे चकनाचूर कर दिये, वह अपने जन्म स्थान फतहपुर-सीकरी से आगे ही नहीं बढ़ा। मेवाड़ वह स्वयं हो आया था, वहां से फिर खाली हाथ लौटने का अपमान वह दूसरी वार अपने नाम के साथ नहीं जोड़ना चाहता था। यह भी हो सकता है कि वह इन दिनों की परिस्थिति में देश की राजधानी से— और अपने उत्तराधिकार की संभावना से— दूर होना और उलझे काम में फसना अपने हित के विरुद्ध मानता था। सलीम ने प्रायश्चित का जो प्रदर्शन किया था उसे अकवर ने कभी पूरे मन से स्वीकार नहीं किया था, सलीम के मन में इसकी प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी।

प्रसन्नतापूर्वक वह आगरे से अकवर से विदा लेकर, उससे मूल्यवान निर्देश और परामर्श प्राप्त करके, दशहरे के शुभ दिन, ज्योतिषियों के वताये शुभ समय, मेवाड़ के विरुद्ध सेना लेकर निकला था, परन्तु अपनी आदतों को वह जीत नहीं सका। फतहपुर-सीकरी पहुंचते ही उसने 'आशोभनीय आपत्तियाँ' उठायीं। उसने संदेश भेजा कि मेवाड़ जैसे कठिन अभियान के लिए सेना, सामान और खजाना उसके साथ काफी नहीं हैं। अकवर अपने पुत्र की मनोभावना को समझ गया, परन्तु उसने उसे आगरा लौटने की अनुमति भी नहीं दी। उसने कहलवाया कि 'ज्योतिषियों का मानना है कि इस समय शाही दरवार में लौटना शुभ नहीं होगा', इसलिए उसके लिए वापस आगरा आना उचित नहीं है। उसने वड़ी शुभ घड़ी में विदा ली है, उसे कहीं न कहीं तो जाना ही चाहिये, इसलिए वह अपनी जागीर इलाहावाद चला जाये, और वहां आनन्द करे। इस संदेश के पहुंचने पर सलीम वहुत प्रसन्न हुआ, मद्यपान करता, हर तरह का आनन्द लूटता, मथुरा के निकट यमुना नदी पार करके वह खुशी-खुशी उधर निकल गया। "सर्वज्ञानी शाहंशाह' को वास्तविकता का ज्ञान था, यह खुली अवज्ञा थी दुष्कर दायित्व से वचने की दुर्वलता, जिसे सहना अकवर जैसे सम्राट के लिए सरल नहीं था, परन्तु उसने कोई कार्रवाई नहीं की। इलाहावाद जाने और (अकवर से) अलग होने की अनुमति एक प्रकार का अनुग्रह था जो उस समम अकवर ने अपने पुत्र पर दिखाया।

यद्यपि शाहजादे का व्यवहार प्रशासन के प्रकट नियमो के नितान्त विरुद्ध था, परन्तु परमात्मा की इच्छा उसके लिए भिन्न थी। तभी तो इस प्रकार के आचरण द्वारा

ही उसे साम्राज्य संचालन के लिए चुना गया। निश्चय ही सर्वशक्तिमान परमात्मा के सामने, जो न्याय का प्रदाता है, जो किया जाता है उसका प्रभाव नहीं पड़ता।

जहा भी (भगवान) तेरी कृपा रहती है, रहती है।
जो नहीं किया जाता, हो जाता है,
जो किया जाता है, वह नही किया हो जाता है।[1]

भगवान की यह भी इच्छा थी कि मेवाड़ के विरुद्ध आयोजित किया गया 'अकबर महान' का यह अंतिम अभियान भी असफल हो जाये।

परन्तु 'भगवत् भक्त अकबर' ने ईश्वर का निर्देश नहीं समझा। मेवाड़ स्वतन्त्र रहे, यह वह कभी नहीं सह सका।

पुत्र जो नहीं कर सका था, उसे उसने फौज से कराने का प्रयत्न किया, और उसके साथ किया गया मेवाड़ के उस महाराणा का पुत्र जिससे अकबर को सबसे पहले लड़ना पड़ा था।

अपने जीवन के अंतिम वर्ष में अकबर ने फिर एक शाही सेना मेवाड़ के विरुद्ध भेजने का निश्चय किया। इसका नेतृत्व सुलतान खुसरो को सौंपा गया। वह सलीम का पुत्र था, परन्तु उससे अप्रसन्नता असीम होने पर अकबर खुसरो को साम्राज्य सौंपने की सोचने लगा था। इस तरह अपने सबसे सन्निकट, और अपनी आशा के नये आधार, महत्वपूर्ण व्यक्ति को उसने अपने अन्यतन शत्रु, मेवाड़ के महाराणा, को जीतने के लिए भेजने का निश्चय किया। उसके साथ लगाया गया, उदयसिंह का पुत्र, प्रताप का भाई, सगर, जो अपने पिता के समय से शाही सेवा में था। 'बादशाह अकबर ने फरमाया कि तुमको हम उदयपुर का राणा बना देवेंगे, क्योंकि तुम्हारे भाई जगमाल की यही मुराद थी जो पूरी न हुई। अब यह काम तुम पूरा करो और राणा अमरसिंह को अपना तावेदार वनाओ, आज से हमने तुमको 'राणा' का खिताव दिया।'[1] परन्तु मेवाड़ के महाराणा का पद 'खिताव' के रूप में नहीं दिया जा सकता था, जो मेवाड़ का सम्मान अपने आराम के लिए छोड़कर उसके शत्रु से मिल गया था, उसे मात्र 'एक सांसारिक शाहंशाह' वहां का महाराणा नही बना सकता था—भगवान को यह स्वीकार नही था।

बड़ी सेना खुसरो के साथ लगायी गयी, जिसमें 'इकबालनामा' के अनुसार 60 प्रमुख अधिकारी थे। यह सरजाम हो ही रहा था कि सम्राट की मृत्यु हो गयी, 'संसार का स्वामी अपने भाग्य से हार गया।' 15 अक्टूबर 1605 को वह उठ गया जिसके लिए 'अकबरनामा' में अंकित है :

1 'अकबरनामा' तीसरा भाग, पृष्ठ 1233
2 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 221

जो विश्लेषक सब श्रेष्ठताओं की गणना करते हैं,
उन्होंने उसे 'युग के इमाम' की पदवी से विभूषित किया।
वह पारलौकिक और लौकिक सम्राट है, अपनी तरह का अकेला,
अकबर शाह,
जिसने दरिद्रों को सौभाग्य का सम्राट बना दिया।
वह मूल सांचा अब नहीं रहा,
जिसकी आत्मा से पवित्र आत्माएं चिर सत्य का ज्ञान प्राप्त करती थीं।

परन्तु, अकबर वह मेवाड़ के महाराणा का भाग्य नहीं बदल सका, वह तो विरोधी और विद्रोही ही बना रहा; वह सांचा मेवाड़ को मनचाहा नहीं ढाल सका, वह तो स्वतन्त्र ही बना रहा। अकबर के सम्बन्ध में 'अकबरनामा' में कहा गया यह कथन अमरसिंह के लिए, उसके पिता और पितामह के लिए, और भी सत्य है :

'वे कभी नहीं मरे, न वे मरेंगे जो पवित्र हैं,
उनके सम्बन्ध में मृत्यु नाम मात्र की हो जाती है।'

# 8

# मेवाड़ विजय

जहां तक मेवाड़ का सम्बन्ध है, शाहजादा सलीम ने शाहंशाह जहांगीर बनते ही परिस्थिति को पूरी तरह परिवर्तित कर दिया। लगता ऐसा है कि कहीं इसी को वार बनाकर उसने अपने पिता पर, उसकी प्रतिष्ठा पर, सबसे बड़ा आघात तो नहीं किया! जो काम अकबर अपने पचास साल के राज-काल में नहीं कर सका, उसे जहांगीर ने राज्यारोहण के दस वर्षों के भीतर कर डाला, और दिखा दिया कि कूटनीति, राजनीति, रणनीति और उदारता में वह अपने यशस्वी पिता से कहीं बढ़-चढ़ कर था। सलीम यदि यह काम इतने कम समय में कर सकता था, तो उसने अकबर द्वारा दो-दो बार अवसर दिये जाने के बाद भी क्यों नहीं इसे पूरा किया? अकबर अपनी महत्वाकांक्षा मन में लेकर ही मर गया, उसके उठते ही उसके पुत्र ने यह काम अपने हाथ में लिया।

जहांगीर ने उद्देश्य तो वही रखा—मेवाड़ के महाराणा को मुगल सम्राट की अधीनता स्वीकार करने को विवश करना, परन्तु व्यावहारिक रूप से युद्ध करने और संधि करने में अधिक निपुणता दिखायी। अकबर के पक्ष में एक ही बात पड़ती है कि वह 14 वर्ष की आयु मे शाहंशाह हो गया था, जबकि जहांगीर जब गद्दी पर आया उसकी आयु 36 वर्ष थी—उसे मेवाड़ का जो व्यक्तिगत अनुभव प्राप्त था, अपने पिता के प्रयत्न को देखकर और स्वयं सेनापतित्व करके, उसे तो अनुपात में और भी अधिक माना जाना चाहिये।

## कठिन काम हाथ में

जहांगीर ने "तख्त पर बैठते ही अपने बाप की उस उम्मीद को जिसे वह दिल में रखकर मरा था, याद किया और कहा कि उदयपुर के राणा की मुहिम मेरे बाप ने मेरे नाम लिख दी थी, इसलिए मुझे जरूर है कि पहले इसी काम को करूं। और ऐसा दस्तूर भी है कि जब कोई राजा या बादशाह तख्तनशीन होता है तो अपना रौब जमाने के लिए किसी कठिन काम पर हाथ डालता है।"[1]

जहांगीर 24 अक्टूबर 1605 को राजगद्दी पर बैठा था, और एक महीने के भीतर 'राजपूत स्वाधीनता के एकमात्र प्रतीक' मेवाड़ की विजय का अभियान आरम्भ कर दिया गया। मेवाड़ क्षत-विक्षत हो गया था, परन्तु उसका अभी भी असाधारण आदर था, और वहां की गद्दी पर आरूढ़ महाराणा बहुत श्रद्धा से देखा जाता था। "कोई राजा स्त्री को स-प्रसाधन डोली में बैठाकर बादशाह के समीप पहुंचाता है, पृथ्वी के लोभ में आ पुत्री को देता हुआ मस्तक नवाता है, कोई अपने शरीर को निछावर कर भाई की लड़की को सहज ही समर्पित करता है, कोई बादशाह के पैर चांपता हुआ मन लगाकर मस्तक झुकाता है। इस प्रकार जितने भी श्रेष्ठ गज समान भारतवासी हिन्दू वीर है सबके सब वह नट जैसे नचाता है वैसे वे नाचते है। बचा है तो केवल एक अनम्र वीर महाराणा अमर ही, जिस प्रकार प्रलय समय में प्रयाग-स्थित वह (कल्प) वृक्ष।"[2] जहाँगीर ने अतएव अमरसिंह को सबसे बड़ी चुनौती माना, और उसे जीतने का दृढ़ निश्चय किया।

जहांगीर अकबर का बड़ा बेटा था, परन्तु उसका उत्तराधिकार उतना असंदिग्ध नहीं था। अकबर ने 1577 में उसे 10,000 का मनसब देकर स्पष्ट कर दिया था कि वही उसके बाद बादशाह बनेगा, परन्तु अकबर स्वयं अपना गौरवशाली जीवनकाल जहांगीर को जल्दी राजगद्दी देने के लिए समाप्त नहीं कर सकता था, इसके बाद 28 साल वह और जीवित रहा। प्रतीक्षा के लिए यह अवधि बहुत लम्बी थी, 1591 से ही जहांगीर ने 'सर्वोच्च सत्ता प्राप्त करने मे अशोभनीय आतुरता' दिखाना आरम्भ कर दिया, और एक के बाद एक उससे ऐसे कृत्य होने लगे जिन्होंने 1599 में मेवाड़-अभियान के समय उसे 'खुला विद्रोही' बना दिया। जब अकबर का अंत समय सन्निकट था, राजा मानसिंह और खान-इ-आजम अजीज कोका जैसे साम्राज्य के वरिष्ठतम सामन्तों ने जहांगीर की जगह उसके पुत्र खुसरो को शाहंशाह बनाने की कोशिश की—जो असफल रही, लेकिन उससे अशंका और अनिश्चय का वातावरण व्याप्त हो गया। जिस निर्दयता से जहांगीर ने अपने पुत्र के विद्रोह को, जिसका उसे राजसिंहासन पर बैठते ही सामना करना पड़ा, दबाया, उससे विरोध करने वाले शांत अवश्य हो गये लेकिन जहांगीर के प्रति अरुचि की भावना बढ़ गयी। विरोध की

---

1. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 221
2. 'राणा रासो,' पद 602

लपेट में जो नया वर्ग आया वह सिक्खों का था जिनके गुरु अर्जुन देव ने खुसरो को आशीर्वाद दिया था—इस 'दोष' के कारण जहांगीर ने गुरु अर्जुन को जान से मरवा डाला।

पिता-पुत्र के इस खुले संघर्ष का लाभ उठाकर साम्राज्य के कई और अंगों में विद्रोह उठ गये। साम्राज्य के पांच-हजारी वरिष्ठ सामन्त बीकानेर के राजा रायसिंह और बिहार के एक छोटे राजा संग्राम ने खुले विद्रोह किये, जो कुचल दिये गये। रामचन्द्र बुन्देला का मध्य भारत में, कुतुब का बिहार में, और दिल्ली, कन्नौज, कालपी के निकट स्थानीय रूप से विद्रोह हुए। बंगाल में स्थिति बराबर विकट बनी रही। फारस में इन दिनो 'मध्य युग के फारस के महानतम राजवंश के महानतम सम्राट' शाह अब्बास का शासन था, स्वयं उसे 'महान पुरुषो से भरी शताब्दी के महानतम लोगो मे' माना जाता है। उसके इशारे पर मुगल साम्राज्य के उत्तरी प्रदेश के प्रमुख सामरिक एवं व्यापारिक केन्द्र कन्धार में उपद्रव उठ खड़ा हुआ, और सीमा पार से उस नगर पर आक्रमण होने लगे। इन्हें दबा दिया गया। जहांगीर स्वयं स्थिति का अवलोकन करने काबुल गया। लौटते में खुसरो के समर्थकों ने सम्राट की हत्या का षडयंत्र रच रखा था, जिसका भेद खुल जाने के कारण जहांगीर बच गया।

मई 1611 मे जहांगीर के जीवन में नूरजहां का प्रवेश हुआ, जो व्यक्तिशः उसके लिए ही नहीं, सारे साम्राज्य के लिए बड़ा निर्णायक सिद्ध हुआ।

इन सब घटनाओ का ध्यान रखना इसलिए आवश्यक है कि इन्हीं के कारण जहांगीर मेवाड़-विजय पर 1613 तक व्यक्तिशः ध्यान नहीं दे सका, और बारबार वरिष्ठ सामन्तो तथा सेनानियों के भरपूर प्रयत्न के बाद भी राणा अमरसिंह को आत्मसमर्पण के लिए विवश नहीं किया जा सका। जब जहांगीर स्वयं अजमेर में जाकर जमा, और वहां तीन साल से ज्यादा रहा, तभी मेवाड़ की स्वाधीनता के अध्याय का अन्त हुआ।

मेवाड़ अभियान आरम्भ कैसे किया गया इस संबंध में जहांगीर ने स्वयं लिखा है:

"हमने अमीरुल उमरा को आदेश दिया कि हमारे सेवकों में से जब कोई किसी कार्य पर भेजा जाये तो उसको पहले कसौटी पर कस कर देखले कि यदि वह कार्य उसके द्वारा हो सकता है, तभी उसे भेजे, क्योंकि बड़े कार्य अयोग्य मनुष्यों से नहीं हो सकते और साधारण कार्यों पर अनुभवी मनुष्यों को भेजना मच्छर पर बाज छोड़ने के समान है। क्योंकि अच्छे सेवा कार्य नासमझों द्वारा पूरे नहीं किये जा सकते और सहज कार्य भी आलसी अनुभवी मूर्ख के ध्यान न देने से पूरे नही पड़ते, तथा शासन के कार्यो मे से कितने कार्य रह जाते है। बादशाहों के पार्श्ववर्तियों के लिए साम्राज्य के

कार्यों के संबंध में सुशासन, सुप्रवन्ध तथा सुसम्मति ही मुख्य ध्येय हैं न कि अपना स्वार्थ ।"[1]

जहांगीर की यह उक्ति स्वयं उसके शाहजादा की हैसियत से किये मेवाड़–अभियान पर अच्छी टिप्पणी हो सकती है । इसके आधार पर उसने मेवाड़ के प्रति अपनी नीति निर्धारित की । नवम्वर 1605 में उसने अपने सोलह वर्षीय पुत्र 'चिरजीव परवेज को राणा की चढायी पर भेजा' । परवेज के लिए जहांगीर के मन में विशेष स्थान था । उसे इसलिए भेजा गया था कि वह "हमको वहुत मानता है और हमारी सेवा में वहुत तत्पर तथा सतर्क रहता है । पहली सेवा जो मैंने उसे सौंपी वह काफिर के विरुद्ध थी अर्थात् उसे राणा पर भेजा । हमारे जो सरदार उसकी सेवा में नियुक्त हुए हैं वे सव उसके सलूक से प्रसन्न है व धन्यवाद दे रहे है ।"[2]

"हमने उसे एक जड़ाऊ तलवार, मस्त हाथी, खास घोड़ा जड़ाऊ जीन सहित, डंका, झंडा, तीन सहस्र तोप तथा दो सहस्र अश्व सवार दिये, और आदेश दिया कि यदि राणा स्वयं आये या अपने पुत्र (पाटवी राजकुमार) को तुम्हारी सेवा में भेजे तो उससे युद्ध न कर उसके उपयुक्त उपहार दे और उसका देश उसे छोड़कर क्षमा कर दे।" (राणा के संवंध में सवसे बड़ा काम यही था कि यदि वह विद्रोही हमारी सेवा स्वीकार करले तो उसे उसके योग्य मंसव देकर सम्मान्ति कर दे।"[3]) इसके विरुद्ध यदि वह युद्ध करना निश्चय कर मैदान में आये तो जितनी सेना की आवश्यकता होगी उतनी सहायतार्थ भेज दी जायेगी।.. किसी देश के लेने का तात्पर्य वहां के निवासियों तथा शासकों की अधीनता मात्र है, इसलिए सेना को युद्ध करने की आज्ञा नहीं दी और खुदा के वंदो के रक्त को मूर्खता तथा अज्ञानता से नहीं गिराया।.....हमने परवेज को राणा पर नियत कर उसका देश परवेज को दे दिया । आगरा प्रांत की जागीरदारी भी उसी के हाथ मे रहने दी, जिसमें वह पूर्ण रूप से निश्चित रहे । यदि राणा अपने दुर्भाग्य से सेवा से सिर हटा लेगा तो इसी विशाल सेना के साथ, जो हमारी अनुगामिनी रहेगी, उसके सिर पर पहुंच कर जड़-मूल से उसे खोद डालूंगा ।

"जिन सरदारो पर परवेज के साथ विदा करने के लिए अपनी कृपा दिखलायी थी उनमें प्रथम आसफखान था । ("आसफखान स्मरण शक्ति, सजीवता तथा वातचीत में अद्वितीय था और हमारे पिता के समय में उससे वड़ा कोई सरदार नहीं था । हम भी उसकी वहुत प्रतिष्ठा करते थे और करते है, यहां तक कि उसे पितृव्य कहकर सम्मानित करता हूं ।[4]) इसे पॉच हजारी मनसव, जड़ाऊ कमरवन्द तथा तलवार, मस्त हाथी और घोड़ा पुरस्कार दिया था । आसफखान जाफर वेग इसका नाम है और यह कजदीन का निवासी है । इसका पिता वदीम् उज्जमान (काशान का वजीर) आका

1. 'जहागीरनामा', पृष्ठ 48
2 वही, पृष्ठ 31
3 वहा, पृष्ठ 100
4 वही, पृष्ठ 70

ऊमला का पुत्र है, जो शाह तहमारूप के वजीरों में था। हमारे पिता ने इसको आसफ खान की पदवी दी थी। यह पहले हमारे पिता का मीर बख्शी था और अपनी विशेष योग्यता तथा कार्य दक्षता के कारण यह वजीर के पद पर प्रतिष्ठित हुआ। इसने हमारे पिता का मंत्रित्व दो वर्ष तक दृढ़ता के साथ किया। इसमें बुद्धि की तीव्रता तथा विचार शक्ति अच्छी थी, इसलिए हमने इसको वजीर से अमीर बना दिया। साथ ही यह भी आज्ञा दी कि सभी छोटे-बड़े मनसबदारगण, चाहे वे किसी जाति या सम्प्रदाय के हों, और जो शहजादे की सेवा में नियत हों, आसफखान की सम्मति के व राय के बाहर न जायें क्योंकि वह हर प्रकार से भलाई लिए होगी। हमने मोती की एक माला और एक लाख रुपया शाहजादा परवेज के लिए भेजा और आदेश दिया कि राणा के देश में, अपने भाइयों के स्थान के लिए, बनारस के बराबर एक नगर बसाये और परवेजाबाद के नाम से उसे बसाये।

"राजा भारमल्ल के पुत्र जगन्नाथ को, जो राजा मानसिंह का चाचा और पांच हजारी मनसबदार था, जड़ाऊ तलवार और अच्छा घोड़ा दिया। दूसरा राणा सिंह राणा का चचेरा भाई था,।[1] जिसे हमारे पिता ने राणा की पदवी से विभूषित किया था और चाहते थे कि इसको खुसरो के साथ राणा पर भेजें, परन्तु उसी समय (अकबर) की मृत्यु हो गई। उसी वर्ष राजा मानसिंह के भाई माधोसिंह को, जो हमारे पिता के पार्श्ववर्ती राजाओं में विश्वासपात्र था, झंडा और डंका प्रदान किया। इस प्रकार की कृपा करने की इच्छा हमारे पिता की भी थी और वह ऐसा सर्वदा कहा करते थे क्योंकि वह बराबर खास महल के दरबार में रहता था। अब्दुर्रज्जाक मामूरी को एक हजारी मनसब देकर अपने पुत्र परवेज का बख्शी नियत किया। आसफखान के चाचा मुख्तार बेग को आठ सदी का मनसब देकर परवेज के साथ विदा किया। शेख रुक्नुद्दीन अफगान को अपनी शाहजादगी के समय शेरखान की पदवी दी थी और वह साहसी पुरुष था। अमीरों की नौकरी में उसका हाथ तलवार से कटकर गिर गया था। इस पर भी वह अत्यन्त बुद्धिमान तथा सतर्क था।"[2]

मेवाड़ के विरुद्ध सेना संगठित करने मे जहांगीर ने कितनी सतर्कता बरती थी, यह इस विवरण से स्वयं स्पष्ट है। सेनानियो को अपनी नीति-रीति उसने अत्यन्त स्पष्ट शब्दो में समझा दी थी। उसके अनुपालन के लिए अपना प्रिय पुत्र, आयु कम होने पर भी, साथ भेजा था। उसके अल्पायु होने के कारण अत्यन्त अनुभवी और सुयोग्य व्यक्ति को वास्तविक कार्य-भार सौंपा था। साथ ही सेना के साथ आंबेर के उस सामन्त को लगाया था जिसे हल्दीघाटी के समय से मेवाड़ का अनुभव था। आंबेर की अगली पीढ़ी को भी प्रतिनिधित्व दिया गया था। मेवाड़ के विद्रोही को भी साथ किया गया था, जिसके बारे में आशा हो सकती थी कि

1 यहा तात्पर्य सगर से है, जो अमरसिंह का नहीं, प्रताप का भाई, अमरसिंह का चाचा, था।
2 'जहांगीरनामा', पृष्ठ 52

उसकी उपस्थिति से मेवाड़ मे फूट पड़ जायेगी । आसफखान की स्थिति भी स्पष्ट कर दी गयी थी। जिसे जहांगीर का विश्वास उसके बचपन से प्राप्त था वह भी सेना के साथ था ।

इन उल्लेखनीय व्यक्तियों के अतिरिक्त और भी अनेक विशिष्ट, हिन्दू और मुसलमान, सरदार सेना के साथ थे । "इन सबको अपने-अपने लश्करों समेत शाहजादे के साथ कर दिया । बादशाह जहांगीर अपनी किताब 'तुजक-इ-जहांगीर' मे लिखता है कि 'मेरे बाप की आर्जू पूरी करने के लिए मेरे जुलूस (राज्यारोहण) के मौके पर बड़े-बड़े मनसबदार मय अपनी जमइयतो के इकट्ठे हो गये थे, उन सब उमरावो को मैंने इस बड़ी मुहिम पर भेज दिया ।' इस तरह परवेज ने मेवाड़ पर चढ़ाई की ।"[1] सेना में 20,000 घुड़सवार थे । 'धन तथा तोपखाना बहुत अधिक साथ भेजा गया ।'

शाहजादे परवेज ने 'शाही हुक्म मुआफिक राणा सगर को चित्तौड़ पर (वह बहुत दिनो से मुगलों के अधीन था) राणा बनाकर गद्दी पर बैठाया और अपने दादा अकबर के वचन को पूरा किया । सगर भी अपने बड़े भाई जगमाल का (उसे उदयसिंह मेवाड़ का राज्य दे गये थे, परन्तु सामन्तो ने उसे हटाकर प्रताप को गद्दी पर बैठाया था) इरादा पूरा करने के लिए मेवाड़ के राजा बनकर चित्तौड़ पर चंवर उड़वाने लगे ।'[2] स्वभावतः सगर की मेवाड़ मे बहुत निन्दा हुई । 'राणा रासौ' में आया है, 'बादशाह ने सगर को राणा बना दिया और चित्तौड़ स्थान दे दिया। चित्तौड़ उसके अधीन करना ऐसा लगा मानो सिद्धपीठ आश्रम को सूना देखकर कोई सामान्य जन आकर वहाँ सो गया हो । बादशाह ने जब सगर को राणा बना दिया तब सारा ससार यही कहने लगा कि यह तो वैसा ही हुआ जिस प्रकार कोई मूर्ख अपनी अंगूठी से रत्न को निकालकर उसकी जगह कांच लगवाले । सगर को उसी प्रकार राणा बनाया गया जैसे फूहड़ स्त्री मूल्यवान कर्ण-आभूषण को छोड़कर उसकी जगह अपने कान में तिनके की सींको का उपयोग करती है । जैसे वणिक जर खरीद गुलामो द्वारा अपनी पूंजी मे वृद्धि करता है उसी प्रकार बादशाह ने मेवाड़ के लोभ मे सगर को राणा बनाया । यह बात सुनकर सारा ससार कांप गया । मेवाड़ के साथ ही हिन्दू धर्म नष्ट हो जाने के भय से सब भयभीत हो गये । आजानुबाहु महाराणा अमरसिंह के प्रति क्रुद्ध होकर सगर के विद्रोह करने पर उसे चतुर एवं सागर के समान गंभीर कवि लोग तथा सुर-असुर-चन्द्र-सूर्य सबके सब धिक्कारने लगे । घर-घर मे सब स्त्रियां भी धिक्कारने लगीं । इसी प्रकार नर एवं नाग तब एव अब भी उसकी निन्दा करने लगे और करते है । यही नहीं, उस सगर का कुयश पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशाओं में फैल गया ।' कवि ने यहां तक कहा है, 'शाही सेना के स-पौरुष हिन्दू योद्धा शेष सैन्य के साथ बढ़ रहे थे किन्तु उनका हृदय (पुनः मेवाड़ के आपत्तिग्रस्त होने के कारण) व्यथित था और मुख पर

1. (क) 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 222, (ख) 'जहांगीरनामा', पृष्ठ 319
2. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 222

(सगर की मूर्खता पर) हंसी दिखायी देती थी। वीरो के चित्त में महाराणा के प्रति सहानुभूति थी। सेना स्थित हिन्दू और यवन सबके सब सगर की निन्दा करते हुए चल रहे थे। इस प्रकार उस सगर की अपकीर्ति के नैश तिमिर से तीनों भुवन व्याप्त हो गये।"[1] सगर की स्थिति सन्तोषजनक नहीं थी, चित्तौड़ और उसके पूर्व का थोड़ा-सा क्षेत्र तथा थोड़ा-सा मालवा का टुकड़ा उसे सौंपा गया था। मेवाड़ का मुख्य पूर्वी प्रदेश, जो उपजाऊ और आवाद था, सीधा शाही अधिकार में रहा। इसमें पड़ते थे वदनौर, हुरडा, मांडल, जहाजपुर, मांडलगढ़, आदि। मेवाड़ का पश्चिमी समतल प्रदेश उन दिनों वीरान था, या तो उसे शाही सेना ने नष्ट कर दिया था या महाराणा ने उसे खाली करा रखा था। इसके पास पड़ने वाला पहाड़ी प्रदेश महाराणा के अधिकार में था। चित्तौड़ में सिंहासनासीन होने के बाद सगर ने समर्थकों का दल तैयार करना आरम्भ किया। उसने नये सरदार और उमराव वनाये, परन्तु उसे मेवाड़ के मुख्य सामन्तों का सहयोग नहीं मिला, उनमें फूट पड़ने की आशा भी पूरी नहीं हुई। 'वादशाही मुलाजिमों ने कहा कि हम मददगार हैं, अपने मुल्क को आवाद करके आप कब्जे में लाओ, लेकिन सगर से यह कव हो सकता था?'

जेम्स टाड ने उस समय के चित्तौड़ का चित्रण करने के लिए ब्रिटिश महारानी द्वारा जहांगीर के दरवार के लिए नियुक्त राजदूत का उद्धरण दिया है, उन दिनों भी वहां कम से कम एक सौ मंदिरों, और एक लाख पत्थर के वने मकानों के खंडहर थे, जिनमें विखरे प्रस्तर स्तम्भों की आकर्षक कला की ओर वह आकर्षित हुआ था। वस्ती वहुत कम थी, जंगली जानवर और पक्षी वहुत थे। "अपने पूर्वजों के खंडित गौरव और इस निर्जनता के बीच सगर ने सात साल जाली स्वामिभक्ति स्वयं अपने को समर्पित करायी। परन्तु यह लिखते प्रसन्नता होती है कि चित्तौड़ का यह दुष्यवृत्ति पुत्र भी उन घटनाओं के स्मरण करने से उठने वाले भावों को नहीं रोक सका, और सगर यद्यपि अपने भाई और भतीजे को चित्तौड़ से अलग रखने के लिए चट्टान-सा दृढ़ हो गया, परन्तु जिन वीरों ने चित्तौड़ की रक्षा के लिए अपना जीवन दे दिया था उनकी ड्योढ़ियों से उठने वाली निःशब्द निन्दा को सहने में वह असमर्थ रहा। राजाओं के समूह को पराजित करने की स्मृति में खड़ा किया गया विजय-स्तम्भ उसकी अपकीर्ति का स्मारक हो गया। वह किले की विस्तृत भूमि में से एक अंगुली वरावर जमीन पर से भी विना ऐसे अवशेष को पार किये नहीं निकल पाता था जो उनके महान् कार्यों और उसकी अयोग्यता से उसे अवगत कराता रहता था।"[2]

अमरसिंह के हिस्से इस गौरव-गाथा में नया अध्याय जोड़ना आया। इस दायित्व को उसने अपने भरसक अच्छी तरह निभाया। वह अकवर के आक्रमणों का सामना कर

---

1. 'राणा रासो', पद 510-518, 569-570
2 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 281

चुका था, उसके पुत्र के हमलों का मुकाबला करने को तैयार था, फिर भी न जाने कैसे जेम्स टाड से कुछ ऐसी कहानी कह दी गयी है जो सही नहीं हो सकती। उनका कहना है[1] कि अमरसिंह उदयपुर में पिछोला-तट पर बनाये अपने महलों के आराम में डूब गया, और जब शाही हमला हुआ उसे 'सुख और कीर्ति' के बीच चुनाव करने में कठिनता हुई, और अपने सामन्तों के उद्‌बोधन पर ही वह अपनी सेना का नेतृत्व सम्हालने को तत्पर हुआ। डा. बेनीप्रसाद जैसे इतिहासकारों ने जेम्स टाड की इस कल्पित कहानी को जैसा का तैसा स्वीकार कर लिया है।[2] उनको उत्तर देते हुए डा. गोपीनाथ शर्मा ने याद दिलायी है कि 'मेवाड़ के महाराणा उन दिनों उदयपुर में नहीं, चांवड में रहा करते थे, अतएव सारा विवरण मात्र मस्तिष्क में से उपजा लगता है।'[3]

अमरसिंह को जहांगीर के आक्रमण की अपेक्षा थी, इसलिए पूरी तैयारी पहले से की गयी थी। शाही सेना का सामना करने में उसने बड़ी दृढता, दक्षता और सूझबूझ दिखायी। "पहले तो अपने देश को उजाड़ कर दिया कि जिससे कि शाही लश्कर को कोई रसद खाने-पीने की नहीं मिले। जब शाहजादे परवेज की फौज के कई हिस्से होकर अजमेर से मेवाड़ की तरफ रवाना हुए, तो महाराणा के बहादुर राजपूतों ने भी देसूरी, बदनौर, मांडल, मांडलगढ़, चित्तौड़ की तलहटी की शाही फौज पर हमला करना शुरु किया। इन लड़ाइयो मे मांडल पर अचलदास[4] चूंडावत व बसी के पहाड़ों में जयमल्ल सांगावत वगैरह बहुत से राजपूत दुश्मनो को मारकर मारे गये।..... चित्तौड़ और उदयपुर के बीच की जमीन को तो राजपूत और मुसलमान बहादुरों के बलिदान की भूमि कहना चाहिये, क्योंकि कोई दिन ऐसा नहीं जाता था कि मेवाड़ी राजपूतो ने शाही मुलाजिमों पर हमला न किया हो। गुजरात, मालवा व अजमेर का शाही मुल्क लूट-लूट कर मेवाड़ी राजपूत अपना और अपने मालिक का खर्च चलाते थे। ...कभी मेवाड़ी बहादुर बादशाही बहादुरों को मारकर हटा देते थे। शाहजादा परवेज चारो तरफ की शाही फौज को मिलाकर ऊंटाला और देवारी (देवड़ाबारी) के बीच आया। महाराणा अमरसिंह ने भी अपने कुल राजपूतो को इकट्ठा करके शाही फौज पर हमला करने का विचार किया। पानड़वा के भील सरदार पूंजा राणा के बेटे को हजारों भीलो का अफसर बनाकर पहाड़ो मे अपनी फौज का मददगार और

1. जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 280
2 बेनी प्रसाद, पृष्ठ 209
3 गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, पृष्ठ 113
4 अचलदास के संबध मे मेवाड मे प्राचीन परम्परा भिन्न प्रकार की है। "खुमान-पद अनम्र महाराणा के सामन्त शक्तावत अचलदास के कार्यो को सुनकर शेषनाग, गणेश और महेश भी विस्मय मे पड गये। स्वामी की आज्ञा के बिना कोई भी सामन्त युद्धार्थ आगे नही बढता था। अत अपने घर (मेवाड) की बरबादी देखकर उस ध्रुव तुल्य वीर अचलदास ने शरीर त्यागना निश्चय किया और उसने अपना मस्तक काटकर शिव के अर्पित कर दिया (कमल पूजा की)। महाराणा अमर ने यह बात सुनकर अपना मस्तक धुना, साथ ही यह बात देश-विदेश मे फैल गयी। बादशाह जहांगीर ने जब यह सुना तो वह कहने लगा कि जिन वीरो मे इस प्रकार स्वामि-धर्म है उनका भू-भाग नष्ट नहीं हो सकता।"—'राणा रासौ', पद 624-625

शाही फौज की रसद लूटने पर नियत किया। रात के वक्त शाही फौज पर महाराणा अमर सिंह ने हमला किया, और बादशाही फौज का बहुत नुकसान हुआ, शाहजादा परवेज भाग कर मांडल की तरफ चला गया।"[1]

कई इतिहासकार राजपूत पक्ष की ओर से किये गये जीत के इस दावे को स्वीकार नहीं करते। उनको संतुष्ट करने के लिए स्वयं जहांगीर की यह उक्ति पर्याप्त होनी चाहिये, 'परवेज की चढ़ाई विशेष सफल नहीं हुई, और अवसर समझकर उसे राणा को छूट देनी पड़ी।'[2] जेम्स टाड कहते हैं, 'इस युद्ध के बाद एक संधि हुई।'[3] वास्तव में बात यह है कि यद्यपि दोनों पक्षों ने अलग-अलग अनेक लड़ाइयां जीतीं, निर्णायक युद्ध कोई हुआ ही नहीं।[4] इसका कारण यह नहीं था कि कोई पक्ष इसके लिए उत्सुक तथा तत्पर नहीं था, इसका कारण 'जहांगीरनामा' ध्यान से देखने से कुछ दूसरा ही सामने आता है। उन दिनों जहांगीर के पुत्र खुसरो ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था, और सम्राट के सामने सबसे महत्व का काम उससे निपटना हो गया था। मेवाड़ के मामले को जहां का तहां स्थगित करना अनिवार्य हो गया।

"जब खुसरो का उपद्रव ईश्वर की इच्छा पर था और अफगानिस्तान तथा आगरा के बीच कोई कार्यकारी प्रांताध्यक्ष नहीं था, जो उपद्रव तथा राजद्रोह का स्रोत है, और इस आशंका से कि खुसरो के कार्य में अधिक समय लगे, हमने अपने पुत्र परवेज को यह आज्ञा भेजी थी कि राणा पर कुछ सरदारों को नियतकर वह आसफखान के साथ उन लोगों को लेकर, जो उसकी सेवा में हैं, आगरे आवे। साथ ही यह उस प्रान्त की रक्षा तथा प्रबन्ध को अपना विशिष्ट कर्तव्य समझे। परन्तु ईश्वर की कृपा से परवेज के वहां पहुंचने के पहले खुसरो का कार्य समाप्त हो गया था।[5]

"हमारे पास उपस्थित होने की विशेष इच्छा के कारण परवेज ने लंबी दूरियों को वर्षा ऋतु तथा बराबर पानी गिरने में थोड़े समय में पारकर 29वीं तिथि बृहस्पतिवार को जब दो प्रहर तीन घड़ी दिन बीत गया था, वह हमारे पास उपस्थित हुआ। हमने बड़ी कृपा तथा स्नेह से उसे दया के आलिंगन मे लिया और उसका सिर चूमा।

"जब खुसरो ने अयोग्य कार्य किया तब हमने निश्चय किया कि जब तक उसे पकड़ नहीं लेंगे तब तक कहीं नहीं रुकेंगे। ऐसी आशंका थी कि कहीं वह हिन्दुस्तान की ओर लौटे, इसलिए आगरे को खाली छोड़ देना उचित नहीं था, जो साम्राज्य का केन्द्र, हरमवालियों का निवास-स्थान और संसार के कोषों का आगार था। इन कारणों से हमने परवेज को आगरा छोड़ने के समय लिखा था कि उसकी राजभक्ति के कारण

1. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 222, 223
2 'जहांगीरनामा', पृष्ठ 165
3 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 281
4. बेनी प्रसाद, पृष्ठ 210
5 'जहांगीरनामा', पृष्ठ 145

खुसरो भागा है और सौभाग्य ने उसकी ओर मुख फेरा है। (यह परोक्ष में परवेज को खुसरो की जगह युवराज बनाने का आश्वासन था।) हम खुसरो का पीछा करने जा रहे है। इसलिए राणा का कार्य किसी प्रकार अवसर के अनुसार तथा साम्राज्य के हित में निपटाकर वह शीघ्रता से आगरा चला आये। हमने उसकी रक्षा में राजधानी तथा वह कोष सौंपा, जो कारून के कोष के बराबर था, और उसे ईश्वर की कृपा पर छोड़ा था।

"परवेज के पास इस पत्र के पहुंचने के पहले राणा इतना दब गया था कि उसने आसफखान के पास यह संदेश भेजा कि वह अपने ही कार्यो से लज्जित है और उसे आशा है कि वह उसकी ओर से शाहजादे से प्रार्थना करेगा कि वह हमारे छोटे पुत्र बाघा की उपस्थित से संतुष्ट हो जाये। परवेज ने पहले इसे स्वीकार नहीं किया था, और कहलाया था कि राणा स्वयं आये या अपने बड़े पुत्र कर्ण को भेजे। इसी बीच खुसरो के उपद्रव का समाचार आ पहुंचा और इस कारण आसफखान तथा अन्य राजभक्तो ने बाघा का आना स्वीकार कर लिया, जो मांडलगढ़ मे शाहजादे की सेवा में उपस्थित हुआ।

"राजा जगन्नाथ तथा सेना के बहुत से सरदारों को वही छोड़कर परवेज आसफखान, पार्श्ववर्तियों तथा निजी सेवको के साथ आगरे को चला और बाघा को अपने साथ लिवाता आया। जब वह आगरे के पास पहुंचा तब उसे खुसरो पर विजय प्राप्ति तथा उसके पकड़े जाने का समाचार मिला और उसके दो दिन आराम करने पर उसे आज्ञा मिली कि अब सर्वत्र शांति हो गयी है इसलिए हमारे पास आये, जिसमें निश्चित तिथि को हमारी सेवा में उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त हो। हमने उसे आपता वजीर दिया, जो बादशाही का एक चिह्न है, और दस हजारी मंसब प्रदान किया। साथ ही कार्याधिकारियो को आदेश दिया कि उसके लिए वेतन-जागीर नियत करदें।[1]

"हमने परवेज को पच्चीस सहस्र पये मूल्य का एक लाल दिया।"[2]

"उसी महीने की 26वीं तिथि सोमवार को परवेज तथा शाहजादा मुराद की पुत्री के निकाह का जलसा हुआ। मरियम उज्जमानी के गृह पर निकाह हुआ था। जलसे का प्रबन्ध परवेज के गृह पर हुआ और सभी उपस्थित लोगों को अनेक प्रकार के पद आदि से सम्मानित किया गया। शरीफ आमिली तथा अन्य सरदारों को नौ सहस्र रुपये दिये गये कि फकीरो और गरीबों को वितरित करदें।

"मंगलवार 13वीं को परवेज का तुलादान हुआ, जिसमें वह बारह बार

1. 'जहागीरनामा', पृष्ठ 148
2. वही, पृष्ठ 153

अनेक धातुओं तथा वस्तुओं से तोला गया। प्रत्येक तौल दो मन अठारह सेर की हुई। हमने सब फकीरों को बांटने का आदेश दे दिया।[1]

"हमने परवेज को पचास सहस्त्र रुपये दिये।[2]"

जहांगीर के दिये इस वर्णन में कोई अविश्वसनीयता अथवा अस्वाभाविकता नहीं लगती, सिवा इसके कि भरे युद्ध मे अमरसिंह और आसफखान के बीच संधि की चर्चा होने लगी थी, युद्ध जैसे-तैसे समाप्त करने का शाही संदेश बाद में आया। असल मे यह सत्य नहीं है, जैसे कि परवेज को मेवाड़ भेजने की बात लिखने के साथ-साथ उसका यह लिखना, 'जब परवेज उस सीमा पर पहुंचा उसी समय राणा ने अपने बड़े पुत्र को कई प्रसिद्ध हाथी तथा अच्छे रत्नो के साथ उसके पास मार्ग ही में भेज दिया। इसके साथ ही एक नम्रतापूर्ण प्रार्थनापत्र हमारे पास भेजकर स्वयं न उपस्थित होने के संबंध में निवेदन किया कि सर्वदा अकबर के समय भी अपने बड़े पुत्र को दरबार भेजता आया हूं और स्वयं जंगल के एक कोने में कालयापन करता रहा हूं। इसी पुरानी प्रथा के अनुसार अपने बड़े पुत्र को सेवा में भेज दिया है। वह पुत्र आकर छः महीने तक हमारी सेवा मे रहा और उसके अनंतर उसे तीन हजारी मनसब प्रदान कर सम्मानित किया तथा उसे उसके पिता के पास भेज दिया।'[3] जहांगीर का यह कथन इसके बाद के उपरोक्त कथन से, तथा बाद की घटनाओ से, स्वयं निरस्त हो जाता है। मेवाड़ के महाराणा का बड़ा बेटा जब उसके दरबार में आया तब उसने क्या कहा, और क्या किया, यह शीघ्र सामने आने वाला है।

लगता ऐसा है कि शाहजादा परवेज को जब तत्काल जैसे बने वैसे मेवाड़ का मामला निपटाकर आगरा आने के आदेश मिले, आसफखान ने, अवश्य ही परवेज की जानकारी मे और उसकी स्वीकृति प्राप्त करके, अमरसिंह के पास संधि का प्रस्ताव भेजा। मेवाड़ से संधि के प्रयत्न मे पहल हमेशा मुगल सम्राट की ओर से हुई थी, अकबर ने चार बार अपने राजदूत भेजे थे। कूटनीति की मांग थी कि ऐसी पहल का सत्कार किया जाये और प्रस्तुत प्रस्तावो पर विचार किया जाये। अमरसिंह ने भी यही किया, और जब लगा कि किसी भी पुत्र को शाही दरबार में भेजने से काम निकल जायेगा तब बाघसिंह को भेजने की बात मानली। दोनो पक्षों के बीच उदयपुर से 100 मील उत्तर-पूर्व मांडलगढ़ में वार्ता हुई। अमरसिंह की ओर से कुंवर बाघ इस अवसर पर उपस्थित था। यह शाही पक्ष के विपरीत पड़ता है कि अपने लिए कठिन समय में काम निकालने को उसने जिस शर्त पर संधि करली, उस शर्त को काम निकलते ही ठुकरा दिया। अमरसिंह बाघसिंह को यह मानने पर नहीं भेज सकता था कि शाही सेनाएं थोड़े समय के लिए ही मेवाड़ छोड़ रही है। यदि उनके लड़ने के लिए लौटने की बात बतादी

---

1 'जहांगीरनामा', पृष्ठ 156
2. वहीं, पृष्ठ 184
3 वहीं, पृष्ठ 49

जाती तो साधारण समझ का व्यक्ति भी स्वीकार कर लेगा कि महाराणा के किसी पुत्र को शाही सेना के साथ भेजने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। आसफखान ने अमरसिंह को धोखा दिया, धोखे में ले जाये गये पुत्र को शाहंशाह के सामने करके अपने और परवेज के लिए झूंठी वाहवाही लूटी। जहांगीर ने आदेश भेजे थे कि 'साम्राज्य के हित में, जो उचित हो किया जाये,' इसमें अनौचित्य को भी शामिल कर लिया गया। असल मे ऊपर दिये गये उद्धरण का संबंधित अंश उलटकर पढ़ा जाना चाहिये, 'परवेज के पास इस पत्र के पहुंचने के बाद, मुगल पक्ष इतना दब गया था कि आसफखान ने अमरसिंह के पास सदेश भेजा।'

जहांगीर ने स्वयं जो लिखा है उसका असम्मान करने की बात नहीं है, परन्तु उस समय स्थिति ऐसी थी कि उसके पास तथ्य एक ही रूप में नहीं पहुंच रहे थे, 'शाही मुलाजिमो ने जुदी जुदी चिट्ठियां बादशाह को लिखी, जिनमे एक दूसरे का कसूर जाहिर करता था।' यह भी अंदाज गलत है कि 'जहांगीर ने परवेज से बहुत नाराज होकर उसको वली अहदी के हक्क से खारिज कर दिया'। परवेज का मेवाड़ से लौटने पर कितना स्वागत-सत्कार जहांगीर द्वारा किया गया, यह ऊपर बताया जा चुका है। यह दोनो तथ्य 'वीर विनोद' तथा डा. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने 'ईस्ट इंडिया कंपनी के मुलाजिम' लेफ्टिनेन्ट कर्नल अलिग्जेंडर डो के हवाले से दिये हैं।[1]

जहांगीर ने परवेज को कुछ समय के लिए बुलाया था, मेवाड़ अभियान स्थगित नहीं किया था। राजा जगन्नाथ कछवाहा के सेनापतित्व में शाही सेना वहां नियत करके परवेज और आसफखान लौटे थे। इस सेना की आवश्यकताए पूरी की जाती रहीं, बादशाह ने मुइज्जुलमुल्क को सेना का नया बख्शी बनाकर भेजा। परन्तु यह सेना कुछ कर नहीं सकी। बाद में जब नागौर के पास राय रायसिंह तथा उसके पुत्र दिलीप ने विद्रोह कर दिया, इस सेना को मेवाड़ से हटाकर उधर भेज दिया गया और एक बार फिर मेवाड़ पर से शाही दबदबा ढीला पड़ गया।

परन्तु जहांगीर मेवाड़ को सांस भी नहीं लेने देना चाहता था। फिर भी वह दो वर्ष कुछ कर नहीं सका। यह समय उसे लगाना पड़ा अपने नये शासन को जमाने में और अनेकानेक विद्रोहो और उपद्रवो को दबाने में।

## फिर सेना भेजी गयी

जहांगीर 22 मार्च 1608 को काबुल से आगरा लौट आया। लौटते ही उसने फिर मेवाड़ सेना भेजने का निश्चय किया। इस अभियान के लिए जहांगीर कितना सचेष्ट, सावधान और दृढ़ निश्चयी था, यह इसी से प्रकट है कि इस बार सेना का नेतृत्व महाबतखान को सौंपा गया। महाबतखान ने अपना आरम्भिक जीवन सलीम की

1. (क) 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 224
(ख) ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 793

सेवा में अहदी की तरह आरम्भ किया था । अपने उज्ज्वल चरित्र, उदार स्वभाव, स्पष्ट एव निर्मम वचन, तथा अपने आत्म-सम्मान के लिए वह प्रसिद्ध था । जो उसे उचित लगे बिना सकोच कहने की पूरी स्वाधीनता जहांगीर ने उसे दे रखी थी, वह उसका अत्यन्त विश्वासपात्र बन गया था । सैनिक अभियान के समय साहस, सूझबूझ, संगठन शक्ति, परिणामशाली सक्रियता, लक्ष्य के प्रति दृढ़ता तथा सैनिको का आदर प्राप्त करने की आसाधारण क्षमता के लिए वह मुगल सेनापतियो में प्रसिद्ध हो गया था, राजपूत सैनिक बड़े मन से उसके अधीन काम करते थे। शासन सम्हालते ही जहांगीर ने उसे 1500 का मनसब और महावतखान का पद दिया था— उसका असली नाम जमानवेग था । मेवाड़ के लिए उसे नियत करते ही उसका मनसव दूना कर दिया गया ।

जहांगीर ने लिखा है, "हमने राणा को विजय करने का निश्चय कर लिया था, इसलिए महावतखान को उस काम पर भेजने का ध्यान हुआ । हमने बारह सहस्त्र सुसज्जित सवार योग्य अफसरो की अधीनता में उसके साथ नियुक्त किये तथा पांच सौ अहदी तथा दो सहस्त्र पैदल बंदूकची दिये । तोपखाने मे सत्तर अस्सी तोपें हाथियों तथा ऊटो पर सजी थी और इसके साथ साठ हाथी गये । इस सेना के साथ बीस लाख रुपयो का कोष भी भेजा गया ।"[1]

"24वीं को हमने महावतखान को अमीरो तथा आदमियों के साथ, जो राणा का दमन करने के लिए नियत हुए थे, जाने की छुट्टी दी। उक्त खान को हमने खिलअत, घोड़ा, एक खास हाथी और एक जड़ाऊ तलवार देकर सम्मानित किया । जफरखान को एक झडा देकर सम्मानित किया और खिलअत तथा खास हाथी पुरस्कार मे दिया । राजा वीरसिह को खिलअत तथा खास घोड़ा और मंगलीखान को एक घोड़ा तथा जड़ाऊ खजर दिया । नारायणदास कछवाहा, अली कुली दरमन तथा हिजब्रखान तहम्तन को छुट्टी दी गयी । बहादुरखान तथा मुइज्जुलमुल्क बख्शी को जड़ाऊ खजर दिये गये और इसी प्रकार सभी अमीर तथा सरदारों को उनके पदानुसार बादशाही भेंटें दी गयीं ।"[2]

पूरी तरह सजी सुयोग्य सेना और यशस्वी सेनानियों की सहायता से सन्तुष्ट होकर, 'महावतखान बड़े गरुर के साथ शहजादे परवेज की फौज की खराबी का बदला लेना चाहता था । आगरा से वह अजमेर पहुँचा, और वहां से मेवाड़ के भीतरी भाग में स्थित ऊंटाला तक पहुच गया। रास्ते में जहां-जहां राजपूत चौकियां थीं, उसके वेग के आगे टिक नहीं सकीं, सब जगह मुगल सैनिकों का कब्जा हो गया । ऊंटाला में ठहरकर महावतखान अपनी सेना को मुख्य आक्रमण के लिए संगठित करना चाहता था । उसका विचार मेवाड़ के पहाड़ी भाग में घुसकर अमरसिंह का पीछा

1 'जहागीरनामा', पृष्ठ 216
2 वही, पृष्ठ 217

करने का था। अमरसिंह ने उससे ज्यादा फुर्ती दिखायी। वह अपनी सेना के साथ उदयपुर आ गया, और वहां से शाही सेना पर हमला कर दिया। इस कार्रवाई का मेवाड़ की सेना को मूल्य चुकाना पड़ा। ऊंटाला खमनौर से दूर नहीं है। लगभग वही गलती अमरसिंह से हो गयी जो प्रताप ने हल्दीघाटी से निकलकर की थी। मुगल सेना ने मजबूती से सामना ही नहीं किया, मेवाड़ की सेना के पैर उखाड़ दिये। मृत्यु और विनाश का तांडव मचाकर शाही सेना ने अपने झंडे दुगुने ऊंचे कर लिये। 'अनेक राजपूत सैनिकों को अपना बलिदान देना पड़ा, और बहुत से शत्रु के हाथ लगे। यह सेना गिरवा तक पहुंच गयी, और इसके आगे टिकना कठिन जान अमरसिंह को अपनी सेना के साथ पहाड़ों में हट जाना पड़ा।'

परन्तु यह क्षणिक स्थिति थी, मेवाड़ की सेना अभी भी आक्रामक स्थिति मे थी। लुकछिप कर हमले करने अमरसिंह ने आरम्भ कर दिये। पर्वतीय परिस्थिति के अपने ज्ञान का उसने इस समय पूरा उपयोग किया, मुगल सेना पर कभी इधर कभी उधर से मार पड़ने लगी। वह अमरसिंह की सूझबूझ के आगे चकरा गयी। एक रात रावत मेघसिंह चूंडावत ने 'अपनी होशियारी से एक हिकमत सोचकर' अपने दस-बीस राजपूत सैनिकों को खरबूजे बेचने वालों के वेष मे भैंसो के साथ शाही सेना के शिविर मे भेज दिया। भैंसो पर खरबूजो की जगह आतिशबाजी का सामान भरा था। एक तरफ से लोग बढते-बढ़ते महावतखान के खेमे तक पहुंच गये, और बाकी तीन तरफ गाय बैलो के झुंड शिविर मे दाखिल किये गये-- उनके सींगों पर तेल मे डूबे कपड़े लिपटे थे। इनमें और आतिशबाजी में साथ-साथ आग लगा दी गयी। चारो तरफ अचानक इतनी रोशनी हो जाने से मुगल शिविर में घबड़ाहट फैल गयी,कोई समझ ही नही सका कि कितनी सेना ने किधर से हमला किया है, चारो तरफ भगदड़ मच गयी। इस स्थिति का लाभ उठाकर मेघसिंह पांच सौ सैनिको के साथ शाही सेना पर टूट पड़ा, 'जिससे नव्वाब महावतखान को भी भागना पड़ा'। यह सूचना मिलते ही मेवाड़ के कई सरदारो ने शाही फौज का पीछा किया। "कहते है कि उसी रात मे जितने थाने महावतखान ने बिठाये थे, सब भाग गये। इस लड़ाई मे हजारहों आदमी शाही फौज के मारे गये और माल असबाब मेवाड़ के राजपूतो ने लूटा।"[1] "मेवाड़ में जगह-जगह जो सफलता महावतखान ने प्राप्त की थी वह सब एक रात की आतिशबाजी मे स्वाहा हो गयी। सैनिक अभियान इस तरह पूर्ण पराजय मे तो नहीं परन्तु मुगलो की अव्यवस्थित भगदड़ मे समाप्त हो गया, जो अपने शत्रुओ की गुरिल्ला चतुराइयों का सामना नही कर सके।"[2] "मुगलो को सफलता अनेक जगह मिली जहां उनका सामना स्थानीय लडाइयो में हुआ, परन्तु वे मेवाड़ के जंगलो से भरे पहाड़ों और घाटियो मे अपना दबदबा नही जमा सके।"[3]

---

1 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 225
2. गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, पृष्ठ 114
3 बेनी प्रसाद पृष्ठ 212

इन परिस्थितियों और सम्मतियों का समर्थन स्वयं जहांगीर करता है। उसने परवेज और आसफखान को वापस बुलाने का विश्वसनीय कारण दिया था, परन्तु वह इस बार विना कोई कारण बताये लिखता है, "हमने महाबतखान को दरबार बुलाया, जो विद्रोही राणा के विरुद्ध भेजी गयी सेना का अध्यक्ष नियत था, कि यहां का कुछ कार्य करे और उसके स्थान पर अब्दुल्लाखान को फिरोज जंग की पदवी देकर नियत किया।"[1] 'इतने ही लिखने से ऊपर लिखी हुई लड़ाई की सच्चाई मालूम हो सकती है।' लौटने पर न महाबतखान का और न उसके साथ भेजे गये किसी सरदार का सम्मान किया गया जिनका नाम गिना-गिना कर जहांगीर ने इस सेना को भेजते समय सम्मान किया था। इस सारे युद्ध में केवल एक सेनानी पर शाही कृपा की जाने का जहांगीर ने उल्लेख किया है, जिसे आरम्भ में सूची में सम्मिलित करने योग्य नहीं समझा गया था, 'किशनसिंह ने, जो महाबतखान के साथ गया था, अच्छी सेवाएं की थीं और राणा के युद्ध में भाले से उसके पैर में चोट लगी थी तथा जिसमें शत्रु के बीस सरदार मारे गये और तीन सहस्त्र मनुष्य पकड़े गये थे। इसलिए उसे दो हजारी 1,000 सवार का मनसब दिया।'[2] किशनसिंह राठौड़ जोधपुर के राजा उदयसिंह का दूसरा पुत्र था। यही किशनगढ़ राज्य के राजाओं का मूल पुरुष हुआ।

शाही सेना के सेनापतित्व में यह महत्वपूर्ण परिवर्तन जून 1609 में हुआ। सैनिक की तरह वीरता, सेनानी की तरह साहस और स्वयं निर्दयी स्वभाव के लिए ख्वाजा अब्दुल्लाखान अकबर के समय से प्रसिद्ध था। अहदी से उठकर वह मनसबदार बना था। 'जहां भी वह लड़ा उसने नाम कमाया।' वह सलीम की सेना में था, पिता-पुत्र में अनबनी के दिनों में वह अप्रसन्न होकर अकबर के पास चला गया था। फिर भी गद्दी पर बैठने के बाद जहांगीर ने 'उसकी हिम्मत और बहादुरी के कारण' उसका मनसब बनाये रखा, और समय समय पर उसे ऊंचा किया।

उसे सेनापति बनाने के साथ एक घटना जुड़ी हुई है, जो उस समय के मुगल और मेवाड़ पक्ष पर अच्छा प्रकाश डालती है। ऐसा लगता है कि महाराणा अमरसिंह ने, अपने पिता की तरह, युद्ध के साथ-साथ कूटनीति-अभियान भी चला रखा था। उन दिनों मिला लेने के लिए आसपास बचा ही कौन था, मेवाड़ अकेला और निराला था जो शाही सत्ता का सामना कर रहा था। फिर भी जब कभी मुगल शाहंशाह के विरुद्ध सुरसुराहट उठती थी, अमरसिंह उसका उपयोग करने का प्रयत्न करता था। यह उसकी प्रतिष्ठा, और उसके कुल की परम्परा के अनुरूप है कि मालवा में 1607 के अन्तिम दिनों में, मिर्जा शाहरुख के बेटे बदीअज्जमान ने जब विद्रोह का झंडा उठाया, उसका प्रयत्न मेवाड़ पहुंचने का था। इस उत्पात को कुचल दिया गया, ज्यादातर

1. 'जहांगीरनामा', पृष्ठ 225
2. वही, पृष्ठ 222

लोगों की वोटी-वोटी उड़ा दी गयी। वदीअउज्जमान वंदी वना लिया गया। शाही सेना को यह सफलता दिलाने का श्रेय अब्दुल्लाखान को ही था।

जहांगीर ने, इस तरह, एक वार फिर मेवाड़ के लिए अपनी ओर से वड़ा उपयुक्त सेनापति चुना और उसे नयी पदवी से सम्मानित करके वहां पड़ी मुगल सेना का नेतृत्व सम्भालने भेजा। इस वात का उसने प्रवन्ध किया कि नये सेनापति को अनुशासन जमाने में कठिनाई नहीं हो, 'हमने अब्दुर्रज्जाक वख्शी को सेना के कुल मनसवदारों के पास इस आज्ञा के साथ भेजा कि उक्त खान की आज्ञाओं के विरुद्ध कोई कार्य न करे, और उसके धन्यवाद तथा दोष देने पर ध्यान दे।'[1] 370 अहदी सवार अब्दुल्लाखान के साथ नियत किये गये कि 'राणा के विरुद्ध भेजी गयी सेना की सहायता करें। वहां नियत मनसवदारो और अहदियों में से जिन्हे अब्दुल्लाखान देना चाहे उनके लिए एक सौ घोड़े भी सरकारी घुड़साल से भेजे गये।'

लगता है कि अब्दुल्ला के अभियान को आरम्भ ही में अपशकुन का सामना करना पड़ा। महावतखान के मेवाड़ से हट जाने पर शाही थाने भी करीव-करीव सवके सव उठ गये थे। केवल चित्तौड़ पर शाही फौज समेत महाराज सगर व मांडल के थाने पर राजा जगन्नाथ कछवाहा भारमललोत ठहरा रहा। सगर अपना प्रभाव पूरे प्रयत्न के वाद भी वढ़ा नहीं पाया। उधर राजा जगन्नाथ का देहावसान हो गया (1609)। मांडल ही में उसकी याद में वत्तीस खम्भों की छतरी वनवायी गयी।

मेवाड़ में प्रचलित यह है कि जव शक्तावत अचलदास ने आत्मवलिदान कर दिया और उसके पुत्र 'अनन्त्रवीर नरहरिदास ने जव यह सुना तो वह दुःखी हुआ। उसने महाराणा अमरसिंह के दर्शन करके और चरण स्पर्श करके मांडल की ओर प्रस्थान किया, जहां वादशाह की ओर से जगन्नाथ कछवाहा नियुक्त था।' 'राणा रासौ' में नरहरिदास और जगन्नाथ के वीच हुए युद्ध का विस्तृत विवरण है जो उस समय होने वाले छुट-पुट हमलो के (तथा चारण लेखन शैली के) उदाहरण स्वरूप यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

"नरहरिदास अपने साथियो को लेकर जगन्नाथ की ओर वढ़ा। उस वीर ने कवच, शिरस्त्राण आदि साज नहीं सजे। वह केवल केसरिया वाना पहने हुए था। मध्याह्न के सूर्य के समान नरहरिदास क्रोध से प्रज्वलित होकर जगन्नाथ पर झपटा। रोष की आग से प्रज्वलित कराल एवं कठोर वह रावत नरहरिदास शस्त्र उठाकर सवेग वढ़ा और लड़ने लगा। दूसरी ओर से शंभु सदृश एवं क्रुद्ध कछवाहा वीर के वढ़ने पर संसार में कोलाहल मच गया। शस्त्र द्वारा परस्पर एक दूसरे को नष्ट करने लगे। भालों के निरन्तर प्रहार से वक्षस्थल पर धमाके से होने लगे। गज-घटाएं घम-घमाने लगीं। योद्धागण तमतमाकर समान रूप से तलवारें मिलाने लगे। जोरों से रक्त प्रवाहित होने लगा। जिस प्रकार विजली कड़ककर गर्जना के साथ

1. जहांगी

कांसे के बरतन पर गिरती है उसी प्रकार सूर्य सदृश नरहरिदास शत्रुओं पर आपत्तियां छाने लगा और उन्हे भस्मसात् करने लगा। पृथ्वी के नाशकर्ताओ को वह मूछों वाला वीर उछालकर पछाड़ने लगा। सोत्साह पूछधारी अश्वों को वह उठा उठाकर पछाड़ देता था। इसी प्रकार आक्रमण करता और झपटता हुआ गुत्थमगुत्था होकर वह शत्रुओ के मुख पर कराघात करने लगा। स्थिर होकर वह शत्रुओं को पकड़कर ऊपर की ओर घुमाते एवं थापड़ मारते नीचे गिराने लगा। दौड़कर तुंडो मुंडों को वह काट देता था एवं प्रचंड वाहु उठाकर सबो के सन्मुख विपक्षी को भेद देता था। प्रत्यक्ष मे उस रणक्षेत्र से कोई नहीं हटता था। यह युद्ध हिन्दुओ मे हो रहा था। एक ओर से रावत नरहरिदास और दूसरी ओर से राजा जगन्नाथ कछवाहा लड़ रहे थे। एक ओर से सामान्त गज सदृश जगन्नाथ कछवाहा क्रुद्ध हो गया और दूसरी ओर से अचलदास का पुत्र नरहरिदास बढ़ा। शिव के उन्मीलित तृतीय नेत्र के समान तलवारें परस्पर टकराने लगीं। वे जहां-तहां आग वरसाती थीं और उस ज्वाला में शत्रु झुलस रहे थे। योद्धाओ के गुत्थमगुत्था होने पर शव रक्त रंजित हो जाते थे। साथ ही असंख्य मस्तक कट पड़ते थे। उच्छ्वसित घायल वीर कुहनी के वल चलकर शस्त्राघात से भयानक एव वलशाली वीरो के शरीर काट देते थे। भूत उवलते हुए रक्त से अपना रक्तपात्र भरकर पी रहे थे। यह देखकर संसार के भयभीत प्राणी भागने लगे, भयावनी काली भी किलकती एवं डरती हुई ताली वजाना भूल गयी। अडिग ध्रुव भी डर गया। युद्ध में तलवारों, भालो और समान रूप से चापसंधानित वाणों की वर्षा हो रही थी जिसकी आड मे सूर्य छिप जाता था। काकुत्स्थ वंशी कछवाहा वीर दांत पीसकर वलिष्ठ हाथ पैरो से विपक्षियो को ऊपरा-ऊपरी डालता हुआ चारो ओर शत्रुओ को गिराने लगा। क्षत्रिय वीर उच्छृंखल हाथियो के दांत पकड़कर उनसे भिड़ने लगे। उनके द्वारा प्रमत्त हाथियो के कुंभस्थल एवं भुसुंड कट गये, मुंड फट गये और शरीर के खड-खड हो गये। घोड़ो के कन्धो की सधियां कट गयीं, वे एक दूसरे के ऊपर तले पड़ गये। धमाके के साथ प्रहारित शस्त्रो के घावो से छके हुए सधीर योद्धा अधीर होकर एव मस्तक धुनकर नष्ट हो गये। इस प्रकार युद्धरत वह वीर नरहरिदास, शिव के लिए मस्तक, पृथ्वी के लिए धड़, देवी के पात्र के लिए रक्त और नरेश (महाराणा) के लिए प्राण समर्पित करके वैकुठ पहुंच गया। नरहरिदास सव प्रकार से आमिषभुक्ताओं की आशा पूर्ण करके स्वयं पहुँच गया। आकाश से देवता गण उसकी जयजयकार करने लगे और यवन वादशाह का सुभैशी (जगन्नाथ कछवाहा) रणस्थल से लौट गया। वुरी तरह से तलवार की मार खाकर कछवाहा जगन्नाथ रणस्थल से भाग खड़ा हुआ। क्षात्रवीर नरहरिदास कटा पड़ा था। उसे रणक्षेत्र में खोजा गया। उसक प्रत्येक अग पर घाव लगे थे। उस वीर के आसपास गीदड़ चक्कर लगा रहे थे। शरीर पर कौवे चोंच मार रहे थे। भूलकर भी नरहरिदास ने पीछे कदम नहीं दिया था। वह वीर चूर-चूर होकर नष्ट हो गया था। उसके हाथ, पैर और मस्तक कटकर अलग अलग हो गये थे। उसकी आंते आमिषाहारियों

के दांतो द्वारा चवायी गयीं। अन्य मीर भी लौट गये और पीर के समीप पहुंच गये। उनके वस्त्र फटकर चीर-चीर हो गये थे। वे अपनी कांति नहीं रख सके, निस्तेज हो गये। वीर पुरुषों का शूरत्व जाग रहा था। सन्धीर वीर धैर्य से टकटकी लगाकर युद्ध भूमि में डटे रहे। उन्होंने देवांगनाओं को छल लिया। इतने मे रात हो गयी। सूर्य अस्त हो गया। जूझने वाले योद्धा तलवार से तलवार मिलाकर स्वर्ग पहुंच गये। अचलदास के पुत्र नरहरिदास के प्रत्येक अंग पर तलवार का प्रहार हुआ था। साथ ही मस्तक छिन्न हो गया था। फिर भी उसकी क्रोधाग्नि प्रज्वलित ही रही, परिणामतः उसने हाथी घोड़ों को विदीर्ण कर दिया। उसने सांसारिक स्नेह छोड़कर भयकर सेना को अपने पैरों तले दवाया और अमित यश अर्जित किया। तदनन्तर भूसंभूत युद्ध में विजय का श्रेय महाराणा अमर को दिलाता हुआ स्वयं आवेश मे आकर शिव की ज्योति मे लीन हो गया। योग के आठो अगो के साधने पर योगी की जो गति होती है, वही उर्ध्व गति प्राप्त कर उसने अपने शरीर का उद्धार किया।"[1]

हो सकता है कि इस युद्ध में लगे घावो के कारण राजा जगन्नाथ की मृत्यु हुई हो।

जैसी कि आशा थी, अब्दुल्लाखान ने मेवाड़ में पहुंचते ही अपनी धाक जमा दी। विभिन्न थानो पर मेवाड़ी सैनिको का जमा रहना संभव नहीं रहा। किसी पर कोई दया दिखाने का प्रश्न ही नहीं था। पहाड़ो में पहुंचने के अतिरिक्त बचने का उसने कोई चारा नहीं छोड़ा। जहांगीर के पास समाचार भेजा गया, 'विद्रोही राणा का पार्वत्य प्रांत तथा वीहड़ स्थानो में पीछा करते हुए उसके बहुत से हाथी तथा घोड़े पकड़े गये, रात्रि होने पर वह कठिनाई के साथ अपना प्राण बचाकर भाग गया। उसके लिए कोई कार्य करना कठिन हो गया है, इसलिए आशा है कि वह शीघ्र ही मारा या पकड़ा जायेगा।'[2] इस संदेश को शाही दरवार में बहुत खुशी से सुना गया। अब्दुल्लाखान का मनसब बढ़ाकर पांच हजारी कर दिया गया।

उधर, अब्दुल्लाखान ने अपना अभियान जारी रखा। अमरसिंह को अपनी राजधानी चांवड, और बाद में मेरपुर भी, जहां वह जाकर रहने लगा था, खाली करना पड़ा। अमरसिंह का पीछा पहाड़ी-पहाड़ी में किया गया। 'उसे इन दिनों में जो कष्ट हुए, और जिन संकटो का सामना करना पड़ा उन्होंने राणा प्रताप की गौरवगाथाओं की एक बार फिर याद दिलादी।'[3] एक बार तो अमरसिंह अंधेरा हो जाने के कारण ही बच सका। जो समाचार थोड़े दिन बाद उसने शाहंशाह के पास भेजा उसमें, अवश्य ही, अमरसिंह के विरुद्ध प्राप्त इस तरह की सफलताओं का उल्लेख था। इस संदेश में

1. 'राण रासो', पद 626–632
2. 'जहांगीरनामा', पृष्ठ 227
3. बेनी प्रसाद, पृष्ठ 212

नाम से उन 'उत्साही सेवकों' की संस्तुति की गयी थी जिन्होंने राणा के दमन करने में 'अच्छा काम' किया था। गजनीखान जालौरी ने इस 'सेवा' में सबसे अधिक उत्साह दिखाया था, इसलिए उसका मनसब डेढ़ से पांच हजार का कर दिया गया। सगर के बेटे मानसिंह तथा अन्य लोगों का भी उनकी सेवाओं के अनुसार मनसब बढ़ाया गया।

मेवाड़ के भीतर ही नहीं, मेवाड़ के पड़ौस में पड़ने वाले प्रदेशों में भी घात-प्रतिघात हो रहे थे। मालवा, गुजरात, अजमेर और गोड़वाड़ में पड़ने वाले शाही प्रदेश पर मेवाड़ी सैनिक जब मौका लगता हमला कर देते थे, और जितना हो सकता था नुकसान करते थे। सिरोंज नगर पर किये गये भयानक हमले का विवरण कई राजपूतपक्षीय पुस्तकों मे मिलता है।

यह स्थिति देखकर अब्दुल्लाखान ने भी मेवाड़ की सीमा पर पड़ने वाले शाही थानों को अधिक दृढ़ किया। उत्तर-पश्चिम की ओर, मारवाड़ मे, पड़ता था सोजत। महाबतखान जब मोही (हल्दीघाटी के पास) में था, उसे समाचार मिला कि अमरसिंह का परिवार मारवाड़ के राजा सूरसिंह के राज्य मे छिपा हुआ है। इससे क्रुद्ध होकर उसने सोजत का इलाका सूरसिंह से छीनकर राठौड़ करमसेन को दे दिया, और उसे हिदायत दी कि राणा के परिवार का पता लगाकर सूचित करे। करमसिंह का कब्जा सोजत पर हो गया। जब सूरसिंह बादशाह की आज्ञा से दक्षिण मे जा रहा था, उसको यह खबर मिली। उस समय भाटी गोविन्द दास राजा सूरसिंह के पास था। उसने गोविन्द दास को उसका पक्ष प्रस्तुत करने का आदेश देकर भेजा। मोही पहुंचकर उसने महाबतखान से बहुत कुछ कहा-सुना, परन्तु उसने उसकी एक नहीं मानी। जब महाबतखान की जगह अब्दुल्लाखान नियत हुआ, उसने सूरसिंह के पुत्र गजसिंह और भाटी गोविन्द दास को मोही बुलाया। उसके सामने समस्या राणा अमरसिंह जिन रास्तों से बचकर निकल सके उन सबको रोकने की थी। मेवाड़ के उत्तर-पश्चिम में नाडोल इस दृष्टि से महत्वपूर्ण था। कुंभलगढ़ पर विजय प्राप्त करने के पहले शाहबाजखान ने भी यहा की नाकेबन्दी की थी। महाबतखान ने शर्त रखी थी कि यदि गजसिंह और गोविंद दास की ओर से आश्वासन मिले कि वे मारवाड़ छोड़कर मेवाड़ में पड़ने वाले नाडोल में रहने लगेंगे तो उन्हे सोजत का परगना वापस मिल सकता है। राजा सूरजसिह दूर दक्षिण में शाही सेवा मे था, इस शर्त को स्वीकार करना पड़ा। कुंवर गजसिह गोविद दास और 2,400 सवार तथा 200 तोपचियों के साथ नाडोल में रहने लगा, सोजत उसे वापस मिल गया।

मेवाड़ की ओर से निगाह रखी जा रही थी कि कब, किधर से, कौन-सी मुगल सैनिक टुकड़ियां निकलती हैं, और जिस पर हो सकता था हमला बोल दिया जाता था। एक बार खबर मिली कि शाही खजाना और सामान अहमदाबाद से आगरा जा रहा है। उन दिनो अमरसिंह अम्बाव के पहाड़ों में अपने सामन्तों आदि के साथ रह रहा था। इस शाही खजाने को लूटने का निश्चय हुआ, और महाराणा के बड़े पुत्र कर्णसिंह

को यह दायित्व सौंपा गया। मारवाड़ के दूनाड़ा गांव तक शाही सैनिकों का पीछा किया गया, परन्तु खजाना पहले ही अजमेर की तरफ आगे निकल गया था, इसलिए कर्णसिंह को केवल निराशा मिली। उसे इस चूक के लिए सजा मिलते भी देरी नहीं लगी। लौटती वार मालगढ़ और भाद्राजन के पास आसपास के कई मुगल थानों के सैनिकों का उसे सामना करना पड़ा। नाडोल पर नियत सैनिक भी गोविंद दास के नेतृत्व में इस शाही सेना में आ शामिल हुए। मेवाड़ की सेना पर हमला कर दिया गया। दोनों तरफ के वहुत से सैनिक मारे गये। कर्णसिंह को पहाड़ो में हटना पड़ा। इस अभियान में कर्णसिंह के साथ मेवाड़ के कई प्रमुख सरदार थे, जिनमें महाराणा उदयसिंह, प्रताप सिंह और अमरसिंह के पुत्र भी थे—तीन तीन पीढ़ियां एक-एक अभियान में लगती थीं।

इस प्रकार का क्रम चलता रहा, कभी शाही सेना की वन आती थी, कभी मेवाड़ी सेना कमाल कर दिखाती थी, चैन कोई किसी को नहीं लेने देता था। परन्तु परिस्थिति में आधारभूत परिवर्तन नहीं आ रहा था, अमरसिंह को उसके पर्वतीय संरक्षण से अलग करना, और शाही कैद मे लेना, संभव नहीं हो रहा था। यही नहीं, उसके सैनिक वारवार शाही सेना को परेशान कर रहे थे। कई जगह शाही सेना को मात खानी पड़ी थी।

एक दिन कुंभलगढ़ के निकट केलवाड़ा गांव के पास राठौड़ मनमन दास ने अपने सैनिको सहित अचानक हमला करके अनेक शाही सैनिको को मार डाला। यहां से निकट ही राणपुर है। यहां की घाटियो में दोनों तरफ की सेनाओं का सामना हो गया। वडी खूंरव्वार लड़ाई हुई, शाही और मेवाड़ी सैनिक वड़ी संख्या में काम आये। जेम्स टाड का कहना है कि यहां मेवाड़ की सेना की विजय हुई, शाही सेना 'प्रायः समाप्त कर दी गयी'। इस युद्ध में 'मेवाड़ के सबसे श्रेष्ठ और वीर सरदार काम आये' 'जिनके नाम, चाहे जितनी पीड़ा हो, सदा के लिए संरक्षित किये जाने चाहिये।'[1] "असीम उल्लास इस विजय के परिणामस्वरूप प्राप्त हुआ, जिसने मेवाड़ की अपकीर्ति के दिनो में उसे यश के अनायास आये आलोक से अनुप्राणित कर दिया, सारे गोड़वाड़ प्रान्त पर फिर से (मेवाड़ का) केसरिया झंडा फहराने लगा।"[2]

केसरिया की इस फरफराहट से अब्दुल्लाखान के दिल और दिमाग दोनों कांप गये, उसे स्पष्ट हो गया कि मेवाड़ में उसे वांछित सफलता नहीं मिल सकती, अपने सम्मान की रक्षा के लिए उसे किसी और क्षेत्र में चला जाना श्रेयस्कर लगा। उसने स्वयं जहांगीर से निवेदन किया कि उसे कोई दूसरा दायित्व सौंपा जाये।

---

1 जिनके नाम स्वय जेम्स टाड ने अंकित किये हैं वे हैं देवगढ़ का दूदा नागावत, नारायण दास सोनगरा, सूरजमल, आसकरण—सब प्रथम श्रेणी के सीसोदिया सरदार, शक्तावतो मे प्रमुख पूर्णमल, प्रसिद्ध जयमल्ल का पुत्र हरिदास राठोड़, सादड़ी का झाला भूपत, केसरीदास कछवाहा, ववला का चौहान केशवदास और मेड़तिया राठोड़ो का मुखिया मुकुन्द दास। प्राय यही नाम, 'वीर विनोद' और डा. गौरीशकर हीराचन्द ओझा ने भी अपने 'राजपूताना का इतिहास' मे दिये हैं।

2. जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 281

'अब्दुल्लाखान ने, जो विद्रोही राणा के विरुद्ध भेजी गयी सेना की अध्यक्षता पर नियत था, गुजरात की ओर से दक्षिण प्रांत पर आक्रमण करने का वचन दिया, और उसकी प्रार्थना पर राजा बासू को राणा के विरुद्ध सेना की अध्यक्षता देकर उसके मनसब में 500 सवार बढ़ा दिये।.....हमने चार लाख रुपये उस सेना तथा युद्धीय सामान के व्यय के लिए भेजे जो अब्दुल्लाखान की अधीनता में, नासिक के मार्ग से, जो दक्षिण प्रांत के पास है, वहां जाने को थी।'[1] इस प्रकार मेवाड़ खोकर अब्दुल्लाखान ने गुजरात प्राप्त किया ।

मुगल सेना में जिसका स्थान अब्दुल्लाखान के बाद आता था उसकी दशा तो और भी बुरी हुई, 'मुईज्जुलमुल्क, जो राणा की चढ़ाई पर गयी हुई सेना के बख्शी के पद से हटा दिया गया था, बीमार तथा दुःखी हमारी सेवा में उपस्थित हुआ।'[2] इस सेना के साथ लगे हुए कुछ अमीर और सेनानी, जैसे राजा वीरसिंह देव, शुजाअतखान, राजा विक्रमाजीत, चार-पांच हजार सवारों के साथ दूसरे मोर्चे पर भेज दिये गये।[3]

अब्दुल्लाखान को असफलता ही नहीं मिली, उसका सैनिक साज सामान भी इतना क्षीण होगया कि शाहंशाह को विशेष आर्थिक सहायता भेजनी पड़ी। उसके सेनानी और सैनिक पस्त हो गये, उनके लिए मेवाड़ से निकलना अनिवार्य हो गया। अब्दुल्ला खान अपनी सेना के साथ दो साल मेवाड़ में रहा, इतनी अवधि में भी उसके कुछ हाथ नहीं लगा। जुलाई 1611 में वह गुजरात चला गया।

अपनी जगह राजा बासू का नाम देकर अब्दुल्लाखान ने मेवाड़ से अपना हटना आसान कर लिया। राजा बासू जहांगीर के बहुत निकट था। वह तंवर राजपूत था, और पंजाब के पहाड़ी प्रदेश में नूरपुर में उसकी राजधानी थी। मऊ और पठानकोट प्रदेश उसके राज में आते थे। अकबर के समय में उसने बारबार विद्रोह और उपद्रव किया था, और इसलिए उन्हीं दिनों सलीम से उसका सम्पर्क हो गया था। जब वह बादशाह बना, राजा बासू दरबार में उपस्थित हुआ, उसे जहांगीर ने 3,500 का मनसब दिया, और वह उसका विश्वासपात्र हो गया, उसका बारबार सम्मान किया गया ।

राजा बासू मेवाड़ में क्या कर सका, यह स्पष्ट नहीं है। जो लोग यह मानते हैं कि वह 'मेवाड़ में प्रवेश भी नहीं कर सका और सीमा पर पहुंचते ही शाहबाद में उसकी मृत्यु हो गयी,'[4] सही नहीं हो सकते। उसने अवश्य लड़ाई के काम को आगे बढ़ाया होगा, तभी तो जहांगीर ने सफदरखान का मनसब बढ़ाकर उसे राजा बासू की सेना की सहायता के लिए भेजा।

मिर्जा शाहरुख के पुत्र बदीअउज्जमान को भी मेवाड़ की सेना के साथ लगाया गया, और राजा बासू का उत्साह बढ़ाने के लिए उसके साथ उसे भेंट करने के लिए

1 'जहांगीरनामा', पृष्ठ 270
2 वही, पृष्ठ 235
3 वही, पृष्ठ 232
4. मथुरालाल शर्मा, रिसर्च स्मारिका, पृष्ठ 56

जहांगीर ने एक तलवार भी भेजी। मेवाड़ के गैर-सैनिक प्रबन्ध को भी और पक्का किया गया, खुसरो बे उजबेग को वहां की सरकार का फौजदार नियत किया गया। भेजने के पहले उसका मनसब बढ़ाया गया और उसे उपहार दिये गये।

इन्ही दिनों मेवाड़ के लिए एक बहुत महत्वपूर्ण नियुक्ति की गयी – खान आजम। उसका पूरा नाम था खान आजम मिरजा अजीज कोकलताशखान, जो कहीं अजीज कोका और कही खान-इ-आजम के रुप मे मिलता है। इस कारण कुछ इतिहासकारो को भ्रम हो गया है कि वह दो व्यक्ति थे। 'सभी इतिहास और वर्णन आदि इन खानखाना की अमीरी, महत्व, वीरता और योग्यता की प्रशंसा से अलंकृत है।'[1] वह अकबर का समवयस्क, प्रिय साथी और महत्वपूर्ण सामन्त तथा सेनानी था। जहांगीर स्वभावतः उसका बड़ा आदर करता था, यद्यपि अकबर और जहांगीर दोनो के लिए उसने बहुत बार बड़ी समस्याएं खड़ी कर दी थीं। उसकी जिद दोनो शाहंशाह रखते थे। जिन दिनों की यह बात है, उसकी नियुक्ति गुजरात से मालवा हुई ही थी। उसे पता लगा कि जहांगीर स्वय मेवाड़ जाने की योजना बना रहा है। "वृद्ध सेनापति वीरता के कारण आवेश में आ गया। बादशाह की सेवा मे निवेदन-पत्र लिखा कि श्रीमान् को स्मरण होगा कि दरबार में जब कभी राणा पर आक्रमण करने का जिक्र आता था, तब यह सेवक निवेदन किया करता था कि परम आकांक्षा है कि यह आक्रमण हो और यह सेवक अपनी जान निछावर करे। श्रीमान् को भी यह विदित है कि यह वह आक्रमण है जिसमें यदि सेवक मारा भी गया तो मानों ईश्वर के मार्ग मे शहीद हो जायेगा। और विजयी हुआ तो फिर गाजी होने मे क्या संदेह है? इन बातो से जहांगीर भी बहुत प्रसन्न हो गया। सहायता के लिए उसने तोपखाने और खजाने आदि जो कुछ मांगे, दे दिये। इन्होने प्रस्थान किया।"[2]

प्रबन्ध यह हुआ कि खान आजम पहले अपनी नवनियुक्त सूबेदारी मालवा जाये, वहां का प्रबन्ध ठीक करके मेवाड़ पहुचे। मेवाड़ वह शाहजादा खुर्रम के पहले पहुंच अवश्य गया, और हो सकता है कि राजा बासू के दक्षिण रवाना होने के पीछे निश्चय यह हो कि मेवाड़ की शाही सेना का नेतृत्व खान आजम सम्भालेगा, उसे राजा बासू के अधीन नियुक्त करना बेतुका भी होता। परन्तु घटनाएं तेजी से चलीं, इधर राजा बासू की मृत्यु हो गयी, उधर जहांगीर ने स्वय मेवाड़ का काम अपने हाथ में लेने का निश्चय किया।

ऐसा लगता है कि राजा बासू की भी वही गति हुई जो अब्दुल्लाखान की हुई थी, क्योकि 'मआसिरउलउमरा' में लिखा है, 'राजा बासू कुछ दिन मेवाड़ में लड़कर दक्षिण की ओर जाते हुए मर गया।' स्पष्ट है कि उसे भी मेवाड़ में सफलता नहीं मिली, और उसने भी दक्षिण की तरफ नयी नियुक्ति प्राप्त करके अपना सम्मान बचाना चाहा, परन्तु उसकी मार्ग में मेवाड़ से निकलने के पहले ही मृत्यु हो गयी।

---

1, 'अकबरी दरबार', दूसरा भाग, पृष्ठ 82

2. वही, पृष्ठ 129

क्या उसे 'वृजराज स्वामी' ने बुला लिया था ? मेवाड़ में ऐसा प्रसिद्ध रहा है कि राजा वासू का अमरसिंह से सम्पर्क हो गया था, लोग यहां तक कहते हैं कि वह महाराणा से मिल गया था, इसीलिए जहांगीर ने उसे मेवाड़ के सेनापतित्व से हटा दिया।

स्वयं राजा वासू का सम्पर्क राणा अमरसिंह से हुआ हो या नहीं, उसके साथ आये पुरोहित की अवश्य अमरसिंह से भेंट हुई थी। उसके परिवार के पास प्राप्त कागजों से मालूम होता है कि राजा वासू 'बादशाह जहांगीर के भेजने से अपने प्रधान पुरोहित व्यास समेत चित्तौड़ आया। उस समय राजा वासू ने महाराणा अमरसिंह से एक मूर्ति, जो अब नूरपुर के किले में व्रजराज स्वामी के नाम से प्रसिद्ध है, और मीराबाई की पूजी हुई बताते हैं, मांगी। इस पर महाराणा ने उसके प्रधान पुरोहित व्यास को वह मूर्ति एक ग्राम समेत संकल्प करके दे दी। इससे मालूम होता है कि महाराणा अमरसिंह से राजा वासू मिल गया था।'[1] यह कल्पना सही भी हो सकती है। यह भी हो सकता है कि जहांगीर ने राजा वासू को अमरसिंह से शान्ति के साथ मेल कराने का काम सौंपा हो। संभावना इस बात की बहुत है कि राजा वासू ने अमरसिंह को अपनी ओर से नीच-ऊंच समझाया हो, शाही शान और शक्ति का भीतरी अंदाज दिया हो।

'वृजराज स्वामी' मेवाड़ से गये, और उसके बुरे दिन आ गये। इस घटना के बाद मेवाड़ का इतिहास उलट गया। वहां 'वृजराज स्वामी' की पताकाओं की जगह मुगल सम्राट के झंडे फहराने लगे।

## स्वयं जहांगीर अजमेर में

राजा वासू की असफलता से जहांगीर अप्रसन्न ही नहीं हुआ, उसकी समझ में आ गया कि 'महाबतखान, अब्दुल्लाखान तथा अन्य सरदारों की अधीनता में नियत की गयी' शाही सेना की कोशिशों पर भी जब 'उस कार्य के पूर्ण होने का कोई ढंग नहीं बैठा है,' तब "हमने विचार किया कि हमारे बिना वहां गये इस कार्य के पूरा होने की संभावना नहीं है।"[2]

इस निश्चय पर पहुंचने के पहले जहांगीर ने मेवाड़ के महत्व, उसके गौरवशाली इतिहास और अपने पूर्वजों के उसके विरुद्ध किये प्रयत्नों का पूरी तरह विश्लेषण किया। कितना उसने सोचा-विचारा होगा जब कि इतना तो स्वयं उसने लिखा है :

---

1. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 227। मूर्ति के साथ दिये गये गांव के लिए विधिवत ताम्रपत्र दिया गया था, जो अब भी उपलब्ध है। इस पर गांव का नाम 'रेवत्या के पास का खेड़ा' दिया हुआ है, और तिथि है 'विक्रमी 1669 वर्ष सावण कृष्णा 9', अर्थात् 13 जुलाई 1612। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अमरसिंह ने राजा वासू के प्रधान पुरोहित से—परोक्ष रूप से स्वयं वासू से—स्थायी संबंध स्थापित कर लिये थे।
2. 'जहांगीरनामा', पृष्ठ 320

"इसी रात्रि में अजमेर की यात्रा के लिए ज्योतिषियों ने शुभ साइत निकाली थी। इसलिए सोमवार की रात्रि में सात घड़ी बीतने पर दो शावान को, जो 24 शहरियुा (7 सितम्बर 1613) होता है, हम प्रसन्नता तथा सुख के साथ उस ओर जाने के लिए आगरे से निकले।

"इस यात्रा में हमें दो कार्य विशेष रूप से करने थे। प्रथम तो ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती के विशाल मकबरे का दर्शन करना था, जिनकी प्रसिद्ध आत्मा की दुआ से इस प्रभावशाली परिवार को बहुत लाभ पहुंचा था, और जिनकी दरगाह की हमने अपनी राजगद्दी के बाद जियारत नहीं की थी। दूसरा कार्य विद्रोही राणा अमरसिंह को परास्त कर भगाना था, जो हिन्दुस्तान के राजाओ तथा जमींदारो मे सबसे बड़ा था और उस प्रांत के सभी रायो तथा राजाओं ने जिसके और जिसके पूर्वजो के नेतृत्व एवं प्राधान्य को अंगीकार कर लिया था।

"बहुत दिनो से यहां का शासन इसी परिवार के हाथों चला आ रहा था, और बहुत दिनों तक ये इसके पहले पूर्व की ओर राज करते रहे। उस समय में ये लोग राजाओ की पदवी से पुकारे जाते थे। इसके अनन्तर ये दक्षिण की ओर गये और वहां के कुछ प्रान्तो पर अधिकार कर लिया। अब ये राजा के स्थान पर रावल कहे जाने लगे। इसके उपरांत ये मेवाड़ के पार्वत्य देश में चले आये और क्रमशः चित्तौड़गढ पर अधिकार कर लिया। उस समय से आज तक, जो हमारा जलूसी (शासन का) 8 वां वर्ष है, 1471 वर्ष व्यतीत हो गये है।

"इनमें से इस वर्ग के छब्बीस अन्य राजाओ ने 101 वर्ष तक राज्य किया था। इनकी पदवी रावल थी, और पहले रावल से, जिसका नाम भी रावल था, राजा अमरसिंह तक छब्बीस व्यक्तियो ने 461 वर्ष तक राज्य किया। इतने विस्तृत काल में इस वंश ने हिन्दुस्तान के किसी भी नरेश को अधीनता से सिर नहीं झुकाया था और बराबर विद्रोह तथा उपद्रव करते रहे। विगत बादशाह बाबर के राज्य काल में राणा सांगा ने इस प्रांत के सभी राजाओं, तथा भूम्याधिकारियो को एकत्र कर और एक लाख अस्सी सहस्त्र सवार तथा लाखों पदातिको के साथ बयाना के पास युद्ध किया था। सर्वशक्तिमान ईश्वर की कृपा तथा सौभाग्य की सहायता से इस्लाम की विजयी सेना काफिरों को परास्त कर सकी और वे पूर्णतया विजित हो गये। इस युद्ध का विस्तृत विवरण बाबर बादशाह के आत्म चरित मे किया हुआ है। हमारे श्रद्धेय पिता ने इन विद्रोहियों को दमन करने के लिए बहुत प्रयत्न किया और इनके विरुद्ध कई बार सेनाएं भेजीं। अपने बारहवें वर्ष जलूसी में चित्तौड़ दुर्ग पर अधिकार करने के लिए, जो संसार के दृढतम दुर्गो मे से एक है, और राणा के राज्य को समाप्त करने के लिए यात्रा की तथा चार महीने दस दिन के घेरे एवं बहुत युद्ध के अनन्तर उस दुर्ग को राणा अमरसिंह के पिता (यहां दादा होना चाहिये) के सैनिको से ले लिया, और दुर्ग को नष्ट कर लौट आये।

"प्रत्येक बार जब विजयी सेना ने उसके (राणा को) पकड़ने के लिए या भगा देने के लिए प्रयत्न किया तब ऐसा हुआ कि वह कार्य नहीं हो सका। उन (अकबर) के राज्य के अंत में जिस दिन तथा जिस घड़ी वह दक्षिण की चढ़ाई पर गये उन्होंने हमें विशाल सेना तथा विश्वसनीय सरदारो के साथ राणा के विरुद्ध भेजा। संयोग से वे दोनों कार्य कुछ ऐसे कारणों से असफल हो गये जिनका विवरण देने मे बहुत समय लगेगा। अंत में हम गद्दी पर बैठे, और इस कारण कि यह कार्य आधा हुआ था हमने पहली सेना इसी सीमा पर भेजी। अपने पुत्र परवेज को सेनाध्यक्ष बनाकर राजधानी में उपस्थित बड़े सरदारों को इस कार्य पर नियत किया। हमने धन तथा तोपखाना बहुत अधिक भेजा। हर एक कार्य समय सापेक्ष होता है और संयोग से इसी समय खुसरो की दुःखद घटना घटी, जिससे हमे उसका पंजाब तक पीछा करना पड़ा। आगरा का प्रान्त तथा राजधानी सूनी पड़ी थी, इसलिए हमें आवश्यकतावश परवेज को लिखना पड़ा कि वह कुछ अमीरो के साथ लौटकर आगरा तथा उसकें पड़ोस की रक्षा का भार अपने ऊपर ले। सक्षेप में इस बार भी राणा का कार्य जैसा चाहिये था वैसा नहीं हो सका।

"जब ईश्वर की कृपा से खुसरो के उपद्रव से हमारा मन शांत हुआ, और शाही झंडे आगरा में स्थित हुए, तब विजयी सेना महावतखान, अब्दुल्लाखान तथा अन्य सरदारो की अधीनता में नियत की गयी, और उस समय से शाही झडे के अजमेर की ओर प्रस्थान करने के समय तक उसका प्रान्त विजयी सेना द्वारा रौंदा जाता रहा। पर उस कार्य के पूर्ण होने का कोई ढंग नही बैठा, तब हमने विचार किया कि आगरे में हमे कुछ करना नही है, और हमारे विना वहां गये इस कार्य के पूरा होने की संभावना नही है, इसलिए हमने आगरा दुर्ग छोड़ा।"[1]

आगरा छोड़ने के पहले जहांगीर ने कई औपचारिकताए निभायीं। उसने अपनी 45 वीं वर्षगाॅठ मनायी। इस अवसर पर परम्परा के अनुसार जहांगीर की दादी मरियम उज्जमानी के घर पर सम्राट का तुलादान हुआ। उसे सोना, चादी तथा अन्य मूल्यवान वस्तुओ से बारह बार तोला गया, जिनका कुल मूल्य एक लाख रुपये हुआ। सारा सामान फकीरो और गरीबों में बांट दिया गया। वह अपने पिता के मकबरे भी गया, रास्ते मे पांच हजार रुपये वहां दरवेशों को बांटे गये। वहां जहांगीर ने नमाज पढ़ी। वह अपने प्रतिष्ठित सरदार एतमाउद्दौला तथा एतकारखान से उनके घर जाकर मिला। एक तरह से उसने विधिवत आगरे से विदा ली। ज्योतिषियों से ठीक दिन और समय पूछकर सारा कार्यक्रम बनाया गया।

1. 'जहांगीरनामा', पृष्ठ 317। इसके चार दिन बाद जहांगीर को 'समाचार मिला कि राजा बासू, शाहबाद के थाने मे मर गया, जो आमेर की राज्य सीमा पर है।' इसके बाद शाही सेना की कमान्ड खान आजम ने सम्हाली।

दो महीने उसे अजमेर पहुंचने में लगे, वहां वह 4 नवम्बर को पहुँचा। रास्ते में काफी समय उसने शिकार का आनन्द उठाने में लगाया।

"सोमवार 5 शव्वाल, 26 आवान को अजमेर में जाने की साइत निश्चित हुई थी। इसलिए उस दिन सवेरे ही हम उस ओर चले। श्रद्धेय ख्वाजा की इमारत तथा दुर्ग दिखलायी पड़ने पर हम पैदल चलने लगे, वचा मार्ग करीव एक कोस इसी तरह गये। हमने विश्वसनीय मनुष्यों को सड़क के दोनों ओर नियत किया कि वे फकीरों तथा गरीवों को धन देते हुए चले। चार घड़ी दिन चढ़ चुका था जव हम नगर में उसकी वस्ती में पहुंचे और पांच घड़ी पर मकवरे को देखने गये। यहां से हम शुभ महल में गये। दूसरे दिन हमने आज्ञा दी कि पवित्र मकवरे के सभी रहने वाले छोटे-वड़े, नगर-निवासी तथा यात्री लोग, हमारे सामने लाये जाये जिससे वे अवस्थानुसार वहुत सी भेंटें पाकर प्रसन्न होकर जायें।

"7 अजर को हम पुष्कर तालाव को देखने तथा निशाना लगाने गये, जो हिन्दुओं का पुराना तीर्थ स्थान है और जिसके संबंध मे वे ऐसी वातें वतलाते हैं, जो वुद्धि से परे हैं। यह अजमेर से तीन कोस पर है। दो-तीन दिन तक यहा जल-पक्षियों को मारकर हम अजनेर लौट गये।

"नये-पुराने मन्दिर, जिन्हें काफिरों की भाषा में देवरा कहते हैं, (पुष्कर) तालाव के चारो ओर वने हैं। इन्हीं में विद्रोही अमर के चाचा राणा सगर का, जो हमारे दरवार के वड़े सरदारो में से एक है, वनवाया हुआ एक विशाल भव्य देवरा है, जिस पर एक लाख रुपये व्यय हुए हैं।[1] हम उस मंदिर को देखने गये। हमने उसमे एक मूर्ति काले पत्थर से काटकर वनायी हुई देखी, जिसका गले से ऊपर का भाग सूअर के मुख-सा था, और नीचे का कुल भाग मनुष्यो का था। हिन्दुओं का मूल्यहीन धर्म वतलाता है कि किसी समय किसी विशेष उद्देश्य से परमेश्वर ने ऐसे रूप मे अवतार ग्रहण करना आवश्यक समझा था और इसी से वे इस रूप को प्रिय तथा पूज्य मानते हैं। हमने आज्ञा दे दी कि इस वीभत्स मूर्ति को तोड़कर तालाव मे फेंक दो।[2]

---

1 मदिर को सगर ने वनवाया नही था, इसकी मरम्मत एक लाख रुपये खर्च करके करवायी थी। मदिर 12वी शताब्दी मे राजा अरणोराज ने वनवाया था। इससे मूल तर्क मे अन्तर नही पडता, जहागीर ने तो मदिर सगर का वनवाया समझकर ही मूर्ति को तुडवाया था।

2 लगता है कि आश्रितो, मित्रो और सवधियो के मदिरो को भी, मरजी हो जाये तव, तुडवाने मे जहागीर को झिझक नही होती थी। 'तारीख-इ-सलीम-शाही' और 'जहागीरनामा' दोनो मे लिखा है कि राजा मानसिह के वनवाये मन्दिर को 'उसकी जगह, उसके खडहरो पर, मस्जिद वनवाने के लिए' शाहशाह ने तुडवा दिया था। विवाद यह है कि इस मस्जिद के वनवाने पर व्यय कितना हुआ, पहली पुस्तक 5,40,000 रुपये, और दूसरी 8,00,000 रुपये वतलाती है। 'इन्तखाव-इ-जहागीर-शाही' के अनुसार जिन दिनों जहागीर अजमेर मे था, उसके पास समाचार आया कि गुजरात के जैनियों ने कुछ 'वहुत विशाल और वैभवपूर्ण' मन्दिर वनवाये हैं, उनमे अपने 'झूठे देवता' स्थापित किये है, और मन्दिर निर्माणकर्ताओ का वडा आदर होने लगा है। जहागीर ने उन्हें 'देश-निकाला' दे दिया, उनके मंदिर तुड़वा दिये, उनकी मूर्ति मस्जिद की आखिरी सीढ़ी पर डलवा दी, जिससे 'जो प्रतिदिन नमाज पढने

"इस इमारत के देखने के अनन्तर हमारी दृष्टि पहाड़ी पर बने हुए एक श्वेत गुंबद पर पड़ी, जहां हर ओर से लोग आया करते थे। जब हमने उसके संबंध मे पूछा तो लोगो ने कहा कि वहां एक जोगी रहता है और जब मूर्खगण वहां उसे देखने आते हैं तो वह उनके हाथों पर एक मुट्ठी आटा रख देता है, जिसे वे अपने मुख में रख लेते हैं और किसी ऐसे पशु के शब्द की नकल में चिल्लाते हैं जिसे कभी इन मूर्खों ने चोट पहुँचायी है। ऐसा करने से उनके उस पाप का प्रायश्चित हो जाता है। हमने आज्ञा दी कि उस स्थान को तोड़ डालें तथा जोगी को वहां से निकाल दें।

"इन सबका यह भी विश्वास था कि इस तालाब की थाह नहीं है। पर जांच करने पर ज्ञात हुआ कि यह कहीं भी बारह हाथ से अधिक गहरा नहीं है। इसका घेरा भी नापा गया, जो डेढ़ कोस था।

"हमने आदेश दिया था कि ख्वाजा की दरगाह के लिए आगरे में बहुत बड़ा देग बनाया जाये। वह वहां लाया गया और हमने आज्ञा दी कि इसमें गरीबों के लिए भोजन तैयार किया जाये और अजमेर के भिखमंगो को एकत्र कर, जब तक हम वहां रहें, खिलाया जाये। पांच सहस्र मनुष्य इकट्ठे हुए और इच्छा भर भोजन किया। भोजन के अनन्तर हमने अपने हाथ से दरवेशों में से प्रत्येक को धन दिया।

## खुर्रम मेवाड़ में

"ऊपर लिखा जा चुका है कि ख्वाजा की जियारत के बाद हमारा मुख्य उद्देश्य विद्रोही राणा का दमन करना था। इसलिए हमने अजमेर मे ठहरना और सौभाग्यशाली पुत्र बाबा खुर्रम को उस पर भेजना निश्चय किया। यह विचार बहुत अच्छा था, इसलिए हमने 6 दै महीने (17 दिसम्बर 1613) को निश्चित साइत में उसे प्रसन्नता तथा उत्साह के साथ भेजा।[1] हमने उसे जाते समय एक सोने

---

आयें उनके पैरों से वह रौंदी जा सके'। 'इस आदेश से धर्म-द्रोही बहुत अपमानित हुए, और इस्लाम का आदर बढ़ा।'

इस्लाम का सम्मान बढ़ाने के लिए जहांगीर ने यह प्रबन्ध किया था कि जो अपना धर्म छोड़कर इस्लाम स्वीकार करेगा उसे राजकीय कोष से दैनिक भत्ता दिया जायेगा। 1605 में उसने एक आरमेनियन क्रिश्चियन का जबरन मुसलमान बनवाया था, लेकिन उसके बहुत विरोध करने पर उसे मुक्त कर दिया गया। जहांगीर के शासन के दसवें साल में राजा संग्राम के पुत्र का 'इस्लाम में शामिल' करके सम्मान किया गया।' एक अन्य हिन्दू को भी मुसलमान बनाया गया। 1606 में गोआ के एक व्यक्ति को मुसलमान बनाया गया। कुछ बंदियों को इस शर्त पर मुक्त करने का वचन दिया गया कि वे पहले मुसलमान बन जायें। कुतुब और कुमारखान नाम के दो मुसलमान नवयुवकों को अपने शासन के चौथे साल में जहांगीर ने कोड़े लगवाकर जेल में डलवा दिया था क्योंकि वे एक हिन्दू सन्यासी के पास जाया-आया करते थे और हिन्दू धर्म के प्रति उनका झुकाव हो रहा था। दूसरे वर्ष में कल्याण नाम के हिन्दू को एक मुस्लिम नर्तकी अपने पास रखने के कारण दंडित किया गया। पंद्रहवें वर्ष में, जब राजौरी के कुछ हिन्दुओं ने मुस्लिम कन्याओं को हिन्दू बनाकर उनसे विवाह कर लिये तो उन्हें दंडित किया गया, और इस प्रथा पर प्रतिबंध लगा दिया गया। 'इस तरह जहांगीर ने सच्चे धर्म का संरक्षक होने का प्रयत्न किया और बाहरी हमले से इसकी रक्षा करने की कोशिश की।'

1 खुर्रम की आयु इस समय 21 वर्ष थी।

के कारचोबी का कबा, जिसमें जड़ाऊ फूल मोतिग्रों के घेरे सहित टंके हुए थे, मोतियों की माला सहित जरदोजी की पगड़ी, मोतियो की लड़ियों से युक्त जरबफ्त का साज सहित फतहगज नामक अपना खास हाथी, एक खास घोड़ा, जड़ाऊ तलवार तथा फूल कटार सहित जड़ाऊ खपवा दिया ।

"खान आजम की अधीनता मे इस कार्य पर पहले से नियुक्त सेना के सिवा हमने बारह सहस्र सवार अपने पुत्र के साथ भेजे, और इसके सेनानायकों को उनके पदानुसार खास घोड़े, हाथी तथा खिलअत देकर विदा किया ।"[1]

खुर्रम को लड़ाई पर भेजकर, जहांगीर स्वयं शासन के दूसरे कामो में, और अपनी मन-पसन्द कार्रवाई–शिकार–मे लग गया। इन दिनो मे उसने निजी जीवन और शासन व्यवस्था को सुसगठित करने के लिए कई नये परीक्षण किये । 'शाहंशाह ने सर्वसाधारण के सुख और उनकी शांति के लिए अत्यन्त उपयुक्त नियम बनाये, और सप्ताह के हर दिन के लिए निजी व्यवहार का एक-एक कार्यक्रम बनाया–उस दिन उसके अतिरिक्त कुछ और नहीं किया जाना था ।' साथ ही साथ उसने मेवाड़ भेजी गयी शाही सेना पर कड़ी निगाह रखी । वहां से निरन्तर समाचार आते रहते थे । मेवाड़-विजय के संबंध मे अपने मन मे उसका निश्चय इतना दृढ था कि वह उसके मार्ग में आने वाली किसी बाधा को सहने के लिए तैयार नहीं था । उसने एक बहुत बड़ा फैसला किया ।

"यद्यपि खान आजम ने स्वयं प्रार्थना की थी कि राणा की चढ़ाई के लिए प्रसिद्ध शाहजादा नियत किया जाये, तब भी हमारे पुत्र द्वारा अनेक प्रकार से प्रोत्साहित तथा संतुष्ट किये जाने पर भी वह इस कार्य पर दत्तचित्त नहीं हुआ, प्रत्युत अनुचित ढंग से काम करने लगा । जब यह सुना तब हमने अपने परम विश्वसनीय सेवको में से एक इब्राहीम हुसैन को उसके पास भेजा और यह प्रेमपूर्ण संदेश कहलाया कि जब वह बुर्हानपुर में था तब उसने बारबार प्रार्थना की कि यह कार्य उसे सौंपा जाये क्योंकि उसे वह दोनो लोकों की प्रसन्नता के समान समझता था । उसने जलसो तथा महफिलो में कई बार कहा था कि यदि वह इस युद्ध मे मारा जायेगा तो शहीद होगा और यदि विजय प्राप्त करेगा तो गाजी होगा । उसने जो जो सहायता, तोपखाना आदि इस कार्य के लिए मांगा वह सब हमने उसे दिया । इसके अनन्तर उसने लिखा कि बिना शाही झंडों के (अर्थात् शाहंशाह जहांगीर के) उस ओर आये इस कार्य का पूरा होना अत्यंत कठिन है, और उसकी सम्मति से हम अजमेर आये तथा यह देश इससे सम्मानित एवं सौभाग्यान्वित हुआ । अब उसी की प्रार्थना पर शाहजादा गया है, और उसकी सम्मति के अनुसार सब कार्य किया गया है, तब उसने क्यो युद्ध से पैर पीछे हटाया है तथा कलह में पड़ गया है ? बाबा खुर्रम को हमने अब तक कभी अपने से अलग नहीं किया

1. 'जहांगीरनामा', पृष्ठ 322

था, और उस (खान आजम) की अनुभवशीलता के विश्वास पर हमने उसे वहां भेजा है। इसलिए उसे चाहिये कि हमारे पुत्र के प्रति राजभक्ति तथा पूर्ण आस्था दिखलाते हुए दिन रात कभी अपने कर्त्तव्य मे कमी नही करे। यदि वह इसके विरुद्ध अपने वचन से पीछे हटेगा तो वह ध्यान रखे कि फिर उपद्रव होगा (अर्थात् उसे सजा दी जायेगी)।

"इब्राहीम हुसैन उसके पास गया, और विस्तार के साथ उसे यह सब बातें समझायीं, पर इसका कोई फल नहीं निकला, क्योंकि वह अपनी मूर्खता तथा हठ पर अड़ा रहा। जब बाबा खुर्रम ने देखा कि उसका इस कार्य में रहना उपद्रव का कारण होगा तब उसे निरीक्षण (पहरे) में रखा, और (जहांगीर को) सूचित किया कि उसका वहां रहना उचित नहीं है, ओर केवल खुसरो के संबंध के कारण वह ऐसा कर रहा है तथा कार्य बिगाड़ रहा है। तब हमने महावतखान को आज्ञा दी कि वह उदयपुर जाकर उसे लिवा लाये, और व्यूतात के दीवान मुहम्मद तर्क को मंदसोर भेजा कि वहां से खान आजम के परिवार तथा सेवकों को अजमेर लिवा लाये।"[1]

"हमने आज्ञा दी (जब खान आजम अजमेर लाया गया) कि खान आजम आसफखान को सौंप दिया जाये जिससे वह उसे ग्वालियर दुर्ग मे (जहां शाही कैदी गिरफ्तार करके रखे जाते थे) सुरक्षित रखे। इसे दुर्ग मे भेजने का हमारा उद्देश्य केवल यह था कि खुसरो के प्रति स्नेह रखने के कारण राणा के कार्य में कोई उपद्रव या अशांति उत्पन्न न हो। इसलिए हमने आदेश दिया कि वह कैदी के समान न रखा जाये प्रत्युत उसके खानपान के संबंध में हर प्रकार से उसकी सुविधा तथा आराम का ध्यान रखते हुए सभी वस्तुएं उसे दी जायें।"[2]

खान आजम का पतन मेवाड़-अभियान की दृष्टि से ही नही, मुगल साम्राज्य की संपूर्ण राजनीति की दृष्टि से भी निर्णायक सिद्ध हुआ। उसकी पुत्री का विवाह सम्राट के ज्येष्ठ पुत्र, और स्वाभाविक उत्तराधिकारी, खुसरो से हुआ था। इन्हीं दिनो खुसरो का दरबार में फिर से स्थान बनना शुरू हुआ था। परन्तु खुसरो जहांगीर का मन फिर से नहीं जीत सका, उसका श्वशुर बंदी बन गया। घटनाओ ने खुसरो का भाग्य सदा के लिए अस्त कर दिया। खुर्रम का भाग्य चमक गया। इसका श्रेय स्वयं खुर्रम को है, जिसने मेवाड़ मे वह कर दिखाया जो उसके पिता और पितामह—जहांगीर और अकबर भी—नहीं कर सके थे। साम्राज्य के कूटनीतिक चक्र मे खुर्रम कुछ समय तक नूरजहां के दल में था, उसका विवाह नूरजहां के भाई आसफखान की पुत्री अर्जुमन्द बानू से हुआ था, जिसकी स्मृति में निर्मित ताजमहल मुगल साम्राज्य की सबसे प्रसिद्ध भेंट है। नूरजहां और आसफखान ने अपने पिता इतमादुद्दोला सहित एक दल बनाकर

---

1 'जहांगीरनामा', पृष्ठ 326
2 वही, पृष्ठ 329

साम्राज्य पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया, जहांगीर भी एक तरह से उनके काबू में था। दस साल तक इन चारों ने मिलकर सारे साम्राज्य पर शासन किया, खुर्रम इस दल का मनोनीत उत्तराधिकारी युवराज था। मेवाड़ के युद्ध में प्राप्त उसकी सफलता ने नूरजहां के दल का प्रभाव बढ़ा दिया।

सम्राट लगता था कि इस दल के कब्जे में है, परन्तु बड़े निर्णय उसकी इच्छा के बिना नहीं होते थे।

जो लोग जहांगीर की हंसी उड़ाते हैं कि 'वह अपने जीवन में न किसी चढ़ाई पर गया और न कोई युद्ध इसने किया'[1] उन्हें समझना होगा कि हर युद्ध के संबंध में महत्वपूर्ण निश्चय वह स्वयं किया करता था। शून्य-सी स्थिति उसकी नहीं हो गयी थी। मेवाड़ के विरुद्ध युद्ध मे उसने जिस तरह एक-एक करके अच्छे से अच्छे सेनानी भेजे उससे स्पष्ट है कि वह हर स्थिति की विशिष्टता को समझता था, और उसके अनुरूप कार्य करने की क्षमता रखता था। खान आजम को वापस बुलाने का निर्णय बुद्धि की स्पष्टता और दृढ़ता दोनों बताता है। वह व्यक्ति जिसे अकबर भाई मानता था, जिसे जहांगीर पिता के समान सम्मान देता हो, जो जहांगीर के बड़े पुत्र का श्वशुर था, आसानी से इधर से उधर नहीं किया जा सकता था। बाईस वर्षीय शाहजादा खुर्रम के हाथ में इस महत्वपूर्ण अभियान का पूरा युद्ध-संचालन सौंपना भी अपने में कुशल, परन्तु कठिन, निर्णय था। मेवाड़ में शाही सेना को जो सफलता मिली उसका कुछ कम श्रेय स्वयं जहांगीर को नहीं है।

जहांगीर ने खुर्रम के साथ जिन सेनानियों को भेजा उनमें मेवाड़ का मुगलों द्वारा मनोनीत महाराणा सगर भी था। चित्तौड़ उसे सौंप दिया गया था, जीतने पर सारा मेवाड़ उसे सौंपने की तैयारी थी। इसके अतिरिक्त जोधपुर का राजा सूरसिंह और उसका भाई किशनगढ़ का राजा किशनसिंह, बूंदी का राव हाडा रत्न, नूरपुर के राजा बासू का बेटा जगतसिंह, राजा सूरजमल तंवर और राजा विक्रमादित्य भदौरिया आदि प्रतिष्ठित हिन्दू राजा और सरदार तथा नवाजिशखान, सैफखान, तरबियतखान, अबुल फतह दक्षिणी, सुलेमान बेग वाकआनवीस, शाहरुख का बेटा बदीअज्जमान मीर हिसामुद्दीन, रजाक बेग उजबेक, दोस्तबेग, ख्वाजा मुहसिन, अरबखान, सैयद शिहाब आदि प्रमुख मुस्लिम अमीर और सेनानी थे।

मेवाड़ में पहले से नियुक्त सेना और खुर्रम के साथ भेजी गयी इस सेना के अतिरिक्त आसपास से सभी प्रमुख सेनापतियों को अपनी सेना के साथ मेवाड़ भेजा गया। मालवा से सूबेदार खान आजम की सेना आयी थी, और साथ में वहाँ के सब मनसबदार, अपने सैनिकों के साथ गुजरात के सूबेदार अब्दुल्लाखान और उसके मनसबदार, दक्षिण

---

1 'जहांगीरनामा' के अनुवादक श्री बृजरत्न दास ने अपनी ओर से यह पाद-टिप्पणी दी है, पृष्ठ 51
2 बनी प्रसाद, पृष्ठ 179

में जो शाही सेना शाहजादा परवेज के साथ काम कर रही थी उसमें से राजा नरसिंह देव बुन्देला, मुहम्मदखान, याकूबखान नियाजी, हाजी बेग उजबेक, मिर्जा मुराद सघवी, शरजाखान, अल्लाह यार लूका, गजनीखान जालौरी आदि। इतनी बड़ी, इतने उच्च और अनुभवी सेनानियों सहित शाही सेना, इससे पहले कभी मेवाड़ के विरुद्ध नहीं भेजी गयी थी। इस सेना की संख्या और इसका संगठन हर शत्रु का दिल कंपा सकता था।

महाराणा अमरसिंह की स्थिति तो विशेष संकटमय थी। स्वयं अपने राज-काल में वह छः वर्ष अकबर से और आठ वर्ष जहांगीर से लड़ चुका था। यह प्रसिद्ध है कि उसने शाही सेना से सत्रह लड़ाइयां लड़ीं।

इन लड़ाइयों में "राजपूत लोगों में से दो-दो चार-चार पीढ़ियां सबकी मारी गयी थीं। पहाड़ों के चारों तरफ से बादशाही फौज के हमले होते थे, आज एक बहादुर राजपूत मौजूद है, कल मारा गया, परसों उसके बेटे ने भी हमला करके अपनी जान दी, उनकी बेवा औरतें अपने खाविन्दों के साथ आग में जलती थीं। उन लोगों के लड़के-लड़की, जो कम उम्र रह जाते, उनकी परवरिश भी महाराणा को ही करनी पड़ती थी। जिस पर यह भी खौफ था कि हमारे राजपूतों की औलाद मुसलमानों के हाथ पड़कर गुलाम न बनायी जाय। अगर कभी ऐसा हो भी जाता था तो इस बात का सदमा महाराणा अमरसिंह के दिल मे छेद करता था। एक-एक दिन में कई जगह रसोई करनी पड़ी है, यानी एक जगह भोजन तैयार और शाही मुलाजिमों ने आ घेरा, फिर दूसरी जगह बनाना पड़ा, वहां भी दुश्मनों ने आ दबाया, तब तीसरी जगह पहाड़ की खोह में रोटियां होने लगीं। छोटे-छोटे बच्चे अपने-अपने मां बाप से खाना मांगते, वे उनको दम दे-दे कर दिन कटाते थे। लेकिन धन्य है, मेवाड़ के उन बहादुर राजपूतों को कि एसी तकलीफें उठाने पर भी अपने बाप-दादों की इज्जत और कहावतों पर ख्याल करते मरते और मारते थे, और जो कोई आदमी निकलकर शाही मुलाजिम होता था उस पर हजारहो लानत मलामत करते थे।"[1]

अमरसिंह उनमे था जिन पर पूर्वजों की परम्परा के निर्वहन का सीधा दायित्व था। वह समझता था कि उसके कमजोरी दिखाने पर मेवाड़ का सारा इतिहास बदल जायेगा, शाही सेना की न संख्या, और न साज-सज्जा, उसे अपनी दृढ़ता से हिला सकी। जो भी कीमत चुकानी पड़े, मेवाड़ की रक्षा की जायेगी, उसके इस निश्चय का उसके पुत्रों, सामन्तों, सेनानियों, सबने समर्थन किया।

जब तक एक भी मेवाड़ी जिन्दा है, मेवाड़ का केसरिया नहीं झुकेगा—इस संकल्प के साथ अमरसिंह के निर्देशन में अपना जीवन अपने आप युद्धाग्नि में होम

---

1. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 228

देने के लिए जो वीर आ एकत्रित हुए उनमें प्रमुख थे चौहानराव बल्लू, चौहान रावत पृथ्वीराज, राठौड़ सांवलदास, झाला हरदास, पंवार शुभकरण, चूंडावत रावत मेघसिंह, चूंडावत रावत मानसिंह, झाला कल्याण, सोलंखी वीरमदेव, राठौड़ कृष्णदास, सोनगरा केशवदास राणावत, डोडिया जयसिंह, आदि 'मय अपने काका, भाई व बेटों के'।

अमरसिंह ने अपनी सेना को भिन्न-भिन्न सेनापतियों के अधीन करके अलग-अलग तरफ से शाही सेना पर आक्रमण करने के लिए तैयार किया। उनको निर्देश था कि पर्वतीय प्रदेश में शाही सेना को घुसने नहीं दें, जब मौका मिले उस पर हमला करें और उसके पास जाने वाली सामग्री को लूटें।

खुर्रम ने अपनी आयु से अपेक्षित कहीं अधिक सूझबूझ, समय सूचकता और साहस का परिचय दिया। उसने परम पारंगतता, दयाहीन कठोरता और असीम सौभाग्य के साथ सैनिक अभियान का संचालन किया।

वह अपनी सेना के साथ अजमेर से मेवाड़ मे मांडल पहुंचा, जिसके बारे में 'बादशाहनामा' में लिखा है कि 'सुलतान परवेज व महाबतखान इस जगह से आगे नहीं बढ़े थे'। इसका तात्पर्य यही है कि इन दोनों के आक्रमणों के समय शाही सेना को स्थायी सफलता मांडल के आगे नहीं मिल पायी थी। जो भूमि कब्जे में आती थी उसे मेवाड़ी सैनिक अवसर मिलते ही छुड़ा लेते थे। पिछले मुगल आक्रमणों की रण नीति का यहां बैठकर खुर्रम ने पूरा विश्लेषण किया। उसे लगा कि जब एक ओर से हमला किया जाता था तब दूसरी ओर से मेवाड़ी सैनिक निकल जाया करते थे। इसलिए उसने उस पहाड़ी प्रदेश पर चार ओर से आक्रमण करने का निश्चय किया जिसमें अमरसिंह अपनी सेना के साथ रह रहा था।

इसके भी पहले उसने अजमेर और उदयपुर के बीच का मार्ग सुरक्षित करने का प्रबन्ध किया, जिससे सेना के लिए सामग्री पहुंचने में बाधा नहीं हो। अजमेर और मांडल के बीच में कुछ खतरा नहीं था। उसने मांडल में जमालखान तुर्का, कपासन में दोस्त बेग, ऊंटाला में सैयद हाजी, नाहर मगरा में अरबखान, डबोक मे एक विश्वस्त सेनानी और देबारी में सैयद शिहाब के अधीन शाही थाने स्थापित किये। मांडल और उदयपुर के बीच इस प्रकार छः सुदृढ़ थाने स्थापित हो गये, मार्ग का भय दूर हो गया।

उदयपुर और ऊंटाले के बीच विवाद उठ खड़ा हुआ। खुर्रम के सेनापतियों में एक ऊंटाला मे रहकर सैन्य संचालन करने के पक्ष में था। खुर्रम स्वयं उदयपुर को ठीक समझता था। इसलिए मुगल दरबार का भावी भाग्य विधाता ऐसे स्थान पर पहुंचा जहां उसे फिर अपना भाग्य बचाने पहुंचना पड़ा, परन्तु एक बार तो खुर्रम ने मेवाड़ की नवीन राजधानी में पहुंचकर उस अति प्राचीन और परम गौरवशाली राज्य का भाग्य अंधकार से भर दिया।

सैनिकों की सख्या के आधिक्य का खुर्रम ने पूरा लाभ उठाया, जहां थाने स्थापित किये गये वहां सैनिक इतने रखे गये कि आक्रमण होने पर वे बिना आसपास से सहायता की अपेक्षा किये उस स्थान की स्वयं रक्षा कर सकें।

दूसरे, उसने इसी तरह अपने में आत्मनिर्भर चार सैनिक दल तैयार किये; ये दल क्या स्वतंत्र सेनाएं थीं, जिनका सचालन शाही पक्ष के प्रतिष्ठित और अनुभवी सेनानी कर रहे थे, जिनमें ऐसे लोग थे जो अकेले-अकेले शाही सैनिक अभियानों का संचालन किया करते थे या कर सकते थे।

एक दल अब्दुल्लाखान को, दूसरा दिलावरखान काकड़ तथा बैरम बेग बख्शी को, तीसरा सैयद सैफखान तथा किशनसिंह को और चौथा मीर मोहम्मद तरबी बख्शी को सौंपा गया; उनको निर्देश थे कि किसी पर कोई दया नहीं करें, जो सामना करे उसे समाप्त कर दें और बिना अमरसिंह को कैद किये या मारे नहीं लौटें। हर सेनानी को समझा दिया गया था कि वह अपनी सेना का संगठन इस प्रकार करे कि उसे किसी दूसरे दल पर शस्त्र और सामग्री के लिए निर्भर नहीं रहना पड़े। पहाडियां और घाटियां मेवाड़ की सेना को छिपा नहीं सकें, इसकी चेष्टा थी। इन चार सैन्य दलों ने एक साथ चार तरफ से उस मेवाड़ में प्रवेश किया जिस पर अभी तक अमरसिंह का आधिपत्य था।

स्वभावतः पहला लक्ष्य चांवड था, जहां उन दिनों मेवाड की राजधानी थी। इसे जीतने के लिए जिस दल को लगाया गया उसकी कमान अब्दुल्लाखान के हाथ में दी गयी—वह स्वयं मेवाड़ अभियान का स्वतन्त्र रूप से संचालन कर चुका था और इस भूमि से तथा पर्वतीय युद्ध की पेचीदगियों से पूरी तरह परिचित था।

उसे चांवड पहुंचते देरी नहीं लगी। निर्धारित नीति के अनुसार अमरसिंह को वहां से हटना पड़ा। "चांवड के लुटने का महाराणा को बहुत बड़ा दुःख हुआ। उसने अपने कंवर भीम से कहा, 'उदयपुर लुट जाने का मुझे इतना दुःख नहीं है जितना चांवड के लुट जाने का है, इसलिए यदि अब्दुल्लाखान से लोहा नहीं लिया गया तो हमारी अपकीर्ति होगी।' तब भीम ने प्रतिज्ञा की कि मैं युद्ध करते हुए अब्दुल्लाखान के दरवाजे तक पहुंच जाऊंगा। यह बात अब्दुल्लाखान के कानों तक पहुंच गयी तो उसने ड्योढी पर बहुत सी सेना और सरदारों को खड़ा कर दिया। मध्य रात्रि को भीम ने शाही सेना पर बड़ा प्रबल आक्रमण किया और सैनिकों को काटता हुआ वह साथियों सहित ड्योढी तक पहुंच गया। फिर युद्ध हुआ जिसमें दोनों सेनाओं की बड़ी टक्कर हुई। भीम के दो घाव लगे और उसका घोड़ा कटकर गिर पड़ा परन्तु अब्दुल्लाखान को इतनी बड़ी क्षति हुई कि चार मास तक वह चुपचाप बैठा रहा और उसको लडने का साहस नहीं हुआ।"[1]

---

1 मथुरा लाल शर्मा, रिसर्च स्मारिका, पृष्ठ 58

चांवड के हाथ से निकलने पर अमरसिंह का दिल टूट गया। परन्तु हिम्मत फिर भी नहीं छूटी। इधर अब्दुल्लाखान ने चांवड लिया, उधर अमरसिंह ने ईडर के पहाड़ों की तरफ पीछे हटकर दूसरी तरफ से शाही सेना पर हमला करने की तैयारी की।

चांवड-विजय मेवाड़-अभियान का पहला बड़ा समाचार था। फिर, वहां शाही सेना के हाथ कुछ हाथी लगे जिन्हें मेवाड़ी सैनिक जल्दी-जल्दी में अपने साथ नहीं ले जा सके थे। इनमें आलमगुमान हाथी भी था, जो महाराणा का प्रिय और अपनी विशिष्टता के लिए मुगल दरबार में भी प्रसिद्ध था। खुर्रम ने इन हाथियों के अपने पास पहुंचते ही शाहंशाह के पास समाचार भेजा कि 'राणा का प्रिय हाथी आलम-गुमान अन्य सत्रह हाथियो सहित विजयी सेना के वीरो के हाथ मे पड़ गया है और उसका स्वामी भी शीघ्र पकड़ा जायगा'। इस हाथी को नौरोज के उत्सव पर शाहंशाह के लिए उचित उपहार समझा गया, और खुर्रम ने शीघ्र उसे अपने दिवान यदुराय के साथ अजमेर भेज दिया।

मुगल शाहंशाह जिस दिन राजगद्दी पर बैठते थे उस दिन हर साल नौरोज का जलसा धूमधाम से मनाया जाता था। इस बार नौरोज का उत्सव 'अजमेर के आनन्ददायक स्थान पर हुआ'। उस दिन 21 मार्च 1614 थी। खुर्रम को गये तीन महीने हो चुके थे। अपने प्रिय पुत्र का विजय-संदेश और विजय-उपहार ऐसे अवसर पर प्राप्त करके जहांगीर बहुत ही प्रसन्न हुआ, "संक्रांति काल ही में, जो शुभ घड़ी बतलायी गयी थी, हम सौभाग्य की राजगद्दी पर बैठे। साधारण नियमानुसार महल अलभ्य वस्त्रों, रत्नों तथा जड़ाऊ वस्तुओ से सजाया गया था। शुभ साइत में आलमगुमान नामक हाथी, जो हमारे खास हयसाल मे रखने योग्य था, अन्य सत्रह हाथी-हथनियो के साथ, जिन्हे हमारे पुत्र बाबा खुर्रम ने राणा के हाथियों मे से भेजा था, हमारे सामने उपस्थित किया गया, जिससे राजभक्तो में बड़ी प्रसन्नता हुई। नौरोज के दूसरे दिन सवार होना शुभ समझकर हम इस पर चढ़ कर घूमने गये तथा बहुत सा धन लुटाया।"[1]

उधर खुर्रम दिन दूनी रात चौगुनी इज्जत लूट रहा था, उसके सेनानी और सैनिक जिधर से निकलते उधर ही 'लूटना, मारना, जलाना, गिरफ्तार करना, मचा देते थे'। शाही सेना का जमकर सामना नहीं हो पा रहा था, जिधर से वह निकलती उसे विजय प्राप्त करने में कठिनाई नहीं होती थी। हां मन्दिर जहां-जहां पड़ते थे लोग जी-जान से लड़ते थे, परन्तु उनकी जान जाती थी, और मन्दिर की ईंट से ईंट बोल जाती थी। दिलावरखान और सैफखान दोनो के दलो ने बड़ी सफलता प्राप्त की। इसका समाचार विशेषतः बादशाह के पास भेजा गया। उसने 'बाबा खुर्रम की प्रार्थना पर'

---

1 'जहागीरनामा', पृष्ठ 328

सैफखान वरहा का मनसव पांच सदी 200 सवार से, दिलावरखान का पांच सदी 200 सवार से, किशनसिंह का 500 सवार से और सरफराजखान का पांच सदी 300 सवार से बढ़ा दिया। इस प्रकार परिणाम और पुरस्कार साथ-साथ चल रहे थे।

जहांगीर युद्ध की गतिविधि पर पूरी निगाह रखे हुए था। उसके पास वहां के समाचार आते थे, और वहां वह अपने निर्देश भेजता था। साधारण साधनो के अतिरिक्त कई बार विशेष संदेशवाहक भी भेजे जाते थे। इनमें एक था दियानतखान, जिसे 'बाबा खुर्रम की सेवा में कुछ आज्ञाएं ले जाने के लिए उदयपुर भेजा गया था'। उसने लौटकर 'बाबा खुर्रम के चलाये हुए नियम-उपनियम आदि का अच्छा वर्णन किया'।

इसका मतलब, समाचार शाही दृष्टि से निरन्तर शुभ आ रहे थे। जहांगीर ने हर कदम ज्योतिषियो की सलाह से उठाया था, इस बार उसकी सेना के साथ-साथ उसके भविष्यवक्ताओ ने भी उसका अच्छा साथ दिया।

ऐसा नहीं था कि शाही पक्ष की क्षति नहीं हो रही थी। ऐसे-ऐसे सरदार और अमीर मर रहे थे जिनको खोने पर जहांगीर को निजी रूप से बहुत दु:ख हुआ था। इनमें से कई के नाम वह स्वयं 'जहांगीरनामा' में अमर कर गया है। फरीदूनखान बर्लास मरा तो उसने लिखा, 'बर्लास जाति वालों में केवल एक यही सरदार बच गया था। इस जाति का साम्राज्य पर कुछ स्वत्व था और बराबर संबंध रहा' सिकंदर मुईन करावल के शव को तो उदयपुर से अजमेर लाया गया, क्योंकि वह जहाँगीर के पुराने सेवकों में से था और उसने उसकी शाहजादगी के दिनो में अच्छी सेवा की थी। उसका शव 'राणा सगरा के तालाब के किनारे' गाड़ने का विशेष प्रबन्ध जहांगीर ने कराया। उसे सदा याद रहा, 'यह हमारा अच्छा सेवक था।'

शाही सेना की कारगुजारियां जोरो से चल रही थीं। छुटपुट हमले मेवाड़ के सैनिक करते थे, मेवाड़ की भूमि मुगलो के कब्जे में आती जाती थी। चार-चार सेनाएं चप्पा-चप्पा रौंदने में लगी थीं। जहां महत्व का स्थल मिलता, मजबूत थाना कायम कर दिया जाता था।

मेवाड़ की दो राजधानियां—उदयपुर और चांवड—मुगलों के कब्जे में आ चुकी थीं। कुम्भलगढ़ और गोगूंदा का भी पतन हुआ, यहां क्रमशः वदीअउज्जमान और 'राणा' सगर को 'अच्छे बन्दूकदारो समेत' नियत किया गया। भाड़ोल मे सैयद सैफखान, ओगणा में दिलावर खान, ओगणा में फरीदूनखान और हाड़ा रत्नसिंह, बीजापुर में बैरमबेग, जावर में इब्राहीमखान, मादड़ी में मिर्जा मुराद, पानरवा में समावारखान, केवड़े में जाहिद और सादड़ी में जोधपुर का राजा सूरसिंह अपने-अपने सैनिक दल के साथ नियत किये गये। इस तरह मेवाड़ के उत्तरी पर्वतीय प्रदेश पर शाही सेना का पूरा अधिकार हो गया, सेना और सामग्री का आवागमन कठिन नहीं रहा। अमरसिंह को अपने परिवार और सब साथियो-सैनिकों सहित दक्षिण की तरफ निकलना पड़ा। शाही सेना पर छुटपुट हमले फिर भी चलते रहे।

रणकपुर के 'मन्दिर की खराबी करने वाली बादशाही फौज' का मुकाबला डटकर किया गया। इसमें चित्तौड़ के युद्ध में जान देने वाले जयमल्ल के पुत्र मुकुन्द दास ने अपनी जान दी।

महाराणा उदयसिंह का दामाद, देलवाड़ा का जागीरदार झाला मानसिंह हल्दीघाटी की लड़ाई में मारा गया था उसके तीन बेटे थे, शत्रुशाल, कल्याण और आसवराय। इनमें से शत्रुशाल महाराणा प्रताप से अनबन होने पर मारवाड़ में जाकर बस गया था। उसने अपने वैर से ऊचा स्थान अपने देश की आवश्यकता को दिया। वह मेवाड़ लौट आया। वह फिर भी महाराणा की सेवा मे नहीं उपस्थित हुआ, परन्तु उसने देशभक्ति का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया, राजा से बडा उसने देश को माना, राजा के सामने सिर नहीं झुकाया, लेकिन उसी सिर को मातृभूमि के चरणो पर चढ़ा दिया। उसने अपने भाई कल्याण सहित, मारवाड़ मेवाड़ के बीच पड़ने वाली पहाड़ी घाटी मे अंबल-संबल की नाल पर अब्दुल्लाखान के सैन्य दल पर आक्रमण कर दिया। दोनो तरफ से जमकर लड़ाई हुई और दोनो तरफ के अनेक सैनिक काम आये। शत्रुशाल इतना घायल हो गया कि उसे पहाड़ो मे हट जाना पड़ा, उसका भाई जख्मी होकर शाही सेना के हाथो मे पड़ गया। शत्रुशाल जब थोड़ा ठीक हुआ, उसने अपने सैनिक एकत्रित करके गोगूंदा पर हमला कर दिया, जहां सगर शाही थाने का रक्षक था। इस बार शत्रुशाल के मन की हो गयी, उसका जीवन उसके देश के लिए न्यौछावर हो गया। रावल्यां गांव के पास हुए युद्ध में वह काम आया। उसका भाई बाद में शाही फौज द्वारा छोड़ दिया गया।

इस तरह आक्रमण-प्रत्याक्रमण स्थानीय रूप से चलते रहे कि बरसात आ गयी। इन दिनो मेवाड़ी सेना की ओर से दिन या रात मे छुटपुट हमले होते थे, परंतु कोई बड़ी लड़ाई नहीं हुई। बरसात समाप्त होते ही शाही सेना ने अपनी सरगर्मी बढ़ा दी।

मुगल सेना ने अपने थाने और चौकियां और भी मजबूत करलीं। खेत और बगीचे जला दिये गये, गांव तथा कस्बे लूट लिये गये, और मन्दिर ध्वस्त कर दिये गये। खुले मैदान, जो पहले ही महाबतखान, अब्दुल्लाखान, राजा बसू तथा अजीज कोका ने बरबाद कर दिये थे, अब एकदम नष्ट कर दिये गये। परन्तु खुर्रम के अभियान की विशिष्टता यह योजना थी कि राजपूतों को उनके पर्वतीय शरण-स्थलो में ही भूख से मार डाला जाये। सारे प्रदेश में सैनिक चौकियां स्थापित की गयीं, विशेषतः दर्रों, ढलानों और घाटियों के मुहानों पर ताकि शत्रु के पास सामग्री पहुचने के सब मार्ग बन्द हो जायें और उसे परेशानी हो। जो नाश-लीला मुगलों ने की उससे स्वयं उन्हें क्षति उठानी पड़ी। अत्यन्त महत्वपूर्ण सैनिक शिविर कुंभलमेर पर स्थापित किया गया था, और उसका भार नवाजिशखान को सौंपा गया था। जल्दी ही वह अकाल का शिकार हो गया और मुगल सैनिक भूख के मारे सैकड़ों में मरने लगे। फिर भी

पीड़ादायी युद्ध चलता रहा। पवित्र मन्दिरों पर सबसे भयंकर लड़ाइयां हुईं। राजपूत सैनिक समूहो ने जो निर्भीक वीरता दिखायी और जिससे अनेक मुगल अधिकारियों के दिल डर के मारे कांप गये, उसको मुगल इतिहासकारो ने खुलकर स्वीकार किया है। राणा अमरसिंह के एक पुत्र ने रात में जब हमला किया, बहुत ही कठिनता से उसे असफल किया जा सका। फिर भी, जो कुछ भी राजपूत कर पा रहे थे, जो यातना विनष्टकारी जलवायु पहुंचा रहा था, और जो निर्दयी ऋतु के कारण हो रहा था, उनके बावजूद शाहजादा ने कार्रवाई जारी रखी, उसे बलबलती गरमी और बुरी तरह बरसती बरसात का, गहन जंगलों और महामारी भरे स्थलों का भी, कोई ध्यान नहीं था"।[1]

जो रणनीति अब तक मेवाड़ की सेना शाही सैनिकों की रसद के रास्ते काट कर काम में लेती थी, उसी का उपयोग उसके विरुद्ध किया गया। जो मेवाड़ी सैनिक जहां थे वहीं फंस गये, न सैनिक-सामग्री स्वतन्त्रतापूर्वक आ-जा सकती थी न भोजन-सामग्री, भुखमरी जैसी हालत हो गयी। कृषि और वाणिज्य दोनों उजड़ गये। जो पर्वत, उनकी घाटियां और वन, अब तक अपनी स्वतन्त्रता के लिए लड़ने वालों को संरक्षण दिया करते थे, वे ही अब कारागार बन गये। सैनिक गैर-सैनिक सभी बड़ी परेशानी में पड़ गये। यह कहना पर्याप्त नही है कि 'अमरसिंह उसी कठिन परिस्थिति मे फंस गया जिसमें 1579–80 के बीच राणा प्रताप फंसा था'[2], क्योंकि इस तरह चारो तरफ से सैन्य चाहरदिवारी से घिरी परिस्थिति का सामना प्रताप को नही करना पड़ा था। उधर, मुगलो के पक्ष में यह बात थी कि शाही सेना पूरी सख्या और सामग्री के साथ मेवाड़ पर ही केन्द्रित थी, इस समय साम्राज्य में सब जगह स्थिति प्रायः शान्त थी। सारा ध्यान, और सारे साधन, इस 'महत्वपूर्ण सग्राम' को जीतने पर ही लगे थे, स्वयं सम्राट सन्निकट अजमेर में रहकर निर्देशन दे रहा था, और उसका सुयोग्य पुत्र खुर्रम पूरी चेष्टा में लगा था। दोनों के सामने जीवन की सबसे बड़ी महत्वाकांक्षा को पूरी करने की तमन्ना थी, जो 'अकबर महान्' नही कर सका उसे जहांगीर कर लेना चाहता था। उसका उत्साह बढ़ाने के जितने अधिक कारण थे, उतने ही कम अमरसिंह का ढाढ़स बनाये रखने के। 'तमाम हिन्दुस्तान के बादशाह के साथ छोटे से मुल्क का मालिक कब बराबरी कर सकता है ?'

इतना होते हुए भी अमरसिंह अपने निश्चय से नहीं डिगा। स्वाधीनता उसकी समाप्त नहीं की जा सकी थी। यद्यपि परिस्थिति उसके प्रतिकूल थी, परन्तु परम्परा उसे उसके आगे झुकने नही दे रही थी। उसके पिता प्रतापसिंह, पितामह उदयसिंह और प्रपितामह संग्रामसिंह जिस आक्रमणकारी कुल के आगे नहीं झुके थे, उसके आगे सिर झुकाने का उसे विचार अथवा साहस ही नहीं हो सकता था।

1 बेनी प्रसाद, पृष्ठ 219
2 वही, पृष्ठ 220

परन्तु इस तरह की मानसिक वाधा से मेवाड़ के सामन्तों और सेनानियो के मन उतने नही वंधे थे, वधे भी थे तो उनके सामने यह स्थिति थी कि जिस मातृ-भूमि के लिए वे सव कुछ होम देना चाहते थे वही उनकी सारी शक्ति लगने के वाद भी परतन्त्र हुई जा रही थी। ···"लंवे समय से चली आ रही, अत्यन्त पीड़ादायी, यह लड़ाई मेवाड़ के लिए अब ऐसी आपदा हो गयी थी जिससे निस्तार का कोई रास्ता ही नहीं दीखता था। उस पर वहुत अत्याचार हो रहे थे, जिनमे सवसे अधिक कष्टदायी थे जन साधारण का विनाश, मदिरो का ध्वस, मृत शरीरो का छिन्न-भिन्न करके छितराया जाना और मेवाड़वासियो की पत्नियो और वच्चो का गुलामो की तरह वेचा जाना। उस समय, जैसाकि हम सही ही अदाज लगा सकते हैं, मेवाड़ का मानचित्र उसके सव भागो की अकथनीय विपदाओ से ओतप्रोत हो गया था, उसके निवासी कंपा देने वाले त्रास से उत्पीड़ित थे, कृषको को उनके घरो से उखाड़ फेंका गया था, चिन्ता और अव्यवस्था ने एक अजव अधकार में सारे मेवाड़ को डुवो दिया था, जहा पकी फसल जलाई जा रही थी, घर फूके जा रहे थे और सपत्ति की कोई सुरक्षा नहीं रही थी। इससे सारा का सारा सामाजिक ढांचा जड़ो से हिल गया। देश के आन्तरिक जीवन का कोई अंश प्रभावित हुए विना नहीं रहा। जो भी आयु और अनुभव मे अग्रणी सेनानी ऐसी स्थिति को सम्हाल सकते थे वे सव समाप्त हो चुके थे।"[1]

"जन साधारण के भौतिक हितो के लिए शांति आवश्यक हो गयी। आधी शताव्दी से भी अधिक के युद्ध की विभीषिकाओ मे डूवी सभ्यता के पुनर्निर्माण के लिए शांति प्रारम्भिक आवश्यकता थी।"[2] "जो अमरसिंह के साथ थे वे उससे विछुड़ने लगे, केसरिया के नीचे जान देने के लिए तत्पर लोगो की सख्या अगुलियो पर गिनने लायक रह गयी।"[3]

"हमारे भाग्यवान पुत्र सुलतान खुर्रम ने वहुत से थाने विठाकर, विशेष-कर उन स्थानों मे जहां अधिकतर लोग खराव जलवायु तथा भयानक जंगलों के कारण थाने विठाना असंभव वतलाते थे, और शाही सेनाओं को, एक के वाद दूसरी को, विना गर्मी और घोर वर्षा का विचार किये पीछा करने के लिए भेजकर एवं उस प्रांत के परिवारो को कैदकर राणा को ऐसा दवा दिया कि उसे स्पष्ट हो गया कि अव यदि पुनः ऐसा होगा तो उसे अपना देश छोड़कर भागना पड़ेगा या कैद होना होगा। निरुपाय होकर उसने अधीनता तथा राजभक्ति स्वीकार करना उचित समझा।"[4]

स्वयं जहांगीर ने यहां संक्षेप मे, परन्तु स्पष्टता के साथ, उस समय की स्थिति का वास्तविक चित्रण किया है। इसको जैसा का तैसा उद्धृत करना भर

---

1. गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, पृष्ठ 118
2 वेनीप्रसाद, पृष्ठ 221
3 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 256
4 'जहागीरनामा', पृष्ठ 341

जेम्स टाड ने पर्याप्त माना है, उसके बाद इतिहासकारों ने इसी को वारबार दोहराया है। जो कुछ आगे हुआ उसकी पहल अमरसिंह ने की, यही इससे लगता है। परन्तु किस प्रकार अमरसिंह इसके लिए विवश हुआ इसे 'वीर विनोद' ने समझाया है,[1] और स्वय अमरसिंह द्वारा सारे जीवन दिखायी गयी दृढता को देखते हुए इसी को स्वीकार किया जाना जाना चाहिये। एक घड़ी ऐसी आयी जब अमरसिंह और उसके सामन्तों के मस्तिष्क भिन्न-भिन्न दिशा की ओर जाने लगे।

मेवाड़ का महाराणा और वहां के सामन्त चिन्तन मे जब एक दूसरे से पृथक् हो गये, उनके मार्ग तो अलग हो जाने ही थे। यह फिर से स्मरण करने की बात है कि मेवाड़ के इतिहास मे बार-बार वड़े निर्णय वहां के सामन्तो आदि ने लिये हैं, और महाराणाओ ने उन्हें शिरोधार्य किया है। उदयसिंह के वक्त में ऐसा हुआ, प्रतापसिह के वक्त मे ऐसा हुआ, और अब अमरसिह के समय में वैसी ही स्थिति आ गयी।

अमरसिह स्वयं विचलित हो गया हो, अथवा खुर्रम से सुलह में पहल की हो, ऐसा विवरण राजपूत पक्ष की पुस्तकों में नही मिलता। उनमे मिलता यह है कि परिस्थिति पर परामर्श प्राप्त करने के लिए उसने एक संदेश मुगल सेनानी अब्दुरहीम खानखाना के पास भेजा था, और उसका उत्तर पाने पर उसे 'और भी ज्यादा हिम्मत हुई'।

संदेश एक दोहे में भेजा गया था, और उसके उत्तर में भी एक दोहा आया। दोनो दोहे क्रमशः इस प्रकार है :

महाराणा की ओर से :

गोड़ कछाहा राठवड़ गोखां जोख करंत।
कहजो खानाखान ने वनचर हुआ फिरत॥

गोड़, कछवाहा, राठौड़, आदि महलो के झरोखों में आराम करते है, इस वास्ते खानखाना को कहना कि हम (अमरसिह) वन-मानुष हुए फिरते है। महाराणा का यह इशारा था कि तुम कहो तो हम भी अपनी स्वतन्त्रता को छोड़कर बादशाह की सेवा स्वीकार करे।

खानखाना की ओर से :

ध्रम रहसी रहसी धरम, खपजासी खुरसाण।
अमर विशंभर ऊपरा, राखो नहचो राण॥

जमीन और ईमान हमेशा रहेगा, लेकिन खुरासानी लोग अर्थात् मुगल सलतनत नाश हो जायेगी। ऐ राणा अमरसिंह आप इस दुनिया के पालने वाले पर भरोसा रखें। अब्दुर्रहीम का यह मतलब था कि जमीन और ईमानदारी सदा कायम रहती है, और

1 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 234

बादशाहत हमेशा गारत हुआ करती है, इसलिए हिम्मत रखनी चाहिये, अर्थात गैरत् के आराम से इज्जत की तकलीफ अच्छी।'

खानखाना का मेवाड़ से सम्पर्क पुराना था, अमरसिंह के प्रति वह निजी रूप से कृतज्ञ था, मेवाड़ की वीरता और वलिदान-भावना से उसका साक्षत्कार हो चुका था। वह स्वयं फारसी, अरवी, हिन्दी, संस्कृत आदि का विद्वान, और उदार स्वभाव का था।

वताया जाता है कि इस दोहे के पहुंचने से महाराणा को और भी ज्यादा हिम्मत हुई, और उसने अपने सरदारो को यह दोहा दिखाया। "फिर कुछ दिनों तक ऐसी लड़ाइयां होती रहीं कि जिन्दगी की उम्मीद भी वाकी न रही।"[1]

जवकि डा. गोपीनाथ जैसे इतिहासकार संदेशो के इस आदान-प्रदान की वात को मान्यता देते हैं,[2] दूसरे इतिहासकार मानते है कि प्रताप के समय के साथ प्रचलित पृथ्वीराज के संदेश की तरह यह संदेश भी कपोलकल्पित है। डा. वेनीप्रसाद इसकी ऐतिहासिकता स्वीकार नहीं करते[3], और न ऐसा स्वाभाविक और आवश्यक लगता है। खानखाना उन दिनो दक्षिण मे था, वहां तक संदेशवाहक का पहुंचना और लौटना सरल नहीं था, वहुत समयसाध्य यह होता। इसकी उन दिनो की स्थिति मे सभावना नहीं थी। फिर, किसी मुगल सेनानी अथवा सामन्त से निरन्तर विचार-विमर्श होने का उल्लेख कहीं नहीं मिलता, न मुगल पक्ष की पुस्तको मे, न राजपूत पक्ष की पुस्तको में, केवल मात्र इस प्रश्न पर परामर्श के लिए अचानक संदेशवाहक भेज दिया जाये, यह वड़ा अटपटा लगता है, और एक मुगल सेनानी अपने शाहंशाह के विरुद्ध परामर्श भेज दे, यह भी विश्वसनीय नहीं लगता।

परिस्थिति विकट हो गयी थी, इसमें कोई सदेह नहीं है। मेवाड़ के लिए लड़ने वालो में से सभी ने उसके आगे एक-एक करके सिर झुकाया, यह भी सही है। सबको स्पष्ट हो गया था कि अव स्वाधीनता की रक्षा सर्वसाधारण को समाप्त करके ही की जा सकती है।

## सुलह का सरंजाम

प्रमुख राजपूत अमरसिंह के वड़े पुत्र कर्णसिंह के पास उपस्थित हुए, और पहले उसे सारी स्थिति, सारा ऊंच-नीच, समझाया, उससे सलाह की कि क्या किया जाना चाहिये? "खाने को अन्न और पहनने को कपड़ा नही रहा, लड़ाई का सामान नही है, एक-एक घराने की चार-चार पुश्तें मारी जा चुकी है, किसी के वालवच्चे मुसलमानो के हाथ पड़ जाते हैं तो लौंडी-गुलाम वनाये जाते है, गूलर के फल खाकर दिन काटने पड़ते है, इस पर भी मरने के सिवाय इज्जत विगड़ने का खोफ लगा रहता है, क्योकि मेवाड़ी राजपूतो के वालवच्चे पकड़े जाने पर राठौड़ व कछवाहे उनको देखकर हसते

1 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 234
2 गोपीनाथ शर्मा, ऐतिहासिक, पृष्ठ 72
3 वेनी प्रसाद, पृष्ठ 221

हैं, हमारी बहादुराना हिम्मत को जिहालत और अपनी आरामी को बुद्धिमानी जानकर घमंड करते हैं। 47 वर्ष बड़ी-बड़ी तकलीफें उठाकर निकाले, और यह उम्मेद नहीं कि कब तकलीफें खत्म होंगी। यह सुनकर कुंवर कर्णसिंह ने कुल भाई, बेटे और राजपूतों की बहादुरी व खैरख्वाही पर हजारों धन्यवाद देकर कहा कि मैं भी जानता हूं कि मेरे प्यारे भाई और राजपूत गूलर के फल खाकर शाही फौजों पर हमले करते हैं, लेकिन दाजीराज (अमरसिंह) श्री महाराणा प्रतापसिंह के उस ताने को जो उन्होंने बादशाही तावेदार बनने के बाबत दिया था, याद करके हरगिज सुलह करना नहीं चाहते। तब झाला हरदास और पंवार शुभकरण ने अर्ज की कि हम सब सुलह करने पर तैयार होंगे तो अकेले महाराणा क्या कर सकते हैं? अव्वल शाहजादे खुर्रम की मन्शा को जांचें कि पाटवी बड़े कुंवर के शाही दरबार में जाने पर सुलह कर सकता है या नहीं? अगर आपके जाने पर सुलह हो जाये तो कुछ हर्ज नहीं, क्योंकि अपने यहां पाटवी कुंवर की बैठक (दरबार में स्थान) बड़े दरजे के कुल उमराव-सरदारों के नीचे है। बादशाह तो यह समझेंगे कि पाटवी कुंवर आ गये और हम अपने यहां से इस बात को सरदार का जाना ख्याल करेंगे।

"इन दोनों सरदारों की सलाह सबने पसन्द की और एक जबान होकर कह दिया कि यही करना चाहिये। लेकिन कुंवर कर्णसिंह ने कहा कि यह सलाह महाराणा के कान तक पहुंचेगी तो कभी पसन्द न करेंगे, इसलिए तुम दोनों आदमी, इनके बगैर हुक्म, शाहजादे खुर्रम के पास चले जाओ। तब उन्होंने अर्ज की कि पेश्तर कागज भेजकर शाहजादे की मन्शा दर्याफ्त कीजिये कि अगर इस शर्त पर सुलह मन्जूर हो तो की जावे, वर्ना हम लोग राजपूत हैं तलवार से सवाल-जवाब करेंगे। इसको भी सबने पसन्द किया और इस मुआमले का कागज राय सुन्दरदास जी की (मेवाड़ की पोथियों में जयपुर वाले कछवाहों की मारफत भेजा जाना लिखा है, शायद उनमें से भी कोई शरीक होगा)[1] मारफत शाहजादे के पास भेजा गया। सुन्दरदास ने शाहजादे के पास जाकर कुल हाल इस सुलह का जिस तरह पर कुंवर कर्णसिंह चाहते थे अर्ज किया। तब खुर्रम के इशारे से सुन्दरदास ने तसल्ली का जवाब लिखा जिससे कुंवर कर्णसिंह ने हरदास झाला और पंवार शुभकरण को भेज दिया।"[2]

जो कुछ मेवाड़ में इन निर्णायक घड़ियों में हुआ, उसका यह विवरण है। मुगल पक्ष की बात स्वयं जहांगीर से सुननी चाहिये। यहां यह ध्यान में रखने की बात है कि शाहजादा और शाहंशाह के पास मेवाड़ के प्रतिनिधियों ने यही कहा होगा कि वे अपने महाराणा की ओर से आये हैं, बिना इसके उनकी सुनवाई नहीं हो सकती

---

1. यह महत्वपूर्ण तथ्य है। परन्तु इसे ऐतिहासिक दृष्टि से स्वीकार नहीं किया जा सकता है। यदि इसे सही माना जाये तो लगता है कि आमेर वालों ने मेवाड़ का मेल मुगलों से कराने की इस अवसर पर फिर कोशिश की। यह अस्वाभाविक नहीं लगता, लेकिन यह अभी तक प्रमाणित नहीं हो सका है।

2. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 235

थी। दूसरे, यह भी ध्यान में रखने की बात है कि जब चित्तौड़ का पतन सन्निकट था इसी प्रकार की शर्तें मेवाड़ के सामन्तों ने अकबर के सामने रखी थीं। अकबर ने उन्हें नहीं माना, जहांगीर ने मान लिया। यही सारी परिस्थिति के बदलने के पीछे मूल बात है।

"राणा ने अपने मामा शुभकरण को अपने विश्वसनीय अनुयायी हरिदास झाला के साथ हमारे भाग्यवान पुत्र के पास भेजा तथा प्रार्थना की कि यदि वह उसके दोषों की क्षमा दिलादे एवं उसके मन को शान्त कर शुभ क्षमापत्र भेज दे तो वह स्वयं हमारे पुत्र के पास उपस्थित होवे और अपने पुत्र तथा उत्तराधिकारी कर्ण को दरबार भेजे या अन्य राजाओ के समान वह अपने को दरबारी सेवको के समान गिनकर सेवा करे।[1] उसने यह भी प्रार्थना की कि उसे वृद्धावस्था के कारण दरबार में उपस्थित होने से क्षमा किया जाये। इस पर हमारे पुत्र ने उनको अपने दीवान मुल्ला शुक्रुल्ला, जिसे इस कार्य के पूरा होने पर अफजलखान की पदवी दी गयी थी, और सुंदरदास के साथ, जिसे इस कार्य की समाप्ति पर राय की पदवी दी गयी, दरबार, (अजमेर में) भेज दिया तथा सब बातें कहला दी। हमारे उच्च विचार सदा इस बात के इच्छुक थे कि यथासंभव पुराने वंश नष्ट न किये जायें। वास्तविक बात तो यह थी कि राणा अमरसिंह तथा उसके पूर्वजो ने अपने पार्वत्य देश तथा निवास-स्थानो की दुर्गमता के घमंड मे हिन्दुस्तान के किसी राजा की अधीनता नहीं स्वीकार की और न उनसे मिले थे, परन्तु हमारे राज्यकाल में वैसा होना संभव हो गया। (पाठभेद—परन्तु मैं यह नहीं चाहता था कि मेरे सौभाग्यशाली शासन मे यह मिला मिलाया अवसर हाथ से निकल जाये। अतएव तत्काल) अपने पुत्र की प्रार्थना पर हमने राणा के दोषों को क्षमा कर दिया और एक कृपापूर्ण आज्ञापत्र उसके संतोषार्थ भेजा, जिस पर हमारे पंजे का निशान बना हुआ है।[2] हमने अपने पुत्र को भी आदेश भेजा कि वह इस कार्य को सुलझा लेगा तो हम बहुत प्रसन्न होगे। (पाठभेद—हमने अपने पुत्र को लिखा कि यह

1. यहा पाठभेद मालूम देता है। जेम्स टाड द्वारा दिये गये अनुवाद के अनुसार अमरसिंह ने कहलाया था कि यदि उसे क्षमा करके उसे हाथ का सहारा दिया जाये तो वह स्वय सम्मान प्रकट करने उपस्थित होगा और अपने सबसे बडे पुत्र कर्ण को बादशाह के सामने हाजिर होने और उसकी सेवा करने भेज देगा, जैसाकि अन्य हिन्दू राजा किया करते हैं, परन्तु चढी आयु के कारण वह अपने लिए यह मानेगा कि उसे दरबार मे हाजिर होने से छुट्टी मिल गयी है। इस पर टिप्पणी करते हुए जेम्स टाड ने कहा है, "इन थोडे से शब्दो से, जिन्हें बादशाह ने उदारतापूर्वक अपनी डायरी मे स्थान दिया हैं, हमे इस कष्ट-दायी अवसर पर राजपूत राजा (अमरसिंह) की मनोदशा मालूम होती है।" —जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 287

2. "एक फरमान महाराणा अमरसिंह के नाम जिसमे बहुत-सी खातिर तसल्ली की बातें लिखी थी, और एक ढाके की मलमल के टुकडे पर बादशाह के खास पजे का निशान केसर के रग का लगा हुआ भेजा। इस पजे के निशान से बादशाह का यह मतलब था कि इसको हमारा वचन समझकर राणा अमरसिंह कुछ खौफ न करे, और शाहजादे को लिखा कि राणा उदयपुर जिन शर्तो के साथ दरख्वास्त पेश करे, वह मजूर करके कुवर कर्णसिंह को हमारे पास ले आओ।"—'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 236

जेम्स टाड और 'वीर विनोद' के लेखक दोनो ने लिखा है कि जहागीर द्वारा भेजा गया 'एक ढाके की मलमल के टुकडे पर बादशाह के खास पजे का निशान केसर के रगत का लगा हुआ' उन दोनो ने देखा था।

समझौता किसी भी तरह, इस यशस्वी पुरुष की जो भी इच्छा हों उसे पूरा करके, कर लिया जाये )।"[1]

जहांगीर के पंजे के निशान ने सब काम बना दिया। सबको विश्वास हो गया कि बादशाह स्वयं महाराणा से सुलह करना चाहता है। फिर तो घटनाओं ने तेजी पकड़ ली।

शुक्रुल्ला और सुन्दरदास अजमेर से लौटकर शाहजादा खुर्रम के पास पहुंचे, और उसे बादशाह के आदेश से अवगत किया। खुर्रम ने मेवाड़ से आये झाला हरदास और शुभकरण को सारी स्थिति समझायी, और बादशाह का फरमान सौंप दिया। उनके साथ सुन्दरदास को भी उसने रवाना किया ताकि शाही प्रस्ताव पर और ज्यादा विश्वास और सहानुभूति के साथ विचार किया जा सके।

'तत्कालीन परिस्थिति मे सबसे सम्मनानुकूल' संधि की प्रस्तावित शर्तें मुख्य रूप से यह थीं :

(1) राणा स्वयं खुर्रम के सामने अपने को प्रस्तुत करेगा।
(2) वह अपने पुत्र कर्ण को बादशाह के दरबार मे भेजेगा।
(3) वह अन्य राजाओ की तरह बादशाही सेवा स्वीकार करेगा।
(4) स्वयं उसे दरबार मे हाजिर होने से छुट्टी मिली रहेगी।
(5) चित्तौड़ का किला फिर से राणा को सौंप दिया जायेगा, परन्तु उसकी मरम्मत नहीं की जा सकेगी, न उसकी फिर से किलेबन्दी की जायेगी।[2]
(6) राणा शाही सेना के लिए 1,000 सवार देगा।[3]

(1615 की संधि ने दो राजघरानों के बीच प्रायः एक शताब्दी से चले आ रहे संघर्ष को समाप्त कर दिया। इसे जहांगीर के लिए राजनीतिक उपलब्धि और खुर्रम के लिए व्यक्तिगत सफलता माना जाना चाहिये। अमरसिंह और जहांगीर के बीच हुई

---

1 'जहागीरनामा', पृष्ठ 311

2. (क) 'रावल राणा री बात' के अनुसार यह भी शर्त तय हुई थी कि बादशाह के हुक्म के बिना राणा शाही धरती मे पैर नही रखेगा,विवाह-सबध मेवाड ही म करेगा, मेवाड मे नया किला नही बनायेगा न पुरानो की मरम्मत करेगा और स्वय किलो के भीतर नही रहेगा।

(ख) 'रूलिंग चीफ्स आफ राजपूताना' मे दो और शर्तें दी हुई है, (1)युवराज मुगल दरबार तक नगाड़े बजाते हुए जायेगा, (2) दरबार मे वह शाहजादो के ऊपर बादशाह के दाहिने पहली बैठक मे बैठेगा। यही रुतबा फिर महाराणा ने झाला हरदास के वशजो को दिया जो हाल तक चलता रहा।

(ग) जहागीर की ओर से चित्तौड के किले पर मुल्ला जमाल को काजी नियुक्त किया गया था। चित्तौड़ की बडी पोल (मुख्य द्वार) की छत के अन्दर की ओर 1617 मे एक लेख खुदवाया गया जिसका एक भाग संस्कृत मे(राजाधिराज महाराणा श्री अमरसिंह जी चिरजीव महाराज कुअर श्री करणजी की ओर से) और एक भाग फारसी मे (काजी जमाल की ओर से) है। काजी की ओर से अंकित कराया गया—'मदद और फतह खुदा की तरफ से आसान है, और खुशखबरी ईमानदारो के वास्ते हो, बेशक खुदा उम्दा हिफाजत करने वाला है।' 'अगर इस मकान मे कोई बदनिगाह करे तो उसकी आख अधी हो और पेट दर्द करे।'—'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 312

3 गोपीनाथ शर्मा, मेवाड़, पृष्ठ 120

संधि उन संधियों से सर्वथा भिन्न है जो किसी भी मुगल सम्राट और राजस्थान के किसी दूसरे राजपूत राजा के साथ हुई थी। जब कि अन्य राजपूत राजाओं के लिए स्वयं शाही दरबार मे उपस्थित होना अनिवार्य था, राणा को इससे मुक्ति दी गयी, और बादशाह ने स्वीकार किया कि उसके दरबार मे राणा का युवराज ही उसका प्रतिनिधित्व करेगा। मुगल शाही परिवार के साथ अपमानजनक वैवाहिक संबंध, जिनको अन्य राजपूत राजाओं ने स्वीकार किया था, इस संधि मे समाविष्ट नहीं किये गये थे। राजपूत राजाओं मे उसकी सबसे विशिष्ट स्थिति के कारण यह विशेष रियायत उदयपुर के राणा को दी गयी थी। यदि इनके लिए अड़ा जाता तो मुगलो और सीसोदियो के बीच एक शताब्दी से चला आ रहा संग्राम और भी खिंच जाता। संधि ने राणा को विशेष व्यवहार ही नही प्रदान किया, उसने साथ-साथ जहांगीर और खुर्रम की राजनीतिज्ञता तथा उदारता भी भली प्रकार दर्शा दी।[1]

अमरसिंह इन दिनो गोगूदे के निकट पश्चिमी पहाड़ो मे 'मय अपने राजपूत व भाई बेटो के' था। "जब इतनी बात हो चुकी और फरमान कुंवर कर्णसिंह के पास पहुच गया, तब मय कुछ सरदार व भाई बेटो के कुवर कर्णसिंह ने महाराणा के पास जाकर सुलह का सब हाल अर्ज किया। महाराणा अमरसिंह सुनकर चुप हो गये, जबान से कुछ नही कहा, लेकिन चेहरे पर एकदम उदासी छा गयी कि मानो कोई आसमानी बला एकदम उनके सिर पर आ पड़ी है। खामोशी के आलम मे थोड़ी देर के बाद महाराणा ने कहा कि मै अकेला अब क्या कर सकता हूं? तुम सब लोगो की यही मन्शा है तो मुझे भी सहना पड़ेगा। दाजीराज (पिता, प्रतापसिंह) का ताना सहन करने का (अथवा उसकी परम्परा तोड़ने का) इरादा मेरा नही था, लेकिन ईश्वर ने आंख से दिखाया। सब सरदारो ने, जो आकिल और दाना थे, बहुत सी नसीहतो से अर्ज किया कि बादशाह के सामने आपके बड़े कुंवर भेजे जाते हैं, जो उमराव के बराबर हैं। तब महाराणा ने कहा कि तुम लोग जो मेरी तसल्ली के लिए बातें करते हो वह सब ठीक है, लेकिन फरमान की पेशवाई को जाना, खिलअत पहनना और शाहजादे के पास जाकर सलाम करना, जो आज तक मेरे बड़े-बूढो ने कभी नहीं किया, वह मुझको करना पड़ा। इस तरह अफसोस करने के बाद दस्तूर के मुवाफिक पेशवाई वगरह करके शाही फरमान लिया गया।"[2]

यहां 'दस्तूर के मुवाफिक बड़े' कठोर और निर्दयी शब्द हैं। अब तक मेवाड़ में अपना दस्तूर चलता था, अब मुगल दरबार का दस्तूर चलने लगा। एक युद्ध ही नही, एक युग ही समाप्त हो गया।

कुछ विद्वान इस स्थिति के लिए नितान्त रूप से कर्णसिंह को दोषी ठहराते हैं। "राणा उदयसिंह ने मेवाड़ में मुगल प्रयत्न को 1568–69 मे निष्फल कर दिया।

---

1. गोपीनाथ शर्मा, मेवाड़, पृष्ठ 122
2. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 237

उसके पुत्र प्रतापसिंह ने सारे जीवन मुगलो के विरुद्ध अभियान चलाये रखा, और उसका पौत्र राणा अमरसिंह भी अपना कार्यकाल इसी गौरव के साथ समाप्त करता यदि कुंवर कर्णसिंह ने विश्वासघात नहीं किया होता।"[1]

मेवाड़-विजय के लिए अकबर 30 अगस्त 1567 को आगरा से निकला था, मेवाड़-विजय करके जहांगीर 10 नवम्बर 1616 को अजमेर से रवाना हुआ। मुगलो की दो पीढ़ियो का सामना मेवाड़ की तीन पीढ़ियों ने 49 वर्ष किया। अन्ततः पराजय हुई, परन्तु यह अवधि वीरता और बलिदान के इतने अनुपम उदाहरणों से भरी है कि जिसे जब यह भाव छूते हे, वह मेवाड़ को नमस्कार करता है, उससे प्रेरणा प्राप्त करता है। यह पराजय भी बड़ी से बड़ी विजय से अधिक आदरणीय हो गयी।

"तैमूर के राजकुल और चित्तौड़ के बीच हुआ दीर्घकालीन संघर्ष, जो 1526 में आरम्भ हुआ था, लेकिन जिसने गंभीर और निरन्तर स्वरूप 1567 में प्राप्त किया, इस तरह समाप्त हो गया। अर्ध शताब्दी तक प्रतिरोध के लिए किये गये इस संग्राम का इतिहास विलक्षण वीरता, आश्चर्यकारी स्वामिभक्ति, असाधारण बलिदान, अतिशय एकाग्रता, चरित्र की उदात्तता, देशभक्ति की उच्चता तथा अत्यन्त रोमांचक घटनाओं से भरा है। इससे पहले राजपूती साहस और आदर्शवादिता की कभी इतनी कड़ी परीक्षा नही हुई थी, और कभी वह इतने गौरव और यश से देदीप्यमान नहीं हुआ था। एक भावना और मान्यता के लिये पांच दशक तक अत्यन्त कठिन प्रतिकूलताओ के सामने सफलताविहीन संग्राम करने, अकथनीय कष्ट सहने और सब सुखों का बलिदान करने के लिए बहुत ही उदात्त गुणो की आवश्यकता होती है। यदि सभी राजपूत राज्य स्वाधीनता के लिए इससे आधा भी उत्साह दिखा पाते तो मुगल साम्राज्य का इतिहास दूसरा ही होता। 'राज्य की स्वतन्त्रता की केसरिया पताका फहराती रखने के लिए मेवाड़ के महाराणाओं ने कोई भी यत्न बाकी नही रखा, न किसी कष्ट को सहने से मुंह मोड़ा। इसी कारण उनका इतना यश है।"[2]

स्वतन्त्र मेवाड़ के अन्तिम अध्याय के लेखक अमरसिंह को अपने किये पर, यद्यपि परिस्थिति ने उसके लिए कोई विकल्प नहीं छोड़ा था, आजीवन पश्चाताप रहा। उनकी आत्मग्लानि व्यक्तिगत थी। इसका उतना कारण नहीं था, उसने इससे बचने लिए अठारह वर्ष ऐसा सघर्ष किया था, जो हर तरह प्रताप के (हल्दीघाटी–जगन्नाथ आक्रमण) नौ वर्षो के संघर्ष से दुगुना बैठता हैं। मुगल प्रयत्न बीच में नहीं छोड़ते, और अपनी पूरी शक्ति लगाते, तो परिणाम तब भी यही निकलता। अमरसिह की जो इसके लिए आलोचना करते है वे इस मूल बात को भूल जाते है कि यह संघर्ष वह अपनी मातृभूमि के लिए कर रहा था, उसके लिए वह लड़ा, और उसी के लिए उसने अपने आत्मसम्मान का बलिदान कर दिया। मुगल सेना से आधी शताब्दी लड़ते

1. आर्य रामचन्द्र जी. तिवाड़ी, इडियन हिस्ट्री काग्रेस प्रोसीडिंग्स, 1960, पृष्ठ 185
2 त्रिपाठी, पृष्ठ 377

लड़ते, और अकबर के पहले भी कम क्षतिकारी युद्ध नहीं हुये थे. मेवाड़ ऐसा निर्बल हो गया था कि अब कोई भी वार सहने की क्षमता उसमें नहीं बची थी। मेवाड़ के लिए जीवन और मरण की स्थिति आ गयी थी। जीवन हर मूल्य पर रक्षणीय है, यह मूल्य उस समय था अपनी स्वाधीनता, यद्यपि मेवाड़ और उसके महाराणा के सम्मान को संरक्षण दे दिया गया था और मेवाड़ की आन्तरिक स्वाधीनता जैसी की तैसी छोड़ दी गयी थी। जेम्स टाड ने परिस्थिति का सही विश्लेषण किया है, 'विरले ही ऐसे प्रसंग मिलेंगे जब शरणागत राजा को इतना समादर मिला हो। इस शरणागति का कारण शस्त्रों के प्राबल्य से अधिक तत्कालीन परिस्थिति थी।' अमरसिंह के निर्णय पर आलोचना करना वृथा है, वह ऐसा नहीं करता तो स्वयं भी मरता, शायद मौत से भी बुरी उसकी हालत होती, और उसका मेवाड़ सदा के लिए मानचित्र से उठ जाता। इन अंतिम क्षणों में भी उसने जो सफलता प्राप्त की उसे इस भयंकर घटना-क्रम में भुला दिया है। उसने मुगलों से एक ऐसी संधि प्राप्त की जैसी इसके पहले उन्होंने किसी दूसरे राजा को नहीं दी थी, जिसके अन्तर्गत मेवाड़ की आन्तिरिक सुरक्षा अक्षुण्ण रही, और स्वयं महाराणा का सम्मान संरक्षित रहा। इसके कारण मेवाड़ को तत्काल शांति मिली जिसके बिना उस समय काम चल ही नहीं सकता था, और जिसने अमरसिंह के बाद मेवाड़ को दो पीढियों का समय अपना पुनर्निर्माण करने का ऐसा दिया कि उसमें फिर से औरंगजेब जैसे मुगल बादशाह से लड़ाई मोल लेने की क्षमता आगयी।

जहांगीर ने यह संभव करके विजेताओं में, जीतकर भी प्रायः सबका सब विजित को लौटाकर, अपना नाम अमर कर लिया है। उसने वे बौद्धिक और आत्मिक गुण दिखाये जिनका या तो अकबर में अभाव था, या उसने उनका लाभ मेवाड़ को नहीं दिया, इतनी कटुता और शत्रुता उसके मन में मेवाड़ के लिए थी। जो कुछ विजय के बाद जहांगीर ने किया उसकी तुलना उससे की जाये जो अकबर ने चित्तौड़ जीतने के बाद किया था तो 'अकबर महान्' की महानता जड़ों से हिल जायेगी।

इस प्रश्न का उत्तर अकबर की ओर से दिया ही नहीं जा सकता कि जिन शर्तों पर जहांगीर ने मेवाड़ से समझौता किया उन्हीं पर वह इस मोर्चे पर शांति क्यों नहीं प्राप्त कर सका? चित्तौड़-पतन के पहले उसे अवसर मिला था, और हल्दीघाटी के युद्ध के पहले भी। जहांगीर ने उससे अधिक निपुणता से लड़ाई लड़ी और उससे अधिक उदारता से संधि की। मेवाड़ अकबर की महिमा पर एक ऐसा धब्बा है जो महानता की गरिमा से धोकर दूर नहीं किया जा सकता।

आगे की घटनाएं औपचारिकता मात्र हैं। अमरसिंह खुर्रम के पास गया।[1] वह अपने साथ अपने बड़े पुत्र कर्णसिंह को नहीं ले गया। राजपूत पक्ष मानते हैं कि

---

1 ऐसा माना जाता है कि आत्मग्लानि के वशीभूत हो अमरसिंह ने शाहजादा के पास जाने के पहले उस राज-सत्ता का त्याग कर दिया था जिसकी वह स्वयं रक्षा नही कर सका था, सारा राजकाज उसने

सबको इकट्ठा शाहजादे के पास जाने में दगा का खौफ होने से कुंवर कर्णसिंह को डेरों पर छोड़कर अमरसिंह शाहजादे के पास गया था[1], जबकि मुगलपक्ष बताते हैं कि 'भूस्वाधिकारियों में यह प्रथा है कि टीकायत पुत्र अपने पिता के साथ दूसरे राजा या राजकुमार का अभिवादन करने नहीं जाता, इसलिए राणा भी इसी प्रथा का विचार कर कर्ण को अपने साथ नहीं लाया, जिसे यौवराज्य का टीका हो चुका था'।[2] 'पहला कारण और दूसरा बहाना हो सकता है। अमरसिंह के साथ उसके तीन पुत्र भीमसिंह, सूरजमल और बाघसिंह तथा दो भाई सहसमल तथा कल्याण गये थे। 'इनके सिवाय दूसरे भी 100 बड़े दरजे के बहादुर राजपूत सरदार मय अपने-अपने चुने हुए मुलाजिमों के हमराह चले।'[3]

खुर्रम का शिविर उस समय गोगूंदा में था। जहां महाराणा प्रताप का राजतिलक हुआ था वहीं उसका पुत्र शत्रु के आगे नतमस्तक हो रहा था। महाराणा के निकट आने की बात जानकर शाहजादे ने अपनी ओर से ऊंचे-ऊंचे लोगों को स्वागत के लिए भेजा। इनमें थे गुजरात के सूबेदार अब्दुल्लाखान, जोधपुर का राजा सूरसिंह, राजा नरसिंह देव बुन्देला, सुखदेव और सैयद सैफखान बारह। ये लोग शिविर के बाहर जाकर अमरसिंह तथा उसके साथियों से मिले और उन लोगों को 'बड़ी इज्जत के साथ शाहजादे के पास लाये। दस्तूर के मुवाफिक सलाम कलाम के बाद शाहजादे के बाईं तरफ महाराणा बिठाये गये।' "हमारे पुत्र ने राणा के साथ बड़े कृपापूर्वक बर्ताव किया। जब राणा ने उसके पैर पकड़े तथा अपने दोषों के लिए क्षमा मांगी तब उसे उठाकर छाती से लगा लिया, और उसे शांत करने के लिए बहुत कुछ समझाया।"[4]

इसे भी विवाद का विषय बना दिया गया है कि अमरसिंह ने खुर्रम के 'पैर पकड़े' थे या नहीं। पैर पकड़कर सम्मान प्रकट करना मुगल दरबार के 'दस्तूर के मुवाफिक' नहीं था, ऐसा न था, ऐसा न ही शाही दरबार में किया जाता था न बादशाह के सामने अकेले जाने पर, और इतनी उदारता दिखाने वाला खुर्रम अमरसिंह को ऐसा कैसे करने दे सकता था? ऐसा लगता है कि जहांगीर ने यह बात एक मुहावरे की तरह लिखी है। अमरसिंह अपनी स्वतन्त्रता समर्पित करने गया ही था तो इसे दर्शाने के लिए उसने क्या किया, क्या नहीं किया, इसका उतना महत्व नहीं रहता। औपचारिकता के आवरण से वास्तविकता को छिपाया नहीं जा सकता। सुदीर्घ स्वाधीनता-संग्राम के कारण मेवाड़ का शत्रु पक्ष में भी सम्मान था, और उसी के अनुरूप, सम्मानित

---

कर्णसिंह और शासन-परिषद् को सौंप दिया था। उसने इनके बाद लोगों से मिलना-जुलना बन्द कर दिया, और श्मशान के पास महल बनवाकर रहने लगा। उसने अपना दाह संस्कार राजकीय श्मशान से दूर करने के आदेश दिये। उसकी छतरी अब भी और राजकीय छतरियों से अलग देखी जा सकती हैं।

1. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 237
2. 'जहांगीरनामा', पृष्ठ 343
3. 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 238
4. 'जहांगीरनामा', पृष्ठ 343

शत्रु के योग्य, सम्मान अवश्य उस समय अमरसिंह के प्रति शाहजादा खुर्रम ने दिखाया होगा। 'राज प्रशस्ति' में तो कहा गया है, 'सस्नेह वे दोनो प्रशंसनीय रीति से आदर-पूर्वक मिले।' इस अवसर पर एक दूसरे को अपमानित करने का प्रयत्न कोई नहीं कर सकता था।

राजकीय परम्परओं के अनुसार भेंटों का आदान-प्रदान हुआ। अमरसिंह ने इस अवसर पर 'अपने गृह का प्रसिद्ध' बड़ा लाल भेंट किया। उसकी उस समय कीमत 60,000 रुपये थी। यह लाल मारवाड़ के राजा मालदेव के पास था। उसके पुत्र चंद्रसेन ने इसे महाराणा उदयसिंह को दिया था। तभी से यह मेवाड़ के राजकुल के पास था। इस पर वाद में जहांगीर ने अंकित करवाया 'दसुल्तान खुर्रम दर हीने मुलाजमात, राना अमरसिंह पेशकश नमूद', अर्थात् राणा अमरसिंह ने सुलतान खुर्रम को अभिवादन करते समय भेंट किया। 'इस परिवार में इससे अधिक मूल्य की कोई वस्तु नही थी।' इस लाल की वाद मे कई हाथो अदला-बदली हुई, और वारवार इसका नाम वदला, परन्तु इसका विशेष महत्त्व उस घटना की स्मृति के रूप में है जिसने मेवाड़ के क्या, भारत के इतिहास को वदल दिया। जहांगीर को यह लाल वहुत पसन्द आया। आगे चलकर उसने स्वयं इसे धारण किया।[1] कुछ अन्य 'बेशकीमती जवाहिरात और जड़ाऊ गस्त', सोना, मूल्यवान वस्त्र, मिठाइयां, सात हाथी, जिनमें कई वादशाह की निजी हथसाल के योग्य थे, तथा नौ घोड़े भी अमरसिंह ने भेंट किये।

खुर्रम ने अपनी ओर से एक 'वहुत अच्छा' खिलअत, एक जड़ाऊ तलवार, सोने की जड़ाऊ जीन सहित एक घोड़ा तथा चांदी के साज सहित एक 'निजी हाथी' दिया। अमरसिंह के भाई, वेटे और पांच प्रमुख राजपूत सरदार भी खिलअत, जड़ाऊ

---

1. इसे अपने प्रयोग मे लाने की वात जहागीर ने इस प्रकार लिखी है, "ईश्वर की क्षमा तथा दया के कारण एव ईश्वर की कृपा के चिह्न रूप मे एक ऐसा कार्य इस समय हुआ जो विचित्रता से खाली नही है। राणा पर विजय प्राप्त करने के अनतर हमारे पुत्र ने एक लाल भेंट किया था, जो वहुत ही सुन्दर तथा स्वच्छ जलवा का था एव जिसका मूल्य साठ सहस्र रुपये था। हमारा विचार हुआ कि इस लाल को अपने वाह मे वाधें। हम वहुत चाहते थे कि एक ही रूप के दो अलभ्य अच्छे पानी के मोती मिलें, जो इस लाल के अनुरूप हो। मुकर्रवखान ने एक वहुत अच्छा मोती वीस सहस्र रुपये मूल्य का नौरोज की भेंट मे दिया था। हमारा विचार हुआ कि यदि इसी के जोड का एक और मोती मिल जाये तो एक अच्छा भुज (वन्द) वन जायेगा। खुर्रम वचपन ही मे हमारे श्रद्धेय पिता के पास रहा करता था तथा दिनरात उनके समीप उपस्थित रहता था। उसने एक दिन हमसे कहा कि उसने एक पुरानी पगड़ी में एक मोती देखा है जो इस मोती के आकार, तौल के वरावर है। वे एक पुराना सिरपेच ले आये, जिसमे एक वड़ा मोती ठीक उसी प्रकार आकार तथा तौल का था, यहा तक कि तौल में तनिक भी कम अधिक नही था, और जौहरीगण भी आश्चर्यचकित रह गये। मूल्य, रूप, चमक तथा पानी सभी मे समान था और ऐसा ज्ञात होता था कि दोनो एक ही साचे मे ढले है। लाल के दोनो ओर मोतियो को रखकर हमने उसे वाह पर वाध लिया और नम्रता तथा सिजदे मे भूमिपर सिर रखकर हमने खुदा को धन्यवाद दिया जो अपने वदे पर दया करता है तथा हमारी जिह्वा से अपनी स्तुति कराता है :

कौन हाथ और जिह्वा से सफल होता है ?
वह जो धन्यवाद का स्वत्व चुकाता है।—'जहागीरनामा', पृष्ठ 387

जमघर और घोड़ो से सम्मानित किये गये। चालीस अन्य सरदारों को खिलअत दी गयी। खुर्रम ने 'बड़े आदर-सत्कार के साथ महाराणा को बिदा किया। शुकुल्ला, अफजल खान तथा सुन्दरदास रायरायां महाराणा को पहुंचाने वहां तक गये जहां उसका आने पर स्वागत किया गया था।'[1]

इसके बाद कर्णसिंह खुर्रम के सम्मुख उपस्थित हुआ। अफजलखान और सुन्दरदास उसके स्वागत के लिए भी शिविर के बाहर तक गये। खुर्रम ने उसका भी आदर किया, और उसे अपनी ओर से खिलअत, जड़ाऊ जमघर, सोने के सामान सहित घोड़ा और चांदी के गहने और 'झूल' सहित हाथी दिया। 'जब शाहजादे ने कर्णसिंह को अपने साथ अजमेर चलने को कहा तो कर्णसिंह ने अपने मुल्क की बरबादी तकलीफो का हाल कहकर जल्दी सफर न कर सकने का उज्र किया। शाहजादे ने 50,000 रु० नकद अपने पास से सफर खर्च के लिए कुंवर को दिये। तब कुवर ने अपना सामान दुरुस्त करके शाहजादे के साथ चलने की तैयारी की।'[2]

इस समाचार को प्राप्त करके जहांगीर बहुत ही प्रसन्न हुआ। यह स्वाभाविक था। उसका पिता, पितामह और प्रपितामह–अकबर, हुमायूं और बाबर–न मेवाड़ को जीत सके थे न मित्र बना सके थे। जहांगीर ने मेवाड़ को जीत भी लिया था, मित्र भी बना लिया था। बाबर को संग्राम सिह से संधि के समय, हुमायूं को गुजरात के सुलतान द्वारा चित्तौड़ के हमले के समय और अकबर को चित्तौड़ की घेरेबन्दी के समय, और चार-चार दूत-मण्डलो की प्रताप से वार्ता के समय, राजस्थान के यशस्वी राज्य मेवाड़ से शांति से सम्मानपूर्ण समझौता करने का अवसर मिला था। जहांगीर से कही बड़े माने जाने वाले ये बादशाह जहा असफल हुए, अपने शासन के दसवें वर्ष ही में जहांगीर सफल हो गया था।

"हमारे भाग्यवान पुत्र का एक सेवक मुहम्मद बेग आया और हमारे पुत्र के पास से यह सूचना लाया कि राणा अपने पुत्रों के साथ आकर शाहजादे की सेवा मे उपस्थित हुआ है। हमने तत्काल किब्ले की ओर मुख फेरा और धन्यवाद से सिज्दा किया। हमने एक घोड़ा, एक हाथी तथा एक जड़ाऊ खंजर उक्त मुहम्मद बेग को दिया, और उसे जुल्फिकारखान की पदवी दी।"[3]

मेवाड़-विजय की स्मृति स्थायी रखने के लिए जहांगीर ने अजमेर से ही एक रुपये का विशेष सिक्का निकलवाया।

जिस दिन खुर्रम की अमरसिंह और कर्णसिंह से भेट हुई, उसी 'दिन के अंत में ज्योतिषियों ने हमारे सौभाग्यवान पुत्र के यात्रा आरंभ करने की साइत दी थी'। अतएव उसी दिन वह कर्ण को साथ लेकर 'इस प्रसिद्ध दरबार' की ओर चला। जहांगीर

1 दयाल कवि कृत 'राणा रासो' के एक उल्लेख से यह अनुमान होता है कि खुर्रम और अमरसिंह के बीच इस अवसर पर एक गुप्त संधि हुई थी कि जहागीर के बाद दिल्ली का सिंहासन दिलाने मे अमरसिंह खुर्रम की सहायता करेगा। ऐसा उल्लेख और कही नही मिलता।

2 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 238

3 'जहागीरनामा', पृष्ठ 343

अजमेर में था। 18 फरवरी 1615 को खुर्रम अजमेर नगर के पास देवरानी गांव में पहुंचा। वहां उसने पड़ाव डाला।

इस समाचार के मिलते ही जहांगीर ने आज्ञा दी कि सभी सरदार जाकर उससे मिलें और हर एक 'अपनी स्थिति और दशा के अनुकूल' भेंट दे। अगले दिन शाहजादा 'बड़े वैभव के साथ,' उस सारी सेना के साथ जो उसके साथ मेवाड़ भेजी गयी थी, दीवान-इ-आम में उपस्थित हुआ। सेना के प्रमुख सेनानी और विशिष्ट सरदार उसके साथ थे जब शाहजादा खुर्रम शाहंशाह जहांगीर के सम्मुख उपस्थित हुआ। 'हमारी सेवा में उपस्थित होने की साइत दो प्रहर दो घड़ी दिन के व्यतीत होने पर थी, और उसने आकर सेवा में उपस्थित होने, अभिवादन करने तथा कदमबोसी करने का का सौभाग्य प्राप्त किया।' खुर्रम ने उपरोक्त प्रसिद्ध लाल, एक हजार अशर्फी और एक हजार रुपये भेंट दिये और एक हजार मुहर और एक हजार रुपये निछावर के दिये।

(कुछ दिन बाद खुर्रम ने 'चार पांच लाख रुपये की अलभ्य वस्तुएं' सम्राट की सेवा मे उपस्थित कीं, जिनमें से लगभग एक लाख रुपये की चीजें उसने लीं और बाकी लौटा दीं। जो चीजें ली गयीं उनमें 'एक छोटी शीशे की पेटी फिरंग की बनी हुई थी, जो बड़ी सुन्दर थी', तथा कुछ पन्ने, तीन अंगूठियां, चार ईरानी घोड़े आदि थे।)

सम्राट ने अपने पुत्र को पास बुलाया, उसे गले लगाया और उसका सिर तथा मुख चूमकर उसका 'विशिष्ट कृपाओ से' स्वागत किया। जब खुर्रम स्वयं अभिवादन, भेंट और निछावर कर चुका, उसने प्रार्थना की कि 'कर्ण को भी सेवा में उपस्थित होने तथा अभिवादन करने का सौभाग्य प्राप्त कर सम्मानित होने का अवसर दिया जाये'।

बख्शियो ने दरबार के नियमो के अनुसार कुंवर कर्णसिंह को जहांगीर के सामने उपस्थित किया। जब वह अभिवादन आदि कर चुका, अपने पुत्र खुर्रम की प्रार्थना पर बादशाह ने आज्ञा दी कि उसे उसके सामने 'सबसे आगे के घेरे के दाहिनी ओर' खड़ा करे। खुर्रम का काम पूरा हुआ। उसे अपनी माताओ के पास जाने के आदेश हुए। उसे विदा देते समय एक खास खिलअत दी गयी, जिसमें जड़ाऊ चारकब, सुनहले कारचोब का अबा तथा मोतियो की माला थी। जब उसने जाने के पहले अभिवादन किया, उसे एक खास खिलअत फिर दी गयी, साथ मे एक खास घोड़ा और एक खास हाथी। कर्णसिंह को भी एक बहुत अच्छी खिलअत तथा एक जड़ाऊ तलवार दी गयी। खुर्रम की सेना के अमीरो और मनसबदारो को भी 'सिज्दा करने, अभिवादन करने एवं भेंट देने का सौभाग्य मिला'। इनमें से हर एक अपनी सेवा तथा पद के अनुसार 'कृपा पाकर सम्मानित हुआ'।

जहांगीर ने कर्णसिंह के प्रति बहुत स्नेह और सद्भाव दिखाया। वह नयी स्थिति मे, नये वातावरण में आया है, इसका उसने बहुत ध्यान रखा। "यह आवश्यक था कि कर्ण के हृदय को आकर्षित किया जाये, जो वन्य प्रकृति का था, जिसने कभी जलसों को नहीं देखा था एवं पहाड़ो का ही रहने वाला था। इसलिए हम प्रतिदिन उस पर नयी कृपायें करते रहे। हमारा विचार था कि उसे हर प्रकार की वस्तु दी जाये।"[1]

कर्णसिंह की उपस्थिति के दूसरे दिन एक जड़ाऊ खंजर तथा तीसरे दिन जड़ाऊ जीन सहित एक खास घोड़ा उसे दिया गया। जिस दिन वह जनाने महल के दरबार में गया, नूरजहां बेगम की ओर से एक बहुमूल्य खिलअत, एक जड़ाऊ तलवार, जीन सहित घोड़ा तथा एक हाथी दिया गया। इसके अनन्तर जहांगीर ने उसे मूल्यवान मोती की माला उपहार में दी। एक दिन बाद फिर साज सहित एक हाथी उसे दिया गया। उसे तीन बाज तथा श्येन, एक खास तलवार, एक कवच, एक खास आभूषण तथा दो अंगूठियां दीं, जिनमे एक मे लाल तथा एक में पन्ना जड़ा हुआ था। महीने के अंत मे जहांगीर ने आज्ञा दी कि सभी प्रकार के कपड़े, मसनद तथा तकिये, हर प्रकार के इत्र, सोने के बर्तन, दो गुजराती वस्त्र तथा कपड़े, एक सौ थालियो में सजाये जायें। अहदियो ने इन सबको अपने हाथों में तथा कंधो पर लेकर दरबार में पहुंचा दिया, जो सब उसे उपहार में दिये गये।[2]

जहांगीर ने कर्णसिंह के प्रति जो स्नेह और सम्मान दिखाया उसके उदाहरण उसके आत्मचरित के पृष्ठ पृष्ठ पर अंकित है। एक दिन उसे खास घोड़ा दिया गया, एक दिन जड़ाऊ तलवार कमर पेटी सहित। जिस दिन उसे पांच हजार जात और सवार का मनसब[3] दिया गया उसी दिन एक छोटी माला मोतियो तथा पन्ने की दी गयी, जिसमे एक लाल लगा था।

'दरबार में आते ही उसको पांच हजारी जात और पांच हजार सवार का मनसब देना एक प्रतिष्ठा की बात है, क्योंकि अन्य राजाओं के कुंवरों की बात तो दूर

---

1 'जहांगीरनामा', पृष्ठ 315

2 वही, पृष्ठ 345

3 (क) बेनीप्रसाद, पृष्ठ 227

(ख) सामान्य सैनिकों और संदेशवाहकों के अतिरिक्त जो भी सैनिक अथवा असैनिक शाही सेवा मे आता था उसे निर्धारित मनसब दिया जाता था। मनसब का मतलब होता है जहा कुछ रखा या बनाया जाता है, अथवा सम्मान या उच्चपद का धारण-कर्ता। मुगल मनसब संस्था अपने साथ मध्य एशिया से लाये थे। उससे व्यक्ति का शाही सेवा मे स्तर और बदले मे प्राप्त धन निर्धारित होता था। इसका अर्थ यह नही होता था कि जिसे मनसब मिले उसे अनिवार्य रूप से कोई पद भी दिया जाये, इसका अर्थ इतना ही होता था कि संबंधित व्यक्ति शाही सेवा मे है और जब उससे कहा जायेगा निर्धारित सेवा को उद्यत रहेगा। दस से दस हजार तक का मनसब होता था, परन्तु आरम्भिक अवस्था मे, अकबर के समय मे, सामान्य व्यक्तियों को ऊचा से ऊंचा मनसब पाच हजार का ही दिया जाता था। इससे ऊचा मनसब शाही शाहजादो के लिए सुरक्षित था।

मनसब को और भी सम्मानित करने के लिए उसके साथ सवारो की संख्या भी जोड दी जाती थी। मूल मनसब को जात और अतिरिक्त सम्मान को सवार कहा जाता था।

इस तरह कर्णसिंह को ऊचा से ऊंचा मनसब दिया गया था।

रही, किन्तु किसी राजा को भी वादशाह की सेवा स्वीकार करते ही पांच हजारी मनसब नहीं मिलता था और न ऐसी खातिर होती थी। राजा आदि सब मनसबदारों को मनसब के नियमानुसार नियत घोड़े, हाथी आदि लेकर सेवा में स्वयं उपस्थित रहना पड़ता था, परन्तु यह पाबन्दी कुंवर कर्णसिंह के लिए न थी।'

कर्णसिंह साम्राज्य की सत्ता से तो प्रभावित हो ही चुका था, उसका जो राज्य अपने स्वाभिमान और स्वतन्त्रता-प्रेम के लिए सुप्रसिद्ध था साम्राज्य की सैन्य शक्ति के आगे घुटने टेक चुका था। जहाँगीर की इच्छा अपनी व्यक्तिगत क्षमता से भी कर्णसिंह को प्रभावित करने की थी। इसका अच्छा वर्णन उसने स्वयं किया है, "कुंवर कर्ण के विदा होने का समय पास आगया था और हमारा विचार उसे गोली चलाने की अपनी दक्षता दिखलाने का था। इसी समय करावलों ने एक शेरनी की सूचना दी। यद्यपि हमारा निश्चित मत नर शेरों का अहेर खेलने ही का रहता था, पर इस ध्यान से कि कहीं उसके जाने समय तक कोई शेर न मिले हम उस शेरनी ही के अहेर को चल दिये। हम कर्ण को साथ लिवा ले गये, और उससे कह दिया कि जहाँ वह कहेगा वहीं हम गोली का निशाना लगायेंगे। यह प्रवन्ध कर हम उस स्थान पर गये जहां वह शेरनी मिली थी, तथा जिस हथिनी पर हम सवार थे वह शेरनी के भय से शांत खड़ी नहीं रहती थी। निशाना लगाने की इन दो वड़ी बाधाओं के रहते भी हमने उसकी आंख पर सीधे गोली चलादी। सर्वशक्तिमान ईश्वर ने हमें उस राजकुमार के सामने लज्जित होने से बचा लिया और जैसा हमने स्वीकार किया था वैसे ही आंख मे गोली लगी। उसी दिन कर्ण ने एक विशिष्ट बंदूक के लिए प्रार्थना की और हमने उसे एक खास तुर्की बंदूक दी।"[1]

जहांगीर के दरवार में भेंट लेने और देने का क्रम निरन्तर चलता रहता था। जब जहांगीर दूसरों को भेंट देता था तव उसे कर्ण का ध्यान रहता था। उसने उसे इसी सिलसिले में एक दिन दस हजार दर्ब (आधे रुपये का चांदी का सिक्का) दिये। कुछ दिन वाद उसे पशमीने का कवा (दुशाला खास), बारह हिरण तथा दस अरबी कुत्ते दिये गये। एक दिन चालीस, और दूसरे दिन इकतालीस तथा तीसरे दिन बीस, तीन दिनो मे कुल मिलाकर एक सौ एक घोड़े कुंवर कर्ण को दिये गये। दस चीरा (पगड़ी), दस कवा और दस कमर पेटियां उसे दी गयी, और पन्द्रह दिन बाद फिर एक हाथी। आगे चलकर कर्ण को दो हजार रुपये मूल्य की एक कलंगी भी दी गयी।

जहांगीर ने कर्ण सिंह को 21 मई 1615 को जागीर दी। इसके लिए दिये गये फर्मान में लिखा था, "उन इकरारों के मुवाफिक जो 19 वीं तीर सन् 10 जुलूस

---

1 'जहांगीरीनामा', पृष्ठ 354

को हुए है, इस वक्त में बड़े दर्जे वाला फर्मान मिहरबानी के तरीके से जारी किया जाता है कि पांच किरोड़ तीस लाख छः हजार आठ सौ वत्तीस दाम बुजुर्ग सरदार मिहर-वानियों के लायक बादशाह के पसन्दीया कुंवर कर्ण, बड़ी इज्जत वाले खानदानी राणा अमरसिंह के बेटे, की जागीर में मुकर्रर होकर सौंपे जाते है। मुनासिब है कि बड़े हाकिम अहलकार, जागीरदार और कामदार दीवानी वाले, बादशाही हुक्म मानने वाले और कामों को सम्हालने वाले, बड़े पाक हुक्म के मुताबिक तामील करके उन परगनो की जिक्र किये हुए आदमी के कब्जे में छोड़कर वहां के कायदों में किसी तरह का फर्क न डालें। चौधरी, कानूनगो, पटेल, रउम्मत और किसानो को चाहिये कि नीचे लिखे परगनो में ऊपर लिखे आदमी को अपना जागीरदार (हाकिम) मुवाफिक फसल फसल पर और वर्ष वर्ष पर जवावदिही करते रहें, किसी तरह इस काम में कमी न करे। उस (कर्ण) के हिसावी गुमाश्तो की सलाह और तदवीर से वखिलाफ न होकर उनकी जगह मे उनके पास हाजिर होते रहे। हुक्म से वखिलाफ कोई काम न हो, अपने कायदे पर जमे रहे।" फर्मान मे उन स्थानो का विस्तार से उल्लेख है जो कर्ण को सौंपे गये। इनमें 'परगना उदयपुर वगैरह जो हमेशा वादशाही नौकरों की तनख्वाह में रहा है' भी था, और कुछ के वारे में लिखा था, 'वाजे परगने, इलाके राना की जमीन पास वाले मुद्दत से दो तरफ अमल में रहे, और वह परगने मिहरबानी से तनख्वाह मे जागीरदारो को मिले, अगरचे जाहिर है कि जागीरदार कुछ नही पाते थे', इससे प्रकट होता है कि मेवाड़ की जो भूमि शाही फौजें वारवार जीतती थीं उन पर उनका पूरा अधिकार कभी नहीं हो पाता था। इस जागीर में मेवाड़ की परम्परा-गत भूमि के हिस्सो के अतिरिक्त मालवे के सूबे के रतलाम परगने में से, वांसवाड़ा में से, अजमेर में से, 'रावत सगर की जागीर में से', 'राणा अमरसिंह के मुल्क में से' भी जमीन शामिल की गयी थी। इस तरह यह 'फर्मान आलीशान' मेवाड़ के युवराज को दिया गया।[1]

5 जून 1615 को अर्थात् लगभग चार महीने वाद जहांगीर ने कर्ण को 'अपनी जागीर में जाने की छुट्टी' दी। इस अवसर पर उसे एक घोड़ा, एक खास हाथी, एक खिलअत, पचास हजार रुपये मूल्य की मोतियों की एक लड़ी और दो हजार रुपये का एक जड़ाऊ खंजर दिया गया। "हमारी सेवा में उपस्थित होने के समय से छुट्टी पाने तक नगद, आभूषण, रत्न तथा जड़ाऊ वस्तुएं इसे दो लाख रुपये मूल्य की दी गयी थीं जिसके सिवा एक सौ दस घोड़े तथा पांच हाथी भी थे। हमारे पुत्र खुर्रम ने भी अनेक वार इसे वहुत कुछ उपहार दिया था। हमने मुबारकखान सजावत को एक घोड़ा तथा एक हाथी देकर साथ भेजा और राणा के पास कई मौखिक संदेश भी कहलाये। (पाठभेद—वहुत सी वातें मुहब्बत व नसीहत की राणा अमरसिंह को कहलायीं)।"[2]

---

1 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 239
2 'जहांगीरनामा', पृष्ठ 361

इंगलैंड के तत्कालीन वादशाह जेम्स का राजदूत सर टामस रो उस समय अजमेर मे उपस्थित था। जहांगीर से पहली वार भेंट का अवसर उसे अजमेर मे ही मिला था। उसने मेवाड़-विजय का समाचार 29 जनवरी 1615 के अपने पत्र में इंगलैंड के केन्टरवरी के लाट पादरी को भेजा था, जिसमें कहा गया था, मेवाड़ मुगल साम्राज्य के वीच मे एक राज्य है, 'जो पिछले साल के पहले कभी नहीं जीता जा सका था', "और सच वात तो यह है, उसे जीतने की जगह खरीदा गया है। उससे अपने से ऊंचा मनवाने के लिए शस्त्रों से अधिक पुरस्कारों[1] का प्रयोग किया गया है।"[2] इस कथन का तात्पर्य यही मानना होगा कि आपसी समझौते से सुलह हो गयी। जिस दिन सुलह हुई उसी दिन से भेंट का आदान-प्रदान चल निकला था, और कर्णसिंह को जो मूल्यवान भेंट दी गयी, यह उसी क्रम मे थी। "अव सोचना चाहिये कि इस चिट्ठी के मजमून से या जहांगीर की कर्ण के साथ मुल्की तदवीर से इस घराने के राजकुमारो को दिल्ली के मुसलमान वादशाह किस कठिनता के साथ अपने कावू में लाये थे।"[3] "जहांगीर के इस कथन से पाया जाता है कि कुवर कर्णसिंह के अजमेर आने पर वह उसको हर तरह के इनाम इकराम आदि देकर प्रसन्न करने का निरन्तर यत्न करता था और दाहिनी तरफ की पंक्ति में सवसे प्रथम स्थान उसको देने से निश्चित है कि उसने उसका वहुत कुछ सम्मान किया था।... राजा जैत्रसिंह से लगाकर महाराणा अमरसिंह के अठारहवें राज्य वर्ष पर्यन्त अर्थात् अनुमान 400 वर्ष तक मेवाड़ के राजा अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए मुसलमानों से वहुधा लड़ते ही रहे और उनकी अधीनता कभी स्वीकार न की। इतना ही नहीं, महाराणा सांगा तक तो वे समय-समय पर मुसलमानो से कई इलाके छीनकर अपना राज्य वढाते रहे। अंत मे मुसलमानों तथा अपनी कुल मर्यादा को तिलांजलि देकर वादशाही सेवा में रहे हुए स्वय राजपूत राजाओ आदि से कई वर्षो तक लड़ते रहने के पश्चात महाराणा अमरसिंह ने वादशाह जहांगीर से अपने प्राचीन गौरव की रक्षा के साथ ही सुलह की, जिससे मेवाड़ के किसी राजा को दिल्ली के किसी वादशाह के दरवार में जाकर सलाम करने या खड़ा रहने का अपमान सहना न पड़ा।"[4]

"केवल मेवाड़ के राजाओं के गद्दीनशीन होते ही खिलअत, फरमान आदि घर वैठे आ जाया करते थे और पांच हजारी मनसव भी मनसवदारी के नियमानुसार सेवा में रहे विना ही प्रतिष्ठा के चिन्ह स्वरूप मिल जाया करता था। मुगलो के समय में इतनी प्रतिष्ठा किसी हिन्दू राजा की नही थी, जितनी कि मेवाड़ वालो की थी।"[5]

1 यह विषय ज्यादा छानवीन लायक लगता है। जव मेवाड़ के सरदारो और मुगल शाहजादे के वीच समझौते की चर्चा हो रही थी, न जाने कौन-कौन कितना-कितना ले-देकर, वीच मे पड़ा होगा। —शाहजादे को आदेश था, 'समझौता किसी भी कीमत पर किया जाये।' क्या कीमत, किसको चुकायी गयी, कौन कह सकता है ?

2 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 289

3 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 251

4 ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 812

5 वही, पृष्ठ 813

जब बात तथ्यों मे उठकर भावनाओं के पास पहुंच जाती है, जेम्स टाड की बराबरी कोई नहीं कर सकता, "शाही इतिहासकार (जहांगीर) ने विस्तार से जो लिखा है[1] उसे सामान्य शब्दों मे प्रस्तुत कर देने से मेवाड़ के इतिहास के महत्वपूर्ण अवसर की रोचकता कम हो जाती। जो उल्लास जहांगीर को हुआ, उसे प्रकट करने का उसे अधिकार था। उसके उदार और आडंबरहीन व्यवहार के संबंध में, जिसका वर्णन स्वयं उसने अपनी लेखनी से किया है, पूरा विवरण देने से उसमे रुचि बढ़ी हो है। अपनी प्रशंसा अपने आप करके वह राजपूतों के वीरोचित एवं दीर्घकालीन प्रतिरोध को पूर्णतः प्रमाणित करता है, और यद्यपि वह तटस्थतापूर्वक, परन्तु इसमें उससे भूल हो गयी, उनके द्वारा किये गये विरोध के प्रयोजन और साधनों का अंदाज लगता है, यह कहकर वह उमरा (अमरसिंह) के प्रति पूरी तरह न्याय करता है कि उसने तब तक समर्पण नहीं किया जब तक उसके सामने दो ही विकल्प नहीं रह गये थे—बंदी होना या देश से निकलना—और हर तरह की सरहना से ऊंची उदारता दिखाकर वह कहता है कि राजपूत राजा ने तोप से छूटी बात की तरह अपने सम्मान की रक्षार्थ कहा कि वह 'मुगल दरबार मे स्वयं की उपस्थिति से अपने को छुट्टी मिली मानेगा'। राणा के आत्मसमर्पण की सूचना मिलते ही राणा के प्रिय हाथी 'आलमगुमान' पर खुद के चढ़कर निकलने से उसे जो खुशी हुई उसको सीधे और कपटहीन शब्दों मे कहकर उसने उससे कहीं अधिक खुले मन से अपनी प्रसन्नता प्रकट की है जो वह उस समय हुए सार्वजनिक समारोहों का विवरण देकर कर सकता था। परन्तु मुगल (सम्राट) के व्यवहार में दिल को रुला देने वाली दानशीलता थी जिसने उसकी कीर्ति को अमर कर दिया है। और अपने पुत्र को निर्देश देकर कि 'उस यशस्वी व्यक्ति के साथ वैसा ही व्यवहार किया जाये जैसा वह स्वयं चाहे', यद्यपि उसने इतने दीर्घ समय और इतनी विशिष्टता से मुगल सेनाओं का प्रतिकार किया था, उस (जहांगीर) ने सिद्ध कर दिया कि वह उस सौभाग्य का वास्तव में अधिकारी था जो उसे प्राप्त हुआ था, और मेवाड़ के युवराज को 'अपने ठीक दाहिने हाथ की ओर', अपने कुल के समस्त राजकुमारों से भी ऊपर, स्थान देकर वह पूरी तरह प्रदर्शित करता है कि वह मेवाड़ के महाराणा को सब राजपूत राजाओं से ऊंचा मानता है। चाहे वह कर्ण का संकोच दूर करने का यत्न करता है, चाहे जगत सिंह के राजकीय व्यक्तित्व का विवरण देता है, हम उसी मित्रतामयी भावना को काम करते देखते हैं जो उस मे हारे हुए की जंजीरें हलकी करने के लिए थी। परन्तु कर्ण के संकोच के लिए और भी उपयुक्त शब्द समुचित होता: उसको ऐसी हीनता अनुभव हुई जिसे न उन (अमरसिंह और कर्णसिंह) के सम्मान मे निर्मित मूर्तियां, न सम्राट के दाहिने हाथ मिला स्थान, न पांच हजार के मनसब का सम्मान, और न बहुत समय से हाथ से निकली भूमि की पुनः प्राप्ति मिटा सकी, जबकि जिसका वह युवराज था वही भूमि 'जागीर' की कही गयी, और वह स्वयं, 'एक सौ राजाओं का वंशधर', उस

---

1. जेम्स टाड की प्रसिद्ध पुस्तक में चार पृष्ठों मे 'जहांगीरनामा' मे से उद्धरण ही दिये हुए हैं।

साम्राज्य का 'जागीरदार' कहा जाने लगा, जिसके झंडे के नीचे, जबकि उसके पूर्वजो ने इतने गौरव के साथ उसी का प्रतिरोध किया था, उसे अब पद्रह सौ राजपूतो के साथ अनुसरण करना था।"[1]

अवश्य ही कर्णसिह यही भाव लेकर आगरा से निकला होगा। विशेषतः इसलिए कि इस 'अनुसरण' का आरम्भ स्वय उसने किया था। परन्तु इससे अब कोई निस्तार नही था।

जैसे ही कर्णसिह मेवाड़ पहुंचा, उसका पुत्र जगतसिह मुगल दरबार में प्रस्तुत हुआ। उसके प्रति भी जहांगीर ने वैसा ही अनुराग और उत्साह दिखाया, "कुवर कर्ण का पुत्र जगतसिह, जो बारह वर्ष का था,[2] आकर सेवा मे उपस्थित हुआ और अपने पितामह राणा अमरसिह तथा अपने पिता की ओर से प्रार्थना पत्र दिये। इसके मुख पर उच्चवश तथा सरदारी के चिन्ह प्रकट हो रहे थे। हमने इसे कृपा तथा खिलअत से प्रसन्न किया।"[3] कुछ समय बाद उसे विदा दी गयी, "उस समय उसे बीस सहस्र रुपये, एक घोड़ा, एक हाथी, एक खिलअत और एक अच्छा शाल दिया गया। हरिदास झाला को भी, जो राणा का एक विश्वासपात्र तथा कर्ण के पुत्र का अभिभावक था, पांच सहस्र रुपये, एक घोड़ा तथा खिलअत दिया। इसी के हाथ राणा के लिए हमने सोने का एक चोब (शशपरी) भेजा।"[4]

एक वर्ष बीता भी नहीं था कि कर्ण, 'जिसे अपने देश जाने की छुट्टी मिली थी' लौटकर फिर 'शाही सेवा मे' उपस्थित हुआ। इस अवसर पर उसने एक सौ मुहर, एक सहस्र रुपये, साज सहित एक हाथी और चार घोड़े बादशाह को भेंट दिये। आगे चलकर 'कुवर कर्ण का पुत्र जगतसिह अपने देश से आकर हमारी सेवा में उपस्थित हुआ,' और मेवाड़-मुगल दरबार के बीच यह क्रम चल निकला। अमरसिह स्वयं दरबार में नही आया था, परन्तु उसके पुत्र-पौत्र निरन्तर आते-जाते रहे, और अमरसिह की ओर से तरह-तरह की भेंट, जैसे एक बार उसने अंजीर के कई टोकरे भेजे—'वास्तव में यह फल बड़े अच्छे थे और हिन्दुस्तान में ऐसे स्वादिष्ट अंजीर हमने नहीं देखे थे', एक बार उसने दो घोड़े, गुजराती वस्त्र का एक थान और अचार-मुरब्बे भरे कई बरतन भेजे। जहांगीर भी उसे समय-समय पर भेंट भेजा करता था, एक बार उसने अपने को भेंट मे प्राप्त गजराज नामक युद्धीय हाथी उसके पास भिजवाया, एकबार एक बहुत अच्छा घोड़ा।

---

1 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ 290

2 जगतसिह की आयु उस समय वास्तव मे सात वर्ष दस मास से कुछ ही अधिक थी, उसके शरीर के अच्छे उठाव के कारण जहागीर को लगा कि वह बारह वर्ष का था।

3 'जहागीरनामा', पृष्ठ 363

4 वही, पृष्ठ 377

कर्णसिंह बाद में शाही सेना के साथ सैनिक अभियान पर भी जाने लगा। इसका पहली बार अवसर 1617 मे खुर्रम के सेना लेकर दक्षिण जाते समय आया। जब वह मेवाड़ सीमा पर पहुचा, अमरसिंह उससे स्वयं आकर मिला। खुर्रम ने जड़ाऊ तलवार, घोड़े, हाथी, खिलअत आदि महाराणा को और भाई बेटो को भेंट किये। महाराणा ने पांच हाथी, 27 घोड़े और जवाहरात से भरा एक थाल नजर किया। इसमे से तीन घोड़े लेकर बाकी चीजे खुर्रम ने लौटा दीं। अमरसिंह ने अपने अपने पुत्र कण को 1500 मेवाड़ी सवारो सहित शाही सेना के साथ कर दिया।

मेवाड़-विजय को मूर्त रूप देने के लिए जहांगीर ने दो काम किये। "कुछ इच्छाओ की पूर्ति के विचार से हमने मन्नत मानी थी कि श्रद्धेय ख्वाजा के प्रकाशमान दरबार के घेरे मे जाली सहित सोने का कटघरा (रेलिंग) लगा दिया जायेगा।। इस महीने वह बनकर तैयार होगया और हमने आज्ञा दी कि उसे ले जाकर लगादे। एक लाख दस सहस्र रुपये इसे बनाने मे लगे।"[1] दूसरे, "हमने तीव्र शिल्पियो को आज्ञा दी थी कि मर्मर पत्थर को काटकर राणा तथा उसके पुत्र कर्ण की पूरे कद की प्रतिमाए तैयार करें। वे तैयार होने पर हमारे सामने उपस्थित की गयी। हमने आदेश दिया कि वे आगरे लायी जायें और झरोखे के नीचे उद्यान मे रखी जायें।"[2]

आगरा मे पहले से ही चित्तौड़ युद्ध मे यश और ख्याति प्राप्त जयमल्ल और पत्ता की मूर्तियां थी। 'इस प्रकार जहांगीर के समय आगरे में मेवाड़ के चार वीरो की मूर्तियां उनकी वीरता के स्मारक रूप विद्यमान थीं।'

"यह तथ्य कि मुगल सम्राटो नेस्पष्ट रूप से दो भिन्न अवसरो पर चित्तौड़ के सरदारो को मुगल शक्ति का सुदृढ प्रतिरोध करने के लिए उनके सम्मानार्थ उनकी मूर्तियां स्थापित करके अभूतपूर्व रूप से उनका अभिवादन किया था इसका मुखर प्रमाण है कि जयमल्ल और पत्ता के गौरवशाली पराक्रम और अमरसिह तथा कर्ण के वीरता-पूर्ण शौर्य ने विजेताओ को कैसे गभीर आदर की भावना से अभिभूत कर दिया था। राजपूत पावन दुर्ग की दुखांत गाथा की ऐसी घटनाओ के वर्णन से, जो दोनो विरोधी पक्षो के लिए गौरवकारिणी थी, समाप्त करना सुखकारी प्रतीत होता है।[3]

उदयसिह और प्रतापसिह का इस गौरवगान में सम्मिलित न किया जाना कैसा प्रतीत होता है? उदयसिंह जयमल्ल और पत्ता के लिए और प्रतापसिंह अमरसिंह और कर्णसिंह के लिए प्रेरक थे। एक मुगल को अपना बलिदान करना पड़ा, एक को

---

1 'जहागीरनामा', पृष्ठ 393

2 वही, पृष्ठ 397 भारत सरकार के पुरातत्व विभाग की ओर से आगरा-किले मे नियुक्त कर्मचारियो की सहायता से पता लगाने पर भी इस स्थान का ठीक से पता नही चलता, (1974), ठीक यह होगा कि ऐसे स्थानो पर पूरी जानकारी लिख कर लगवायी जाये।

3 स्मिथ, पृष्ठ 95

अपनी परम्परा और भावना का, इस कारण उनके प्रयत्न कम प्रशंसनीय नहीं होते, परन्तु शत्रुओं के हाथो मूर्तियां न बनाये जाने के कारण उदयसिंह और प्रतापसिंह तिर-स्कृत नहीं माने जा सकते, इन क्षणो में उनको भुलाया नहीं जा सकता। कदाचित अकबर और जहांगीर उनकी पाषाण प्रतिमाओ तक भी पहुँचने का साहस नहीं कर सके, उनकी कीर्ति-ध्वजा तक वे कहां तक पहुचे, कहा नही जा सकता।

जेम्स टाड और विंसेंट स्मिथ ने मिलकर जो कहा है उससे इस आशंका का अलंकरण हो गया है, 'अदम्य शौर्य, अनम्य साहस, वह 'जो आत्मसम्मान को प्रदीप्त रखता है' दीर्घ प्रयत्न-ऐसी निष्ठा के साथ जिसका कोई अन्य राष्ट्र गर्व नहीं कर सकता, ये थे वे तत्त्व जो गगनचुम्बी महत्वाकांक्षा, तेजस प्रतिभाओ, असीम साधनों और धर्मोत्साह के आवेश के सम्मुख सन्नद्ध हुए थे। सब, किन्तु एक अजेय मस्तिष्क का सामना करने मे अपर्याप्त प्रमाणित हुए।

"अकबर के इतिहासकारो के पास, जो उन तेजोमय प्रतिभाओ और निस्सीम साधनो से कौंध गये थे, जिन्होने अकबर की उत्तंग महत्वाकाक्षाओं को नष्ट नहीं होने दिया था, उन शौर्यवान शत्रुओ के लिए सहानुभूति का एक शब्द भी कठिनता से प्राप्त होता है जिनके क्लेशो ने उसकी विजय सभव की थी। तथापि वे भी, पुरुष और स्त्री, स्मरणीय हैं। विजित, संभव है, विजेताओ से अधिक महत्वशाली थे।"[1]

## खुर्रम मेवाड़ की शरण में

परन्तु लगता है कि प्रकृति और परमात्मा को यह रुचिकर नहीं लगा कि अपनी स्वतन्त्रता के लिए सब कुछ होम देने को उद्यत मेवाड़ को पदाक्रांत किया जाये, और इसका बदला जहागीर से उसी के माध्यम से लिया गया जिसे मुगल सम्राट को यह उपलब्धि दिलाने का श्रेय प्राप्त है।

मेवाड़-विजय के बाद खुर्रम का पद और महत्व बहुत ही बढ़ा दिया गया था, 'उस पर अब तक जो कुछ कृपायें तथा उपकार किये गये थे वैसा हम कह सकते हैं कि किसी बादशाह ने अपने पुत्र पर न किये होगे।' वही पुत्र 'विद्रोही और राजद्रोही' हो गया। 'राजप्रशस्ति' के अनुसार कर्णसिंह ने 'दिल्लीपति जहांगीर से विमुख हुए उसके पुत्र खुर्रम को अपने देश मे ठहराया'। जिस कर्णसिंह से समझौता वार्ता आरम्भ करके उसने गौरवशाली मेवाड़ को मुगल साम्राज्य में सम्मिलित किया था, उसी कर्ण के महाराणा बनने पर हाल तक के 'विद्रोही मेवाड़' ने 'विद्रोही शाहजादा' को अपने 'शाहंशाह पिता' से सरंक्षण देने का गौरव प्राप्त किया। इस संरक्षण को प्राप्त करने के लिए खुर्रम ने कर्णसिंह से पगड़ी बदलकर भाईचारा स्थापित किया। मुगल शाहजादे की यह पगड़ी अब भी उदयपुर मे रखी है, इस बात की स्मृति कि मेवाड़ ही में अपने

1. स्मिथ, पृष्ठ 159

आक्रमणकारी को शाही कोप से संरक्षण दिलाने का साहस और सदाशयता थी। खुर्रम को मेवाड़ के प्रति अपनी उदारता का भी अच्छा प्रत्युत्तर मिल गया। इस असाधारण घटना की स्मृति में उदयपुर की पिछोला झील में अब भी जगमन्दिर महल खड़ा है, जिसे महाराणा कर्णसिंह ने शाहजादा खुर्रम के लिए ही बनवाया था।[1]

स्वयं जहांगीर को फिर से अजमेर आना पड़ा, परन्तु बड़ी ही विपरीत परिस्थित मे। अजमेर से उसने खुर्रम को मेवाड़-विजय पर रवाना किया था, अजमेर ही में उसने खुर्रम का शानदार स्वागत किया था। अब वह अजमेर आया उसी खुर्रम के विरुद्ध सनिक अभियान संचालित करने। इस शाही सेना मे 40,000 सवार थे, जिनका नेतृत्व खान आलम, महाराजा गजसिंह, रशीदखान, राजा गिरधर, राजा रामदास कछवाहा, ख्वाजा मीर अब्दुल अजीज अजीजुल्लाह, असदखान, परवरिशखान, इकरामखान, सैयद हिजरखान, लुत्फुल्लाखान, और नारायण दास जैसे प्रसिद्धि-प्राप्त सेनानी कर रहे थे। परवेज सेनाध्यक्ष था, सैन्य संचालन महावत खान के हाथ में था। शाही बख्शी फैजलखान खजांची और खबरनवीस था। सेना के साथ प्रचुर मात्रा मे युद्ध सामग्री और बीस लाख रुपये का खजाना था। इस अभियान का उद्देश्य खुर्रम को परास्त करना था। इस पर निकट से देखरेख रखने के लिए मई 1623 मे स्वय जहांगीर अजमेर आ गया। इस अभियान को यहीं छोड़ना पड़ेगा।

1627 मे जब जहांगीर का देहात हुआ, खुर्रम दक्षिण में था। वहां से वह आगरा मेवाड़ होकर गया। मेवाड़ की गद्दी पर उस समय तक कर्णसिंह आ गया था। उसने मनोनीत सम्राट का गोगूदा में सोत्साह स्वागत और सत्कार किया। वहां खुर्रम ने (जो शीघ्र शाहजहां के नाम से शाही तख्त पर बैठने को था) अपनी 38वीं सालगिरह बहुत ही शान शौकत से मनायी।

यह तो घटनाएं बहुत आगे निकल गयीं। मेवाड़-विजय के लक्ष्य को प्राप्त करके सन्तोष, प्रसन्नता और गौरव की भावना से भरा मन लेकर, जहांगीर अजमेर में 'पांच दिन कम तीन वर्ष' रहकर 10 नवम्बर 1616 को दक्षिण की विजय–यात्रा पर निकल गया। नये यश अर्जन का पूरा विश्वास उसे अजमेर मे रहकर, वहां से हुई घटनाओं के कारण, हो गया था। दस दिन पहले उसका पुत्र मेवाड़-विजेता खुर्रम इस अभियान का नेतृत्व करने रवाना हुआ था। रवाना होने के पहले उसको 'शाह' के असाधारण पद से सुशोभित किया गया था।

## मेवाड़ की स्वाधीनता समाप्त

इसके ठीक विपरीत दशा थी अमरसिंह की, जिसके हाथों से छीनकर जहांगीर ने अपना मन मुदित कर देने वाली उपलब्धि प्राप्त की थी। उसके हाथ से मेवाड़ की स्वाधीनता क्या गयी, उसने उसकी बागडोर ही अपने हाथों से छोड़ दी।

---

1. ताराचन्द, पृष्ठ 253

जहांगीर के साथ सुलह होने पर, चित्तौड़ की विजय के समय से लगाकर इस समय तक, मेवाड़ के जितने प्रदेश पर शाही अधिकार हो गया था वह सब—तथा चित्तौड़ का किला भी—वापस मिल गया। कर्णसिंह की जागीर में शामिल करके वह सब प्रदेश जो अकबर और जहांगीर के समय में जीता गया था, और बहुत-सा पड़ौस का प्रदेश भी, जैसे धूलिया, रतलाम, बांसवाड़ा, जीरन, नीमच, अरलोद. आदि परगने, मेवाड़ को पुन. प्राप्त हो गये। मेवाड़ के ऐसे भाग पर जो नये जागीरदार अथवा अधिकारी थे उन्होंने खुशी-खुशी अपना भूभाग महाराणा को सौंप दिया, एक-दो जगह मेवाड़ की सेना भेजनी पड़ी, जैसे बेगूं और रतनगढ़ के परगने, जिन पर सगर के चित्तौड़-राज के समय से शक्तावत नारायणदास का अधिकार था। सेना पहुंचने पर उसने भी अपनी जागीर बिना लड़े खाली कर दी। सगर 'राणा' से 'रावत' बना दिया गया और उसे मेवाड़ से बाहर जागीर दी गयी। स्पष्ट है कि सगर ने स्वेच्छा से चित्तौड़ महाराणा अमरसिंह को नहीं सौंपा था, जैसाकि कुछ इतिहासकारो का मत है। कर्नल जी. बी. मालेसन ने लिखा है, 'एकान्त वैभव में सगर ने आठ वर्ष तक राज चलाया, लेकिन एक भी राजपूत सरदार को वह अपनी तरफ नहीं कर सका। उसकी आत्मा उसे कचोटने लगी, और उसने चित्तौड़ को उसके न्यायोचित अधिकारी को सौंप दिया। उसके साथ राणा ने मेवाड़ के अस्सी कस्बे अथवा किले अपने कब्जे में कर लिये।' सगर इस प्रकार की सामग्री का नहीं बना हुआ था, उसने मेवाड़ के शत्रुओं के साथ मिलकर अपनी मातृभूमि के विरुद्ध सक्रिय संग्राम मे भाग लिया था। चित्तौड़ उसने नहीं, मुगल बादशाह ने मेवाड़ के महाराणा को सौंपा था। कुछ समय के लिए सगर को नागौर जागीर में दिया गया, वहां उसके समय के शिलालेख मिले हैं। बाद मे उसे मेवाड़ से बहुत दूर, बिहार मे, शाही सेवा पर लगा दिया गया—जहां बाद मे उसका देहान्त हो गया। "सगर के हाथ केवल अपयश आया। वह थोड़ा-बहुत कुछ भी धन प्राप्त नहीं कर सका। इस प्रकार वह सिर पीट कर उसी तरह वापस लौटा जैसे जुआरी के घर पहुंचा कर तस्कर असफल लौटता है।"[1]

परन्तु पूरे मेवाड़ की पुनः प्राप्ति भी अमरसिंह को उल्लसित नहीं कर सकी। 'जिस मेवाड़ की स्वाधीनता के लिए महाराणा अमरसिंह के पूर्वजों ने लाखो वीरों का बलिदान कर उसका स्वाधीनता बनाये रखी थी, उस मेवाड़ की स्वाधीनता अमरसिंह के हाथो भग हुई, यह उस वीर अमरसिंह के लिए क्यो न दुःख का विषय होगा ?' उसने अपने जीवित रहते हुए भी प्रशासन से अपना हाथ खींच लिया, और कर्णसिंह को सारे अधिकार दे दिये। "महाराणा अमरसिंह व शाहजादे खुर्रम की सुलह के बाद से ही इन (कर्ण) का राज्य कहना चाहिये, क्योकि महाराणा अमरसिंह ने तो उसी दिन से अकेले रहना इख्तियार किया था और सारे काम की सम्हाल इन्हीं के जिम्मे थी। 'कुंवर कर्णसिंह उदयपुर आये और मुल्क की रिआया को बुला-बुला कर आबाद किया।'

---

1 'राणा रासौ', पद 622

इन महाराणा के समय में सारे देश भर में चैन और आनन्द रहा, किसी तरह का झगड़ा नहीं हुआ। इन्होंने मेवाड़ देश में जुदे-जुदे परगने कायम किये और ग्रामों में पटेल, पटवारी, सेना और गांव बलाई बनाये। थोड़े ही दिन में यह देश प्रजा से आबाद हो गया।"[1]

उदयपुर नगर और राजमहल का अधिकांश भाग कर्णसिंह के समय ही में बना। उसी ने नगर के चारों ओर ऊंची दीवार और उसके पास खाई बनवाकर उसकी किलेबन्दी पक्की की। कर्णसिंह ने अपने पिता के नाम पर उदयपुर के महलों में नया 'अमर महल' बनवाया। उदयसिंह के समय में कोठार, राय आंगन तथा उसके पूर्व एवं पश्चिम की चौपाड़े, जो 'नौका की चौपाड़', 'पाडे की ओवरी' तथा 'पाणेरा' के नाम से प्रसिद्ध है, बनी थीं। प्रतापसिंह को इन महलों में कोई नया काम करवाने का अवसर नहीं मिला। कर्णसिंह ने सबसे पहले महलों का पहला दरवाजा 'बड़ी पोल' बनवायी, बाद में जनाना महल, रसोड़े का बड़ा महल, तोरण पोल, बड़ा दरवाजा, 'सभा शिरोमणि,' गणेश ड्योढी, 'दिल खुशाल', महल के भीतर की चौपड़, चन्द्र महल महलों का सूर्य, हस्तिशाला के नीचे के दालान, कृष्ण निवास के हौज, 'चंपाबाग, जगमन्दिर के बड़े गुम्बज, आदि बनवाये। इस तरह उदयसिंह को उदयपुर की स्थापना का श्रेय है, और कर्णसिंह को उसे स्वरूप देने का – जिसके लिए उसे कृतज्ञ होना चाहिये उस शान्तिकाल का जिसे उसने व्यक्तिगत प्रयत्न से, जहांगीर की उदारता से, मेवाड़ के लिए प्राप्त किया था।

मेवाड़ी परम्परा में कर्ण की बहुत प्रतिष्ठा है। 'राज प्रशस्ति' में बताया गया है, 'कर्णसिंह के चरण कमलों में पद्म चिन्ह थे। वह कर्ण के समान दानी और पराक्रमी था।' 'राणा रासो' में आया है, "महाराणा अमर का बड़ा राजकुमार कर्णसिंह पृथ्वी पर साक्षात् कर्ण का अवतार था। उसने (सामुद्रिक शास्त्रानुसार) ध्वजा, अंकुश, जव और पद्म के चिन्ह प्राप्त किये थे। वह छत्तीसों वंश के क्षत्रियों में श्रेष्ठ था। उसका मन हमेशा पिता की आज्ञा के अधीन था। भारतवर्ष में वह अनन्य प्रमत्त योद्धा माना जाता था। उसके मातृ पक्ष में राजा रामसहाय तवर था।[2] अतः वह दोनों (मातृ-पितृ) पक्षों से पवित्र था। इसी प्रकार वह स्वयं पुण्य मार्ग का प्रेमी था। उसके श्रवण अन्य बातें नहीं सुनकर केवल दान एवं कृपाण (युद्ध) चर्चा सुनते रहते थे।[3]

शान्तिकाल ने भी अमरसिंह को शान्ति नहीं दी। "ऐसा कम हुआ है कि जीते गये राजा के प्रति इतना आदर दिखाया गया हो, फिर भी अमरसिंह जैसे उच्च भावना से भरे मस्तिष्क के लिए इस सौजन्यता एवं कृपापूर्ण व्यवहार ने उसकी सहनशीलता को और भी कष्टकारी बना दिया। अपने हृदय के तीखेपन से उसने खुर्रम की, जिसकी धमनियों में राजपूत रक्त बह रहा था और जो राजपूती वीरता का प्रशंसक

1 'वीर विनोद', दूसरा भाग, पृष्ठ 269
2 हल्दीघाटी में कर्णसिंह ने ही वहां बलिदान हुए तवरों की छत्रियां बनवायी थी।
3 'राणा रासो', पद 526

था, उदारता को कोसा : उसने अपना राज्य शस्त्रों की शक्ति से अधिक परिस्थिति की विकटता के कारण समर्पित किया था। खुर्रम ने शांति के मूल्य के रूप में राजपूत राजा की मित्रता मात्र मांगी थी, वह मेवाड़ से हर मुसलमान को वापस बुलाने को सहमत हो गया था यदि राणा केवल इतना करे कि बादशाह का फरमान अपनी राजधानी से बाहर जाकर अंगीकार कर ले। उसकी गर्वीली आत्मा ने इसे (मित्रता को) मानने से इन्कार कर दिया। और यद्यपि वह शाहजादा खुर्रम के पास एक मित्र के रूप में गया था, उसने अपने से ऊंचा किसी को मानने का प्रस्ताव और उसके साथ मिलने वाला मनसब और पद, अस्वीकार कर दिया। महान अमर ने, जो—

'कुछ कम होने की जगह,
कुछ न होने को ही उत्सुक था',

यह निश्चय किया कि वह उस गद्दी से राजत्याग कर देगा जिस पर वह किसी, अन्य की इच्छा के बिना नहीं रह सकता था। उसने अपने सरदारों को एकत्रित किया अपने दृढ़ निश्चय से उन्हे अवगत किया, और अपने पुत्र के मस्तक पर टीका लगा दिया। और यह पक्का करके कि आगे से मेवाड़ का सम्मान उसके हाथों में रहेगा, वह तत्काल राजधानी से चला गया, और नौचौकी में[1] अकेला रहने लगा। उसके बाहर उसने उस समय ही पैर निकाला जब उसके लिए अपने पूर्वजों की अस्थियों के साथ अपनी अस्थियां सम्मिलित करने का अवसर आ गया। राणा अमर जैसे व्यक्तित्व के लिये सब टिप्पणियां निरर्थक हैं। वह प्रताप और अपनी जाति के के लिए सर्वथा उपयुक्त था। उसमें एक वीर के लिए आवश्यक सभी शारीरिक और मानसिक गुण थे, वह महाराणाओं में सबसे ऊंचा और बलिष्ठ था। वह उतना गौर-वर्ण नहीं था, जितने साधारणतः महाराणा होते है, और उसमे अलग-थलग रहने की ऐसी आदत थी जिसे प्राय विशादजन्य कहा जा सकता है, इसका कारण अवश्य ही उसे मिली विफलताएं थीं, क्योकि यह उसके स्वभाव के अनुसार नहीं था। उसके सामंत और सरदार उसका उन गुणो के लिए सम्मान करते थे जिनका उनके मन में सबसे अधिक आदर था, उदारता और वीरता : उसके प्रजाजन उसका उसकी न्यायप्रियता तथा कृपाशीलता के लिए आदर करते थे।" "वह मेवाड़ का अन्तिम स्वतन्त्र राजा था।"[2]

महाराणा अमरसिंह स्वयं अपने पर आरोपित एकांतवास में, 30 अक्टूबर 1620 को, मेवाड़-पतन के साढ़े पांच वर्ष और अपने राज्यारोहण के चौबीस वर्ष बाद, मर गया। उदयपुर के निकट आहड़ गांव में गंगोद्भव कुंड पर उसका दाह संस्कार किया गया। उसके साथ दस रानी, नौ खवास तथा आठ सहेलियां, सब मिलाकर 27 महिलाएं, सती हुईं।

1 आहड मे जहा श्मशान है।
2 जेम्स टाड, पहला भाग, पृष्ठ

कश्मीर-यात्रा के समय सुलतानपुर के मुकाम पर सम्राट जहांगीर को अमरसिंह के परलोकवास का समाचार मिला। महाराणा के पौत्र भंवर जगत सिंह तथा छोटे पुत्र भीमसिंह को, जो शाही शिविर के साथ थे, सम्राट ने मातमी के सिरोपाव दिये, और राजा कृष्णदास को आज्ञा दी कि फरमान, सिरोपाव, घोड़ा तथा खासा हाथी राजकुमार कर्णसिंह के लिए ले जाकर शोक और गद्दीनशीनी के कार्य मे शाहंशाह की ओर से भाग लें।

संस्कार-स्थल पर अमरसिंह की स्मृति में कर्णसिंह ने सफेद पत्थर की बहुत बड़ी 'छत्री' बनवायी। कहते हैं अपने पिता के प्रति कर्णसिंह के मन में बहुत स्नेह और आदर था, वह उसकी मृत्यु के बाद बारह महीने वहीं रहता रहा जहां अमरसिंह का दाह-संस्कार हुआ था, और वहां 'अर्ज करके सब राज्य का कारोबार चलाते थे'। 'मेवाड़ के सरदार, भाई, बेटे, रिआया वगैरा कुल' के मन में अमरसिंह के प्रति उतना ही आदर था, तभी कर्णसिंह उसके अन्तिम संस्कार के स्थान से मेवाड़ का शासन संचालन कर सका।

अमरसिंह को विवशतावश जो करना पड़ा उसके कारण उसकी कीर्ति कम नहीं हुई, मेवाड़ मे उसका नाम सम्मान से लिया जाता रहा, 'राणा रासौ' से यह सुस्पष्ट है।

अमरसिंह जब युवराज था तभी से उसने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व के लिए प्रतिष्ठा प्राप्त कर रखी थी। 'राणा रासौ' मे आया है कि जब महाराणा प्रताप का राजतिलक दरबार हुआ उसमें और लोगो के अतिरिक्त 'शत्रुओ के देशों का दग्धकर्ता उन्नतकाय, लम्बी भुजाओ वाला महाराणा का युवराज अमरसिंह उपस्थित था'। आगे आया है, "प्रताप का युवराज अमरसिंह साक्षात अमर (देवता) का अवतार था। युवा होने पर उसकी आखो में लालिमा छा गयी। उस वीर अमर को देख कर अन्य व्यक्ति (शत्रु) इस प्रकार दब जाते थे जैसे सिंह को देखकर मृग। इस युवराज का शरीर ऊंचा था और वह आजानु बाहु था। वह ब्राह्मणो के दुःख दारिद्र्य का नाशक तथा पिता की आज्ञा में तत्पर रहने वाला था। तेंतीस कोटि देवताओं में गणेश जैसा वह मनुष्यो मे वरेण्य था।"

'राणा रासौ' अमरसिंह की सराहना में कहता है कि जब वह राणा हुआ 'पृथ्वी पुनः सुख एवं प्रसन्नता का अनुभव करने लगी'। 'पृथ्वीपति राज राजेश्वर महाराणा अमरसिंह के सिंहासनारूढ होने पर हिन्दुओ के हृदय मे सुख हुआ और यवन कांप उठे, उनके घरो में दुःख ने स्थान जमा लिया।' कवि ने बड़े विशेषण और अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन से अमरसिंह का सम्मान किया है। "युगारम्भ में जैसे जलमयी पृथ्वी पर एक मात्र ब्रह्म दिखायी देता है उसी प्रकार जहांगीर के शासनकाल में एक मात्र महाराणा अमरसिंह अक्षुण्ण (न टूटा हुआ) दिखायी देता था।"[1]

---

1. 'राणा रासौ', पद, 243, 456, 459, 460, 498

अमरसिंह के चरित्र पर जो प्रहार करते हैं, उन्हें मरने के बाद भी उसे अपने लोगो से प्राप्त आदर को आधार मानकर अपने मन्तव्य पर फिर से विचार करना चाहिये। "वह अपने पिता से भी अधिक लड़ा परन्तु बादशाह से सुलह करने के कारण ही उसकी ख्याति भारत में वैसी नहीं हुई जैसी कि उसके पिता की।"[1] अमरसिंह ने मेवाड़ को मृत्यु से बचाकर नया जीवन दिया, और इसलिए वह उसके नाम के साथ सदा अमर रहेगा।

1 ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 821

# 9

# उपसंहार

मेवाड़ पराजित हुआ था, परास्त नहीं, उसकी पराधीनता परिमित थी, नये प्रकार की थी, जिसने उसे नया अनुभव ही नहीं, नया जीवन भी दिया। वाह्य संवंधो की दृष्टि से उस पर नियंत्रण पूरा लगा, परन्तु उसकी आन्तरिक अवस्था प्रायः जैसी की तैसी वनी रही। फिर भी परतन्त्रता परतन्त्रता होती है। ऊपर से उस समय 'मुगल साम्राज्य अपने भरे हुए यौवन में प्रवेश कर रहा था'। साम्राज्य इतना शक्तिशाली हो गया था कि 'सूर्यवंशी' आभा भी इसके सामने मंद पड़ गयी, मेवाड़ ने अपनी गति छोड़कर साम्राज्य के स्वरों से अपना स्वर और साम्राज्य के स्वरूप से अपना स्वरूप मिलाना आरम्भ कर दिया।

अकवर की मृत्यु के साथ उसकी उदारता, मौलिकता और दूसरे का दृष्टिकोण समझने की आतुरता क्रमशः समाप्त होने लगी, उसके पुत्र ने राजसिंहासन इस शर्त पर प्राप्त किया कि वह 'इस्लाम का संरक्षण करेगा'[1], और उसने इस्लाम की अभिवृद्धि के लिए प्रयत्न भी किये, जो अकवर की तुलना में उसे साम्प्रदायिक सिद्ध कर सकते हैं। परन्तु पिता की परम्परा का पूरा परित्याग जहांगीर ने नहीं किया। वह स्वयं राजपूत माता का पुत्र था, प्रतिभाशाली राजपूतों की देखरेख में

1. (क) वेनीप्रसाद, पृष्ठ 67
(ख) मुहम्मद तुगलक की मृत्यु के उपरान्त इसी प्रकार का वचन फिरोज को भी देना पड़ा था।

उसका लालन-पालन हुआ था, उसके प्रशिक्षण में असाधारण पूर्णता थी–सभी दृष्टि-कोणो से उसे अवगत कराया गया था। जहांगीर इतना समझदार था कि उसने हिन्दुओं को अपने से अलग नहीं होने दिया, जिनसे मित्रता थी उन्हीं का आदर उसने नहीं किया, जिनसे मतभेद हो गया था उन पर भी अपनी नाराजी उसने नहीं प्रकट की, और पुराने शत्रु तथा नये मित्र मेवाड़ से तो उसने ऐसा व्यवहार किया जिसे विजेताओ के लिए सदा आदर्श माना जाता रहेगा। मेवाड़ पर ऊपर से कुछ भी थोपने की कोशिश नहीं की गयी, परन्तु यह व्यवहार उनके साथ किया गया जो स्वयं मानवीय गुणो के विकास की अति उच्च अवस्था में थे, सीधा प्रयत्न कुछ नहीं होने पर भी मेवाड़ पर मुगलो का प्रभाव पर्याप्त पड़ा।

## समन्वय का क्रम

मित्रता और शान्ति के उपरान्त ही नहीं, अपने स्वाधीनता-संग्राम के समय भी, मेवाड़ का मुगलों से सम्पर्क था–शाही दरबार और मुगल सेना के सामन्तों, सेनानियो तथा सैनिको के विरोधी पक्ष में होने पर भी उनकी गति-विधि, रीति रिवाज, पहनावा, व्यवहार, आदि निरीक्षण में आते थे। उनसे दूर रहने की प्रवृत्ति स्वाभाविक थी, परन्तु उसके अच्छे अंश स्वतः स्वभाव मे आते जाते थे। फिर, अनेक मुसलमान मेवाड़ की स्वाधीनता-सेना के सम्मान्य सदस्य थे। अतएव मेवाड़ पर मुगल प्रभाव एकाएक नहीं हुआ। संधि होते ही सब प्रतिवन्ध समाप्त नही हो गये, परन्तु उन्होने परिचय और समन्वय का जो क्रम चल रहा था उस पर से विरोध का बोझ हटा दिया।

राजस्थान के राज्यों में मेवाड़ दिल्ली से जितना दूर था उसी अनुपात में वहां मुसलमानो की संख्या कम थी। निकटता और निरन्तर सम्पर्क एवं संघर्ष के कारण स्थानीय लोगों का धर्म-परिवर्तन भी दिल्ली के निकट पड़ने वाले प्रदेशो में अधिक हुआ, मेवाड़ जैसे दूरस्थ क्षेत्र में कम। परन्तु अपने द्वार आये का मेवाड़ में सदा स्वागत होता था, इसीलिए मुस्लिम विद्रोही तक वहां पहुंच जाते थे। जो मित्र हो गया उससे दुराव दूर हो जाता था। फिर, मेवाड़ ने आक्रामक और आत्मरक्षक युद्ध कम नहीं किये थे–उनमें आवश्यकतानुसार मुसलमान धर्म को मानने वाले सैनिको तथा विशेषज्ञो की सहायता ली गयी थी। कला-कारीगरी के क्षेत्र मे भी अनेक मुसलमान थे। प्रताप के समय में चांवड के मुस्लिम चित्रकारो से हम परिचय प्राप्त कर चुके है। इनमें से अनेक परिवार स्थायी रूप से मेवाड़ में रहने लगे थे। परन्तु राजकीय एवं सामाजिक जीवन पर उनका प्रभाव नगण्य था। अब जो मुगल प्रभाव पड़ा, वहुत नवीन अनुभव था।

सामाजिक व्यवस्था स्वतः इतनी सुदृढ़ थी कि उस पर वाहरी प्रभाव ऊपरी सतह से नीचे नहीं उतर सकता था। जो मुगल प्रभाव मेवाड़ पर पड़ा उसे उच्च वर्ग

ने ही सोख लिया, परिवर्तन जो भी हुए वे राज परिवार, राज दरवार, सामन्त श्रेणी, उच्चपदीय वर्ग तथा समाज के उच्चतम अंश तक सीमित रहे। परिवर्तन का मुख्य माध्यम व्यक्तियों और वस्तुओं का आदान-प्रदान था, जो मेवाड़-मुगल संधि के वाद निरन्तर होने लगा। मुगल सेना, कई वार शाही सेनापतियों के साथ, मेवाड़ के आस-पास से निकला करती थी। मुगल दरवार में मेवाड़ के प्रतिनिधि–राजकुमार और उच्च सामन्त, और उनके सेवक–सदा ही रहने लगे थे। वे मेवाड़ से तरह-तरह की भेंट ले जाते थे, और शाहंशाह से भेंट लाया करते थे। शाही सैनिक अभियानों में मेवाड़ी सेनानी और सैनिक हजार-हजार की संख्या मे जाने लगे थे। वे अपने साथ जीवन-यापन के नये साधन और जीवन-मूल्यों के नये सिद्धान्त लाने लगे। इनसे मेवाड़ की पुरानी परम्पराएं टकराने लगी।

सवसे पहले प्रभाव आपस में अभिवादन के तरीके पर पड़ा। मुगल दरवार में पहुंचने पर सम्राट को अभिवादन करने का सुनिर्धारित तरीका था। इसे स्वीकार करना पड़ा। दरवार के और भी तौर-तरीके थे। इनका प्रभाव मेवाड़ के राज दरवारी कायदों पर पड़ा, झुक-झुक कर सलाम करने का तरीका मेवाड़ में इसी तरह पहुंचा। मेवाड़ के राजकीय समारोह भी इसी प्रकार मुगल परम्पराओं से प्रभावित हुए।

फारसी भाषा का प्रभाव और उपयोग भी मेवाड़ में वढा। जवकि साहित्य पर संस्कृत और राजस्थानी छायी रही, सरकारी कामकाज मे फारसी ने घर कर लिया। उस समय के लिखे कागज वड़ी संख्या में उपलब्ध है, जिनसे प्रकट होता है कि मुगल दरवार मे जिस परिष्कृत फारसी का प्रयोग होता था, वह मेवाड़ मे भी अपना ली गयी थी, और मुगल दरवार को भेजे गये पत्रों मे इसका अच्छा उपयोग होने लगा। मेवाड़ की पुरानी राजकीय भाषा में भी फारसी के कई शव्द आ गये। मुगल दरवार से पत्र-व्यवहार का फारसी प्रचलित माध्यम थी, अतएव इसमे पारंगत स्थानीय लोगो का प्रभाव भी मेवाड़ के राजकीय क्षेत्र मे वढ़ने लगा। प्रवन्धकर्ताओं के पदो के नामों में भी फारसी शव्द आ गये। छोटा वड़े को आम तौर से 'हजूर' कहने लगा। स्वयं महाराणा इस तरह संवोधित किये जाने लगे। इन दिनो फारसी ने मेवाड़ के सरकारी कामकाज में जो प्रवेश प्राप्त किया, वह प्रायः स्थायी हो गया, और स्वाधीनता के पहले तक उसे स्पष्ट देखा जा सकता था।

मेवाड़ के राजकुमार कर्णसिंह को जहांगीर, उसके शाहजादे और वेगम ने पहनने, सजने, सोने, दरवार मे वैठने, शिकार पर जाने, मतलव यह कि सभी अवसरों के लायक, वस्त्र एवं वस्तुएं भेंट की थीं। कहा जा सकता है कि मुगल प्रणाली पर तैयार की गयी यह पहली पोशाक तथा सामग्री थी जो विधिवत् मेवाड़ पहुंची। ये नमूने वन गये, वाद मे शाही दरवार मे जाने के लिए ऐसी चीजें वनवायी जाने लगीं। इनके कारण स्वयं मेवाड़ में काम में आने वाली चीजों का रूप वदलने लगा।

भोजन भी प्रभावित हुआ। बावर-वड़ी, कचौड़ी, पुलाव, मुरब्बा, खुरासानी-खिचड़ी जैसे नाम मुगल सम्पर्क के स्पष्ट द्योतक है–ये नाम मेवाड़ी भोज्य पदार्थो में आने लगे, और मध्यम वर्ग तक प्रचलित हो गये।

परन्तु भोजन परोसने, उसमें पवित्रता रखने और अपनी जाति के वाहर भोजन नहीं करने की जो परम्पराएं विभिन्न जातियों में थीं, उनमें कोई परिवर्तन नहीं हो सका।

जो मुगल प्रभाव स्पष्टतः अब भी देखा जा सकता है, वह चित्रकला पर हुआ था। "जव मेवाड़ और मारवाड़ राज्यो के राजाओं और मुगल सम्राटों के वीच मित्रता के संवंध हो गये, इन राज्यों में चित्रकला की जिस परम्परागत शैली का विकास हुआ था वह अपने सर्वोच्च स्थान से गिरने लगी। इसके वाद चित्रकला का झुकाव मुगल शैली स्वीकार करने की ओर हो गया, उसी के अनुरूप स्थानीय शैली और भी परिष्कृत और वैयक्तिक होती गयी। फिर भी स्थानीय शैली परम्परागत विश्वासो से ओतप्रोत रही, दैनिक जीवन अथवा परम्परागत विषयो का चित्रण पहले की तरह होता रहा। कुछ उदाहरण इस स्थिति को स्पष्ट कर देंगे। राष्ट्रीय कला संग्रहालय के नायक-नायिका चित्र, जो कदाचित 1640 के हैं, तथा मध्यधीर चित्र कदाचित् जगतसिंह के समय के सवसे प्राचीन चित्र है, इनमें एक नायक को अकवर के समय का चाकदार जामा और जहांगीर के समय की ढीली पगड़ी पहनायी गयी है। इसी प्रकार 1610 में वने जोधपुर के भागवत चित्रों मे अर्जुन और कृष्ण की पोशाक अकवर के समय की है। महिलाओ की पोशाक एकदम मारवाड़ी है परन्तु आभूषणो पर मुगल प्रभाव है। कालक्रम से जैसे-जैसे हम आगे वढ़ते हैं, मेवाड़ और मारवाड़ के चित्रो में पतले स्तम्भो पर उठे मंडप और शामियाने मिलते है, जो जहांगीर के समय की विशेषता थी। परन्तु, ऐसे चित्रों में भी पृष्ठभूमि मे अंकित पुष्प-वृक्ष और नायिकाओ की पोशाक नितान्त राजस्थानी हैं।.....(जगतसिंह के समय के भागवत पुराण और रामायण मे उपलब्ध) चित्र वताते हैं कि कैसे राजस्थानी और मुगल विशेषताएं आपस में मिलती गयीं। महिलाओं की पोशाक एकदम मेवाड़ी है। चटकते रंगों का संयोजन भी राजस्थानी है, परन्तु आकृतियो तथा भवनो का आकलन मुगल शैली में है। महलों की दीवालो पर चढ़ी गुम्वजो की पंक्तियां, रात्रिकालीन दृश्य, योद्धाओ के जुलूस तथा पंक्तियां और उनका साज-सामान, सामाजिक जीवन और रीतियो के उस वैभव से परिचित कराता है जो मुगल तौर-तरीके पर राजस्थान में अगीकार कर लिया गया था। इसी प्रकार राष्ट्रीय कला संग्रहालय के रागमाला चित्र, जो 1650 के माने जाते है, अपने प्रकार के सर्वोत्तम हैं। इनमें कृष्ण के वस्त्र और शृंगार उसी प्रकार के है जैसे मुगल दरवारियों में प्रचलित थे।....जैसे जैसे (मेवाड़) शैली आयु में वढ़ती गयी, इसने अपने अन्तरंग में कुछ विशेषताएं अंगीकार कर लीं। घेरदार जामा, पटका, पारदर्शक चोली तथा ओढ़नी, गुम्वजदार मडप तथा गुम्वजदार मुंडेर उन विशेषताओ की झलक उस समय के चित्रो में दिखाती है।.... (वाद

के चित्रों में) मुगल शैली का बढ़ता प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।"[1] कला किस प्रकार परिस्थिति से प्रभावित होती है, इसके उदाहरण महाराणा राजसिंह के समय में शाहवाडी नाम के मुस्लिम कलाकार द्वारा बने पौराणिक विषयों के चित्र है, जिनमें एक में बारात के साथ लबां हैट पहने एक यूरोपीय बाराती भी दिखाया गया है। भारत में यूरोपियो का प्रवेश उन दिनों हो गया था।

भवन निर्माण शैली पर भी तत्काल मुगल प्रभाव पड़ा। दो सक्रिय और शक्तिशाली परम्पराएं एक दूसरे को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकती थीं। "मुगल दरबार के रीति-रिवाज और कला की नकल जयपुर तक ही सीमित नही थीं। मेवाड़ में जहांगीर और शाहजहां की परिष्कृत मुगल रुचि उदयपुर के दिलखुश महल और अमर विलास में, और एक सीमा तक राजसमन्द झील के घाटों में भी, देखी जा सकती है।"[2] स्वयं महाराणा अमरसिंह के, और बाद मे उसके पुत्र और पौत्र के बनवाये, भवनो को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है। मेवाड़ शैली के साथ मुगल शैली को इतनी होशियारी से मिलाया गया कि स्थानीय विशेषताएं और निर्माण प्रक्रिया की पुरानी परम्पराएं चलती रह सकीं, मुगल प्रभाव विशेषतः भवनों की सजावट और ऊपरी स्वरूप पर पड़ा। महाराणा अमरसिंह के बनवाये अमर महल, जगमन्दिर और बड़ी पौल द्वार पर पहली बार मुगल शैली का प्रभाव देखने में आया। इनसे पहले उदयसिंह द्वारा उदयपुर में और प्रतापसिह द्वारा चावड मे बनवाये राजकीय भवनों और इनमे अन्तर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। परन्तु सीसोदियो के स्वभाव के अनुसार इन भवनो की बनावट में सादगी और सफाई है, जबकि इसी समय में बने आंबेर के महल अन्दर से बड़े सजे और सुन्दर है। महाराणा कर्णसिंह ने उदयपुर मे मोती महल, माणक चौक, जनाना महल और दिलखुश महल बनवाये। वे मुगल शैली के और भी निकट है। महाराणा जगत सिंह ने इन्हीं भवनो मे उद्यान, फव्वारे, गुम्बज और मीनारें जुड़वा ली, जो मुगलशैली का शृंगार थीं।

'महाराणा जगतसिंह और राजसिंह ने जो महल और उद्यान बनवाये, जिनमें फव्वारो और गुम्बजबन्द मकानो की बहुलता है, समन्वित स्थापत्य के सुन्दर उदाहरण हैं।' महाराणा राजसिंह ने, जो औरंगजेब का समकालीन था, 1662–1676 के बीच, कांकरोली में राजसमुद्र झील बनवाई थी, जिस पर उन दिनो 1,05,07,608 रुपये व्यय हुए थे। अकाल के दिनो में जनता की सहायता और अपनी ख्याति की सुरक्षा के लिए राजसिंह ने यह काम हाथ मे लिया था, जलाशयो पर प्रस्तुत स्थापत्य-सौन्दर्य का इसे उत्कृष्ट उदाहरण माना जाता है। 600 फीट लम्बा, 210 चौड़ा इसका बांध ऊपर से सारा संगमरमर का बना है। इस पर तीन छतरियां है, जो ऊपरी बनावट और भीतरी कारीगरी के लिए बहुत प्रसिद्ध है, ऐसी देश मे दूसरी नहीं है। मन्दिरो और मृतको

1. गोपीनाथ शर्मा, सोसल लाइफ, पृष्ठ 357
2. डा एच गोएट्ज, इडियन हिस्ट्री काग्रेस प्रोसीडिंग्स्, 1938, पृष्ठ 335

के स्मारकों के सिवा और कहीं छतरियां वनाने की परम्परा मेवाड में नहीं थीं। पुरानी स्थापत्य शैली के विपरीत इन छतरियों पर गुम्बज नहीं हैं, इन पर सीधी छतें हैं। "ऐसा लगता है कि राणा राजसिंह झील के किनारे ऐसी नयी तरह की छतरियां वनाने का विचार 1643 में जब वे मुगल दरबार में अजमेर गये वहां आनासागर के वांध पर चिकने संगमरमर की वनी बारादरियों से ले आये थे। नौ चौकियों के ढांचे को उसने बारादरी जैसा स्वरूप दिया, अन्य बातों में परम्परागत प्रणाली को अपनाया गया। अतएव यह छतरियां राजस्थानी स्थापत्य के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखती है, क्योंकि इनमें धार्मिक भावना और मुगलों से लिए विचारों को साथ-साथ देखा जा सकता है। इस प्रकार ये स्वयं अपना उदाहरण ऐसे निर्माण कार्य का हो गयी हैं जहां हिन्दू कलाकारी ऐसे भवनों पर चमकी है जिन पर मुगल शैली की छाप है। इसके वाद राजसिंह के उत्तराधिकारियों ने उदयपुर के पिछोला तालाब में और उसके बांध पर बने जग निवास, जगमन्दिर तथा मोहन मन्दिर बनवाने में इसे ही आदर्श बना लिया, अपनी इच्छाओं के अनुसार थोड़ा बहुत इधर उधर करके।"[1] राजसमुद्र की छतरियों में जहां युद्ध-दृश्य उत्कीर्ण हैं, सैनिकों और युद्ध-पशुओं की पोशाक और अस्त्र-शस्त्र 15 वीं शताब्दी में बने चित्तौड़ के कीर्तिस्तम्भ से भिन्न है। इससे प्रकट होता है कि 17 वीं शताब्दी की युद्ध-प्रणाली में मुस्लिम सम्पर्क के कारण परिवर्तन हो गये थे। इसी प्रकार कुछ महिलाओं की मूर्तियों के आभूषणों पर मुस्लिम प्रभाव सुस्पष्ट है।

राजपूत युग और मुगल युग अपने मूल अर्थ में अब नहीं रहे हैं, परन्तु इनका अलग-अलग, और राजपूताने के कई राज्यों में इनका मिलाजुला रूप, जीवन के अनेक कार्यकलापों को हाल तक, कदाचित अभी तक, प्रभावित किये हुए है। "जन साधारण के जीवनयापन में, साज-शृंगार, पोशाक, भोजन, भाषा और साहित्य में अब भी इन दोनों महत्त्वपूर्ण जातियों का प्रभाव बना हुआ है। इन दो संस्कृतियों का समन्वय हमारी मूल्यवान थाती है। 19वीं और 20वीं शताब्दी के दस्तावेजों से मालूम होता है कि कानूनगो, तहसीलदार, मुसाहिब, खजांची, कोतवाल आदि पद-नाम हमारे समय तक राजस्थान के प्राय सभी राज्यों में प्रचलित थे। एकीकरण के पहले तक सभी शासक मुगल शैली के दरबार लगाया करते थे, यद्यपि इनका संदर्भ समाप्त हुए समय बहुत बीत गया था। बहुत से परिवार, विशेषतः कायस्थों के जो राजकीय पत्र-व्यवहार को लिखने और समझने की क्षमता के कारण सेवा में लिये गये थे, बाद में भी उन राज्यों की राजकीय सेवा में महत्वपूर्ण पदों पर बने रहे—बख्शी, साहीवाला, महासानी जैसे पद उनके पास रहे। इन राज्यों के राजकीय कागजों से प्रकट होता है कि मुगल समय का आर्थिक प्रबन्ध, सिक्कों का प्रचलन तथा कुछ कर राजस्थान में बहुत दिनों तक चलते रहे।

---

1 गोपीनाथ शर्मा, ग्लोरी, पृष्ठ 80

"उस युग की परम्परा से मुक्ति पाना कठिन है, यह समझाने के लिए बहुत से उदाहरण देना आवश्यक नही है। अनेक दिशाओ मे हमें अनुभव होता है कि अतीत अभी भी हमारे साथ है। परन्तु हमे ध्यान मे रखना चाहिये कि हमारा अतीत न केवल मात्र मुगलाई है न केवल मात्र राजस्थानी। यह उन दो जातियो की सद्भावना और सुखद स्मृतियो के स्वस्थ अवशेष है जो एक समय शत्रु थी, और फिर मित्र बन गयी। इस आपसी प्रभाव के प्रकाश एवं ज्ञान को लेकर हम ऐसी आशा एवं आयोजना करें कि, अपने अतीत की तरह, राजस्थान जो कुछ भी मानव जाति के पास शुभ है उसका सुरक्षित संग्रहालय बना रहे।"[1]

इस आशा के आधार पर सीधी चोट करने वाले भी कम नही है, उनका मानना है कि मुगलो से सम्पर्क ने राजपूतो की भूमि, भाव और भविष्य, सब कुछ पर, मर्मातक चोट की, जिससे सारी जाति और सारा सामाजिक ढांचा जर्जर हो गया।

## राजपूत राजाओं की कुदशा

अकबर ने स्वय अनेक राजपूत राजकुमारियो के साथ विवाह किये, और समय आने पर अपने पुत्रो के लिए भी ऐसी ही वधुएं प्राप्त की। अकबर के बाद भी कोई एक शताब्दी तक यह पम्रपरा थोड़ी-बहुत बनी रही। आबेर ( जयपुर ) के अतिरिक्त जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर आदि अनेक राजघरानो तथा उनके भाई-बेटो की पुत्रियां मुगल हरम मे पहुंची। इस नीति की, राष्ट्रीय एकता मे योगदान मानकर, बड़ी सराहना की जाती है, और इसका इस रूप मे प्रवर्तक होने के कारण अकबर का बड़ा आदर है। परन्तु इस नीति का दूसरा पहलू भी है।

"परन्तु क्या अकबर की यह नीति ठीक थी ? इस नीति के फलस्वरूप मुगल साम्राज्य के भावी उत्थान मे कहा तक सहायता मिली ? क्या इस नीति को अपनाये बिना मुगल साम्राज्य को राजस्थान के इन राजपूत घरानो का वैसा सहयोग नही प्राप्त हो सकता था ? इस्लाम के प्रति शाहजहा का विशेष आग्रह एवं औरंगजेब की वह उत्कट धर्मान्धता किस हद तक अकबर की इस राजपूत-नीति की प्रतिक्रिया मात्र थी ? और क्या इस प्रतिक्रिया का यह बीजारोपण कर अकबर ने स्वय ही मुगल साम्राज्य के पतन की भूमिका भी यो समुपस्थित नही कर दी थी ? मुगल साम्राज्ञिया बनकर ये राजकुमारियां क्या किसी प्रकार साम्राज्य की नीति को प्रभावित कर सकीं ? पुनः, मुगल साम्राज्य के अस्तित्व के फलस्वरूप भारत मे उत्पन्न होने वाली नयी सम्मिश्रित हिन्दू-मुस्लिम सभ्यता के विकास मे इन राजस्थानी राजकन्याओ का क्या हाथ था ? इन उपर्युक्त तथा इसी प्रकार के तत्संबंधी अनेकानेक प्रश्नो का उत्तर देते समय विभिन्न इतिहासकारो मे पूर्णतया

---

1 गोपीनाथ शर्मा, शोसल लाइफ, पृष्ठ 369

मतैक्य होना संभव नहीं। तथापि अपने सशक्त विजेताओ के प्रति राजस्थानी राजघरानो के इस आत्म-समर्पण का यत्किंचित् भी समर्थन नहीं किया जा सकता है। अपने वंशजों से कभी भी ऐसी मांग नहीं किये जाने का वादा रणथंभोर का किला देते समय राव सुर्जन ने अकबर से करवाया था। मेवाड़ का राणा प्रताप, उसके वंशज एवं उनके अधीन राजपूत राजघराने मुगलो के विरोधी बने रह कर शाही दरबार के इस दलदल से दूर ही रहे। आपसी फूट और पारस्परिक द्वेष से असम्बद्ध राजस्थान में आंतरिक विरोध का अब यह एक नया कारण उत्पन्न हो गया था। मुगल शाही घराने के साथ वैवाहिक संबध स्थापित करने वाले राजघरानो का सामाजिक एवं नैतिक बहिष्कार किया जाने लगा, जिसका राजस्थान तथा मुगल साम्राज्य के इतिहास पर स्थायी प्रभाव पड़ा। औरंगजेब की मृत्यु के बाद पतनोन्मुख साम्राज्य का साथ छोड़कर जब ये ही विरोधी तिरस्कृत राजघराने पुनः मेवाड़ के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हुए तब शक्तिहीन मेवाड़ अपने राजघराने के इस नैतिक महत्व को स्पष्टरूपेण प्रमाणित करने के लिए अत्यधिक उत्सुक हो उठा, और मेवाड़ की उस अदूरदर्शिता के कारण ही तब भी राजस्थान पारस्परिक भेद-भाव तथा आंतरिक विरोध के उस विषम चक्कर से नहीं निकल सका।"[1]

जहां तक तात्कालिक परिस्थिति का सम्बन्ध है, महाराणा अमरसिंह को जहांगीर से संधि करने मे जो संकोच हो रहा था, उसका एक कारण था राजपूत राजाओ की मुगल दरबार मे दुर्दशा। "राजपूतो के लिए यह विकट समय था, क्योंकि एक तरफ तो मुगलो से 47 वर्षो तक लड़ते-लड़ते उनकी सख्या दिन-दिन कम होती जा रही थी और उनमें से किसी की दो और किसी की तीन पीढ़ियां बीत चुकी थीं। इसलिए उनकी इच्छा संधि करने की थी. परन्तु दूसरी तरफ वे यह भी जानते थे कि बादशाह के अधीन रहने वालो की क्या दशा होती है। वहां सब राजाओ और उमरावो को जाकर झरोखे मे बैठे हुए बादशाह को नीचे खड़े रहकर मुजरा करना पड़ता था और चोबदार पुकारता कि अमुक जमीदार मुजरा करता है। दरबार के समय बादशाह तो बहुत ऊंचे सिंहासन पर बैठता और वहां शाहजादो के अतिरिक्त और किसी को बैठक नहीं मिलती थी। सब राजाओ, उमरावो और अमीरो आदि को अपने-अपने मनसब के अनुसार भिन्न-भिन्न पंक्तियों मे हाथ जोड़े हुए घंटो तक खड़ा रहना पड़ता था। बहुत थक जाने पर उनमे से कुछ एक आसा (एक लम्बी लकड़ी, जिसका अग्रभाग अर्धचन्द्राकार होता है) का सहारा भी ले सकते थे। केवल इतना ही नहीं, किन्तु कभी-कभी तो उनको वर्षो तक अपने राज्य मे लौटने की आज्ञा भी नहीं होती थी और दूर-दूर तक जहां नौकरी पर भेजे जाते वहां मुसलमान अफसरो की अधीनता में रहना तथा कभी-कभी अपमान भी सहना पड़ता था। किसी

---

1 रघुवीरसिंह, राजपूताना, पृष्ठ 41

बात पर बादशाह के अप्रसन्न हो जाने पर कभी-कभी उनकी ड्योढ़ी भी बन्द हो जाती थी।"[1]

"बाबर के आने के पूर्व राजस्थान के राजा अर्ध-स्वतंत्र थे। उन पर मेवाड़ के महाराणा का प्रभुत्व था, लेकिन उनके राज-कार्यों मे कोई हस्तक्षेप नही था। इनकी आपस की फूट के कारण मुगल साम्राज्य की भारत में नीव पड़ी और इनके ही सहयोग से लगभग 325 वर्ष तक वह साम्राज्य कायम रह सका। अकबर की नीति से इन राजाओ की स्वतंत्रता बिलकुल चली गयी। मेवाड़ नाम मात्र के लिए स्वतन्त्र बना रहा। मुगल सम्राटो का इन राजाओ के प्रत्येक कार्य मे दखल था। बिना शाही आज्ञा के वे अपनी कन्याओं के विवाह भी नहीं कर सकते थे।...... बादशाहों को भय था कि राजा और रईस आपस मे विवाह-शादियां करके संगठन बनाकर सलतनत को खतरा पैदा न कर दें। उनकी आन्तरिक इच्छा यह थी कि इनकी रूपवती राजकुमारिया बादशाह के अन्त:पुर (हरम) में प्रवेश की जायें।.... इन राजाओ के उत्तराधिकारी के प्रश्न का बादशाह अपनी इच्छानुसार फैसला कर देता था। राजाओ मे ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकारी बनने की प्रथा निश्चित थी, लेकिन बादशाह इसके विरुद्ध भी फैसला कर देता था। वह इन राजाओ मे भेद बनाये रखना चाहता था।.... अकबर की नीति राजपूतो के लिए घातक सिद्ध हुई और इसी से इनका नैतिक पतन हो गया। इन्होंने अन्य धर्मावलम्बियो को अपनी कन्याएं देना आरम्भ किया जिससे यह स्वार्थपरायण बन गये और अपनी स्वतन्त्रता को खो बैठे। मुगलो की सहायता से राजपूतो ने अपने राज्य बढाये तथा सम्पत्ति प्राप्त कर दृढ दुर्ग और सुन्दर भवन अपने राज्यो में बनाये। मुगलो की दासता उनके लिए शान और गौरव का विषय बन गया।.... इस प्रकार अकबर की नीति ने इन राजाओ को दासता की जंजीर मे जकड दिया। उनमे कई बुराइयों ने घर कर लिया।.... मुगल काल तक राजपूतो मे समानता बनी रही और साधारण राजपूत भी स्वयं को राजा तथा महाराजा के समान मानता था। मुगल काल में इस जाति मे ऊच-नीच का भेद पैद हो गया। राजपूत जाति मे ऊंच-नीच का भेद उत्पन्न हो जाने से इसका संगठन टूट गया। इसमे कई दोष उत्पन्न हो गये और पारस्परिक भ्रातृत्व नहीं रहा जिससे यह समाज निर्बल और अल्पसख्यक बन गया।.... मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात सभी राजा स्वतन्त्र हो गये। ये आमोद-प्रमोद, शराब पीना, अफीम खाना, आदि व्यसनो मे पड़ गये। मराठा काल मे इनकी दशा अत्यन्त शोचनीय बन गयी। देश मे अशान्ति और कुशासन का दौर-दौरा हो गया। लूट-खसोट और अपहरण होने लगे। परिस्थिति बदल जाने पर भी आज राजपूत-समाज चेतनाहीन बना हुआ है।[2]

1 ओझा, राजपूताना, पृष्ठ 806
2 महेचा, विभिन्न अध्यायो से।

यह परिणाम है जिसके सन्दर्भ में यदि मेवाड़ के अर्द्ध शताब्दी के मुगलो से मैत्री नहीं करने के निश्चय को रखा जाये तो उसमें अनौचित्य की जगह बुद्धिमानी ही अधिक दिखेगी। उस समय जो परिस्थिति थी उसका चित्रण यथास्थान किया जा चुका है। फिर भी कुछ लेखक हैं जिनकी धारणा है कि महाराणा प्रताप ने—और उसके पिता तथा पुत्र ने—अकबर से सुलह नहीं करके समुचित विवेक का परिचय नहीं दिया।

## प्रताप पर प्रतिपक्षी वार

राहुल सांकृत्यायन ने तो प्रताप की आलोचना में यहां तक कह डाला है, "प्रताप अपनी कुर्बानियो के लिए हमेशा प्रातः स्मरणीय रहेंगे, पर यदि प्रताप की आज चलती तो मेवाड़ भारतीय गणराज्य का अग न बनता।"[1] प्रताप के प्रयत्न पर यह चार सौ वर्ष बाद थोपी गयी परिकल्पना है, जो कदाचित यह मानकर की गयी है कि परिस्थितियां और विचार-वेग दूसरो को प्रभावित कर सकते थे, प्रताप को नहीं, वह इतना मन्दबुद्धि और दुराग्रही था। फिर, जब लोकतन्त्र और स्वेच्छाचारी शासन में चुनने का समय आता, क्यों मान लिया जाता है कि प्रताप पीछे ही देखता रहता! क्या यह सही नहीं है कि भारत की स्वाधीनता के बाद नवीन भारतीय शासन में विलय स्वीकार करने वाली पहली प्रमुख रियासतो मे मेवाड़ भी था? मेवाड़ के तत्कालीन महाराणा ने एक जगह लिखा था, 'इस पर आश्चर्य क्यों किया जाता है कि हमने स्वाधीन भारत को स्वेच्छा से अपनी सत्ता सौंप दी? क्या जब भी देश को आवश्यकता हुई है हमारे कुल ने उसके लिए बड़े से बड़े त्याग नहीं किये है?'

दूसरी आलोचना राहुल सांकृत्यायन की यह है, "प्रताप एक तरफ अपने कुल और धर्म की आन पर मर मिटने वाला वीर था, तो दूसरी तरफ वह उस भावना का प्रतीक था जो देश को सैकड़ो टुकड़ों में बांटने के लिए तैयार थी।"[2] देश मे एकता स्थापित करने की इच्छा का श्रेय एक विदेशी आक्रमणकारी को देकर इससे नहीं इन्कार किया जा सकता कि इस तरह की इच्छा रखने का अधिकार उन्हें भी था जिनकी भारत अपनी मातृभूमि थी। प्रताप के पितामह सग्रामसिह ने अपने झडे के नीचे उत्तर भारत के बड़े भाग को एकत्रित करके अकबर के पितामह बाबर का सामना किया ही था। सग्रामसिह हार गया, उदयसिह और प्रताप परिस्थितिवश मेवाड़ के आसपास के आगे नही निकल सके, इसका अर्थ यह नहीं होता कि उस समय की परिस्थिति में आक्रमण और अत्याचार का अवरोध करना उनका दायित्व और कर्तव्य नहीं था। एकता क्या, इससे भी बड़ी नियामत लेकर यदि विदेशी आये तब भी उनका सामना करना होगा। ब्रिटिश सरकार ने तो भारत में और भी पक्की और बड़ी एकता स्थापित कर दी थी। उसका सामना करना क्या आवश्यक नहीं था?

---

1 साकृत्यायन, पृष्ठ 160

2. वही, पृष्ठ 221

अकबर के आरम्भिक काल को ले तो उसमे और अग्रेजो में अन्तर ढूंढना कठिन होगा। और, कोई स्वाधीनता-संग्राम इसलिए अपवित्र नहीं हो जाता है कि वह कम लोगो ने किया या कम जगह किया गया। स्वाधीनता की ज्वाला मे वही अपने को होमते है जिनके मन में ऊची भावना होती है–जो उससे अपने को बचाते रहते हैं उनको उपमा मान कर वीरो और बलिदानियो की आलोचना नहीं की जाती। राहुल साकृत्यायन मानसिह के लिए कहते है, 'उन्हे बहुत दिनो तक विभीषण माना गया, पर सारे देश को एक राष्ट्र और एक जाति मे परिणत करने का स्वप्न देखने वाला विभीषण नही हो सकता।' मानसिंह, उसके पिता और पितामह, अकबर की शरण में तब गये थे जब स्वयं उसका भविष्य अनिश्चित था। उन्होने जुआ खेला, स्वयं अपने अस्तित्व के सकट को एक अनिश्चित परन्तु आशामय भविष्य से बदलना चाहा, उनका पासा सही पड़ा। इसको यह अर्थ देना कहा तक ठीक होगा कि 'आज से चार सदियो पहले हमारे इन पूर्वजों ने एक महान काम अपने सिर पर उठाया था। उनकी सफलता क्षणिक साबित हुई, पर उससे उसका महत्व कम नही होता।' यदि ऐसा है तो प्रताप के प्रयत्न का महत्व भी, चाहे वह जितना सीमित और क्षणिक हो, कम नही कहा जा सकता, जिस पर सत्य यह है कि वह प्रयत्न सदा के लिए स्वतन्त्रता सग्राम का मानदड और प्रेरणा-पुंज बन गया है।

"अकबर का सम्पर्क जिन राजपूतो से हुआ वे स्पष्टतः तीन प्रकार के थे : (1) आंबेर की तरह के जिन्होने सरलता से समर्पण कर दिया, और जिन्हें उत्साह से साम्राज्य-व्यवस्था मे आत्मसात् कर लिया गया, (2) वे जो जी-जान से लड़े या जिन्होने विजेता से सम्मानप्रद समझौता कर लिया, जैसे रणथम्भौर, और (3) वे जिन्होने आत्मसात् होने से इन्कार कर दिया, और बचने के लिए या तो भाग गये या निरन्तर लड़ते रहे, जैसे मेवाड़ के राणा। पहले दो ने समर्पण करके ऐसी समझौता और आत्मसात् वृत्ति का परिचय दिया जो उस संयुक्त राष्ट्र के निर्माण के लिए आवश्यक थी जिसकी ओर अकबर ने अपनी प्रतिभा की पूरी शक्ति लगा रखी थी, अन्तिम ने अपनी 'शाश्वत घृणा, अजेय गर्व, और वह साहस जो न कभी समर्पण करता है न समझौता' से हमारे राष्ट्रीय चरित्र की दृढता एव उदात्तता को अपना विशिष्ट योगदान किया।"[1]

आश्चर्य है कि सर यदुनाथ सरकार जैसे इतिहासज्ञ ने अपने 'हल्दीघाट का युद्ध' शीर्षक अध्याय का आरम्भ ही अकबर को 'उदार-हृदय मानवतावादी' विशेषण से विभूषित करके किया है। यह विशेषण अकबर के लिए उसी प्रकार से विदेशी है जिस प्रकार से वह भारत के लिए विदेशी था, कम से कम जब वह मेवाड़ से लड़ रहा था, मेवाड़ के सन्दर्भ मे विशेषतः, मानवतावाद तो क्या मनुष्योचित गुण भी उसने अपने से दूर रख रखे थे। "उसका लक्ष्य था कि एक शासन-संचालन के एक सुधरे हुए प्रबन्ध के अन्तर्गत भारत को शक्तिशाली बनाया जाय। अतएव उसे इस महाद्वीप

1. श्रीराम शर्मा, क्रेसेन्ट, पृष्ठ 388

जैसे देश के अनगिनत तुच्छ भूपतियो के विरोध का सामना करना पड़ा, जो अपनी स्थानीय स्वाधीनता को सबसे ऊंचा और महत्व का मानते थे।"[1] इस उक्ति मे मेवाड़ की जो परोक्ष आलोचना है उसे अगले वाक्य में मेवाड़ के राणा को 'राजपूत कुलों में सबसे सम्मानप्रद' कहने से ढका नहीं जा सकता। पराये देश पर आक्रमण को उस देश के उद्धार का कारण बताकर अपने निन्दनीय प्रयत्न को औचित्य की ओट देने की चेष्टा अनेक आक्रमणकारियों ने की है। आक्रमण का उद्देश्य क्या है, इसे कम से कम वह उस समय नहीं समझ सकता जिसे शत्रु की सेना रौंदने को आती है, और मेवाड़ ने अपनी स्वाधीनता और सम्मान की सुरक्षा के लिए जो कुछ भी किया उसे अकबर के कृत्यो पर बहुत बाद की गयी उल्था से अनुचित नहीं ठहराया जा सकता। ऐसे अध्याय का आरंभ 'मानवतावाद' से करना हो तो उसे मेवाड़ को सौंपना होगा, क्योंकि जो कुछ भी उसने उस समय किया वही मनुष्योचित था, और वह सदा के लिए मानवजाति की प्रेरणा का आख्यान बन गया है।

राणा प्रताप की 'राष्ट्रीय दृष्टिकोण से' आलोचना करने वालों मे डाक्टर रघुवीर सिंह भी है, "राणा प्रताप ने अन्त तक अपना निश्चय निबाहा, और अनेकों कठिनाइयों, कष्टो एव पराजयो को निरन्तर सहते रहने पर भी उसने प्राण रहते अकबर की आंशिक अधीनता तक स्वीकार नही की। एक विधर्मी विदेशी विजेता का यों विरोध कर अपने परम्परागत मेवाड़ राज्य की स्वाधीनता को अक्षुण्ण बनाये रखना ही उसने अपना परम कर्तव्य समझा था। उसकी दृढता, धीरज, अडिग आत्मविश्वास तथा अनवरत प्रयत्न संसार के इतिहास की बहुत ही अनोखी और सर्वथा अनुकरणीय वस्तुएं है। किन्तु सुसंगठित शक्तिशाली स्वाधीन भारत के इस नये वातावरण मे तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओ का राष्ट्रीय दृष्टिकोण से निष्पक्ष अनुदर्शन करने पर राणाप्रताप के विशिष्ट आदर्श की संकीर्णता और उसकी विरोधपूर्ण नकारात्मक नीति मे हर प्रकार की रचनात्मकता का पूर्ण अभाव सुस्पष्ट हो जाता है।"[2]

पहली बात तो यह है कि जो 'निष्पक्ष अनुदर्शन' कई शताब्दियो की दूरी से नितान्त निर्लिप्त अवस्था मे, सभव हो सका है वह क्या तब संभव था जबकि घटनाओ का सीधा सामना किया जा रहा था? घटनाओ का क्या स्वरूप था इसे ध्यान मे रखने पर अब भी लगता है कि उस समय सही 'राष्ट्रीय दृष्टिकोण' यही था कि 'विधर्मी विदेशी विजेता' ने हमारे राष्ट्र पर जो सर्वग्राही आक्रमण किया था उसका सामना सर्वबलिदानी संग्राम से किया जाता। इसके सिवा दूसरे विकल्प को उस समय की स्थिति पर थोपना आगे ऐसा संकट आने पर देशवासियो को पथभ्रष्ट होने का परामर्श देने का पाप माना जाएगा।

विद्वान लेखक यह सब 'निष्पक्ष अनुदर्शन' के अनुसरण मे लिख तो गये लेकिन उन्हे इसका दूसरा पक्ष प्रस्तुत करने के लिए तत्काल स्वयं विवश होना पड़ा :

1. सरकार, पृष्ठ 85
2. रघुवीरसिंह, राजस्थान, पृष्ठ 77

"जीवन भर निरन्तर पराजित होने पर भी अन्त में 'गहलोत राण जीती गयो', तथा युगो-सदियो बाद घटने वाले अनेकानेक राजनैतिक और ऐतिहासिक संयोगो की परम्परा ने राणा प्रताप की इस अन्तिम विजय को अधिकाधिक स्थायी एवं परिपूर्ण बना दिया। भारतीय स्वाधीनता के उपासको तथा अदम्य साहसी देशभक्तों ने भारतीय एकता और राष्ट्रीय सुसंगठन का भरसक विरोध कर केवल अपने छोटे से मेवाड़ की स्वाधीनता के लिए लड़ने वाले राणा प्रताप को ही अपना आदर्श स्वीकार किया। समूचे भारत को राजनैतिक, धार्मिक तथा सास्कृतिक एकता प्रदान करने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करने वाले एवं राजस्थान को सर्वप्रथम प्रांतीय एकता के सूत्र मे बांधने वाले अकबर का उन्हे तब खयाल तक नहीं आया। भारत के अन्तिम विजेता, विदेश वासी अंग्रेजो की अतुलनीय शक्ति और कोई एक सदी से भी अधिक काल के उनके शोषणपूर्ण स्थायी एकाधिपत्य से पराधीन भारत के आधुनिक राष्ट्रीय नेता तिलमिला उठे थे। स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए किये गये प्रयत्नो में अत्यधिक विफलताओ तथा निरन्तर निराशाओ का सदैव सामना करते-करते उनमें गहरी विवशता भर गयी थी और उनका सारा दृष्टिकोण सर्वव्यापी विद्रोह की उत्कट नकारात्मक भावना से ही पूर्णतया रंग गया। तब राणा प्रताप के अनवरत विरोध तथा उसकी अडिगता को ही उन्होने अपना एकमात्र आदर्श बनाया। उसकी उन पराजयो से ही राणा प्रताप की उस विरोधी भावना को यह नई स्फूर्तिपूर्ण शक्ति प्राप्त हुई, तथा उसकी वे जीवन-कालीन विफलताएं भी सदियो बाद उसकी इस अनोखी सफलता का स्थायी आधार बन गयीं।

"सर्वस्व त्याग कर अपने पवित्र आदर्शों के लिए—चाहे वे यत्किंचित् संकीर्ण ही क्यो न हो—अपने जीवन तक की बलि देने वालो का किसी भी प्रकार क्षय नहीं होता है, मृत्यु भी उन्हे अमरत्व प्रदान करती है। तब इन वीरात्माओ का मानवीय हृदयों पर अखण्ड शासन स्थापित हो जाता है, और उनकी कीर्ति को वह अमरबेल कवियो की कल्पना, साहित्यिकों की साधना एवं जनसाधारण की धारणा की त्रिवेणी पर स्थित मानवीय मनोभाव के अक्षयवट पर ही निरन्तर फैलती और फूलती रहती है। राणा प्रताप के पुत्र को ही विवश होकर अंत मे मुगल सम्राट की आंशिक अधीनता स्वीकार करनी पड़ी, जिससे राणा प्रताप का वह अडिग निश्चय तथा उसका अनन्त विरोध अधिक आदरणीय हो गये। अकबर के बाद उसकी वह धार्मिक सहिष्णुता कुछ ही युगो में पूर्णतया विलीन हो गयी थी और मुगल साम्राज्य का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण भी दिनो दिन अधिकाधिक संकुचित होने लगा, तब तो राणा प्रताप के उस विरोध को एक अनोखा राष्ट्रीय एव सांस्कृतिक महत्व प्राप्त हो गया। औरंगजेब के धर्मान्धतापूर्ण शासन एवं शिवाजी जैसे सुदूरस्थ सफल विद्रोही शासक के भी राणा प्रताप के काल की राजनैतिक परिस्थिति संबंधी सारी भावनाएं ही तब पूर्णतया बदल गयी थीं। उत्तर मुगल-काल के राजस्थानी इतिहास कार भी इन नवीन भावनाओं तथा परिवर्तित दृष्टिकोणो से अछूते नहीं रह सके

और उनके लिखे हुए राणा प्रताप के जीवन वृत्तांत पर भी उनकी सुस्पष्ट छाप देख पड़ती है।"[1]

'राष्ट्रीय दृष्टिकोण' के तर्क का उत्तर देते हुए यह भी कहा गया है, "उपर्युक्त मत और तर्क गलतफहमी पर आधारित हैं। प्रथमतः अकबर के राष्ट्रवादी सम्राट होने का तर्क अभी कुछ ही वर्षों पूर्व प्रारम्भ हुआ है। अकबर अपनी नीतियों और कार्यों में राष्ट्रवादी था, यह मत सन्देहजनक है। यह कहना कि भारत के विभिन्न राज्यों से युद्ध कर उन्हें अपने अधीन करने में अकबर का उद्देश्य भारत को राष्ट्रीय एकता में संगठित करना था, भ्रममूलक है। भारतीय राष्ट्रीय एकता और भारतीय साम्राज्य स्थापित करना अकबर का स्पष्ट उद्देश्य नहीं था। भारतीय राष्ट्रीयता और एकता तो बीसवीं शताब्दी से ही अधिक स्पष्ट हो पायी। अकबर विशुद्ध साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षी नरेश था। दिल्ली के अन्य सुलतानों और बादशाहों के समान वह भी भारत के विभिन्न स्वतन्त्र राज्यों को परास्त कर उन्हें अपने अधीन कर अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहता था। वह एक विशुद्ध साम्राज्य निर्माता था और साम्राज्य-विस्तार मे उसका लक्ष्य केवल राजनीतिक था। आधुनिक राष्ट्रीय विचारो, सिद्धांतो और आदर्शों की झलक उसमे नहीं थी। ऐसी दशा में यह कहना कि राणा प्रताप ने अकबर की अधीनता न मानकर उसके राष्ट्रीय कार्यों में सहयोग नहीं दिया, नितान्त भ्रममूलक है। यह मानना कि अकबर का उद्देश्य राणा प्रताप को अपने राष्ट्रीय कार्यों में सहयोगी और समर्थक बनाना था और राणा प्रताप ने ऐसा न करके बड़ी भारी गलती की, राणा प्रताप के साथ अन्याय ही नहीं है अपितु राष्ट्रीयता और एकता के सिद्धान्तों की खींचातानी करना है। राणा का राजनीतिक उद्देश्य था एक विदेशी आक्रमणकारी और साम्राज्यवादी सम्राट की अधीनता न स्वीकार करना। उस समय अकबर इस्लाम का अनुयायी, विदेशी आक्रान्ता और साम्राज्यवादी माना जाता था। इस दृष्टि से राणा का उद्देश्य श्रेष्ठ था, क्षत्रियोचित धर्म था और इसी से वह आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणा का निरन्तर स्रोत बन गया।

"यहां यह भी स्पष्ट करना समीचीन होगा कि राणा प्रताप का मूल्यांकन सोलहवीं शताब्दी के वातावरण का ध्यान रखते हुए करना चाहिये जबकि आधुनिक राष्ट्रीयता की भावना का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था और राष्ट्रीयता की भावना अपने अपने राज्य तक ही सीमित रहती थी। इस दृष्टिकोण से अन्य राजपूतों ने अपने देश, जाति और वंश को वैवाहिक सम्बन्धों अथवा हेय समझौतों से कलंकित करके अपनी स्वतन्त्रता और आत्म-सम्मान को बेचकर अकबर से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये, जबकि प्रताप साधन नहीं होने पर भी अपने देश, राज्य, आत्मा और वंश के गौरव रक्षा के लिए अकबर जैसे बलशाली साम्राज्यवादी के विरुद्ध जीवन भर संघर्ष करता

---

1 रघुवीर सिंह, राजस्थान, पृष्ठ 77

रहा तथा कभी हतोत्साह व नतमस्तक नहीं हुआ। इसी कारण आज भी वह हिन्दुओं के यश-गौरव का दीपक और महान पुजारी माना गया है।"[1]

"आधुनिक काल की राष्ट्र सम्बन्धी धारणा प्राचीनकाल तथा मध्ययुग की तत्सम्बन्धी धारणाओं से बिलकुल भिन्न है। आज की राष्ट्रीय एकता की मान्यता को मध्ययुगीन मान्यता स्वीकार कर अकबर के प्रयत्नों को राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का उद्देश्य मान लेना सही नहीं होगा। भारत में मुगल वंश के साम्राज्य की स्थापना का प्रयत्न एक विशिष्ट विदेशी जाति द्वारा भारत के अधिकाधिक भागों पर अपना आधिपत्य कायम करना कहा जा सकता है। पूर्वगामी पठानों, तुर्कों आदि की नीतियों से हटकर अकबर द्वारा भारतीय लड़ाकू जातियों के साथ मेल स्थापित कर उनका अपने साम्राज्य के विस्तार और सुदृढ़ीकरण के लिए उपयोग करने का उद्देश्य भी तत्कालीन परिस्थितियों में यही था। यह सत्य तत्कालीन विभिन्न फारसी तवारिखों से भी प्रकट हो जाता है। महाराणा प्रताप का संघर्ष केवल मुगल सम्राट अकबर के विरुद्ध मेवाड़ और सीसोदिया वंश की स्वतन्त्रता और गौरव की रक्षा मात्र का संघर्ष नहीं था, जो बात ऐतिहासिक तथ्यों को सतही दृष्टि से देखने से प्रकट होती है। मूलतः प्रताप का संघर्ष विदेशी मुगल जाति के आधिपत्य के विरुद्ध स्वतन्त्रता का संघर्ष था। यह सत्य इस स्थिति से भी प्रमाणित होता है कि भारत में अकबर के साम्राज्य स्थापना के प्रयत्नों के विरुद्ध देश के सभी भागों में विभिन्न हिन्दू, तुर्क, पठान आदि राज्यों द्वारा युद्ध किये गये और मुख्यतः रक्तपात द्वारा ही मुगल साम्राज्य का विस्तार किया जा सका। यहां तक कि राजपूताना में भी प्रारम्भ में यही हुआ। बाद की घटनाएं भी यह सिद्ध करती हैं कि मुगल साम्राज्याधीन राजपूत राजाओं ने अधीनता सहर्ष स्वीकार नहीं की थी। यह सत्य प्रताप के सहयोगियों में ग्वालियर नरेश रामशाह तंवर, पठान हकीमखानसूर और राजपूताना के विभिन्न चौहान, राठौड़, कछवाहों आदि राज्यों के मुगल विरोधी व्यक्तियों का होना भी यही साबित करता है। प्रताप के दरबार में रागमाला के सुप्रसिद्ध चित्रकार नासिरुद्दीन को प्रोत्साहन मिला था। प्रताप की धार्मिक सहिष्णुता और सांस्कृतिक समन्वय की प्रवृत्ति के कई उदाहरण मिलते हैं।

"इसलिए आज के संदर्भ में जब हम महाराणा प्रताप का स्मरण करते हैं और उनके आदर्शों को अपने जीवन-व्यवहार में लाने की बात करते हैं तो हमें उनका सही ऐतिहासिक मूल्यांकन प्रस्तुत करना चाहिये। हमें महाराणा प्रताप को विदेशी दासता के विरुद्ध स्वतन्त्रता के संघर्ष में सर्वस्व होम करने वाले अमर सेनानी, विभिन्न जातियों, धर्मों एवं सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णुता की नीति का पालन करने वाले आदर्श शासक, स्वयं के सुख-चैन और स्वार्थ को त्यागकर स्वदेश के हित के लिए भीषण अभावों

---

1 लूनिया, पृष्ठ 188

एवं कष्टों का सामना करने वाले तपस्वी, अपने चरित्र, नैतिकता और त्याग के बल पर सामान्य जन का विश्वास हासिल कर उनका संगठन करने वाले जननायक, सांस्कृतिक समन्वय के पोषक एवं सम्मानजनक शान्ति के पक्षपाती तथा अडिग प्रतिज्ञापालक के रूप में स्मरण करना चाहिये। यह स्वयं ही स्पष्ट है कि आधुनिक भारत के लिए महाराणा प्रताप के जीवन की ये विशेषताएं एवं आदर्श कितने मूल्यवान व प्रेरणादायक है।"[1]

डा० रघुवीरसिंह की तरह राजपूत इतिहास के प्रतिष्ठित विशेषज्ञ डा० अनिलचन्द्र बनर्जी को भी, जहां उन्होंने प्रताप के दृष्टिकोण की आलोचना की वहीं स्वयं उसका उत्तर देना पड़ा है। यह दुविधा इस कारण है कि अतीत की घटनाओं पर आधुनिक मान्यताएं थोपी जा रही है, और प्रताप को ऐसे विचारो के लिए दोष दिया जा रहा है जो उसके समय में उत्पन्न ही नहीं हुए थे, और अकबर की उन गुणों के लिए सराहना की जा रही है जिनसे उसके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का शृंगार उसके कई सौ साल बाद होने लगा है।

डा० बनर्जी बड़ी गम्भीरता से अपने तर्क का आरम्भ करते हैं: 'राणा प्रताप के मुगलों के विरुद्ध पराक्रमपूर्ण संघर्ष को दो भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखा जा सकता है।' पहला पक्ष उस मुक्तकंठ प्रशसा से प्रचलित हुआ है जो जेम्स टाड ने मेवाड़ की अदम्य वीरता, अडिग साहस और सम्मान को सदा बढ़ाने वाली लगन की की है। "दूसरा पक्ष 16 वीं शताब्दी के भारतीय इतिहास से इन घटनाओ के सम्बन्ध को अधिक महत्व देता है, और यह प्रतिपादित करता है कि राणा प्रताप का संग्राम अकबर-कालीन उदार एवं सहिष्णु मुगल साम्राज्य से प्रस्फुटित एकतावादी शक्तियों के विरुद्ध ऐसा अति उग्र प्रतिरोध था जिसकी अन्ततः असफलता असंदिग्ध थी।

"केवल मात्र राजनीतिक और सैनिक दृष्टिकोणों से राणा प्रतापसिंह की नीति की निन्दा इसलिए की जानी चाहिये कि वह आधारभूत रूप में अव्यावहारिक थी। उसने अपने को और अपने राज्य को असाधारण रूप से अधिक साधनों के विरुद्ध अटल प्रतिरोध से वचनबद्ध कर लिया, और किसी भी अवस्था में इसमें स्थायी सफलता की विवेकपूर्ण सम्भावना नहीं थी। आत्मसमर्पण के अन्तिम कृत्य में देरी मुगल नीतियों के इधर से उधर घूमने के कारण ही हुई। आत्मसर्मपण के ठीक पहले सर्वसाधारण को भयानक यातनाएं सहनी पड़ीं और यह तो और भी खेदजनक है कि राजपूताने में मेवाड़ की सर्वोच्चता सदा के लिए समाप्त हो गयी। मारवाड और आंबेर–इनमें से दूसरा तो मुगल बादशाही दरबार की कृपा के कारण नया-नया उठा था–राजस्थान के प्रमुख राज्य हो गये, और बप्पा के राज्य को मुगल साम्राज्यवाद का प्रतिरोध करने का यह मूल्य चुकाना पड़ा कि वह गिरकर दूसरी श्रेणी के राज्य की स्थिति में

1 देवीलाल पालीवाल, 'शोध पत्रिका', नौ, पृष्ठ 7

आ गया। मुगलों के आने के पहले राजपूत राज्यो के बीच मेवाड़ की जो स्थिति थी वह उसे पुनः कभी नहीं प्राप्त कर सका।"[1]

जब घटना होती है, उसका किस-किस बात से क्या-क्या संबंध है, स्पष्ट नहीं रहता, इतिहास-लेखन घटनाओ के बहुत बाद होता है, एक प्रकार का शव-परीक्षण होकर यह रह जाता है। इसके लिए आज प्रताप को दोषी नहीं ठहराया जा सकता कि वह उस समय के अकबर के सर्वग्राही विजय-अभियानो को, जो दूसरो के अधिकार और आत्मसम्मान को अंश मात्र आदर नहीं देते थे, 'उदार एव सहिष्णु' नहीं समझ सका। प्रताप के, और अकबर के भी, साथ इस अभियान के अंतिम परिणाम-मुगल सेना की असदिग्ध विजय—को नहीं जोड़ा जा सकता, यह प्रताप और अकबर के उत्तराधिकारियो के समय मे प्राप्त हुआ था। 'केवल मात्र राजनीतिक और सैनिक दृष्टिकोणो से', जैसा कि डा. बनर्जी ने यहां करने का प्रयत्न किया है, आधारभूत महत्त्व के निर्णय नहीं किये जाते, नहीं तो जो कुछ भी मानव चरित्र मे उच्च, उत्तम और अनुकरणीय है उसके लिए कोई स्थान ही नहीं रह जायेगा। 'विदेशी विधर्मी' आक्रमण जब करेगा तभी उसकी शक्ति, सम्पन्नता तथा सुचारुता का तिरस्कार करके उसका सामना किया जायेगा, यही तब उचित था और आगे भी उचित रहेगा। 'अटल प्रतिरोध से वचन-बद्ध' प्रताप था, परन्तु वह एक परम्परा की प्रतिरक्षा कर रहा था, जिसका प्रारम्भ उसके पिता के समय मे हो चुका था, और जिसे उसके पुत्र ने और भी प्रशंसनीय प्रकार से वर्षों बनाये रखा। अकेले प्रताप को इसका दोष देना वृथा है, उसी प्रकार सर्वसाधारण को हुई भयानक यातनाओ की दुहाई देना भी निरर्थक है, क्योंकि जनता और महाराणा एकमत और एकजुट थे। स्वेच्छा से सर्वसाधारण उस परिस्थिति को स्वीकार नही करते तो मेवाड़ मे जगह-जगह विद्रोह हो जाते, प्रताप को उसी तरह मारा जा सकता था जैसे उसके पितामह राणा सांगा को अकबर के पितामह बाबर के विरुद्ध दुराग्रह से संग्राम आगे ले जाने के कारण मार डाला गया था। यही नही, आगे चलकर जब प्रताप के भाई सगर को चित्तौड़ मे राणा बनाकर स्थापित कर दिया गया तब भी मेवाड़ के मान्य सामन्त और जन साधारण मे से भी अधिकाश उसके साथ नही हुए। इस स्थिति में डा.बनर्जी जैसे विद्वान को प्रताप के समक्ष समझौता करने के विकल्प के प्रश्न को उठाना ही नहीं चाहिये था। यह विकल्प उसके सामने नहीं था, यह अध्याय चार मे बताया जा चुका है। डा. बनर्जी ने नीचे की बातें कहकर स्वय अपने उपरोक्त तर्क को कुठित कर दिया है :

"फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि टाड के भावभीने गुणगान का 'गहन ऐतिहासिक महत्त्व' है। राणा प्रताप एक आदर्श राजपूत के परम्परागत गुणो तथा दोषो का मूर्तरूप था, और इस दृष्टि से ही उसकी सफलताओ तथा असफलताओ की परीक्षा की जानी चाहिये। उसका राजनीतिक क्षितिज (उसके युग के हर सामान्य

---

1 बनर्जी, पृष्ठ 92

राजपूत की तरह) उसके अपने राज्य की ऊंची-नीची पहाड़ियों तक ही सीमित था। अतीत के प्रति बिना शंका-संदेह के निष्ठा और अकबर द्वारा प्रस्तुत विकासशील साम्राज्यवादी व्यवस्था को न समझ सकने के लिए हम उसे दोष नहीं दे सकते। स्थानीय देश-भक्ति मध्यकालीन राजपूत इतिहास का सार-तत्व थी, और मेवाड़ के शक्ति-सम्पन्न शासक इसके सर्वोत्तम प्रतिपादक थे। व्यावहारिक स्थिति यह थी कि मुगल सर्वधर्मग्राह्यता के प्रलोभन के आगे जो राजपूत झुके—जैसा कि मानसिंह और मिर्जा राजा जयसिंह जैसे राजाओं ने किया था—उन्हें राजपूत ही नहीं माना जाता था। हमारे इतिहास के उतार-चढ़ावों में यदि राजपूत एक विशिष्ट एवं स्नेहाधिकारी वर्ग के रूप में माने गये और बने रहे तो उसका कारण ही यह था कि उन्होंने उस 'दुस्साहस' और 'आत्मघाती आदर्श' से मार्गदर्शन प्राप्त किया जो मेवाड़ द्वारा मुगल प्रतिरोध में प्रदर्शित हुआ था। महान राणा की जो सराहना अब भी की जाती है, वह वास्तव में उस राजपूत चरित्र की सराहना है जिसमें उसकी समस्त उज्ज्वलता तथा दोष सम्मिलित हैं।"[1]

महाराणा प्रताप की सराहना मे, और उसकी आलोचना के प्रत्युत्तर में, इससे अधिक क्या कहा जा सकता है? फिर भी क्यों कि डा० बनर्जी ने अपनी आलोचना का आधार डा० गोपीनाथ शर्मा को बनाया है, और इस मत का प्रतिपादन डा० आर. पी. त्रिपाठी ने विशेष रूप से किया है, इन दोनो के मन्तव्यों को विशेष रूप से समझना पड़ेगा।

"प्रताप महान् अवश्य था, परन्तु इस पर विचार किया जा सकता है कि जो संग्राम उसने किया उससे सब मिलाकर देश की सुख समृद्धि मे योगदान मिल रहा था अथवा उसके भविष्य पर विपरीत प्रभाव पड़ रहा था। यह स्वीकार करना होगा कि चूंकि अकबर महान और उदार सम्राट था, जिसने राजनीतिक और सांस्कृतिक दोनो दृष्टियो से देश के एकीकरण की विशद् नीति का अनुसरण किया, प्रताप का उस महासंघ से अलग बने रहना उस महान कार्य मे बड़ी बाधा हो गया था। उस सीमा तक यह उसके देश के हित के लिए घातक हुआ। यदि उस समय प्रताप मुगल व्यवस्था में सम्मिलित हो जाता तो वह अपने देश को विपद और विनाश से बचा सकता था। उसका दीर्घकालीन प्रतिरोध भी उन दिनों को आने से नही रोक सका जबकि स्वयं उसके पुत्र के राजकाल में मेवाड़ मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत एक अधीन राज्य बन गया। यदि वह अवसर मेवाड़ को इससे पहले दे दिया जाता तो इसका बहुत-सा पिछड़ापन दूर किया जा सकता था।"[2]

"राणा प्रताप के साहस, दृढ निश्चय और अजेय इच्छा-शक्ति की सराहना चाहे जितनी की जाय, यह स्वीकार करना होगा कि उसने ऐसे सिद्धांत का प्रतिपादन

---

1 बनर्जी, पृष्ठ 93

2 गोपीनाथ शर्मा, मेवाड़, पृष्ठ 106

किया था जो उससे भिन्न था जिससे राजपूताने के उसके समकालीन राजा प्रेरित हो रहे थे। जबकि वह मेवाड की स्वतन्त्रता और सीसोदियों की सर्वभौमता के लिए लड़ रहा था, अन्य राजा इसके प्रति अपने को उत्साहित नहीं अनुभव कर सके, क्योंकि मेवाड़ के पूर्ववर्ती महान शासकों की नीति के सम्बन्ध में उनका अनुभव बहुत सुखदायी नहीं था। यह मानना मूर्खता होगी कि शेष सब राजपूत कायर हो गये थे, और इतने चरित्रहीन हो गये थे कि वे अपनी स्वाधीनता अधिक सुलभ प्रलोभन के बदले में बेचने को उद्यत हो गये। इतिहास में अंकित उनका अतीत इस प्रकार की निराधार धारणा को निरर्थक कर देता है। पहले की तरह, वे राणा के कन्धे से कन्धा लगाकर अकबर के विरुद्ध अवश्य लड़ते यदि उनकी समझ में आ जाता कि उनकी परम्परा, कुटुम्ब, धर्म और स्वाधीनता संकट में है। अन्य राजपूत राजाओ से अपने व्यवहार से अकबर ने स्पष्टतापूर्वक दिखा दिया था कि न तो वह उनके राज्यों को छीनना चाहता था और न उनके सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन मे हस्तक्षेप करना चाहता था। वह इससे अधिक कुछ नहीं चाहता था कि नवीन राज्य मंडल को स्वीकार किया जाय, जिसके लिए चार बातें आवश्यक थीं। पहली, राजाओ को कर के रूप में साम्राज्य के लिए कुछ योगदान करना होता था; दूसरे, उन्हे अपनी विदेश नीति तथा अपने मतभेद आपसी युद्ध से निर्णीत करने का अधिकार सम्राट को सौंपना पड़ता था; तीसरे, जब आवश्यकता हो, राज्य मण्डल की सेवा मे उन्हें निर्धारित सैन्य दल भेजना होता था, चौथे, उन्हे अपने को स्वतंत्र इकाई मानने की जगह साम्राज्य का आंतरिक अग मानना होता था। यह स्थिति का एक पक्ष था। दूसरी ओर, साम्राज्य के सभी पद और श्रेणिया उनके लिए खोल दी गयी थीं, और बिना धर्म एव जाति के भेदभाव के वे समान स्तर के पद एवं श्रेणी वाले लोगों से बराबरी के बरताव के अधिकारी हो जाते थे। इस सिलसिले में यह उल्लेखनीय है कि जबकि अकबर ने भारत के प्रायः सभी मुस्लिम राज्यों को साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया, उसने किसी महत्वपूर्ण हिन्दू राज्य को, इस प्रकार साम्राज्य में, शामिल नही किया।

"अकबर ने जो समुचित और उदार शर्तें दे रखी थी, अर्थात् सामाजिक और धार्मिक जीवन मे तथा आन्तरिक प्रशासन में हस्तक्षेप से स्वतन्त्रता, उन्होंने मुगल राज्य मण्डल में सम्मिलित होने के विरोध का आधार ही हटा दिया। नये प्रस्तुत प्रबन्ध मे, जो राजा राजपूताने की लड़ाइयों और अराजकता से परेशान हो गये थे वे शांति, व्यवस्था तथा समृद्धि की आशा करने लगे। मुगलों की सार्वभौमिकता से वह मिलने की सम्भावना हो गयी जो मेवाड़ ने न कभी दिया, न दे सकता था। राज्य मण्डल की यह नीति नहीं थी कि उनकी युद्धीय क्षमता तथा प्रशासनिक योग्यता के उपयोग का विचारसंगत अवसर राजपूतों को नहीं दिया जाय। मुगल सम्राट द्वारा विवश करके वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के भय के भूत से भी बहुत नहीं डराया जा सकता, क्योंकि मेवाड़ के चारणो की प्रचारपूर्ण रचनाओ के अतिरिक्त कहीं इसका प्रमाण नहीं मिलता कि वैवाहिक सम्बन्ध मुगल सम्राट की सामान्य नीति थी,

जिसे वह सभी राजपूत राजाओ पर निर्दयतापूर्वक लागू करता था। सच बात तो यह है कि-इसमें कोई नवीनता नही थी। गुजरात, मालवा और दक्षिण के इतिहासों में इसके अनेक उदाहरण अंकित हैं।[1] इसका कोई सुनिश्चित प्रमाण नहीं है कि अकबर इस (नीति) को लागू करने के लिए तुल गया था अथवा इस प्रकार के सम्बन्ध के विरुद्ध राजपूतों में बड़ा सामाजिक विरोध अथवा विद्रोह था। इस प्रकार का सम्बन्ध करने अथवा न करने के लिए वे स्वतन्त्र थे।

"विभिन्न परिस्थितियों पर विचार करने के उपरान्त, अधिकांश राजपूत राजाओ ने ईमानदारी और स्वेच्छा से मुगल सम्राट के अधीन राज्य मण्डल में सम्मिलित होना इससे अच्छा माना कि वे अनेक बार परीक्षित, और असफल सिद्ध, सीसोदियो की सार्वभौमिकता की पुनः स्थापना के असम्भव स्वप्न की कल्पना करें और उसे प्रोत्साहित करें। तर्क और वास्तविकता राजपूतो के राज्य मण्डल-पक्षीय तत्वो के पक्ष में थी, जबकि उमंग, उत्साह और भावुकता राणा के पक्ष की ओर।"[2]

इन दो उद्भट विद्वानों को उत्तर देने के लिए, एक समान स्तरीय विद्वान का उद्धरण देना पर्याप्त होना चाहिये, "हमारे देश के उतार-चढ़ाव भरे इतिहास में किसी भारतीय राज्य ने मध्ययुगीन भारत में उतनी प्रमुखता नहीं प्राप्त की और न दिल्ली की विदेशी सुलतान-सत्ता (1206–1526) और उसके उत्तराधिकारी मुगल साम्राज्य (1526–1803) की आक्रमणकारी अभिवृद्धि का अवरोध करने में इतना पराक्रमपूर्ण योगदान किया जितना छोटे-से मेवाड़ ने, जिसकी जनसंख्या और वार्षिक आय आज के उत्तर प्रदेश के किन्हीं दो जिलों से अधिक नहीं थी। यह उग्रता और उत्साह से भरा राज्य 1527 से 1615 तक, बीच में शांति की संक्षिप्त अवधियों को छोड़कर, लगातार लड़ता रहा शक्तिशाली मुगल साम्राज्य से, जिसके जन-धन के साधनों की सीमा ही नहीं थी, और जिस पर लगभग आधी शताब्दी तक आधिपत्य रहा अकबर जैसे, अपने समय में संसार के सबसे सम्पन्न एवं शक्तिशाली, प्रतिभाशाली

---

1. "प्राचीनकाल से प्रचलित भारतीय परम्परा के अनुसार जाति और वर्ण की उपेक्षा करके राजवशो मे विवाह सबध होते रहे थे। सोलहवी शताब्दी मे चदेलो ने अपनी बेटी दुर्गावती का विवाह गोंड राजा के साथ किया था। राजा रामचद्रदेव की कन्या का विवाह अलाउद्दीन खिलजी से हुआ था और इसके कारण यादवो का जातीय बहिष्कार होने का कोई उल्लेख नही मिलता। हूण, शक, कुशाण जाति के शासको ने भी भारतीय राजवशो से सबध किये थे। अस्तु, परम्परा की दृष्टि से ऐसे विवाह न अज्ञात थे न अपमानजनक। भारतीय समाज मे बेटी विवाहना अपने को नीचा करना समझा जाता है। परन्तु यह बात राजकुलो पर लागू नही होती। इन विवाह-सबधो के कारण किसी राजपूत राज्य मे न तो आतरिक अशाति हुई और न आपस के विवाह-सबध ही बद हुए। मेवाड के शासको ने भी कथित कलकित राजवशो से विवाह-सबध करने मे कोई अपमान अनुभव नही किया। यदि राजपूत महिलाओ को शाही राजमहल मे अन्य रानियो से हेय समझा जाता तो इसमे कलक अथवा अपमान का प्रश्न उठ सकता था। अकबर ने विवाह-सबध को स्थायी सहयोग मे सहायक अवश्य समझा परतु उसने विवाह को राजपूत-सधियो का अनिवार्य अग नही बनाया जैसे कि रणथम्भोर के शासक सुर्जण हाडा के साथ की गयी सधि से प्रमाणित होता है।"—पाडेय, पृष्ठ 362
1. त्रिपाठी, पृष्ठ 223

सम्राट का।[1] "अकबर और प्रताप 25 वर्ष तक एक दूसरे के विरोधी रहे थे। इस महान संघर्ष मे सम्राट का उद्देश्य उच्च होते हुए भी अनुचित था जबकि राणा का उद्देश्य केवल रक्षात्मक था। अकबर असफल हुआ। प्रताप सफल हुआ। अभी हाल ही में एक और वाद-विवाद इस पर उठ पड़ा है कि क्या प्रताप ने अकबर के भारत की एकता निर्मित करने के महान कार्य मे सम्मिलित होना अस्वीकार कर वास्तव में गलती नहीं की थी?[2] केवल हां और ना में इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। यह विचार इस विषय पर समकालीन साहित्य की ऊपरी जानकारी तथा भूतकाल में आधुनिक काल के विचारों और संस्थाओ को ढूंढ़ने की इच्छा से उद्भूत हुआ है। तथ्य यह है कि इस कथित असहयोग के लिए प्रताप की अपेक्षा अकबर ही अधिक दोषी था। वह सदैव अपने दरबार मे राणा की व्यक्तिगत उपस्थिति पर जोर देता रहा। जबकि चित्तौड़ के घेरे के समय 1567-68 मे और प्रताप के पास भेजे गये चार राजदूत मण्डलों के समय भी मेवाड की मांग यही रही थी कि उसके शासक को दरबार की उपस्थिति से मुक्त कर दिया जाना चाहिये। अबुल् फज्ल स्वीकार करता है कि प्रताप ने सब राजदूतो को आदर से लिया, उनका सत्कार किया, शाही खिलअत पहिनी और एक वार अपने ज्येष्ठ पुत्र को आगरा भी भेज दिया। पर फिर भी अकवर की हठधर्मी से एक दीर्घ युद्ध प्रारंभ हो गया, जो अमरसिंह के काल में तभी समाप्त हुआ जब जहांगीर ने उपर्युक्त मॉग स्वीकार करली। और फिर अगर इस देश में सबको समान समझने और सभी जातियो को समान अवसर प्रदान करने की अकबर की धर्मनिरपेक्षता की नीति पूरे मुगल काल में अपनायी गयी होती तो निश्चय ही आने वाली पीढियो राणा को एक प्रतिक्रियावादी और भारतीय एकता में रोड़ा स्वीकार कर लेतीं। पर अभाग्यवश ऐसा नही हुआ। जहागीर ने अकवर की धर्मनिरपेक्षता की नीति अर्धमन से अपनायी। शाहजहां ने अकबर से पहले प्रचलित नीतियो को पुन अपनाने का रुख दिखलाया, और औरगजेब ने तो अकबर की नीति की मुख्य नीवो को ही ढहा डाला एवं इस्लाम की प्रमुखता तथा हिन्दू धर्म के उत्पीड़न पर आधारित एक इस्लामी राज्य को फिर से स्थापित कर दिया। सक्षेप में अकबर की धर्मनिरपेक्षता कठिनाई से 80 वर्ष तक ही चल सकी, और यहां तक कि अकवर के समय में भी हिन्दुओ और मुसलमानों के प्रेरणा के स्रोत अलग-अलग ही रहे। बहुत से उन हिन्दू राज्यो को, जो अकबर के साथ हो गये थे, औरगजेब के काल में प्रताप की ही

---

1 श्रीवास्तव, गोपीनाथ शर्मा, मेवाड, प्रस्तावना।

2 इस सदर्भ मे डा श्रीवास्तव की पाद टिप्पणी "मैने एक लेख (जर्नल आव इडियन हिस्ट्री, अप्रेल 1961) में प्रताप के उस सही रुख का स्पष्ट किया है जिसे आधुनिक लेखको ने गलत समझ लिया है। राणा 1572-76 मे इस शर्त पर अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार था कि उसे मुगल दरबार मे उपस्थित होने को न बुलाया जाये। पर जून 1576 मे हल्दीघाटी के युद्ध के पश्चात् उसका यह रुख हो गया था कि वह किसी भी कीमत पर मुगल प्रभुत्वता स्वीकार नहीं करेगा। आधुनिक लेखक राणा प्रताप और अकवर के बीच अलग-अलग समय पर मेवाड के इन दो विभिन्न रुखो को समझने मे असफल रहे है।"
—श्रीवास्तव, पहला भाग, पृष्ठ 217

मुगल विरोधी नीति अपनानी पड़ी। अकबर की नीति के भविष्य में अपनाये जाने की अनिश्चितता के कारण उसके दरबारी हिन्दुओं को छोड़ कर देश का समकालीन हिन्दू जनमत राणा प्रताप के जीवन पर्यन्त उसी के रुख का समर्थन करता रहा। यह अधिकता से प्राप्य संस्कृत, राजस्थानी, हिन्दी और संभवतः गुजराती साहित्य से भी स्पष्ट होता है। और बाद की पीढ़ियों ने भी सदैव राणा को केवल एक महान नायक के रूप में ही नहीं बल्कि हिन्दू प्रतिष्ठा और सम्मान के सफल रक्षक के रूप मे भी देखा है। यह तर्क किया जाता है कि आखिरकार राणा प्रताप के पुत्र अमरसिंह के समय में मेवाड़ को अपनी स्वतन्त्रता खोनी पड़ी और अगर राणा ने इसे 1572 में ही स्वीकार कर लिया होता तो बहुत से बलिदान बच गये होते। यह तर्क एक गलतफहमी पर आधारित है। अमरसिंह ने 1615 में जहांगीर से जो सम्मानपूर्ण शर्तें स्वीकार की थीं वे राणा प्रताप के लम्बे और दृढ़ संघर्ष एवं स्वयं अमरसिंह के 18 वर्षों के संघर्ष के कारण ही प्राप्त हो सकी थीं। इन बलिदानों के बिना मेवाड़ एक विशेष व्यवहार की–ऐसे व्यवहार की जो आमेर, जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, और डूंगरपुर के प्रति सम्राट के व्यवहार से भिन्न था–मुश्किल से आशा कर सकता था। अपने बलिदानों का ध्यान न कर राणा प्रताप ने जो महान अकबर का सफलता से विरोध किया उसी के कारण उसे उचित रूप से 'तात्विक भारतीय आत्मा' का वह मूर्तिमान रूप कहा गया है जो भारत की परम्परागत कीर्ति को अक्षय रखे है और उस कीर्ति को मलिन करने वाले किसी भी तत्त्व का विरोधी है।"[1]

अकबर का मेवाड़ द्वारा दृढ़ निश्चयात्मक, दीर्घकालीन, सर्वबलिदानी और परिणाम के प्रति उपेक्षापूर्ण यह प्रतिरोध नहीं किया जाता तो जो अपने सर्वस्व पर अतिक्रमण और आक्रमण करे उसका प्रतिरोध करने की भावना और परम्परा, जो भारत की ही थाती नहीं, संसार की सर्वव्यापी एवं सर्वोच्च भावना है, कितनी जर्जर और निष्प्राण हो जाती, इसकी कल्पना करने के उपरान्त ही यह बहस और वकालत की जानी चाहिये कि अच्छा यह होता कि प्रताप, उसका पिता, उसका पुत्र, आक्रमणकारी और आततायी अकबर से समझौता करने की आरम्भ से आतुरता दिखाते। अगर वे ऐसा करते तो स्वाधीनता मे निहित वह बलिदानी भावना भारत से उठ जाती जिसको मन मे संजोकर देश के वीरो ने देश के लिए बारबार अपने प्राण न्यौछावर किये हैं।

## वास्तविकता का परीक्षण

जिस प्रकार प्रताप की भर्त्सना का कोई कारण नहीं है, उसी तरह अकबर के प्रति अति उदारता दिखाने का भी कोई कारण नहीं है, जिस प्रकार प्रताप की निन्दा अनुचित

---

1. (क) डा श्रीवास्तव की पादटिप्पणी 'इन वीर अौ मर्दा मे भी प्रताप लाखों लागो के लिए आकाशदीप है और हल्दीघाटी उन सहस्त्रो का तीर्थ स्थान है जो उस सकरे दर्रे की पीली रेत का उठा कर सम्मानपूर्वक अपने मस्तक पर लगाते हैं। चित्तौड़ का नाम मात्र श्रद्धा उत्पन्न कर देता है और सारे भारत मे मेवाड के वे लोग, जिनके पूर्वज अपनी स्वतन्त्रता के लिए वीरतापूर्वक लड़े थे, सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं।" (ख) श्रीवास्तव, पहला भाग, पृष्ठ 217

है, उसी तरह अकबर की अतिशय सराहना भी उचित नहीं है। यह पिछले अध्यायों का अध्ययन करने वाले के लिए सहज स्वीकार्य होगा।

अकबर की उपलब्धियो को गिनाते समय उसकी पूर्व-परम्परा, उससे पूर्व के इतिहास को, इस प्रकार भुला दिया जाता है जैसे कि जो कुछ अच्छा था उस सबका आरम्भ अकबर ने ही किया था। ऐतिहासिकता के यह अनुरूप नही है, "अकबर के समय का सरकारी विवरण, जिसे उसके प्रतिभाशाली एवं योग्य दरबारी और मित्र अबुल् फज्ल ने तैय्यार किया था, कुछ दोषपूर्ण है क्योंकि इसमे पूर्ववर्तियों के योगदान के साथ न्याय नही किया गया है, जैसे जैसे राजनीतिक गतिविधियों का क्रम आगे बढ़ता है, यह तथ्य स्पष्ट होता जाता है कि सुलतानों के समय मे राज का अधिकार जितने अधिक भूभाग पर बढ़ा उतना ही ऊंचा स्तर सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास का भी उठता रहा।[1] आरम्भिक मुस्लिम युग का अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसी समय मे भारतीय सस्कृति की निर्माणकारी प्रवृत्तियो का उदय हुआ। यद्यपि इनका सचालन असंस्कृत और अपर्याप्त रूप से होता रहा, इन्होने ऐसा सुदृढ़ आधार स्थापित करने मे सफलता प्राप्त की जिस पर बाद के मुगल शासक अपना गौरवशाली निमाण-कार्य कर सके। अकबर का समय आने तक सारा प्रारम्भिक कार्य किया जा चुका था, और सम्राट अकबर तथा उसके उत्तराधिकारियो ने उन्ही उदारहणों का अनुसरण किया जो तुर्की एव अफगान पूर्ववर्ती उनके लिए छोड़ गये थे। भारतीय इतिहास को मुगल योगदान तथा आधुनिक सामाजिक घटनाओं को अच्छी तरह समझने के लिए, अतएव, इस युग का बहुत महत्व है।"[2] "यह स्पष्ट है कि भारतीय सीमा के भीतर अपनी विदेश नीति के क्षेत्र मे मुगलो ने अपने पूर्ववर्तियो की योजनाओ को ही विकसित किया। आन्तरिक नीति के क्षेत्र मे मुगलो का उनके पूर्वजो के प्रति ऋण कम दीखता है, परन्तु वह कम वास्तव मे नही हैं। यह सभी स्वीकार करते हैं कि अकबर ने उसी मार्ग का अनुसरण किया जिसे शेरशाह ने पकड़ रखा था।[3] शेरशाह अवश्य ही कुशाग्र-बुद्धि शासक और बुद्धिमान राजनीतिज्ञ था, परन्तु जिस मौलिकता का श्रेय उसे मिल गया है, वह उतनी उसमे नहीं थी। उसके पूर्ववर्तियो ने जो आधारशिलाएं रखी थीं उन्ही पर उसने अपना निर्माण-कार्य किया। अनेक पठान इतिहासकारों मे से सिर्फ जियाउद्दीन बारनी और शम्स-इ-सिराज के अध्ययन से उन संस्थाओ के बीज प्रारम्भिक स्वरूप मे मिल जायेंगे जिनको मुगल शासन से संबद्ध माना जाता है। पठानो ने स्वयं अपने हिन्दू पूर्ववर्तियो के तौर-तरीको को अपनाया था। इस प्रकार संस्थाओ का जीवन और विकास आदिकाल से अठारहवीं शताब्दी तक प्रवाहित होता रहा।"[4]

---

1 अशरफ, पृष्ठ 237
2 अशरफ, प्रस्तावना, पृष्ठ 5
3 परिशिष्ट—दूसरा
4. बेनीप्रसाद, पृष्ठ 116

जहां तक स्वयं अकबर के समय का संबंध है, डा० गोपीनाथ शर्मा और डा० आर. पी. त्रिपाठी ने अपने ऊपर दिये उद्धरणो में उसके पक्ष में कही जाने वाली प्रायः सभी बातें कह दी है। मुख्यतः यह विचार 'भूतकाल में आधुनिक काल के विचारों और संस्थाओं को ढूढने की इच्छा से उद्भूत' हुए है, फिर भी इनमें से एक-एक को लेकर वास्तविकता का परीक्षण करना ठीक होगा।

'रात का समय लाभकारी कार्यों मे उपयोग मे लेने की अकबर की आदत थी,' उस समय दीवान-इ-खास मे दार्शनिक तथा सूफी सम्राट का 'मनोरंजन' बुद्धिमत्तापूर्ण विचारो से किया करते थे। इन वार्ताओ मे ऐसे 'पूर्वाग्रहविहीन इतिहासकार' भी आते थे, 'जो तथ्यो को घटा या बढ़ाकर इतिहास का अंगभंग नहीं किया करते' और पुराने समय की 'प्रभावोत्पादक घटनाओं' का सरस वर्णन करते थे। इन चर्चाओ के बीच बहुधा सम्राट 'बहुत बुद्धिमानीपूर्ण विचार प्रकट करता था'।[1]

इतिहास और इतिहासकारो को अकबर के समय मे जो महत्त्व प्राप्त था, उसका इससे अंदाज मिलता है, परन्तु इतिहास-लेखन पर उसकी निर्जा और कड़ी निगाह थी, इससे यह भी स्पष्ट है।

सीधे शाही संरक्षण मे लिखे गये इतिहास मे भी कहीं साम्राज्य को 'राज्य मडल' के रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया गया है।

अकबर के साम्राज्य को 'नवीन साम्राज्यवादी राज्यमंडल (कानफेडरेशन)' कहकर सोलहवीं शताब्दी की संस्था को बीसवीं शताब्दी का नाम दिया गया है, इस प्रकार सारी परिकल्पना को संदर्भ-विहीन अर्थ मिल गया है।

इस शब्द का प्रयोग राज्यमडल के अर्थ में, अमेरिका और जर्मनी के संदर्भ मे, सुनिश्चित संस्थाओ के लिए, क्रमशः 1789 और 1815 मे आरम्भ हुआ है। इसे कुछ समान उद्देश्य के लिए 'सार्वभौमसत्ता-सम्पन्न राज्यो के स्थायी सघ' के अर्थ मे काम मे लाया जाता है, जिसमें जोर इस बात पर माना जाता है कि राज्यमंडल मे सम्मिलित प्रत्येक राज्य की सार्वभौम स्वाधीनता बनी रहती है। यह स्थिति अकबर के साम्राज्य में सम्मिलित विभिन्न राज्यो की नहीं थी।

तुर्क जब भारत आये तो राजसत्ता का इस्लामी सिद्धान्त भी उन्हीं के साथ भारत आया। भारत मे प्रचलित राजसत्ता के सिद्धान्त से इस्लामी राजसत्ता का सिद्धान्त कई बातो मे भिन्न था। सम्राट अकबर ने इस्लामी सिद्धान्त का मूल आधार बदल दिया। "अकबर का राजसत्ता का सिद्धान्त किसी कल्पना का परिणाम न था। वह न तो पुस्तको से सीखा गया था और न किसी सिद्धान्त शास्त्री अथवा परामर्शदाता के मस्तिष्क की उपज था। वह जीवन के कटु अनुभवो से जन्मा था और अकबर के अपने चिन्तन और सहज व्यावहारिक बुद्धि का फल था। ...अकबर के राजत्व के

1 'आईन-इ-अकबरी', पृष्ठ 164

सिद्धान्त में यह प्रतिपादित किया गया था कि राजत्व के आवश्यक तत्त्वो में से एक तत्त्व यह है कि सर्वसहनशीलता (सुलह कुल) को अपनाया जाय और सभी मनुष्यो और सभी धार्मिक सम्प्रदायो को एक ही नजर से देखा जाय।····अकबर के अनुसार राजसत्ता ईश्वरीय उपहार तो थी ही, पर इसके सिवाय उसके कुछ अन्य आवश्यक अंग उदारता, श्रेष्ठ दानशीलता, योग्यता, चरित्र, नैतिकता, न्याय आदि भी थे।' अबुल् फज्ल लिखता है, 'राजत्व परमात्मा का उपहार है और यह तब तक प्रदान नही किया जाता जब तक कि कई सहस्त्र महान गुण एक ही व्यक्ति से अवतरित नहीं होते।··· जो कुछ तेरे पास है सब दान कर दे, आंखे खरीद और हमारे आध्यात्मिक तथा राजशक्ति विभूषित सम्राट के विश्व सुशोभित करने वाले गुणो को देख ताकि तू समझ सके कि राजत्व क्या है और राजसत्ता का क्या अभिप्राय है।'· ··अकबर का राजत्व सिद्धान्त निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता का सिद्धान्त था। अकबर स्वयं को अपनी प्रजा का प्रथम सेवक मानता था और उसकी भलाई के लिए सोचना और कार्य करना अपना परम कर्तव्य समझता था। वह यह मानता था कि प्रजा की सेवा से बढ़कर कोई धर्म-उपासना नहीं है। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि प्रजा के प्रति अपने कर्तव्य का पालन कर वह वास्तव में एक प्रकार से परमात्मा की आराधना ही कर रहा है। इस सिद्धान्त के प्रयोग ने भारत को शान्ति, एकता, प्रगति और सम्पन्नता प्रदान की।"[1]

सब कुछ मिलने पर भी इस सिद्धान्त में 'राज्यमण्डल' की आधुनिक परिभाषा के अनुरूप कुछ नही मिल सकता। अतएव जो नही था, उसके स्वीकार या अस्वीकार करने का प्रश्न अब उठाना व्यावहारिक नहीं लगता।

अकबर के चिन्तन और कार्यविधि का औचित्य उजागर करने के लिए यह कहा गया है कि उसने किसी महत्वपूर्ण हिन्दू राज्य को साम्राज्य में शामिल नहीं किया।

अकबर का फरवरी 1556 में सिंहासनारोहण हुआ, और उसी वर्ष नवम्बर में पानीपत का द्वितीय युद्ध हुआ, जिसमे 'स्वतंत्र शासक की तरह दिल्ली के सिंहासन पर आसीन, विक्रमादित्य उपाधिधारी', हेमू परास्त हुआ। उसे हराये बिना अकबर भारत का सम्राट नही माना जा सकता था।

1558 में जोधपुर राज्य का जैतारन जीतकर शाही कब्जे में कर लिया गया। जोधपुर के राजा मालदेव के अधिकार मे मेड़ता का किला था। उसकी रक्षा का भार जयमल्ल राठौर पर था। 1562 मे इस किले के लिए 'बहुत ही कठोर युद्ध हुआ'। मुगल सेना की विजय हुई, इस पर सीधा शाही शासन स्थापित किया गया।

ग्वालियर का 'अजेय, प्रमुख और दृढ़ दुर्ग' जीतकर शाही क्षेत्र में शामिल कर लिया गया। यहा के राजा रामशाह, और मेड़ता में पराजित जयमल्ल को महाराणा उदयसिंह की शरण में चित्तोड़ जाना पड़ा।

---

1 श्रीवास्तव, दूसरा भाग, पहले अध्याय से।

गौंडवाना की 'सुप्रसिद्ध राजपूत रानी' दुर्गावती अकबर की समकालीन थी। विधवा होने के बाद वह अपने अवयस्क पुत्र की ओर से शासन-कार्य कर रही थी। अकबर की सेनाओ ने उसके राज्य में 'गुलाबों की फसल राख कर दी'। गौंडवाना शाही क्षेत्र में शामिल कर लिया गया।

चित्तौड़ और रणथम्भोर की विजय और वहां सीधे शाही शासन की स्थापना का विवरण पहले आ चुका है। कालिंजर के किले को भी सीधे कब्जे मे ले लिया गया।

इस प्रकार जहां सामना किया गया, वहां का प्रदेश साम्राज्य में शामिल किया गया। चित्तौड़-विजय के बाद 'राजस्थान के सभी प्रमुख शासको ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर उसे अपना अधिपति मान लिया'। उन्हे वह चाहता तो साम्राज्य में शामिल कर सकता था, परन्तु 'नीति और औचित्य की भावना से प्रेरित' होकर उसने ऐसा नहीं किया। एक मारवाड़ को जीतने में शेरशाह को कितना कष्ट और सकट उठाना पड़ा था, इसका उसे ज्ञान था। अतएव अकबर बिना लड़े जो मिले उसे 'मित्रता' के मोल लेना चाहता था। अतएव स्थिति यह थी कि जो अकबर से लड़े वे साम्राज्य में शामिल करके समाप्त कर दिये गये, जो नहीं लड़े उनकी पराधीनता को जितना बना सरल और सुशोभित किया गया।

यह मानना, अवश्य ही, मूर्खतापूर्ण होगा कि 'शेष सब राजपूत कायर हो गये थे'। परन्तु यह भी सही है कि वे 'अपनी स्वाधीनता अधिक सुलभ प्रलोभन के बदले में बेचने को उद्यत हो गये थे'। चित्तौड़ की विजय के बाद उन्हें अपना जो भविष्य दिखायी दिया उससे वे कांप गये। अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए बिना प्रयत्न और प्रतिरोध किये उन्होने अपने राज्य मुगल सम्राट को सौंप दिये। इसे बुद्धिमानी कहा जा सकता है वीरता नहीं, परिस्थिति की विकटता के आगे व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाने को कायरता कहना कदाचित ज्यादती होगी।

मेवाड़ ही नहीं मारवाड़ भी मुगलो से लड़ता रहा। सिरोही, बूंदी, ईडर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, जालोर भी ऐसे राज्य थे जिन्होने बिना लड़े अकबर के सामने आत्मसमर्पण नहीं किया। स्वयं अजमेर को शाहंशाह को जाकर जीतना पड़ा था। उदयसिंह और प्रतापसिंह से राजपूत राजाओ को चिढ़ और आशंका थी तो वे मालदेव और चन्द्रसेन का ही साथ दे सकते थे। ऐसा भी नही करना चाहते तो अकेले-अकेले लड़कर नाम कमा सकते थे। परन्तु उन्होने तो स्वाधीनता के संकट से परतन्त्रता का पुरस्कार अधिक श्रेयस्कर समझा, और आज उन्हे उस मेवाड़ की तुलना में रखकर सराहा जाता है जिसने पचास वर्ष तक स्वाधीनता का महायज्ञ किया।

मेवाड़ के अतिरिक्त शेष राजपूत राजाओं ने स्वेच्छा से पराधीनता स्वीकार नहीं की थी, जैसा कि ऊपर-ऊपर से दीखता है। चित्तौड़ की पराजय के सालों बाद महाराणा अमरसिंह को जिस परिस्थिति का सामना करना पड़ा उसकी परिकल्पना उन्होने बहुत पहले कर ली थी, अकबर की सर्वविजयिनी शक्ति का आभास उन्हें

पहले से हो गया था। परन्तु वे कितने गलत थे, अकबर उदयसिंह, प्रतापसिंह और अमरसिंह को नहीं हरा सका, कम से कम उनसे अधीनता नहीं स्वीकार करा सका। अन्ततः राज्य उनके भी गये, मेवाड़ का भी, परन्तु दोनों में कितना अन्तर है ! अवश्य ही, 'ईमानदारी' और 'स्वेच्छा' से इन राजाओ ने अपनी स्वाधीनता अकबर को समर्पित करने का निश्चय किया, परन्तु इसे 'विवेकशीलता' कहा जा सकता है, 'शूरवीरता' नहीं।

"दरबारी इतिहासकार चाहे जो कहें, प्रताप को विद्रोही तथा दुराग्रही जमींदार नहीं माना जाना चाहिये। जो भूमि उसके अधीन थी वह स्वयं उसकी थी; संग्राम मे उसके साथ ऐसे सामन्त जाते थे जिनसे पीढ़ियो से संबंध था; उसे समस्त राजपूत अपना विधिवत स्वाभाविक स्वामी स्वीकार करते थे; और जैसा कि सुनिश्चित रूप से की गयी कार्रवाइयो से सिद्ध होता है, यह 'औचित्य की भावना' उन राजपूतों तक के हृदयों में अमिट रूप से बनी हुई थी जो अकबर के झंडे के नीचे लड़ रहे थे और उसके सबसे स्वमिभक्त सेनानी थे।"[1]

जो राजपूत राजा शाहंशाह की सेवा में चले गये थे उनके स्वयं के मन मे अपने प्रति आत्म-सम्मान की मात्रा का आधिक्य हो, ऐसा नही लगता। दूसरी ओर, मुगल-पक्ष उन्हें सदा शंका की दृष्टि से देखता था, मानता था कि मन से वे मेवाड़ का आदर करते है। समकालीन कवि, अकबर के दरबारी, बीकानेर के पृथ्वीराज राठौड़ ने लिखा है :

जासी हाट बाट रहसी जग, अकबर ठग जासी एकार।
रह राखियो खत्री धर्म राणो, सारा ले बरतै संसार ॥

अर्थात् क्षत्रिय धर्म की धारणा उनसे अधिक प्रताप कर रहा था। प्रताप को अपने समय में 'हिन्दुआ सुलतान', 'राव हींदवां', 'हीदूनाथ' और 'राया तिलक हींदवा' कहा जाता था।

अकबर समर्थक राजाओ को, प्रताप की निन्दा करके परोक्ष रूप में, यह श्रेय दिया जाता है कि उन्होने देश को राष्ट्रीय सामंजस्य एवं दृढ़ता-एकता देने के अकबर के महान प्रयत्न में सहयोग तथा समर्थन देकर एक राष्ट्रीय दायित्व का निर्वहन किया। इस गौरव का अभिमान अकबर-समर्थक किसी राजा ने कभी नही किया। वे सब अपनी आवश्यकता से अकबर के साथ हुए थे, और अपनी असमर्थता से उसके साथ बने रहे। इसका आभास उन्हें था, और इसी अनुपात में मेवाड़ के महाराणाओ का मन से सम्मान करते थे।

इसमें संदेह नहीं कि 'यदि उस समय प्रताप मुगल व्यवस्था मे शामिल हो जाता तो वह अपने देश (मेवाड़) को विपद और विनाश से बचा सकता था'।

---

1. फ्रेडरिक, पृष्ठ 243

परन्तु यह कथन उतना ठीक नहीं लगता कि इससे मेवाड़ का 'वहुत-सा पिछड़ापन दूर किया जा सकता था', राज्य में 'शांति, व्यवस्था तथा समृद्धि' हो सकती थी।

"अकवर की सर्वोपरि भावना महत्वाकांक्षा थी। उसका समस्त शासन विजय को अर्पित था। उसके आक्रमण, जिनमें नैतिकता की किंचित मात्र भी भावना नहीं होती थी, किसी भी उदाहरण में आक्रमण किये राज्यो की प्रजा की दशा को उन्नत करने के ध्येय से परिचालित नहीं हुए थे। वह आधुनिक आलोचनात्मक-दृष्टि-शून्य प्रशंसक द्वारा उसके कार्य के लिए प्रस्तुत की गयी आडंवरपूर्ण क्षमायाचना पर उपहास करता, जिसने यह लिखने का दुस्साहस किया था : "अकवर ने राजपूताना पर शासन करने के लिए राजपूताना की विजय नहीं की थी। उसने विजय इसलिए की थी कि समस्त राजपूत नरेश, अपने-अपने राज्य में प्रत्येक शांति और समृद्धि का आनंद लाभ कर सकें, जो उसके एकाधिपत्य ने, जिसका कोई अप्रधर्षी प्रभाव नहीं हुआ था, सम्पूर्ण साम्राज्य के लिए स्थापित किया था।" इसी प्रकार का असत्य अनर्गल प्रलाप फाननोएर (फ्रेडरिक) की पुस्तक में तथा अन्यत्र (अनेक पुस्तको में) वर्णित है। वास्तव में उससे अधिक आक्रामक राजा कभी कोई दूसरा हुआ ही नहीं था। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि उसके प्रशासन द्वारा उससे अधिक सुख उपलब्ध हो सके, जो उन अधिकांश राज्यों द्वारा स्थापित हुआ था, जिन्हें उसने निर्ममतापूर्वक नष्ट कर दिया था।......वह संपूर्ण जीवन विजय-उपलब्धि के लिए कृतसंकल्प रहा।"[1]

जयपुर, जोधपुर, वीकानेर आदि की ठीक भारतीय स्वाधीनता के पहले की परिस्थिति का दूर-दूर से अंदाज लगाने वाले, इन राज्यों के शासको के व्यक्तिगत और पारिवारिक वैभव से चमत्कृत होने वाले, यह नहीं जानते कि अकवर से हारने के 380 साल वाद भी वे 'शांति, व्यवस्था तथा समृद्धि' से वहुत दूर थे—उनके यहां सर्वसाधारण की स्थिति अत्यंत शोचनीय थी।

अकवर के समय में इन तथाकथित वड़े राज्यों की स्थिति दयनीय थी, सीमाएं भी इनकी इतनी विशाल नहीं थीं। अकवर से घनिष्ठतम संवंध आंवेर ने स्थापित किये थे। औरंगजेव के वाद भी, सवाई जयसिंह के राज्यारोहण के पहले, यह आकार में बहुत ही छोटा राज्य था। आंवेर के राजा भगवन्त दास, मानसिंह, मिर्जा राजा जयसिंह, सवाई जयसिह और रामसिह ने वड़ा नाम कमाया—लेकिन शाही सेवा में। यही हाल जोधपुर और वीकानेर के राजाओं का था। ये सुप्रसिद्ध राजा अपने राज्य की सीमा में विना शाहशाह की अनुमति के आ नहीं सकते थे, क्या राज्य की सुख-समृद्धि के लिए इनसे प्रयत्न हो सकता था? अपने आनन्द और परिवार की प्रतिष्ठा के आगे इनकी महत्वाकांक्षा नहीं निकल सकती थी।

'शांति, व्यवस्था तथा समृद्धि' में साझा यदि सर्वसाधारण का भी स्वीकार किया जाय, तो सर्वथा शून्यता की स्थिति इन राज्यो में थी। इस दृष्टि से सारे मुगल

1. स्मिथ, पृष्ठ 371

साम्राज्य में स्थिति चिन्तनीय थी।[1] राजपूत राजाओं के लिए आदर्श और अनुकरणीय जो था वह स्वयं शोचनीय स्थिति में था।

ऐसे में इस बात पर आश्चर्य नहीं किया जाना चाहिये कि प्रताप ने 'ऐसे सिद्धांत का प्रतिपादन किया जो उनसे भिन्न था जिनसे राजपूताने के उसके समकालीन राजा प्रेरित हो रहे थे,' इसके लिए प्रताप की दूरदर्शिता, बुद्धिशीलता, वीरता और बलिदान-भावना का आदर किया जाना चाहिये। किस प्रकार ऐसी स्थिति हो गयी थी कि प्रताप अकबर से समझौता कर ही नहीं सकता था, यह हम देख चुके हैं। इसका कारण था, और औचित्य भी। इसे स्वीकार करने में जिन्होंने अपनी असमर्थता दिखायी—और अन्ततः वे उतने बुद्धिमान भी सिद्ध नहीं हो सके—उनको उनकी स्थिति पर छोड़ भी दें तो उनके मानदंड, जीवन-मूल्य और राज्यादर्श को मेवाड़ के महाराणाओं पर नहीं थोपा जा सकता, उनके आधार पर मेवाड़ वालों का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। एक अकबर से लड़ने के सवाल पर ही नहीं, सभी प्रश्नों पर, न जाने कितने पहले से, इन राज्यों के बीच दृष्टिकोण और व्यवहार की भिन्नता

---

1. (क) परिशिष्ट—तीसरा।

(ख) शाहजहां के शासनकाल में आया इटालियन निकोलाओ मानूची भारत में चालीस साल रहा था। उसने बताया है कि उन दिनों विभिन्न ग्रामीण क्षेत्रों में विद्रोह और उपद्रव बहुधा होते रहते थे। इनका दमन करने बार-बार स्वयं शाहंशाह अकबर को जाना पड़ता था। अपने बड़े-बड़े सेनापति उसने इन उपद्रवों को दबाने बार-बार भेजे। "यह अधिकांश विद्रोही गांवों में पहुंचकर, उन्हें मिले आदेशों के अनुसार मारकाट करते और सिर उड़ाते थे। यही उपचार अकबर इन उपद्रवों का किया करता था, और उसे उदाहरण मानकर अन्य मुगल बादशाहों ने भी ऐसा ही किया। अपने को बचाने के लिए यह ग्रामीण या तो कंटीली झाड़ियों में छिप जाते थे या अपने गांवों के चारों ओर बनायी इनकी मिट्टी की दीवारों के पीछे हो जाते थे। महिलाएं अपने पतियों के पीछे आतीं और तीर लेकर खड़ी हो जातीं थीं। जब पुरुष बंदूक चला चुकता था, महिला उसे भरा भराया दे देती थी, और पुरुष बंदूक को फिर से भरने लगती थीं। इस तरह वे तब तक अपने को बचाने का यत्न करते थे जब तक ऐसा करना असंभव नहीं हो जाता था। जब आशा एकदम जाती रहती थी, यह लोग अपनी पत्नियों और पुत्रियों के सिर काट देते थे और पूर्ण शक्ति से शत्रु की पंक्तियों पर टूट पड़ते थे। कई बार ऐसे सीमाहीन साहस के कारण ही वे जीत भी जाते थे।

जब भी कोई सेनापति जीतता था, युद्ध-उपलब्धि के रूप में ग्रामीणों के कटे हुए सिर आगरा भेजे जाते थे, जहां उनकी सफलता के प्रमाण-स्वरूप उन्हें शाही चौक में सबके देखने के लिए रखा जाता था। चौबीस घंटे बाद इन कटे सिरों को राज-मार्ग पर रखने के लिए भेज दिया जाता था, जहां या तो इन्हें पेड़ों पर टांग दिया जाता था या इसी काम के लिए बने खंभों में लगा दिया जाता था। हर खंभे पर एक सौ सिर लगाये जा सकते थे।"

साम्राज्य में कानून-व्यवस्था के नाम पर यह स्थिति थी, और परम्परा के रूप में यही स्थिति शाहजहां के समय में चलती रही, जबकि लेखक ने स्वयं आगरा शहर में ग्रामीणों के कटे हुए सिरों के ढेर देखे। एक बार एक साथ दस हजार सिर उसके देखने में आये। चालीस साल में वह कई बार आगरा-दिल्ली के राजमार्ग पर गया, हर बार उसे रास्ते में नये कटे सिर देखने को मिले।

ग्रामीण अपने 'प्रबल शत्रु' अकबर से उसके जीवन-काल में तो बदला नहीं ले सके, लेकिन, श्री मानूची ने बताया है, ग्रामीण, 1691 में, सिकन्दरा में बने अकबर के मकबरे में चुपचाप घुस गये, वहां से सारे बहुमूल्य पत्थर और सोने के काम की सब चीजें निकाल लीं, और अकबर की हड्डियां कब्र में से निकाल कर उन्हें आग में जला दिया। औरंगजेब, जो उन दिनों बादशाह था, बड़ा ही आग-बबूला हुआ, और उसने उन ग्रामीणों के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई की। —मानूची, पृष्ठ 134, 142

चली आ रही थी। यह कौन-सा सिद्धान्त-साम्य है जिसको तोड़ने का प्रताप पर दोषारोपण किया जा रहा है ? राजपूताने के राजाओ में आपसी मेल और अच्छा संगठन कभी नहीं था। वे सग्रामसिंह के समय में एक हुए थे, और भी ऐसे कुछ उदाहरण है। परन्तु उनका आन्तरिक भेदभाव और प्रतिस्पर्धा वार-वार लक्ष्य प्राप्ति के रास्ते में आयी थी, सागा भी हारा ही था। जो वस्तु अथवा तत्त्व था ही नहीं उसे आलोचना का आधार नही वनाया जा सकता।

फिर, ऊपर-ऊपर से देखें तो अकेले प्रताप या मेवाड़ के साम्राज्यवादी राज्य-मंडल से अलग रहने को 'उस महान कार्य मे बड़ी वाधा' नहीं माना जा सकता। शेष सारा देश तो अकवर के साथ था ही। वाकी राजपूत राजा तो समर्थन कर ही रहे थे। मेवाड़ ने अन्ततः शाही सेना मे 1,000–1,500 सवार ही तो दिये। इससे किसी युद्ध का परिणाम नही वदल सकता था। मेवाड़ के चार-पांच सौ वर्ग मील वचे क्षेत्र के साम्राज्य में शामिल होने से, न होने से, इतना क्या अन्तर पड़ गया ? एक ओर मेवाड़ को 'बड़ी वाधा' माना जाता है, दूसरी ओर कहा जाता है कि शेष सवके भिन्न विचार रखने के कारण वह अकेला और प्रभावहीन पड़ गया था।

यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि 'तर्क और वास्तविकता राजपूतों के राज्यमंडल-पक्षीय तत्वों के पक्ष मे थी', जैसा कि उस समय लगता होगा, लेकिन यह न तो परम्परागत आदर्शो के अनुरूप था न भावी परिणामो की दृष्टि से उचित लगता है, तो भी कहना यह होगा कि तर्क और वास्तविकता ही सदा 'सव कुछ' नहीं होता। हर राष्ट्र के जीवन में ऐसे क्षण आते हे जव निर्णायक वुद्धि और आदर्श कार्यकलाप का असाधारण महत्व हो जाता है। अकवर की विजय अवश्यम्भावी है, उसका शासन आदर्श होगा, उसे सहयोग और संवंध देकर देश की हित-रक्षा की जा सकती है, यह सव एक पचास वर्षीय शासन की समाप्ति पर की गयी टीकाएँ है–जो यदि जव अकवर आक्रमक और अत्याचारी होकर, उन्माद और उत्साह से भरकर, सारे देश को अपने पैरों के तले रौंद रहा था, कुछ के न समझ मे आया, न कल्पना में, तो आज उनको दोष देना–अकवर के सव वास्तविक अपराध भूलकर – उचित नही कहा जा सकता। देशभक्ति और आत्माभिमान भी कुछ आदरणीय तत्व होते है। इन्हे तर्क और वास्तविकता के आगे अपमानित नही किया जा सकता। जिन राजपूत राजाओ ने अकवर का साथ दिया उनके आदर्श और लक्ष्य वहुत ऊंचे नही थे, उन्होने अपने शरीर, सुविधा, स्वार्थ और शासन वचाने के लिए मुगलो से मित्रता का विकल्प स्वीकार किया था। इसके कारण वे कभी न अपनी दृष्टि मे ऊंचे रह सके, न समाज और संसार के सामने। यदि मेवाड़ ने गलती की थी तो आज उसका आदर क्यो है, क्यो उसमें उस समय भी इतनी शक्ति रही कि वह औरगजेब सरीखे शक्तिशाली सम्राट का सामना कर सका, और क्यो उतना आदर आवेर ( जयपुर ), मारवाड़ ( जोधपुर ), वीकानेर और

जैसलमेर राज्यों का नही है ? देश ने जब जब स्वाधीनता के लिए शंखनाद किया, हाल तक अंग्रेजो के विरुद्ध भी, उसमें स्वर प्रताप जैसे वीरों के ही गूंजे, स्वाधीनता प्रेमियो का प्रतीक और प्रेरणा उसी को माना गया। ऐसा लगता है कि जनमत ने 'तर्क और वास्तविकता' को न तब स्वीकार किया था न अब वह उसे स्वीकार कर रहा है ।

"सोलहवी, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियो में राजस्थान में जो भी साहित्य संस्कृत, राजस्थानी और हिन्दी में प्रस्तुत हुआ उस सबके अध्ययन से प्रकट होता है कि प्रताप और दुर्गादास जैसे राजपूत वीर ही सर्वसाधारण और साहित्यकारो के लिए आदर्श पुरुष रहे । प्रताप के समय से राजस्थान में लिखी ऐसी कोई साहित्यिक कृति देखने में नहीं आयी जिसने सिद्धान्तों और लक्ष्यो के आधार पर उसकी आलोचना की हो या उसे चुनौती दी हो, यद्यपि कुछ समकालीन अथवा बाद की रचनाएं ऐसी है जिनमें मानसिंह कछवाहा की वीरता और प्रताप के विरुद्ध उसकी विजय का गौरव-गान किया गया है। समकालीन और बाद की पुस्तको में महाराणा प्रताप का चित्रण ऐसे व्यक्ति के अनुरूप किया गया है जिसमे वास्तविक क्षत्री के सब गुण थे, उसे उनका आदर्श नायक बताया गया है। महाराणा प्रताप ने केवल राजस्थान की स्वायत्तता एव स्वाधीनता के लिए संग्राम नहीं किया, वह पारम्परिक सांस्कृतिक मूल्यो के लिए भी, क्षात्र धर्म के लिए भी, लड़ा। इस प्रदेश की सांस्कृतिक विशिष्टताओं पर जो आक्रमण एक स्वेच्छाचारी तथा कपटी सत्ता ने कर रखे थे उनका प्रताप ने वीरतापूर्वक सामना किया। अतएव उसका युद्ध राजपूत व्यक्ति के संरक्षण के साथ-साथ भारतीय संस्कृति की आधारभूत मान्यताओं के लिए भी था। ऊपर-ऊपर से देखने पर यद्यपि प्रताप मेवाड़ के एक छोटे से भाग में रक्षात्मक युद्ध कर रहा था, परन्तु उसके सग्राम में ऐसे तत्वों का समावेश था जो प्राचीन समय से इस देश की वास्तविक राष्ट्रीय एकता एव आपसी सामंजस्य के लिए प्रेरणाप्रद रहे है।"[1]

यह प्रश्न को असाधारण रूप से सुलझा कर रखने की बात है कि अकबर भारतीय राज्यो से सिर्फ कर, विदेश नीति-सचालन, सैनिक सेवा और साम्राज्य की सर्वोपरिता की स्वीकृति चाहता था। ऐसा था तो पहले मारवाड़ से, फिर मेवाड़ से, उसका समझौता हुआ क्यो नहीं ? नागौर चन्द्रसेन स्वयं गया था, चित्तौड़ की घेरेबन्दी लांघकर मेवाड़ के प्रतिनिधि आये थे, प्रताप से भी चार-चार बार चर्चा हुई थी। अकबर स्वाधीनता को पराधीनता में, आत्म-सम्मान को अपमान मे और परम्पराओं को पिछलग्गूपन में परिवर्तित करने का

1 देवीलाल पालीवाल, 'स्मति ग्रन्थ', पृष्ठ 7, 9, प्रस्तावना ।

अधिकार मांगता था, जो कुछ अकबर मांगता था उसे कम से कम आत्मगौरव मानने वाले उसे नहीं दे सकते थे।

ऐसा भी नहीं है कि राजपूत राज्यो की परम्परा, धार्मिक भावना तथा विधि तथा स्वाधीनता संकट मे नही थी। परम्परा का आदर अकवर भी नहीं कर रहा था—इसीलिए उसे क्रान्तिदृष्टा और महान माना जाता है। उसके मन मे दूसरो की परम्पराओं का सम्मान भी नही था, नितान्त स्वेच्छाचारी और दयाहीन शासक वह था। उसका जब मेवाड़ से सामना हुआ, उसके सामने उसके स्वार्थ और मनोभाव के अतिरिक्त कुछ भी सुरक्षित नही था।

"इसमें संदेह है कि 'राष्ट्र प्रेम' और 'देशभक्ति' जैसे शब्द प्रारम्भिक युग के मुसलमानो द्वारा उनके आधुनिक अर्थ मे समझे जाते थे, यद्यपि 'मुलुक' 'कौम', 'हब्बुल वतन' जैसे शब्द अरबी शब्दावली मे बहुप्रचलित थे। गैर-मुसलिम प्रभाव इतने पूर्ण रूप में प्रवेश प्राप्त कर चुके थे और राजनीतिक आवश्यकता इतनी अधिक थी कि मुगल भारत मे जन-जीवन एवं प्रशासन के संबंध में प्राचीन विचार बहुधा बदल जाते थे, और समय तथा परिस्थितियो के अनुसार नयी मान्यताएं उनका स्थान लेती जाती थीं।"[1]

धार्मिक भावना की दृष्टि से अकवर आरम्भ मे कट्टर मुसलमान था—हिन्दुओ के हितो, स्थानों और आदर्शों का आदर पूरा उसने कभी किया, इसके बारे मे संदेह किया जाता है, परन्तु मेल-मिलाप की नीति का लाभ उससे 'मित्रता' मानने वाले लोग ही उठा सकते थे। जो लड़े उनकी कौन-सी चीज उसने बचायी? अकबर ने अपनी विजय-यात्रा में न जाने कितने धार्मिक स्थान ध्वस्त किये होगे—चित्तौड़, गोगूंदा, रणथम्भोर आदि जहां की लड़ाइयों के वर्णन मिलते हैं वहाँ मन्दिरो के निकट ही अन्तिम और भयानक मुठभेड़ो का विवरण भी मिलता है। यह सही है कि संरक्षक उन स्थानों का अपने प्राणों से अधिक आदर करते थे, परन्तु प्रश्न यह है कि अकबर उनका कितना आदर करता था? आक्रमणकारी ऐसा नही कर सकता, तो फिर अकबर को आक्रमणकारी से भिन्न सिद्ध करने का इतना प्रयत्न क्यो है?

1580 के आरम्भ में, अर्थात् अकबर के शासनकाल के पच्चीसवें वर्ष में, पहला ईसाई मिशन शाहंशाह के निमन्त्रण पर फतेहपुर पहुंचा था। उस समय की स्थिति, मिशन के सदस्यो के अनुसार, यह थी: साम्राज्य मे प्रधान एवं प्रबल पक्ष मुसलमानों का था, और प्रायः सभी प्रमुख पद मुसलमानो के हाथो मे थे। यह सही है कि अकबर ने, बड़ी दूरदर्शिता और बड़े साहस से, कुछ हिन्दू तत्त्व का समावेश किया था, परन्तु उसे सावधानी से आगे बढ़ना पड़ रहा था, और यह नया तत्त्व अधिकांश मे सामन्ती राजाओं एवं स्वयं उससे वैवाहिक सम्बन्धो से बंधे परिवारो से

---

1 प्रो एन एल राय चौधरी, इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस प्रोसीडिंग्स्, 1943, पृष्ठ 379

लिया गया था। ऊंचे पदों पर हिन्दुओं की नियुक्ति का कई बार बहुत उग्र विरोध किया जाता था, और दोनों समूहों में सदा अन्दरुनी घृणा बनी रहती थी। मुसलमान अपनी शक्ति का उपयोग बिना थोड़ी भी सहिष्णुता के किया करते थे। उदाहरण के लिए, समुद्र-तट से फतहपुर तक के सारे मार्ग पर इन ईसाई पादरियो ने देखा कि हिन्दू मंदिर मुसलमानो द्वारा ध्वस्त कर दिये गये थे। युद्ध जब चलता रहता था तब तो एक दूसरे का लिहाज करने का दिखावा भी नहीं रहता था, गायें खुल्लमखुल्ला काटी जाती थीं और धर्मद्रोही 'नरक पहुंचाये जाते थे'।[1]

"अकबर ने इस्लामी कानून के प्रति अपनी निष्ठा को कभी अस्वीकार नहीं किया। मुगल साम्राज्य को राष्ट्रीय इसी अर्थ मे कहा जा सकता है कि वह राष्ट्रव्यापी था। उसने कुछ प्रदेशो के वास्तविक, कुछ के विधिवत प्रशासको के नाते हिन्दुओ की राजभक्ति मांगी और प्राप्त की। यह देश में ही उत्पन्न सत्ता थी। इसकी सम्पत्ति, शक्ति, तथा विशालता के कारण इसे विदेशो में भी सम्मान प्राप्त था। इसको संरक्षण देने में जितने हिन्दू मरे उतने तो अपने लक्ष्यो को प्राप्त करने में भी नहीं मरे होगे। फिर भी यह एक मुस्लिम साम्राज्य था।"[2]

'स्वाधीनता' और 'साम्राज्य-सेवा' आपस में विरोधी बातें हैं, एक साथ दोनो का उल्लेख, जैसे कि उनमें सह-अस्तित्व संभव हो, किसी को प्रभावित नहीं कर सकता। फिर, उत्तराधिकारी अपना राज्य, राजा अपने राज्य मे प्रवेश, और अपना अथवा अपने पुत्र-पुत्री का विवाह, बिना शाहंशाह की अनुमति एवं कृपा के नहीं कर सकता था। यदि यह स्वाधीनता थी तो इस सम्मानप्रद शब्द की परिभाषा बदलनी होगी। स्वाधीनता संकट में क्या थी, थी ही नहीं।

भारत मे अकबर के आगमन के पहले राजपूत राजाओं की परिस्थिति इतनी दयनीय थी कि उन्हें अकबर की आधीनता स्वीकार करनी पड़ी, इसे मान भी लें तो कहना होगा कि अकबर ने उनकी इस दुर्बलता का अपने और अपने साम्राज्य के स्वार्थो के लिए अच्छा उपयोग किया। उसने इनके राज्यो को पनपने तो कभी नहीं दिया। इनके प्रति उसने जो व्यवहार किया उसी के कारण इनका पतन हुआ। फिर भी, अकबर को राजपूतो का परम हितैषी बताया जाता है।

'मुगल सम्राट द्वारा विवश करके वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के भय' को भूत कह कर भुलाया नहीं जा सकता, भूत इतनी आसानी से भागता भी नहीं। यह सही है कि अकबर ने किसी राजपूत कन्या से जबरदस्ती विवाह नहीं किया, परन्तु परिस्थिति ऐसी पैदा करदी गयी थी कि राजाओ के लिए इस बात को स्वीकार किये

---

1. मेकन्नागन, पृष्ठ 28
2. श्री पी एन खाडटन, इडियन हिस्ट्री काग्रेस प्रोसीडिंग्स, 1938, पृष्ठ 381

बिना अपना अस्तित्व सुरक्षित नहीं लगता था ।[1] ऐसा नहीं था तो रणथम्भौर की संधि में–जो अकबर के राजकाल की सबसे उदार संधि मानी जाती है–विवाह-सम्बन्ध के लिए विवश नहीं करने का स्पष्ट उल्लेख करने की क्या आवश्यकता थी ?

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, जबकि सारा ससार संकुचित होता जा रहा है तथा धर्म-जाति की भेदभावना समाप्त होती जा रही है, वैवाहिक सम्बन्धों की तथाकथित आशंका का उपहास करना कठिन नहीं है। परन्तु मध्य युग में स्वयं हिन्दुओं के बीच भी गैर-जाति में विवाह करना संभव नहीं था। आज भी यह सामान्य नहीं हो गये हैं, और यहां-वहां एक-दो उदाहरणों के अतिरिक्त हिन्दुओ-मुसलमानों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध आधुनिक युग में भी बहुत कम होते है। अकबर को अपनी पुत्री देने के लिए आंबेर का राजा भारमल बहुत ही विशेष परिस्थितियो मे, जबकि उसके राज्य के पूरी तरह समाप्त होने का भय हो गया था, तैयार हुआ था। ईमानदारी से कहा जाय तो वह स्वेच्छा से किया गया संबंध नहीं था। इस प्रकार के अन्य विवाहो के बारे मे, जिनके बारे में डा० त्रिपाठी ने उल्लेख किया है,जितना कम कहा जाय उतना ही ठीक होगा। जिनका राजस्थान से सम्बन्ध है वे जानते है कि मध्य-युगीन राजपूत राजाओ के आधुनिक वशज उन सम्बन्धों से इतने शर्मिन्दा हैं कि उन्होंने यह अभिमत प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि मुगल बादशाहो को दी गयी कन्याएं उनकी राजपूत रानियो की पुत्रियाँ नहीं थीं, वे तो उन राजाओं की रखेलो की सन्तानें थीं। इस प्रकार हिन्दुओ की दृष्टि में राजपूत महिलाओ की मुगल बादशाहों-शाहजादो से शादियां निम्न स्तर की थी।"[2] परन्तु इसके लिए दोष अकबर को देना वृथा है–राजपूत राजाओं ने अपनी दुर्बलताओं के कारण मुगल हरम में अपनी बेटियो के डोले पहुंचाने की होड़ लगा रखी थी।

इन राजाओ ने अपने शरीर, स्वार्थ और राज्य-सीमा बचाने के लिये क्या-क्या बलिदान नहीं किये ! परतन्त्रता ही नहीं, अपमान इन्होने सहन किया, अपने राज्यो से हटकर दूर-दूर परसेवा इन्होने स्वीकार की, अपने हाथो अपनी बेटियां विधर्मियो को सौंपीं। ऐसे पक्ष की ओर से जब केवल मात्र चित्तौड़ छोड़ने के लिए मेवाड़ के महाराणा की निन्दा या अवज्ञा होती है तो मनोरंजन नहीं होता, मन मे क्रोध आता है। बदला इनसे भगवान ने लिया। स्वतन्त्र भारत में जब अवसर आया देश ने, और इन्होने,

---

1 "हिन्दू राजा अकबर से इतने भयभीत थे कि उन्होंने आगे होकर अपनी सेवाए समर्पित की, उसे राज-कर दिया और स्वेच्छा से उसे अपनी पुत्रियां दीं। उसने उनका स्वागत खुले हाथों से किया, परन्तु उसने उन्हे अन्य हिन्दू राजाओ से लडने को भी विवश किया, उनकी सहायता को वह अपनी सेना भेजा करता था। इस तरह उसने उन दिनो मे अनेक को नष्ट किया।"

—मानूची, पृष्ठ 120

2 ए एल. श्रीवास्तव, इडियन हिस्ट्री काग्रेस प्रोसीडिंग्स, 1960, पृष्ठ 191

मेवाड़ के महाराणा को ही महाराज प्रमुख स्वीकार किया। मेवाड़ मिटकर भी अमिट और अमर है।

मित्र राजपूत राजाओं के लिए साम्राज्य की समस्त श्रेणियां और उच्च पद खोलने की बात ने अकबर को बहुत कीर्ति दिलायी है। (दूसरे परिशिष्ट से प्रकट है) इस नीति का आरम्भकर्ता अकबर नही था। फिर, बड़े पद, बिना भेदभाव राजपूत राजाओ को नहीं, सम्बन्धी राजाओ को दिये गये थे। तीसरे, समस्त ऊंचे पदो की तुलना में हिन्दुओ को मिले पदो की संख्या बहुत कम थी।

सबसे ऊंचे, दस, आठ और सात हजार[1] के मनसब अकबर ने केवल अपने पुत्रों को दिये थे।

पांच हजार की श्रेणी मे पहला स्थान पौत्र का था, उसके अठारह स्थान बाद पहले हिन्दू का नाम आता है—राजा बिहारी मल, 'जो पहला राजपूत था जिसने अकबर के दरबार मे प्रवेश प्राप्त किया', 'अकबर की सेवा में आने और मित्रता की कड़ियां मजबूत करने के लिए वैवाहिक सबंध स्थापित करने का उसका निवेदन स्वीकार किया गया'। इसके तीन स्थान बाद दूसरे हिन्दू का नाम आता है—राजा बिहारीमल का पुत्र राजा भगवानदास, (कदाचित यह भगवन्त दास है, जो भगवान दास से बड़ा, बाद में आंबेर का राजा बना)। इस से तीसरे स्थान पर बिहारीमल के पौत्र राजा मानसिह का नाम है। आठ और के बाद पहला हिन्दू नाम है जो आंबेर परिवार का नही था—राजा टोडरमल। 44 वे स्थान पर है बीकानेर का राय रायसिह, जिसके परिवार के साथ भी अकबर का वैवाहिक सम्बन्ध हो गया था; अकबर और रायसिह दोनो का विवाह जैसलमेर की दो राजकुमारियो से हुआ था, जो आपस में बहने थी। वही पहला हिन्दू था जो सूबेदार के पद पर पहुंचा। और सबसे ऊंचे मनसबदारो की सूची समाप्त हो जाती है।[2] सारी सूची में केवल एक नाम है जो अकबर का सम्बन्धी नहीं था, टोडरमल, और उसे शाहंशाह ने शेरशाह से उत्तराधिकार में प्राप्त किया था। 44 मे सिर्फ पांच, जिनमें चार से वैवाहिक सम्बन्ध, और इस स्थिति का इतना प्रचार किया गया है कि उसने

---

1. इसमे एक अपवाद हे। 1605 मे, अर्थात् जिस वर्ष उसकी मृत्यु हुई उसी वर्ष, अकबर ने बगाल की सूबेदारी से लौटने पर, वहा उसे प्राप्त शानदार सफलताओ के प्रति कृतज्ञता और कृपा प्रकट करने के लिए, 7,000 जात और 6,000 सवार का मनसब मानसिह को भी दिया था। वैसे, शाहशाह उससे अपने पुत्र-सा प्यार करता था, हल्दीघाटी के युद्ध पर जाते समय ही उसे 'फर्जन्द' (पुत्र) की उपाधि से विभूपित कर चुका था। मुगल-शासन मे, 7,000 का मनसब इसके पहले कभी सिवा बादशाह के पुत्रो के किसी और का नही दिया गया था। मानसिह के पौत्र महासिंह को भी 2,000, का मनसब इस अवसर पर दिया गया। मानसिंह को अकबर ने अपने पौत्र शाहजादा सुलतान खुसरो का सरक्षक भी नियुक्त किया। उन दिनो पिता-पुत्र सलीम-खुसरो की प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी। अपने अन्तिम दिन निकट देखकर अकबर ने मानसिंह जैसे विश्वस्त सामन्त को अपने पास रहने के लिए आगरा बुला लिया था।

2. 'आइन-इ-अकबरी', पृष्ठ 321

अपने साम्राज्य के सब ऊंचे पद हिन्दुओं के लिए खोल दिये थे । एक भी हिन्दू अकबर के समय मे उतना ऊंचा नहीं पहुंचा जितना सूर साम्राज्य में हेमू पहुंच गया था।

1582 में अकबर ने प्रशासन का प्रबन्ध कई विभागो में बांट दिया था। कुल मिलाकर 46 अधिकारी इनका नियन्त्रण करने के लिए नियुक्त किये गये। इनमें से केवल नौ हिन्दू थे ।

1586 मे साम्राज्य के 12 सूबों मे से हर एक के लिए दो संयुक्त सूबेदार, एक दीवान और एक बख्शी नियुक्त किये गये । इनमें से सिर्फ दो दीवान, एक बख्शी और छः संयुक्त सूबेदार हिन्दू थे ।[1]

इस पुस्तक में ही अकबर के जिन सेनाधिकारियो और सूबेदारो के नाम आये है उनमें हिन्दू नाम प्रायः इतने ही कम अनुपात में मिलेंगे । जब हिन्दू सेनापति भेजे जाते थे, जैसे हल्दीघाटी में मानसिंह, तब विश्वस्त मुस्लिम भी साथ लगाया जाता था, जैसे आसफखान । वह और उसका बड़ा भाई वजीरखान दोनो ऊँचे मनसबदार थे। आसफ खान मानसिंह से वरिष्ठ, अधिक अनुभवी और अकबर का विश्वासपात्र था । हुमायूं के समय में ही वह वरिष्ठ सामन्त और दीवान हो गया था। वह दिल्ली और कड़ा-माणकपुर का सूबेदार रह चुका था, चित्तौड़-अभियान के प्रबन्ध पर उसे पहले से लगाया गया था, अग्रिम सेना उसके ही नेतृत्व मे गयी थी, और घेराबन्दी के दिनों मे इतनी वीरता और योग्यता उसने दिखायी कि उसी को जीत के बाद चित्तौड़ का शाही प्रशासक बनाया गया । मानसिंह उसके आगे बच्चा-सा था। मानसिंह ने स्वभावतः अपने जीवन के प्रथम सेनापतित्व में युद्ध संचालन में आसफखान जैसे अनुभवी सेनानायक के परामर्श का अधिक ही लाभ उठाया होगा, तभी तो मानसिंह के साथ-साथ आसफखान को भी लड़ाई की गलतियो के लिए अकबर का कोपभाजन बनना पड़ा—दोनो की कुछ समय के लिए ड्योढी बन्द की गयी थी ।

अकबर की नीति 'भारत भारतवासियो के लिए' होते हुए भी, उसके शासन के अन्त तक शाही सेवा मे विदेशियों का ही बाहुल्य रहा। 'मुगल शाही सेवा को राष्ट्रीय नहीं कहा जा सकता । इसमे मुख्यतः विदेशी लोग थे—तुर्क, मंगोल, उजबेग, फारसी, अरब तथा अफगान, भारतीय मुसलमानों और हिन्दुओ की संख्या तो इनमे बहुत ही कम थी। ब्लाखमान के अनुसार अकबर के उच्चाधिकारियो मे 70 प्रतिशत विदेशी थे, जो या तो मध्य एशिया से राज्यसेवा की तलाश मे आये थे या भारत मे एक-दो पीढ़ियो से बस गये थे । उनमें से ज्यादातर बाबर और हुमायू के साथ इस देश में आये थे, और शाही परिवार और दरबार से उन्होंने सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे । अकबर ने उच्च पदों पर हिन्दुओं को [illegible] कर दिया था, परन्तु उच्च प्रशासनिक एवं सैनिक पद प्राप्त करने वाले हि[illegible] तुलनात्मक दृष्टि से बहुत ही कम थी। भारतीय

1. श्रीराम शर्मा, रि[illegible]

मुसलमानो का अनुपात भी अधिक नही था। ऊंचे पदों पर जो हिन्दू पहुंचे थे उनमें मुख्यतः राजपूत ही थे।'

इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस के 1970 के अधिवेशन में दो निबन्ध अकबर-कालीन और शाहजहां-कालीन प्रान्तीय सूबेदारो पर पढ़े गये थे। पूरे विश्लेषण के बाद श्री अफजल हुसेन ने स्पष्ट किया था कि "41 सूबेदारो में से तीन शाहजादे, बारह तूरानी, ग्यारह ईरानी, पांच राजपूत और चार भारतीय मुसलमान थे, पांच व्यक्तियो की पहचान कठिन है। इससे स्पष्ट होता है कि तूरानियो तथा ईरानियों की संख्या प्रायः समान थी, और राजपूतो का प्रतिनिधित्व कम ही था। लेकिन भारतीय मुसलमानो एवं राजपूतो के अतिरिक्त हिन्दुओ को बहुत ही कम प्रतिनिधित्व प्राप्त था।" श्री अतहर अली ने बताया है कि शाहजहां के समय स्थिति और भी बिगड़ गयी थी। उसके शासन के 32 वे वर्ष मे कुल 14 सूबेदारो मे, तीन शाहजादे, चार ईरानी, दो तूरानी और तीन भारतीय मुसलमान थे तथा एक की जाति मालूम नही हो सकी थी—राजपूत अथवा अन्य हिन्दू एक भी नही था।

"अकबर की मैत्री और उदारता की राजपूत नीति, राजपूतो के शौर्य, साहस, वीरता और स्वामिभक्ति के प्रति सम्मान और निष्ठा का व्यवहार, अकबर की विशाल-हृदयता और उदार भावनाओ का परिणाम नही था, वरन् उसकी यह नीति दृढ़ राजनीतिक सिद्धान्तो, निजी स्वार्थ तथा श्रेष्ठ मानवी गुणो के प्रति आस्था पर आधारित थी।"[1]

अपने शासन के छठे साल में, जब वह स्वयं बीस वर्ष का था और शासन पूर्णतः अपने हाथ में लेने के प्रयत्न में था, उसने अनुभव किया कि जो व्यक्ति साम्राज्य के प्रधान मंत्री तथा अन्य उच्च निर्णायक पदो पर रहे है, स्वभावतः वे सब मुसलमान थे, उन्होने शासन-प्रबन्ध समुचित रूप से नही चलाया था, 'अपने एक के बाद एक मंत्रियों के षड्यंत्रो और उनकी अयोग्यता से अकबर को धक्का लगा था', हिन्दुओं के प्रति प्रशासन से अधिकाधिक विश्वास का बड़ा कारण 'उसके मुस्लिम अमीरो का विश्वास-घात और विद्रोहपूर्ण रवैया था'। "गैर-मुसलमानो के लिए राजकीय सेवा की नियुक्तियां 1562 मे ही कभी खोल दी गयी थी। इसका कारण यह था कि अकबर के मुस्लिम अमीर विश्वासघाती और बागी सिद्ध हुए थे और अकबर का विचार था कि योग्य हिन्दुओं और विशेषकर राजपूतो को उनके विरुद्ध जमाया जा सकता है।"[2] "राजपूतो के प्रति उदार मैत्रीपूर्ण नीति अपनाने के लिए अकबर के कुछ व्यक्तिगत कारण भी थे, उसका अपना निजी स्वार्थ भी था। अकबर ने अनुभव कर लिया था कि उसके मुसलमान सैनिक, सेनानायक और पदाधिकारी सम्राट या साम्राज्य के हित में नहीं अपितु स्वार्थ-पूर्ति के लिए अनेक कार्य करते थे।"[3]

---

1 लूणिया, पृष्ठ 147
2 श्रीवास्तव, दूसरा भाग, पृष्ठ 325
3 लूणिया, पृष्ठ 150

जिस दिन से अकबर राजगद्दी पर बैठा, प्रायः उसी दिन से उसे अपने आसपास और अपने राजदरबार में विरोध और विद्रोह का सामना करना पड़ा। शाह अब्दुल माली से लेकर, जिसने धृष्टतापूर्वक अकबर की गद्दी नशीनी के दरबार मे हाजिर होने से इन्कार कर दिया था (1556), शाह मंसूर तक, जिसने प्रधान मंत्री का ऊंचा पद पाने के बाद भी विश्वासघात किया और मिर्जा मुहम्मद हकीम का साथ दिया (1580), ऐसे मुस्लिम विद्रोहियो की लंबी सूची मिलती है जिन्होने उसी का विरोध किया जिससे उन्हें इस संसार में सम्मान और महत्ता प्राप्त हुई थी। बैरमखान तक (1560 में) अपने सम्राट के विरुद्ध खड़ा हो गया, उसने अपने सारे जीवन की राजभक्ति कलंकित कर ली। माहम अनगा भी, जिसे अकबर अपनी माँ जैसी मानता था, अत्यन्त सिद्धान्त-हीन और स्वार्थी सिद्ध हुई। उसके पुत्र आधमखान ने शाही सम्मान की उपेक्षा की (1561), और मालवा की लूट का ज्यादातर माल अपने पास रख लिया, और थोड़े दिन बाद प्रधान मंत्री अतगाखान को मार डाला, और जब इसके लिए शाहंशाह ने ताड़ना की तो उसने अकबर के हाथ पकड लेने का दुस्साहस किया (1562)। आसफ खान प्रथम और अब्दुल्लाखान उजबेग ने 1564 में विद्रोह किये, इसके बाद सम्राट के उच्चतम सामन्त खान जमान ने अपने उजबेग संबंधियो से मिलकर 1565-67 के बीच बड़े उपद्रव किये और अकबर के जीवन और शासन को संकटग्रस्त कर दिया। फिर अकबर के सम्बन्धी मिर्जाओ का विद्रोह उठ खड़ा हुआ, जो 1573 के बाद तक चलता रहा।

जिन पर एक पराये देश और विदेशियो के बीच सत्ता की सुरक्षा निर्भर करती थी उन्हीं के बार-बार के विरोध और विद्रोह ने, सजातीयो से मिले असहयोग ने, अकबर को आरम्भ से यह विचार करने को विवश किया कि जिस देश मे उसे अपना और अपने वंश का राज जमाना है उसके निवासियों के नेताओ का सहयोग और समर्थन इसके लिए अनिवार्य है।

मुगलों के पहले भारत पर अनेक मुसलमान राजवंश राज कर चुके थे, गुलाम, खिलजी, तुगलक, सैयद, लोदी तथा सूर, और सब इसीलिए असफल हुए थे कि उन्होने अपने को विदेशी माना था। इनमें से हर एक को, इसलिए, औसतन सिर्फ 50 साल शासन करने का अवसर मिला, आंधी की तरह वे आये और धूल की तरह उड़ गये। अकबर ने इस अनुभव से लाभ उठाया, उसने भारत को अपना घर कह कर अपने राज्य को स्थायी बनाने का प्रयत्न किया।

"मुगलों और उनके राजवंश को विदेशी माना जा रहा था और मुगल सम्राट तथा मुगल सेनानायक भारतीय युद्धों में बलख, बदख्शां, समरकन्द, ईरान, अफगानिस्तान आदि विदेशो से आये हुए सैनिको का उपयोग करते थे। वे प्रायः विदेशी सैनिको पर ही निर्भर रहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि सदैव विदेशी सैनिको को निरन्तर प्राप्त करना सरल नहीं था। इससे मुगलो का सैनिक संगठन प्रभावित हुआ। इसके

अतिरिक्त मुगल सेनानायक और उनके विदेशी सैनिक भारतीयों के प्रति सहानुभूति, सद्भावना और सहयोग नहीं रखते थे। उनमें यह अभिमान और निष्ठुरता आ गयी थी कि मुगल साम्राज्य की सैनिक शक्ति की वे आधारशिला है। मुगल साम्राज्य के विस्तार व स्थायित्व के लिए उनकी सेवाएं अत्यन्त ही आवश्यक है, इस विचार से वे मुगल सम्राट के प्रति भक्ति, श्रद्धा व मर्यादोचित व्यवहार नही करते थे। इन विदेशी सैनिको, सेनानायको और अमीरो में सम्राट-विरोधी भावनाएं विद्यमान रहती थी। अकबर ने अनुभव किया कि ऐसी दशा में वीर एवं युद्धप्रिय राजपूतों के उन्मुक्त सहयोग और सहायता से विदेशी सैनिकों और सेनानायकों द्वारा उत्पन्न समस्याओं का निराकरण सरलता से हो सकेगा।

"अकबर साम्राज्यवादी, विस्तारवादी और महत्वाकांक्षी सम्राट था। वह भारत में मुगल साम्राज्य का विस्तार कर एक दृढ़ और स्थायी साम्राज्य स्थापित करना चाहता था। वह संगठित और सुव्यवस्थित प्रशासन स्थापित करने के लिए दृढ़ संकल्प था। भारत में एक विस्तृत राज्य की स्थापना सैनिक शक्ति से की जा सकती थी, किन्तु उसकी नींव गहरी नही हो सकती थी और किसी भी समय प्रजा के स्वातंत्र्य-विस्फोट मे लुप्त हो सकती थी। वास्तव में ऐसा साम्राज्य भारत की हिन्दू जनता के साहचर्य और स्वीकृति से ही स्थापित हो सकता था और मध्य-युग में हिन्दू जनता के राजनीतिक और सैनिक सूत्रधार राजपूत थे। अतः सफल साम्राज्यवादी नीति के लिए राजपूतो को जीतना या मित्र बनाना अनिवार्य था।

"अकबर की साम्राज्यवादी नीति का एक अन्य स्वरूप यह भी था कि इस समय राजपूत बहुसंख्यक शक्तिशाली शासक थे। वे विदेशी मुगल आक्रान्ता के कट्टर शत्रु भी थे। ऐसी दशा में यदि अकबर अपने शासनकाल के प्रारम्भ में ही राजपूतो से संघर्ष और युद्ध करता तो संभव था वह उनसे परास्त हो जाता। शत्रुओं से घिरा होने पर और पराजय से निराश होने पर उसे शायद अपने पिता के समान ही भारत से पलायन करना पड़ता। इस संकट से बचने के लिए उसने हिन्दुओं के सैनिक सामन्तवाद के प्रबल प्रतिनिधि राजपूतों के विरोध और शत्रुता को मैत्री और सहयोग में परिवर्तित करने का प्रयास किया। उसने मुगलो और राजपूतो की शत्रुता का अन्त करके राजपूतों की शक्ति, वीरता, मैत्री और सहायता का उपयोग मुगल साम्राज्य के विस्तार तथा दृढ़ता के लिए करने का संकल्प किया।

"इसके अतिरिक्त अकबर के लिए यह भी आवश्यक था कि अनेक विद्रोही राजपूत राज्यो के दमन के लिए अपने मधुर एवं मैत्रीपूर्ण व्यवहार से कुछेक सबल राजपूत राज्यो को स्वपक्ष मे कर ले और उनके द्वारा विद्रोही व विरोधी राजपूतों को कुचल डाले। अतः राजपूतो के साथ प्रधान रूप से सहिष्णुता, प्रेम और समादर की नीति ही अपेक्षित थी।"[1]

1. लूणिया, पृष्ठ 148

फिर, मुगल शासन के केन्द्र और राजधानी के सन्निकट राजस्थान के स्वतन्त्र सबल राजपूत राज्य ही पड़ते थे, इनकी 'बढ़ती हुई छाया में अकबर निःशंक नहीं बैठ सकता था'। 'स्वातंत्र्य-प्रेमी एवं युद्धप्रिय सामरिक राजपूत शासक और उनकी विद्रोहात्मक प्रवृत्ति अकबर के लिए सदैव संकटापन्न स्थिति बनाये रखती।' उनको मित्र बनाना या परास्त करना आवश्यक था। परास्त करने का प्रयत्न उसे जीवन भर युद्ध में उलझाये रख सकता था। उसने मित्रता का मार्ग श्रेयस्कर समझा।

इस मित्रता ने, जिसे अकबर ने वैवाहिक सूत्रों से सबल कर लिया, अकबर और उसके राजवंश का विदेशीपन सर्वसाधारण के मन से भुला देने में भी बहुत सहायता की।

अपनी सहयोग-नीति को अकबर इतनी दूर तक ले गया कि आरम्भ में जिन राजाओं ने उसके विरुद्ध शस्त्र उठाये, उनके अधीनता मानने पर उनके राज्य उन्हें लौटा दिये और उन्हें वैसा ही व्यवहार और सम्मान प्रदान किया जैसा मित्र राजपूत राजाओं को प्राप्त था। हिन्दुओं के प्रति जातिगत कारणों से हीनता का व्यवहार करने की परम्परा उसने समाप्त कर दी। जिन परिवारों से उसने वैवाहिक संबंध स्थापित किये उन्हे संबंधियो जैसा सम्मान और विश्वास दिया। परिणाम यह हुआ कि जो राजपूत 350 सालों से दिल्ली के तुर्कअफगान सुलतानो से अलग ही नहीं रहे थे, उनसे लड़ते रहे थे, वे मुगल साम्राज्य के सबसे प्रमुख समर्थक हो गये, और भारत में मुगल आधिपत्य की स्थापना मे उनका सहयोग सबसे प्रभावशाली सिद्ध हुआ। उन्होने अकबर के शासन में, सैनिक, राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं कला-कौशल, सभी क्षेत्रों में पूरा योगदान किया। उनके सहयोग ने मुगल साम्राज्य को स्वरूप,सुरक्षा, सम्मान, सफलता और स्थायित्व दिया।

"इतना सब होते हुए भी अकबर ऐसा कोई काम नहीं करना चाहता था जिससे भविष्य में साम्राज्य की सुरक्षा पर कोई आंच आये और न वह कोई ऐसा काम करने से हिचकता था जिससे उसका उद्देश्य सिद्ध होना सुगमतर हो। फलतः उसने राजपूतों में से योग्यतम व्यक्तियों को राज-सेवा में उच्च पद प्रदान करके राजस्थान से दूर नियुक्त कर दिया। अस्तु, राजस्थान में विरोध को संगठित कर सकने वाले लोगो का प्रायः अभाव हो गया। उसने मार्ग के कुछ दुर्गों पर भी अधिकार कर लिया और वहां शाही सेना तैनात कर दी। उसने उत्तराधिकार के झगड़ों से लाभ उठाने में भी संकोच नहीं किया। कभी-कभी उसने राजपूत शासको के अधीन सामंतों को अपने वश में करने के लिए उन्हें स्वतंत्र शासक मानकर उनसे संधि कर ली और उनको स्वतंत्र शासको के समान सुविधाएं तथा सम्मान प्रदान किया। इसका प्रमुख उदाहरण रणथम्भौर के हाड़े हैं। अस्तु, यह स्पष्ट हो जाता है कि अकबर का मूल उद्देश्य था अपने राजवंश को दृढ़ करना और अपने साम्राज्य को अधिक-से-अधिक विस्तृत करके राजनीतिक एकता की स्थापना करना।"[1]

---

1. पाडेय, पृष्ठ 363

अतएव, हिन्दुओं को साम्राज्य-सेवा में आगे लाने में सामयिक आवश्यकता और व्यावहारिक बुद्धि ने जो योगदान किया उसे उदारता और भाईचारे की भावना से कम महत्व नहीं दिया जा सकता। जैसे कि स्टानली लेन-पूल ने एक जगह कहा है, अकबर के समय में प्रशासन मे 'जो सुधार हुआ उसका श्रेय बहुत करके हिन्दुओ को राजकीय सेवा मे सम्मिलित करने को है, उस समय आक्रमणकारी मुसलमानो में अधिकाशतः अशिक्षित, धन-लोभी, दुस्साहसी भरे थे जिनकी तुलना में व्यवसाय-बुद्धि में हिंदू हर तरह अच्छे थे।'

फिर भी, देश में रहने वाली विभिन्न जातियों के लिए धार्मिक और सांस्कृतिक सहनशीलता की अपनी विस्तृत नीति के लिए अकबर का जो आदर दिया जाता है, उसका वह पूण अधिकारी है, उसी ने मुगल साम्राज्य की धार्मिक नीति मे नये युग का प्रादुर्भाव किया था। 'अकबर के शासन का कोई भी इतिहास उसकी धार्मिक नीति के उल्लेख के बिना अधूरा ही रहेगा। उसकी यह नीति उसकी प्रशासकीय व्यवस्था की आधारशिला थी। वास्तव में, इस्लाम के प्रति उसकी धारणा और गैर-इस्लामी धर्मो तथा उनके अनुयायियो के प्रति उसका दृष्टिकोण ही वह चूल थी जिस पर उसके दरबार और सरकार के सारे कामकाज घूमते थे।' अपने पूर्ववर्ती शासकों की नीति में, जिनमें शेरशाह को छोड़ना होगा, अकबर ने आमूलचूल परिवर्तन कर दिया था, इसीलिए उसे क्रान्तद्रष्टा कहा गया है।

परन्तु यह भूलने की बात नहीं है कि हिंदू-मुस्लिम-मेल की आवश्यकता अकबर के पहले अनुभव की जा चुकी थी, और भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में दोनो जातियो के लोग मिलकर बहुत पहले से काम करते आ रहे थे। दोनो ही जातियो के बीच 13 वीं से 16 वी शताब्दी के बीच अनेक आध्यात्मिक आंदोलन हुए थे। आध्यात्मिक दृष्टि से रामानंद और कबीर ने मेलजोल की महत्ता का, परमात्मा के एक होने का, प्रतिपादन अकबर से पहले किया था। "हिंदू धर्म और इस्लाम को आपस मे मिलाने का पहला प्रयत्न कबीर ने किया था।....अकबर का दीन-इ-इलाही अपने में अकेला उठ खड़ा हुआ आश्चर्य नहीं था, जिसे ऐसे स्वेच्छाचारी शासक ने स्थापित करना चाहा था जो जानता ही नही था कि अपनी इतनी सत्ता का उपयोग कैसे करे। वह उन शक्तिशाली भावनाओ का अनिवार्य परिणाम था जो बड़े वेग से भारत के हृदय को उद्वेलित किये हुए थी, और जिन्हे कबीर जैसे लोगों की शिक्षाओ में अपने को प्रतिपादित करने का अवसर प्राप्त हो रहा था।"[1]

अकबर ने भारत की समकालीन भावना को समझा और उसे मूर्त रूप देने का प्रयत्न किया।

---

1 ताराचन्द्र, पृष्ठ 165

अकबर की इस नीति को स्पष्ट और व्यावहारिक रूप लेने में कम से कम, उसके राज्यारोहण के बाद, बीस वर्ष लगे, 'सहनशीलता के विचारो की रूपरेखा धीरे-धीरे बनी'। तीस वर्ष उसे इस नीति को कार्य रूप देने के लिए मिले।

जिस प्रकार राजकीय सेवाओ में हिन्दुओं के प्रवेश के लिए मुस्लिम अमीरों के विश्वासघात और विद्रोह का योगदान था, उसी प्रकार धार्मिक उदारता की नीति में मुस्लिम उलेमा (धार्मिक विद्वानों) ने योगदान किया, "उसने देखा कि उलेमा आपस में विभाजित है और उनमें न केवल सामान्य धार्मिक समस्याओ पर ही, वल्कि इस्लाम के मौलिक सिद्धान्तों तक पर कटु मत-विभिन्नता है। वह इन कथित उलेमा के उथलेपन, कट्टर साम्प्रदायिकता, आपसी व्यवहार में सौजन्य और अनुशासन के अभाव तथा उनकी आपसी शत्रुता से तंग आ गया। इस सबसे उसे यह भासित हुआ कि यह मानना कि केवल इस्लाम ही सत्य का ठेका लिये हुए है, उचित नही है। वह हिन्दू, जैन, बौद्ध, पारसी और ईसाई धर्मो के निकट सम्पर्क में आया और उसने अनुभव किया कि हर धर्म में सत्य निहित है और हर जाति में कुछ न कुछ सच्चरित्र और साधु पुरुष होते ही है।.... उसने एक बार कहा था कि विश्व की हर वस्तु एक ही है और वह ईश्वर की अभिव्यक्ति मात्र है।"[1]

नये धर्म की स्थापना की महत्वाकांक्षा के कारण नहीं, विभिन्न धर्मो के तथा सांस्कृतिक परम्पराओं के तुलनात्मक अध्ययन के परिणामस्वरूप, तथा भारत में अनेक धर्मों की उपस्थिति की वास्तविकता को स्वीकार करके, तथा यह मानकर कि धार्मिक विवादों और फूट के कारण राष्ट्रीय प्रगति में वाधा पड़ रही है, अकबर ने 'दीन-इ-इलाही' आरम्भ किया, जिसमें प्रयत्न यह था कि 'सभी धर्मो के गुण हों, किन्तु अवगुण नहीं'। उसने कहा, "हमें सब धर्मो को एक करना चाहिये, लेकिन इस प्रकार कि वे एक और अनेक दोनो रहें तथा जो कुछ किसी एक धर्म में अच्छा है, वह खोये नही और जो दूसरे धर्म में श्रेष्ठ है वह भी प्राप्त हो जाय। इस तरह परमात्मा का भी सम्मान होगा, प्रजा को शान्ति मिलेगी और साम्राज्य को सुरक्षा।" भारत में सांस्कृतिक एकता स्थापित करने का यह एक प्रशंसनीय प्रयत्न था।

अकबर की यह कल्पना जितनी ऊंची थी उतनी ही अल्पकालीन, अप्रभावशाली और अस्वीकृत – उसके जीवनकाल में ही इसके पनपने के कोई आसार नहीं दिखायी देते थे। तब तक इस प्रकार के किसी आदर्शवादी कार्यक्रम को सफलतापूर्वक कार्यान्वित किये जाने का समय नहीं आया था।

निष्पक्ष विद्वानों ने दीन-इ-इलाही के सफल न हो सकने का कारण स्वयं उसकी सीमाओं को वताया है।

---

1. श्रीवास्तव, दूसरा भाग, पृष्ठ 326

श्री विंसेंट स्मिथ ने इसे अकवर का 'मूर्खतापूर्ण स्वप्न' कहा है। वे लिखते हैं, "अकवर के राजनीतिक आडंबरतापूर्ण दीन-इ-इलाही कहे जाने वाले धर्म के अनुयायियो की संख्या अधिक कभी नहीं थी। ......फादर पिन्हीरो, 3 सितम्बर 1595 को लाहोर से लिखते हुए, वर्णित करता है कि नगर में राजकीय सम्प्रदाय के अनेक अनुयायी थे, किन्तु वे सभी उस धन के कारण वने थे जो उन्हें दिया गया था। यह संगठन, जैसा कहना चाहिये, उसके प्रधान धर्माध्यक्ष, अबुल् फज्ल की हत्या के बाद भली प्रकार नहीं पनप सका होगा, और निश्चय ही अकवर की मृत्यु के साथ यह समाप्त हो गया था। यह संपूर्ण योजना हास्यास्पद अहम्मन्यता का प्रतिफल था, अबाध निरंकुशता का अतिकुत्सित प्रस्फुटन। इसकी अपमानात्मक असफलता उन वादशाहों की मूर्खता को चरितार्थ करती है जो पैगम्वरों की भूमिका धारण करने का प्रयत्न करते है। दीन-इ-इलाही अकबर की मूढ़ता का स्मारक है, उसकी बुद्धिमत्ता का नही।"[1]

श्री रीनकोर्ट ने कहा है, "अकवर के जीवन का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य असफल हो गया, ऐसा कोई प्रयास सफल हो ही नहीं सकता था, क्योंकि वह ऐसे विशद एवं सजीव समन्वय मे से प्रस्फुटित नही हुआ था जो वास्तविक जीवन-दर्शन के सहज विकास और सचमुच हुई अनुभूति में से निकलता है, वह तो मात्र मेलजोल का बौद्धिक प्रयत्न था, ऐसा प्रयत्न जिसे आपस में विरोधी विभिन्न दर्शनों और धर्मों में से यांत्रिक रूप से काट-छांट कर गड़ लिया गया था। जरतुस्ती पारसियो से लेकर उसने उपासना पद्धति का निर्धारण किया, इसमे सूफी मत में से लेकर सर्वेश्वरवाद को जोड़ा और अपने इस पिटारे में कुछ पुराने, कुछ नये, विचार भर लिये। वह युग समन्वय का अवश्य था, परन्तु कानून के जोर पर, उसे लागू करने वाला चाहे शक्तिशाली सम्राट ही क्यो न हो, समन्वय नहीं किया जा सकता।

"धार्मिक क्षेत्र मे इस्लाम और हिन्दू धर्म के बीच समन्वय के समस्त प्रयास अन्ततः असफल रहे।

"अकबर के उत्तराधिकारियों ने तो पूरा पासा ही पलट दिया, और इस्लाम अपनी कड़ी कट्टरता के साथ पुनः पूर्ण प्रभुत्व में आ गया। जहांगीर और शाहजहां ने इस्लामी सिद्धान्तो के अनुसार वड़ी कड़ाई से शासन किया, यद्यपि उनका राज अपने समय का सबसे ज्यादा चमक-दमक से भरा और अपनी भव्यता से सबको दबाने की क्षमता रखता था।

"परन्तु यह नहीं मान लिया जाना चाहिये कि जो आक्रमक शासन कर रहे थे उनकी इच्छा इस्लाम के सामाजिक लोकतंत्र को व्यापक रूप से स्थापित करने की थी। मुसलिम विजेताओ तथा उन विजेताओं के वंशज मुसलमानो के बीच अन्तर गहरा था, और यह वरावर बना रहा।

---

1. स्मिथ, पृष्ठ 231

"भारत में इस्लाम धर्म की सतत प्रगति कदाचित मुगल साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध हुई; अंतिम महान सम्राट औरंगजेब-आलमगीर (विश्वविजेता), पादशाह (बादशाह), गाजी (धर्म-योद्धा), ने अपने पूर्वजो की समन्वयशील नीति से पूरी तरह हटने की कोशिश की, और इस कार्रवाई से साम्राज्य को क्षत-विक्षत कर दिया। कट्टर और कठोर, इस विश्वास से उन्मत्त कि केवल मात्र इस्लाम ही सच्चा धर्म है, वह बादशाह भूल गया कि मुगल साम्राज्य, वास्तव में, जितना हिन्दू था उतना ही मुसलिम।

"औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात, अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में, मुगल साम्राज्य का शनैः शनैः पतन प्रारम्भ हो गया, पहले के अनेक साम्राज्यो की तरह। मुसलिम असहिष्णुता और हिन्दू पुनरुत्थान ने उसे मृत्यु के पास पहुंचा दिया; (मध्य एशिया से आये) तूरानी, (फारस से आये) ईरानी तथा (भारत में जन्मे अथवा हाल में शामिल हुए) हिन्दुस्तानी मुसलमानों में आपस में हुई लड़ाइयो ने उसका और भी नाश कर दिया। अन्तिम प्रहार फारस के महान शासक नादिरशाह ने किया, जिसके आक्रमण और दिल्ली की लूट ने वह सब कुछ ध्वस्त कर दिया जो मुगल सम्राटों की सम्पत्ति, शक्ति और सम्मान के नाम पर बचा था।"[1]

परन्तु यह व्यापक प्रश्न अलग है। दीन-इ-इलाही की असफलता के लिए मेवाड़ के महाराणा को, कैसे भी, दोष नहीं दिया जा सकता। रणथम्भोर तो अकबर को प्राप्त हो गया था, वहां का राव सुर्जण शाही सूबेदार था। दीन-इ-इलाही स्वीकार करने का निमंत्रण उसने स्वीकार नहीं किया। आंबेर का राजा मानसिंह और उसके चाचा भगवानदास शाहंशाह के सामन्त, सेनापति और संबंधी थे, 'मानसिंह अकबर को अपने सगे भाई से भी अधिक प्रिय थे, सगे भाई मुहम्मद हकीम की बगावत को दबाने का काम मानसिंह को मिला था'; उन्होंने भी सम्मिलित होने से स्पष्टतापूर्वक असहमति प्रकट की। यही नहीं, अकबर के सगे-संबंधी शाहबाजखान जैसे अनेक निकटस्थ एवं समान-धर्मी सामंत, उसकी मां, चाची, भाई, दरबार का एक शक्तिशाली दल तथा सूबों के कई उच्चाधिकारी नये धर्म के विरोधी थे; इस प्रश्न को लेकर बंगाल और काबुल में खुल्लम खुल्ला विद्रोह हुए थे, और अकबर का सिंहासन डगमगाने लगा था। प्रताप से मित्रता होने पर वह दीन-इ-इलाही में शामिल हो जाता, यह कल्पना करने की ही बात नहीं है। अतएव सांस्कृतिक एकता के प्रयत्न को असफल करने का दोष उस पर नहीं लगाया जा सकता।

अकबर ने अनेक सामाजिक सुधार किये थे, जो आज भी अत्यन्त आधुनिक माने जायेंगे। उनकी भी यही गति हुई। फिर, साम्राज्य मे सम्मिलित राज्यो को उसने आंतरिक स्वाधीनता दे रखी थी; इन सुधारों का प्रभाव 'मित्र' राजपूत राज्यो

1. रीनकोर्ट, पृष्ठ 172-178

पर पड़ा हो, ऐसा नहीं लगता। मेवाड़ तक 'मित्रता' का रास्ता खुलने पर वे वहां अवश्य पहुंच जाते, यह दावे के साथ नही कहा जा सकता।

राजनीतिक एकता और साम्राज्य-निर्माण को समान अर्थ में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। जो सार्वजनिक रूप से सम्राट के सामने सिर नहीं झुकाये उसे साम्राज्य का सदस्य स्वीकार नहीं किया जा सकता—इससे कम पर अकबर किसी 'एकता' को अंगीकार करने के लिए अपने जीवन मे तैयार नहीं हुआ। राजनीतिक एकता में जो बराबरी अथवा भाईचारे का आभास होता है, उसका उसके शासन और साम्राज्य में सर्वथा अभाव था। फिर, जहां तक मेवाड़ का प्रश्न है, अकबर की उदार नीतियो का जब तक उदय हुआ, मेवाड़ का मामला शब्दो से लेकर शस्त्रो को सौंपा जा चुका था—और सम्राट के शस्त्रो ने इस एक अकेले मामले में पूरा-पूरा सम्राट का साथ नही दिया।

अकबर के राजनीतिक कुचक्र में प्रताप, उसके पिता और पुत्र नहीं फंसे, यही तो उन्हें आज तक आदर दिये हुए है। आततायी, अत्याचारी और आक्रमणकारी से समझौता हो सकता था, या कर लेना चाहिये था, इसकी वकालत जब की जाती है, तब आश्चर्य भी होता है, और आक्रोश भी। यह प्रश्न पिछले पृष्ठों में इतना स्पष्ट किया जा चुका है कि यहां विस्तार मे जाने की आवश्यकता नही लगती।

सोचने की बात यह है कि यदि मेवाड़ की लगातार तीन पीढ़ियां अकबर का विरोध नही करती तो क्या होता ? जिसका सामना करना हर युग में अनिवार्य बताया गया है, उसका सामना करने की परम्परा भारत देश से उठ जाती। अकबर से जिन्होने 'मेल' किया उनकी आज उतने आदर से बात नहीं की जाती। कारण यह है कि संकट और लालच के आगे जो अपने को बिक जाने देता है उसे आदर्श कोई नहीं मानता, मान्यता उन्ही को मिलती है जो मानवता के मौलिक दायित्व—अपनी, अपने सम्मान की, अपनी स्वाधीनता की सुरक्षा—का निर्वहन करते हैं, हर संकट के सामने, हर प्रलोभन के सामने।

दूसरे, अकबर ने न जाने कितने अच्छे से अच्छे राज्य भारत के मानचित्र से मिटाकर जो अपना शानदार साम्राज्य बनाया वह कितने दिन रहा ? क्या उसी के जीवनकाल में विरोध और विद्रोह नहीं हुए ? स्वय उसका भाई, पुत्र और सहधर्मी सामन्त बागी नही बने ! साम्राज्य में एक और के आने का बहुत प्रभाव नही पड़ सकता था। हां, मेवाड़ के साम्राज्य में शामिल नहीं होने का बहुत असर पड़ा—हो सकता है उस समय यह कम लगा हो, भविष्य की दृष्टि से यह अतिशय प्रभावकारी रहा। उस समय के लिए भी इसे कम कैसे माना जाये, अकबर अपने जीवन के अंतिम वर्ष तक तो इसके लिए प्रयत्न करता रहा।

प्रश्न जब जीवन-मरण का हो जाता है, बहुत आगे की सोचना मुश्किल मालूम देने लगता है। उदयसिह, प्रतापसिह और अमरसिह ने अपने समय में अपने भविष्य से

अधिक अपने अतीत को अपने ध्यान में रखा होगा, ऐसा लगता है। अकबर भी अपना अतीत भूल नहीं सकता था। फिर भी, दोनों का भविष्य पर बहुत प्रभाव पड़ा।

अकबर का प्रयत्न यदि समन्वय का मान लें तो प्रताप का स्वाधीनता का मानना होगा। दोनो में से एक भी–मेवाड़ को लेकर–पूर्णतः सफल नहीं रहा, परन्तु दोनों के आदर्श इतने ऊंचे थे कि प्रयत्न मात्र प्रेरणा का कारण बन गया है। समन्वय और स्वाधीनता दोनों का सदा महत्व रहेगा–दोनों मिल जाते, बराबरी के मित्र हो जाते तो कदाचित बीच का वास्तव में अनुकरणीय मार्ग निकल आता। ऐसा नहीं हुआ, दोनो के लक्ष्य दोनों के जीवन भर अधूरे ही रहे। फिर भी दोनों का बड़ा नाम और आदर है।

'देश की सुख समृद्धि' तथा 'देश के हित' की बातें इस तरह की जाती है जैसे कि उस समय की राजनीति, रणनीति, समाजनीति और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा इसी धुरी पर घूमा करती थी। अकबर की ओर से यह बारबार कहा अवश्य गया है कि उसके आक्रमण और अत्याचर तक देशवासियों की जागृति और समृद्धि के लिए होते थे, परन्तु गंभीर एवं वास्तविक मूल्यांकन मे इन लुभावनी उक्तियो को स्थान नहीं दिया जा सकता।

अकबर के राज्यकाल की समाप्ति पर देश की आर्थिक अवस्था क्या थी[1], यह जानकारी इस तरह के तर्क को स्वतः त्याज्य सिद्ध कर देती है। देश का अर्थ यदि देश के सामान्य निवासी होते है, तो उनकी ओर न उतना ध्यान दिया गया, न उनकी स्थिति में सुधार हुआ।

परन्तु देश की सुख-समृद्धि एवं हित-साधना में प्रताप को 'बड़ी बाधा' बताना तो उस पर ऐसा बड़प्पन थोपना है जिसे अकबर कभी स्वीकार नही करता। आखिर, उसके अधीन देश का क्या,स्वयं प्रताप के राज्य का छोटा-सा भाग बचा था। प्रताप की ओर से मेवाड़ के उस प्रदेश को पुनः हस्तगत करने का प्रभावकारी प्रयत्न नहीं हो सका जो स्थायी रूप से साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया था–चित्तौड़ और उसके आसपास का प्रदेश। प्रायः सारा उत्तर भारत तो अकबर के अधीन था ही, दक्षिण का भी बहुत-सा प्रदेश साम्राज्य में सम्मिलित हो गया था, प्रताप को अपनी बनायी सीमाओं में रहने दिया जाता, देश का जो बड़ा भाग साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया था उसे तो 'पृथ्वी पर स्वर्ग' बनाया जा सकता था–जिसकी ओर कदाचित इस आलोचना में इंगित किया गया है। ये नारे मात्र हैं, जिनका उस काल से न सम्बन्ध है, न संदर्भ।

अन्तिम और सबसे तीखा तर्क कदाचित यही है, "प्रताप का दीर्घकालीन प्रतिरोध भी उन दिनो को आने से नही रोक सका जबकि स्वयं उसके पुत्र के राज्यकाल में मेवाड़ मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत एक अधीन राज्य बन गया।"

1. परिशिष्ट—तीसरा।

प्रताप ने यह आशा और आशंका अपने हृदय में संजोकर स्वाधीनता का पुण्य यज्ञ नहीं किया था। फिर, उसके पुत्र ने अपने पिता से दूने वर्ष इस यज्ञ को जारी रखा। इतने दूरस्थ और अवांछनीय परिणाम को कल्पना में लाकर नीति निर्धारित करने की अपेक्षा अव्यावहारिक लगती है। सबसे बड़ी बात यह है कि जहां प्रश्न स्वाधीनता का हो, परिणाम को इस प्रकार सुख-सुविधा से नहीं तोला जाता। अवश्यंभावी पराजय के आगे भी आत्मसम्मान का नहीं, स्वयं अपना बलिदान किया जाता है। कम से कम यही भारतीय, राजपूती, परम्परा रही है। यदि इसे अस्वीकार करें तो जो इतने जौहर हुए, और इतने केसरिया पहने गये, इतनी बार दुर्ग के द्वार खोलकर स्वयं को रणाग्नि में झोंका गया, शत्रु के आने पर मंदिरों के सामने सीने सजाये गये जिनको दागे बिना कोई देव-स्थान पर क्रुद्ध दृष्टि तक नहीं डाल सका—सबके सब वृथा घोषित किये जायेंगे, राजस्थान का सारा का सारा इतिहास खाली, खोखला, अर्थहीन और आकर्षणहीन हो जायगा।

प्रताप के पुत्र की बात इस तरह की गयी है जैसे कि मेवाड़ का समर्पण स्वयं अकबर के समय में हो गया था, उसी को इसका श्रेय है। मेवाड़ का समर्पण अकबर के पुत्र के समय में हुआ था। दूसरे, उन शर्तों पर नहीं, जो अकबर दे रहा था। मेवाड़ का समर्पण जितना मेवाड़ का पतन दर्शाता है उतनी ही अकबर की असफलता। मेवाड़ में जो उसके जीवन में हुआ, और जो उसके बाद हुआ, सभी कुछ ने अकबर का गौरव गिराया; मेवाड़ में अकबर को सामरिक पराजय मिली, और कूटनीतिक भी।

अंतिम बात 'अधीन राज्य' की है। मेवाड़ एक, अनेकों में एक, अधीन राज्य नहीं बना था—अपनी प्रकार का अकेला था; मुगल साम्राज्य से इस प्रकार की शर्तों पर समझौता और किसी भारतीय राज्य का नहीं हुआ था। सिर झुकाकर भी मेवाड़ ने अपने व्यक्तित्व को ऊंचा उठाया, और जीतकर भी मुगल परम्परा को नीचा देखना पड़ा। मेवाड़ की दृष्टि से यह उपलब्धि है, ऐसे क्षणों की जो उसके इतिहास के सबसे कटु और कालिमामय थे। इस उपलब्धि के लिए उसका उपहास नहीं किया जाना चाहिये।

## व्यक्तित्व की व्यापकता

अकबर के संबंध में बहुत लिखा गया है—सभी भाषाओं में, अंग्रेजी तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं में भी। फिर, वह प्रायः सारे भारत देश का सम्राट तथा अपने समय का क्रान्तदृष्टा और युगनिर्माता हुआ है। प्रताप के संबंध में कम लिखा गया है, कदाचित सही यह है कि कम देखने में आया है, चूंकि वह ऐसी भाषाओं में बहुत है जो सुप्रचलित नहीं हैं। इस दृष्टि से उदयपुर के साहित्य संस्थान ने 'महाराणा प्रताप स्मृति ग्रंथ' के रूप में बड़ा जानकारी-भरा प्रकाशन किया है : इसमें बताया गया है कि प्रताप के संबंध में देश के प्रमुख नेताओं और इतिहासकारों का क्या अभिमत रहा है, उसके संबंध में कैसे राष्ट्रीय काव्य लिखे गये हैं, महाराष्ट्र, कर्नाटक, गुजरात, आंध्र, पंजाब,

उड़ीसा,बंगाल,आदि पर प्रताप का क्या प्रभाव पड़ा है, किस प्रकार की जन-श्रुतियो को उसने प्रेरित किया है और संस्कृत, राजस्थानी तथा हिन्दी में प्रताप और मेवाड़ के संबंध में क्या लिखा गया है। उसे दोहराने का प्रयत्न वृथा होगा, परन्तु जो प्रताप को मेवाड़ तक सीमित मानते हैं, उन्हें उसके व्यक्तित्व की व्यापकता देखकर अवश्य आश्चर्य होगा। इतनी व्यापक सराहना और स्वीकृति का कारण वे शाश्वत मूल्य एवं आदर्श हैं, उनके लिए किया गया प्रयत्न और वलिदान है, जिनका मेवाड़ ने अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया। यथा-समय मेवाड़ को चाहे जितना कष्ट उठाना पड़ा हो, परन्तु अपने मान की रक्षा करके उसने भारत के मानचित्र पर सदा के लिए अपना माननीय स्थान वना लिया है।

'स्मृति ग्रथ' में जो श्रद्धांजलियां दी गयी हैं, उनमे से वंगाल, महाराष्ट्र, आंध्र, और उत्तर प्रदेश की ओर से दी गयी श्रद्धांजलियां भविष्य की दृष्टि से, प्रताप के ही नहीं हमारे भी, पठनीय है :

"राजस्थान की गौरवगाथा स्वतन्त्रता-सेनानियों के लिए प्रेरणा का सदा शाश्वत स्त्रोत रही है। महाराणा प्रताप, दुर्गादास और मीरावाई, यदि हम कुछ ही नाम लें तो, हमारे सवसे प्रसिद्ध ऐतिहासिक और भक्ति-भरे नाटकों में सुशोभित हैं। वे सदा से देश के लिए भक्ति, वीरता, अभिमान तथा गौरव के, और भगवान की भक्ति में कष्ट, त्याग और अपने को पूर्णतः अर्पित करने के सर्वोत्तम उदाहरण रहे हैं।

"जनश्रुतियों और वास्तविक लेखन में, गद्य में और पद्य में, इतिहास और साहित्य में, महाराणा प्रताप के संबंध में वहुत लिखा गया है, फिर भी, राजस्थान के इतिहास का और भी अध्ययन-अनुसंधान करके लिखने की अभी न जाने कितनी आवश्यकता वाकी है। इस ख्याति-प्राप्त व्यक्तित्व के समय और उपलब्धि के विषय में नये अध्ययन और नये विवेचन के लिए जो भी प्रयत्न किया जायेगा उससे उस के प्रति हमारी श्रद्धा एवं सराहना अवश्य ही और भी वढ़ेगी।

"अतीत की तरह भविष्य में भी इतिहास का यह काल जनता को शिक्षित तथा प्रेरित करता रहेगा, और भावनात्मक तथा सांस्कृतिक एकीकरण, देश का आन्तरिक विकास तथा समृद्धि, सामाजिक और नैतिक दृढ़ता तथा राष्ट्रीय सम्मान एवं स्वाधीनता, आदि जीवन के विभिन्न पक्षों का सामना करने के लिए विश्वास तथा प्रेरणा देगा।"

—अजय कुमार मुकर्जी

"राजपूताने का प्रदेश अपनी आन पर मिटने के लिए सदा से इतिहास मे प्रसिद्ध रहा है। भारतीय इतिहास में राजपूतों की वीरता स्वयं में एक महत्वपूर्ण अध्याय है, जिसको लिखे विना इतिहास अधूरा ही रहेगा।

"स्वयं की भी आहुति देकर स्वातंत्र्य को सतत प्रज्वलित रखने वाले उन स्वातंत्र्य दीप के शाही परवानो में वीर शिरोमणि महाराणा प्रताप का नाम अग्रगण्य है। महाराणा की वीरता, ओजस्विता, त्याग, तपस्या एवं हृदय में स्वातंत्र्य प्राप्ति की लालसा कायरों के भी रग-रग में वीरता प्रवाहित कर देती है। मैं तो यह कहूंगा कि महाराणा का जीवन एक योगी का, एक तपस्वी का, एक स्वातंत्र्य वीर का और सबसे बढ़कर स्वातंत्र्य समर के सेनानी का जीवन था।"

—श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

"विदेशी सत्ता के विरुद्ध जो सशक्त संग्राम उन्होने किया उसके कारण महाराणा प्रताप को भारत के इतिहास में अद्वितीय स्थान प्राप्त है। इस प्रकार वे मात्र पद के कारण ही नहीं, वास्तविक अर्थो में महाराणा थे।

"हमारे समय तथा युग मे महाराणा प्रताप के जीवन का संदर्भ यह समझने के लिए है कि अपने विश्वास और अपनी स्वाधीनता के सामने किसी विरोधी को अति शक्तिशाली नहीं मानना चाहिये, किसी कष्ट को असहनीय नहीं मानना चाहिये। भावी पीढ़ियों को प्रेरणा देने के लिए, अनुकरण करने के लिए, जो अनूठा उदाहरण महाराणा प्रताप छोड़ गये हैं, उसके लिए देश उनका सदा कृतज्ञ रहेगा।"

—वी० के० आर० वी० राव

प्रताप! हमारे देश का प्रताप! हमारी जाति का प्रताप! दृढता और उदारता का प्रताप! तू नही है, केवल तेरा यश और कीर्ति है। जब तक यह देश है और जब तक संसार में दृढ़ता, उदारता, स्वतंत्रता और तपस्या का आदर है तब तक हम ही नहीं सारा संसार तुझे आदर की दृष्टि से देखेगा। संसार के किसी भी देश में तू होता तो तेरी पूजा होती और तेरे नाम पर लोग अपने को न्यौछावर करते।

—गणेश शंकर विद्यार्थी

## सराहना जो सम्मान नहीं बढ़ा सकती

मेवाड़ की और महाराणा प्रताप की सराहना में कुछ बातें ऐसी कही जाती हैं जो उनका सम्मान नहीं बढ़ा सकतीं, वे वास्तविकता के अनुरूप भी नहीं है।

महाराणा प्रताप की जो लोग हिन्दू धर्म का रक्षक कहकर जयजयकार करते है, वे उसके प्रयत्न के राष्ट्रीय स्वरूप को विरूप और विछिन्न करते हैं।

"कुछ आधुनिक विद्वानों का मत है कि राणा के संघर्ष और संग्राम का स्वरूप धार्मिक और साम्प्रदायिक था। वह हिन्दू धर्म की रक्षार्थ अकबर के विरुद्ध युद्ध करके हिन्दू धर्म का परम रक्षक बना रहा। धर्मपरायण लोग राणा को हिन्दू धर्म के रक्षक का अवतार मानने लगे। परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि राणा प्रताप और उसके समर्थक सहयोगी राजपूत भी हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए अकबर के विरुद्ध युद्ध नहीं कर रहे थे।'' 'अकबर का उद्देश्य

राजनीतिक था। वह अपनी राज सभा में समय-समय पर प्रताप की उपस्थिति चाहता था। राणा से वैवाहिक संबंध के लिए बाद में उसने जोर नहीं दिया। एक साम्राज्य वादी और साम्राज्य-निर्माता होने के नाते वह प्रताप को अपने अधीन करना चाहता था। अतएव ऐसी दशा में यह मानना कि प्रताप के संघर्ष का स्वरूप धार्मिक व हिन्दू धर्म की रक्षा करना था, उचित नहीं प्रतीत होता है। उसका उद्देश्य अकबर के बढ़ते हुए साम्राज्यवाद के विरुद्ध राजस्थान की स्वाधीनता के हेतु निरन्तर संघर्ष करना था, अकबर की प्रभुता अंगीकार नहीं करना और न तुर्कों से वैवाहिक संबंध स्थापित करना था। राणा ने इसे अपना क्षत्रियोचित धर्म माना। उसने अपने इस ध्येय और आदर्श के लिए अपने जीवन की बलि दे दी। इन तथ्यों के प्रकाश में राणा हिन्दू धर्म का रक्षक नही माना जा सकता।

"यदि अकबर की धर्मनिरपेक्षता, उदारता, और सहिष्णुता की नीति अकबर के बाद औरंगजेब तक बनी रहती तो राणा प्रताप और अन्य राजपूतो के संग्राम का राजनीतिक स्वरूप और भी अधिक स्पष्ट हो जाता। परन्तु अभाग्यवश जहांगीर ने अकबर की धर्मनिरपेक्षता की नीति अर्ध मन से अपनायी, उसके उत्तराधिकारी शाहजहां ने इस नीति को अपनाने का रुख (भी नहीं) दिखलाया और औरंगजेब ने तो इस नीति को त्याग ही नहीं दिया अपितु इस धर्मनिरपेक्षता की नीति और उससे संबंधित अन्य नीतियों के मौलिक आधार को ही नष्ट कर दिया और इस्लामी राज्य को फिर से स्थापित किया। हिन्दुओं पर अनेकानेक अत्याचार होने लगे, मन्दिरो और मूर्तियो का विध्वंस होने लगा तथा जजिया फिर से हिन्दुओं पर लाद दिया गया। ऐसी दशा में कुछ राजपूत राज्यो और हिन्दू नरेशों ने औरंगजेब के शासन-काल में अपने संघर्ष और संग्राम में प्रताप के समान ही मुगल विरोधी नीति अपनायी। राणा प्रताप इनके प्रेरणा-स्रोत बन गये। औरंगजेब के इस्लामी शासन के समय साधारण हिन्दू जनता ने राणा के राजनीतिक लक्ष्य को धार्मिक स्वरूप भी दे दिया तथा उसे हिन्दू राज्य व धर्म का रक्षक माना जाने लगा। राजस्थानी, गुजराती और हिन्दी साहित्य मे इसके प्रमाण उपलब्ध होते है तथा चारणों और भाटों की गाथाओ में इस मत की पुष्टि होती है। फलतः बाद की परिस्थितियो के कारणवश राणा प्रताप को महान स्वतंत्र नरेश के रूप में ही नहीं, अपितु हिन्दुओ की स्वाधीनता, धर्म, प्रतिष्ठा और सम्मान रक्षक के रूप मे देखा जाने लगा।"[1]

साम्प्रदायिकता आज जिस रूप मे जानी जाती है उसका दोष न प्रताप पर लगाया जा सकता है, न अकबर पर। चित्तौड़ के युद्ध मे दुर्ग की प्राचीरो से गोली मारने वाले मुसलमान थे, और नीचे अकबर की पंक्तियो मे इनसे मरने वाले हिन्दू थे। हल्दीघाटी के युद्ध में अकबर की सेना के अग्रभाग में अग्रणी हिन्दू था, और प्रताप

1. लूणिया, पृष्ठ 186

की सेना में मुसलमान । इन युद्धों में हिन्दुओं और मुसलमानों का सम्मिलित रक्तप्रवाह दोनों पक्षों के विरुद्ध साम्प्रदायिकता के हर आरोप को अपने में डुबोने में समर्थ है । जो स्थिति नही थी, उसके लिए सराहना करके प्रताप का सम्मान नहीं बढ़ाया जा सकता – ऐसी प्रंशसा तो प्रताप की सबसे कटु आलोचना ही होगी ।

"यह कोई हिन्दू मुसलमान सवाल नही था, न यह हिन्दू धर्म और इस्लाम के बीच सघर्ष था । ऐसा नहीं होता तो राणा प्रताप अपनी सेना के एक भाग का नेतृत्व हकीमखान सूर को नही सौंपता, न अकबर अपनी सारी सेना मानसिंह के अधीन करता । जिस मनोभावना ने अकबर को मालवा के बाज बहादुर, गुजरात के मुजफ्फर, बंगाल के दाऊद, सिन्ध के मिर्जा जानी बेग और कश्मीर के युसुफ को परास्त करने को प्रेरित किया उसी के कारण अकबर का मेवाड़ के राणा से सामना हुआ । यदि मेवाड़ पर किसी मुसलमान शासक का राज होता तो भी अकबर उसके साथ उसी प्रकार का व्यवहार करता । ऐसा एक हलका-सा भी प्रमाण नहीं है कि मेवाड़ के विरुद्ध अपने सघर्ष मे अकबर राजनीतिक लक्ष्यो के अतिरिक्त किसी और उद्देश्य से प्रेरित हो रहा था । साम्राज्यवाद अच्छा हो या बुरा, लेकिन इससे इन्कार नही किया जा सकता कि हिन्दू और मुसलमान दोनो ने खुलकर इसे मान रखा था, जैसा कि यूरोपियनो ने भी ।"[1]

डूंगरपुर और बांसवाड़ा जैसे पड़ौसी राज्यों के सजातीय राजाओ ने जब अकबर की प्रभुता स्वीकार करली, उन पर सीधा हमला करने में प्रताप जरा भी नही हिचका । यही नही, प्रताप ने मेवाड़ में माने जाने वाले प्रदेश के अन्तर्गत अर्ध-स्वतन्त्र तन्त्रो पर, स्वतन्त्र-से पड़ौसी राज्यों पर और मेवाड़ के प्रभाव-क्षेत्र के बाहर पड़ने वाले क्षेत्रो पर अनेक आक्रमण किये और यदि परिस्थितियां प्रतिकूल नहीं होती तो उन भूभागो पर अपना सीधा प्रभुत्व स्थापित करने से प्रताप कभी नही चूकता । प्रताप ने अपनी नयी राजधानी चांवड जिस जगह बनायी थी वह और उसके आसपास का प्रदेश, सीधा प्रताप के आधीन नही था, उसे खाली कराने के लिए सैनिक अभियान आयोजित करना पड़ा था । कार्य-क्षेत्र संकुचित होने के कारण इसे साम्राज्यवाद चाहे नही कहा जाये, मनोभावना, महत्वाकांक्षा और कार्यप्रणाली मे अकबर से भिन्नता इसमे अधिक नही थी ।

परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह भूलने की बात नही है कि अकबर के राज-काल में यह प्रश्न निर्णायक स्थिति मे आ गया था कि भारत मे भारतीयता का आदि-कालीन प्रवाह अपने शाश्वत और स्थानीय रूप में बना रहेगा या नही ।

---

1 त्रिपाठी, पृष्ठ 223

इस्लाम ने भारत को यह चुनौती दी थी कि ईरान, सीरिया, मिस्र की तरह वह उसकी द्रुतगामी गति के आगे सदा के लिए पदाक्रान्त हो जायेगा या बड़े से बड़े उपद्रव, उत्पीड़न और उत्साह के आक्रमण के सामने भी डटा रहेगा? अकबर के पहले तक यह तय हो चुका था कि शस्त्र के बल पर भारत को पूर्णतः परास्त करना संभव नहीं है—भारत में कश्मीर से रामेश्वरम् तक यद्यपि इस्लाम का झंडा फहर चुका था, मथुरा, काशी, प्रयाग, कन्नौज, पाटलीपुत्र, देवगिरी, मदुरा और वारंगल जैसे प्राचीन धार्मिक सांस्कृतिक केन्द्र ध्वस्त हो चुके थे, परन्तु भीतर ही भीतर भारतीयता की लहरें अपना प्रवाह, और मन्थर अप्रकट गति से बनाये हुए थीं। विदेशी धर्म और विदेशियों द्वारा उसे जबरदस्ती स्थापित करने के हर प्रयत्न को विरोध और विद्रोह का सामना करना पड़ा था, और अन्ततः उत्तर में मेवाड़ और दक्षिण में विजयनगर उस अत्यन्त अन्धकार पूर्ण युग में भी प्राचीन भारतीय संस्कृति के सबसे शक्तिशाली, दैदीप्यमान और प्रभावकारी प्रतिरोध के रूप मे प्रकट हो गये थे; उन्होने भारतीय संस्कृति को पुनर्जीवन और प्रेरणाप्रद सफलताएं और परम्पराएं दी थीं। उनकी अन्ततः असफलता भी इस रक्तबीजी परम्परा को नहीं मिटा सकी कि भारत में जो विदेशी आक्रमक आयेगा उसे हटाया और मिटाया जायेगा।

अकबर के समय में प्रबल सशस्त्र प्रयत्न के साथ-साथ शास्त्र, और एक सीमा तक सौहार्द, के सहारे से यह प्रयत्न किया गया कि भारतीय संस्कृति 'जो कुछ विदेशी धर्मों में अच्छा से अच्छा है' उसे अंगीकार कर ले—यह प्रयत्न एक मात्र इस्लाम के लिए नहीं था, पारसी और ईसाई जैसे अन्य विदेशी धर्मों को भी अपने अभियान में अकबर ने साथ ले लिया था, कदाचित जो वास्तविक स्थिति उस समय भारत में थी उसमे यही सर्वोत्तम था, और इस क्रम ने जोर भी बहुत पकड़ा। स्वयं इस्लाम में सूफी सम्प्रदाय ने और हिन्दुओं में उदारवादी और सुधारवादी शिक्षाओ तथा सम्प्रदायो ने अपनी संख्या और विचारशीलता के बल पर भारत की प्राचीनता को जड़ो से झकझोर दिया। मानना होगा कि अपने शासनकाल के अंतिम आधे अंश मे अकबर ने इस उठते उदारवाद को अपनी सहृदयता और सक्रियता से बहुत संबल दिया। देश का सम्राट अपने धर्म का विरोध करने वालो को अपने अन्तरंग में स्थान दे, खुले दिल-दिमाग से उन्हें सुने, समझे और उनमे से सर्वोत्तम को स्वीकार करे, यह अनहोनी-सी बातें थीं जिन्हे अकबर ने कर दिखाया। परन्तु अकबर के प्रयत्न के लिए पृष्ठभूमि उसके पहले बन चुकी थी, उदारवाद और सुधारवाद की साख उसके आने के पहले जमने लगी थी, इस लगी-लगायी खेती को उसने खूब काटा—और नये बीज, खाद और जल से नये से नये खेत खड़े कर दिये।

उत्तराधिकारियो को धार्मिक उदारता से अपने जैसा ओतप्रोत नहीं रख सका, और उसका पुत्र ही ऐसा निकला कि उसने अपने राजवंश के आश्रय मे पड़े, मेवाड़ के लिए स्वयं उसके द्वारा महाराणा मनोनीत किये गये, सगर के सुधरवाये सुविशाल मन्दिर की मुख्यमूर्ति को टुकड़े-टुकड़े करवाकर पानी मे फिकवा दिया—सिर्फ इसलिए कि वराह भगवान का मुंह उसे अच्छा नही लगा था। उदारता के क्रम ने उतरने मे दो पीढ़ियां भी नही ली, जहांगीर के पौत्र औरंगजेब ने अत्याचार के उसी अंधकार से भारत के क्षितिज को आच्छादित कर दिया जिससे उसे उबारने का प्रयत्न अकबर ने किया था। इस तरह अकबर और उसकी परम्परा नहीं रही, परन्तु आततायी और आक्रमणकारी का प्रतिरोध करने की आवश्यकता बराबर बनी रही। मेवाड़ के महाराणाओ ने अपनी पीढ़ियो का रक्त बहाकर, और अपने प्यारे मेवाड़ को 'बेचिराग' करके, प्रतिरोध की जो परम्परा सबल की उसकी आवश्यकता जहागीर-अमरसिह की सुलह के पचास-साठ साल के भीतर-भीतर फिर सामने आ गयी—और उसी मेवाड़ ने फिर से विरोध और विद्रोह का झंडा ऊँचा किया, जिसके नीचे उन्हे भी आना पड़ा जो मुगल-मित्रता के गोरव में फले-फूले थे, फूले नही समाते थे, और जिनके राजवशो ने भारत मे एक विदेशी राज्य की स्थापना मे 'अपना सब कुछ लुटाकर' निर्णयकारी योगदान दिया था : इस तथ्य एवं मान्यता की स्थापना फिर से हुई कि भारत से भारतीयता नहीं उठ सकेगी, उसके लिए भारतवासी बड़ा से बड़ा बलिदान करने को जब जरूरत होगी आगे आयेंगे। इस भारतीय परम्परा को मेवाड़ के महाराणा उदयसिह, प्रतापसिह और अमरसिह का कभी न भुलाया जाने वाला योगदान प्राप्त हुआ। सोचने की बात यह है कि इन्हे, इनके प्रयत्न को, किस तरह अकबर और उसकी सफलताओ का गुणगान करके भुलाया जा सकता है ?

यह प्रश्न केवल मात्र भारत की भूमि तक सीमित नहीं है—भारत की मान्यता और भावना पर, दर्शन और विज्ञान पर, साहित्य और संस्कृति पर, कला और कारीगरी पर, अर्थात् समस्त राष्ट्र और राष्ट्रीयता पर, आक्रमण अकबर के बाद भी हुए, और, भगवान न करे, आगे भी हो सकते है। आक्रमण अवश्य ही भूमि के एक अंश पर होता है, आक्रान्त समस्त भारत तथा भारतीयता हो जाती है। ऐसे अवसरो पर आस्था और प्रेरणा वहां से मिली है, और मिलेगी, जहां 'अपनी भूमि,' 'अपने देश' के लिए खून बहाया गया है : मेवाड़ यदि भारत-भूमि के बाहर होता, और उसका इतिहास यही होता, तो भी भारत की स्वाधीनता और भारतवासियो के आत्मगौरव के लिए उसका अनुसरण करना पड़ता; और जब-जब विदेशो मे भी स्वाधीनता और आत्म-गौरव संकट मे पड़ेगा, मेवाड़ से आस्था और प्रेरणा प्राप्त करनी होगी।

"विदेशी शासन और धर्म का प्रतिरोध करने के राजपूत स्वभाव और सिद्धांत को मेवाड़ मे अनुकूल आवास प्राप्त हुआ। इसमे आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि मेवाड़ अलाउद्दीन खिलजी से अकबर के समय तक दिल्ली की अधीनता अस्वीकार करने की

अपनी वात पर डटा रहा। इसमें भी आश्चर्य की वात नहीं है कि, जहांगीर से हुई संधि से ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त होने पर भी जो किसी अन्य राजपूत राज्य को उपलब्ध नहीं थे, मेवाड़ ने औरंगजेब का विरोध अपना अस्तित्व संकट में डालकर किया। यह सही है कि दिल्ली के स्वामियो का मेवाड़ द्वारा स्थानीय रूप से किया गया प्रतिरोध भारतीय इतिहास की दशा नहीं वदल सका। परन्तु इस प्रकार के प्रतिरोध का जो भावनात्मक महत्व होता है उसे मानने से गंभीर इतिहासज्ञ भी इन्कार नहीं कर सकता। जेम्स टाड के प्रेरणाप्रद शब्द आज भी स्मरणीय है :

"राजपूतो जैसे विशिष्ट चरित्र के अतिरिक्त, कौन-सा राष्ट्र इस पृथ्वी पर ऐसा हो सकता था जो सभ्यता का स्वरूप और अपने पूर्वजो की परम्परा तथा भावना को हर तरह डुबा देने वाली अवनति की इतनी शताब्दियों में भी वचाये रख सकता था? मानवता के सारे इतिहास में अकेला उदाहरण राजस्थान का ही है जहां के लोगो ने ऐसे शत्रु के जिसका धर्म ही विनाश का निर्देश देता है ऐसे हर अत्याचार का सामना किया जो वर्वरता कर सकती थी, या मानव स्वभाव सह सकता था. वह जमीन तक झुका दिया जाता था, परन्तु इतने दवाव के वाद भी वह फिर पूरे उत्साह के साथ उठ खड़ा होता था, और हर संकट का उपयोग अपने साहस को द्विगुणित करने में कर लेता था। धर्म का पवित्र दुर्ग मेवाड़ ही अकेला था जिसने कभी अपनी सुरक्षा के लिए अपने सम्मान को नहीं वेचा। इस धर्म, सम्मान, स्वाधीनता के लिए मेवाड़ ने अपना रक्त नदियो की तरह वहा दिया।"[1] इस प्रकार "इतिहास में एक महत्वपूर्ण परम स्फूर्तिदायक अध्याय का आरम्भ हुआ, जो कठोर पराधीनता के गहरे निराशापूर्ण दुःखमय दिनों में राजस्थान के साथ ही समूचे भारत तक को स्वाधीनता के लिए सर्वस्व वलिदान कर उसकी निरन्तर अडिग साधना का पाठ पढ़ाता रहा।"[2]

मेवाड का एक और वड़ा योगदान है। मेवाड़ पर वारवार मुसलमानों का आक्रमण हुआ, और वारवार उसका विरोध किया गया, ऐसा कि असफलता ने भी असाधारण आदर इस पर्वतीय प्रदेश मे प्राप्त कर लिया। परिणाम क्या हुआ, हमे शिक्षा क्या मिलती है? एक-दूसरे को मिटाने के प्रयत्न मे मुसलमान और हिन्दू कभी सफल नहीं हो सकते। चित्तौड़ के पहले, दूसरे और तीसरे साके से अधिक सम्पूर्ण विजय क्या कभी कोई आक्रमणकारी प्राप्त करेगा, और मेवाड़ के प्रतिरोध से अधिक वलवान और वलिदानी प्रयत्न कव सुरक्षा, स्वाधीता और सम्मान के लिए किया जायगा—और कर भी लिया गया तो आखिरकार होगा क्या? साथ-साथ इस संसार में सवको रहना होगा। फिर मित्रता का मार्ग ही क्या सवसे उत्तम नहीं है? मेवाड़ ने जो निरन्तर संग्राम और वलिदान किये उनकी वास्तविक शिक्षा यह शांति, सद्वुद्धि, सद्भावना और 'सुलह कुल' का संदेश ही है।

---

1 वनर्जी, पृष्ठ 83

2 रघुवीरसिंह, राजस्थान, पृष्ठ 49

# परिणाम

ओछापन अथवा बड़प्पन ही इस संसार में स्थिर रहते हैं। नश्वर शरीर नहीं शेष रहता। इसलिए धर्म से प्रेम करते हुए एक क्षण के लिए भी सत्य नहीं छोड़ना चाहिये।

समुद्र में जहाज के डूबने पर जो बचता है, उसे धन्य है। तम रूप शत्रु का आतंक होने पर जो बचता है उसी का पुण्य परिपूर्ण है। सबल शत्रु की शत्रुता स्वीकार करके जो जिंदा रहता है वही यश प्राप्त कर सकता है। हे खुमान-पद महाराणा! मेरे तथ्यपूर्ण वचनों के विषय में पुराण-दक्ष पंडितो को बुलवाकर एवं उनके मस्तक पर हरा तृण रखकर पूछ लीजिये।

शैशव, यौवन, वार्धक्य, तन, धन, दुर्जन, सज्जन, सूर्य, चन्द्र, समुद्र, सरिता, तड़ाग, और पशु-पक्षी कोई भी स्थिर नहीं रहते—स्थिर रहती है तो (केवल एक मात्र) चर्चा (ख्याति)। जो बात शुरू से देखी एवं सुनी गयी है वही बतला रहा हूं—अतः संसार उसे ध्यान से सुने क्योकि अंततोगत्वा सुयश या अपयश ही (यहां) बचे रहते है।

— 'राणा रासौ' पद 517, 601, 519

परिशिष्ट-पहला

# फतहनामा-इ-चित्तौड़

खुदा का शुक्र है जिसने अपना वादा पूरा किया और अपने बन्दे की मदद की और उसके लशकर (फोज) को इज्जत दी और दुश्मन के लशकर को शिकस्त दी। वह एक है और कोई उसके बाद नहीं है।[1] बेइन्तहा शुक्र की खुशबुए और शुक्रोतारीफ की इबतिदा और इन्तहा उस अजीम फत्ताह (बड़े जीतने वाले) के लिए है जिसने सलतनत और किले के दरवाजे की कुंजियां बादशाहों को दीं : दीन (धर्म, जीवन-प्रणाली) उसी की कुदरत के कब्जे में है। खिलाफत के तरीकों के अहकामात और फतहमन्द बादशाहो की फरमां रवाई (राजकाल) उसके इख्तियार और महरबानी से सजी है। वह ऐसा करम करने वाला है कि अपनी कुदरत के हाथ में सिर्फ फतहमन्दी से निसबत रखने वाले झंडे लिये हुए है। अहले ईमान को,[2] "ईमानवालों की मदद करना हम पर हक है",[3] (कुरआन[4] की इस आयत[5] को), इज्जत के नक्शोनिगार से सरबलन्द किया। वह ऐसा जब्बार है (ऐसी कुदरत वाला है) जो शरीरो (मन में बुराई रखने वालों) और काफिरो की बुनयाद को हक अदा करने वाले मुजाहिदों (जिहाद[6] करने वालों) की बिजली गिराने वाली तलवार की चोट से, "तुम इनसे जंग करो, खुदा तुम्हारी मदद करेगा, तुम्हारे हाथो उन्हें बदनाम और जलील करेगा, और तुम्हें उन पर फतह देगा"[7] के हुक्म के मुताबिक, गिरा देने वाला और ढा देने वाला है।

> एक के सर पर वह यकीन का ताज रख देता है, एक को खुशनसीबी
> से और एक को डंके के बल नीचे गिरा देने वाला है।

---

1 मक्का जीतने के बाद पैगम्बर ने जो तकरीर की थी उसके शुरू मे यह लाइनें थी। यही लाइनें उस फतहनामा के शुरू मे दी गयी थी जो खानुवा मे बाबर की जीत के बाद लिखा गया था।

2 'ईमान' उस विश्वास को कहते है जिसके साथ श्रद्धा भी हो और विनम्रता और भय भी, और साथ ही आस्था और भरोसा भी। इस्लाम मे ऐसे विश्वास शामिल होने के कारण उसी को ईमान माने जाने लगा।

3 कुरआन, पारा 11, सूरए यूनुस, रुकू 10

4 अल्लाह की वह अंतिम किताब जो हजरत मुहम्मद पर अवतीर्ण हुई।

5 कुरआन का टुकडा या वाक्य।

6 किसी ध्येय की सिद्धि के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देना। जिहाद का अर्थ युद्ध से कही विस्तृत और व्यापक है।

7. कुरआन, पारा 10, सूरए तौबा, रुकू 2

एक के सर पर उसने नेकवख्ती का ताज रख दिया है, एक की वगल में वदनसीवी का कम्वल दे दिया है।

वह खलील अलेहिस्सलाम (एक पैगम्वर का नाम) आग को वाग वना देता है, एक गिरोह को दरयाएनील से दोजख की आग में ले जाता है।

उसके अहसान के अहकामात वड़े वजनी है, उस पर उसके फरमान की मोहर लगी है।

वह वड़ी शान वाला है, जैसा कि उसने खुद फरमाया है, "वह वहुत वलन्द और वहुत वड़ा है",[1] और "वह एक ऐसा वादशाह है कि मुल्क में उस जैसा आका, दोस्त और मददगार दूसरा कौन हो सकता है!"[2]

मुवारक और वुजुर्ग, सलामती और पाक दुरुद हो। तमाम चीजो का खुलासा है कि जव फरमावरदारी का फरमान, "ए नवी (पैगम्वर)! काफिरो[3] और मुनाफिको से जिहाद करो और उन पर गाढ़े हो जाओ",[4] ऊपर से उतरा, दीन और मुल्क के झंडो को वलन्द करने के लिए और तवज्जोह की लगाम उम्मत के मुती (मुसलमानो के) गिरोहो की ताजीम के लिए, आसमान जैसी वलन्दी रखने वाले किलों को जीतने के लिए, मसलन खेवर और शहर वगैरह दूसरे मकामात के लिए, मुतवज्जह हुए (ध्यान दिया), हर तरफ और हर कवीलें में जहां भी अपने मुवारक कदमों से तशरीफ ले गये, वहां खुदा के लशकरो की मदद, "और उसने ऐसे लशकर उतारे जिनको तुम नहीं देख सके",[5] उनके इरादों की पेशवा (नेता) थी, उन्होने निहायत आसानी से फतह फरमाली। और जिस दौलतमन्द ने अजली तोफीक (पहले आशीर्वाद) की वरकत से और नीयत की सच्चाई के साथ जुवान खोली वह दोनों जहान की सआदत से मुशर्रफ हो गया (उसे सारे संसार की नेकियां प्राप्त हुई), और जिस कव्वे सिफत (कउआ के गुण वाले) ने अन्जाम से वेपरवाह होकर दुनियां के छोटे से फायदे की विना पर नेमतो से चश्मपोशी करके गुमराही के दायरे और जहालत की तंगी में कदम रखा वह दोजख (नरक) की सजा के तीर और खतरनाक अजाव (सख्ती) का निशाना वन गया।

वह रसूल (पैगम्वर) जिसने ताज के लिए वादशाहों से तलवार के जरिये खिराज हासिल किया।

---

1 कुरआन, पारा 15, सूरए वनी इसराईल, रुकू 5

2 कुरआन, पारा 18, सूरए नूर, रुकू

3 धर्म-विरोधी, उन सच्चाइयों को मानने से इन्कार करने वाला जिनकी शिक्षा इस्लाम मे दी गयी है।

4 कुरआन, पारा 28, सूरए तहरीम, रुकू 2

5 कुरआन, पारा 10, सूरए तौवा, रुकू 4

मैंने गलत कहा, बल्कि वह सिदरतुल मुन्तहा के (सब से ऊंचे) तख्त पर बैठने वाला ऐसा बादशाह है जो ताज देने वाला भी है और तख्त लेने वाला भी है।

उसका जिस्म पाक आसमानों के तहत का राजदार (रहस्य जानने वाला) था, और उसका सरे मुबारक बहुत ही बलन्द नाम रखने वाला था।

और तमाम मशहूर असहाबे किराम (वे लोग जो हजरत मोहम्मद साहब के जमाने में उनके साथ थे) और आले अतहार (पाक-औलाद) के गिरोह पर, और उसके बुजुर्ग और काबिले इज्जत दोस्तों के लशकरों के गिरोह पर, जो दीनदार लोगों की सफों (लाइनों) के पेशवा और सच्चाई और यकीन रखने वाले लोगो के रहनुमा हैं, उन सब पर खुदा के दुरूद और सलाम हों। और कयामत (प्रलय) के दिन तक अल्लाह तआला उनसे राजी रहे।

फिर जब तमाम मुमालिक (देशों) के बादशाह अल्लाह तआला ने हिन्दुस्तान के मुलकों की सलतनत को, जो दुनियां की सलतनतो में बहुत बड़ी है, इस हुक्म के मुताबिक कि "मै तुम्हें लोगों का इमाम बनाना चाहता हूं",[1] हमारी तरफ सुपुर्द फर्माकर बखशिश की, कचहरी के मुंशी ने खिलाफत और बादशाहत के पुरनूर अहकाम के जरिये, "यह अल्लाह का फजल है जिसे चाहे अता करे",[2] हमको रोशन तुगरा (सूक्तियो) से सजाया, और सच यह है कि तमाम मखलूक, जो अल्लाह तआला की अमानत है, दुनियां की खराब चीजों और जमाने की सख्तियो से बखशिश के साये में आ गयीं। हमारा फर्ज है कि हम अल्लाह तआला की इताअत (आज्ञाकारिता) व इबादत (प्रार्थना) में फरागवाली (समर्पणमय भक्ति) के साथ मशगूल रहे, और हमने इस बहुत बड़ी नेमत की शुक्रगुजारी को अपनी बलन्द हिम्मती से पहचान लिया है। चुनाचे "जिधर चाहे जाओ, जीत तुम्हारी होगी",[3] के मुताबिक हम फतह-का रुख जिस तरफ भी फेरते हैं और इरादे की लगाम जिस तरफ भी करते हैं तो फतहमन्दी और खुदा की मदद बहुत जल्द सामने आ जाती है। "यह मेरे रब (ईश्वर) के फजल से (कृपा) है कि वह मुझे आजमाये कि मैं शुक्र करता हूं या नाशुक्री,"[4] और "उसके रास्ते में जिहाद करो ताकि तुम फतह पाने वाले हो जाओ,"[5] की मुबारक खुशखबरी के मुताबिक हम अपने वक्तों (समय) को वुसअत (फैलाव) और इमकान (संभावना) के मुताबिक जिहाद और जंग की तरफ मसरूफ (व्यस्त) रखते हैं। और इस कादिरेमुतलक (सर्वशक्तिमान परमात्मा) की महरबानी और मदद

---

1 कुरआन, पारा 1, सूरए बकर, रुकू 15
2 कुरआन पारा 28, सूरए जुमा, रुकू 1
3 इसे अरबी मे अंकित किया गया है, कदाचित इस बात पर और भी जोर देने के लिए।
4 कुरआन, पारा 19, सूरए नमल, रुकू 3
5 कुरआन, पारा 6, सूरए मायदा, रुकू 6

से, जो हमारी हर दिन फैलने वाली सलतनत को ताकत बख्शने वाला है, वह मकानात और किले और रहने की जगहें और शहर वगैरह जो शरीरो (खुदा उनको रुस्वा-बदनाम-करे) के कब्जे में है हमारे कब्जे में लाकर इस्लाम के खुश-किस्मत और मुबारक झंडों को हर मुकाम और हर विलायत के मैदान में बलन्द रखते है। और खून पी लेने वाली तलवार की चमक-दमक से और बहराम का-सा बदला लेने वाले बहादुरों की बहादुरी से और कजा (मौत) के तीरअन्दाजों के उन तीरों से जो घोड़ों की तेज रफतारी की तरह उड़ने वाले हैं शिर्क की तारीकियों (बहुदेवतावाद के अंधकार) और सरकशी (अवज्ञाकारिता) के गुनाह बुतपरस्तों के दिलों से मिटाकर वहां से, और हिन्दुस्तान के मुलकों में हर तरफ से, बुतों के इबा-दतगाहों (मूर्तियों के मन्दिरों) की बुनयाद ढ़ाते है। और, "खुदा का शुक्र है जिसने इस बात की हमें हिदायत दी, अगर अल्लाह यह हिदायत नहीं देता तो हम हिदायत पाये हुए नहीं होते।"[1]

इस दास्तान का मकसद यह है कि इन फतहयाबियों के जमाने में अली कुली और उसके नमकहराम मददगारो के कतल करने के बाद हम "उच्च तथा सर्वथा पवित्र"[2] राजधानी आगरा पहुंचे। (वहां से चलकर) हाथियों के शिकार के जरिये सेरो तफरीह में इजाफा करने की गर्ज से[3] हमने शिवपुर और गागरोन के मकाम पर पड़ाव डाला।[4] यह मकामात चित्तौड़ के इलाके की सरहद पर वाके थे। वहां हमारी तवज्जा इसकी तरफ दिलायी गयी कि राणा उदयसिंह ने, (खुदा उसे नेस्तोनाबूद करे), जिससे यह उम्मीद की जाती थी कि वह आगे बढ़कर बादशाह का खेर मकदम (स्वागत) करेगा, एक ताबेदार की हैसियत से हाजिर होगा, जमींबोस का फर्ज अदा करेगा या अपने बेटे को पेशकश के साथ दरगहेशाही में भेजेगा, इसके बजाय उसने खुदबीनी और गुरूरी की बिना पर तकब्बुर (अपने को बड़ा मानना) और गुरूर (घमंड) का तर्जेअमल इख्तियार किया है, और वह चित्तौड़ के किले में अशियाए खोरोनोश (खाने पीने का सामान) कसीर मिकदार में (बड़ी मात्रा में) जमा करने में लगा हुआ है। चित्तौड़ का किला उसका खानदानी कयामगाह

---

1. कुरआन, पारा 8, सूरए आराफ, रुकू 5
2. कुरआन, पारा 30, सूरए अबस, रुकू 16
3. इस बयान का मकसद यह जताना मालूम देता है कि चित्तौड़ पर हमला पहले से सोचकर नहीं किया गया था, और अकबर चित्तौड़ की तरफ सिर्फ हाथियो का शिकार करने गया था। इसके खिलाफ अबुल् फज्ल का ('अकबरनामा' मे) कहना है कि पहले इरादा उत्तर गुजरात मे बदअमनी फैलाने वाले मिर्जा-भाइयो के खिलाफ कार्रवाई करने का था, लेकिन राणा उदयसिंह के बेटे शक्ति-सिंह ने शाही पड़ाव से भागकर ऐसा बरताव किया कि शाहशाह ने चित्तौड़ पर हमला करने का इरादा बना लिया। निजामुद्दीन और बदायुनी इस बात पर एकमत हैं कि चित्तौड़ पर हमला पहले से तैयारी के बाद किया गया था।
4. यह गाव और किला आबू और काली सिंध नदियो के सगम पर है। कोटा शहर से यह लगभग 45 मील दक्षिण की ओर है। 'आइन-इ-अकबरी' मे गागरोन को मालवा सूबे की सरकार बताया गया है। यह राजपूताने की कोटा रियासत मे था।

(निवास स्थान) है। वह किला अपनी मजबूती और अजमत (बड़ाई) के लिहाज से हिन्दोस्तान के तमाम किलों में मशहूर है। उस (उदयसिंह) का मकसद यह था कि वह इस किले में पनाहगुंजी हो जायेगा (शरण ले लेगा)। इस जमाने में क्योंकि हमारे ख्यालात में जंग और जिहाद का जलवा था, लिहाजा राणा का तर्जे अमल शाही खफगी (नाराजगी) का बाइस हुआ (कारण बना) और अल्लाह के दीन की हमीयत और शाही गुस्से की आग भड़क उठी।

आखिरुज जिक्र (आखरी में बयान की हुई) फतह के बाद ज्यादातर शाही फौज अपनी जागीरो को वापस चली गयी थी और सिर्फ थोड़ी-सी फौज इस वक्त दारुलखिलाफा (राजधानी) में मौजूद थी। इसके बावजूद वह थोड़ी फौज शिकार खेलने के इस मौके पर[1] बादशाह के हमराह (साथ) हो गयी। हमने इस काफिर (राणा उदयसिंह) के तहसनहस करने की तरफ अपनी लगाम फेर दी। शाही झण्डों के पहुंचने के खोफ से इस (राणा) ने अपने चाचा साहीदास,[2] जैमल[3] और उदयबान पत्ता[4] को पांच हजार चीदा (चुने-चुने) राजपूतों और अपनी फौज के एक हजार सिपाहियों और दूसरे दस हजार आदमियों के साथ किले की हिफाजत के लिए तईनात कर दिया।[5] साहीदास, जैमल और उदयबान पत्ता अपनी बहादुरी के लिए काफिरों में बड़ी शौहरत रखते थे (अल्लाह तआला उनकी पुश्त पनाही से हाथ उठाले और उन्हे जहन्नम रसीद करे) और वे अपनी जांबाजी और बहादुरी के लिहाज से एक हजार घोड़ो की ताकत के बराबर समझे जाते हैं।

राणा खुद अपनी फौज को साथ लेकर उदयपुर और कोबलमेर[6] के लिए भाग गया था। वे मकामात जंगलों और पहाड़ों के तहफ्फुज में वाके थे (शरण में स्थित थे)। रामपुर[7] के मकाम पर जो चित्तौड़ से मुलहिक (नजदीक लगा हुआ) एक मशहूर कस्बा

---

1 यह ऊपर बयान किये गये हालात के मुआफिक है कि चित्तौड पर हमला सोच विचार कर नही किया गया था। जैसाकि ऊपर बताया गया, इस बात के बर्खिलाफ बहुत से सबूत मौजूद हैं।

2 सीसोदिया सरदार रावत साईं दास चूंडावत। यद्यपि अकबर ने इसका उल्लेख किया है, फारसी की इतिहास-पुस्तको मे यह नाम नहीं मिलता। जेम्स टाड ने इस नाम को उन लोगो मे ऊंचा स्थान दिया है जिन पर चित्तौड की सुरक्षा का भार था।

3. मेडता के राजवंश का जयमल्ल राठौड। फारसी इतिहासकारो के अनुसार उसे उदयसिंह ने चित्तौड़ छोडने के पहले चित्तौड का सेनाध्यक्ष नियुक्त किया था।

4 फारसी मे उदयबान लिखा मिलता है, जो वास्तव मे उदयभान होना चाहिये। यह ध्यान देने योग्य बात है कि किसी फारसी लेखक ने इसका पूरा नाम नहीं दिया है जबकि फतहनामा-इ-चित्तौड़ में पूरा नाम दिया हुआ है।

5 किले कि हिफाजत के लिए राणा उदयसिंह कितने लोग छोड गया था इस बारे मे अलग-अलग बातें मिलती हैं। अबुल् फज्ल पाच हजार बताता है, जबकि निजामुद्दीन का कहना है कि वहां सात-आठ हजार लोग थे। 'वीर विनोद' का झुकाव निजामुद्दीन की बतायी सख्या की तरफ है।

6 कुंभलगढ। 'तारीख-इ-अलफी' मे बताया गया है कि इस मौके पर जिस तरफ राणा उदयसिंह चला गया था वहा जगल इतने घने थे कि उसे ढूंढ निकालना नामुमकिन था।

7. रामपुर कदाचित वही स्थान है जिसका उल्लेख आईन-इ-अकबरी मे इसी नाम से आया है। बाद मे इसका नाम बदलकर इस्लामपुर कर दिया गया था। अबुल् फज्ल तथा अन्य इतिहासकारो ने यह नहीं बताया है कि चित्तौड जाते हुए अकबर रामपुर होकर निकला था। लेकिन यह लिखा मिलता है कि चित्तौड की घेराबंदी शुरू होने के बाद आसफखान को रामपुर का किला जीतने के लिए भेजा गया था।

है, जब यह बात मालूम हुई कि वह इस तरह के मनसूबे बना रहा है, तो शाही दिमाग (हम) ने अल्लाह की मदद से चित्तौड़ के किले को फतह करने और उसके बाद मुनासिब अकदाम उठाने (उचित कदम उठाने) का मुसम्मम (पक्का) इरादा किया। इस तरह हम बरोज जुमेरात 20 रबीउस्सानी 975 हिजरी (24 अक्टूबर 1567 ई.)[1] को मुहासिरा (घेरा डालने) की गरज से किले के करीब पहुंचे। (वहां हमें) ऐसा एक किला नजर आया जिसके सामने अलवुर्ज[2] नामी पहाड़ी अपनी अजमत (बड़ाई) और बलन्दी में एक चट्टान के मानिन्द मालूम होती थी। और इसकी फसील (चार दीवारी) में तुर और हिन्दूकुश पहाड़ दीवारो की तरह समा सकते है। जिस इन्जिनियर ने इस किले की तामीर की थी उसने इसकी असास (बुनयाद) एक बहुत सख्त चट्टान पर रखी थी। आसमान के मानिन्द बलन्द एक चट्टान इसने इसकी बुनयाद में रखी थी। सिकन्दर के पुश्ते की तरह इसकी बुनयाद रखी गयी थी। किले तक रसाई (पहुंचने) के लिए कमन्द बहुत छोटी थी, उसकी ऊंचाई अकल के तसव्वुर (कल्पना) की परवाज (उड़ान) से भी ज्यादा बलन्द थी (ऊंची थी)। इसकी फसील (चारदीवारी) की ऊंचाई औजे फलक (आकाश की ऊंचाई) को चूमती है जो फरिस्तो के भी वहां तक पहुंचने के रास्ते मे रुकावट का काम करती है। किला चारो ओर से तीन फरसंग है,[3] और इसमे हथियार चलाने के लिए बने सुराखो को गिनना तो नामुमकिन है।

हालांकि इस किले का मुहासिरा (घेरना) नामुमकिन मालूम हो रहा था, लेकिन अल्लाह तआला के फजलोकरम और खुदा रसीदा बुजुर्गो की गेबी (अदृष्ट) मदद की बिना पर जिस मकसद की तरफ हमने अपना कदम बढ़ाया वहां हमें हस्ब ख्वाहिश (इच्छानुसार) कामयाबी हासिल हुई। इसी दिन हमने किले के कुर्बो जवार (आसपास) का बड़े गौर से मुआइना किया और शाही मुलाजिमों की जमाअत के खानों, सुलतानों और अमीरो में से हर एक फर्द (आदमी) के लिए अलग अलग मकाम मुताअइय्यन (स्थान नियत) कर दिये गये।[4] पहाड़ों को पार करने वाले जंगजूओं, जग के मैदान में दिलावरो (बहादुरो), दिलोजान से जिहाद करने वालों और शहादत को दुनियां और उकबा (परलोक) को एक बड़ा इनाम समझने वालों ने बुरजो और फसील की दीवारों पर चढ़ने और अल्लाह की मदद और इसके भरोसे पर जो शाही कूव्वत का मरकज (स्रोत) है दिलेराना हमले करने

---

1 अबुल् फज्ल ने वृहस्पतिवार 19 रबी की तारीख दी है।

2. उत्तरी फारस मे एक पर्वतमाला।

3. अबुल् फज्ल ने बताया है कि शाही शिविर के साथ पैमाइश करने वाले हमेशा रहते थे। इन्होने पैमाइश करके पता लगाया कि किले का घेरा दो कोस से ज्यादा था, और जहा से आम लोग आते-जाते थे वहा से घेरा पाच कोस था।

4 अबुल् फज्ल के अनुसार मुगल अफसरो को किले के चारो तरफ चौकिया बैठाने और तोपखाने खड़े करने मे एक महीने का वक्त लग गया था।

और फोजी कूव्वत (ताकत) से इस किले पर कब्जा करने की इजाजत चाही।[1] चूंकि उन जाहिलो (राजपूतों) ने किले के तहफ्फुज (सुरक्षा) के लिए इतनी ज्यादा तादाद में देग, जर्बेज़न, तोप, बन्दूक, मनजीक, जिराएसेकल, नफत और नाविक जमा कर रखे थे कि अगर लगातार यह जंग चलती रहती तो यह सामान तीस[2] साल के लिए काफी होता; इसके अलावा उन लोगों का इस लड़ाई के सामान, किले की मजबूती और अपनी बहादुरी पर बहुत ज्यादा एतिमाद (भरोसा) था, इसलिए हमने मुसलमानों की जानें बचाने के मकसद से (अल्लाह तआला उन्हें ताकयामत महफूज रखे) शाही अफसरो को, इस ख्याल से कि कहीं ऐसा न हो कि जल्दबाजी में उनमें से बाज मारे जायें, उन्हें इस बात की इजाजत नहीं दी।[3] हमने अजदहों की तरह की तोपों, देगो और दूसरे अकसाम (तरह) के उन तोपखानो को मंगवाया जो दारुलखिलाफा (राजधानी) में पीछे छोड़ आये थे।[4] इनके अलावा शाही खेमे (कैम्प) में तोपो और पहाड़ो को तोड़ने वाली छोटी तोपो के बनाने का हुक्म दिया।[5] और यह तय किया कि सुरंगें खोदने और सरकोब और साबात तक पहुंचने के बाद ही हमला किया जायेगा।

बायें बाजू के फोजी दस्ते की एक टुकड़ी को हमने उदयपुर पर हमला करने और वहां के बाशिन्दों और राणा की फोजो और साथियो को जो वहां मौजूद थे कत्ल करने और कैदी बनाने के लिए भेजा। राणा खुद वहीं से दस कोस की दूरी पर मुकीम (ठहरा हुआ) था।[6]

एक दूसरी फोज[7] हमने रामपुर कस्बे को तहस-नहस करने और लूटने के लिए भेजी। बहुत से नाकारा काफिरो को कत्ल करने के बाद वह सिपाही बेशुमार माले गनीमत (लूट का माल) साथ लेकर वापस आये।

तोपखाने के पहुंचने और साबात की तकमील होने, सुरंगो को बारूद से उड़ा देने और बुर्जो और फसीलो को गिरा देने के बाद हमने अपनी फोज को हुक्म दिया कि वह जाकर फसील (चार दीवारी) के नीचे खड़ी हो जाये और चारो तरफ से किले को घेर ले। इस वक्त इस्लामी फोज की कूव्वत और शुजाअत (बहादुरी) और अपने

---

1. अबुल् फज्ल ने बताया है कि इस तरह की कोशिशे बारबार की गयी थी लेकिन वे हर बार नाकामयाब रही।
2. अबुल् फज्ल ने 'तीस' की जगह 'कई' लिखा है।
3. जल्दबाजी दिखाने के सबब से आलम खान और आदिल खान को सजा दी गयी थी।
4. अबुल् फज्ल ने बताया है कि जब तोपो के आगरा से आने में देरी मालूम होने लगी, अकबर ने वहीं तोप ढालने का हुक्म दिया।
5. अबुल् फज्ल के अनुसार शाहशाह के सामने एक ऐसी तोप ढाली गयी थी जो आधा मन का गोला फेंक सकती थी।
6. इस काम पर हुसैन कुली खान को लगाया गया था, लेकिन वह नाकामयाब रहा और राणा को नहीं पकड़ा जा सका।
7. आसफखान के पास इस फोज की कमान थी।

बादशाह[1] की नुखूव्वत और तकव्वुर का जब इस जहन्नुमी कौम (राजपूतों) को बखूबी इल्म हो गया तो उन्होंने बड़ी आजिजी, इनकिसारी (नम्रता) और इताअतपजीरी (आज्ञाकारिता) के साथ शफाअत (बखशिश) की दरख्वास्त की, और उनके कुछ सरदार[2] इस दरख्वास्त को लेकर बाहर निकल आये। इस हकीकत के बावजूद कि उन्होंने बहुत से मुसलमानों, अमीरों और आम मुसलमानों को, बन्दूकों और मनजीकों के पत्थरों को लगातार बरसाकर मार डाला था, उन्होंने ऐसी नामुमकिन शर्तों[3] पर सुलह चाही जिनका कुबूल करना मुमकिन नहीं हो सकता था। इसलिए उन्हें वापस जाने की इजाजत दे दी गयी। दूसरे दिन बजाते खुद मैं मीरे बाहर मोहम्मद कासिमखान[4] की साबात के करीब पहुंचा जो किले से करीब थी, और मैंने जंग-इ-सुलतानी[5] शुरू करने का हुक्म दिया।

इस्लामी फौज ने इस यकीन के साथ कि "अल्लाह की मेहरबानी काफी है और उससे अच्छा हिफाजत करने वाला दूसरा नहीं है,"[6] बे-खोफो-खतर और बड़ी जवांमर्दी से हमला कर दिया। यहूदियों की तरह काफिरों की जांबाज जमाअतों ने किले के अन्दर से फसाद और जंग की आग को लगातार मनजीकों के पथराओं और तोपों की बारिश से मुशतइल कर दिया (जोश में कर दिया)। शुजाअत के जंगल के शेरों और पहाड़ी जंगलों के चीतों ने अपनी बेहद शुजाअत (बहादुरी) की हालत में अपने तमा (लालच) का हाथ ताज (किले) तक पहुंचा दिया और बड़ी दिलावरी से बहराम के सर से मुकुट जबरदस्ती उतार लिया। इस हुक्म के मुताबिक कि "जहां तक तुम से हो सके तुम लोग उनके मुकाबिले के लिए तैयार रहो,"[7] इनमें से हर फर्द (शख्स) पहाड़ की तरह डटा रहा, दुश्मनों के सरों को पैरों तले रौंद डाला, वे लोग जमशेद की मजलिस से जाम उठाते गये और बहराम के सर से ताज उतार लिया। जंग के दिन इन्होंने इतना शोरोगुल किया कि कोहेकाफ तक इससे गूंज उठा। इस भारी आवाज

---

1. यहां 'दीनदार' शब्द काम में लाया गया है, जिससे कोई मतलब नहीं निकलता। संदर्भ में स्पष्ट होता है कि यहां उल्लेख राणा उदयसिंह का किया गया है।
2. 'अकबरनामा' में इनके नाम दिये गये हैं—साहिब सिन्हदार और साहिबखान।
3. 'अकबरनामा' में बताया गया है कि शाहंशाह को अपने ऊपर मानने और सालाना पेशकश देने को राजपूत तैयार हो गये थे। अबुल् फज्ल का कहना है कि कुछ अमीरों ने इन शर्तों को मंजूर करने की सलाह दी थी, लेकिन अकबर ने मानने से इन्कार कर दिया और इस बात पर जोर देता रहा कि राणा को खुद शाहंशाह के सामने हाजिर होना होगा।
4 कासिमखान की मदद के लिए यहां शुजाअतखान और टोडरमल भी लगे हुए थे। अबुल् फज्ल ने भी बताया है कि इस तरफ उस पहाड़ी के चोटी तक पहुंचने वाली साबात बनायी थी जिस पर किला खड़ा था।
5. शायद इससे मतलब आखिरी हमले से है, जिसके बाद, अबुल् फज्ल ने बताया है, दो रात और एक दिन लगातार लड़ाई होती रही, और यह तभी खत्म हुई जब किला जीत लिया गया। बदायूनी ने अपनी किताब में इस शब्द का उपयोग किया है, जिससे लगता है कि जब उसने इस लड़ाई का हाल लिखा था यह फतहनामा उसके सामने था।
6. कुरआन, पारा 4, सूरए आल इमरान, रुकू 18
7. कुरआन, पारा 18, सूरए इनफआल, रुकू 8

ने इन दुश्मनों पर, जो पहाड़ की मानिन्द अपने मजबूत कदमो पर खड़े थे, ऐसा असर किया जैसा चिंगारी का असर घास-फूस पर होता है। एक फोजी दस्ता दूसरे से बाजी लेने की कोशिश कर रहा था। एक दूसरे से पूरी तरह मुत्तहिद (एक) होकर वे लोग किले की बुर्जो और दीवारो तक पहुंच गये, जिनमें तोपो की मारों से शिगाफ (दरारें) पड़ गयी थीं। तीरो से जख्मी सूअरो के गिरोह की तरह इस जमाअत (राजपूतों) के लोग बाहर निकल आये और अन्दर दाखिल होने वालो का रास्ता नेजो और तीरों के वारो से बन्द कर दिया। इसके खिलाफ शाही फोज ने तीरो और पत्थरों के वारों से जवाबी हमला किया और पीछे हटते हुए राजपूतो को तितर-बितर कर दिया। लगातार गोलाबारी करके उन्होंने दुश्मनो के खिरमने हयात (जिन्दगी का खलिआन) पर आग लगा दी। इनतिकाम (बदला लेने) की आग दायें-बायें भड़क उठी, गर्द गुबार आलूदा हो गयी और आसमानी आग से दुश्मन की सफ (लाइन) का हर फर्द बेचेन था और हर शख्स जहन्नुम (नरक) की आग से जल रहा था। बन्दूको के धुएँ और चिंगारी से कमान कौसोकजह (इन्द्रधनुष) की तरह मुखतलिफ रंगो की नजर आ रही थी।

इस तरह तीन दिन और रातें गुजर गयीं। दोनो तरफ से एक लमहे के लिए भी जग बन्द नहीं हुई।[1] लोमड़ी के मानिन्द इन धोकेबाजो और मक्कारो की चाल-बाजियो को जंगल के शेरो ने नाकाम बना दिया। बिलआखिर जैसा कहा गया है, "काश ! ये काफिर इस हैसियत को जानें कि जब दोजख की आग उनको आकर घेरेगी तब न ये अपने मु ह के आगे और न पीठ के पीछे से उसको रोक सकेंगे,"[2] जुमेरात शाबान 25/975 हिजरी (23 फरवरी 1568 ई0) को आग बरसाने वाले गोलों और तोपो का एक ऐसा सिलसिला जारी किया गया कि, जैसा बताया गया है, "और न उनको कहीं से मदद मिल सकेगी, बल्कि वह (कयामत) एकदम उन पर आमौजूद होगी, फिर उस वक्त न उसको और न उनको मोहलत मिलेगी,"[3] जहन्नुमी लोगो मे मुकाबले की ताब बाकी नही रही। गेबी आवाज, "यदि अल्लाह के दीन की मदद करोगे तो वह तुम्हारी मदद करेगा और तुम्हारे कदमों को जमाये रखेगा,"[4] मुसलमान फोज की होसला अफजाई कर रही थी, और हर लमहे पर ईश्वरीय प्रेरक यह खुशखबरी सुना रहा था: "खबरदार ! अल्लाह की मदद का वक्त करीब आ गया है !"[5]

कीना परवर (दुश्मनी रखने वाले) जंगजू खंजर चलाने वाले बहादुर, जिन्होने दुश्मन को कलाकुया (खतम) करने के लिए कमर कसली थी, खूंरेजी की ज्यादती की वजह से कमर तक खून में खड़े थे। उन्होने यकबार्गी (एकदम) हमला कर दिया और

1. अबुल् फज्ल ने दो रात और एक दिन तक लडाई चलते रहने की बात लिखी है।
2. कुरआन, पारा 17, सूरए अम्बिया, रुकू 3
3. कुरआन, पारा 17, सूरए अम्बिया, रुकू 3
4. कुरआन, पारा 26, सूरए मोहम्मद, रुकू 1
5. कुरआन, पारा 2, सूरए बकर, रुकू 26

वक्त इस्लाम को मानने वाले यह दुआ मांगने लगे, "ए हमारे रब ! हम पर सब्र की पखालें उडेल दे और पावों को साबित कदम रख ! काफिरों के खिलाफ हमारी मदद कर !"[1] और यह जान फूंक देने वाला संदेश स्वर्ग से आया, "तुमको अनकरीब खुदा की तरफ से मदद मिलेगी और फतह करीब है,"[2] काफिरों के मुकाबले में शिगाफों पर कब्जा करने के लिए वे लोग जमाअतों (टोलियों) की सूरतों में आगे बढ़े और अगली सफों (पंक्तियों) में बेखौफ जा खड़े हुए, और इस तरह इनका गुलबा हो गया (छा गये)।

इन्होंने अपनी खूंचुकां तलवारों से राजपूतों के कुश्तों (लाशों) के पुश्ते लगा दिये, और जो कतल होने से बच गये थे वे इधर उधर भागने लगे, "गोया वे जंगली गधे हैं जो शेरों की सूरत देखकर भाग गये हैं।"[3] इनका पीछा किया गया और इन्हें दोजख के सबसे गहरे गड्ढे में डाल दिया गया। उसी समय "असल मदद तो अल्लाह की तरफ से है, वह बड़ा जबरदस्त और हिकमत वाला है"[4] का स्वर्गीय संदेश आसमान से सुनायी दिया और वहां से कामयाबी और खुशकिस्मती का सितारा निकला, और जीत हासिल करने वाली सारी फौज किले में दाखिल हो गयी। "सारे मूर्तिपूजकों को एक साथ कत्ल कर दो",[5] इस न टाले जा सकने वाले हुक्म के मुताबिक, उन मुदाफिईन को (बचाव करने वालों को) जो अब भी मुकाबला कर रहे थे और जिन्होंने दो-दो तीन-तीन सौ आदमियों की जमाअतें बना ली थीं कत्ल कर दिया गया और उनके बच्चों और बीवियों को कैदी बना लिया गया।[6] "अल्लाह ने तुमसे बहुत सी गनीमतों[7] का वादा किया है जो तुम्हारे हाथ आयेंगी"[8] के मुवाफिक बेशुमार नकद और माल गनीमा (लूटे हुए सामान) की सूरत में हाथ लगा'। "सो उन लोगों की जड़ कट गयी जिन्होंने जुल्म किया था। हम्द

---

1 कुरआन, पारा 2, सूरए बकर, रुकू 33

2. कुरआन, पारा 28, सूरए सफ, रुकू 2

3 कुरआन, पारा 29, सूरए मुद्दस्सिर, रुकू 2

4. कुरआन, पारा 4, सूरए आल इमरान, रुकू 13

5. यहां कुरआन से उद्धरण अशुद्ध दिया गया है। शुद्ध रूप यह है, "तुम सब मिलकर मुशरिकों (बहुदेववादी) से लड़ो जिस तरह वे सब मिलकर तुमसे लड़ते हैं।" (कुरआन पारा 10, सूरए तौबा, रुकू 5)। फतहनामा बनाने वाले ने 'लड़ने' की जगह 'कत्ल' जड दिया है, जिससे मतलब बदल गया है। यह ऐसा बहुत ही कम होने वाला मौका है जब कुरआन की आयत को खास मतलब निकालने के लिए गलत तरह से शामिल किया गया है। साफ ही है कि इस दस्तावेज को लिखने वाला इसमें बयान बातों के साथ इस तरह बह गया था कि उसे कुरआन की आयत गलत तरह याद रही।

6. अबुल् फज्ल ने कुछ लोगों को कैदी बनाये जाने की बात बतायी है, लेकिन उसने यह साफ करके नहीं कहा है कि वे बच्चे और बीवियां थीं।

7. शब्दशः। अल्लाह के लिए लड़ी जाने वाली लड़ाई में धर्म-विरोधियों का जो माल इस्लामी सेना के कब्जे में आता है उसे गनीमत कहते हैं।

8. कुरआन, पारा 26, सूरए अल-फतह, रुकू 3

(कृतज्ञतापूर्ण प्रशसा) अल्लाह ही के लिए है जो सारे संसार का रब (संरक्षक, स्वामी तथा व्यवस्थापक) है।"[1]

मीर मोहम्मद खान बहादुर, कुतबुद्दीन मोहम्मद खान बहादुर,[2] दूसरे महान खान और शानदार सुलतान, साथ साथ सैयद, उलमा, शैख, शरीअत के गाजी और दूसरे बड़े लोग, पंजाब सरकार में मौजूद, वहां बसने वाले, चौधरी, कानूनगो, रिआया और मुजारीन (किसान), इस पाक फतहनामा, जो सचमुच आने वाली जीतों का सदेश देने वाला है, में बयान की गयी खुशियो से भरी खबरों से खुश हों और अल्लाह को बेशुमार शुक्रिया पेश करे। ऐसे पाक लमहो में जब इबादत की सुनवाई जरूर होती है, वे हमारे लिए, बादशाहत के सदा बने रहने के लिए, और जिहाद, खुदा की इबादत और दीनों की मदद के वास्ते हममें और ज्यादा क्षमता के लिए प्रार्थना करे। वे बराबर इस बात का इन्तजार करें कि हर रोज नयी से नयी जीत और कामयाबी के दरवाजे हमारे सामने खुलते रहेगे।

चित्तौड़ का बन्दोबस्त करने के बाद हमने दारुलखिलाफा (राजधानी आगरा) के लिए कूच किया।

> घोड़ा रान के नीचे है और फतहमन्दी का छत्र सर के ऊपर।
> फतह और नुसरत आगे पीछे है, और खुदा की मदद रहबर (रास्ता दिखाने वाली) है।

खुदा ने चाहा तो इन्ही चन्द रोज में हम राजधानी पहुंचेंगे। इस सलतनत के रुक्न (सदस्य) का निहायत शरीफ दिल पसंदीद हालात के इन्तेजाम में मुतवज्जह रहकर तमाम सलतनत के बिहीखुवाहो के अम्नो अमान हासिल करने में अपनी कारकिरदगी जानकर हमेशा तफसीली हालात और वाकिआत हमारी बारगाह में अर्ज करता रहे और जो मकसद हो अर्ज मे पहुंचाता रहे ताके कुबूल हो।

बलंद दफ्तर से (हमेशा हुक्म जारी रहे) मकाम अजमेर रमजानुलमुबारक के महीने की दसवी तारीख 975 हिजरी (9 मार्च 1568) को लिखा गया।

●

फतहनामा-इ-चित्तौड़ को पहली बार एक इतिहास-पुस्तक में प्रकाशित किया जा रहा है। इस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक दस्तावेज की एक मात्र उपलब्ध प्रति अलीगढ़

1. कुरआन, पारा 7, सूराए अल अनआम, रुकू 5
2 फतहनामा सलतनत के तमाम हाकिमो को भेजे जाते थे ताकि जीत के सही हालात उनको भी मालूम हो, और उनमे उससे उत्साह बढे। यह दोनो शमसुद्दीनखान अटका के भाई थे, और इस वक्त पजाब मे तैनात थे। इनके नामो के आगे-पीछे फतहनामा मे बहुत से विशेषण लगाये गये थे, जिन्हे यहा नही दिया गया है।

मुस्लिम विश्वविद्यालय के मौलाना आजाद पुस्तकालय में उपलब्ध है, जहां से इसे प्राप्त करने में वहां के हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० गोवर्धन नाथ शुक्ल ने बहुत सहायता की। मूल फारसी की नकल और अधिकांश का उर्दू में अनुवाद वहां के इतिहास विभाग के उपाचार्य (रीडर) डा० मोहम्मद उमर ने किया है, और जो अंश बच गया था उसका अनुवाद जयपुर में हाफिज मोहम्मद अय्यूबखान 'कमर' और जनाब अब्दुल हुई शमीम की मदद से किया गया है। पाद-टिप्पणियां डा० इश्तिआक अहमद जिल्ली के लेख और जनाब मुहम्मद फारूक खान के किये कुरआन मजीद के हिन्दी अनुवाद की सहायता से तैयार की गयी हैं।

# अकबर शेरशाह का उत्तराधिकारी था

अकबर हुमायू का पुत्र था, परन्तु उसे उत्तराधिकारी शेरशाह और उसके पुत्र इस्लाम शाह का मानना चाहिये ।

दस साल शासन करने के बाद हुमायूं को शेरशाह का सामना करना पड़ा । 1540 मे पहले चौसा और बाद में कन्नौज के युद्ध मे वह शेरशाह के सामने टिक नही सका, और दोनो बार मैदान से भागकर उसने अपनी जान बचायी । बाबर से उसे भारत का साम्राज्य अव्यवस्थित और असगठित रूप मे प्राप्त हुआ था, विद्रोही सिर उठाये हुए थे, कोश और सेना निर्बल थी । हुमायूं अपनी अयोग्यता के कारण स्थिति को नही सम्हाल सका, और उसे भारत से भागना पड़ा । मुगल साम्राज्य सूर शासक शेरशाह के हाथ लगा । हुमायूं के फारस पहुँचने के पहले भारतीय रेगिस्तान के मध्य अमरकोट में हुमायूं के पुत्र और भारत के भावी महान सम्राट अकबर का जन्म हुआ । परन्तु भारत का राज्य अभी दूर था, इन पिता-पुत्र के बीच अभी एक अन्य पिता-पुत्र आ खड़े हुए, और उन्होने तेरह वर्ष के अपने स्वल्प शासन-काल मे भारत पर अपनी शक्ति, दृढ़ता और महत्वाकांक्षा की ऐसी छाप डाली कि अकबर से उनका अनुसरण करते ही बना ।

शेरशाह ने भारत पर पाँच वर्ष और इस्लाम शाह ने आठ वर्ष राज्य किया । 1555 मे हुमायूं का दिल्ली पर फिर से अधिकार हो गया, परन्तु उसमे इस विशाल देश को नया रूप अथवा अपने शासन को दृढ़ आधार देने की क्षमता नही थी; फिर उसे सिर्फ सात महीने इस काम के लिए मिले, न उसने कुछ किया, न वह कुछ कर सकता था, वह 'जीवन भर लड़खड़ाता रहा और लड़खड़ाते-लड़खड़ाते उसकी मृत्यु हुई' ।

शेरशाह ने बहुत फुर्ती से प्राय सारे उत्तर भारत पर अपना आधिपत्य जमा लिया, बगाल से लेकर सिन्ध तक उसका पूरा दबदबा था । इस्लाम शाह यद्यपि अपने पिता के साम्राज्य को बहुत बढ़ा नही सका, लेकिन उसकी नीतियों का अनुसरण करके उसने भारत पर सूर-साम्राज्य की छाप छोड़ने मे पूरा योगदान किया । अतएव नीतियों की दृष्टि से इन दोनो के राज्यकाल को एक ही परम्परा मानकर चला जाता है । और अकबर पर इस परम्परा का इतना प्रभाव पड़ा कि इतिहासकार को अकबर के जन्म पर कहना पड़ा कि नवम्बर 1542 की जिस घड़ी मे हमीदा बानू ने अकबर को

जन्म दिया वह मध्ययुगीन भारत के लिए सबसे भाग्यशाली सिद्ध हुई। "हमीदा के इस बच्चे के जन्म पर शेरशाह को, हुमायूं से किसी भी तरह कम नहीं, बधाई दी जानी चाहिये, क्योंकि इस बच्चे के भाग्य में तैमूरी राज्य के खण्डहर से अधिक शेरशाह के भारतीय साम्राज्य का योग्य उत्तराधिकारी होना लिखा था। अकबर नहीं होता तो भारतीय इतिहास में शेरशाह को समुचित स्थान नहीं मिलता।"[1]

रशब्रुक विलियम्स ने भी इस बात पर जोर दिया है, "तैमूर के कुल के लिए यह परम सौभाग्य की बात थी कि वह अंततः अपनी विजय की थाती को पुनः प्राप्त कर सका जो अफगान शेरशाह के कृत्यों के कारण और भी मूल्यवान बन गयी थी। शेरशाह विशिष्ट मौलिकता युक्त प्रशासक था, जिसने बिना स्वय जाने मुगलो के लिए उस प्रशासनिक ढांचे को खड़ा कर दिया जो राज्य सत्ता की उनकी नयी कल्पना की सफलता के लिए आवश्यक था, परन्तु स्वय वे उसे बना नही पा रहे थे।"[2]

"यदि शेरशाह को दस वर्ष और मिल जाते तो कदाचित वह साम्राज्य का न हिलाया जा सकने वाला ढांचा बना लेता और ऐसे प्रशासनिक सुधार आरम्भ कर देता कि उसके दस वर्ष बाद अकबर के लिए कुछ करने को ही नहीं बचता। पांच साल और पांच दिन का शासनकाल ही शेरशाह को अकबर के बाद मध्यकालीन भारत का सबसे बड़ा शासक बनने के लिए पर्याप्त हो गया था, और यह कठिन समस्या-सी विचारणीय बात है कि यदि उसे जीवन के पचास वर्ष और मिल जाते तो वह अकबर से बराबर बैठता या उससे भी ऊँचा निकल जाता।"[3] "शेरशाह का शासनकाल स्वल्प ही था, परन्तु जैसा कि बाद के इतिहास से सिद्ध हो जाता है उसका महत्व उतना ही अधिक और दीर्घकालीन था जितना कि अकबर के पचास साल के शासनकाल का। उसके बाद शेरशाह के वंश के हाथ में शासन मुश्किल से दस साल रहा परन्तु जो भारतीय साम्राज्य उसने अपनी तलवार से गढ़ा और जिसे उसने अपनी राजनीतिज्ञता से स्वरूप दिया, उसमें से बहुत दिनो तक बनी रहने वाली संस्थाओं ने जन्म लिया, जो स्वामियो के परिवर्तन के उपरान्त भी, पहले मुगल और बाद में अंग्रेज, बढ़ती और विकास प्राप्त करती रही।"[4]

"सूरों का प्रभुत्व केवल डेढ़ दशक (1540–1556) रहा। फिर भी, उनका उत्थान भारतीय इतिहास का महत्वपूर्ण युग माना जायगा। पुराना राजनीतिक ढांचा गिर रहा था, और 'राजा ही सर्वशक्तिमान' सिद्धान्त के लिए मार्ग प्रशस्त हो रहा था। इन्हीं वर्षों में शासन में हिन्दुओं को पद देकर, सरायो में उनके पीने के लिए पानी का प्रबन्ध करके, दोनों सम्प्रदायो के सम्बन्धो को सुधारा गया। इस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम

---

1 कानूनगो, पृष्ठ 371
2 श्री राम शर्मा, मुगल, पृष्ठ 121
3 कानूनगो, पृष्ठ 433
4 वही, पृष्ठ 435

मेल, जो अकबर के युग की विशिष्टता बन गयी, ईन वर्षों में जड़ें पकड़ चुका था। सबसे बड़ी बात यह है कि समान कानून और शासन-प्रबन्ध, समान उपयोग के लिए सराय और सड़कों की शृंखला से देश की एकता की स्थापना मे सहायता मिली, और समान राष्ट्रीयता के प्रति चैतन्यता होने लगी।

"इस्लाम शाह ने हिन्दुओं के प्रति उदारता की अपने पिता की नीति को जारी रखा, उसके द्वारा स्थापित सुयोग्य शासन-प्रबन्ध को और भी विकसित किया और इस्लाम में सुधारवाद प्रेरित किया; हेमू और उसके सहायक रामया तथा भगवानदास का उत्थान, जिससे राजा मानसिंह और टोडरमल की भावी प्रतिष्ठा का पूर्वाभास हो गया, उसी के समय में हुआ। यह अब निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है कि अकबर-कालीन शासन की अनेक उपलब्धियां—शासन में सम्राट की सर्वोच्चता की स्थापना, राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास, प्रशासनिक एवं सैनिक संगठन—उस युग के ठीक पहले जड़े पकड़ने लगी थीं। अब यह कहना अत्योक्ति नहीं होगी कि सूर सुल्तानों के शासन के बिना 'अकबर युग' आ ही नहीं सकता था।"

"इस्लाम शाह मध्ययुगीन भारत का अत्यन्त सुयोग्य और सुसंस्कृत सम्राट था। धार्मिक कट्टरता के युग में उसने उदार सार्वजनिक नीति का अनुसरण किया। सदकार्य और मुक्तहस्त दान के सराहनीय उदाहरण उसने प्रस्तुत किये। सम्राट बनने योग्य सद्गुण इस्लाम शाह में प्रचुर मात्रा में थे। इस्लाम शाह के समय में राजत्व सामन्ती स्वरूप छोड़कर आधुनिक बन गया। प्रादेशिक सूबेदारों की सत्ता छिन जाने से वे दिल्ली के सुल्तान के दरबारी बन गये। अपने समय के सबसे ऊँचे विद्वान दरबार की ओर खिंच आये। इस्लाम शाह विद्वानों, योग्य व्यक्तियों, धर्म-शास्त्र-ज्ञाताओं और साधु पुरुषों की संगति मे बड़ी रुचि लेता था। विद्वानों के प्रति उसकी दानशीलता की कोई सीमा नहीं थी। धर्म-शास्त्रवेत्ता सुल्तानपुर के मौलाना अब्दुल्ला एक बार जब दरबार में आये, इस्लाम शाह अपनी गद्दी से उठ गया, उन्हें अपनी जगह बैठाया, और उन्हें बीस हजार रुपये की मोतियों की माला भेंट की। संगीत ने भी उसके समय मे बहुत उन्नति की। अकबर के समय का अत्यन्त प्रसिद्ध संगीतज्ञ रामदास और अपने समय का सबसे प्रतिष्ठित संगीतज्ञ मुबारिज खान इस्लाम शाह के समय में ही हुए है।

"प्रशासनिक अधिकारियों का सुगठित ढांचा, कानून जो समान रूप से सारे राज्य में लागू किये गये थे, बुद्धि और मस्तिष्क, संस्कृति और परिष्कार से चोटी पर पहुँचे लोगों की संगति की सहायता से इस्लाम शाह ने एक नवीन प्रकार के राजत्व का स्वरूप निर्धारित किया जिसने अकबर के जाज्वल्यपूर्ण व्यक्तित्व में पूर्णता प्राप्त की। महान योद्धा, सुयोग्य प्रशासक, उदार चेता तथा वास्तव में आधुनिक राजा, इस्लाम शाह के कम प्रसिद्ध व्यक्तित्व के सम्बन्ध में निर्माणाधीन नवीन भारत को अधिक ध्यान देना चाहिये।"[5]

---

1. राय, 104, भूमिका, 62–64

"हेमू के साथ सूर शासन का अंतिम महान प्रतिनिधि उठ गया, और परमात्मा ने इस तरह रास्ता साफ कर दिया शासन संचालन-प्रतिभा में शेरशाह के योग्यतम उत्तराधिकारी–अकबर महान–के लिए।"[1]

हुमायूं से ही शेरशाह ने साम्राज्य हस्तगत किया था, और अकबर ने भी, परन्तु अकबर ने अनुसरण अधिक शेरशाह का किया, जो हर तरह हुमायूं से अधिक प्रभावशाली था। शेरशाह अफगानो में योग्यतम प्रशासक और सैन्य संचालक हुआ है। "सिन्धु नदी के किनारों पर शेरशाह मरा नही है, आम आदमी की यादो में वह अभी भी जैसा का तैसा जिंदा है।"[2]

जब शेरशाह अपनी जयजयकार के बीच दिल्ली पहुँचा उसका जैसा स्वागत भारत की राजधानी में हुआ वैसा बीस वर्ष बाद पहुँचने पर अकबर का नहीं हो सका। हो भी नहीं सकता था। शेरशाह के पहुँचने पर वहां की एक वृद्धा ने कहा था, 'अंततः दिल्ली को एक पति प्राप्त हो गया है।' अकबर की उम्र दिल्ली पहुँचने पर पुत्र होने की थी। मलिक मोहम्मद जायसी की उक्ति 'बादशाह तुम जगत के, जग तुम्हारे मुहताज' सिर्फ 'पद्मावत' में मुद्रित नहीं है, अब भी वह हिन्दुस्तान भर में गूँज रही है। "शेर और जायसी के अपने पूर्ण गौरव में एक साथ उदय की शुभ घटना ने अकबर और तुलसीदास के युग का समारम्भ किया। जैसे शेर ने अपने से भी बड़े सितारे–अकबर–के लिए उसके प्रारम्भिक समय का शुभारम्भ किया, उसी तरह जायसी ने तुलसीदास के लिए अवधी बोली की विशिष्टता खोज निकाली, जिसका आने वाली पीढ़ियों में हिन्दी पर दबदबा रहा।"[3] अबुल् फज्ल ने सही ही हुमायूं की 'शिकस्ती' (हार) को दुनियां की 'दुरुस्ती' कहा है, क्योंकि शेरशाह ने शासन के हर क्षेत्र में वास्तव में 'दुरुस्ती' कर दिखायी।

भारत का प्रभुत्व प्राप्त करने के पहले शेरशाह का बंगाल में शासन था। वहां उसने उन नीतियों का परिचय दिया जिन्होने उसे भारतीय सम्राट के रूप में अविस्मरणीय और अकबर के लिए अनुकरणीय बना दिया। बंगालियों को अपने मुस्लिम शासक से शिकायत नहीं थी। प्रशासनिक परिवर्तनो का प्रभाव उनके धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन पर कम ही पड़ता था। इस्लाम के प्रचार में प्रशासन का सीधा हाथ नहीं था, आन्तरिक प्रबन्ध हिन्दू जमीदारों के ही हाथो में रहने दिया गया था, जिससे बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा को अपने रीति-रिवाज अपनी तरह मनाने में कोई दिक्कत नहीं होती थी। सैनिक हो या असैनिक, शासन के ऊँचे से ऊँचे पद हिन्दुओ के लिए भी खुले थे, और फारसी भाषा पर कई हिन्दुओं ने अपने समय के मुसलमानो से भी अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया था।

---

1. कानूनगो, पृष्ठ 449
2. वही, भूमिका, पृष्ठ 13
3. वही, पृष्ठ 251

भारत का साम्राज्य प्राप्त कर लेने के बाद शेरशाह ने, और उसके पुत्र इस्लाम शाह ने, हिन्दुओं से मेल-जोल और उनका उपयोग करने की नीति को और भी विकसित किया। "धार्मिक और राजनीतिक दकियानूसीपन दूर करने के बहुत ही मुश्किल काम में, तीन सौ साल से धार्मिक आधार पर संगठित शासन-प्रणाली के अन्तर्गत जड़ जमा लेने वाली परम्पराओं से मुक्त होने के काम में, शेरशाह को वह सुविधाएं नहीं प्राप्त हुई थीं जो स्वयं वह और उसके उत्तराधिकारी मुगलों के लिए छोड़ गये थे।"[1]

इस पृष्ठभूमि में यह उल्लेखनीय है कि यह मेल-जोल शेरशाह के समय में ही इतना ज्यादा हो गया था कि उसके पुत्र को अपने संरक्षण के लिये रीवा के राजा की सहायता लेनी पड़ी, जैसी कि आगे चलकर अकबर के पौत्र को मेवाड़ के महाराणा से लेनी पड़ी। जिस तरह अकबर अपनी जाति के लोगों से डरकर हिन्दुओं के अधिक निकट आया था, उसी प्रकार इस्लाम शाह भी, और उसने अपने सजातियों को आतंकित करने के लिए बहुसंख्यक हिन्दुओं की सेना संगठित की थी। एक ओर उसने हिन्दुओं को सैनिक तथा सेनानी बनाया, दूसरी ओर 'विशाल काय' और 'घमंड भरे' अफगानों का मानकोट का किला बनाने में साधारण श्रमिकों के समान उपयोग किया। अफगानों को गैर सैनिक प्रशासन से भी उसने दूर कर दिया, ऊँचे से ऊँचे पद हिन्दुओं को दिये। बड़ी संख्या में हिन्दू प्रशासन के सब अंगों पर छा गये। एक कहानी कही जाती है। एक ने एक सपना देखा, स्वर्ग से तीन थैलियां चली आ रही हैं, एक राख से, एक सोने से और एक कागजों से भरी थी। राख से भरी थैली सैनिकों के सिर पर, सोने से भरी दफ्तरों में काम करने वाले हिन्दुओं के घरों पर, और कागज से भरी शाही तिजोरियों पर पहुँचकर अपने आप उलटकर खाली हो गयीं। इतनी चिढ़ हिन्दुओं से उनके ऊँचे-ऊँचे पदों पर पहुँचने के कारण हो गयी थी। यह कम लोगों को मालूम है कि जिस टोडरमल ने अकबर के समय में इतनी ख्याति प्राप्त की उसका 'आविष्कार' शेरशाह ने ही किया था, और इस्लाम शाह एक अन्य हिन्दू हेमू को इतना अधिक आगे लाया कि इस सूर सम्राट की मृत्यु के बाद शासन और सेना की बागडोर उसी के हाथ में पहुँच गयी, और अकबर को अपने जीवन की पहली लड़ाई उसी से लड़नी पड़ी। "सूर शासन में हेमू ने जो स्थान बना लिया था उसका तो स्वप्न भी मुगलों के अधीन राजा मानसिंह कछवाहा अथवा कोई और हिन्दू नहीं देख सकता था।"[2]

अकबर धर्म और राजनीति के बीच वैसा स्वस्थ भेद नहीं रख सका, जैसा इन दोनों सूर सम्राटों ने निभाया था, जबकि वास्तविकता यह है कि शेरशाह अकबर से कहीं अधिक अच्छा और पक्का मुसलमान, और अपने धर्म का कहीं ऊंचा ज्ञाता था। जिन विद्वान मुस्लिम अधिकारियों को सूर शासन में ऊंचे स्थान मिले थे, उन्हें

---

1 कानूनगो, पृष्ठ 434
2 वहीं, पृष्ठ 413

अकबर के शासन में परेशानी उठानी पड़ी,परन्तु शेरशाह ने कभी अपने 'शेख-उल-इस्लाम' को शासन-प्रबन्ध के सम्बन्ध में परामर्श नहीं देने दिया। शासन सम्बन्धी आदेश बिना उलोमाओं की सम्मति प्राप्त किये निकलते थे, कभी यह नही सोचा जाता था कि शरिअत ने उनके लिए इजाजत दी है या नहीं। एक शेख की शिक्षाएं जब समाज को जड़ों से झकझोरने लगी, उसे गिरफ्तार करके कोड़ो से पीटा गया। सारे सूर साम्राज्य में जो शांति, उन्नति और समृद्धि थी उसके मूल में यही दृढ़ परन्तु उदार नीति थी। जिस प्रकार अकबर के पुत्र जहांगीर ने शासन सम्हालते ही स्मरणीय आदेश प्रसारित किये, उसी प्रकार शेरशाह के पुत्र इस्लामशाह ने किये थे, जिन्हें आज भी जन-उपयोगी निर्माण-कार्य तथा स्वस्थ सुगठित शासन का आधार बनाया जा सकता है।

इनमे ही एक आदेश था कि सारी भूमि साम्राज्य की 'खालिश-ए-खुद है, सैनिको को वेतन नगद रुपयो में दिया जायेगा। अकबर ने भी आगे चलकर ऐसा किया।

अकबर जिस प्रकार हिन्दू के साथ मुसलमान, मुसलमान के साथ हिन्दू को महत्वपूर्ण सैनिक अभियानों तथा प्रशासनिक प्रबन्धो पर लगाकर संतुलन बनाये रखता था, उस प्रणाली का प्रारम्भ भी सूर शासन में हो गया था। अकबर के लिए जिस प्रकार हिन्दू और मुसलमान मिलकर लड़े, उसी प्रकार सूर सेना में भी लड़ते थे। हेमू उस सूर सेना का सेनापति था जिसने मुगल सेना का सामना किया, और इस युद्ध में हारकर भी, जिसका कारण वास्तव में एक दुर्घटना मात्र थी, उसने भारत के इतिहास में अपना नाम सुरक्षित कर लिया। इस 'सूर-शासन के स्तम्भ' के सम्बन्ध में कहा गया है कि किसी राजपूत ने कभी किसी विदेशी आक्रमक के विरुद्ध इतनी वीरता नहीं दिखायी, किसी के शरीर पर—सिवा राणा सांगा के—युद्ध भूमि पर इतने गौरवशाली घाव नहीं लगे। हेमू के हाथ मे, एक हिन्दू के हाथ में, सूर-साम्राज्य की बागडोर थी जब मगल सम्राट अकबर ने उसे हस्तगत किया।

अकबर ने अपना उत्तराधिकार अपने पोते को देना चाहा था, यही शेरशाह का प्रयत्न हुआ था—'एक दादा की कमजोरी जिससे खुदा का पैगम्बर भी नहीं बच पाया था," परन्तु दोनों को पुत्र ऐसे प्राप्त हुए जिन्होने उनका उत्तराधिकार ही नहीं प्राप्त किया उनकी परम्परा को और अधिक प्रतिष्ठा दी, यद्यपि धार्मिक सहिष्णुता की दोनों में अपने पिताओ की तुलना मे कमी थी।

शेरशाह की नीति, जिसे बाद में अकबर ने भी निभाया, सबल और संपूर्ण केन्द्रीभूत शासन की थी। दोनो कभी उद्दंड विद्रोहियों को नहीं बख्शते थे, उनकी जान लिये बिना उन्हें चैन नहीं मिलता था।

भूमि का विभाजन विभिन्न 'सरकार' में करने की प्रणाली का प्रारम्भ शेरशाह ने बंगाल में किया था। बाद में शेरशाह ने अपना सारा साम्राज्य सरकारों मे बांट दिया। अकबर के समय में यही 'सरकार' शेरशाह के लिये नामों के साथ चलती

रहीं। टोडरमल ने अपने राजस्व-सुधार मूर शासन द्वारा स्थापित व्यवस्था की भूमिका पर ही किये। सरकारी कर्मचारियों का मनसब के आधार पर संगठन करने और राजकीय सेवा में लगे घोड़ों पर दाग लगाने की प्रथा शेरशाह ने शुरू कर दी थी। वास्तव में तो सारी मुगल शासन व्यवस्था शेरशाह की प्रणालियों पर आधारित थी, और उसी को बहुत करके भारतीय स्वतंत्रता के पहले हैदराबाद और जयपुर जैसी रियासतों में देखा जा सकता था।[1]

शेरशाह ने अपने शासन में बंगाल में पठानों को ही नहीं, उत्तर भारत से आये राजपूतों को भी बसाया। पठान स्थानीय हिन्दू नागरिकों द्वारा 'विदेशी' नहीं माने जाते थे, लेकिन मुगलों को वहां लोग 'विदेशी' मानते थे। जब अफगान सत्ता का अन्त हो गया, वह अफगान आसानी से हिन्दू जमींदारों के अधीन काम करने लगे, और उनके साथ-साथ मुगलों से आखिरी दम तक लड़ते रहे।[2]

शेरशाह ने बंगाल में कई नयी बस्तियां बनायीं, और उनमें से कई को अपना नाम दिया। अकबर के समय में यही हुआ। आंबेर के राजा मानसिंह तक ने अपनी सूबेदारी में ऐसा किया।

राजस्थान में शेरशाह के समय में मारवाड़ का महत्व था, अकबर के समय में मेवाड़ का। शेरशाह ने अन्य क्षेत्रों में अपना साम्राज्य सुदृढ़ करने के उपरान्त ही मारवाड़ पर हाथ उठाया, अकबर ने भी मेवाड़ पर आक्रमण करने के पहले अपनी स्थिति इसी प्रकार दृढ़ की। कालिंजर को लेकर स्थिति उलट गयी। शेरशाह ने कालिंजर का किला चित्तौड़ के बाद जीता, और अकबर ने चित्तौड़ के पहले, यद्यपि मूलतः अकबर ने भी वही क्रम रखा था। रणथम्भौर दोनों ने चतुरता से लिया। हारे हुए शत्रु के प्रति उदारता की 'बुद्धिमत्तापूर्ण' एवं 'मानवोचित' नीति, जिसने अकबर को इतनी प्रसिद्धि दिलायी, वास्तव में शेरशाह द्वारा आरम्भ करदी गयी थी।[3]

शेरशाह और अकबर के बीच में समय का बहुत अन्तर नहीं है। अतएव दोनों को राजस्थान की आन्तरिक परिस्थिति प्रायः समान स्वरूप में मिली। "सोलहवीं शताब्दी के पहले पश्चिमी राजस्थान का इतिहास, सुनने वाले को बीमार कर दे ऐसी, राजपूतों के आपसी रक्तरंजित द्वन्द्वों और क्रूरतापूर्ण पापकर्मों की, उनकी महिलाओं द्वारा स्वयं अपने को जला देने की वीरता की, कृषि और व्यापार के विनाश के कारण आम आदमी की पीड़ा की, कहानी है। समाज में बोलबाला था कलह और गृह युद्ध का, शराब और अफीम का, औरतों में लिप्त रहने और अपनी प्रशंसा गाने वालों से घिरे रहने का। देशभक्ति की भावना, चाहे वह वंशानुगत हो, या जातिगत, अथवा प्रादेशिक, राजपूत के 'वैर' (बदला लेने की पैतृक भावना) निकालने अथवा 'भूमि'

1. कानूनगो, पृष्ठ 313
2. वही, पृष्ठ 321
3. वही, पृष्ठ 335

(पैतृक राज्य) की रक्षा करने के आगे टिक नहीं पाती थी। कोई भी वंश या वर्ग अपने प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त करने के लिए विधर्मी विदेशियो को आमंत्रित करने से जरा भी झिझक नही दिखाता था। सारी भूमि कलह और कटा-जुझ से कराह रही थी। सोलंकी परमार के विरुद्ध हो रहा था, परमार भाटी के, परिहार चौहान के तथा राठौर आपस ही में एक दूसरे के, तथा हर अन्य कुल के। राठौड़ो का आरम्भिक इतिहास विश्वास-घात और पाप कर्मो के आधार पर राजपूत सत्ता के विकास का अच्छा उदाहरण है, ऐसी बातो से भरा जिनसे आधुनिक युग तो कांप उठे।"[1] "देश में होने वाले बाह्य आ मणो एवं राजपूत राजाओ के पारस्परिक युद्धो के कारण तत्कालीन राजनीतिक स्थिति पूर्ण अनिश्चित थी। मध्य युग में विदेशी सत्ताधारियों के राज्य-विस्तार के लोभ एवं राजपूतों के पारस्परिक वैमनस्य तथा फूट के कारण यह स्थिति अधिकाधिक संघर्षपूर्ण बनती गयी। उत्तर-पश्चिम से आने वाले मुसलमान आक्रमणकारियों ने देश की कमजोरी का लाभ उठाकर उत्तरी भारत में अपनी सत्ता कायम की।"[2] इस स्थिति का अपना शासन राजस्थान में जमाने में शेरशाह ने पूरा लाभ उठाया,[3] और अकबर ने भी।

अकबर की तरह, शेरशाह भी आक्रमण को आरक्षण का सबसे उत्तम उपाय मानता था।[4] इसीलिए दोनों सारे जीवन प्रायः लड़ाइयो ही में लगे रहे। दोनो की यह विशेषता है कि इतने युद्ध अभियानो में व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने इतना रचनात्मक योगदान भारतीय शासन प्रणाली और परम्परा को प्रदान किया।

जिस प्रकार चित्तौड़ अकबर के चरित्र पर धब्बा है, उसी प्रकार रायसेन शेरशाह के चरित्र पर; एक की जघन्यता दूसरे से कोई कम मानेगा, कोई ज्यादा, परन्तु जिस प्रकार विश्वासघात करके शेरशाह ने रायसेन दुर्ग से निकले निरीह लोगो का कत्ले आम होने दिया उसके कारण उसके परम प्रशसक भी उसकी असदिग्ध निन्दा करते है। चित्तौड़ में किये नर-संहार के लिए अकबर की भी इतनी ही कड़ी निन्दा की जाती है।

सैनिक अभियानों का आरम्भ शेरशाह जिस तरह परोक्ष रूप में, शिकार जैसा कोई न कोई दूसरा बहाना बनाकर करता था, उसी प्रकार अकबर भी करने लगा। पूर्ण आक्रमण और पूर्ण विजय ही दोनों का लक्ष्य रहता था। साथ-साथ दो समान सत्ताओ का अस्तित्व दोनों को स्वीकार्य नहीं था। इसका एक मात्र विकल्प था ऐसा संग्राम जो समानान्तरता का स्वप्न देखने वाले का सम्मान चकनाचूर करके ही शान्त हो। मालदेव के विरुद्ध शेरशाह ने जितनी सफलता प्राप्त की, प्रताप के विरुद्ध अकबर को नहीं मिली, लेकिन प्रयत्न दोनो का एक समान था। मालदेव पर विजय

---

1 कानूनगो, पृष्ठ 346
2 लालस, पृष्ठ 105
3 कानूनगो, पृष्ठ 350
4 वही, पृष्ठ 367

का उपहार एक के बाद एक दुर्ग का पतन, उसी प्रकार शेरशाह को मिला, जिस प्रकार अकबर को चित्तौड़ के पतन के बाद प्राप्त हुआ। अजमेर को राजस्थान पर देखरेख रखने के लिए शेरशाह ने चुना था, अकबर ने इसकी उपयोगिता वहां बार-बार पहुंचकर स्वीकार की।

अकबर ने एक विषय में शेरशाह का अनुसरण नहीं किया, और उसी में उसे नीचा देखना पड़ा। चित्तौड़ के आत्मसमर्पण के बाद शेरशाह ने महाराणा उदयसिंह की अपमानपूर्ण उपस्थिति पर जोर नहीं दिया, मेवाड़ का एक भाग साम्राज्य के अधीन हो जाने के बाद भी मेवाड़ाधिपति को उसके शेष राज्य मे स्वतन्त्र रहने दिया। सामरिक दृष्टि से यह शेरशाह ने आवश्यक नहीं माना, अकबर इस पर निरर्थक अड़ा रहा। हुआ यह कि अकबर को अपनी इस महत्वाकांक्षा पूरे किये विना इस संसार से विदा लेनी पड़ी, जबकि शेरशाह को संतोष रहा कि उसने जितना चाहा प्राप्त कर लिया। 'राजपूत जाति के प्रति दिल्ली के सुलतानों ने आरम्भ से दमन की जो नीति अपना रखी थी उसका अन्तिम चरण शेरशाह का अभियान था, साथ ही शक्तिशाली भारतीय सम्राज्य की स्थापना एवं सुरक्षा के लिए मेलजोल तथा सम्मानशील सहयोग की जिस नीति का उसने आरम्भ किया उसका यह पहला चरण था।' 'अब राजपूताने में साम्राज्यवादी शांति का, और शानदार सामन्तवाद का, एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। अब राजपूतो के भाग्य में कभी नहीं उठना और कभी आत्मसम्मान एवं आत्मनिर्भरता प्राप्त नहीं करना लिखा था।'

शेरशाह और अकबर दोनों विजेताओं के भाग्य दो किलो की दृढ़ और ऊंची चट्टानी दीवालो से जिस तरह टकराये उसमें भी इतनी समानता थी कि वर्णनकार को शेरशाह के प्रयत्न के सम्बन्ध में लिखना पड़ा कि 'इतना अधिक श्रम और इतना अधिक व्यय लगा कि अकबर द्वारा चित्तौड़ की घेरेबन्दी की कठिनाइयां आँखो के आगे आ जाती हैं, जहां उस क़िले के बाहर एक छोटा चित्तौड़ (चित्तौड़ी) उन श्रमिको को संरक्षण देने के लिए खड़ा करना पड़ा था जो तोपें चढा रहे थे। इस विशाल यात्रा मे धन एवं मनुष्य-शक्ति के शेरशाह के अचल निश्चय के साथ होने पर ही प्रकृति और दुर्गरक्षकों की दृढ़-प्रणी वीरता ने जो कठिनाइयां खड़ी कर दी थीं उन्हे दूर किया जा सका।' चित्तौड़ राजस्थान मे हैं, कालिंजर उत्तर प्रदेश में, दोनो से दोनो को टकराना पड़ा था। परन्तु ईश्वर अकबर के साथ था। जहां शेरशाह कालिंजर के लिए लड़ते-लड़ते ही मर गया, चित्तौड़ ने अकबर को अपने से दूने गौरवशिखर पर जा बैठाया। दोनों ने विजयें अवश्य प्राप्त कीं, परन्तु जहां शेरशाह को सिर्फ पांच साल का शासन काल मिला वहां अकबर को पचास साल का, और हो यह गया कि शेरशाह ने जो किया, जिन नयी नीतियों का श्रीगणेश किया, उनका लाभ और उनकी कीर्ति अकबर की चमचमाती चादर से ढक गयी। अकबर की इतनी चली कि उसे आज 'महान भारतीय सम्राट' कहकर जगह-जगह सम्मानित किया जा रहा है, जबकि सत्य यह है कि वह

और उसके पिता-पितामह भारत मे विदेशी आक्रामक के रूप में आये थे, उनकी जाति इतिहासकारों ने स्पष्टतः विदेशी मानी है,[1] और कहा है कि मुगल हिन्दुस्तान में उस समय अजनबी थे, जो अपनी बकरी-सी दाढ़ी और छोटी-छोटी आँखों के कारण स्थानीय निवासियो में छिप नहीं पाते थे।[2]

---

1 कानूनगो, भूमिका, पृष्ठ 6
2. वही, पृष्ठ 253

# अकबर के समय में आर्थिक अवस्था

"भारत के आर्थिक जीवन के विशेष लक्षण हैं अपर्याप्त उत्पादन और दोषपूर्ण वितरण। आर्थिक वातावरण ने जो दिशा पकड़ रखी है उससे उत्पादन के लिए उत्साह और भी कम होगा, और वितरण के वर्तमान दोष और भी बढ़ेंगे। परिणामस्वरूप ऐसा समय आने की आशंका है जिसमें दरिद्रता बढ़ती ही जायेगी।"—यह आलोचना भारत की है, परन्तु आधुनिक भारत की नहीं, अकबर के समय के भारत की और आलोचक हैं आई.सी.एस. अफसर श्री डब्लू.एच. मोरलैंड, जिन्होंने इस शताब्दी के पहले दशक में अकबर के समय का, और उसके बाद औरंगजेब के समय तक का, आर्थिक अध्ययन किया था। उनकी दोनों पुस्तकें मिलकर आज भी मुगलकाल का अन्यतम आर्थिक इतिहास मानी जाती हैं। इनसे पूर्व अथवा पश्चात लिखी किसी पुस्तक में श्री मोरलैंड की पुस्तकों में प्रस्तुत तथ्यों, तर्कों और मन्तव्यों का असाध्य खंडन नहीं हुआ है। अतएव अकबर के समय के आर्थिक जीवन के अध्ययन के लिए इन्हें आधार-ग्रंथ माना जाना चाहिये।

मोरलैंड की उपरोक्त उक्ति उनके सारे अध्ययन का सारांश है,[1] और किसी भी शासन व्यवस्था की इससे कड़ी आलोचना क्या हो सकती है! अकबर के समय के भारत के सम्बन्ध में उनका संक्षिप्त परन्तु स्पष्ट मन्तव्य है: 'वह अत्यन्त ही निर्धन था'[2]

अकबर के पहले दिल्ली पर सुलतानों का आधिपत्य था, जिनके समय में 'अधिकृत प्रदेश के क्षेत्रफल के अभिवर्धन के साथ ही साथ सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से भी अधिकतम विकास हुआ'। शासक और उच्चतम वर्ग के लोगों का जीवन सम्पन्नता, सुव्यवस्था और सांस्कृतिक परिष्कार के कारण इतना आकर्षक हो गया था कि विदेशियों की नजरें उस पर पड़ने पर चौंधिया जाती थीं। दिल्ली उस समय हर दृष्टि से एशिया की सबसे विकसित और समृद्ध राजधानी थी।

फिर भी, मुगल राजवंश के आदि पुरुष बाबर ने दिल्ली का और देश का अत्यन्त निरादर भरा वर्णन अपनी आत्मकथा में किया है। कदाचित अपने आक्रमण

1. मोरलैंड, अकबर, पृष्ठ 299
2. वही, पृष्ठ 294

को औचित्य और अपनी उपलब्धि को ऊंचाई देने का यह प्रयत्न था, क्योंकि किसी निष्पक्ष अध्ययन के आगे यह विश्लेषण टिक नहीं सका है। इस आलोचना का इसलिए भी कोई अर्थ नहीं है कि 'बाबर और उसके उत्तराधिकारियों ने इस व्यवस्था को ही आगे बनाये रखा'। "वास्तव में बात यह है कि तुर्कों और अफगानों का शासन, जिसने अपने उत्तराधिकारियों के लिए उदाहरण प्रस्तुत किये, अकबर के शासन की तुलना में भी हेठा नहीं बैठेगा, फिर मुगल राजवंश के संस्थापक के समय की तो बात ही क्या की जाय।"[1] अकबर के दरबारी और दोस्त अबुल् फज्ल ने अकबर की असंतुलित सराहना करके भारत के सामाजिक इतिहास का बड़ा अहित किया है। अकबर के पहले के और बाद के प्रशासनों में तुलना करते समय यह भी ध्यान में रखने की बात है कि जबकि पूर्ववर्ती शासकों का युग 'विकास तथा स्वस्थ शक्ति' का था, वह 'यौवन से प्रौढ़ता की ओर उठ रहा था', अकबर के बाद क्रम उलट गया, अवनति और विग्रह के पैर भारत में जमने लगे।[2]

अकबर के समय की आर्थिक अवस्था का चित्रण मुख्यतः श्री फ्रांसिस पेलसार्ट नाम के डच (यूरोप का देश हालैंड) ईस्ट इंडिया कंपनी के भारत-स्थित 'सुयोग्य और सफल' अधिकारी के विवरण के आधार पर किया जाता है, जो उन्होंने अपने मालिकों को भारत की स्थिति से परिचित कराने के लिए प्रस्तुत किया था। पेलसार्ट जहांगीर के समय में सात साल आगरा में रहे थे, इन वर्षों में उन्हें देश के कई भागों में जाने का मौका मिला था। यह प्रत्यक्षदर्शी और तटस्थ विवरण है। पेलसार्ट का मुख्य उद्देश्य व्यापारिक था; आर्थिक अवस्था का उनका अध्ययन अतएव आधारभूत महत्व का माना जाता है। यह विवरण 1626 में लिखा गया था, यद्यपि गोपनीय होने के कारण बहुत समय तक यह प्रकाश में नहीं आया। पेलसार्ट का विवरण 'जहांगीर्स इंडिया' नाम से प्रकाशित हुआ है, और इसके अनुवादक हैं (डा. पी. गेल के साथ) श्री मोरलेंड, जिनके उद्धरण से इस अध्याय का आरम्भ किया गया है।

पेलसार्ट के विवरण का बारहवां अध्याय जनजीवन से संबंधित है, और इसका आरम्भ ही उन्होंने उस विरोधाभास से किया है जो तत्कालीन आर्थिक जीवन की विशेषता थी: "धनाढ्य असीम अनावश्यक आडंबर और अगाध सत्ता के साथ जीवनयापन करते हैं, जबकि सामान्य जन का जीवन नितान्त पराधीनता और निर्धनता से व्याप्त है—निर्धनता इतनी अटूट और दयनीय है कि सर्वसाधारण के जीवन का वास्तविक विवरण यह कहकर ही किया जा सकता है कि वह तो असीम आवश्यकता का निवास और पीड़ादायी कठिनाइयों का घर है।" आगे चलकर, सामान्य वर्ग से सम्पन्न वर्ग पर आते समय, पेलसार्ट जैसा व्यावहारिक व्यक्ति भी द्रवित हो गया, उसके गद्य ने पद्य-सा रूप ले लिया, "यह संक्षिप्त विवरण है इन हतभाग्य

---

1. अशरफ, पृष्ठ 240
2. अशरफ, पृष्ठ 241

दीन लोगो का, जिनकी तुलना, इनकी सहिष्णुतापूर्ण पराधीनता के कारण, दया और घृणा के योग्य भूमिगत कीड़ो से की जा सकती है, या छोटी-छोटी मछलियों से, जो चाहे जितनी कोशिश करके अपने को छिपाये, अवश्य ही प्रचंड समुद्र के विशालकाय दैत्यो द्वारा निगली जाती हैं। अब हम थोड़ा-सा प्रभावशाली और वैभवशाली व्यक्तियो के जीवनयापन के संबध में लिखेंगे; परन्तु ऐसा करने के लिए हमें अपने स्वर एकदम बदलने पड़ेंगे; क्योंकि जिस लेखनी ने सिसकियो का पीड़ादायी परिधान पहने, मित्रता, प्रेम तथा प्रसन्नता की शत्रु, परन्तु प्रतिदिन गिरने वाले आसुओ से सिंचित एकाकीपन को मित्र, हृदय-विदारक निर्धनता का वर्णन किया था—उसी लेखनी को अब अपनी शैली एकदम बदलनी होगी, और उसे बताना होगा कि इन उच्च पदासीनो के महलो मे जितनी सम्पदा हो सकती है, सब रहती है, सम्पदा जो सचमुच चकाचौंध कर देती है, परन्तु जो उधार लेकर, निर्धनों के पसीने को निचोड़कर प्राप्त की गयी है। इस कारण उनकी स्थिति वायु के समान अस्थिर है, जिसका कोई दृढ़ आधार नही है, क्योंकि वह कांच के खम्भो पर खड़ी है, संसार की दृष्टि के सामने चमचमाती, परन्तु थोड़ी भी आंधी आने पर चकनाचूर हो जाने वाली।"[1]

आर्थिक जीवन के अध्ययन के समय ध्यान में रखने की सबसे बड़ी बात यह है कि अकबर के समय मे मध्यम वर्ग का प्राय. अभाव था—'या तो व्यक्ति उच्चतम वर्ग के थे या नितान्त दयनीय अवस्था में रहते थे।' उस समय की जनता का विभाजन उपयोगकर्ता तथा उत्पादक के रूप में किया जाना उचित होगा। शाहंशाह का परिवार तथा दरबार, शाही सेवा, व्यावसायिक तथा धार्मिक कार्य में लगे लोग और इनकी चाकरी करने वाले तथा गुलाम पहले वर्ग में; और कृषि, उद्योग तथा व्यापार में लगे लोग दूसरे वर्ग में आते थे। पर्वतों और जंगलों में बसने वाले आदिवासियों की समाज में गणना नहीं होती थी, उनका उल्लेख अलग से नही मिलता।

प्रशासन का प्राथमिक दायित्व करों का निर्धारण एवं सकलन और सैन्य संख्या एवं सामग्री की संपूर्ति था। दोनों दायित्व एक ही व्यक्ति पर रहते थे, वही आन्तरिक शांति के लिए भी उत्तरदायी बनाया जाता था। साम्राज्य सूबो में बटा था, उनके अन्तर्गत जिले थे, जिनमे फोज और मालगुजारी के काम के लिए फोजदार तथा अमलगुजार अवश्य अलग-अलग थे। स्वायत्तशासी क्षेत्रो के राजाओं तथा मनसबदारों को अलग से कर और निर्धारित संख्या में सैनिक उपलब्ध करने होते थे। सम्राट की अपनी सेना अलग थी।

जहां तक उत्पादक और व्यापारी का सम्बन्ध है, न्याय-प्राप्ति के लिए धन अथवा प्रभाव के बिना काम नहीं चलता था, "जिसको निर्णय का अधिकार था उसे या तो कुछ देना पडता था या ऐसे प्रभावशाली व्यक्ति को ढूंढना पड़ता था जो उस अधिकारी से सिफारिश कर सके। इस समय भारत मे घूंसखोरी सर्वव्यापी थी।"[2]

---

1. पेलसार्ट, पृष्ठ 60, 64
2 मोरलेंड अकबर पृष्ठ 35

पेलसार्ट के विवरण में घूंसखोरी की बात जगह–जगह आयी है। उसने बताया है कि गाय–बैलों का वध सम्राट ने 'हिन्दू राजाओं और बनियों को खुश करने के लिए' बन्द कर रखा था, "वे घूंस खिलाकर कभी-कभी सम्राट से, अथवा किसी नगर के सूबेदार से, यह हुकुम भी निकलवा लेते थे कि कई-कई दिन तक या जितने दिन तक के लिए वे आज्ञा निकलवा पाते थे उतने दिन तक, कोई मछली नहीं पकड़ेगा, और बहुत बार ऐसा हो जाता था कि बाजार में किसी तरह का, न बकरे का, न भेड़ का, न भैंसे का, मांस नहीं मिल पाता था। ऐसे आदेश सामान्य वर्ग के लिए अत्यन्त कष्टदायी होते थे, परन्तु धनाढ्य प्रतिदिन अपने घरों में जानवर काट लिया करते थे।"[1] पेलसार्ट ने सूबेदारों और सम्राट के बाद सम्राज्ञी की खबर ली है, कितनी शक्ति जहांगीर के समय में नूरजहां की हो गयी थी! 'अपने व्यक्तित्व और पद की उपेक्षा करके', सम्राट ने 'निम्न वर्ग की चतुर' पत्नी के हाथों मे अपने को पूरी तरह सौंप रखा था, "इस अवसर का उपयोग उसने अति-अधिक संपत्ति अपने लिए सकलित करने में किया है, और कर रही है, और उसने अपनी स्थिति शाहंशाह से भी ऊंची बनाली है।"[2] न्याय प्रशासन भी घूसखोरी से भरा था, राज के कानून थे, हर शहर में कचहरी थी, जहाँ सूबेदार, दीवान, बख्शी, कोतवाल और काजी सप्ताह में चार दिन दरबार लगाकर बैठते थे, यहां सब विवाद निपटाये जाते थे, परन्तु तब तक नहीं जब तक धन-लिप्सा अपना हिस्सा ले नहीं लेती थी'। "सब बड़े मामले, जैसे चोरी, हत्या, गंभीर अपराध, अततः सूबेदार स्वयं निपटाता था, यदि अपराधी निर्धन और कुछ न देने की स्थिति में हुआ तो भंगी बिना जरा भी लिहाज किये उसे घसीट ले जाते थे, और फांसी लगा देते थे। अन्य अपराधो में कदाचित ही कभी, प्राय. कभी नहीं, फांसी लगायी जाती थी, उनकी संपत्ति सूबेदार अथवा कोतवाल के लिए जब्त करली जाती थी। तलाक, झगड़ा, हाथापाई, धमकी आदि के सामान्य मामले कोतवाल और काजी के हाथ में रहते थे। जिन लोगों को न्याय-प्राप्ति के लिए इन 'भगवान से न डरने वाले न्यायहीन' न्यायकर्ताओ के सामने जाना पड़ता है उनके प्रति दया का भाव ही दिखना होगा, उनकी आंखें लालच से धुंधली रहती हैं, उनके मुख से भेड़िये जैसी लालसा टपकती रहती है, और उनके पेट गरीबों की रोटी के लिए भूखे बने रहते है, हर कोई लेने के लिए खुले हाथों खड़ा रहता है, क्योंकि बिना नकद चुकाये किसी दया अथवा सहानुभूति की आशा नहीं की जा सकती। इस दोष का आरोप केवल मात्र न्यायकर्ताओं और अधिकारियों पर लगाना उचित नहीं होगा, क्योंकि यह हैजे की महामारी की तरह सब तरफ फैला है, नीचे से नीचे और ऊंचे से ऊंचे, स्वयं सम्राट तक, सब इस तरह सदा अतृप्त लालच मे लीन हैं कि यदि किसी को सूबेदारों से या महलों से कुछ काम कराना है तो बिना 'दैवी दृष्टि' के

1. पेलसार्ट, पृष्ठ 49
2. वही, पृष्ठ 50

उसे घर से नहीं निकलना चाहिये, क्योंकि भेंट दिये बिना उसके प्रार्थना-पत्र कोई परिणाम नहीं प्राप्त कर सकते।"[1] पेलसार्ट ने सूरत, अहमदाबाद, बुरहानपुर, आगरा, दिल्ली, लाहौर जैसे नगरो की अरक्षित अवस्था का विस्तृत वर्णन किया है। उसने कहा है कि "इन नगरो मे चोर और डाकू 'खुले रावुओ की तरह' दिन या रात कभी चले आते थे। चोर नगर के हाकिमो को कार्रवाई नहीं करने के लिए साधारणतः घूस दे देते थे, क्योकि उनका मनुष्योचित सम्मान धन-लिप्सा से मन्द पड़ा रहता था, और वे सैनिको की जगह सुन्दरियो से अपने महल भरे और सजाये रहते थे, ऐसा लगता था कि उनकी चाहर-दीवारियों के भीतर सारे संसार का मौज-शौक का अड्डा लगा रहता है।"[2] अवश्य ही यह विवरण जहाँगीर के समय का है, परन्तु अकबर के समय मे स्थिति बहुत भिन्न नही होगी, कम से कम यह तो स्पष्ट है कि उसने उत्तराधिकार में यह स्थिति छोड़ी थी।

कई बार अधिकारी साम्प्रदायिकता से प्रभावित होकर भी कार्रवाई करते थे।[3] फिर भी, शहरों में शांति और सुरक्षा की व्यवस्था प्रायः सन्तोषप्रद थी, कोतवाल पर दायित्व था कि या तो वह चोरी-छूट का माल वापस दिलाये अथवा स्वयं क्षति-पूर्ति करे। परन्तु क्षति-पूर्ति का यह भी तरीका था कि शिकायत करने वाले को इतना सताया जाय कि वह शिकायत ही वापस ले ले – न जांच की जरूरत रहेगी न नुकसान का हरजाना देने की।[4] राजमार्ग दिन मे सुरक्षित, रात मे असुरक्षित रहते थे।

पेलसार्ट ने स्थिति को भली प्रकार समझाया है। 'इस सम्राट का साम्राज्य संसार में सबसे विशाल है', यह बताने के लिए उसने सूरत से काश्मीर तक और सिन्ध से बगाल–उड़ीसा तक के मुख्य मार्गो की लम्बाई दी है। "यदि यह सब प्रदेश न्याय और तर्क के अनुसार शासित होते तो इनसे अतुल आय ही नहीं होती, जहांगीर आसपास के सब राज्यो को भी जीत सकता था। परन्तु यह समझना जरूरी है कि उसे केवल मैदानो इलाको और खुली सड़को भर का स्वामी माना जाना चाहिये; क्योकि बहुत जगह यात्रा तभी की जा सकती है जबकि साथ में काफी संख्या में रक्षक हो अथवा विद्रोहियों को देने के लिए बहुत धन हो। देश के चारो तरफ पहाड़ फैले हे, और पहाड़ो ने देश को कई टुकड़ो मे बाट रखा है; जो लोग पहाड़ो पर, पहाड़ी प्रदेश मे या उससे भी आगे रहते है, वे किसी सम्राट या जहांगीर को नहीं जानते, सिर्फ अपने राजा को मानते हे। यह राजा संख्या में बहुत अधिक है, और परम्परा के अनुसार देश के बहुत से भाग उनको मिले हुए हैं। जहाँगीर का जिसके नाम का मतलब होता है कि वह सारे संसार का स्वामी है, अतएव जितनी

1 पेलसार्ट, पृष्ठ 57
2 पेलसार्ट, पृष्ठ 59
3 मोरलेड, अकबर, पृष्ठ 37
4. वही, पृष्ठ 39

भूमि वह अपनी बताता है उसके भी आधे पर ही शासन है, क्योंकि प्रजाजनो की संख्या प्रायः उतनी ही है जितनी कि विद्रोहियो की ।"[1] स्थिति अवश्य असन्तोषप्रद थी, क्योंकि राज्यारोहण के तत्काल बाद निकाले गये जहांगीर के प्रसिद्ध बारह आदेशों मे दूसरा ही था–जिन मार्गों पर चोर या डाकू पैदा हो जाएं और जिन स्थानो में यात्रियो को लूट लिया गया हो उस स्थान के अधिकारी अपने पद से हटा दिये जाएं। तीसरा था, मार्गो मे व्यापारी के बोझों को उसकी सम्मति बिना कोई न खोले ।[2] परन्तु ऐसा नही लगता कि इन आदेशो के बाद भी स्थिति बहुत सुधरी थी। विलियम हाकिन्स के यात्रा वर्णन में कहा गया है, "देश चोर और डाकुओ से इस तरह भरा है कि साम्राज्य के किसी हिस्से मे बिना रक्षको के दरवाजे के बाहर ही नहीं निकला जा सकता, ऐसा लगता है कि समस्त जनता में विद्रोह फैला है।"

असामान्य समय में सारी स्थानीय व्यवस्था अस्तव्यस्त हो जाती थी, नागरिक को अपनी चतुरता और भगवान के भरोसे संकट काटना होता था। अकबर के पचास वर्षों के शासन में कदाचित कोई ही वर्ष गया हो जिसमे आक्रमण अथवा विद्रोहो के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई नहीं हुई हो, अतएव सारे साम्राज्य में कभी शांति एवं सामान्य व्यवस्था की संभावना नहीं थी। सैनिक आगमन के समय सामान्य नागरिको पर अवश्य ज्यादतियां होती होगी। जहांगीर ने एक आदेश यह भी दिया था, "किसी के गृह में कोई बलात् न रहे। हमारे सैनिकों मे से यदि कोई किसी नगर में जाय और किराये पर स्थान मिले तो ठीक है, नहीं तो नगर के बाहर खेमा डालकर अपने लिए स्थान बनाले। वास्तव में इससे किसी प्रजा को कष्ट नहीं होगा। जैसे कोई अपने परिवार के साथ अपने घर में बैठा है और एक-एक कोई अज्ञात मनुष्य द्वार में घुस आये और चाहे कि उस घर के अच्छे भाग अपने अधिकार मे करले तथा उस अभागे के स्त्री-बच्चो को इतना भी न बचे कि वे रह सकें तो उसे कितना कष्ट होगा"।[3] इस आदेश का अर्थ ही यह है कि अकबर के समय मे इस तरह जनता को 'अकल्पनीय कष्ट' उठाना पड़ता था। यह तो शाही इलाको की बात हुई, जहां आक्रमण होता होगा वहां के नागरिक जीवन के अतिक्रमण की तो कोई सीमा ही नही होगी।

ऐसा लगता है कि राजस्व अधिकारी भी इस प्रकार जबरदस्ती जनता की जमीनें आदि ले लिया करते थे। जहांगीर का एक आदेश यह भी था, "प्रजा की भूमि को कोई करोड़ी (यह अकबर के समय एक राजस्व पद था) या जागीरदार बलात् न छीने, उस पर न कुछ बनावे और न स्वयं उस पर खेती करे।"[4]

---

1 पेलसार्ट, पृष्ठ 58
2 'जहांगीर नामा', पृष्ठ 16
3 वही, पृष्ठ 19
4. वही, पृष्ठ 19

सरकारी कर संकलित करने वाले अवश्य सामाजिक अपराध भी करते थे। जहांगीर को यह भी आदेश देना पड़ा, "सरकारी कर उगाहने वाला या जागीरदार बिना आज्ञा के उस परगने के निवासियों से जिसमें वह है विवाह न करे।"[1]

विदेशी व्यापारी केन्द्रीय शासन से सन्तुष्ट रहते थे, परन्तु वन्दरगाहों पर सीमा-शुल्क आदि की व्यवस्था स्थानीय अधिकारियों की इच्छा पर निर्भर रहती थी। राजकीय सुविधाओ को वहुधा निजी लाभ के लिए मोल-भाव करके दिया जाता था। कर-निर्धारण के लिए जो वस्तुएं प्रस्तुत की जाती थीं, उनमें से सर्वोत्तम वे निजी उपयोग के लिए रख लेते थे, उनका मूल्य या तो जी चाही दर पर चुकाते थे, या चुकाते ही नही थे।[2]

आन्तरिक शुल्क की व्यवस्था और भी जन-विरोधी थी। राजकीय आय का यह एक साधन था, और इसका सकलन साधारणतः इस प्रकार होता था कि छोटे-छोटे अधिकारी भी वहुत उत्पीड़न का कारण वन जाते थे, 'छल-कपट से तथा जोर-जवरदस्ती से वसूली वहुत होती थी।' यह पृष्ठभूमि रही होगी जिसमें अकवर ने अपने शासन-काल में कम से कम दो वार इस शुल्क को समाप्त किया। वावर ने भी इस कर की वसूली वन्द कर दी। यह वारवार फिर वसूल होने लगता था, हो सकता है छूट स्वल्प अवधि के लिए दी जाती हो या स्थानीय अधिकारी प्रतिवन्ध का आदर नही करते हो। अकवर के शासन के अन्त में यह कर प्रचलित था, उसके पुत्र द्वारा इस पर लगाया गया प्रतिबंध 'अकवर के प्रशासन की सुस्पष्ट आलोचना है'। जहांगीर के आरम्भिक आदेशो में प्रथम था, "जकात (कर जो आय का चालीसवां भाग होता था), मीर-वहरी (जलमार्ग पर आवागमन शुल्क) व तुमगा (व्यापार के सामान पर कर तथा राज्य मुहर), जिससे प्रति वर्ष आठ सौ मन (कुछ जगह इससे दूना लिखा है) हिन्दुस्तानी तोल से, जो एराक का आठ सहस्त्र मन होता है, सोना उतरता था, पूर्ण रूप से ईश्वरी प्रजा को छोड़ दिया जिससे कष्ट में पड़े हुए लोगों का कष्ट दूर हो जाय।"[3] परन्तु इस आदेश से यह कर पूर्णतः समाप्त नहीं हुआ, पहले की तरह अनियमित और अनुचित वसूली चलती रही। नियमानुसार भी ढ़ाई प्रतिशत जकात ली जाती रही।

ऐसा लगता है कि आन्तरिक शुल्क की तरह हिन्दुओं पर विशेष कर जजिया भी बार बार लग जाता था, कई बार इसे अकवर के समय में उठाये जाने की बात आती है। अकवर के शासन-काल के अंत में कदाचित यह लागू था। असद वेग अकबर की मृत्यु और जहांगीर के सिहांसनारोहण के समय आगरा में उपस्थित था। जो कुछ उन दिनो में वहां हुआ उसका उसने 'हालात-इ-असद बेग' में

1. 'जहागीरनामा' पृष्ठ 19
2. मोरलेड, अकबर, पृष्ठ 46
3. 'जहागीरनामा', पृष्ठ 15

स्वयं देखा विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। अतएव वह गलत नहीं हो सकता जब वह बताता है कि राज्यारोहण के बाद जहांगीर ने जो विशेष घोषणाएं कीं, और कर आदि उठाये, उनमें हिन्दुओं पर लगा 'प्रति व्यक्ति कर' भी था।

'घूंस, उपहार, कर और यातायात में होने वाली चोरियों को भी हिसाब में लगा लिया जाता था, और अन्ततः इनका भार उपभोक्ता को उठाना पड़ता था।' अर्थात् विक्रय के लिए प्रस्तुत वस्तुओं के मूल्य मे इस 'व्यय' का भार भी शामिल किया जाता था, फिर भी उद्योग-व्यापार का क्रम इतना अधिक और लाभकारी था कि जो इसमें लगे हुए थे उनकी सम्पन्नता आश्चर्य में डाल देती थी, जब राजकीय ध्यान में यह स्थिति आ जाती थी तो सम्पदा के अतिरेक को शाही हुक्म से समाप्त करने (जब्त करने) में देरी नहीं लगती थी—मृत्यु के उपरान्त उत्तराधिकारी को संपदा मिल ही जायगी, इसमें तो बहुत शक रहता था। जहांगीर ने स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया, "यदि कोई मनुष्य मर जाय और उसके यहां बादशाही हिसाब बाकी न हो तथा उसके पुत्र हो, यदि अयोग्य हों तो भी, उनकी संपत्ति में कोई हस्तक्षेप न करे, और उसके उत्तराधिकारी को तनिक भी न रोके, जिसके कोई संतान न हो उसकी सम्पत्ति, अथवा उसके भाग से, मस्जिद (मन्दिर का उल्लेख नहीं है), तालाब तथा पुल बनवावें।"[1]

सरकारी सेवा में लगे वरिष्ठतम अधिकारियो की सम्पदा भी उनकी मृत्यु के उपरान्त सरकार को ही जाती थी। "यह अत्यंत आश्चर्य की बात है कि सामन्तों की धन-लिप्सा का कोई सुदृढ़ आधार न होते हुए भी वे, इस बात की चिंता छोड़कर कि इसके लिए उन्हें कितनी निदयता और कितना अन्याय करना पड़ता है, अपनी सारी शक्ति सम्पदा संकलित करने में लगा देते हैं। जिस भी सामंत के पास बादशाह की दी जागीर होती है, चाहे वह बड़ा हो या छोटा, बिना अपवाद, उसके मरते ही—सांस के उसका शरीर छोड़ने के पहले ही—शाही अधिकारी उसके यहां आ धमकते है, और सारी जागीर की संपत्ति की सूची बनाते है, जिसमें एक पैसे तक की हर चीज को शामिल किया जाता है, औरतों की पोपाको और जेवरो तक को, जब तक कि वे छिपा ही नहीं लिये गये हों। सारी जागीर और उसकी सम्पत्ति सम्राट स्वयं के लिए ले लेता है, सिवा जबकि अपने जीवनकाल मे मृतक ने बहुत अच्छा काम किया हो, ऐसे मामलो में महिलाओं और बच्चों की गुजर के लायक सम्पत्ति छोड़ दी जाती है, इससे अधिक कतई नहीं। ऐसी कल्पना हो सकती है कि पत्नी, बच्चे या मित्र सामन्त के जीवन-काल में परिवार के निर्वाह योग्य सम्पत्ति छिपाकर रख लेते होंगे, परन्तु ऐसा करना बहुत ही कठिन था। सामान्य प्रबन्ध ही ऐसा था कि सामतो की समस्त सम्पत्ति और उनका आय-व्यय गोपनीय नहीं रह सकता था, सभी को उसके विषय में जानकारी रहती थी, क्योंकि हर सामंत का अपना दिवान होता था,

---

1. 'जहांगीरनामा', पृष्ठ 17

जिसके हाथों से सारा लेन-देन होता था; उसके मातहत कई लोग काम करते थे, और यहां (भारत में) ऐसा हो गया है कि जो काम एक व्यक्ति कर सकता है उस पर दस लोग लगे रहते है; हर एक के जिम्मे निर्धारित काम रहता है, जिसका हिसाब देना स्वयं उसका दायित्व माना जाता है। जब सामंत मरता है, यह सब अधीनस्थ कर्मचारी गिरफ्तार कर लिये जाते है, और उन्हें विवश किया जाता है कि वे अपनी हिसाब की किताबों से दिखाए कि कहां सारी सम्पत्ति और नकद राशि सग्रहीत है, और यदि उनकी बतायी बातो पर संशय हो जाता है तो उन्हें तब तक यातना दी जाती है जब तक कि वे सच्ची बात नही बताते। और आपके सामने फटे कपड़े और पिचके गाल लिये, ऐसे लोग इधर-उधर भटकते दीखने लगते हैं जो अकड़ मे तिरछा साफा बांधकर, अपने स्वामी की ही तरह, अपने को लोगों की पहुंच से दूर बनाये रहते थे। इसका कारण यह है कि ऐसे लोगो को किसी अन्य स्वामी के यहां कदाचित् ही कभी उसी प्रकार का कार्य मिल पाता है, और वे अपने जीवन में ही मृत्यु का चित्र बनकर घूमते रहते हैं, इस प्रकार की स्थिति मैं ने स्वयं कई लोगो की देखी है।

"मैं ने कई बार उच्च सामन्तो से यह पूछने का साहस किया है कि जब जो वह संकलित करते हैं उसका न उनके न उनके परिवार के लिए उपयोग है, तब वे इतनी सपदा एकत्रित करने में इतने क्यो आतुर रहते है? उनके उत्तर का आधार नितान्त निराधार सांसारिक दम्भ रहा है, क्योंकि उनका कहना यह है कि यदि यह सर्वविदित रहे अथवा सरकारी कागजो से प्रकट हो कि अमुक व्यक्ति इतनी अधिक संपत्ति छोड़ कर मरा है तो उसकी कीर्ति बहुत होती है, कभी नही मिटती है। मैने उत्तर में आग्रहपूर्वक कहा है कि जब उनके मित्र और संबंधी उनकी संपदा से कोई आनन्द नही प्राप्त कर सकते, सामयिक एवं स्थाई कीर्ति-अर्जन के लिए यह अधिक अनुकूल होगा कि वे उन निर्धनों से अपनी सम्पदा में साझा कर लिया करे जो इस देश मे करोड़ो है, वास्तव में अनगिनत है, और अपने दरवाजे के आगे से अत्याचार, अन्याय अत्यधिक आडंबर, छलकपट, तथा अन्य ऐसी प्रक्रियाएं उठायें जिनसे भविष्य के लिए वे कोई अच्छी आशा नही कर सकते, हर तरह का डर ही उन्हे उनसे अवश्य रहता है। जब मैं ऐसे तर्क जोर से सामने लाता हूं, वे चर्चा को यह कहकर समाप्त कर देते हैं कि ऐसा ही देश का रिवाज है।"[1]

"सम्राट अपने अधिकारियो का उत्तराधिकारी होता था, न तो पद, न मनसब, न सम्पदा स्वतः उत्तराधिकारी को मिलती थी, ज्यादा से ज्यादा यह आशा की जा सकती थी कि परिवार के काम चलाने के लिए काफी रकम (सरकार द्वारा जब्त किये जाने से) छोड़ दी जायगी, और पिता की सेवाओ को ध्यान मे रखते हुए पुत्रो को राज्य सेवा मे काम शुरू करने का अवसर मिल जायगा। संभावित विशेष अवस्था का सामना करने के लिए कोई-कोई अधिकारी गोपनीय रूप से सम्पदा

1 पेलासार्ट, पृष्ठ 54

का संकलन चाहे कर लेता हो, परन्तु खुल्लमखुल्ला आत्मनिर्भरता के आधार पर परिवार को जमाना असंभव था, और हर पीढ़ी को आरम्भिक अवस्था से स्वयं प्रयत्न करना पड़ता था। लोकदिखावे और फैशन के अनुसार जीवनयापन करने के लिए व्यय बहुत करना पड़ता था; सरकार से मिलने वाली रकम समय पर नहीं मिलती थी जागीरें करीब करीब जुए की तरह थीं, और क्षणिक सम्पन्नता से पूरा लाभ उठाने का प्रलोभन सदा रहता था, जिससे बुरे दिनों को किसी तरह काटा जा सके अथवा प्रभाव एवं अधिकार के स्थान पर बैठे लोगो का अनुग्रह खरीदा जा सके। घूंस और उपहार पर किया गया व्यय सबसे लाभकारी पूंजी विनियोजन हो जाता था; बचाया गया धन बर्बाद गया धन होता था, जब तक कि उसे संसार की निगाहो से छिपाया नहीं जा सके।"[1]

यह स्थिति अकबर के वरिष्ठतम अधिकारियो की थी–जनसाधारण के भाग्य के वे ही स्वामी थे। स्थिति ऐसी थी कि सिर्फ ईमानदारी से किया काम 'उन्नति का सुनिश्चित अथवा सरलतम उपाय नहीं था'। "सूबे अथवा जागीर में नियुक्ति निजी सम्पन्नता बढाने का अवसर माना जाता था; अपने अधीन जनता की बहबूदी की चिंता उन्हे उतनी नहीं रहती थी जितनी स्थिति शांत रखने की, इस बात की कि शिकायतें सम्राट के कानो तक नहीं पहुचे; और इस बीच जितनी इन परिस्थितियों में संभव हो संपदा, संकलन के लिए अथवा खुलकर खर्च करने के लिए, एकत्रित करने का प्रयत्न किया जाता था।"[2] ऐसी स्थिति मे अधिकारी सन्तोषप्रद कार्य नहीं कर सकते थे, जनता का हित एवं विकास नहीं हो सकता था, शाहंशाह को स्थानान्तरण जल्दी जल्दी करके काम चलाना पड़ता था–ऐसी स्थिति का दिन प्रति दिन बिगड़ना अवश्यम्भावी था। कृषक की अधिक से अधिक आकांक्षा इतनी ही रहती थी कि नया अधिकारी उन्हें उनके भाग्य पर छोड़ दे, पिछले से कम शोषण करे, 'परंतु यह बताने का कोई आधार नहीं है कि उनकी यह कामना बहुधा पूरी भी होती थी या नहीं।'

स्थानीय प्रशासन मे सुधार और कृषि के विकास के लिए अकबर ने 'करोड़ी' की नियुक्ति का परीक्षण किया था; वे एक प्रकार के 'उपनिवेश अधिकारी' थे, नयी जगहें खेती के लिए खुलवाना, पुरानी जगहो में उत्पादन बढ़वाना, उनका काम था। उनकी नियुक्ति तीन वर्ष के लिए की जाती थी, कदाचित अवधि की यह अल्पता इस परीक्षण की असफलता और करोड़ियो की अपकीर्ति का कारण हो गयी। करोड़ी साम्राज्य के अथवा जनसाधारण के हित की जगह अपनी हित-साधना करने लगे। 'करोड़ियों के लोभ के कारण बड़ा भूभाग बरबाद हो गया, रैयत की बीवी और बच्चे बेच दिये जाते थे और इधर से उधर हो जाते थे, सारी स्थिति एकदम अव्यवस्थित हो

1. मोरलेंड, अकबर, पृष्ठ 71
2 वही, पृष्ठ 72

गयी।' इस स्थिति को सुधारने के लिए टोडरमल को कड़ी कार्रवाई करनी पड़ी, जो अपने में राजकीय निर्दयता का उदाहरण बन गयी।

उच्चाधिकारी संख्या में कम थे, परन्तु, साम्राज्य की आय के बड़े भाग का उपयोग उनके हाथ में होने के कारण, उन पर ही उस जनता की सुख-सुविधा का भार था जिसके परिश्रम से वह आय होती थी। आर्थिक दृष्टि से उन्हें परान्न-भोगी, खून चूसने वाला, मानना चाहिये; वे सिवा 'अपर्याप्त तथा अनिश्चित सुरक्षा' के बदले में कुछ भी दिये बिना परिश्रम करने वालों के परिणाम के उपभोग में लगे रहते थे, स्वयं संघनित निधि में कुछ भी योगदान नहीं करते थे।

व्यावसायिक वर्ग की स्थिति भी प्रायः इसी प्रकार थी। चिकित्सा, शिक्षा, साहित्य, कला और संगीत के क्षेत्र में लगे लोग इस श्रेणी में आते थे: जनसाधारण को उनकी क्षमता उपलब्ध कम होती थी; सम्राट और साम्राज्य सेवियों से अपने को संबद्ध करके ही वे अपना काम चला सकते थे। यह सही है कि अपनी नीतियों और स्वभाव से अकबर ने इनको विकास का बहुत अवसर दिया। परन्तु उसकी कृपा, इस क्षेत्र में, विशेषतः विदेशियों ने प्राप्त की। राजकीय कृपा का वितरण 'सदर' नाम के अधिकारी के हाथ में था : "इस पद का इतिहास निरन्तर भ्रष्टाचार की कहानी है।"[1]

निजी चाकरी में लगे लोगों के दो वर्ग थे – नौकर और दास। उनकी संख्या के कारण अकबर के समय में उनका अस्तित्व एक महत्वपूर्ण आर्थिक तत्त्व था। अकबर के दरबार में साधारण नौकर को डेढ़ रुपया महीना मिलता था : दासों का जो बाजार गोआ में लगता था उसमें एक लड़की पचास रुपये में मिल जाती थी. 'दास प्रतिदिन बाजारों में जानवरों की तरह बिकते थे।' दासों का आयात-निर्यात व्यापार भी प्रचलित था। हर विदेशी वस्तु की तरह, विदेशी दास-दासियों के लिए अधिक मूल्य चुकाना पड़ता था। युद्ध के समय पराजितों को और शांति के समय 'अकारण आक्रमण करके कस्बे और गांवों के निवासियों को दास बना लिया जाता था, पैत्रिक रूप से दासों के परिवार तो थे ही। अपराधियों, कर्जदारों, कर देने में असमर्थ लोगों, अकालग्रस्त लोगों, अपहरण और चोरी करके लाये लोगों में से भी दास बनाये जाते थे। अकाल के दिनों में बच्चे बिकने का बड़ा व्यापक विवरण मिलता है।

"संपत्तिशाली उच्च वर्ग, यदि वह अपने धन का उपयोग बुद्धिमानी से करे और अपनी बचत को उत्पादक साधनों में लगाये, अवश्य महत्वपूर्ण आर्थिक योगदान कर सकता है, परन्तु अकबर के समय के भारत में ऐसे योगदान के कोई उदाहरण नहीं मिलते, और जहां बचत बड़ी मात्रा में हो जाती थी तो उसे सोने, चांदी और रत्नों के निरर्थक भंडार का रूप दे दिया जाता था। कुल मिलाकर, देश की आय का बड़ा भाग बरबाद होता था या ऊपरी तड़क-भड़क में लग जाता था, जिसका मूल्य आखिरकार उत्पादक वर्ग पर पड़ता था-इसमें आते थे कृषक, दस्तकार और व्यापारी।"[2]

1. मोरलैंड, अकबर, पृष्ठ 84
2 वही, पृष्ठ 94

स्वयं कृषकों की अवस्था में अकबर के समय में विशेष सुधार नहीं हुआ, यद्यपि भूमि-सुधार और सिंचन-साधनो के विकास द्वारा प्रयत्न पर्याप्त किया गया। कृषक को उसके वातावरण एवं आसपस की वस्तुस्थिति से बहुत कम सहायता मिल पाती थी।

तत्कालीन कृषक-जीवन का अच्छा अध्ययन श्री किशोरी सरन लाल ने एक भाषण में प्रस्तुत किया है।[1] चौदहवीं शताब्दी तक तो कृषक की अवस्था सन्तोषप्रद ही नहीं सम्पन्नतापूर्ण थी, सत्रहवी शताब्दी में सामान्य कृषक की अवस्था अत्यत दयनीय हो गयी, इतनी कि 'प्रायः सभी विदेशी एवं अनेक भारतीय लेखको ने कृषको की निर्धनता पर आश्चर्य प्रकट किया है'। इन दो-तीन शताब्दियों में ऐसा क्या हो गया जो किसान का जीवन-स्तर इतना गिर गया ? महान मुगलो की सम्पन्नता एवं गौरव के गुणगान करने वालो से यह प्रश्न पूछने योग्य है कि भारतीय कृषक उन वर्षो मे इतना निर्धन और दयनीय कैसे हो गया ? इसके लिए शासको के कुछ विचार और कार्य तो उत्तर-दायी नहीं थे ?

इस प्रश्न के उत्तर की खोज में श्री लाल ने भारत में तुर्की विजय अभियान का विश्लेषण करके बताया है, "तेरहवीं शताब्दी से आरम्भ मुस्लिम विजय को भारत में एक विशेषता प्राप्त हो गयी। मध्य एशिया, अथवा अफगानिस्तान की तरह भारत को पूरी तरह नही जीता जा सका, न यहां के सब देशवासी इस्लाम धर्म में प्रविष्ट हुए। इसके विपरीत तेरहवी, चौदहवी और पद्रहवीं शताब्दी में तुर्की शासन के विरुद्ध निरन्तर प्रतिरोध उस समय में लिखी सामग्री से स्पष्ट प्रकट होता है। सारे सुलतान युग में (और मुगल युग मे भी) देश के किसी न किसी भाग में सदा सुलतान-सत्ता को खुली चुनौती दी जाती रही। स्वभावतः तुर्की शासको ने दृढ़वृत्ति वर्ग का दमन करने के लिए सभी संभव उपायों का उपयोग किया। अन्य उपचारों के अतिरिक्त अलाउद्दीन खिलजी के मस्तिष्क में यह विचार भी आया कि यह धन—संपदा ही है जो प्रतिरोध को प्रोत्साहित करती है और विद्रोह के लिए साधन प्रस्तुत करती है। उसने और उसके परामर्शदाताओं ने सोचा कि यदि सर्वसाधारण को साधनहीन एव निर्धन कर दिया जाय तो किसी के पास विद्रोह शब्द का उच्चारण करने के लिए भी समय नहीं बचेगा।" देश के सम्पन्न-निर्धन ऐसे समस्त वर्गो के विरुद्ध इस विचार का उपयोग किया जाने लगा जो विद्रोह का झंडा उठाने का साहस करते थे।

किसान से उसकी सारी आमदानी कर के रूप में ले ली जाती थी—सिवा उसके कि जितना उसका किसी तरह काम चलाने को काफी हो। 'इस विचार से सारे मध्ययुग में कभी भारतीय शासक अपने को मुक्त नही कर सके,' मुगल युग मे कृषको की अवस्था अत्यन्त असन्तोषप्रद हो गयी, यदि कोई प्रगति हुई तो वह कर-भार बढ़ाने की ओर ही हुई। डा. इरफवान [illegible], 'मुगल शासन का मूल उद्देश्य कर

---

1 लाल, पृष्ठ 187

सदा बढ़ती दर पर वसूल करना था। कई बार तो किसान की कुल आय से भी अधिक वसूल करने का प्रयत्न किया जाता था। वसूली के वक्त दया या सहानुभूति नही दिखायी जाती थी। जब प्राकृतिक परिस्थिति के कारण कर देना कठिन हो जाता था, किसान वसूली के समय होने वाले अत्याचार से अपने को बचाने के लिए 'विद्रोही राजाओं की सीमा में' भाग जाता था, जमीन खाली पड़ी रहती थी। कृषि-सुधार के समस्त राजकीय प्रयत्नो का उद्देश्य राजकीय आय की अभिवृद्धि होता था।'

मुगल युग में दैनिक उपयोग की वस्तुओं की कम कीमत से आश्चर्यचकित होने वालों को श्री लाल ने समझाया है कि सेना को उसकी जरूरत की चीजे सस्ती दर पर उपलब्ध कराने के उद्देश्य से प्रशासन मूल्य-वृद्धि पर नियन्त्रण रखता था—और इसका कुप्रभाव किसान पर पड़ता था, उसकी उपज का अधिकांश भाग जब कर चुकाने में लग जाता था, उसके पास जो बचता था उससे सस्ते भावों के होते हुए भी वह अपनी आवश्यकताएं पूरी नहीं कर पाता था, उपज का बचा भाग बाजार से बहुत कम धन दिलवाता था।

आर्थिक परिस्थिति बिगड़ती ही गयी, सत्रहवी शताब्दी की समाप्ति तक तो यह असहनीय हो गयी। 'उसकी जरूरत से ज्यादा किसान के पास नही छोड़ना'-नीति ने उस मुर्गी को ही मार डाला जो सोने का अंडा दिया करती थी। उपज बढ़ाने या खेती के तरीके सुधारने की कोई प्रेरणा किसान में नहीं रह गयी थी।

अकाल सारे कृषक जीवन को अस्तव्यस्त कर देता था। अकाल का अर्थ ही उन दिनों दूसरा था : "आज अकाल ऐसा समय होता है जब कष्ट और क्लेश बहुत अधिक हो जाने के कारण शासन को हस्तक्षेप करना होता है, परन्तु यदि हम सोलहवीं शताब्दी के विवरण-लेखकों पर विश्वास करें तो हमें अकाल का अर्थ ऐसे समय से लगाना होगा जब भूख के मारे स्त्री-पुरुष मानव मांस खाने को विवश हो जाते थे। 1555 के अकाल के सबन्ध में बदायूंनी ने लिखा है : 'लेखक ने अपनी आंखों से देखा कि मनुष्य अपने जैसे मनुष्यों को खा रहे थे, और अकालग्रस्त लोगों की दशा इतनी वीभत्स हो गयी थी कि उनकी ओर देखना भी मुश्किल हो गया था। वर्षा की कमी, अकाल और निर्जनता, और दो साल के निरन्तर युद्ध के कारण, सारा देश रेगिस्तान हो गया था।' इसी अवधि के लिए अबुल् फज्ल ने लिखा है कि 'स्थिति इतनी विकट हो गयी थी कि आदमी आदमी को खाने को विवश हो गया था,' और 1596 के अगले अकाल के बारे में हमें फिर बताया जाता है कि 'मनुष्य मनुष्य को खाकर काम चलाता था, सड़के तथा गलियां लाशों से बन्द हो गयी थीं'।[1]

'जुबदातुत तवारीख' मे शेख नूरुल हक ने भी, जो स्वयं उन दिनों उपस्थित था, कहा है कि अकाल के दिनो में हैजा भी फैल गया, जिससे "उस समय की भया-

1. मोरलैंड, अकबर, पृष्ठ 127

नकता और भी भीषण हो गयी, गांवों और झोंपड़ों की तो बात ही क्या की जाय, शहर और उनके पूरे के पूरे मकान खाली हो गये। अनाज की कमी और भूख की पीड़ा से परेशान होकर आदमी आदमियों को ही खाने लगे। सड़को और गलियो मे मुर्दे इतने हो गये कि आना-जाना मुश्किल हो गया, और उन्हें हटाने के लिए किसी तरह की सहायता नहीं पहुंचायी जा सकी"। 1597 में जब कश्मीर (और पंजाब) में अकाल पड़ा माताएं अपने बच्चों को सड़कों पर मरने के लिए छोड़ने लगीं, उन्हें उठाकर ईसाई पादरी ले जाते थे, और अपने धर्म में शामिल कर लेते थे।[1]

"कदाचित अपने संरक्षक के सम्मान का ध्यान रखकर ही अबुल् फज्ल जैसे साधारणतः बहुत सावधानी से घटनाओं का वर्णन करने वाले ने 1595 में आरम्भ चार साल के अतिशय आक्रान्तकारी अकाल का वर्णन नहीं किया है, परन्तु इस विभीषिका और उसके बाद हुई हैजे की महामारी के अन्य अकाट्य प्रमाण उपलब्ध हैं। सहायता-कार्यक्रम के नाम पर सिर्फ इधर-उधर दान देने की व्यवस्था की जा सकी थी, सर्वसाधारण की यातना वास्तव में कम करने में यह कार्यक्रम बुरी तरह असफल रहा।"[2]

यह स्थिति अकबर के समय में थी, इसमें उसके शासनकाल में कुछ सुधार नहीं हुआ, उल्टे समय जैसे-जैसे बीता हालत बिगड़ती गयी। "परिवार बिछुड़ जाते थे, कृषि में लगाने को पूंजी नहीं रह जाती थी, लोग बिना मतलब भटकते रहते थे, स्वेच्छा से दासत्व स्वीकार कर लेते थे, आत्महत्या अथवा भूख से मरने लगते थे, आदमी आदमी को खाने लगता था। ये सब बातें इस प्रकार की अपदाओं के सम्बन्ध में भारतीय तथा विदेशियों के लिखे विवरणों में मिलती हैं"।[3]

1630 में जो अकाल पड़ा, वह अवश्य अकबर की मृत्यु के चौथाई शताब्दी के बाद हुआ था, लेकिन आर्थिक दुरवस्था का जो सिलसिला अकबर के समय में शुरू हो गया था उसके परिणाम का दिल दहला देने वाला चित्रण उस अवसर का मिलता है, "वान ट्विस्ट लिखता है कि पानी इतना कम बरसा कि बोया हुआ बीज बेकार चला गया, घास हुई ही नहीं। जानवर मर गये। कस्बों और गांवो में खेतों और सड़को पर, बड़ी संख्या में लोग मरे पड़े थे, बदबू इतनी फैल गयी थी कि सड़कों पर जाना-आना मुश्किल हो गया था। घास के अभाव में जानवर लाशें खाने लगे थे, आदमी मरे जानवर उठाकर खाने के लिए ले जाते थे, कुछ हताश होकर उन हड्डियों की तलाश में भटकते फिरते थे जिन्हें जानवर काट कर छोड़ देते थे।

"अकाल से हालत जब बिगड़ने लगी, लोग अपने कस्बे और गांव छोड़कर चले गये, और असहाय होकर भटकने लगे। उनकी हालत का अंदाज लगाने मे देरी

1. मेकलोगन, पृष्ठ 55
2 केम्ब्रिज हिस्ट्री, पृष्ठ 142
3 मोरलैंड, औरगजेब, पृष्ठ 213

नहीं लगती थी : आंखें सिर में गहरी धंस गयी थीं, ओठ पीले पड़ गये थे और उन पर चपड़ी पड़ गयी थी, खाल कड़ी हो गयी थी, हड्डियां उभर आयी थीं, पेट की जगह एक खाली लोथड़ा लटक आया था, अंगुलियों के जोड़ और घुटने की चक्की आगे होकर दीखती थी। एक तो भूख से रोता-चिल्लाता दीखता था, दूसरा यातना से मृत्यु के निकट जाता जमीन पर पड़ा मिलता था, जिधर जाओ लाशो के अलावा कुछ नही दिखायी देता था।

"लोग अपने बीवी-बच्चे छोड़ देते थे। स्त्रियां स्वयं अपने को दासियो की तरह बेच देती थीं। मां अपने बच्चो को बेच देती थीं। अपने अभिभावको द्वारा छोड़े गये बच्चे स्वयं अपने को बेचते थे। कुछ परिवारो ने जहर खा लिया जिससे सब एक साथ मरें, दूसरे नदियों में जा गिरे। माताएं और बच्चे नदी के किनारे चले जाते थे, और एक दूसरे के हाथ पकड़कर कूद पड़ते थे, जिससे नदियां लाशो से भरी बहती थीं। कुछ पशुओं का मुर्दा मांस खाकर रहते थे। अन्य मनुष्यो के शवो को काट लेते थे, और अंतड़िया निकाल कर अपना पेट भरते थे: हां, सड़क पर पड़े आदमी, जो अभी तक नही मरे थे, दूसरे आदमियों द्वारा काट डाले जाते थे, और आदमी जिन्दा आदमी को खाकर जीता था, जिससे सड़को पर, और विशेषतः बाहरी मार्गों पर, इस बात का बड़ा डर हो गया था कि आदमी को मारकर खा डाला जायगा।

"प्रतिदिन आश्चर्यकारी आपदाएं देखने में आती थी। जो धर्म को नहीं मानता उसे भी कदाचित यह देखकर दया आ जायगी कि एक मां ने अकेले बेटे को मारकर पका लिया है : ईसाई आत्मा और भी पीड़ित यह जानकर होगी कि पतियो ने अपनी पत्नियों को खा डाला है, पत्नियों ने अपने पतियो को, बच्चों ने अपने माता-पिता को, सब कुछ विस्तार से वर्णित करना बड़ा ही कठिन होगा। लाखों लोग भूख से मर गये, जिससे सारा प्रदेश बिना गाड़े गये मुर्दो से भर गया, इस कारण इतनी दुर्गंध उठ गयी थी कि सारा वातावरण दूषित हो गया। हमारे कुछ उच्च लोगों ने, अहमदाबाद से आते हुए, देखा कि कुछ लोग आग जलाये बैठे हैं और हाथ पैर पकाये जा रहे है। उस दृश्य को देखना ही दुष्कर था। सुसुनत्रा गांव में तो और भी बुरी हालत थी, वहा आदमी का मांस खुले बाजार में बिक रहा था।"[1]

यह अवस्था अतिशय क्रूर अकालों की थी, परन्तु कृषक जीवन को क्षति सामान्य वर्षा-विहीन वर्षो में भी कम नहीं होती थी। ऐसी स्थितियों में सहायता के लिए प्रशासन में कोई स्थाई और समुचित व्यवस्था नही थी, अधिकांशतः कृषक को अपने भाग्य के भरोसे संकट और अभाव का समय काटना पड़ता था।

सामान्य समय में तो सरकारी सहायता और भी असामान्य अपवाद थी। ऊपर ऊपर से प्रयत्न बारबार हुए, परन्तु कृषक जीवन की दयनीयता में सुधार नही

---

1 मोरलैंड, औरंगजेब, पृष्ठ 212

हो सका। अकबर के समय में कृषि विकासशील उद्योग नहीं था। मंडी और बर्नियर ने अकबर के थोड़े समय बाद का आंखो देखा हाल लिखा है। मंडी के अनुसार साम्राज्य की राजधानी आगरे के निकट ही कृषकों के साथ उसी तरह का व्यवहार किया जाता था 'जैसा तुर्क ईसाइयो के साथ करते थे', 'जो उत्पादन वे अपने परिश्रम से करते थे वह सबका सब ले लिया जाता था, उनके पास सिर्फ छोड़ा जाता था उनका देखने में बुरा-सा, मिट्टी की दीवालो का, नाकाफी फूस से छाया घर, जमीन जोतने के लिए थोड़े-से जानवर, साथ ही साथ अन्य दयनीय तथा कष्टकारी स्थितियां'। बर्नियर बताता है कि अधिकारियो और अमीरो के अत्याचारो के कारण भूमि, जब तक कि जबरन ही खेती नहीं करायी जाती थी, कम ही जोती जाती थी। सिंचाई की नहरो और नालियो की मरम्मत न कोई कराना चाहता था, न कराने की स्थिति में था, कृषि की अवस्था सारे देश में अत्यन्त असन्तोषप्रद थी—वातावरण ने वास्तव में कृषि उत्पादन को अवरुद्ध कर रखा था।

कृषि पर नियमित राजकीय कर, अकबर के समय से, कुल उत्पादन का एक तिहाई था—जिसे पूर्ववर्ती और आधुनिक दोनो दृष्टियो से अत्यधिक और कृषि के लिए प्रोत्साहन-विरोधी माना जायगा। इसके अतिरिक्त और भी वसूली हो जाती थी, और बड़े निर्माण-कार्य के लिए विशेषकर लगाये जाते थे, जैसेकि आगरा का किला बनाने के लिए आसपास के लोगो पर विधिवत विशेष कर लगाया गया था। भूमिकर निर्धारित करने वाले, भूमिकर वसूल करने वाले और अन्य तरह तरह के अधिकारियो के जीवनयापन का भार भी कृषक को उठाना पड़ता था। इस प्रकार कर-भार उत्पादन के तीन चौथाई तक पहुंच जाता था।

"किसान को इतना निचोड़ लिया जाता था कि उसके पास पेट भरने को रूखी रोटी भी नही बचती थीं।"[1] किसान इतना कर-भार कैसे उठा सकता था? "यदि कृषक इतनी क्रूरता और निर्दयता से सताये नहीं जाते तो भूमि से उत्पादन बहुत, असाधारण रूप से अधिक, हो सकता था, जो गांव उत्पादन की कमी के कारण पूरा कर नही चुका पाते थे वे उनके स्वामियों अथवा सूबेदारो के एक तरह से शिकार बन जाते थे, विद्रोह का नाम लगा कर उनके बीबी-बच्चे तक बेच दिये जाते थे। अत्याचार से बचने के लिए अनेक कृषक भाग जाते थे, उन राजाओ के यहां शरण लेते थे जिन्होने स्वयं विद्रोह का झंडा उठा रखा होता था, और परिणाम स्वरूप खेत खाली और बिना बुवाई के पड़े रहते थे, उनमे जंगल उग जाते थे। इस देश में ऐसा अत्याचार बहुत ही प्रचलित है।"[2]

इस परिस्थिति में ग्रामीण जीवन की और ग्रामीणों के जीवनयापन के स्तर की कल्पना भयावह लगती है, कृषक फिर भी जीवित और अपने

---

1. पेलसार्ट, पृष्ठ 54
2. वही, पृष्ठ 47

पैतृक धन्धे में लगा था; यह उसकी जीवन-शक्ति और जीवन के प्रति अटूट आस्था से ही संभव था। मामूली आराम की चीजें हमेशा उससे दूर रहती थीं, उतने से ही उसे सन्तोष करना पड़ता था जिससे जीवन और आशा बनी रहे। बहु-बसे शहरो और शाही शिविरो ने बड़ी संख्या में ग्रामीणो को आकर्षित करना आरम्भ कर दिया था।

इस पर भी कृषि और कारीगरी का उत्पादन उन दिनो इतना हो जाता था कि देश के बाहर से कुछ प्राप्त करना आवश्यक नहीं था—अकबर के समय का भारत इस दृष्टि से आत्मनिर्भर था। इस सराहनीय स्थिति की शोचनीय सीमा यह थी कि आम आदमी की आवश्यकता और महत्वाकांक्षा उस समय अत्यन्त सीमित थी, परिस्थिति को वह परमात्मा का प्रसाद मानता था, अच्छे बुरे के लिए मुख्य उत्तरदायी अपने भाग्य को समझता था।

आयात-निर्यात तब भी विकसित था, आने वाली चीजें ज्यादातर शौकीनी की होती थी, जिन्हें उच्च वर्ग अपने उपयोग में ले लेता था। मूल्यवान और आवश्यक धातुएं और रसायन भी बाहर से आते थे, बड़ी मात्रा में सोना—चांदी। उद्योग-व्यापार की कई शाखाएं ऐसी थीं कि उस समय का भारत उस समय के यूरोप से अधिक विकसित था, परन्तु इस स्थिति के स्थायी रखने के पर्याप्त और परिणामकारी प्रयत्न राज्य की ओर से नहीं किये जा रहे थे; स्थिति को ऐसा रूप लेते अधिक समय नहीं लगा कि इसी क्षेत्र मे, यूरोप की तुलना में, भारत पिछड़ गया।

दस्तकारी में भी देश बहुत आगे और प्रसिद्ध था, परन्तु इस क्षेत्र के उत्पादन का अधिकांश तथा सर्वोत्तम भाग उच्चवर्ग के उपभोग में आ जाता था—सामान्य नागरिको को इसका लाभ कम मिल पाता था। यदि विदेशी किसी वस्तु के निर्यात में रुचि लेते थे, जैसे कि आगरा के कालीन, तो सबसे पहले उन्हें कारीगरों की असन्तोषप्रद परिस्थिति का, 'उनकी सुस्ती, काम की धीमी गति और निर्धनता' का सामना करना पड़ता था, और नियमित व्यापार कठिन लगता था। वस्तु के बनते ही कारीगर को उसे बेचना पड़ता था, उसकी आर्थिक अवस्था ऐसी नहीं थी कि अधिक लाभकारी अवसर की आशा मे वह अपना उत्पादन थोड़े समय रोक सके। कारीगर को काम करने का उत्साह नहीं होता था, आवश्यकता ही प्रमुख प्रेरक शक्ति थी : आत्मनिर्भरता वह कभी नहीं प्राप्त कर पाता था। सम्पन्नता उसकी कल्पना से परे थी, भूख से दूर रखने लायक भोजन और मोटे से मोटे कपड़े से तन ढकने को पर्याप्त वस्त्र ही वह बहुत मानता था। यदि कभी आय अधिक हो जाती थी, तो उससे व्यापारी की सम्पन्नता बढ़ती थी, कारीगर के हाथ कुछ नहीं लगता था। 'शोषण सामान्यतः प्रचलित था।'

पेलसार्ट ने बताया है कि अपने हाथ की कारीगरी से कमाने वालों की हालत ही खराब नहीं थी, उनमें उन्नति करने की भावना का भी अभाव था। 'वह सीढ़ी

ही नहीं दीखती थी जिससे ऊपर चढ़ा जा सके', 'क्योंकि कारीगर के बच्चे अपने बाप के काम के सिवा कोई दूसरा काम नहीं कर सकते थे, और न वे किसी दूसरी जाति में विवाह कर सकते थे' , 'नाम के वे स्वतन्त्र थे, परन्तु उनकी स्थिति खरीदे दास से बहुत भिन्न नहीं थी'।

"कारीगर पर दो कोप सदा सवार रहते थे। पहला था कम मजदूरी का। सुनार, छीपे, कसीदेकार, कालीन बनाने वाले, सूत और रेशम के बुनकर, लोहा और तांबे का काम करने वाले, दर्जी, इमारती कारीगर, संगतराश, इस तरह के सैकड़ो काम थे, लेकिन इनमें जहां हालैंड में एक आदमी लगे वहां यहां चार आदमी मिलकर उतना ही काम पूरा कर पाते है–इनमें से सभी सुबह से रात तक लगे रहने पर भी सिर्फ पॉच-छः टका (दाम) कमा पाते है। दूसरे जिस कोप का सामना उन्हें करना पड़ता है वह है सूबेदार, सामन्त, दीवान, कोतवाल, बख्शी तथा अन्य शाही अधि-अधिकारियो के अत्याचार का। यदि इनमे से कोई किसी कारीगर से काम कराना चाहता है तो उस कारीगर से नही पूछा जाता कि वह चलने को तैयार है या नहीं, घर या सड़क जहां वह मिलता है उसे वहीं से पकड़कर ले जाया जाता है, उसके जरा भी आपत्ति करने पर उसकी अच्छी मरम्मत की जाती है, और शाम होने पर उसे आधी मजदूरी दी जाती है, कभी कभी तो कुछ भी नहीं।[1]"

कुल मिलाकर, अकबर के समय में स्थिति यह थी कि शासन से सम्बन्धित सामंत ऐश-आराम मे डूबे हुए थे, और जनता का अधिकांश भाग अत्यन्त दीन-हीन स्थिति में था, 'आज से भी अधिक निर्धन।'[2]

उच्चवर्गीय शाही सेवको की आय का इससे अंदाज हो सकता है कि 5,000 के मनसबदार को 30,000 रुपये (अकबर के समय के) मासिक मिलते थे। इसमें से सेना आदि पर जो खर्च उसे अनिवार्य रूप से करना होता था उस पर 10,000 रुपये मासिक व्यय हो जाता था; अर्थात् 20,000 रुपये मासिक उसकी शुद्ध आय थी। अन्य उचित-अनुचित स्रोतो से होने वाली आय को इसके अतिरिक्त मानना होगा, जो कई बार असाधारणतः अधिक हो जाती थी। आवश्यक वस्तुओ का कम मूल्य होने के कारण उनकी बचत बहुत हो जाती थी, जिसे ऐश-आराम पर खर्च करने की उन्हें पूरी स्वाधीनता थी। कोई-कोई अधिकारी निजी व्यापार में भी रुपया लगाते थे। छिपाकर रत्न-आभूषण-स्वर्ण संकलित भी किये जाते थे, परन्तु 'उस समय मुख्य वृत्ति संकलन की नहीं व्यय करने की थी'। सम्राट और उसके संबंधियों का व्यय और वैभव अनुकरणीय उदाहरण बना हुआ था।

अनोखी विदेशी वस्तुओ को पाने की होड़ लगी रहती थी–विदेशी व्यापारियों को इसी कारण उत्साहपूर्ण स्वागत मिल जाता था। समुद्रतटीय अधिकारियो को शाहंशाह

1. पेलमार्ट, पृष्ठ 60
2. मोरलैंड, अकबर, पृष्ठ 254

के आदेश थे कि अगर कोई असाधारण वस्तु दिखलाई दे जाये तो उसे जल्दी से जल्दी दरबार में पहुचाया जाय। खाने-पीने की चीजो में मसाले, बरफ और फल बाहर से मंगाये जाते थे।

अकबर सदा गंगाजल पीता था, जहां वह रहता था—युद्ध क्षेत्र मे भी—उसके उपयोग के लिए गगा का जल पहुंचाया जाता था। भोजन-सामग्री वर्षा के जल से अथवा यमुना या चिनाव नदी के जल से बनती थी, जिसमें थोड़ा सा गंगाजल मिला लिया जाता था। शोरा पानी को ठंडा करने के काम में लाया जाता था, इसकी निर्धारित विधि थी।

अकबर के राज्यारोहण के तेरहवें वर्ष (1586) से बरफ का उपयोग होने लगा। लाहौर से 45 कोस, उत्तरी पर्वतमाला के प्रदेश से बरफ जल एव स्थल मार्ग से लायी जाती थी। 'बरफ विक्रेताओ को बड़ा लाभ होता था, एक रुपये की दो-तीन सेर बरफ बिकती थी।' दस नावें निरन्तर शाही उपयोग के लिए बरफ लाने पर लगी रहती थीं, इनमे से एक प्रति दिन राजधानी पहुंचती थी। घोड़ा-गाड़ियों का भी उपयोग किया जाता था। मार्ग में चौदह जगह घोड़े बदलने पड़ते थे, हाथी भी इस काम पर लगाया जाता था। जब आदमियो पर लादकर बरफ लानी पड़ती थी, 28 व्यक्ति इसमें लगते थे। 'सब स्तर के (शाही सेवक) लोग गरमी में बरफ का उपयोग करते है, सामन्त वर्ग सारे साल बरफ काम में लाता है।'[1] जीवन को जीने लायक बनाने का, और उस पर अनाप-शनाप खर्च करने का, यह एक उदाहरण है। भोजन सामग्री प्राप्त करने, बनाने और परोसने पर बहुत खर्च किया जाता था, शाही दरबार में, और उसका अनुसरण करके उच्च वर्ग में भी, यह शान दिखाने का एक तरीका था।

वस्त्रो पर बहुत व्यय होता था, शाहंशाह के लिए एक हजार पूरी पोशाकें प्रति वर्ष बनती थी। शाहंशाह की कृपा दिखाने का सामान्य स्वरूप खिलअत भेंट करना था। इसके लिए बहुत वस्त्र बनते थे। अबुल् फज्ल अपने लिए जो कपड़े साल भर में बनवाता था, वह अगले साल अपने सेवको में बांट देता था। सम्राट और सामन्तो का यही प्रचलित तरीका उस समय था। अमीरों के वस्त्रों में विदेशी कपड़ों का उपयोग बहुत होता था, एक पोशाक का कपड़ा 150 (सूती) से 1500 (मखमल) रुपये तक का आता था। जवाहरात तथा दुष्प्राप्य रत्न पहनने का बहुत प्रचलन था। ये भी विदेशो से आते रहते थे। सोने-चांदी का बड़ी मात्रा में उपयोग वस्त्रों में होता था।

शाही और सामन्ती व्यय का बड़ा भाग घोड़ो-हाथियों पर लगता था। हाथी एक सौ से एक लाख रुपये तक आते थे, और घोड़े 200 से 1,000 रुपये तक के।

---

1. 'आईन-इ-अकबरी', पृष्ठ 58

कितने हाथी-घोड़े उन दिनो रखे जाते थे, और भेंट प्रदर्शन के अवसरों पर चांदी-सोने से उनको कितना सजाया जाता था ! बड़ा खर्चा इस मद पर होता था। इस मद पर खर्च की कोई सीमा ही नहीं थी, अबुल् फज्ल तक ने कहा है कि इसका वर्णन ही नहीं किया जा सकता।

शिकार और जुआ भी व्यय-भार बढ़ाता था; अकबर के समय में यह 'शौक' प्रमुख दरबारियो के लिए अनिवार्य था।

भवनो से अधिक शिविरो पर व्यय होता था—शाहंशाह बहुधा यात्रा पर रहता था, सामन्त-वर्ग को उसका अनुसरण करना पड़ता था। शिविरो की सजावट पर 'जो चाहे जितना ज्यादा खर्च कर सकता था'। शाही शिविरो और शोभा-यात्राओ को जिसने देखा होगा उसका न जाने क्या हाल होता होगा, जबकि उनका लिखित वर्णन पढ़ने पर अब भी दिमाग चकरा जाता है।

सेवको की सख्या का आधिक्य व्यय भार को निरन्तर बढ़ाता रहता था, और यह सेवक स्वयं, अपने स्वामियो की तरह, 'मौका लगा है तो मौज करलो' का सिद्धांत मानकर दुराचार, अत्याचार और लालसा के अवतार हो गये थे।

उच्च वर्ग के सामन्तो के भोग-विलास का पूरा वर्णन करना, जिन्होने इसे स्वयं देखा था, असंभव बताया है। उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य 'हर तरह के आनंद का अतिरेक से उपभोग ही था,' 'वे विलासिता और वैभव के असमान्य आधिक्य से ओत प्रोत रहते थे'।

भेंट का आदान-प्रदान उस समय बहुत प्रचलित था, प्रायः हर स्तर और अवसर पर, स्वयं शाहंशाह और हर सामन्त एवं सेवक के लिए, यह अनिवार्य था। सम्राट और प्रभावपूर्ण व्यक्तियो के लिए भेंट-प्रणाली निर्धारित थी, 'भेंट का मूल्य प्रदाता की महत्वाकांक्षा से निर्धारित होता था'। छिपाकर दी जाने वाली घूंस इसके अतिरिक्त थी। कोई अपने से बड़े के सामने खाली हाथ नहीं जाता था, और 'पदोन्नति के लिए दी गयी भेंट को तो प्रायः पूंजी-विनियोजन ही मानना होगा'। "नियुक्तियों और पदोन्नतियो के लिए प्रतिस्पर्धा बहुत ही ज्यादा थी, दरबार मे ऊंचे और अच्छे स्थान उसी प्रतियोगी को मिलते मालूम देते थे जिसकी भेंट सबसे अधिक अच्छी लगती थी"।[1] इस परम्परा से संबंधित वर्ग के लोग अत्यन्त आक्रात और अभावग्रस्त हो जाते थे।

बर्नियर के देखने में बहुत ही कम धनाढ्य सामंत आये थे, 'शाहंशाह को दी गयी भेंट और अपने सेवकों पर जो व्यय उन्हे करना पड़ता था उससे उनमे से अधिकांश ऋण-भार से दबे थे, बरबाद हो गये थे।' "सामन्त-वर्ग का आर्थिक पतन स्वयं अपने में उतने ध्यान देने की बात नही हो सकती, परन्तु इसका जनता के अधिकाश

1. मोरलैंड, अकबर, पृष्ठ 261

भाग की आर्थिक स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता था। प्रदेशों के सूबेदारों और अन्य अधिकारियों को वास्तव में बहुत अधिकार थे, और जब उनके साधन समाप्त होने लगते थे, इसका भार कृषकों और कारीगरों पर पड़ता था, अतएव बर्नियर ने शाहजहां के शासनकाल के अंतिम दिनों में जनसाधारण की निर्धनता और दयनीयता का जो चित्रण किया है उसको अधिकांश में स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं मालूम देती।" यह स्थिति एक दिन में नहीं आ गयी थी, अकबर के समय में इसी दिशा में गिरावट शुरू हो गयी थी।[1] फिर भी अनेक सामन्तों के पास संपदा का अतिशय संकलन हो जाता था। उनकी मृत्यु के उपरांत उस संपदा का उसके प्रदाता-सम्राट के पास पुनः पहुंचना अवश्यम्भावी लगता था, अतएव जिनके पास धन था वे साधारणतः अपने जीवन काल में उसका उपभोग करने के उपाय ढूंढने और उस पर अपनी अधिक से अधिक आय लगा देने में लगे रहते थे।

दूसरा धनाढ्य वर्ग व्यापारियों का था, परन्तु उनकी स्थिति उलटी थी। परिस्थितियों के कारण धन-संकलन उनके लिए सरल नहीं था, और संकलित संपदा के प्रदर्शन में तो संकट ही संकट थे। इस तरह इस वर्ग में सम्पन्न होते हुए भी दरिद्रता का दिखावा करना आरम्भ हुआ।

इसके सर्वथा विपरीत स्थिति सर्वसाधारण की थी।

अकबर के दरबार के वैभव में अथवा उसके कोश की प्रचुरता में सर्वसाधारण का कोई साझा नहीं था, सिवा इसके कि राजस्व-सुधार से उनकी स्थिति कुछ सुधरी और अपने परिश्रम का परिणाम स्वयं के उपभोग की आशा कुछ अधिक स्थायी हुई। अकाल और महामारी अब भी बहुत व्यापक थी, और इनको कम करने के लिए कदाचित कोई प्रयत्न नहीं किया गया।

"शिक्षा निजी विषय था। अकबर ने कोई महान शिक्षा केन्द्र नहीं स्थापित किया, और इस विषय की शाही दरबार की आवश्यकताएं पूरी भी की जाती थीं तो उसका सर्वसाधारण से कोई संबंध नहीं था। दरबार तो वास्तव में निर्धनता एवं मानसिक अंधकार के सागर में संस्कृति एवं सम्पन्नता का द्वीप था। सर्वसाधारण के मानसिक लाभ के लिए महान सम्राट की सारी सम्पदा और सारे प्रयत्न से अधिक कबीर और सूरदास और तुलसीदास ने योगदान किया।"[2]

अकाल जो दयनीयता और बीभत्सता सर्वसाधारण में सर्व-व्यापी कर देता था, उससे जनता के जीवन-स्तर का अंदाज लगता है; आर्थिक आधार का उनके जीवन में इतना अभाव था कि वे ऐसे संकटों का सामना करने की स्थिति में नहीं थे—अपने बच्चों को बेचकर, और फिर भी काम न चलने पर, एक दूसरे को खाकर उन्हें अपनी जान बचानी पड़ती थी। विदेशी यात्रियों ने सामान्य भारतवासियों की

---

1 मोरलेंड, अकबर, पृष्ठ 262
2 पावेल-प्राइस, पृष्ठ 286

निर्धनता और कष्टमय जीवन का करुणाजनक चित्रण किया है। मजदूर, कारीगर और किसान साधारणत. लगोटा लगाकर रहते थे। जगह जगह लिखा मिलता है, सामान्य लोग सिवा कमर पर जरा से कपड़े के नंगे रहते थे। अबुल् फज्ल और निजामुद्दीन अहमद तक को ऐसा लिखना पड़ा है। तत्कालीन विदेशी यात्रियो ने इसका समर्थन किया है। एक विदेशी यात्री ने लिखा है कि लोग इतने निर्धन थे कि एक पैसे के लिए वे कोड़े खा लेते थे, भोजन इतना कम करते थे कि लगता था कि वे हवा खाकर जीते है। आम आदमियो का साधारण खाना खिचड़ी था। उन दिनो सालबैक ने आगरा से लाहौर की वनी वस्तियो की यात्रा करने के वाद लिखा कि सामान्य वर्ग के लोग अधिकांश में इतने निर्धन थे कि उन्हें नंगा रहना पड़ता था। 1595 में अकवर के पास तीसरा ईसाई मिशन अहमदावाद से लाहोर गया था। उसके सदस्यो ने राजस्थान के नगरो के वारे में कहा है कि वे 'एकदम खंडहर हो गये थे'। निम्न वर्ग के निवास स्थानों के संवंध में किसी यात्री ने अनुकूल विचार प्रकट नहीं किये हैं—झोपड़ियो मे जो जीवन उस समय जैसे-तैसे जिया जा रहा था, उससे देखने वाले सन्न रह जाते थे। जोर्डान ने सूरत और आगरा के वीच यात्रा की थी; उसने बताया है कि लोग 'जल मे मछली की तरह रहते हैं—वड़े छोटो को खाते रहते हैं'। 'सबसे पहले खेतो पर मेहनत करने वाले को खेत का मालिक लूटता है, उसे वह लूटता हैं जो सभ्य वन जाता है, छोटे को वड़ा लूटता है, और सम्राट सवको लूटता है।' सम्राट के सामने पहुंचना तक मुश्किल और मंहगा था, इसके लिए अनुमति उच्च एवं प्रभावशाली सामन्तो की सहायता के विना नहीं मिलती थी, और उन्हें तरह-तरह से प्रभावित करना पड़ता था, घूंस तक देनी पड़ती थी। सत्रहवीं शताब्दी मे तो इस प्रकार के विवरणो ने सारे विज्ञ जगत को भारत की निर्धनता से सुपरिचित कर दिया। इंगलैंड मे तो उन दिनो इसे वहां के अपने राजनीतिक वाद-विवाद का विषय वना दिया गया।[1]

सर्व साधारण के लिए शासन द्वारा व्यापक रूप से कुछ भी किये जाने की परम्परा उस समय भारत मे नहीं थी: 'वास्तव मे इस तरह की सार्वजनिक सेवा उस समय अत्यंत स्वल्प थी।' कुछ कच्ची सड़के और कुछ पुल थे। चिकित्सा और शिक्षा का शासन की ओर से संगठित प्रवन्ध नहीं था। कृषि एवं औद्योगिक विकास मे रुचि नहीं ली जाती थी। पशु-चिकित्सा का राज्य की ओर से कोई प्रवंध नहीं था। 'साधारणतः स्थिति यह थी कि लोगो को जो जरूरत होती थी उसे अपने आप पूरा करना पड़ता था।'

अकवर के शासन काल की समाप्ति पर भारत के आर्थिक जीवन का चित्र 'जेसा मुझे दीखता है'—श्री डब्लू० एच० मोरलैंड ने प्रस्तुत किया है, "उच्चवर्ग, जिसकी संख्या कम और जिसमें अधिकांशतः विदेशी थे, तर्कसंगत आवश्यकताओ के

1. मोरलैंड, अकवर, पृष्ठ 268

अनुपात में अत्यधिक आय का उपभोग करता था, और सामान्यतः उसकी आय ऐश-आराम और दिखावे पर खुलकर खर्च होती थी। देश की आर्थिक अभिवृद्धि के लिए इस वर्ग वाले प्रायः कुछ भी नहीं करते थे, और उनकी आय का जो अंश व्यय नहीं होता था वह अनुत्पादक रूप से संकलित होता रहता था। उनके कार्यकलापों से एक ही लाभ होता था,[1] वह भी परोक्ष। विदेशी व्यापारियों को प्रदत्त उनके संरक्षण से, जो वास्तव में अनहोनी वस्तुओं की उनकी अपनी आकांक्षा से ही प्रेरित था, व्यापार के नये मार्ग खुलने में सुविधा हो गयी और भावी आर्थिक विकास के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ। इस तरह का संरक्षण मिलने के कारण, समुद्रतट पर व्यापारियों ने जीवन यापन की प्रायः ऐसी ही शैली अंगीकार कर ली, परन्तु अन्यत्र विक्रेताओं और व्यापारियों के लिए खुल्लमखुल्ला खर्च करना खतरे से खाली नहीं था, और वे, शेष मध्यमवर्ग के समान, अनाकर्षक और अल्पव्ययी जीवनयापन करते थे। जनसंख्या का अधिकांश भाग उसी आर्थिक स्तर पर रहता था जैसे कि अब (बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में)। हम कह नहीं सकते कि खाने को उन्हें अब से कम मिलता था या अधिक, लेकिन कपड़े उन्हें कदाचित आजकल से कम मिलते थे, और घरेलू बरतनों तथा जीवन की छोटी-छोटी सुविधाओं और सम्पन्नताओं की दृष्टि से उनकी स्थिति आजकल से गिरी हुई थी, और उनके लिए सामूहिक सेवाएं और सुविधाएं प्रायः उपलब्ध ही नहीं थी। यह तो मूल चित्र है। पृष्ठभूमि में है अकाल की काली छाया, अकाल शब्द ने तो पिछली एक शताब्दी में अपना अर्थ ही बदल लिया है। अकबर के समय में, और उसके बाद बहुत समय तक, इसका अर्थ होता था अस्थायी परन्तु पूर्ण आर्थिक अव्यवस्था, जिसकी अपनी विशेषता, घिनौनी होते हुए भी, यहां उल्लिखित करनी होगी—घर बरबाद हो जाते थे, बच्चे दास बनने के लिए बेच दिये जाते थे, खाद्य पदार्थों के लिए आशाहीन खोज में भटकना पड़ता था, और अंततः भूख से प्राण-विसर्जन, जिसका एकमात्र सम्भावित विकल्प यही था कि मनुष्य मनुष्य को खाकर रहे। आगरा और विजयनगर के वैभव को इस पृष्ठभूमि के साथ देखा जाना चाहिये।"[2]

उस समय के भारत का वैभव मुख्यतः बहुमूल्य वस्तुओं के, विशेषतः सोने, चाँदी और रत्नों के असाधारण संकलन के कारण प्रसिद्ध, आकर्षक और आक्रमण-आमंत्रणकारी हो गया। 'जब यह अच्छी तरह जानकारी में आ गया कि भारत की जनसंख्या अत्यन्त निर्धन है, तब भी भारत बहुत धनी माना जाता था।' 'यूरोप भारत की सम्पन्नता के लिए अपना खून बहा रहा था', इस उक्ति का तात्पर्य इतना ही है कि 'सब राष्ट्र भारत सिक्के लाते थे और यहां से सामग्री ले जाते थे, और यह सिक्के भारत में जमीन में गड़ जाते थे, बाहर नहीं आते थे'।

---

1 कहा नहीं जा सकता कि इसका कितना योगदान भारत पर विदेशी आक्रमण के लिए समुद्री द्वार खोलने में माना जाना चाहिये।

2 मोरलैंड, अकबर, पृष्ठ 279

परन्तु इससे राष्ट्रीय सम्पन्नता न तो बनती है और न आजकल आंकी जाती है। इस शताब्दी के आरम्भ में देश की स्थिति की तुलना यदि अकबर के समय से की जाय तो लगेगा कि अकबर के समय भारत उससे अधिक सम्पन्न नहीं था। प्रति व्यक्ति की आय के अनुपात में भारत की सम्पन्नता सीमित थी, विदेशों में लोकप्रिय और प्रसिद्ध वस्तुओं के निर्यात और बहुमूल्य वस्तुओं के आयात के कारण विदेशों में भारत के धन के संबंध में गलत धारणाएं बन गयी थीं, "दर्शनीय विदेश व्यापार से उत्पन्न विमोह से अपने को मुक्त करके हम देखें, और पूरा ध्यान देश के सम्मिलित साधनों पर ही लगाएं तो हमारा अन्तिम निर्णय यह होना चाहिये कि भारत बहुत ही निर्धनावस्था में था।"[1]

उपलब्ध धन-सम्पदा की वितरण-व्यवस्था में अकबर के समय में कुछ ऐसी विशेषताएं थीं जो आज अति आधुनिक विचारकों को भी आकर्षित किये बिना नहीं रह सकती। अतएव उनकी वास्तविकता समझ लेना आवश्यक है। कृषक की वास्तविक आय उसकी कुल आमदनी से नहीं, सब आवश्यक व्यय निकालने के बाद होने वाली बचत से आंकी जानी चाहिये। इस तरह की बचत कृषकों को अकबर के समय में बहुत ही कम होती थी। कृषक का जीवन-स्तर उठ नहीं पाता था, क्योंकि राज्य उसकी आय का बड़ा भाग उससे ले लेता था। "कृषक की उपलब्ध बचत के इतने बड़े भाग के राज्य द्वारा ले लिये जाने को अपने में आर्थिक अवगुण नहीं कहा जा सकता। इतनी दूर तक तो अकबर के समय की परिस्थितियां कुछ आधुनिक साम्यवादियों के आदर्शों के अनुरूप मानी जायेंगी। इस तरह के वितरण के औचित्य का विवेचन इस आधार पर किया जाना चाहिये कि किसान से ली गयी उसकी बचत का उपयोग कैसे किया जाता था? यदि इसे किसान की आवश्यकताएं पूरी करने और उसे अधिक समुचित जीवनयापन करने में सहायता पहुंचाने में किया जाता - कृषि उत्पादन के विभिन्न साधन उपलब्ध करने में, अथवा चिकित्सा की व्यवस्था एवं सफाई का प्रबन्ध करने में—तो आलोचक का कार्य यह पता लगाना होता कि कुल मिलाकर जनता का कल्याण हुआ था या नहीं, और यह कि राज्य द्वारा दी गयी सुविधाओं से सन्तोष उससे कम बैठा या ज्यादा जो उस आय के उन्हीं के हाथों में रहने पर होता जिन्होंने उसे कमाया था। यह प्रश्न तो, परन्तु, उठता ही नहीं। निम्न-स्तर की और अपर्याप्त सुरक्षा के अतिरिक्त, कृषक को बदले में कुछ नहीं मिलता था, और उसकी बचत का जो बड़ा भाग राज्य ले लेता था उसे अन्य ऐसे वर्गों पर व्यय किया जाता था जो कुल जन-संख्या का बहुत ही छोटा भाग था। यह व्यय भी ऐश-आराम की चीजें खरीदने पर, संकलित संपदा की मात्रा बढ़ाने पर, और बड़ी संख्या में अनुत्पादक सेवक रखने पर किया जाता था।"[2]

---

1 मोरलैंड, अकबर, पृष्ठ 294
2 वही, पृष्ठ 297

इस तरह हम वहीं पहुंच जाते हैं जहां से यह अध्याय आरम्भ हुआ था। सोलहवीं शताब्दी के अन्त में भारत के आर्थिक जीवन के लक्षण थे अपर्याप्त उत्पादन और दोषपूर्ण वितरण। यह दुःखद स्थिति अकबर के देहावसान के बाद और भी बिगड़ती गयी, जिसके गिरने की दिशा अकबर के समय में ही निर्धारित हो गयी थी, 'आर्थिक स्थिति अत्यन्त असंतुलित थी और आर्थिक एवं राजनीतिक पतन के बीज बोये जा चुके थे।'

यह बीज कैसे अंकुरित और पुष्पित हुआ, इसका विवरण देने के लिए श्री मोरलेंड ने अपनी दूसरी पुस्तक लिखी जिसमें अकबर के पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र–जहांगीर, शाहजहां और औरंगजेब–के समय का सिंहावलोकन है, उस वृक्ष ने जो फल उपलब्ध किये वे प्रस्तुत है: 'जीवनयापन का निम्न स्तर और जनता की व्यय करने की क्षीण शक्ति साक्षात प्रमाणों से सिद्ध हो जाती है।' "यह आर्थिक व्यवस्था हमारी अवधि की समाप्ति के समय चकनाचूर ही होने को थी। जुलाहे, स्वयं नंगे, दूसरो को वस्त्र पहनाने के लिए परिश्रम मे जुटे रहते थे। किसान, खुद भूखे, कस्बों और शहरो को भोजन कराने के लिए पसीना बहाते रहते थे। भारत, एक इकाई के रूप मे, उपयोगी वस्तुएं सोने और चांदी के बदले समर्पित किये जा रहा था, दूसरे शब्दो में पत्थर के बदले रोटी दिये जा रहा था। स्त्री और पुरुष एक मौसम से दूसरे तक भुखमरी के किनारे दिन काटते थे, जब तक भोजन-सामग्री मिलने की संभावना बनी रहती थी तभी तक उन्हें संतुष्ट रखा जा सकता था: जब यह समाप्त हो जाती थी, जैसा कि बहुधा होता रहता था, उनको मुक्तिदाता दास-विक्रेता ही दीखता था, उसका विकल्प था मनुष्य का मनुष्य को खाना, आत्महत्या करना अथवा भूख से मर जाना। इस व्यवस्था से छुटकारा पाने का एक ही उपाय था कि उत्पादन बढ़ाया जाय, और साथ-साथ जीवन-स्तर उठाया जाय, परन्तु प्रचलित प्रशासनिक प्रबन्धो ने इस मार्ग को पक्की तरह बन्द कर रखा था, इस प्रबन्ध के कारण उत्पादन मे उत्पीड़न होता था, और उपभोग बढने की भनक पड़ते ही नयी जबरन वसूली शुरू हो जाती थी। जिस अवधि के बारे मे मैंने लिखा उसकी मुख्य विशेषता है इस व्यवस्था के क्षेत्र एवं विकटता मे अभिवृद्धि। अंततः सारी व्यवस्था और सारा प्रबन्ध टुकड़े-टुकड़े होकर गिर गया।"[1]

---

1. मोरलैंड, औरंगजेब, पृष्ठ 304

परिशिष्ट-चौथा

# घटनाक्रम

| | | |
|---|---|---|
| 30 जनवरी | 1528 | राणा संग्रामसिंह की मृत्यु |
| | 1528 | संग्रामसिंह के बड़े पुत्र रत्नसिंह का राज्यारोहण |
| | 1531 | राणा रत्नसिंह की मृत्यु |
| | 1531 | संग्रामसिंह के दूसरे पुत्र विक्रमादित्य का राज्यारोहण |
| | 1533 | हुमायूं का आगरा पुनरागमन |
| | 1533 | गुजरात के सुलतान बहादुरशाह की सेना का चित्तौड पर आक्रमण, मेवाड़ की राजमाता का हुमायूं से सहायता प्राप्त करने का असफल प्रयत्न, बहादुरशाह से असम्मानजनक संधि |
| | 1535 | बहादुरशाह का चित्तौड़ पर फिर आक्रमण, विक्रमादित्य (और उदयसिंह) का पलायन, बहादुरशाह की विजय, चित्तौड़ का दूसरा साका |
| | 1535 | हुमायूं का बहादुरशाह पर आक्रमण, चित्तौड़ मुक्त, राणा विक्रमादित्य फिर चित्तौड़ में |
| | 1535 | बनवीर का चित्तौड़ आगमन |
| | 1536 | बनवीर द्वारा राणा विक्रमादित्य की हत्या |
| | 1536 | बनवीर मेवाड़ के राज्य सिंहासन पर, उसके द्वारा विकमादित्य के भाई उदयसिंह की हत्या का प्रयत्न, पन्ना का अपूर्व त्याग, उदयसिंह को छिपाकर कुंभलगढ़ ले जाया गया |
| | 1536 | उदयसिंह कुंभलगढ़ मे मेवाड़ का महाराणा घोषित, चित्तौड़ में बनवीर के विरुद्ध विरोध-विद्रोह आरम्भ |
| | 1540 | उदयसिंह की चित्तौड़ पर चढ़ायी, बनवीर का पलायन, संग्रामसिंह का तीसरा पुत्र उदयसिंह मेवाड़ का महाराणा |
| 9 मई | 1540 | उदयसिंह के पहले पुत्र प्रताप का जन्म |
| 17 मई | 1540 | बिलग्राम युद्ध में हुमायूं की सेना शेरशाह सूरी की सेना से परास्त, हुमायूं का पलायन |

| | | |
|---|---|---|
| | 1544 | शेरशाह की सेना का चित्तौड़-कूंच, चित्तौड़ का सांकेतिक समर्पण, शेरशाह से 'सुलह' |
| 22 मई | 1545 | शेरशाह की मृत्यु, चितौड़ पुनः स्वतन्त्र |
| | 1554 | बूंदी और रणथम्भोर पर मेवाड़ का पुनः प्रभुत्व |
| जुलाई | 1555 | हुमायूं का दिल्ली पर फिर अधिकार |
| जनवरी | 1556 | हुमायूं की मृत्यु, अकबर की गद्दीनशीनी |
| नवम्बर | 1556 | पानीपत का दूसरा युद्ध, अकबर के हाथों हेमू की पराजय |
| | 1556 | अजमेर के सरदार हाजीखान पठान के विरुद्ध जोधपुर के राव मालदेव की सेना का आक्रमण, हाजीखान के अनुरोध पर राणा उदयसिंह का सेना सहित कूंच, जोधपुर की सेना का पलायन |
| | 1557 | उदयसिंह का हाजीखान पर आक्रमण, मालदेव द्वारा उसकी सैनिक सहायता, 25 जनवरी का हरमाड़ा-युद्ध, मेवाड़ी सेना की पराजय |
| | 1557 | अजमेर पर अकबर का अधिकार |
| | 1558 | जैतारण पर मुगल सेना का अधिकार |
| 16 मार्च | 1559 | राणा उदयसिंह के बड़े पुत्र प्रतापसिंह के पहले पुत्र अमरसिंह का जन्म |
| | 1559 | उदयपुर नगर और उदयसागर तालाब का निर्माण आरम्भ |
| | 1560 | अधिक सुरक्षित स्थल से राजसंचालन के लिए गोगूंदा का निर्धारण, वहां भी निर्माण-कार्य आरम्भ |
| | 1560 | साम्राज्य-सचालन पूर्णत· अकबर के हाथ में |
| | 1562 | सिरोही पर मेवाड़ का दबदबा |
| | 1562 | सादड़ी मेवाड़ के अधीन |
| | 1562 | भामाशाह का पिता भारमल कावड़िया अलवर से चित्तौड़ आमन्त्रित |
| | 1562 | मेड़ता पर अकबर का अधिकार, वहां का शासक जयमल्ल मेवाड़ की शरण में |
| | 1562 | 'मालवी बादशाह' बाज बहादुर मेवाड़ की शरण में |
| | 1562 | अकबर की अजमेर-यात्रा, आंबेर को साम्राज्य का संरक्षण, अकबर का आंबेर से वैवाहिक संबंध |
| | 1563 | मेवाड़ के निकटवर्ती अर्ध-स्वतन्त्र सरदार राणा उदयसिंह के अधीन |
| अगस्त | 1567 | अकबर द्वारा चित्तौड़ पर आक्रमण का निश्चय, शक्तिसिंह का शिविर से पलायन |

| तिथि | घटना |
|---|---|
| 24 अक्टूबर 1567 | अकबर चित्तौड़-विजय के लिए किले के निकट पहुंचा |
| जनवरी 1568 | चित्तौड़ के सरदारो द्वारा अकबर से समझौते का असफल प्रयत्न |
| 25 फरवरी 1568 | शाही जीत, चित्तौड़ का तीसरा साका |
| 1569 | रणथम्भोर अकबर के अधीन |
| 1569 | कालिंजर पर मुगल-विजय |
| 1570 | अकबर नागौर में, जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर ने अकबर की अधीनता स्वीकार की |
| 1572 | अकबर का गुजरात पर अधिकार |
| 28 फरवरी 1572 | महाराणा उदयसिंह की मृत्यु |
| 28 फरवरी 1572 | प्रतापसिंह को मेवाड़ का राज प्राप्त |
| नवम्बर 1572 | महाराणा प्रताप के पास अकबर का पहला राजदूत जलालखान कोरची पहुंचा |
| जून 1573 | मानसिंह महाराणा को 'समझाने' पहुंचा |
| सितम्बर 1573 | भगवन्तदास महाराणा से 'मिलने' गोगूंदा में |
| दिसम्बर 1573 | अकबर का चौथा राजदत टोडरमल्ल प्रताप के पास |
| 17 फरवरी 1576 | अकबर का फतहपुर-सीकरी से अजमेर की तीर्थ-यात्रा पर प्रस्थान |
| मार्च 1576 | महाराणा प्रताप पर आक्रमण की घोषणा, मानसिंह सेनापति नियत |
| 3 अप्रेल 1576 | मानसिंह का अजमेर से कूंच |
| 18 जून 1576 | हल्दीघाटी के निकट मुगल-मेवाड़ युद्ध |
| 1576 | मुगलों द्वारा जीते भू-भाग पर प्रताप का पुनः आधिपत्य |
| सितम्बर 1576 | अकबर फिर अजमेर में, मानसिंह दरबार में |
| 11 अक्टबर 1576 | अकबर स्वयं मेवाड़-अभियान पर रवाना |
| नवम्बर 1576 | अकबर उदयपुर में, मेवाड़ शाही जकड़ में, उदयपुर को नया नाम-मुहम्मदाबाद |
| दिसम्बर 1576 | अकबर बांसवाड़ा पहुंचा, बासवाड़ा-डूंगरपुर शाही कब्जे में, ईडर का भी पतन |
| दिसम्बर 1576 | प्रताप के शाही थानों पर हमले, मुगल-अधीन मेवाड़ को छुड़ाने का प्रयत्न |
| 26 दिसम्बर 1576 | अकबर ने अपनी सेना फिर प्रताप को परास्त करने भेजी, स्वयं मालवा की ओर |
| 1577 | मेवाड़ को मुक्त कराने के लिए प्रताप के प्रयत्न, उदयपुर, गोगूंदा से शाही सेना खदेड़ दी गयी |

| | |
|---|---|
| सितम्बर 1577 | अकबर फिर अजमेर में |
| 15 अक्टूबर 1577 | शाहबाजखान की मेवाड़ पर पहली चढाई |
| अप्रेल 1578 | मेवाड़ की राजधानी कुंभलगढ़ का पतन |
| 17 जून 1578 | शाहबाजखान शाही दरबार में लौटा |
| 1578 | चूलिया गांव में भामाशाह की प्रताप से भेंट, सम्पत्ति समर्पित |
| 1578 | प्रताप पुनः सक्रिय, दिवेर का युद्ध, कुंभलगढ़ पर पुनः अधिकार, छप्पन क्षेत्र पर आधिपत्य, नयी राजधानी के लिए चांवड नियत, डूंगरपुर-बांसवाड़ा में भी प्रताप की प्रवलता |
| 15 दिसम्बर 1578 | शाहबाजखान का दूसरी बार मेवाड़ के विरुद्ध कूंच |
| 15 नवम्बर 1578 | शाहबाजखान की तीसरी चढ़ाई |
| 12 जून 1580 | शाहबाजखान लौट गया, प्रताप पुनः सक्रिय |
| 1580 | अब्दुल रहीम खानखाना का मेवाड़ मे अभियान |
| 1581 | खानाखना लौट गया |
| 1581–1584 | मेवाड़-मुगल सेनाओं के बीच कोई सक्रिय कार्रवाई नहीं, अपनी स्थिति दृढ़ करने के प्रताप द्वारा प्रयत्न |
| 5 दिसम्बर 1584 | जगन्नाथ कछवाहा का मेवाड़ को कूंच, उसका प्रचंड परन्तु असफल अभियान |
| 1585–1596 | मेवाड़ का सैनिक संकट प्रायः समाप्त, क्रमशः अपने पूर्वाधिकार के सारे मेवाड़ पर प्रताप का पुनः अधिकार, पुर्ननिर्माण का प्रयत्न प्रारम्भ, चांवड में राजधानी की स्थापना, साहित्य, कला, शिल्प का विकास |
| 19 जनवरी 1597 | महाराणा प्रताप की मृत्यु |
| 1597 | अमरसिंह का राज्यारोहण |
| 16 सितम्बर 1599 | सलीम का मेवाड़ के विरुद्ध कूंच, विना मन लगाये सैन्य संचालन |
| अक्टूबर 1603 | सलीम फिर से मेवाड़ के विरुद्ध भेजा गया, परन्तु वह इलाहाबाद चला गया |
| 15 अक्टूबर 1605 | शाहशाह अकबर की मृत्यु |
| 24 अक्टूबर 1605 | जहांगीर की गद्दीनशीनी |
| नवम्बर 1605 | परवेज को मेवाड़ की चढ़ाई पर भेजा गया |
| 1605 | परवेज द्वारा सगर का चित्तौड़ में राजतिलक |
| अप्रेल 1608 | महावतखान को मेवाड़-अभियान पर लगाया गया |
| जून 1609 | अब्दुल्लाखान मेवाड़ भेजा गया |

| | | |
|---|---|---|
| जुलाई | 1611 | राजा वासू मेवाड़ में नियुक्त |
| 4 नवम्बर | 1613 | जहांगीर स्वयं अजमेर में |
| 17 दिसम्बर | 1613 | खुर्रम का मेवाड़ को कूंच |
| | 1615 | मेवाड़-मुगल संधि, मेवाड़ की स्वाधीनता समाप्त |
| 19 फरवरी | 1615 | खुर्रम और कर्णसिंह शाही दरबार में |
| 21 मई | 1615 | कर्णसिंह को जागीर |
| 5 जून | 1615 | कर्णसिंह को अपनी जागीर जाने की छुट्टी |
| 10 नवम्बर | 1615 | जहांगीर अजमेर से रवाना |
| 30 अक्टूबर | 1620 | महाराणा अमरसिंह की मृत्यु |